श्रीः

श्री नयसेन-विरचित

कनड़ी भाषामय

गद्यपद्यात्मक

धर्मामृत

—:*:—

हिन्दी अनुवादक

तथा

व्याख्याकार :

पू० आचार्यरत्न श्री १०८

आचार्य देशभूषण महाराज

—:*:—

प्रकाशक

श्री जम्बूकुमार जैन संघ

डिप्टीगंज दिल्ली

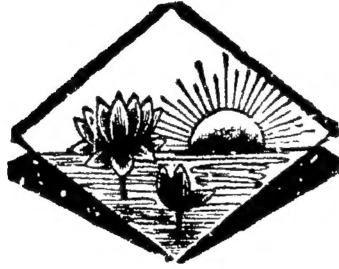
★

प्रथम
संस्करण
१०००

माघ सुदी पंचमी शनिवार
वीर सं० २४९१
६-२-१९६५

मूल्य
पांच रुपये

प्राप्ति-स्थान—
डा० कैलाशचन्द्र जैन
राजा टॉयज़
डिप्टीगंज
सदर बाजार, दिल्ली



मुद्रक—
सम्राट प्रेस,
पहाड़ी धीरज, दिल्ली-६

जैनधर्म मनुष्य-जीवन को आदर्श और उन्नत बनाने के लिये तीन बातें बतलाता है—१. सम्यग्दर्शन, २. सद्ज्ञान, ३. सच्चारित्र। वीतराग देव, सत्शास्त्र और निर्ग्रन्थ गुरु को आत्मा का परम आदर्श और हितकारी समझ कर उनमें विनय भाव से अटल विश्वास रखना सम्यग्दर्शन है। लौकिक ज्ञान के साथ-साथ जिनवाणी के अनुसार आत्मा, परमात्मा, अनात्मा, संसार मोक्ष, पुण्य पाप आदि का तात्विक ज्ञान प्राप्त करना सद्ज्ञान है, हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, अनीति से धनसंचय तथा जुआ, मांस-भक्षण, मदिरा-पान, वेश्यागमन, परस्त्री सेवन आदि कुकर्मों का परित्याग करके अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, न्याय-पूर्वक धन संचय में सन्तोष, शुद्ध निरामिष सात्विक भोजन, संयमका यथासंभव आचरण, दया, दान आदि में प्रवृत्ति, परोपकार में सतत तत्पर रहना आदि सदाचार सच्चारित्र है। इस श्रद्धा ज्ञान आचरण का संस्कार बच्चों में तथा युवकों में उत्पन्न करना इस जम्बूकुमार जैन संघ का मुख्य लक्ष्य है।

इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये संघ की कभी साप्ताहिक, कभी पाक्षिक और कभी मासिक सभायें हुआ करती हैं। मासिक पत्र 'ज्ञान' भी इसी लक्ष्य से प्रकाशित हुआ करता है। इसी लक्ष्य को रख कर सोनीपत में 'प्रेमी महाविद्यालय' और ग्रांण्टट्रङ्क रोड पर दिल्ली शाहदरा के निकट दिलशाद कालोनी में 'जैन ओरियन्टल कालेज' की स्थापना की गई है। जिनके द्वारा विद्यार्थियों को शुभ संस्कारों में ढालने का प्रयत्न किया जाता है।

इसके सिवाय इस संघ की ओर से पुस्तकालय और औषधालय भी चल रहे हैं। इस तरह संघ प्रारम्भ में कुछ विद्यार्थियों को धार्मिक संस्कारों में प्रबुद्ध करने के लिए स्थापित हुआ था। वह अब अच्छे बड़े रूप में आकर जैन तथा जैनेतर छात्र छात्राओं में शुभ संस्कार जाग्रत करने में प्रगति कर रहा है। इस जम्बूकुमार जैन संघ के अध्यक्ष श्रीमान डा० कैलाशचन्द्र जी जैन, मालिक राजा टॉयज कम्पनी हैं। आप एक अच्छे उद्योगी हैं। टीन के खिलोनों का आयात करने में भारत को हजारों लाखों रुपये जापान जर्मनी आदि देशों को प्रतिवर्ष भेजने पड़ते थे, वहां अब डाक्टर कैलाशचन्द्र जी ने साहस तथा प्रगतिशील उद्योग से उन चाबीदार खिलौनों का निर्माण अपने कारखाने में प्रारम्भ किया है जिसमें आपको उल्लेख-नीय सफलता मिली है और इस दिशा में आपने बहुत कुछ अंशों में भारत को आत्म-निर्भर बनाया है। आपके बनाये हुए चाबीदार मोटर, हवाई जहाज, गुड़िया, साईकिल, जोकर आदि टीन के खिलौने भारत के समस्त प्रान्तों म और प्रमुख नगरों में बड़ी चाह के साथ जाते हैं। जहां आप इस दिशा में एक सफल उदीयमान उद्योगी हैं, वहीं आप सामाजिक सेवा और धर्म प्रचार में भी तन मन धन से रुचि के साथ भाग लेते हैं। संघ का मुख पत्र 'ज्ञान' आपके आर्थिक सहयोग से प्रकाशित होता है। आप के सिवाय संघ की समिति के निम्नलिखित सदस्य हैं, जिन्होंने संघ के द्वारा आध्यात्मिक लाभ प्राप्त किया है।

श्री सेठ लालचन्द्र जी जैन बीड़ी वाले, श्री ताराचन्द जी सोनीपत वाले, सेठ सुन्दरलाल जी जैन बीड़ी वाले, श्री महीपालसिह जी बी. कॉम, श्री कर्मवीरसिह जी बी. ऐस सी. श्री वसन्तलाल जी बी. ए. ऐल ऐल. बी, श्री राजेन्द्रकुमार जी, श्री नेमिचन्द्र जी पोल, श्री अविनाशचन्द्र जी बी. ए. ऐल ऐल. बी., श्री ज्ञानचन्द जी ऐम. ऐस सी., श्रीराम जी टिम्बर मर्चेन्ट, श्री रमेशचन्द्र जी इन्जीनियर, श्री सुन्दरलाल जी खिलौने वाले, श्री विनयचन्द्र जी गर्ग, डा० जयदेवजी बी. ए., श्री ललिताप्रसाद जी बी. ए. श्री सागर-चन्द्र जी बी. ए. श्री रविचन्द्र जी, श्री सुगनचन्द्रजी बी. ए., श्री मगनचन्द्र जी बी. ए., श्री रत्नमाला देवी, श्री मनो देवी, श्री अशोककुमार जी एम. ए. पी ऐच. डी, श्री राजेन्द्रकुमार जी एम. ए. पी ऐच. डी., श्री रघुवीरसिंह जी एम. ए., श्री प्रकाशचन्द्र जी, श्री सुरेन्द्रकुमार जी बी. ए., श्री चन्द्रकुमार जी बी. ए.।

इसके सिवाय अन्य भी अनेक युवक युवतियाँ हैं जिन्होंने श्री जम्बूकुमार जैन संघ से अच्छा लाभ प्राप्त किया है। उनमें से श्रीमती रहती देवी तथा उनकी दोनों कन्याओं कान्तादेवी और पुष्पादेवी का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

संघ को अनेक जैन जैनेतर विद्वानों का सम्पर्क प्राप्त होता रहता है। श्री पं० हीरालालजी कौशल न्यायतीर्थ, साहित्य रत्न तथा पं० अजितकुमार जी शास्त्री, प्रभाकर, सम्पादक जैन गजट का विशेष सहयोग मिला है।

संघ की नीति सत्शिक्षा प्रचार की दिशा में रही है। उसके लिए जिन-आगम को संघ अपना श्रद्धा-पात्र और पथ-प्रदर्शक मानता है। जिनवाणी के अनुसार यह संघ दिगम्बर जैन मुनियों में अपनी पूर्ण श्रद्धा रखता है। तथा विश्वमैत्री, संयम, सदाचार, स्वावलम्बन, परिश्रम, सत्य भाषण, न्याय व्यवहार, परिश्रम, निर्भयता को आचरणीय मानता है और अपने सदस्यों को इन गुणों की ओर प्रेरणा करता रहता है।

पूज्य श्री १०८ आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज विद्यालंकार ३५ वर्षके दीर्घ तपस्वी दिगम्बर मुनिराज हैं। आपने हजारों मील दक्षिण प्रान्तसे उत्तर तक भारतके कन्नड़, मद्रास, मैसूर, महाराष्ट्र, गुजरात, काठियावाड़, मध्यप्रदेश, बिहार, उत्तर प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, बंगाल, उड़ीसा आदि प्रायः समस्त प्रान्तों में विहार किया है। अपनी मधुर प्रभावशालिनी वाणी से लाखों नर-नारियों को धर्म-साधन में प्रेरित किया है। अयोध्या तीर्थ का उद्धार किया है। आप के दीक्षित अनेक व्रती ब्रह्मचारी, क्षुल्लक, क्षुल्लिका, आर्यिका और मुनि हैं। प्रख्यात प्रभावशाली वक्ता श्री विद्यानन्दजी महाराज आपके ही शिष्य हैं।

आचार्य श्री ने सत् साहित्य निर्माण में भी अच्छा भाग लिया है। आपने अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे हैं, अनेक कनड़ी ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद किया है, अनेक ग्रन्थों की टीका की है। आपके उपदेशसार संग्रह अनेक भागों में प्रकाशित हो चुके हैं। समस्त स्त्री पुरुष उनका स्वाध्याय करके अच्छा लाभ उठाते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ धर्मामृत भी एक कनड़ी ग्रन्थ है जिसका अनुवाद और व्याख्या आपने की है। इस तरह आप एक अच्छे साहित्य-निर्माता भी हैं। इस तरह आप केवल आदर्श तपस्वी ही नहीं हैं बल्कि आदर्श स्व-पर कल्याण में निरत आदर्श साधु हैं, हमारी भावना है कि आप दीर्घ समय तक अपनी साधुचर्या द्वारा जनता को जाग्रत करते रहें।

इस धर्मामृत ग्रन्थ का प्रकाशन मुख्यतः श्री जम्बूकुमार जैन संघ की ओर से हुआ है। इस ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन पर और उसके आठ अंगों पर तथा पांच व्रतों पर भिन्न-भिन्न १४ ऐतिहासिक सुन्दर प्राचीन कथाएं हैं। इसके मूल रचयिता कन्नड़ भाषा के विद्वान श्री नयसेन कवि हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में उन १४ कथाओं में से केवल सम्यग्दर्शन की तथा निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन और स्थितिकरण अंग की सात कथाएं हैं। शेष सात कथाओं का प्रकाशन द्वितीय भागमें होगा। ये कथायें अच्छी रुचिकर हैं और आध्यात्मिक मार्ग में प्रेरणा करने वाली हैं। अतः इस ग्रन्थ का स्वाध्याय प्रत्येक स्त्री पुरुष को अच्छा लाभदायक रहेगा। सत् शास्त्रोंका स्वाध्याय सम्यग्ज्ञानको उत्पन्न करता है और सम्यग्ज्ञान आत्मा को हितकारी सन्मार्ग दिखाता है। इसी उद्देश्य से हम प्रत्येक रविवार को दिलशाद कालोनी में जाकर बच्चों को स्वाध्याय कराते हैं।

—वैद्य धाममसिंह प्रेमी
३५ डिप्टी गंज सदर बाजार, दिल्ली।

विषय-सूची

दूसरा आश्वास

तीसरा आश्वास

निष्कांक्षित अंग की कथा

—:*:—

भूल-सुधार

५१३ वें पृष्ठ पर ८ वें पद्य के अर्थ में नगर का नाम गलती से 'रमापुर' छप गया है। पाठक उसको 'रौरवपुर' पढ़ें।

मेरी भावना

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः सङ्गतिः सर्वदार्यैः,
सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम्।
सर्वस्यापि प्रियहितवचो भावना चात्मतत्त्वे,
सम्पद्यन्तां मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः॥

हे भगवन्! जब तक मैं संसार से मुक्त न हो जाऊं, तब तक मुझको प्रत्येक भव में शास्त्रों के अभ्यास करने में रुचि, जिनेन्द्र भगवान में भक्ति, सज्जन पुरुषों की संगति, सच्चरित्र पुरुषोंका गुणगान, अन्य व्यक्तियों की निन्दा करने में मौनभाव, समस्त स्त्री पुरुषों के साथ हितमित प्रिय भाषण तथा आत्मचिन्तन की भावना, प्राप्त होती रहे।

लाभ

अकृत्वा परसन्तापं, अगत्वा खलनम्रताम्।
अनुत्सृज्य सतां वर्त्म, यत्स्वल्पमपि तद्बहु॥

दूसरों को बिना दुख दिये और दुर्जन पुरुषों के सामने बिना झुके एवं सत्पुरुषों के मार्ग पर चलते हुए यदि धन आदि का थोड़ा लाभ होता है, तो भी उसे बड़ा लाभ समझना चाहिये।

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

धर्मामृत

(हिंदी-भाषा-टीका-सहित)

टीकाकार का मङ्गलाचरण

महावीरवक्त्रारविन्दध्वनेश्च,
ययोः पादपद्मात् सुसद्वृत्तिलाभः ।
ममाभूत्तयोः शान्तिसिन्धुं नमामि;
नमामि प्रभुं पायसिन्धुं किलाद्य ॥१॥

शान्तान्तरात्मसमुदश्चित्साधुवृत्तिः,
शश्वत्तपःपरमसंयमसत्प्रवृत्तिः ।
शब्दप्रयोगसमलंकृतवाग्विभूतिः,
शं सन्तनोतु जगतो जयपूर्वकीर्तिः ॥२॥

निःशेषशास्त्रपरिशीलनलब्धबोधम्,
राजाधिराज-परिपूजित-पादपद्मम् ।
आचार्यवर्यजयकीर्तिगुरुं प्रणम्य,
धर्मामृतस्य सरलां वितनोमि भाषाम् ॥३॥

आचार्यवर्यमथ सन्मयसेनमर्च्यम्,
विद्यातपोविगतकल्मषसूर्यभासम् ।
लोकान् सदा सदुपदेशकृतार्थयन्तम्,
ज्ञानस्वरूपममलं मुनिमानतोऽस्मि ॥४॥

स्वस्वल्पबुद्धिविभवोऽपि मुनेः प्रसादात्,
तस्योपदेशवचनस्य महत्तरस्य ।
श्रीदेशभूषणमुनिर्जनबोधनाय,
हिन्दीनिबन्धममिमञ्जुलमातनोमि ॥५॥

* ग्रन्थकार का मङ्गलाचरण *

श्री रामा रमणीय पाद्-सरसीजातं निर्लिं पेंद्रवं।
दाराध्यं भुवनत्रयप्रभु विनेयानीकल्प-द्रुमं ॥
धीरं नित्यमनंत मक्षयसुखं मुक्त्यंगणेशं जग-।
त्सारं वीर जिनेन्द्रनीगेमगे मुक्तिश्री सुखावासियं ॥ १ ॥

अर्थ—श्री—अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मी से युक्त तथा अत्यन्त सुन्दर मनोहर और भव्य जीवों के हृदय रूपी कमल को विकसित करने के लिए सूर्य के समान जिन के चरण कमल हैं और वे चरण कमल सुर और असुर इन्द्र धरणेन्द्र चक्रवर्ती, मनुष्य गणधरादि देवों के द्वारा आराध्य हैं अर्थात् पूजनीय हैं और जो तीन लोक के लिए प्रभु हैं तथा सम्पूर्ण भव्य जीवों के लिए इच्छित फल को प्राप्त कर देने में कल्पवृक्ष के समान हैं, धीर हैं, हमेशा अनन्त अक्षय सुख को भोगने वाले हैं, ईश हैं अर्थात् प्रभु हैं अधिपति हैं; ऐसे जो वीर जिनेन्द्र भगवान हैं वे तीन लोक में सारभूत उत्कृष्ट सुख की प्राप्ति करने का मार्ग हमें शीघ्र बतावें; ऐसी हमारी उनके चरणों में प्रार्थना है।

विशेषार्थ—नयसेनाचार्य ने काव्य के प्रारम्भ में श्री भगवान् महावीर स्वामी को नमस्कार किया है, वे वीरप्रभु कैसे हैं ? जिन वीर प्रभुने अन्तरङ्ग *केवलज्ञानादि और बहिरङ्ग समवशरणादि लक्ष्मी को प्राप्त कर लिया है तथा जिनके चरण कमलों में इन्द्र प्रतीन्द्र दानवेन्द्रादि अनेक देव सतत नमस्कार करते हैं; जिनसे उनके मुकुटों में लगी हुई मणियों में प्रभु के चरण कमल प्रतिबिम्बित होते हैं। और जो भव्य जीवों के लिए कल्प-वृक्ष के समान इच्छित पदार्थ देने वाले हैं, ऐसे वीर प्रभु को मैं मोक्ष पद प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ।

विवेचन—आस्तिक-परम्परा में किसी भी कार्य के प्रारम्भ में इष्ट देव को नमस्कार रूप मंगलाचारण करना शिष्टता का द्योतक माना गया है। न्याय शास्त्र में निर्विघ्न कार्य समाप्ति, शिष्टाचार-परिपालन, शिष्य परीक्षा, नास्तिकता-परिहार और कृतज्ञता-ज्ञापन ये पाँच हेतु मंगल स्तवन करने के बताये हैं। जैन-परंपरा में प्रधान रूप से आत्मशुद्धि के लिए ही

*सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य—केवलज्ञान ससार के सभी पदार्थों को और उनकी सब पर्यायों को प्रत्यक्ष जानता है। आत्मा पर कर्मों का आवरण है अतः उस से ज्ञान-गुण आच्छादित है। जब वह आवरण पुरुषार्थ द्वारा दूर हो जाता है तब समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानने की शक्ति प्रगट हो जाती है।
—तत्वार्थसूत्र, अ० १ सूत्र २९

मंगल स्तवन किया जाता है। अतः जैन-परम्परा में प्रधान रूप से आत्मशुद्धि के लिए मंगल स्तवन करनेकी परिपाटी है। प्रस्तुत ग्रन्थ धर्मामृत के कर्ता श्री नयसेनाचार्यने अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी के चरण कमलों को नमस्कार किया है। वह अपनी किसी लौकिक या पारलौकिक कामना को भगवान् से पूरा नहीं कराना चाहते हैं; क्योंकि वीर प्रभु सृष्टि के कर्ता नहीं हैं। आचार्य का अभिप्राय मंगल-स्तवन का यह है कि अनादि काल से चली आयी कर्म-परम्परा को वीर प्रभु के आदर्श द्वारा ही नष्ट किया जा सकता है; अतः वीर प्रभु ही मंगल रूप हैं। वही सच्चे देव हैं, अरहन्त हैं, कर्म कलंक से रहित हैं। उन्हीं के प्रतिपादित आदर्श मार्ग पर चलने से मोक्ष लक्ष्मी की प्राप्ति हो सकती है।

सच्चे देव में सर्वज्ञता, वीतरागता और हितोपदेशिता इन तीन गुणों का होना परमावश्यक है। आकाश में चलने, छत्र चमर आदि नाना प्रकार की विभूतियों के होने, दूसरों की लौकिक कामनाओं को पूर्ण करने, देवों द्वारा उत्सव मनाये जाने, संसार को बनाने या बिगाड़ने वाला होने एवं चमत्कारी बातों को उत्पन्न करने से कोई सच्चा देव* नहीं

---

* देवागम-नभोयान-चामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥ १ ॥
अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः।
दिव्यःसत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥२॥
तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः।
सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद् गुरुः ॥३॥

—आप्तमीमांसा,

अर्थ—भक्त देवताओं का आगमन, आकाश-गमन और छत्र-चामरादि विभूतियां ये सभी तो मायावियों में भी देखने को मिलती हैं, इस लिए तुम महान् नहीं हो। क्षुधा-पिपासा-जरा-रोग-अपमृत्यु आदि से रहित, निःस्वेदत्व, निर्मलता और छायारहितत्व आदि से युक्त यह विग्रह (शरीर) का अमानुष अतिशय जो दिव्य है, सत्य है और मायास्वरूप नहीं है, वह तो नाक (स्वर्ग) में निवास करने वाले रागादिमान् (कषायदोषों से युक्त) दिव्य देवताओं में भी पाया जाता है अतः व्यभिचारी दोष-विद्ध होने से इन लक्षणों से भी तुम महान् परिकल्पित नहीं किये जा सकते। तीर्थंकर पद से भी आप्तता की प्रामाणिकता नहीं हो सकती क्यों कि, तीर्थकृत्समयों में परस्पर विसंवाद होने से सभी की आप्तता अथ च सर्वज्ञता नहीं है। अतः कश्चिदेव भवेद् गुरुः—कोई एक ही गुरु हो सकता है।

हो सकता। सच्चे देव में पहला गुण सर्वज्ञत्व+ का होना आवश्यक है अर्थात् जो संसार के समस्त पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से जान सके, क्योंकि ज्ञान का स्वभाव पदार्थों को जानना है; जब तक इस ज्ञान पर पर्दा पड़ा रहता है; तब तक उसके जानने रूप स्वभाव का तिरोभाव या उसमें हीनाधिकता होती है। जब ज्ञान को आवृत करने-ढकने वाले ज्ञानावरण कर्म का अभाव हो जाता है तो आत्मा का पूर्ण ज्ञान गुण प्रकट हो जाता है; जिससे सच्चा देव संसार के समस्त पदार्थों को जान व देख सकता है।

×वीतरागता—क्षुधा, तृषा, भय, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, बुढ़ापा, रोग, मरण, पसीना, खेद, अभिमान, रति आश्चर्य, जन्म, नींद और शोक इन अठारह दोषों से रहित होना वीतरागता है। संसारी प्राणी अनादि काल से क्रोधादि कषाय, अज्ञान एवं विषय-वासनाओं के वशीभूत हैं; जिससे वे जन्म, मरण, बुढ़ापा आदि के दुःखों को भोग रहे हैं। साधारणतः उपर्युक्त अठारह दोष प्रत्येक संसारी प्राणी में वर्तमान हैं, जो इन दोनों के वशीभूत है, वह सच्चा देव नहीं हो सकता।

+ सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद् यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥५॥ —आप्तमीमांसा—

सूक्ष्माः स्वभावविप्रकृष्टाः। अन्तरिताः कालविप्रकृष्टाः। दूराः देशविप्रकृष्टाः। ते च ते अर्थाश्च सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः। तथा च स्वभावविप्रकृष्टा मन्त्रौषधिशक्तिचित्तादयः। कालविप्रकृष्टा. लाभालाभसुखदुःखग्रहेण रागादयः। देशविप्रकृष्टा मुष्टिस्थादिद्रव्यम्। दूरा हिमवन्मन्दर मकराकरादय.। प्रत्यक्षा अध्यक्षाः प्रत्यक्षज्ञानगोचराः कस्यचित्।

—आप्तमीमांसावृत्ति

अर्थ—किसी पुरुष विशेष को सूक्ष्म (स्वभाव से ही अदृश्य मन्त्र, औषधि-शक्ति, चित्त आदि) अन्तरित (कालविप्रकृष्ट लाभ. अलाभ, सुख, दुःख और राग राम-रावणादि) और दूर-वर्ती (देशविप्रकृष्ट हिमालय, मन्दर और समुद्रादि) अर्थों (पदार्थों) का प्रत्यक्ष होता है जिस प्रकार सर्व साधारण को अनुमानसे अग्नि आदि का ज्ञान तथा प्रत्यक्ष होता है। अणु आदि सूक्ष्मान्तरितदूरार्थ भी निश्चित प्रमाण से प्रत्यक्ष इव भासमान होते हैं, उसी प्रकार किसी पुरुषविशेष को उक्त पदार्थ भी प्रत्यक्ष होते हैं। इस प्रकार से सर्वज्ञ-विश्ववेत्ता की स्थिति है। सर्वज्ञ ही दूरान्तरितविप्रकृष्ट को जानते हैं।

×क्षुत्पिपासाजरातंकजन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः सः प्रकीर्त्यते ॥

—रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक ६.

अर्थ—क्षुधा, पिपासा, जरा, भय, जन्म मरण स्मय और राग-द्वेष तथा मोह जिसे नहीं होते अर्थात् जो इन से रहित है, वही आप्त कहा जाता है। ऐसी शास्त्रागम की मान्यता है।

असाता वेदनीय कर्म के तीव्र या मन्द उदय से होने वाली क्षुधा, तृषा की बाधा है, जो समस्त संसारी जीवों में पायी जाती है तथा इस बाधा को दूर करने के लिए खाद्य, पेय पदार्थों को खाने, पीने की इच्छा होती है, यह इच्छा मोहनीय कर्म-जन्य है। सच्चे देव ने दोनों कर्मों को ध्यानाग्नि में जला दिया है।

वीर्यान्तराय कर्म का उदय क्षुधा, तृषा-जनित कष्टों को सहन करने की शक्ति का अभाव करता है, संसारी जीवों में इस कर्म के उदय के कारण ही सहन-शील शक्ति का अभाव पाया जाता है। सच्चे देव ने वीर्यान्तराय कर्म को नाश कर दिया है, जिससे उनमें अनन्त शक्ति आ गई है। मोहनीय कर्म का क्षय होने से राग द्वेष, भय आदि का अभाव हो जाता है। राग* दो प्रकार का होता है प्रशस्त और अप्रशस्त। दान, शील, पूजा, परोपकार आदि शुभ कार्यों में प्रवृत्ति करना शुभ–प्रशस्त राग है। विकथा+ स्त्रीकथा राष्ट्रकथा, भोजन कथा, राजकथा करना हिंसा आदि विकार उत्पन्न करने वाले कार्यों में प्रवृत्ति करना अशुभ राग है। इह-लोक भय, परलोक भय, अरक्षा,अगुप्ति, मरण, वेदना और आकस्मिक भय ये सात प्रकार के भय हैं, जो मोहनीय कर्म से उत्पन्न होते हैं तथा अन्तरंग× कषायादि और बहिरंग= धन धान्यादि परिग्रह है. क्रोध, मान, माया, लोभ÷ कषाय इन सबका मोहनीय कर्म के क्षय होने से अभाव हो जाता है।

---

* कालुष्य तत्र रागादिर्भावश्चौदयिको यत:।
पाकाच्चारित्रमोहस्य दृङ्मोहस्याथ नान्यथा ।। —पंचाध्यायी, अ० २ श्लोक ८३

अर्थ—आत्मा के कलुषित-परिणामो का नाम राग है। चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से आत्मा के चारित्रगुण का विभाव(विकृतरूप) होता है। दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से सम्यग्दर्शन का विभाव मोहरूप होता है। अन्य प्रकार से नहीं।

+**विकथा**—आत्मकल्याण से रहित रागादि भावों का पोषण करने वाली चर्चा करना विकथा है।

× उद्यत्क्रोधादिहास्यादि षट्कवेदत्रयात्मकम्।
अन्तरंगं जयेत् संगं प्रत्यनीक-प्रयोगत: ।। —सागार धर्मामृत अ० ४ श्लोक ६०

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, पुम्वेद, स्त्री-वेद और नपुंसकवेद तथा मिथ्यात्व इन अन्तरंग-परिग्रह के चौदह भेदों को उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि की भावना द्वारा जीतना चाहिए।

=**बाह्यपरिग्रह**—गृह, क्षेत्र, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, शयन, आसन, यान और धातु यह दश प्रकार का बाह्य परिग्रह होता है।

÷सुखदुक्खसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स।
संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं बेंति ।। —गोम्मटसार, जीव का० गाथा २८

अभिप्राय यह है कि सच्चे देव में ज्ञानावरण कर्म के क्षय से अनन्त ज्ञान—पूर्ण ज्ञान, दर्शनावरण कर्म के क्षय से अनन्तदर्शन—पूर्ण दर्शन, मोहनीय कर्म के क्षय से राग, द्वेष, जन्म, मरण, बुढ़ापा, भय, आश्चर्य, चिन्ता, अभिमान, हर्ष, विषाद आदि दोषों का अभाव असातावेदनीय के क्षय से क्षुधा, तृषा का अभाव होता है एवं अन्तराय के क्षयसे अनन्तबल की प्राप्ति होती है। अतः अनन्तज्ञान-अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इस अनन्त-चतुष्टय का सद्भाव सच्चे देव में रहता है।

पूर्ण ज्ञानी और वीतरागी होने से सच्चे देव में हितोपदेशिता+ पायी जाती है; क्योंकि जो रागी, द्वेषी होता है जिसकी बुद्धि में पक्षपात रहता है, वह यथार्थ उपदेशक नहीं हो सकता। सच्चा देव÷ किसी की स्तुति, प्रार्थना, पूजा आदि से न प्रसन्न होता है और न किसी की निन्दा से अप्रसन्न होता है किन्तु इन कार्यों से स्वयं जीव अपनी शुभाशुभ प्रवृत्ति के

+अनात्मार्थं विना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान् मुरजः किमपेक्षते॥

—रत्नकरंड श्रा० श्लोक ८

अर्थ—विना किसी राग के तथा बिना अपने आत्महित के शास्ता (भगवान्) सत्पुरुषों को हित करने वाला उपदेश देते हैं। किसी शिल्पी के हाथों से ताडित होने पर यदि मुरज वाद्य (मृदंग) ध्वनि करता है तो किस अपेक्षा से? वस्तुतः उसे तो किसी प्रकार की आशा नहीं होती।

दोषावरणमुक्तात्मा कृत्स्नं वेत्ति यथास्थितम्।
सोऽर्हंस्तत्वागमं वक्तुं यो मुक्तोऽनृतकारणैः॥

—आप्तस्वरूप श्लोक २

अर्थ—जो दोषावरणों से मुक्त है वही आत्मा तत्त्व को, यथार्थ को सही स्थिति में जानता है वही आगम को कहने में समर्थ है। काम, क्रोधादि प्रवृत्तिमान् तो पक्षपाती होने से यथार्थ-भाषी नहीं हो सकता।

÷दोषो रागादिसद्भावः स्यादावरणं कर्म तत्।
तयोरभावो निःशेषो यत्रासौ देव उच्यते॥ —पंचाध्यायायी अ० २ श्लो० ६०३

अर्थ—रागादि का सद्भाव दोष है ज्ञान आदि का आवरण (आच्छादन) करने वाला 'कर्म' कहा जाता है क्योंकि वह आत्मा के गुणों को आवृत करता है। उन दोष और कर्मों का निःशेष यानी सम्पूर्ण रूप से अभाव जिसमें पाया जाता है, वह देव है।

और भी कहा है कि—

निष्कलबोधविशुद्धसुदृष्टिः, पश्यति लोकविभावस्वभावम्।
सूक्ष्मनिरंजनजीवजिनोऽसौ, तं प्रणमामि सदा परमाप्तम्॥६३

कारण कर्म-बन्ध करता है। सच्चा देव सृष्टि का कर्ता= नहीं है; वह संसार के पदार्थों को उत्पन्न कर रागी द्वेषी नहीं होता, क्योंकि सृष्टि उत्पन्न करना राग द्वेष का कारण है। यह संसार तो अनादि काल से स्वतः* निर्मित हुआ चला आ रहा है, केवल वस्तुओं की पर्याय

(छठे पृष्ठ की शेष टिप्पणी)

क्षपितदुरितपक्षक्षीणनिश्शेषदोषो, भवकरणविमुक्तः केवलज्ञानभानुः।
परहृदयमतार्थग्राहकज्ञानकर्ता, ह्यमलवचनवक्ता भव्यबन्धुर्जिनाप्तः ॥ ६४॥

—आप्तस्वरूप

अर्थ—सूक्ष्म और निरंजन (किसी प्रकार के अंजन-आवरण से रहित) अतएव जिनावस्था को प्राप्त हुआ यह जीव निर्विकल्पबोध से शुद्ध हुई आत्मदृष्टि से संसार के विभाव और स्वभाव को देखता है। वह जिन भगवान् परम आप्त हैं, उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ। वह परम आप्त भगवान् जिनेश्वर देव दुरितों (पापों)के सभी पक्षों से रहित हैं, किसी प्रकार पाप उनपर है ही नहीं। और सभी दोषों को उन्होंने क्षीण कर दिया है। वह जन्म और मरण के बन्धनों से विमुक्त हैं, अर्थात् छूटे हुए है। केवल ज्ञान के तो साक्षात् सूर्य ही हैं। संसार के हृदय में वर्तमान समस्त ज्ञेयों को ग्रहण करने वाले अर्थात् जानने वाले हैं। उन के वचन निर्मल हैं और वे भव्यजनों के बन्धु हैं। इस प्रकार आप्तस्वरूप भगवान् जिन हैं और कोई नहीं।

सयल-वियप्पहं तुट्टाहं सिवपयमग्गि वसंतु।
कम्म चउक्कइ विलउ गइ अप्पा हुइ अरहंतु ॥

—परमात्मप्रकाश, अ० २ गाथा १९५

न पूज्यार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥५७॥ —स्वयम्भूस्तोत्र

अर्थ—हे भगवन्, आप तो वीतराग हैं, किसी प्रकार का राग रखते नहीं, इसलिए तुम्हारी स्तुति करूं तो, पूजा करूं तो तुम्हें तो उसकी किंचिन्मात्र भी अपेक्षा है नहीं और यदि कोई निन्दा भी करे तो तुमने सभी प्रकार के वैर को निर्मूल कर दिया है, अतः उससे भी तुम्हें किसी प्रकार का द्वेष नहीं होता अर्थात् तुम स्तुति और निन्दा दोनों से परे हो तथापि भक्तजन तुम्हारी स्तुति निरन्तर किया करते हैं। क्यों? इसी लिए कि आप की पुण्यस्मृति हमारे हृदय को पापकालिमा से पवित्र कर देती है।

=उर्वी पर्वततरुतन्वादिकं न बुद्धिमत्हेतुकं कार्यत्वाद्धेतोरन्वयव्यतिरेकाभावात् ॥

—प्रमेयरत्नमाला पृ० ६२

अर्थ—पृथिवी, पहाड़, वृक्ष और शरीरादिबुद्धिमत्—हेतुक नहीं हैं, कार्य होने से, अन्वयव्यतिरेक के अभाव से। अर्थात् पर्वतादिको देखकर उन में किसी बुद्धिमत्कर्तृत्वकी सिद्धि प्रतीत नहीं होती।

* तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतः सिद्धम्।
तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च ॥१-८॥

—पंचाध्यायी

अर्थ—यह संसार सल्लाक्षणिक और स्वतः सिद्ध है। अनादिनिधन है, कभी इसका आदि नहीं और न ही अन्त है, अपनी ही पर्यायरूप सहायता पर निर्भर है और निर्विकल्प है।

ही बदला करती है। *द्रव्य की दृष्टि से यह संसार नित्य है; इसमें न कोई नवीन पदार्थ उत्पन्न होता है और न किसी का सर्वथा विनाश होता है।

अरहन्त का स्वरूप–जो सम्पूर्ण घाति कर्मों को नष्ट कर चुके हैं जिनको अनन्त सुख प्राप्त हुआ है जो जन्म मरण से रहित हैं और जिनकी वाणी मधुर है जो स्वभाव से निकलती है। जिसे सम्पूर्ण भव्य जीव सुनकर अपने कर्मों को निर्बल कर देते हैं। इन्द्र सुर असुर मनुष्य चक्रवर्ती आदि के द्वारा वन्दनीय अर्थात् आराधना योग्य हैं। जिन्होंने सम्पूर्ण भव्य जीवों के लिए आत्म कल्याण का मार्ग बतलाया है। जो पक्षपात से अतीत हैं; ऐसे अरहन्त प्रभु सब जीवों का कल्याण करते हैं।

अरहन्त के विषय में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है कि—

णामे ठवणे हि य संदव्वे भावे हि सगुणपज्जाया।
चउणागदि संपदिमे भावा भावंति अरहन्तं ॥२८॥

अर्थ–नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव ये चार निक्षेप हैं। वे अरहन्त देव को जानने के लिए हैं। पुनः सगुण पर्याय अर्थात् अरहन्त के गुण पर्याय सहित च्यवन और आगति हैं इन से अरहन्त का विशेष स्वरूप जानना चाहिए।

भावार्थ–अरहन्त शब्द से यद्यपि सामान्य अपेक्षा से केवलज्ञानी होते हैं। इस प्रकार इनके अन्दर जो गुण है वह सत्य है। तो भी यहाँ तीर्थंकर पद को प्रधान करके पठन किया है। इसलिए नाम आदिक से समझ लेने के लिए कहा है। यहाँ लोक व्यवहार में नामादिक जो प्रवृत्ति है वहाँ वस्तु का नाम होता है परन्तु जैसा वस्तु का नाम होता है वैसा गुण नहीं होता है उसको नाम निक्षेप कहते हैं। जिस वस्तु का जैसा आकार होता है उसके आकार की काष्ठ पाषाणादि की मूर्ति बना कर संकल्प करना उसको स्थापना कहते हैं। वस्तु की जो पहली अवस्था थी उसको एवं उसकी अगली अवस्था को प्रधान करके

---

*न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रियाकारकमत्र युक्तम्।
नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्गलभावतोऽस्ति ॥२४॥

—स्वयम्भू स्तोत्र

अर्थ—द्रव्य की दृष्टि से यह संसार नित्य है। सर्वथा नित्य पदार्थ न तो सर्वथा उत्पन्न होता है और न ही इस का सर्वथा नाश होता है। उसमें किसी प्रकार की कारक और क्रिया की संगति लगाना भी युक्त नहीं है। सत् पदार्थ का कभी नाश नहीं होता और असत् का कभी जन्म नहीं होता। प्रकाश और अन्धकार तो पुद्गल की अपेक्षा से ही है।

व्यवहार करना, उसे 'द्रव्य निक्षेप' कहते हैं। वर्तमान में जो अवस्था है उसको उसी प्रकार व्यवहार करना उसको 'भाव निक्षेप' कहते हैं। ऐसे चार निक्षेपों की प्रवृत्ति है, उसका कथन शास्त्र में भी लोगों को समझाने के लिए कहा है। नाम को नाम, स्थापना को ही स्थापना समझना चाहिए। द्रव्य को द्रव्य समझना और भाव को भाव समझना, अन्य को अन्य समझना चाहिए। इसलिए समझने में जो व्यभिचार का दोष आता है, उस भाव को मिटाने के लिए तथा यथार्थ समझने के लिए निक्षेपों का कथन है। यहाँ लोकानुसार निक्षेप का कथन नहीं है। यहाँ तो निश्चय को प्रधान करके कथन है। जैसे अरहन्त का नाम है वैसे ही गुण सहित नाम जानना,जैसी स्थापना है उसी प्रकार के ध्येय सहित मूर्ति है, इसी को स्थापना जानना चाहिए। पुनः जैसे जिसका द्रव्य है वैसा ही द्रव्य जानना, उसी प्रकार उसका भाव है। उसी को बतलाने के लिए आचार्य कहते हैं कि जैसे अर्हन्त दर्शन और ज्ञान से अनन्त हैं, घाती-कर्म के नाश से सर्व ज्ञेय पदार्थों को देखना जानना जिन में विद्यमान है और समस्त मोहनीय कर्म को नष्ट करके जिनको भावमोक्ष है। अर्थात् यहाँ मोहभाव के अनुदय की अपेक्षा से केवली भगवान को आठों कर्मों का बन्ध नहीं है,तो भी साता वेदनीय कर्म का बन्ध सिद्धान्त में बतलाया गया है वह भी स्थिति, अनुभाग रूप नहीं है। इसलिए अबन्ध के समान है, ऐसा समझना चाहिए। आठों कर्म-बन्ध के अभाव की अपेक्षा भाव मोक्ष होती है। पुनः वे उपमारहित गुणों से युक्त हैं। वैसे गुण छद्मस्थ जीवों में नहीं हैं। वे महान उपमा रहित गुण अरहन्त भगवान में पाये जाते हैं, इसलिए अरहन्त अनुपम महान हैं।

यहाँ नाम मात्र अरहन्त को अरहन्त नहीं कहा जाता है। यदि किसी निर्गुण देव का नाम अरहन्त रखा है तो उसे अरहन्त नहीं माना जाता। इसके बारे में कुन्दकुन्दाचार्य ने बोधपाहुड़ में कहा है कि—

जरवाहिजम्ममरणं चउगइगमणं च पुण्ण पावं च।
हंतूण दोसकम्मे हुउ णाणमयं च अरहंतो ॥३०॥

अर्थ—वृद्ध-अवस्था, रोग, जन्म-मरण, रोग, चार गतियोंका गमन, पुण्य और पाप आदि दोषों और कर्मों को नाश करके केवल ज्ञानमयी स्वरूप वाले भगवान वीतराग अरहन्त होते हैं।

भावार्थ—राग, द्वेष, मद,मोह,भय, अरति, चिन्ता, निद्रा,विषाद, खेद, विस्मय ये ११ दोष घाति कर्म के उदय से होते हैं और क्षुधा, तृषा, जन्म, जरा, मरण, रोग, स्वेद ये ७ अघाति कर्मोदय से होते हैं। चार गति में गमन का अभाव कहने से अघाति कर्म से उत्पन्न होने वाले जरा, रोग, जन्म-मरण दोषों का अभाव समझना चाहिए। क्योंकि इन दोषों को उत्पन्न करने वाली अशुभ अघाति कर्म प्रकृतियों के उदय का अरहन्त में अभाव है। तथा रागद्वेषादि दोषों को उत्पन्न करने वाले घाति कर्मों का अभाव है।

प्रश्न—मरण और पुण्य का अभाव यहाँ कहा सो मोक्ष गमन होना यह मरण अरहन्त का है और पुण्य कर्म का उदय भी अरहन्त भगवान के देखने में आता है उसका अभाव कैसे?

उत्तर—यहाँ मरण का अर्थ है कि अरहन्त भगवान ने घाति कर्मों को नष्ट कर दिया है अतः उनको संसार में फिर जन्म लेना नहीं है। इस अपेक्षा से यह मरण है,जन्म देने वाला मरण अरहन्त को नहीं। वैसे ही जो पुण्य प्रकृति का उदय पाप प्रकृति की अपेक्षा से है, ऐसे पुण्य के उदय का अभाव समझना चाहिए। अथवा बन्ध अपेक्षा से पुण्य का भी अभाव उनमें है। साता वेदनीय का बन्ध जो है सो वह स्थिति अनुभाव बिना अबन्ध के समान है।

प्रश्न—केवली के असातावेदनीय का उदय भी सिद्धान्त में कहा है। उसकी प्रवृत्ति कैसे है?

समाधान—असाता वेदनीय का निपट मन्द अनुभाग उदय है और साता का अति तीव्र अनुभाग उदय है। इससे असाता कुछ बाह्य कार्य करने में समर्थ नहीं है। वह सूक्ष्म उदय बदल जाता है। तथा संक्रमणरूप होकर साता रूप हो जाता है, ऐसा समझना चाहिए। ऐसे अनन्त चतुष्टय से सहित सर्व दोषों से रहित जो वीतराग होता है, वह ही अरहन्त का स्वरूप है। अब स्थापना अरहन्त का वर्णन करते हैं—

गुणठाणमग्गणेहिं य पज्जत्ती पाणजीवठाणेहिं।
ठावण पंचविहेहिं णायव्वा अरहपुरिसस्स ॥३१॥

अर्थ—स्थापना निक्षेप में काष्ठ तथा पाषाणादि में संकल्प करना कहा है, सो यहाँ प्रधान नहीं है। यहाँ पर निश्चय-प्रधान कथन है। तदनुसार यहाँ पर गुणस्थान, मार्गणा,

पर्याप्ति, प्राण, जीवस्थान, इन पांच प्रकारों से अरहन्त का स्थापन कहा है।

आगे गुणस्थान की अपेक्षा अरहन्त भगवान की स्थापना बतलाते हैं—

तेरहमे गुणठाणे सजोइ केवलिय होइ अरहंतो ।
चउतीस अइसयगुणा होंति हु तस्सट्ठ पडिहारा ॥ ३२ ॥

अर्थ—गुणस्थान चौदह हैं उनमेंसे तेरहवां गुणस्थान सयोगकेवली है। उसमें वचन और काय इन दो योगों की प्रवृत्ति तथा केवल ज्ञान सहित अरहन्त होते हैं। तीर्थङ्कर अर्हन्त के ३४ अतिशय तथा ८ प्रातिहार्य होते हैं।

भावार्थ—यहाँ ३४ अतिशय और आठ प्रातिहार्यों को कहा है। ये समवशरण में विराजमान या विहार करने वाले अरहन्त के होते हैं। अरहन्त को सयोगी कहने से उनके विहार की प्रवृत्ति और वचन की प्रवृत्ति होती है। और केवली कहने से वे केवल-ज्ञान से पदार्थों को युगपत् जानने वाले हैं। उनके चौंतीस अतिशयों में से जन्म के समय दस अतिशय होते हैं। मल मूत्र का अभाव, पसीना का अभाव, श्वेत रक्त, समचतुरस्र संस्थान, वज्र ऋषभनाराच संहनन, सुन्दर रूप, सुगन्धित शरीर, १००८ शुभ लक्षण, अनन्त बल, मधुर वचन, ये १० अतिशय जन्म समय के हैं।

केवल ज्ञान के दस अतिशय—उपसर्गका अभाव, अदयाका अभाव, शरीर की छाया नहीं पड़ना, चार मुख दीखना, सर्व विद्याका स्वामीपन, नेत्र टिमकते नहीं, सौ योजन तक सुभिक्षता, आकाश में गमन, कवलाहार का अभाव, नख केश नहीं बढ़ना, ऐसे केवल ज्ञान के दस अतिशय हैं।

देवकृत चौदह अतिशय—अर्द्धमागधी भाषा, निकटवर्ती जीवों का परस्पर मैत्री भाव, सर्वऋतु के फलफूल फलना, दर्पण समान कण्टकरहित भूमि, मन्द सुगन्ध वायु चलना, सभी जीवों को आनन्द, गन्धोदक वृष्टि, पाद तल में कमल की रचना, सर्वधान्य की निष्पत्ति, दशों दिशायें निर्मल, आकाश निर्मल, देवों द्वारा आकाश में जयकार शब्द, धर्म चक्र का आगे-आगे चलना, अष्ट मंगल द्रव्य आगे चलना, ये १४ देवकृत अतिशय हैं। अष्ट मंगल द्रव्य के नाम—छत्र, ध्वजा, दर्पण, कलश, चामर, स्वस्तिक, झारी, और ठौणा हैं। अष्ट प्रातिहार्य के नाम ये हैं—अशोक वृक्ष, दिव्य-ध्वनि, चामर, सिंहासन, भामण्डल, पुष्पवर्षा, दुन्दुभी बजना, शिर पर तीन छत्र ।

मार्गणा की अपेक्षा से स्थापना–

गइ इंदियं च काए जोए वेए कसाय णाणे य।
संजम दंसण लेस्सा भविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥ ३३ ॥

अर्थ–गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व संज्ञी, आहार ये चौदह मार्गणा हैं। अरहन्त सयोग केवली तेरहवें गुण-स्थान-वर्ती हैं। उनके चार गतियों में से मनुष्य गति है, पाँच-इन्द्रिय जाति में से पंचेन्द्रिय जाति है, काय छह में से त्रस काय है, पंद्रह योगों में सत्य, अनुभय, ये दो मनोयोग उसी तरह सत्य, और अनुभय, ये दो वचन योग होते हैं। तथा च–सात प्रकार के काययोगों में से केवलज्ञानी भगवान के केवल एक औदारिक काययोग ऐसे पाँच काय योग हैं। जब समुद्घात करते हैं तब औदारिक मिश्र और कार्माण ये दो और मिलकर सात योग होते हैं। तीनों वेदों का अभाव है, पच्चीस कषायों का अभाव है, आठ ज्ञानों में केवल ज्ञान है, सात संयम में से एक यथाख्यात है, चार दर्शन में एक केवल दर्शन है, लेश्याओं में से एक शुक्ल लेश्या है। भव्य अभव्य में से एक भव्य है, सम्यक्त्व में से क्षायिक सम्यक्त्व है। संज्ञी भाव से क्षयोपशम स्वरूप भाव मन का अभाव है। आहारक तथा अनाहारक दो में आहारक हैं, सो नोकर्म की अपेक्षा से हैं। भगवान को कवलाहार नहीं है। और जब समुद्घात करते हैं तब अनाहारक भी हैं। ऐसे मार्गणा की अपेक्षा अरहन्त की स्थापना समझना चाहिए।

पर्याप्ति की अपेक्षा–

आहारो य सरीरो इंदियमणआणपाणभासा य।
पंज्जत्तिगुणसमिद्धो उत्तमदेवो हवइ अरहो ॥३४॥

अर्थ–पर्याप्तिका स्वरूप ऐसा है कि जीव जब एक पर्यायसे च्यवनकरि अन्य पर्यायमें प्राप्त होता है तब उत्कृष्ट तीन समयतक अंतराल में रहता है। पीछे सैनी पंचेन्द्रिय उपजे तो वहाँ तीन जातिकी वर्गणाका ग्रहण करते हैं–आहार वर्गणा, भाषावर्गणा मनोवर्गणा। इनको ग्रहण करके आहार जाति की वर्गणासे तो आहार, शरीर, इंद्रिय, श्वासोच्छ्वास ऐसे चार पर्याप्ति अन्त-र्मुहूर्त काल में पूर्ण करे, पीछे भाषा जाति, मनोजाति की वर्गणा से अन्तमुहूर्त ही में भाषा, मन पर्याप्ति पूर्ण करता है ऐसे छै पर्याप्ति अन्तर्मुहूर्तमें पूर्णकर लेता है। पीछे आयुपर्यन्त पर्याप्त ही होता है और नोकर्म वर्गणा का ग्रहण करता ही रहता है, यहाँ आहार नाम से कवलाहार

न जानना । ऐसे तेरहवें गुणस्थान में भी अरहन्त के पर्याप्ति पूर्ण ही हैं । ऐसे पर्याप्ति से अरहन्त भगवान की स्थापना करना चाहिए ।

प्राण से स्थापना—

पंच वि इंदियपाणा मणवयकाएण तिण्णि बलपाणा ।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होंति दह पाणा ॥३५॥

अर्थ—पांच इन्द्रियां, मन, वचन, काय बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ऐसे दश प्राण हैं । उनमें से तेरहवें गुणस्थान में भाव इंद्रिय और भाव मन की क्षयोपशमभाव रूप प्रवृत्ति नहीं है उसकी अपेक्षा से कायबल, वचनबल, श्वासोच्छ्वास, आयु ये चार प्राण कहे हैं और द्रव्य की अपेक्षा से दश प्राण कहे हैं । ऐसे प्राण से अरहन्त की स्थापना करना चाहिए ।

जीवस्थान से स्थापना—

मणुयभवे पंचिंदिय जीवट्ठाणेसु होइ चउदसमे ।
एदे गुणगणजुत्तो गुणमारूढो हवइ अरहो ॥ ३६ ॥

जीव समास चौदह कहे हैं । एकेन्द्रिय सूक्ष्म, बादर २, बेइंद्रिय, तेइंद्रिय, चौइंद्रिय ऐसे विकलत्रय ३, पंचेन्द्रिय असैनी, सैनी २ ऐसे सात हुए । वे सब पर्याप्त अपर्याप्त भेदों से चौदह हुए । उनमें से पंचेन्द्रिय जीवस्थान अरहन्तके होता है । गाथा में सैनीका नाम नहीं लिया है मनुष्य भव का नाम लिया है । सो मनुष्य सैनी ही होता है, असैनी नहीं होता इसलिए मनुष्य कहने से सैनी ही जानना ।

ऐसे गुण सहित स्थापना का अरहन्त के वर्णन किया । आगे द्रव्य की प्रधानता से अरहन्त का निरूपण करते हैं—

जरवाहिदुक्खरहियं आहारणिहारवज्जियं विमलं ।
सिंहाण खेल सेओ णत्थि दुगुंछा य दोसो य ॥३७॥
दस पाणा पज्जत्ती अट्ठसहस्सा य लक्खणा भणिया ।
गोखीरसंखधवलं मंसं रुहिरं च सव्वंगे ॥३८॥
एरिसगुणेहिं सव्वं अइसयवंतं सुपरिमलामोयं ।
ओरालियं च कायं णायव्वं अरहपुरिसस्स ॥३९॥

अर्थ—अरहन्त के परम औदारिक काय योग होता है तथा जरा (बुढ़ापा), और व्याधि(रोग) का भी उन्हें दुःख नहीं होता। तथा उनके आहार और नीहार (मलमूत्र) नहीं होता, वे विमल यानी मल-रहित होते हैं एवं उनके सिंहाण(श्लेष्म) खेल(थूक)पसेव, दुगंछा (जुगुप्सा ग्लानिता) नहीं होती।

उनके दश प्राण होते हैं वे द्रव्य प्राण जानना। उनके समस्त पर्याप्तियां होती हैं। उनके एक हजार आठ शुभ लक्षण होते हैं। गोक्षीर (गाय का दूध) या शंख का सा सफेद उनके शरीर में रुधिर मांस होता है।

अर्हन्त ऐसे गुणों से संयुक्त शरीरधारी और अन्य अतिशयों से सहित निर्मल होते हैं। उनका शरीर सुगन्धित होता है। ऐसा औदारिक देह अरहन्त भगवान का जानना।

सिद्ध परमेष्ठी का संस्मरण

पुदिदेंदु कर्मबन्धं परिवडे किडदेंदु गुणं पोर्दे लोका-
ग्रदो ळोरंतोप्पि निन्दच्युतरजिरतमूर्तप्रणूतसु सौख्या-
भ्युदयनिस्यर्जन्मंगळरमळे गुणेतु गरुद्भूतलेप-
मुंददिं सिद्धर्स्वकीयप्रभूतेयनेमगं माळ्के कारुण्यदिंदं ॥ २ ॥

अर्थ—अनादिकाल से बंधे हुए आठ कर्मों को नष्ट करके आठ गुणों से युक्त, तीन लोक के अग्रभाग पर सदा शोभायमान होकर रहने वाले तथा अच्युत (कभी भी अपने पद से च्युत न होने वाले), अजित, अमूर्त, प्रणुत, निरंजन तथा सदैव अनन्त सुख वैभव में मग्न, नित्य, जगन्मंगल, अमल गुणों से युक्त, श्रेष्ठ गुणावली से उत्तम, सम्पूर्ण कर्मलेप से रहित वे सिद्ध भगवान् अपने सिद्धपद के समान मेरे हृदय में भी आत्मसिद्धि प्राप्त करने का सद्भाव बनावें, मेरे प्रति करुणाभाव रखें।

जिस सिद्ध परमेष्ठी ने अष्टकर्मों को नाश कर अष्ट गुणों को प्राप्त कर लिया है और लोकाग्र पर विराजमान हैं तथा जो सदा अच्युत हैं और संसार के जन्म, मरणादि दुःखों से रहित हैं, अक्षयशक्ति से सम्पन्न हैं, कभी किसी के द्वारा पराजित नहीं होते। अमूर्त हैं, निराकार हैं, ज्ञान, दर्शन, सुख, सूक्ष्मत्व आदि समस्त गुणों से सहित हैं, नित्य अबाधित सुखमय हैं, निर्मल गुणों के निधान हैं, वे सिद्ध परमेष्ठी मेरे ऊपर दया करें।

सिद्धों में सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व ये आठ गुण होते हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ये ८ कर्म इन आठ गुणों के बाधक हैं। उन कर्मों के कारण आत्मा के वे गुण आच्छादित हो जाते हैं। जब आत्मा अपने पुरुषार्थ से इन कर्मों का क्षय कर देता है तो उपर्युक्त आठ गुणों का आविर्भाव हो जाता है। ज्ञानावरण कर्म के क्षय होने से ज्ञान, दर्शनावरण के क्षय से दर्शन, वेदनीय के क्षय से अव्याबाधत्व, मोहनीय के क्षय से सम्यक्त्व, आयु के क्षय से अवगाहनत्व, नाम कर्म के क्षय से सूक्ष्मत्व, गोत्रके क्षय से अगुरुलघुत्व और अन्तराय के क्षय से वीर्य गुण की प्राप्ति होती है।

धवलग्रन्थ में सिद्ध परमेष्ठी का निम्नलिखित विवेचन किया है—

सिद्धों को नमस्कार हो। सिद्धका अर्थ—अपने कल्याण को जिन्होंने साधा है। जो कृतकृत्य हो चुके हैं। अर्थात् आठों कर्मों को जिन्होंने पूर्ण नष्ट कर दिया है। उन्हें सिद्ध कहते हैं।

सिद्ध और अरिहन्तों में भेद क्या है?

आठों कर्म जिन्होंने नष्ट कर दिये हैं, वे सिद्ध, जिन्होंने घातिकर्म (चार) का नाश किया है वे अरिहन्त कहलाते हैं, यही भेद है।

शंका—घातिकर्मों का नाश हो जाने पर ही सभी आत्मगुण तो अर्हन्तों में भी प्रकट हो जाते हैं, इसलिए गुणविकास सम्बन्धी दोनों में कोई भेद नहीं ठहरता?

उत्तर—यह शंका ठीक नहीं है, क्योंकि अर्हन्तों में चार अघाति कर्मों का उदय और सत्ता तो नष्ट होने से बच ही जाती है।

शंका—वे अघातिकर्म भी अर्हन्तों में शुक्ल ध्यानरूप अग्नि द्वारा आधे से जल ही जाते हैं, इसलिए अपने कार्य को वे अघाति कर्म कर नहीं सकते?

उत्तर—अर्हन्तों का शरीर छूट नहीं पाता। यह कार्य अघातिकर्मों के सिवा दूसरे किसी का नहीं है। अर्थात् इस शरीर का सद्भाव सिद्धों से अर्हन्तों में भेद सिद्ध करता है।

शंका—आयु आदि चार अघाति कर्मों की सत्ता सिद्ध है परन्तु इन कर्मों का कार्य चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमण कराना है जो कि जन्म जरा मरण रूप संसार का स्वरूप है। वह संसार तो अर्हन्तों के रहा नहीं और इसीलिए अर्हन्तों के आत्मगुणों को घातने की

सामर्थ्य भी उन अघाति कर्मों में नहीं रही । अतः अर्हन्त और सिद्धों में गुणों की अपेक्षा कोई भेद नहीं है ?

उत्तर—जीव का स्वभाव उर्ध्वगमन है उसको आयु कर्म ने अभी अर्हन्तों में प्रकट नहीं होने दिया है और वेदनीय कर्म ने सुख का प्रतिबन्ध कर रखा है। तदनुसार यह गुणकृत भेद है ही ।

शंका—ऊर्ध्वगमन आत्मा का गुणा नहीं है। नहीं तो उस ऊर्ध्वगमन के अभाव के समय आत्मा का भी अभाव होता। इसी हेतु से सुख भी आत्मा का गुण नहीं है। इसी लिए वेदनीय का उदय अर्हन्तों में दुःख का कारण नहीं होता। क्योंकि, यदि वह दुःख का कारण केवली (अर्हन्त) में हो सके तो वे केवली ही न हो सकें। क्यों कि, केवली होना और दुःख रहना—ये दो बातें परस्पर विरुद्ध हैं ?

उत्तर—ठीक है, न्याय से ऐसा ही बनता है। (इस प्रकार सिद्धों और अर्हन्त में वास्तव अथवा गुणकृत भेद नहीं है।) फिर भी कर्म, नोकर्म सहित अर्हन्त होते हैं और सिद्ध कर्म, नोकर्म से रहित होते हैं। यह लेप रहने, न रहने का भेद अवश्य है। देश (क्षेत्र) भेद से भी दोनों में भेद है ही। यह सिद्ध हुआ। ऐसे उन सिद्धों को नमस्कार हो, यह सम्बन्ध यहाँ समझना।

णिहयविविहट्ठकम्मा तिहुवणसिरसेहरा विहुवदुक्खा ।
सुहसायरमज्झगया णिरंजणा णिच्चअट्ठगुणा ॥ २६ ॥
अणवज्जा कयकज्जा सव्वावयवेहि दिट्ठसव्वट्ठा ।
वज्जसिलत्थब्भग्गयपडिमं वा भेज्जसंठाणा ॥ २७ ॥
माणुससंठाणा विहु सव्वावयवेहि णो गुणेहि समा ।
सव्विंदियाण विसयं जमेगदेसे विजाणंति ॥ २८ ॥

उक्त गाथाओं का अर्थ—जिन (सिद्धों) ने विविध उत्तर भेद सहित आठों कर्मों का नाश कर दिया है जो तीनों भुवनों के ललामभूत चूडारत्न के समान हैं। सर्वदुःखों को जो नष्ट कर चुके हैं और सुखसागर के बीच में जो मग्न हुए हैं। सर्व मल दोष से जो अलिप्त हैं जो केवल ज्ञानादि आठ गुणों से सदा विभूषित रहने वाले और नित्य हैं ॥१॥

जो सिद्ध परमात्मा सर्वदोषों से रहित हैं। जो कृतकृत्य हैं। जो सर्वप्रदेशों द्वारा सम्पूर्ण वस्तुस्वरूपों को देखते हैं। वज्रशिला के ऊपर उकेरी प्रतिमा के समान जिनकी आकृति अमिट है ॥२॥

यद्यपि वे मनुष्यकार हैं परन्तु केवल अवयवों की अपेक्षा से, न कि गुणों में मनुष्याकार हैं। सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों को जो अपने एक देश में विराजे हुए ही जानते हैं ॥३॥

सिद्ध भगवान ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, और अन्तराय, इन आठ कर्मों को संपूर्ण नष्ट करके इस कर्म-परतन्त्रता से हमेशा के लिए छूटकर स्वतन्त्र हो गये हैं। अब इन सिद्ध भगवान का कोई भी संसारी काम करना शेष नहीं रहा। यह सिद्ध भगवान हमेशा के लिए जन्म और मरण से मुक्त हो चुके हैं। सिद्ध गति से संसार में उनका आवागमन नहीं है, वे अपने अनन्त सुख में मग्न होकर लोकाग्र पर अपने स्वरूप में अचल रूप से स्थित हैं और वे भगवान अगति को प्राप्त हुए हैं तथा ज्ञान दर्शन, चैतन्यमय लक्षण सहित हैं।

श्री कुन्दाकुन्दाचार्य ने किंचित् ऊन चरम देह परिमाण आकार सिद्धों के कहा है।

ण कुदोच्चि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो सिद्धो।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होदि ॥३६॥

अर्थ—क्योंकि किसी से भी उत्पन्न नहीं हुए हैं इस कारण से वह सिद्ध भगवान कार्य नहीं हैं। तथा किसी को भी उत्पन्न नहीं करते हैं, इस कारण से वह सिद्ध भगवान कारण भी नहीं होते हैं।

जैसे संसारी जीव कर्मों के उदय से नरनारकादि रूप से उत्पन्न होते रहते हैं वैसे सिद्ध भगवान कर्मों के उदय से व नोकर्म रूप से उत्पन्न नहीं होते हैं, इसलिए वे किसी के कार्य नहीं हैं, न वे भगवान स्वयं किसी कर्म बन्ध को उपजाते हैं, न नोकर्म रूपी शरीर पैदा करते हैं, इसलिए वह सिद्ध भगवान कर्म और नोकर्म की अपेक्षा से कारण भी नहीं हैं।

यहाँ यह बताया है कि सिद्ध अवस्था स्वाभाविक जीव का स्वरूप है। वह किसी कर्म के उदय से पैदा नहीं है जिससे यह समझा जावे 'कि वह किसी कर्म के उदय का फल है, अत एव कर्मों के क्षय होने पर वह अवस्था भी क्षय हो जायगी। जैसे संसारी

जीव की मनुष्य या देव या नारकी या तिर्यंच की अवस्था आयु कर्म, गतिनामकर्म आदि के उदय के कार्य हैं। जब तक आयु कर्म का उदय रहेगा तब ही तक यह चार गति रूप अवस्था बनी रह सकती है, आयुकर्म के क्षय होते ही नष्ट हो जायेगी, इस तरह किसी कर्म के उदय से सिद्ध अवस्था नहीं है, अतएव वह किसी का कार्य नहीं हैं।

जैसे संसारी जीव रागद्वेष मोह से वासित होकर मन, वचन काय के योगों से व्यापार करते हुए शुभ व अशुभ कर्मों का संचय करते हैं, अतएव वे कर्मों के कारण हो जाते हैं, वैसे सिद्ध परमात्मा रागद्वेष मोह व योगों के हलन-चलन से रहित होते हुए न किसी कर्म-वर्गणा को बाँधते हैं, न कभी उस बंध का फल सुख-दुःख या संसार में भ्रमण पा सकते हैं।

वे न परपदार्थ से उपजे हैं, न पर पदार्थों को उपजाते हैं। वे परम वीतराग अपने शुद्ध स्वभाव में नित्य मग्न हैं, क्योंकि वे कारण व कार्य रूप नहीं हैं, इसी से वे सदा अविनाशी हैं। उनकी सिद्ध अवस्था कभी छूट नहीं सकती। जो पर्याय दूसरे के निमित्त से होती है वह निमित्त हटने पर छूट जाती है। परन्तु स्वाभाविक अवस्था पर-निमित्त से नहीं होती, इस लिए वह सदा बनी रहती है।

जैसे स्फटिक मणि से जब तक लाल पीला डांक लगा रहेगा तब तक ही उसकी आभा का परिणमन लाल पीला होगा। जब उस डांक को निकाल लिया जावे, तब स्फटिक की आभा अपने सफेद स्वभाव में सदा चमकती रहेगी—वह सफेद स्वभाव बिना निमित्त के कभी अन्य रूप नहीं हो सकता है।

सिद्ध भगवान की आत्मा जब संसार अवस्था में थी तब कर्मों के उदय के निमित्त से जो कोई अवस्था होती थी वह उस कर्म के चले जाने से नष्ट हो जाती थी, अब सिद्धों में कोई भी कर्मों का बंध रहा नहीं, न कर्मों के आस्रव व बंध के कारण योग और कषाय हैं अतएव सिद्ध भगवान किसी के कार्य नहीं हैं। यदि उनमें भी रागद्वेष मोह होते तो वह कर्मों को बांधते इसलिए कारण भी हो जाते, परन्तु उनके मोहनीय कर्म का क्षय हो गया है। अतएव उनके रागद्वेष मोह नहीं हो सकता। इसलिए वे कुछ भी कर्म व नोकर्म न पैदा करते हुए किसी के कारण भी नहीं हैं।

इससे यह बताया गया है कि मोक्ष से कोई भी जीव फिर संसार-अवस्था में नहीं आ

सकता, अतएव जो ऐसा मानते हैं कि शुद्ध परमात्मा अवतार लेता है, व इस सृष्टि की रचना का कारण है इत्यादि, वह सब कथन गाथा से निषेध किया गया है। सिद्ध भगवान किसी पर-अवस्था के न निमित्त कारण हैं, न उपादान कारण हैं। उनमें कोई राग, द्वेष मोह नहीं है, न कोई इच्छा है, न उनमें कोई संकल्प हो सकते हैं—वे निरन्तर अपने ही स्वभाव में रत रहते हैं। अपनी ही शुद्ध स्वाभाविक परिणति के कारण और कार्य होते हुए स्वात्मीक आनन्द का स्वाद लिया करते हैं।

सिद्ध परमात्मा न किसी को सुख देते हैं, न दुःख देते हैं, तथापि जो उनकी भक्ति करते हैं वे स्वयं अपने भाव निर्मल करके पुण्य बाँध कर सुखी हो जाते हैं।

सिद्धों का स्वरूप श्री विद्यानंदि स्वामी ने पात्र-केसरी स्तोत्र में इस भाँति कहा है:—

ददास्यंनुपमं सुखं स्तुतिपरेष्वतुष्यन्नपि,
क्षिपस्यकुपितोपि च ध्रुवमसूयकान्दुर्गतौ।
न चेश ! परमेष्ठिता तव विरुद्ध्यते यद् भवान्,
न कुप्यति न तुष्यति प्रकृतिमाश्रितो मध्यमाम् ॥

अर्थ—हे भगवन् ! स्तुति करने वाले भक्तों पर आप प्रसन्न नहीं होते फिर भी उनको अनुपम सुख प्रदान करते हैं। और जो आप से ईर्ष्या करते हैं—आपकी निन्दा करते हैं, उन पर आप कुपित नहीं होते फिर भी आप उन ईर्ष्यालु निन्दकों को दुर्गति—नरक आदि में फेंक देते हैं। हे भगवन् ! इस प्रकार भी आपका परमेष्ठी पद विरुद्ध नहीं ठहरता है। क्योंकि आप न तो किसी पर क्रोध करते हैं और न किसी से सन्तुष्ट-प्रसन्न होते हैं। आप अपनी मध्यम (राग द्वेष रहित) यानी—वीतराग प्रकृति (स्वभाव) में स्थिर रहते हैं।

भावार्थ—वीतराग सिद्ध भगवान की स्तुति करने वाला शुभकर्म का उपार्जन करके सांसारिक सुख पाकर क्रम से मुक्ति सुख पाता है और उन वीतराग सिद्ध परमेष्ठी की निन्दा करने वाला अशुभ कर्म उपार्जन करके नरक आदि दुर्गति में जाता है। वीतराग सिद्ध भगवान स्वयं किसी को सुख नहीं देते किन्तु उनके निमित्त से भक्त पुरुष सुख पाते हैं और निन्दक पुरुष दुख पाते हैं।

श्री पूज्यपाद आचार्य ने भी कहा है कि—

सिद्धानुद्धूतकर्मप्रकृतिसमुदयान्साधितात्मस्वभावान्,
वंदे सिद्धिप्रसिद्ध्यै तदनुपमगुणप्रग्रहाकृष्टितुष्टः ।
सिद्धिः स्वात्मोपलब्धिः प्रगुणगुणगणोच्छादिदोषापहारात्,
योग्योपादानयुक्त्या दृषद इह यथा हेमभावोपलब्धिः ॥

अर्थ—जिन्होंने ज्ञानावरणादि आठ कर्मों का नाश कर दिया है, और आत्म-स्वभाव की सिद्धि कर ली है, ऐसे सिद्ध परमेष्ठी को मैं उनके अनुपम अनन्त गुण गण से आकर्षित हो कर सन्तुष्ट हुआ आत्म-सिद्धि की प्राप्ति के लिए वंदना करता हूँ। जिस प्रकार इस संसार में योग्य उपादान सामग्री के मिलने से पत्थर से स्वर्ण-भाव की प्राप्ति होती है तथा उसी प्रकार अनन्तज्ञानादि गुणों का आच्छादन करने वाले अथवा विकृत करने वाले दोषों—कर्मों के नाश हो जाने से शुद्ध आत्म-तत्व की उपलब्धि को सिद्धि कहते हैं।

नाभावः सिद्धिरिष्टा न निजगुणहतिस्तत्तपोभिर्न युक्तेः ।
अस्त्यात्मानादिबद्धः स्वकृतजफलभुक् तत्क्षयान्मोक्षभागी ॥
ज्ञाता दृष्टा स्वदेहप्रततिरुपसमाहारविस्तारधर्मा ।
ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मा स्वगुणयुत इतो नान्यथा साध्यसिद्धिः ॥

अर्थ—दीपक के बुझने की तरह आत्म-तत्व के अभाव को सिद्धि नहीं माना जा सकता है, उसी प्रकार अपने विशेष गुणों के अभाव को भी सिद्धि मानना इष्ट नहीं है। क्योंकि जो लोग आत्म-भाव और विशेष गुणों के नाश को सिद्धि मानते हैं वे अपने ही नाश करने के लिए तपश्चर्या आदि के द्वारा प्रवृत्त नहीं हो सकते हैं। साथ ही जिनका ऐसा मत है कि आत्म-तत्व ही नहीं है, उनका यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनादि-काल से कर्मों से बद्ध, अपने द्वारा किये हुए अच्छे बुरे कर्मों के फलों को भोगने वाला, जानने वाला, देखने वाला, अपने द्वारा प्राप्त शरीर के प्रमाण में रहने वाला, संकोच और विस्तार धर्म वाला, उत्पाद व्यय, और ध्रौव्य स्वरूप तथा अपने ज्ञानादि गुणों से युक्त आत्मा है। यदि ऐसा न माना जावे तो इष्ट साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

इसी प्रकार सौगत या बौद्धमत की मान्यता का समाधान करने के लिए कुन्द-कुन्दाचार्य ने इस प्रकार कहा है :-

सस्सदमध उच्छेदं भव्वमभव्वं च सुण्णमिदरं च ।
विण्णाणमविण्णाणं ण वि जुज्जदि असदि सब्भावे ॥

अर्थ—शाश्वतपना और व्ययपना, भव्यपना और अभव्यपना, शून्यपना और दूसरा अशून्यपना, विज्ञान तथा अविज्ञान जीव के असत् होने पर नहीं हो सकते हैं ।

भावार्थ—इस गाथा में आचार्य ने स्याद्वाद की छटा प्रगट की है और सिद्ध भगवान में चार विरोधी स्वभावों को भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से सिद्ध कर दिया है । पहले स्वभाव में द्रव्य का लक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्य सिद्धों में बताया है कि वे सिद्ध भगवान; अगुरुलघुगुण के द्वारा जो स्वभाव परिणमन होता है उसकी अपेक्षा सदा अपनी शुद्ध सदृश पर्यायों में उत्पत्ति तथा विनाश करते रहते हैं । समय समय नवीन पर्यायें जब उठती हैं, तब पुरानी पर्यायें नष्ट हो जाती हैं, इसी से सिद्धों में अनित्यपना है और क्योंकि सिद्ध भगवान अपने जीवद्रव्य तथा उसके अनन्त सहभावी गुणों की अपेक्षा सदा ही बने रहते हैं, इससे उनमें ध्रौव्यपना है । इस कथन मात्र से ही उन लोगों के मत को बाधा दी है जो मुक्ति में जीव का अभाव मानते हैं तथा उनको भी बाधा दी है जो मुक्ति में परिणमन नहीं मानते हैं ।

दूसरे विशेषण से यह बता दिया है कि यद्यपि वे सिद्ध अपने स्वाभाविक भावों में होते रहते हैं, इससे भव्य हैं । परन्तु वे कभी भी औपाधिक अशुद्ध भावों में नहीं परिणमन करते हैं इससे अभव्य हैं । इस कथन से उनके मत को बाधा दी है जो परमात्मा में इच्छा, प्रयत्न, द्वेष व अपने भक्तों की रक्षा हेतु जन्म लेना आदि मानते हैं । अथवा मुक्ति से जीव का फिर संसारी होना स्वीकार करते हैं ।

तीसरे विशेषण से बताया है कि उनमें अस्ति नास्ति या भावाभाव स्वभाव है । अपने द्रव्यादि की अपेक्षा उनका सदा सद्भाव है, परन्तु उनमें अन्य द्रव्यादि का सदा अभाव है। इससे यह बताया कि परमात्मा कभी विश्वरूप नहीं होता है, न विश्व परमात्मा रूप होता है और न एक परमात्मा में दूसरे अपनी सत्ता खो बैठते हैं ।

चौथे विशेषण से यह बताया है कि परमात्मा में स्वाभाविक पूर्णज्ञान का सद्भाव सदा

रहता है जब कि इन्द्रिय व मन के द्वारा होने वाला अपूर्ण ज्ञान नहीं होता है। इससे यह बताया है कि परमात्मा संसारी जीवों की तरह देखता जानता नहीं है, किन्तु वह एक समय में तीन काल के सर्व पदार्थों की अवस्थाओं का ज्ञान बिना किसी प्रयत्न के ही अपने में प्राप्त किए हुए हैं। यह सर्वज्ञपना और सर्वदर्शिता परमात्मा का मुख्य लक्षण है। इस कथन से यह भी झलकाया है कि वह हमारी तरह इन्द्रियों के द्वारा विषय-भोग नहीं करता है, न उसको ऐसी कोई बाधा पैदा होती है। वह निरन्तर अपने स्वभाव के भोग में ही मग्न है। ये चार विशेषण अपने विरोधी स्वभाव के साथ-साथ सिद्ध परमात्मा में पाए जाते हैं, इसलिए मुक्ति-अवस्था वास्तव में जीव का मात्र वह शुद्ध स्वभाव है जिसमें परभावों की मुक्ति हो गई है अर्थात् जिसमें से पर-द्रव्यकृत मलीनता चली गई है।

आचार्य परमेष्ठी को नमस्कार—

वरपंचाचारदोंदुन्नतियोळिवरे लोकोत्तमर्विश्वसत्यो।
त्करमं रत्रिप्पु पायक्किवरे धरणियोळ् सज्जनप्रस्तुतर्मा॥
सुरमुव्वकत्तारुमत्युत्तमगुणदोलिवर्ता मेम्मत्पूज्यरेंवं।
तिरे मिक्काचार्य वर्यर्वरुणदि नधनिमुक्तरं माडुगेम्मं॥३॥

अर्थ—जो श्रेष्ठ पंचाचार की उन्नति के प्रयत्न में सदा रत रहने वाले हैं, लोकोत्तम हैं, विश्व के संपूर्ण जीवों को कल्याण के प्रति हमेशा अपने उपदेश के द्वारा लाने में तत्पर हैं, सज्जन पुरुषों के द्वारा वंदनीय हैं, श्रेष्ठ छत्तीस गुणों में उत्तरोत्तर उन्नति करते रहते हैं। जगत् पूज्य हैं और अपने शिष्यों को शिक्षा दीक्षा से उनका आत्म कल्याण करने में निपुण हैं, ऐसे आचार्य परमेष्ठी हमारे पाप मल को नाश करके सन्मार्ग प्राप्त करने की सद्बुद्धि दें, ऐसी प्रार्थना है।

श्री ब्रह्मदेव ने परमात्म-प्रकाश की व्याख्या में लिखा है :—

अनुपचरितासद्भूतव्यवहारसम्बन्धः द्रव्यकर्मभावनोकर्मरहितं तथैवा-शुद्धनिश्चसंबन्धः मतिज्ञानादिविभावगुणनरनारकादिविभावपर्यायरहितं च यच्चिदानन्दैकस्वभावं शुद्धाशुद्धात्मतत्वं तदेव भूतार्थपरमार्थरूपसमयसार-

शब्दवाच्यं सर्वप्रकारोपादेयभूतं तस्माच्च यदन्यत्तद्धेयमिति। चलमलिनावगाढरहितत्वेन निश्चयश्रद्धानबुद्धिसम्यक्त्वं तत्राचरणं परिणमनं दर्शनाचारस्तत्रैव संशयविपर्ययानध्यवसायरहिततत्वेन स्वसंवेदनज्ञानरूपेण ग्राहकबुद्धिः सम्यग्ज्ञानं तत्राचरणं परिणमनं ज्ञानाचारः, तत्रैव शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितत्वेन नित्यानंदमयसुखरसास्वादस्थिरानुभवनं च सम्यक् चारित्रं तत्राचरणं परिणमनं चारित्राचारः। तत्रैव परद्रव्येच्छानिरोधेन सहजानंदैकरूपेण प्रतपनं तपश्चरणं तत्राचरणं परिणमनं तपश्चरणाचारः तत्रैव। शुद्धस्वस्वरूपे स्वशक्त्यनवगूहनेनाचरणं परिणमनं वीर्याचारः, इति निश्चयपंचाचाराः। निःशंकाद्यष्टगुणभेदो बाह्यदर्शनाचारः, कालविनयाद्यष्टभेदो बाह्यज्ञानाचारः, पंचमहाव्रतपंचसमितित्रिगुप्तिनिर्ग्रन्थरूपो बाह्यचारित्राचारः, अनशनादिद्वादशभेदरूपो बाह्यतपश्चरणाचारः, बाह्यस्वशक्त्यनवगूहनरूपो बाह्यवीर्याचारः इति। अयं तु व्यवहारपंचाचारः पारंपर्येण साधक इति। विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानबहिर्द्रव्येच्छानिवृत्तिरूपं तपश्चरणं स्वशक्त्यनवगूहनवीर्यरूपाभेदपंचाचाररूपात्मकं शुद्धोपयोगभावनान्तर्भूतं वीतरागनिर्विकल्पसमाधिस्वयमाचारन्त्यन्यानाचारयन्तीति भवन्त्याचार्यास्तानहं वन्दे।

अर्थ—अनुपचरित अर्थात् जो उपचरित नहीं है, इससे यह अनादि सम्बन्ध है परन्तु असद्भूत अर्थात् मिथ्या है। ऐसा व्यवहार नय कर द्रव्यकर्म, नोकर्म का सम्बन्ध होता है उससे रहित और अशुद्ध निश्चय नय कर रागादि का सम्बन्ध है उससे तथा मतिज्ञानादि विभावगुण के सम्बन्ध से रहित, नर नारकादि चतुर्गतिरूप विभावपर्यायों से रहित, ऐसा जो चिदानन्द चिद्रूप एक अखण्डस्वभाव शुद्धात्मतत्व है, वही सत्य है, उसी को परमार्थरूप समयसार कहना चाहिए। वही सब प्रकार आराधने योग्य है। उससे भिन्न जो वस्तु है, वह परवस्तु है, अतः त्याज्य है। ऐसी दृढ़ प्रतीति चंचलतारहित निर्मल अवगाढ़ परमश्रद्धान है, उसको सम्यक्त्व कहते हैं। उसका आचरण अर्थात् स्वरूपपरिणमन है, उसे

दर्शनाचार कहा जाता है। उसी निजस्वरूप में संशय-विमोह-विभ्रमरहित जो स्वसंवेदनरूप ग्राहक बुद्धि है, वह सम्यग्ज्ञान हुआ और उस का आचरण अर्थात् स्वरूपपरिणमन है, वह ज्ञानाचार हुआ। उसी शुद्ध स्वरूप में शुभ-अशुभ समस्त संकल्प-विकल्प रहित नित्यानन्दमय निजरस का आस्वाद, निश्चल अनुभव है वही सम्यक्चारित्र है। उसका आचरण में परिणमन करना ही चारित्राचार है। उसी परमानन्द स्वरूप में परद्रव्य की इच्छा का निरोध कर सहज आनन्दस्वरूप तपश्चरणरूप परिणमन है वह तपश्चरणाचार है और उसी शुद्धात्मरूप में अपनी शक्ति को प्रकट कर आचरण में परिणमन करना वीर्याचार है। यह निश्चय पंचाचार का लक्षण कहा।

अब व्यवहार का लक्षण कहते हैं। निःशंकित आदि अष्ट अंगरूप बाह्य दर्शनाचार, शब्दशुद्ध, अर्थशुद्ध आदि अष्टप्रकार बाह्य ज्ञानाचार, पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्तिरूप व्यवहार चारित्राचार, अनशनादि बारह तपरूप तपाचार और अपनी शक्ति प्रकट कर मुनिव्रत का आचरण यह व्यवहार वीर्याचार है। यह व्यवहार पंचाचार परम्परा से मोक्ष का कारण है और निर्मल-ज्ञान-दर्शन-स्वभाव जो शुद्धात्म तत्व है, उसका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान, आचरण तथा परद्रव्य की इच्छा का निरोध और निज शक्ति का प्रकट करना, ऐसा यह निश्चय पंचाचार साक्षात् मुक्ति का कारण है। ऐसे निश्चय, व्यवहार रूप पंचाचारों को आप आचरण करें और दूसरों को आचरण करावें ऐसे आचार्यों को मैं वन्दना करता हूँ।

आचार्य परमेष्ठी के नीचे लिखे ३६ गुण होते हैं–

द्वादशतप दश धर्मयुत, पालें पंचाचार।
षट् आवशिक त्रय गुप्ति गुण आचारज पदसार॥

(इष्टछत्तीसी)

अर्थ–तप बारह १२, धर्म १०, आचार ५, आवश्यक ६, गुप्ति तीन, यह आचार्य परमेष्ठी के ३६ गुण हैं।

बारह तप–

अनशन ऊनोदर करें, व्रतसंख्या रस छोर।
विविक्तशयन आसन धरें कायक्लेश सुठोर॥

प्रायश्चित्त धर विनययुत वैयावृत स्वाध्याय ।
पुनि उत्सर्ग विचारके धरैं ध्यान मन लाय ॥

अर्थ—१. अनशन, २. ऊनोदर, (थोड़ा खाना), ३. व्रतपरिसंख्यान, ४, रस परित्याग ५. विविक्तशय्यासन, ६. कायक्लेश, यह ६ प्रकार के बहिरङ्ग तप हैं। ७. प्रायश्चित्त, ८. पाँच प्रकार का विनय, १. वैयावृत करना, १०. स्वाध्याय करना, ११. व्युत्सर्ग (शरीर से ममत्व छोड़ना, १२. ध्यान, ये ६ प्रकार के अन्तरंग तप हैं।

दश धर्म—

क्षमा मार्दव आर्जव सत्यवचन चित पाग।
संयम तप त्यागी सरब, आकिंचन तियत्याग ॥

अर्थ—१. उत्तम क्षमा, २. उत्तम मार्दव, ३. उत्तम आर्जव, ४. उत्तम सत्य, ५. उत्तम शौच, ६. उत्तम संयम, ७. उत्तम तप, ८. उत्तम त्याग, ९. आकिंचन, १०. ब्रह्मचर्य, यह दस प्रकार के उत्तम धर्म हैं।

छह आवश्यक—

समता धर वन्दन करैं. नाता स्तुती बनाय।
प्रतिक्रमण स्वाध्याय युत, कायोत्सर्ग लगाय ॥

अर्थ—१. समता (समस्त जीवों में समता भाव रखना)। २. वन्दना (हाथ जोड़ कर सिर झुकाकर नमस्कार करना), ३. स्तुति (पंचपरमेष्ठी की स्तुति करना), ४. प्रतिक्रमण (लगे हुए दोषों का पश्चाताप करना), ५. स्वाध्याय, ६. कायोत्सर्ग से ध्यान करना, यह छह आवश्यक हैं।

पाँच आचार, तीन गुप्ति—

दर्शन ज्ञान चरित्र तप, वीरज पंचाचार।
गोपें मन वचन काय को, गिण छत्तीस गुणसार ॥

अर्थ—१. दर्शनाचार, २. ज्ञानाचार, ३. चारित्राचार, ४. तपाचार, ५. वीर्याचार, यह

पांच आचार हैं और सर्व सावद्य योग जो पाप सहित मन, वचन, काय की प्रवृत्ति का रोकना सो गुप्ति है। १. मनोगुप्ति (मन को वश में करना), २. वचन गुप्ति (वचन को वश में करना) ३. कायगुप्ति (शरीर को वश में करना) यह तीन गुप्ति हैं।

गुप्तियों के अतिचार

१. रागादि सहित स्वाध्याय में प्रवृत्ति तथा अंतरंग में अशुद्ध परिणाम इत्यादि मनोगुप्ति के अतिचार हैं।

२. द्वेष से तथा राग से एवं गर्व से मौन धारण करना इत्यादि वचन गुप्ति के अतिचार हैं।

३. असावधानी से काय की क्रिया का त्याग करना, एक पैर से खड़ा रहना तथा जीव सहित भूमि में तिष्ठना तथा शरीर में ममता सहित कायोत्सर्ग करना और कायोत्सर्ग के जो ३२ दोष हैं उनमें से कोई दोष लगाना इत्यादि काय गुप्ति के अतिचार हैं। इत्यादि दोष टाल कर आचार्य तीन गुप्ति का पालन करते हैं। यह आचार्य के ३६ मूल गुण हैं।

उपाध्याय परमेष्ठी को नमस्कार

नुतभव्यानीकीलांबुरुहमलरे मिथ्यात्वसूर्यांशुकुंदळ् ।
श्रुतदुग्धांबोधि पेर्चल्जिननिगदित तत्वांशुपर्वल्सुरत्न ।।
त्रितयाद्रींद्राग्रदोळ् शोभिसुवनघरुपाध्यायताराधिपर्स-
ततमस्मच्चित्तगेहांतरवियलतेयं माल्के वाग्जोतियिंदं ।।४।।

अर्थ—नमस्कार करने वाले भव्य पुरुषों के शिर के बालों की परछाईं से जिनके चरण नील कमल के समान हैं तथा अत्यन्त तेजस्वी मिथ्यात्व अन्धकार के नाश करने में सूर्य की किरणों के समान, शास्त्रों के विमल समुद्र, भगवान जिनेन्द्र देव के द्वारा प्रगट किये हुए तत्वांश को विस्तार करके कहने वाले, रत्नत्रय से शोभायमान, अत्यन्त निर्मल श्री उपाध्याय रूपी चन्द्र-उदय की वागज्योति हमारे हृदय को द्योतित करे।

विशेषार्थः—यहां ग्रन्थकार ने उपाध्याय परमेष्ठी को नमस्कार किया है। ये उपाध्याय

परमेष्ठी ११ अंग, १४ पूर्व के पाठी होते हैं, भव्य जीव रूपी तारागण में चन्द्रमा के समान हैं, अपने वाणी रूपी ज्योति से सम्पूर्ण भव्य जीवों के हृदय कमल को प्रफुल्लित करने वाले हैं, मिथ्यात्व अन्धकार को नष्ट करने के लिए सूर्य की किरण के समान हैं। २५ मूल गुण सहित होते हैं और मुनियों को तथा अन्य भव्य जीवों को अध्ययन करा कर आत्म-कल्याण के मार्ग में लगाने वाले उपाध्याय परमेष्ठी हैं। वे २५ गुणों (११ अंग, १४ पूर्वों का ज्ञान) से सुशोभित होते हैं।

ग्यारह अंग

प्रथमहिं आचारांग गण, दूजा सूत्रकृतांग।
स्थानांग तीजा सुभग, चौथा समवायांग ॥२४॥
व्याख्याप्रज्ञप्ति पंचमो, ज्ञातृकथा षट् आन।
पुनि उपासकाध्ययन है, अन्तःकृत दश ठान ॥२५॥
अनुत्तरण उत्पाद दश, विपाक सूत्र पहिचान।
बहुरि प्रश्नव्याकरण युत, ग्यारह अंग प्रमान ॥२६॥

—इष्ट छत्तीसी

अर्थ—१. आचारांग, २. सूत्रकृतांग, ३. स्थानांग, ४. समवायांग, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति, ७. उपासकाध्ययनांग, ८. अन्तकृतदशांग, ९. अनुत्तरोत्पाद दशांग, १०. प्रश्न व्याकरणांग, ११. विपाकसूत्रांग, यह ग्यारह अंग हैं।

चौदह पूर्व

उत्पाद पूर्व अग्रायणी, तीजो वीरजवाद।
अस्तिनास्ति परवाद पुनि, पंचम ज्ञानप्रवाद ॥२७॥
छट्टो कर्म प्रवाद है, सतप्रवाद पहिचान।
अष्टम आतमप्रवाद पुनि, नवमो प्रत्याख्यान ॥२८॥

विद्यानुवाद पूरव दशम, पूर्वकल्याण महन्त ।
प्राणवाद क्रिया बहुरि, लोकविंदु है अन्त ॥२६॥

अर्थ—१. उत्पादपूर्व, २. अग्रायणी पूर्व, ३. वीर्यानुवाद पूर्व, ४. अस्ति नास्ति प्रवाद पूर्व, ५. ज्ञान प्रवाद पूर्व, ६. कर्मप्रवाद पूर्व, ७. सत्य प्रवाद पूर्व, ८. आत्मप्रवाद पूर्व, ९. प्रत्याख्यान पूर्व, १०. विद्यानुवाद पूर्व, ११. कल्याणवाद पूर्व, १२. प्राणानुवाद पूर्व, १३. क्रियाविशाल पूर्व, १४. लोकविन्दु पूर्व, यह १४ पूर्व हैं ।

उपाध्याय परमेष्ठी ११ अंग १४ पूर्वों के ज्ञाता होते हैं, अतः अंगों तथा पूर्वों के ज्ञानरूप उनके २५ गुण कहे गए हैं ।

साधु परमेष्ठी को नमस्कार

मनदोल्कैगणिम पोणमुस्तिरे दये वरचारित्रदोल्पर्चे शीलं ।
जिनपादांभोंजदोल्तलर्तिरे मतिजिनतत्वाब्धि योळ्संततंभा ॥
वने मत्तोलाडे कर्मास्यिनदटले वानंदवीरतंपश्री-
वनितालंकाररेम्मिदपहरिसुगे दुर्मोहमं साधुवर्ग ॥५॥

अर्थ—जिनके हृदय में सदा दया भरी हुई है और श्रेष्ठ चारित्र से जिनका शील मजबूत है, जिनेन्द्र देव के चरण कमलों में जिनकी बुद्धि हमेशा संलग्न रहती है, जिनेश्वर भगवान के कहे हुए सप्त तत्वों में जिनकी रुचि है, कर्म शत्रुओं को नाश करने में जिनका मन सदा तत्पर है और जिनका मन हमेशा आत्म आनन्द में लीन है, जो तप लक्ष्मी के अलंकार के समान हैं, २८ मूलगुणों के आचरण करने में दत्तचित्त हैं, ऐसे साधु परमेष्ठी हमारे दुर्मोह का नाश करते हैं ।

ग्रन्थकार ने साधु परमेष्ठी को नमस्कार किया है । ये साधु-परमेष्ठी अट्ठाईस मूल गुणों से सुशोभित होते हैं । तथा उन गुणों के साधन में सदा सावधान रहते हैं । अखण्ड ब्रह्मचारी होते हैं तथा शास्त्रस्वाध्यायी और आत्म-ध्यान में लीन रहते हैं ।

श्री समन्तभद्र आचार्य ने मुनि का स्वरूप रत्नकरण्ड श्रावकाचार में निम्न लिखित निर्देश किया है :—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।

ज्ञानध्यानतपोरक्तः, तपस्वी सः प्रशस्यते ॥१०॥

अर्थ—जो विषयों की आशा से रहित हैं, आरम्भरहित तथा सभी प्रकार के परिग्रह से रहित हैं। जो सदा ज्ञान, ध्यान और तप में लीन रहते हैं, वे साधु-परमेष्ठी होते हैं।

वे २८ मूल गुणों को सदा निर्विकार भाव से पालने में दत्तचित्त रहते हैं। मूलगुण इस प्रकार हैं :—

पंच महाव्रत समिति पण, पंचइन्द्रियका रोध ।

षट् आवश्यक साधु गुण सात शेष अवबोध ॥३०॥

अर्थ—पाँच महाव्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियों को दमन, ६ आवश्यक और सात शेष गुण, ये २८ मूलगुण हैं।

पंच महाव्रत

हिंसा अनृत तस्करी अब्रह्म परिग्रह, पाप ।

मन-वच-तन तें त्यागबो पंचमहाव्रत थाय ॥३१॥

अर्थ—अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत, परिग्रह त्याग महाव्रत, ये पाँच महाव्रत क्रम से पाँच पापों के पूर्ण त्याग रूप होते हैं।

पांच समिति

ईर्या भाषा एषणा पुनि क्षेपण आदान ।

प्रतिष्ठापनायुत क्रिया पांचो समिति विधान ॥३२॥

अर्थ—ईर्यासमिति, भाषासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और प्रतिष्ठापनसमिति, ये पांच समितियां हैं।

१. ईर्यासमिति—परमागम की आज्ञा प्रमाण, प्रमादरहित यत्नाचार से जीवों की रक्षा निमित्त भूमि को देखकर गमन करना, ईर्यासमिति है।

२. भाषासमिति–देश काल के योग्य अयोग्य को विचार कर सन्देहरहित सूत्र की आज्ञा प्रमाण हित-मित प्रिय वचन बोलना भाषा समिति है।

३. एषणासमिति–जिह्वा इन्द्रिय की लम्पटता को त्यागकर आचारांगसूत्र के आदेश-प्रमाण से उद्‌गमादि ४६ दोष, ३२ अन्तराय टालकर आहार करना एषणासमिति है।

४. आदाननिक्षेपणसमिति–प्रमाद रहित यत्नाचार से संयम के उपकरण मयूरपिच्छिका, शौच के उपकरण कमण्डलु और ज्ञान के उपकरण शास्त्र को जीव हिंसा टालकर सहज से रखने और सहज से उठाने का नाम आदान-निक्षेपण-समिति है।

५. प्रतिष्ठापनसमिति–जीवरहित भूमि, जहां जीवों की उत्पत्ति का कारण न हो ऐसी भूमि पर यत्नाचार से मल, मूत्र, कफ, नासिकामल, नख, केशादि का निक्षेपण करना प्रतिष्ठापनासमिति है।

५ समिति के अतिचार

१. गमन करते समय भूमि को भली प्रकार नहीं देखना और वृक्ष, पर्वत, नगर, बाजार तथा मनुष्यों का रूप आदि देखते हुए चलना, इत्यादि ईर्या समिति के अतिचार हैं।

२. देश, काल के योग्य अयोग्य का विचार न करके पूर्ण सुने बिना, पूर्ण जाने बिना बोलना इत्यादि भाषा समिति के अतिचार हैं।

३. उद्‌गमादि कोई दोषयुक्त तथा रस की लम्पटता से एवं प्रमाण से अधिक भोजन करना इत्यादि एषणा समिति के अतिचार हैं।

४. भूमि पर शरीरादि, उपकरणों को शीघ्रता से उठाना तथा रखना अच्छी प्रकार से नेत्रों से नहीं देखना तथा मयूरपिच्छिका से भली प्रकार झाड़न-पोंछन न करता, जल्दी करना इत्यादि आदान-निक्षेपण समिति के अतिचार हैं।

५. अशुद्ध भूमि पर तथा जीवों सहित भूमि पर मल-मूत्रादि क्षेपण करना (डालना) इत्यादि प्रतिष्ठापना समिति के अतिचार हैं। मुनि इन सभी दोषों को दूर करते हुए पाँचों समिति का पालन करते हैं।

पांच इन्द्रिय-दमन और अन्य ७ गुण

स्पर्शन रसना नासिका नयन श्रोत्र का रोध।
षट् आवशि मज्जनत्यजन, शयनभूमिको शोध ॥२३॥

वस्त्रत्याग, कचलोंच अरु लघुभोजन इक बार।
दांतन मुख में ना करें ठाडे लेंय अपार ॥३४॥
वरणे गुण आचार्य में षट् आवश्यक सार।
ते भी जानो साधुके ठाईस इस परकार ॥३५॥

अर्थ—स्पर्शन (त्वक्), रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र इन पांच इन्द्रियों को वश में करना और यावज्जीवन स्नान का त्याग करना, भूमि पर शयन करना, वस्त्रों का त्याग, केशों का लोंच करना, एक बार लघु भोजन करना, दांतन नहीं करना, खड़े रह कर आहार लेना, ये सात शेष गुण हैं। और छह आवश्यक, जिनका आचार्य के गुणों में वर्णन कर चुके हैं। ये सब मूल गुण साधु परमेष्ठी के हैं। उपाध्याय तथा आचार्य परमेष्ठी भी इन गुणों का आचरण करते हैं।

तीन गुप्ति का विशेष

प्रश्न—पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति इन तेरह प्रकार के चारित्र को पालन करने वाले जो दिगम्बर गुरु (मुनि, साधु) है उन मुनि के २८ मूल गुणों में तीन गुप्ति नहीं कहीं, सो क्या जैन मुनि तीन गुप्ति का पालन नहीं करते ?

उत्तर—सर्व साधु अपनी शक्तिसमान तीन गुप्ति का पालन करते हैं। उन तीन गुप्तियों का वर्णन आचार्य के गुणों में हो चुका है। यहां साधु के गुणों में दुबारा इसलिए नहीं लिखा है कि आचार्य के तो वह मूलगुणों में सम्मिलित हैं, आचार्य को उनका पालन आवश्यक है, जो आचार्य तीन गुप्तियों को न पाले उसका आचार्यपद खण्डित है। किन्तु साधु के लिए तो ये तीन गुप्ति उत्तर गुणों में है यदि किसी साधु से कोई गुप्ति किसी काल में न भी पालित हो तो उससे उसका साधुपन खण्डित नहीं होता।

देखो—हरिवंश-पुराण पृष्ठ ५७२,

अतिमुक्तक महामुनि अवधिज्ञानी ने कंस की महाराज्ञी से कहा, जिसका नाम जीवंपशा था, कि जिस देवकी के ये वस्त्र मुझे तू दिखलाती है, इसका पुत्र तेरे पति और पिता का मारने वाला होगा। श्रेणिकचरित्र आदि ग्रन्थों में मुनियों से गुप्ति न पलने की अनेक कथाएं हैं। अतः मुनि के ये तीन गुप्ति उसके मूल गुणों में नहीं है, उत्तर गुणों में

हैं । सभी जैन मुनि इन गुप्तियों का अपनी शक्ति अनुसार पालन करते हैं परन्तु किसी काल में किसी साधु से नहीं भी पलतीं । इस कारण साधुओं के मूल-गुणों में इन्हें सम्मिलित नहीं किया ।

इस प्रकार मूल गुणों का पालन करने वाले साधु और आचार्यदेव हमें सद्‌बुद्धि प्रदान करें ।

सिद्धायणी यक्षिणी इस काव्य को निर्विघ्नता प्रदान करे, ऐसी कामना नयसेन आचार्य करते हैं—

शतपत्रानने जैनधर्मकुलिशप्राकारे मिथ्यात्वपर्वतवज्राभे,
समस्तभव्यजनचित्ताह्लादे लोकैकसंस्तुते धर्मप्रिये ।
कोमलांगि विलसन्मांगलयसद्धर्म-संयुते सिद्धायनि,
यक्षि माल्केनुतमत्काव्यक्के निर्विघ्नमम् ॥६॥

अर्थ—हे कमलमुखी ! जैन धर्म की रक्षा के लिए वज्रमय प्राकार (परकोटा) के समान, मिथ्यात्वपर्वत के लिए वज्र समान, समस्त भव्यजनों के चित्त को आल्हाद प्रदान करने वाली, सम्पूर्ण लोक द्वारा स्तुति की गई, हे धर्मप्रिये, कोमल अंगों वाली, विलसित मांगल्य और सद्धर्म से विभूषिते, हे सिद्धायनि, भगवती यक्षि, मेरे इस काव्य को निर्विघ्नता प्रदान करो ।

वरलक्षणांगनर्हृ-
च्चरणाम्बुजमधुपननुपमं गुणरत्ना-
भरणं गजमुखयक्षं
निरुतं रक्षिसुगे कूतु भव्योत्तमरं ॥७॥

अर्थ—भगवान अर्हन्त के श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त चरणकमलों में भ्रमर के समान, अनुपमभक्ति से युक्त, सदैव भक्तिमान् तथा गुणरत्नों के आभरणों से सुशोभित गजमुख यक्ष भव्य पुरुषों में उत्तम जनों की रक्षा करे ।

कुन्दद कोमलांगरुचियिं चेलुविंगेडेयागिवृत्तदों-
ददद्दोळ्दिं पेर्मोलेयिनन्तेसेदोप्पुवनेक छन्ददों- ।
दंदद यानदोंदु रमणीयतेयिं कडुगाडिवेतवा-
क्सुन्दरि कूतु निल्के नयसेनमुनीन्द्रमुखाब्जषण्डदोळ् ॥८॥

अर्थ—नयसेन आचार्य भगवती सरस्वतीसे प्रार्थना करते हुए लिखते हैं कि न्यूनता-रहित और रुचि को उत्पन्न करने वाले कोमल अंगों से शोभायमान सुन्दरता के अधीन वृत्तद्वन्द्व से युक्त, श्रेष्ठ तथा उन्नत अंगों से भूषित एवं अनेक छन्ददोंदरूप यान (वाहन) से रमणीय, हाव-भावों से ललित ऐसी वाक्सुन्दरी के लिए मैं प्रार्थना करता हूँ कि वह मेरे मुख कमल में सदा निवास करे।

विशेषार्थ—नयसेन आचार्य ने जिनवाणी को सुन्दर देवी का रूप देते हुए उससे नम्र निवेदन किया है कि सरस्वती ! जैसे आप के पुण्य प्रसाद से मेरी यह काव्य-रचना इस प्रकार सम्पन्न हो कि सम्पूर्ण मानव उसे श्रद्धा तथा रुचि-पूर्वक सुनें जिससे अनादिकाल से आत्मा के साथ जो पाप संचित हो रहा है, वह मल नष्ट होकर उन्हें शुभ प्रवृत्ति की ओर प्रेरणा दे और वे इस काव्य से स्व-परका ज्ञान प्राप्त करें, पुण्य का संचय करें, इन्द्रिय-वासना के प्रति अरुचि हो, यह भावना मन में लेकर इस काव्य का प्रारम्भ आचार्य ने किया है। अन्य अनेक कवियों ने भी जिनवाणी माता को सरस्वती देवी का रूप देकर अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में इसी प्रकार स्मरण किया है। जीवन्धर चम्पू का प्रारम्भ करते हुए हरिचन्द्र कवि ने लिखा है—

वाणी कर्मकृपाणी, द्रोणी संसारजलधिसन्तरणे ।
वेणी जितघनमाला, जिनवदनाम्भोजभासुरा जीयात् ॥

अर्थ—कर्म शत्रुओं के विनाश के लिए जो तलवार के समान है, संसार-समुद्र को पार करने के लिए जो नौका के समान है और जिसने अपनी चोटी (सिर के काले बालों) से बादलों की सुन्दरता को जीत लिया है, ऐसी जिनेन्द्र भगवान के मुखकमल से उत्पन्न हुई दीप्तिमती वाणी (जिनवाणी) जयशील रहे।

अब ग्रन्थकार प्राक्तन गुरु-परम्परा के प्रमुख विद्वान, ग्रन्थकार आचार्यों का स्मरण करते हुए उनके प्रति अपना विनय, सम्मान प्रगट करते हैं–

दुरितेन्धनानलर्भा-
सुरकीर्तिपताकरमळ्गुणानिरक्का !
गररर्हद्वल्याचा-
र्यरे जगदोळानिन्द्यरदरिनेमगभिवन्द्यर् ॥६॥

अर्थ–पापरूपी ईन्धन को जलाने के लिए दावानल अग्नि के समान तथा भासुर-प्रकाशमान, कीर्तिपताका फहराते हुए, निर्मल गुण समूह से युक्त, अनिन्द्य ऐसे श्री अर्हद्वली आचार्य जो आर्यवन्द्य हैं और मुझ से भी नमस्कार करने योग्य हैं, वे इस मेरे काव्य में निर्विघ्नता प्रदान करें ॥६॥

प्रकटयशगुणनिधिग-
ळ् सकलधरावलयपूजितसुश्रुतर् ।
त्तकरेने गुणधरभट्टा-
रकरेवलमनिन्द्यरदरिनेयगभिवन्द्यर् ॥१०॥

अर्थ–श्री गुणधरमुनि को नमस्कार करते हुए आचार्य कहते हैं कि जिनका यशोगान सम्पूर्ण जगत् के कोने कोने में फैला हुआ है, और सम्पूर्ण जगत् के भव्यजीव जिनकी पूजा करते हैं तथा जो सुश्रुत हैं, शास्त्रों के रक्षण करने वाले हैं, ऐसे गुणधर भट्टारक अभिवन्द्य हैं, अनिन्द्य हैं। मैं उनका स्वागत करता हूं।

वर्यरेनिपार्यमंक्षा-
चार्यरनेगळ्द नागहस्त्याचार्या -
धार्यरनुतयतिवृषभा-
चार्यर पदकमलमीगे शाश्वतपद्मम् ॥११॥

अर्थ—जगत् में श्रेष्ठ तथा आर्यजनों से नमस्कृत श्री आर्यमंक्षु आचार्य के तथा नाग-

हस्त्याचार्य के एवं श्री यतिवृषभाचार्य के पवित्र चरण कमलों में मैं नमस्कार करता हूँ। वे मुझे शाश्वतपद को प्राप्त करने में मार्ग-दर्शक हों।

धैर्ययुतधरसेना-
चार्यरभूतबलिपुष्पदन्ताचार्यर् ।
वर्यर् भव्याम्भोरुह-
सूर्यर्दयगेय्गे विमळरत्नत्रयमं ॥१२॥

अर्थ—महान् धैर्यशील तथा भव्यजन रूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य के समान श्री धरसेनाचार्य तथा उनके शिष्य श्री भूतबलि, पुष्पदन्त आचार्य पवित्र रत्नत्रय मार्ग को प्राप्त करने का सन्मार्ग मुझे बतावें ।१२॥

वर्यर्लोकोत्तमर्भाविसुवोडनधरत्युन्नतकोंडकुंदा-
चार्यर्चारित्ररत्नाकररधिकगुणसंज्जटासिंहनन्द्या- ।
चार्यश्रीकूचिभट्टारकरुदितयशर्मिक्क पेंपिगे लोका-
श्चर्यनिष्कर्मरेम्मं पोरमडिसुगे संसारकान्तारदिंदं ॥१३॥

अर्थ—जो श्रेष्ठ हैं, लोकोत्तम हैं और जिनकी भावना तथा स्मरण करने से पाप-मल का नाश होता है ऐसे श्री कुन्दकुन्दाचार्य तथा चारित्ररत्नाकर और गुणों में अत्यधिक तथा सुशोभित जटासिंहनन्द्याचार्य तथा कूचिभट्टारक द्वारा उदित यानी कहा हुआ वाङ्मय जगत् को आश्चर्य-चकित करने वाला है, तथा जगत् के कोने कोने में भव्य जीवों के हृदय में प्रवेश करके अज्ञानरूपी अन्धकार को जिन्होंने नाश किया है और जो कर्म-रहित अवस्था को प्राप्त करने वाले हैं, ऐसे आचार्य-श्री संसार रूपी कारागार (जन्म-मरण रूप परिभ्रमण) से निकालने की सद्बुद्धि प्रदान करें।

श्रीमत्समन्तभद्र-
स्वामिगळ् नेगळ्ते वेत्त कविपरमेष्ठि -

स्वामिगळ पूज्यपाद-

स्वामिगळ पदंगळीगे बोधोदयमं ॥१४॥

अर्थ—कवि परमेष्ठी श्री समन्तभद्र आचार्य के कवित्व तथा उनकी महत्ता का वर्णन कहाँ तक करें उनके आचरण की शैलो का क्या वर्णन करें उनके द्वारा रचित काव्य शैली अवर्णनीय है, उनके काव्य की तुलना में अन्य किसी का काव्य नहीं ठहरता। तथा उन्हीं के समान श्री पूज्यपाद आचार्य के द्वारा जिन काव्यों की रचना हुई है वह शैली भी अवर्णनीय है। इसलिए उन आचार्य के चरण-कमल में प्रार्थना करता हूँ कि वे मुझे आत्म-रस से परिप्लुत काव्य-रचना कर सकने की सद्बुद्धि प्रदान करें।

श्रीमद्विद्यानन्द-

स्वामिगळ् समस्तशास्त्रवाराशिगळि-।

न्नेमातो सकलशास्त्रदो-

ळी महियोळनंतवीर्यदेवरे देवर् ॥१५॥

अर्थ—समस्त शास्त्र रत्नों के समुद्र श्री विद्यानन्द स्वामी, जो सम्पूर्ण न्याय शास्त्र के ज्ञाता हैं, मिथ्यामतरूपी मेघपटल को दूर करने में वायु के समान जिनका ज्ञान है, वे मुझे अज्ञान रूप अन्धकार को नष्ट करने के लिए सद्बुद्धि प्रदान करें और सम्पूर्ण शास्त्र कलाके ज्ञाता, जिनकी अनन्त महिमा संसार भर में व्याप्त है, ऐसे अनन्तवीर्य, देवों के देव मुझे सद्बुद्धि प्रदान करें।

क्षितिपूज्य सिद्धसेनव्रतिपतिनुतवाक्छ्रीवधूकर्णपूरर्

श्रुतकीर्त्याचार्यर्वीवलयवृतयशोराशिगळ् कर्मसन्दोह-

तपःप्रध्वंसनेकद्युमणिगगळमळ श्रीप्रभाचन्द्रदेवर्-

र्जितमारवर्प्पिदेवर्विदितसकलविद्याब्धितारानाथर् ॥१६॥

अर्थ—जगत्पूज्य श्री सिद्धसेन मुनिराज, वाणीरूपिणी लक्ष्मीवधू के कानों को शोभित करने वाले श्रीश्रुतकीर्ति आचार्य, महान् व्रतों तथा यशोराशि के धारण करने वाले, सूर्य के समान कर्मरूपी अन्धकार के विध्वंसक श्री प्रभाचन्द्र तथा जितमारदेव, समस्त विद्या

समुद्र को उद्वेलित करने वाले चन्द्रमा के समान श्री वप्पदेव मुझे सद्बुद्धि प्रदान करें।

निरुपमरेलाचार्यर्
निरतिशयवीरसेनजिनसेनाचा-
र्यर् गुणभद्र चन्द्रर्
चरणयुगं माड्गेमगे निवृ त्तिसुखमं ॥१७॥

अर्थ—अनुपम श्रीएलाचार्य, निरतिशय (अतिशय-अतीत) श्रीवीरसेनाचार्य, जिनसेनाचार्य तथा गुणभद्र आचार्य के चन्द्र-समान चरणयुगल हमें निर्वाण-सुख प्रदान करें ॥१७॥

परमजिनागमाम्बुनिधिपारगरूर्जितगण्डमण्डले-
श्वरनुतपादपंकरुहरुन्नतकीर्तिपताकरिंद्रं भू-
धरनिभधैर्यरंगजनृपालमदेभहरर्लसद्गुणा-
भरणरेणिप्पपेंपजितसेनमुनीश्वरनोळ् विराजिकुं ॥१८॥

अर्थ—परम जिनागम-समुद्र के पारगामी, मण्डलेश्वर राजाओं से वन्दनीय पद कमल वाले, दिग्गजसमान उन्नत कीर्ति-ध्वजधारक, पर्वत-समान धैर्यशील, कामदेव रूपी हाथी के मद का अपहरण करने वाले, दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि सद्गुण-अलंकार से विभूषित श्रीजितसेन मुनि मेरे हृदय में निवास करें ॥१८॥

अनुपमगुणनिलयर्मे-
दिनिपूज्यर्सोमदेवपण्डितरमलर् ।
मुनिवृषभर्विनतत्रिभु-
वनदेवर्विबुधवनजवनकलहंसर् ॥१९॥

अर्थ—अनुपम गुणों के भवन, विश्वपूज्य श्रीसोमदेव पण्डित, मुनिश्रेष्ठों से नमस्कृत, विद्वत्समाजरूपी कमलवन में क्रीडा करने वाले कलहंसतुल्य श्री त्रिभुवनदेव—

पडेदोडे तपमं श्रुतमम्-
पडेयर् तच्छ्रुतमनेय्दे पडे दोडे तपमम् ।

पडे यरर्दैतवनेरडुमं-

नोडवडेद्नरेन्द्रसेन मुनिपते धन्यं ॥२०॥

अर्थ—तपश्चर्या और श्रुत यानी-महान शास्त्र ज्ञान ये दोनों गुण प्रायः एक साथ नहीं होते, अतः जो तपस्वी होता है उसे शास्त्र ज्ञान में रुचि नहीं होती और जो शास्त्राभ्यास में रुचि करता है उसे तपश्चरण में रुचि नहीं होती, परन्तु श्री नरेन्द्रसेन मुनि को ये दोनों गुण प्राप्त हुए हैं, अतः वे धन्य हैं।

एनितोळ्वुतर्कशात्रम-

वनितुमनतिशयदिनेशे ये नयसेनमुनीं-।

द्र ने बल्लनेंदुधारिणि-

मनदादरदिंदे पोगळ् कीर्तियनान्तम् ॥२१॥

अर्थ—तर्क शास्त्र से स्फुरित, अत्यन्त सुन्दर, सज्जन हृदयों को आकर्षित करने वाली कविता में निपुणता मुझ, नयसेन मुनि को प्रदान करें कि जिससे जगत् के मानव इस काव्य की प्रशंसा करें और इसकी कीर्ति जगत् में फैल जावे।

शान्तमूर्तिगळ्कर्महरर्दिवाकरणंदिसि-

द्धान्तदेवरुदग्रमन्मथवैरिगल् शुभचन्द्रसि-

द्धान्तदेवरुदात्तचारुचरित्ररीधरेयोळ् मनो-

जातु कमुनिवन्दितगुणत्राधिगळ् मदवर्जितर् ॥२२॥

अर्थ—शान्तमूर्ति, उग्रकर्मनाशक तथा उग्र मन्मथरिपु को जीतने वाले, उदात्तचारुचरित्र का पालन करने वाले, कालदेव का अन्त करने वाले, गुणसमुद्र, मुनियों से वन्दित और मदवर्जित श्रीदिवाकर नन्दि, सिद्धान्तदेव और श्रीशुभचन्द्रदेव हैं ॥२२॥

मंतणमें श्रुतदिं गुण-

दिं तपदिं रामनन्दि सिद्धान्तिगळि।

दंते पेरपेरनन्तिं- ।

तु तेंदेनेंदु बण्णिर्जडयतिगल् ॥२३॥

अर्थ—अनेक मनुष्य कहते हैं कि शास्त्र ज्ञान से, गुणों से तथा तप से सुशोभित रामनंदी सिद्धान्ती थे अन्य कोई नहीं था परन्तु वास्तव में वे रामनंदी माघनंदी ही थे। इसलिये ये विशेषण माघनंदी के ही हैं। 'रामनंदी' माघनंदी का ही अपर-नाम है, ऐसा जानना चाहिए। (मूल ग्रन्थ की टिप्पणी में माघनंदी आचार्य का अपर नाम रामनन्दी लिखा है।)

नुतसिद्धान्तदोळ्एपुवेत्तुजिनसेनाचार्योरं शास्त्र दु-

न्नतियोळ् भाविसे पूज्यपाद मुनिर्पिपट्टतर्क दोळ् धारिणी ।

स्तुतनागिर्द समन्तभद्रमुनिर्थिं मिविकर्दनुग्रत्तप ।

श्रुतवाराशिनरेंद्रसेनमुनिपं त्रैविद्य चक्रेश्वरम् ॥२४॥

अर्थ—नमस्कृत, सिद्धान्त से शोभायमान श्री जिनसेनाचार्य की महत्वशालिनी काव्य रचना कहां तथा तर्कशाली सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण, साहित्य, वैद्यक आदि छह विषयों के महान् विद्वान श्री पूज्यपाद स्वामी की एवं जगस्तुत्य श्री समन्तभद्र आचार्य की अनुपम काव्य रचना कहां? एवं शास्त्र ज्ञान के समुद्र तीन विषयों के चक्रवर्ती (त्रैविद्य-चक्रेश्वर) श्री नरेन्द्र सेन मुनि की काव्य रचना कहां?

इस पद्य में ग्रन्थकार ने श्री समन्तभद्र आचार्य, जिनसेनाचार्य एवं नरेन्द्र-सेन आचार्य की अनुपम शास्त्र रचना का महत्व तथा अनुपमता प्रगट की है।

पोडवीशभुवनैकमल्लनुतपादाम्भोजरत्यूर्जितर्-

दृढ़चित्तर् गुणचंद्र पंडितरिळालोकैकपूज्यर्मनं ।

बिडे त्रैविद्यमहाभिधानमनदं कूर्तळ्किरिं कोट्टरें,

दोडे त्रैविद्यनरेंद्रसेन मुनिवोळ्वाग्मीशरलोंकदोळ् ॥२५॥

अर्थ—जगत के ईश, भुवन के मल्ल अर्थात् जगत् में शूरवीर या मल्ल अथवा मिथ्या-वादियों के साथ वाद विवाद करके कुमत का खण्डन करने में निष्णात और जिनके चरण कमलों में भ्रमर समान लीन होकर भव्य जीव स्तुति करते हैं जो दृढ़ चित्त वाले हैं ऐसे

श्री गुणचन्द्र पंडित कवि इस लोक में पूज्य हैं तथा महाभिधान त्रैविद्य पद-प्राप्त नरेन्द्र सेन मुनि हैं। यह त्रैविद्य नरेन्द्रसेन मुनि इस लोक में प्रख्यात मान्य हैं।

मेरुण्डपंडितर्वा-
कूळ्ळीरमणर्वासुपूज्यसिद्धान्तेशर-
मेरुनगक्षमरवनी-
शाराध्यमुनिकदंबवनमाकंदर् ॥२६॥

अर्थ—पंडित मेरुण्ड वाक्-श्री के पति हैं। सिद्धान्त के ईश, मेरु पर्वत के समान क्षमा धारण करने वाले और संपूर्ण जगत के द्वारा पूजनीय वासुपूज्य मुनि, मुनि रूप कदम्ब वन के माकन्द यानी पुष्प रस के समान हैं।

कंतुविरोधिकिळ्विषगजाधिपकेसरिपद्मनंदिसि-
द्धांतमुनीन्द्ररंतवरशिष्यरनंतगुणचतुष्कषा-
यांतकरुग्रकर्महरणर्श्रुतवारिधिमेघचंद्रसि-
द्धांतमुनींद्ररिंद्रधरणीध्रनिभक्षमरीड्वसत्कमर् ॥२७॥

अर्थ—कामदेव को परास्त करने वाले तथा किल्विष अर्थात् पापरूपी मदोन्मत्त हाथी के लिए सिंह के समान ऐसे पदमनंदि सैद्धान्तिक मुनि के श्रेष्ठ शिष्य अनन्त गुण के धारी तथा चार कषायों के नाशक, श्रुत के समुद्र श्री मेघचन्द्र सिद्धान्त-मुनीन्द्र, पृथ्वी के समान गम्भीर तथा क्षमावीर और हमेशा सत्कर्म में लीन रहने वाले हैं।

यतिवंदितक्रमदु-
ष्कृतदूरमाघनंदिसैद्धांतिकगळ् ।
र्जितरवणीपूज्यरेत्यु-
न्नतप्रभाचंद्र सेनसैद्धांतेशर् ॥२८॥

अर्थ—यतियों के द्वारा वंदित-चरण तथा दुष्कर्म से सदा दूर रहने वाले माघनंदि

सैद्धान्तिक मुनि तथा ऊर्जित (तेजस्वी) जगत्पूज्य और अत्यन्त उन्नत अवस्था को प्राप्त हुए श्रीप्रभाचन्द्रसेन सैद्धान्तिक देव हैं।

अवरिवरोळ्ळ्दरेंबी-
बवरदोळ्ळे नर्हणंदि भट्टारकरु-
द्भवचारुचरितरेनली-
भुवनं केमुगिये गणके मूलिगळादर् ॥२६॥

अर्थ—सभी मानव जनता द्वारा प्रशंसनीय अर्हनंदि भट्टारक हैं वे अर्हनंदि भट्टारक सुन्दर चारित्र-निष्ठ हैं। तथा गण के मूल-नायक, मान्य हैं।

वद्विदकवितेय वाग्मि।
त्वद् गमकद् विबुधततिगे रंजिपवादि॥
त्वद् बत्मेगे सकल कला-
भ्युदय श्रुतकीर्ति देवनल्लवे देवं ॥३०॥

अर्थ—नाना प्रकार की कविता की वाक्-शैली से विद्वान् समुदाय को रंजायमान करने वाले तथा वाद विवाद (शास्त्रार्थ) करने में निपुण एवं अन्य संपूर्ण कलाओं में निष्णात, ऐसे जो श्रुतकीर्ति क्या देव नहीं है? अर्थात् वह देव के समान ही हैं।

खलकर्मजधिवडवा-
नलरुद्धतवादिनिकरधरणीधर सं-
कुल कुलिशरमलगुणगण-
निलयश्रुतवार्धि रामसिंह बुधेंद्रर ॥३१॥

अर्थ—दुष्ट कर्मों को जलाने के लिए वडवानल के समान, उद्धत सर्व प्रतिवादियों के समूह-रूपी पर्वतों को नष्ट करने के लिए वज्र के समान हैं, निर्मल गुण समुदाय के आगार, श्रुत-वारिधि अर्थात् श्रुत के समुद्र 'रामसिंह' सर्व पंडितों में इन्द्र के समान हैं।

परम जिनेंद्रागम सा- ।
गर चन्द्रवासुपूज्यभट्टारकरु ॥
वरे पोगले गुणगणक्का ।
गरमागलधरेगे चारुसेनाचर्यर् ॥३२॥

अर्थ—परम श्रेष्ठ जिनेन्द्रभगवान के आगम रूपी समुद्र की वृद्धि के लिए चन्द्रमा के समान श्री वासुपूज्य भट्टारक हैं और गुण-गण के सागर ऐसे चारुसेन आचार्य हैं ।

अलवट्टु ग्रोग्रतपो-
नलनिं दुरितेंधनंगलं सुट्टु तपो-
उज्वलमप्प कुक्कुटाशा-
मलधारिमुनिंद रवनितल संस्तुत्यर ॥३३॥

अर्थ–नाना प्रकार के कठोर तप रूपी अग्नि द्वारा कर्म रूपी ईन्धन को जलाने वाले उज्ज्वल तपस्वी, जगतमान्य कुक्कुटाशामलधारी मुनीन्द्र हैं ॥३३॥

अगणितमेनिसुवगुणदिं-
नेगलते वडेदिर्द शास्त्रतर्कागमदिं- ।
जगतीवलयं बणिणसे-
नेगलदिर् त्रैविद्यमेघचन्द्रमुनीन्द्रर् ॥३४॥

अर्थ–असंख्यात गुणों से विभूषित, शास्त्र और तर्कागम से अर्थात् न्याय शास्त्रज्ञ होने से सम्पूर्ण जगत की भव्य जनता के द्वारा स्तुति करने योग्य त्रैविद्य (सिद्धान्त, न्याय, साहित्य में निपुण) श्री मेघचन्द्र मुनिराज हैं ।

परलिं मुद्रिके वज्रदिं कुलिशमातारेशनिं रात्रि भा-
स्करनिंदंबरचक्रमाम्रतरुविन्दुद्यानमुर्वीशरिं ।

धरे पंकेजदिनोळ्गोल बुधनुत श्रीरामसेनव्रती-
श्वररिं निर्मल जैनधर्ममेवल रम्यं महीचक्रदोल् ॥३५॥

अर्थ—सोने की मुद्रिका से अंगुली की शोभा, (वज्र हीरक) से कुलिश की शोभा, तारागणों से रात्रि की शोभा, सूर्य से आकाश की शोभा,, आम्रवृक्ष से वन की शोभा, राजाओं से पृथ्वी की शोभा तथा कमल पुष्पों से तालाब की शोभा होती है, उसी प्रकार विद्वानों द्वारा नमस्कृत श्री रामसेन व्रतीश्वर के द्वारा निर्मल जैनधर्म की रमणीय पृथ्वी चक्र में शोभा फैली हुई है ॥३५॥

परवादि घनाघननि-
ष्ठुरपवनर्जैनसमयदुग्धाब्धिनिशा.
कररुग्रकर्म गजरिपु-
शरभन्त्रैविद्यकनकनन्दिमुनीन्द्रर् ॥३६॥

अर्थ—परवादी-रूपी महाबादलों की घटा को उड़ाने में प्रचण्ड पवन के समान तथा जैनागमरूपी क्षीरसमुद्र को परिवर्द्धित करने में चन्द्रमा के समान और उग्र कर्म रूपी गज को नष्ट करने में सिंह के समान त्रैविद्य (तीन विषयों के विद्वान) श्री कनकनंदि मुनीन्द्र हैं ॥३६॥

त्रिविधमुनिसमितिगणधर-
निवहं यतिपतिमुनीन्द्रनिकरं माल्कु-
ऽसवर्दि भव्यसमूह-
क्कवितथसम्यक्त्वरत्नमंदयेयिदम् ॥३७॥

अर्थ—विविध प्रकार के मुनि समुदाय से युक्त जो गणधर यानी-मुनि-नायक हैं, यतिपति (यतियों में श्रेष्ठ) आचार्यगण सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति के लिए भव्य जनों को सद्बुद्धि प्रदान करें ॥३७॥

निरवद्यजिनसमया-
वरहिमकररखिलविबुधजनसंस्तुत्यर ।
धरेयोल्कलंकदेवरे-
परमार्थम् नोडे सकलविद्यां बुद्धिगल् ॥३८॥

अर्त–निर्दोष जिनागमरूपी, आकाश के हिमकर (चन्द्रमा) तुल्य, सम्पूर्ण विद्वज्जनों से स्तुत्य अकलंकदेव ही इस पृथिवी पर वास्तव में समस्त विद्याओं के महासमुद्र हैं ॥३८॥

असगनदेसिपोन्नतमहोत्तनतिवेत्तबेडंगु पंप्तनों-
सद्दशदिशमप्यपूर्वरसमेयदे गजां शनोल्पुवेत्तु रं-
जिसुव सदर्थदृष्टिगुणवर्मन जाणकविरत्न नोजे शो-
भिसे नेलिसिकें धारिणिमनंगाले मत्कृतियोल् निरन्तरम् ॥३९॥

अर्थ–असगकवि कौर पोन्न कवि की महोन्नति कहाँ ? कवि पम्प के सद्दश अत्यन्त मनोरंजक अपूर्व रसभरित काव्य कहाँ ? गजांकुश कवि की कविता में विद्यमान गाम्भीर्य और महत्व कहाँ ? भव्यजनों के हृदय को रंजित करने वाले सद्दृष्टि गुणवर्मा कवि की विद्वत्ता और ऐसे कविरत्न का ओजगुण और गाम्भीर्य जो सम्पूर्ण पृथिवी की भव्यजनता का हृदय आकर्षित करने वाला है, वह कहाँ ? अतः ये सभी सत्कवि मेरी कविता में निरन्तर रस प्रवाहित कर सभी के सुनने योग्य बनाने में सहायता प्रदान करें ॥३९॥

रसभावं गमकं काणिसे
नाण्णुडि देसिवेत्त पोसनुडिमार्गम् ।
कुसुरिय वगेयिंदि नितरो-
लेसेयद् कृति कृतिये बगेदु नोल्पडे जगदोल् ॥४०॥

अर्थ–रसभाव और गमक बताकर और अनेक प्रकार के उदाहरणों के साथ, नवीन शब्दमार्ग रचना में अनेक प्रकार युक्तियों से कृति का विचार करके जगत में देखा जावे तो,

पोसगन्नडदिं व्याव-
णिसुवं सत्कृतियनेंदु कन्नडमं चिं- ।
तिसि कूडलारुदक्कट
मिसुकद् सक्कदभनिक्कुवनु कवियै ॥४१॥

अर्थ—नवीन कन्नड भाषा से इस सत्काव्य का वर्णन करेंगे, मन में ऐसी भावना रखकर कर्णाटकी में रचना करेंगे और छन्द या शब्द मिलाने के लिए संस्कृत भाषा का मिश्रण करेंगे, इस प्रकार जो कवि कविता करता है, आश्चर्य की बात है कि क्या वह कवि है ? ॥४१॥

सक्कदमं पेल्दोडे नेरे-
सक्कदमं पेल्गे सुद्दगन्नडदोल्तं- ।
दिक्कुवुदे सक्कदमं
तक्कुदे वेरसल्के घृतमुमं तैलमुमम् ॥४२॥

अर्थ—अगर किसी कृति को संस्कृत में कहना हो तो उसे संस्कृत में ही कहना चाहिए। यदि च शुद्ध कनन्डी में लिखना अभीष्ट हो तो शुद्ध कनडी में ही लिखा जाना चाहिए। कन्नड और संस्कृत मिलाकर किसी काव्य को लिखना तो घृत और तेल को मिलाने के समान है ॥४२॥

परिणतरेनिसुव निर्म-
त्सरं मेच्चिपुदुगहणमल्लदुजडरं ।
करमुरिदु तिलिपले तेने-
खरकरनं गूगेगेयुदे तोर्पतक्कुम् ॥४३॥

अर्थ—जो लोग इस काव्य में परिणतिमान् हैं, बुद्धियोगपूर्वक इसे समझते हैं, मात्सर्य से रहित हैं, उन्हें अनुरंजित करना कोई कठिन नहीं है। किन्तु जो जडमति यानी-मूर्ख हैं, उनके भी हृदय में प्रवेश कर उनकी भी रुचि को जागृत कर सके, उन्हें भी इसका

आस्वाद व मर्म मालूम हो, ऐसा सुगम सर्वंगम्य काव्य ही काव्य पद का अधिकारी है। यदि बुद्धि जीवियों को ही केवल उस काव्य का अन्तःकरण समझ में आवे और जनसामान्य उसकी तह तक न पहुंच सके तो वह केवल उच्च कोटि के पाठकों की ही वस्तु है। उल्लू के समक्ष सूर्यं दर्शन के समान वह काव्य अल्पज्ञों के लिए व्यर्थ है। सत्काव्य के प्रति दुर्जन मात्सर्यंग्रस्त होकर उसकी निन्दा करते हैं।

एक अन्य कवि ने भी काव्य के सम्बन्ध मे निम्नलिखित कहा है—

किं तेन किल काव्येन मृद्यमानस्य यस्य ताः।
उदधेरिव नायान्ति रसामृतपरम्पराः ॥१॥

अर्थ—कवि के उस काव्य से क्या प्रयोजन, जिसका रस-आस्वाद उसके अधिकाधिक मन्थन से मथे गए समुद्र से अमृतकलश के समान प्राप्त न हो।

किं तेन काव्यमधुना प्लाविता रसनिर्झरैः।
जडात्मानोपि नो यस्य भवन्त्यंकुरितान्तराः ॥२॥

अर्थ—कवि के उस काव्यमधु से क्या लाभ, जिसकी रस धारा में प्लावित जड़बुद्धि वाले भी अन्तः करण में उल्लसित न हो उठें ॥२॥

या साधूनिव साधुवादमुखरान् मात्सर्यमूकानपि,
प्रोच्चैर्नो कुरुते सतां मतिमतां दृष्टिर्न सा वास्तवी।
या याताः श्रुतिगोचरं च सहसा हर्षोल्लसत्कन्धरा-
स्तिर्यंचोपि न मुक्तशष्पकवलास्ताः किं कवीनां गिरः ॥३॥

अर्थ—ऐसी कविता जो साधुजनों के समान ही मात्सर्यंवश मूक रहने वाले व्यक्तियों को भी बलात् साधुवाद (धन्य धन्य) कहने के लिए मुखरित कर दे, वही वास्तविक कविता है। इससे भिन्न नहीं। वस्तुतः जिन्हें सुनकर प्रसन्नता से कन्धा ऊंचा करते हुए मृगादि पशुगण भी अपने मुख में चबाये जाते हुए घास को अधचबाया छोड़ दें, वही कविता वास्तविक है, इससे भिन्न कविता भी कोई कविता है ?

मण्डूकं शरनिधियं-
कण्शरियदे पलिगुमठिधगदुभंगमपेल् ।
खंडिसे कुकविसमूहं,
पण्डितरप्पवर्गं भगमक्कुमे जगपोल् ॥४४॥

अर्थ—साधारण कीचभरे पानी में स्थित मेंढक समझता है कि इससे बढ़कर कोई विशिष्ट स्थान नहीं है। अनभिज्ञ होने से वह बेचारा समुद्र के विस्तार को तथा उसके अस्तित्व को क्या जाने ? इसी प्रकार कुकवि भी अपनी अल्पबुद्धि की तराजू पर महान् कवियों की सुकविता को (अनभिज्ञ होने से) तुच्छ ही मानता है और अपने कवित्व व ज्ञान पर गर्व करता है। वह कहता है कि मेरे द्वारा रचित काव्य के समान अन्य किसी का काव्य नहीं है ? परन्तु क्या इस प्रकार के कुकवियों की निन्दाबुद्धि से सत्काव्यों में त्रुटि आ जाती है ? क्या वे मलिन हो जाते हैं ? नहीं। बात केवल इतनी ही है कि अल्पज्ञ कुकवि तो 'अर्द्धो घटो घोषमुपैति नूनम्' (जल से आधा भरा हुआ घड़ा अधिक छलकता है) की कहावत के अनुसार अपनी ही अपूर्णता का डिण्डिम घोष करते हैं। उससे सत्कवियों औरसत्काव्यों में किसी प्रकार की कमी नहीं आती।

पोल्लमेगंडदनरिदुं-
मेल्लने सय्तागे तिदुंवर्सुकवीशर् ।
पोल्लमें पिल्लदोडं ले
सल्लदुक्रुतियेंदु कुकविनिकरं पलिगुम् ॥४५॥

अर्थ—सुकवियों के रस-भरे काव्य को अपने अनुकूल रुचिकर न देखकर 'इसमें गमक नहीं है, छन्द नहीं हैं' इत्यादि कहकर कुकवि लोग व्यर्थ ही ढूँढ-ढूँढ कर उसमें दोष निकालते रहते हैं। वस्तुतः काव्य के निर्दोष होने पर भी केवल उनका कुस्वभाव ही इस दोष-ग्रहण में कारण है।

इलिगं मरकुट वक्किग—
मलसदे कदुंकुत्ते कडियुतिपुंदे सहजं ॥

सले चपलंगं कुकविग-

मलसदे तेगल्पिदुवे सहजमवरंते करं ॥४६॥

अर्थ—चूहे और काठफोड़ा पक्षी में आकाश पाताल-सा अन्तर है क्योंकि जैसे चूहा कपड़े या अन्य वस्तुओं को सहज में काट डालता है, वैसे काठफोड़ा पक्षी सहज में काट नहीं सकता। इसी तरह सुकवियों में और कुकवियों में आकाश पाताल का-सा अन्तर है।

ननविलाटं सोगयिसुवुदु

विवेकियप्पंगे नायुगे सोगयिसुवदे स-।

त्कविय बगेगोल्पु पुगुववो-

लविवेकिय मनभनोल्पदे पोक्कपुदे ॥४७॥

अर्थ—मोर का नाच विवेकी लोगों को पसन्द है। परन्तु वह मोर का नाच क्या कुत्ते को रुचिकर होगा? नहीं। इसी तरह सज्जन तथा विवेकी विद्वानों के द्वारा रचित काव्य विद्वान विवेकी लोगों को ही पसन्द आवेगा अर्थात् रुचिकर होगा। परन्तु अविवेकी और अत्यन्त चपल कुकवियों के हृदय में वह काव्य स्थान नहीं पाता। वे कवि हमेशा सुकवि की निन्दा ही करते हैं।

अडकिल मडलेगलं स-

यति डलरिवुवे तायगलोल्लदे कृतियं।

किडेनुडिवरल्लदे जड -

रोडं बडलितद्दिनुडियबल्लरे कविलोल् ॥४८॥

अर्थ—मिट्टी से बने हुए सुन्दर मटकों को अगर कुत्ते से कहें कि इन मटकों को तुम सजा कर ठीक से रखो या एक के ऊपर एक चढ़ा कर रक्खो, तो क्या वह कुत्ता उन मटकों को विना तोड़े फोड़े छोड़ेगा? क्योंकि आखिर तो वह विवेकहीन नीच कुत्ता ही ठहरा। उसी तरह अविवेकी कुकवि को सुकवि द्वारा की गई सुरचना दी जाय तो वह उसे रुचिकर नहीं होगी, माधुर्य से भरी अच्छी काव्य-रचना को भी कुकवि निंदा ही करेगा।

मले इल्लदे पोय्नीरिं -
बेलगुमे धरे मरुगि कुदिदु शास्त्रद्बलदिं ।
द्लिपिं पेल्बोडमदु को -
मलमक्कुमे सहजमिल्लदातन कब्बं ॥४६॥

अर्थ–जिस प्रकार बरसात के पानी के विना गन्ना कोमल और सुरस नहीं हो सकता, उसी प्रकार भगवान की वाणी के विना सुकवि मधुर और अच्छे शास्त्र की रचना नहीं कर सकता अर्थात् विना भगवान की वाणी के अच्छे शास्त्र की रचना नहीं हो सकती है ।

उप्पिल्लदे केलोक्कल-
तुप्पवनेरेदुण्बेनेंबोडुबुणिसें स्वा - ।
द्प्पुदे सहजं तनगिनि -
सप्पोडमिल्लदन कविते रुचिवडेदपुदे ॥५०॥

अर्थ–जिस प्रकार रसोई में बिना नमक के सरस शाक आदि भोजन नहीं बन सकता है, तथा घी के साथ अगर नमक का प्रयोग नहीं किया जावेगा तो जीभ को स्वाद नहीं आता उसी प्रकार यदि कविता में भगवान की वाणी का रसास्वाद नहीं होगा तो वह मधुर तथा सुकाव्य नहीं बन सकती ।

मुनिदपरेंबुदोंदुभयमेल्लनितप्पोडवोंदुमिल्ल स -
ज्जन रोलदेक वर्पुरुडिपमुनिवर्कंडुदुष्टरप्पवर -
मुनिदोडे रागदिंदोसेदोडं कडुपोल्लद्रिंद्भंजि दु ।
र्जनपरमेश्वरर्गेरिदु कैमुगिवें बलगोंडु भक्तियिं ॥५१॥

अर्थ–सज्जन लोग मेरे द्वारा रचे हुए काव्य को देखकर किसी प्रकार की अवहेलना करेंगे या उस रचे हुए काव्य की निन्दा करेंगे, उसके विषय में मुझे तिल मात्र भी डर नहीं है । क्योंकि सज्जन लोग सदा एक से ही रहते हैं । वे काव्य के दोष को ग्रहण नहीं करते,

उसके सार को ही ग्रहण करते हैं। और दुर्जन लोग सदा दुष्ट व्यवहार करते हैं, सार-गर्भित मधुर कविता होने पर भी अपने अभिप्राय की बातें न मिलने के कारण उस सुकवि के रचे हुए काव्य की निन्दा करते रहते हैं। इसलिए मैं सब से पहले अपने काव्य में दोष-ग्राही दुर्जनों को भी भगवान समझ कर पहले उनकी प्रदक्षिणा देता हूँ।

कहा भी है 'गुदप्रक्षालानन्तरं मुखप्रक्षालनं' अर्थात् पहले गुदा को धोकर बाद में मुख को धोना उचित है।

परगोलोल् वार्धिय तडि -।
गुरदे भरगेय्दु पोपर्नेबेग्गतवोल् ॥
नेरे जिनवाक्यांबुधियुम् -
नुर दीसुवर्नेंब दिट्टरेमि पेररार्मं ॥५२॥

अर्थ—बिना पतवार के समुद्र को पार करने वाले मूर्ख कभी भी समुद्र को पार नहीं कर सकते, उसी प्रकार भगवान की वाणी के बिना कवि सुकाव्य की रचना नहीं कर सकता अर्थात् कवि को भगवान की वाणी का आश्रय अवश्य करना चाहिए, तब ही वह सुकाव्य की रचना कर सकता है, संसार-सागर से पार होने के लिए सुकाव्य की रचना करना ही श्रेष्ठ है।

तरणि वेलगल्पेकेंदिदु वे भगणं सुर -
दिरदमिरलिं सेर्किके दिदु वे पेरवानेगल् -
परम कविगल् सालूयर्तामेंदु माणदे पेर्लवना -
दरदि नालविंदर्थि दोषं न पश्यति यंबिनं ॥५३॥

अर्थ—सूर्य के उदय होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है, तथा इन्द्र के ऐरावत हाथी के आगे छोटे हाथी नहीं टिक सकते, इसी प्रकार महान कवियों के सामने मैं एक अल्प-बुद्धि वाला कैसे टिक सकता हूँ। अतः मेरे द्वारा रचे हुए काव्य में सज्जन लोग मेरे दोषों को न देखकर मेरे काव्य का पठन करें।

मरेदानु जिननाममं सुमनदिं पेल्वातनु दुःखमं।
किरिदु पोर्द्दनंतमप्प सुखदोल् कूडिर्पनेंदन्दु त -

लतुरे पुण्योदितमप्प तच्चरितमं काव्यंगलोले भक्तियिं ।
नेरे पेल्वातन कर्मनिर्जरेयनंतिंतु तेनल्वकुमे ॥५४॥

अर्थ—जो प्रतिदिन जिनेश्वर भगवान के नाम को शुद्ध भाव से स्मरण करने वाले सज्जन हैं, वे अपने दुःखों को क्षय करके अन्त में चिरस्थायी सुख पाने की जिनकी इच्छा है उनके लिए मैं इस ग्रन्थ में कहे जाने वाले पुण्य-पुरुषों का विवेचन कर रहा हूँ उस काव्य की भक्ति से अशुभ कर्म की निर्जरा होकर कितना पुण्य बन्ध हो जाता है, यह बात मैं नहीं कह सकता, वह तो अवर्णनीय है ।

जिनमतदोलनितुसारम -
दानितु लेसागि तोर्पुदीकृतियोलुदं ।
तेने कन्नडि योलगे जल -
क्कने तोर्पवोलिभद रूपु विस्तरदिंदं ॥५५॥

अर्थ—भगवान की वाणी रूपी समुद्र में से थोड़ा सा सार अंश लेकर मैं अच्छी तरह काव्य की रचना कर रहा हूँ । इस काव्य के द्वारा मैं कुछ सार को बताने की चेष्टा कर रहा हूँ । दर्पण में जैसे जल का कण भी स्पष्ट झलकता है उसी प्रकार मैं भगवान की वाणी के अंश को लेकर भव्य जीवों का चरित्र बताना चाहता हूँ । नदी में हाथी डूब जाता है उसका केवल थोड़ा सा ही भाग दिखाई देता है । उसी प्रकार पुण्यात्मा पुरुषों के परि-ज्ञात स्वल्प अंश से मैं उनका चरित्र विस्तार से बताना चाहता हूँ ।

गुरुविद्याब्धिनरेन्द्रसेनमुनिपं त्रैलोक्यचक्रेश्वरं ।
परम श्रीजिननिष्टदेवनमलं श्रीजैनयोगीश्वरर् ।
परमार्थं तनगाल्दरुत्तमविनेयर्बंधुवर्गं निजा -
दरदिंदोडे भापु धन्यनेदिटं वत्सल्यरत्नाकरं ॥५६॥

अर्थ—महान विद्या के सागर नरेन्द्रसेन मुनि, त्रैलोक्य चक्रेश्वर परम श्रेष्ठ श्री जिनेश्वर देव ही जिनके इष्ट हैं, ऐसे निर्मल श्री जैन योगीश्वर परमार्थ को ले जाने में सहायक

परम बन्धु हैं, वे विनीत शिष्यों के लिए वात्सल्य-रत्नाकर हैं। मैं उनका कहाँ तक वर्णन करूँ। अर्थात् उनका वर्णन करना मेरी बुद्धि के बाहर है।

स्थिरवाक्यं सुव्रताम्भोनिधिसकलजगत्पावनं राजपूज्यं
परमश्रीजैनधर्माम्बरदिनकरनुद्यत्तपोमूर्त्तिवाण्या-
भरणं त्रैविद्यचक्रेश्वरविमलपदाम्भोजभृंगं जिनश्री-
चरणालंकारश्रीर्षसुकविजनमनःपद्मिनीराजहंसम् ॥५७॥

अर्थ–जो स्थिर वाक्य वाला है, सम्पूर्ण संसार को पवित्र करने वाला है, राजाओं से पूज्य है, परम पवित्र श्री जैनधर्म रूपी आकाश का दिनकर (सूर्य) तुल्य है, उत्तम तपो-मूर्ति है, वाणी का आभरण अर्थात् उत्तम अलंकार है, त्रैविद्य चक्रेश्वर के विमल चरण-कमलों में भृंग के समान है, जिन श्री (श्रीजिनेश्वर देव) का चरण जिसके शिर का अलंकार है, यानी-जिसका शिर श्री जिनेन्द्रदेव के चरणों में झुका रहता है एवं जो सुकवि (श्रेष्ठ कवि) जनों के मानसरूपिणी पद्मिनियों के लिए राजहंस के समान है। (राजहंस पद श्लिष्ट है उसके राजहंस और सूर्य दोनों अर्थ हैं)। कमलिनी के लिये राजहंस और सूर्य दोनों ही आल्हादकारक हैं।

मानितशीलनिधानम-
नूनगुणं सकलभव्यजनबुधजनचि-
त्तानन्दकरं केलूनय-
सेनबुधं सुकविनिकरपिकमाकन्दम् ॥५८॥

अर्थ—जो जगत् के मान्य शील गुण का निधान है, समस्त गुणों से मंडित है, सभी भव्यजनों एवं बुधजनों के चित्त को आनन्द वितरण करने वाला है। हे भव्यजनो, सुनो वह नयसेन आचार्य सुकवि निकर यानी श्रेष्ठ-कवि-समुदायरूप पिकों (कोकिलों) के लिए माकन्द अर्थात् पुष्परस के समान है।

अतिशयजिनेन्प्रवचना-
मृतमं सकलैकजीवहितमम् पुण्यो।

दितमभव्यनिकाय-

स्तुलमं नेत्रेपेलुवेनरिये धर्मामृतम् ॥५६॥

अर्थ—जो अतिशयशाली जिनेन्द्र भगवान के वचनामृत से परिपूरित है, जो समस्त जीवों का हित करने वाला है, पुण्य को उत्पन्न करने वाला है, जो भव्यजनों से स्तुत है, पवित्र है, ऐसे धर्मामृत नाम काव्य को मैं विस्तारपूर्वक यथामति कहूँगा ॥५६॥

अदुमत्तेंतेंदोडिंद्रप्रणुतपदयुगं मोक्षलक्ष्मीविकासं

मदनेभेन्द्रोग्रकण्ठीरवनमलयशं निर्मलं सर्वसौख्या-

भ्युदयं श्रीवीरनाथं नेलसिरे विपुलाद्रीन्द्रदोळ्नोभेयि मु-

त्तिद देवानीकदिसुत्तिद खचरनराधीशसन्दोहदिन्दम् ॥६०॥

अर्थ—जिनके चरण कमल इन्द्रों के द्वारा नमस्कृत हैं, जो मोक्ष-लक्ष्मी के विलास हैं, मदन (काम-देव) रूपी गजराज के लिये जो सिंह के समान हैं, जिनका यश निर्मल है, सम्पूर्ण जगत् के सौख्य के लिए ही जिनका अभ्युदय है, बहिरंग और अन्तरंग लक्ष्मी से जो सम्पन्न हैं, विपुलाचल (विपुल पर्वत) को सुशोभित करने वाले श्री वीरनाथ भगवान देवों के समूह से घिरे हुए (परिवेष्ठित) तथा भक्त खचर यानी—आकाश में विचरने वाले विद्याधर और मनुष्यों के अधीशों (राजाओं) के समूह से सुशोभित हैं ॥६०॥

अन्तिदों त्रिजगन्महीशसभेयोळ् भव्यालिगं चन्द्रनें-

बतोप्पिर्दसमस्तशास्त्रविदरं धर्मोपदेशज्ञरम् ।

मुन्तागौतमरं मुनीन्द्रनुतरं सद्भक्तियिं श्रेणिकं

सन्तोषं मिगे कूतु केळ्दनधिकश्रीगामेनं धर्मम् ॥६१॥

अर्थ—उन तीन लोकों के नाथ वीरनाथ के समवशरण में भव्य जीवों के लिए चन्द्रमा के समान, समस्त शास्त्रों में पारङ्गत और धर्मोपदेशविधि के वेत्ता गौतम गणधर आदि मुनिराजों को भक्ति से नमस्कार करके श्रेणिक राजा ने जिसे सन्तोष से श्रवण किया, ऐसा यह धर्म (धर्मामृत) है ॥६१॥

अन्तागिरीन्द्रदोल् चरमतीर्थकरपरमदेवरसमवसरणं वन्दु नेल्सिदु-दनरिदु ऋषिनिवेदकं षड्ऋतुफलं गलनाश्चर्यमप्यते श्रेणिकमहाराजंगेकाण्के-गोट्टु सर्वाङ्गप्रणतनागिकैमुगिदु "देवा नम्मविपुलाचलगिरियोल् श्रीवर्द्धमान-स्वामिगल् समवसरणं बन्दु नेलसिदुदुदु" विन्नपंगेय्यलोडने केल्दु सिंहा-सनदिंदिलिदत्त लेलडिय नडेदु विनमितशिरस्कनागि ऋषिनिवेदकंगे पूर्णा-नन्दपुरस्सरमंगचित्तमं कोट्टानदं भेरियं प्रोय्सि पडेवलनं बरिसि वीडेल्ल-मर्चनाद्रव्यंबेरसु पोरमडुवन्ते सारेन्दु नियमिसि तानु चेलिनि महादेवियु पट्टवर्द्धनगजेन्द्रमनेरि सपरिवारं विपुलाद्रियनेयदि दूरोत्सारितवाहनं विचित्रा-तपत्रप्रमुखराजचिह्नंगलं बिट्टु समवसरणमणेयूदि गन्धकुटियं त्रिः प्रदक्षिणंगे-यूदु परमेश्वरनपादपद्मंगलं दिव्यार्चनेगलिंदर्चिसि त्रैलोक्यस्वामिगभिमुखना-गिनिंदु मुकुलितकरकमलनु विकसितहृत्कमलनुमागि ॥६२॥

अर्थ—एक समय की बात है कि विपुलाचल पर्वतराज पर अन्तिम तीर्थंकर भगवान् देवाधिदेव महावीर स्वामी का समवसरण आया। उस समय उस पर्वत के चारों ओर एक साथ वृक्षों पर छहों ऋतुओं के फल पुष्प खिल उठे तथा सूखे हुए तालाब भी स्वच्छ कमलिनी युक्त पानी से भर गए। वहां रहने वाले वनपालक ने इन अद्भुत बातों को आश्चर्यचकित होकर देखा और जाना कि पर्वत पर भगवान् महावीर का समवशरण आया है। यही कारण है कि विना क्रम के भी यहां छहों ऋतुओं का एक साथ आगमन हुआ है। वनमाली को हर्ष हुआ और कौतूहल में आकर उन विना ऋतुओं के फलों-फूलों को राजा श्रेणिक के दरबार में आकर भेंट किया। वह नतमस्तक हो हाथ जोड़ कर कहने लगा कि–हे महाराज ! विपुलाचल पर्वत पर भगवान् महावीर का समवशरण आया है।

ऐसा सुनते ही राजा श्रेणिक ने अपने सिंहासन से नीचे उतर कर भक्तिपूर्वक जिस दिशा में भगवान् का समवसरण आया हुआ था उसी ओर सात कदम आगे चल कर परोक्ष नमस्कार किया और इसके पश्चात् आनन्द समाचार सुनाने वाले उस वनमाली को इसके उपलक्ष में बहुत पारितोषक दिया। फिर नगर में आनन्द भेरी बजवा कर भगवान की वंदना के लिए चलने की सबको सूचना दी और नगर के नर-नारियों के साथ अष्ट विध सामग्री लेकर, अपनी पट्टमहिषी चेलना देवी और मंत्रियों को साथ लेकर अपने

पट्टवर्धन हाथी पर सवार होकर विपुलाचल पर्वत की ओर चल पड़ा। पर्वत के समीप पहुंच कर वह हाथी से नीचे उतरा तथा अपने राजचिह्न छत्र, चमर, यान, वाहनादि को वहीं छोड़दिया, फिर पैदल चलकर ससवसरण में पहुंचा, वहां गन्धकुटीकी तीन प्रदक्षिा दी। तत्पश्चात् भगवान के पवित्र चरण कमलों की अष्ट द्रव्य से पूजा की। फिर त्रिभुवन के नाथ भगवान के सम्मुख मुकलित कमल के समान दोनों हाथ जोड़ कर श्रेणिक राजा विनयपूर्वक भगवान् की स्तुति करने लगा—

दुरिततिमिरप्रभावं
परिहरिपुदु देव निन्न मुखचन्द्रमणिम्।
त्वरितं नोडलदेंतु
दोरेकोलषुदु वीरजिनपनिवृ तिसौख्यम् ॥६२॥

अर्थ–हे प्रभो ! आपके मुख-चन्द्रमा के शुभ दर्शन से पापरूपी अन्धकार तत्काल दूर हो जाता है आपके दर्शन से ऐसा प्रतीत होता है मानों आज मुझे निर्वाण का सुख प्राप्त हो गया ॥६३॥

फिर श्री पं० बुधजन की स्तुति के समान भक्ति भावमय स्तवन करने लगे—

प्रभु पतितपावन, मैं अपावन चरण आयो सरन जी,
यो विरद आप निहार स्वामी, मेट जामन-मरन जी।
तुम ना पिछान्या, आन मान्या देव विविध प्रकार जी,
या बुद्धि सेती निज न जान्या भ्रम गिन्या हितकार जी॥
भव-विकट वन में करम वैरी ज्ञानधन मेरो हर्यो,
तब इष्ट भूल्यो, भ्रष्ट होय अनिष्टगति धरतो फिर्यो।
धन घड़ी, यो धन दिवस, यो ही धन जनम मेरो भयो,
अब भाग मेरो उदय आयो, दरस प्रभु को लखि लयो॥
छवि वीतरागी, नगनमुद्रा दृष्टि नासा पै धरैं,
वसु प्रातिहार्य अनन्तगुणयुत कोटि रवि-छविको हरैं।

मिट गयो तिमिरमिथ्यात्व मेरो उदय रवि-आतम भयो,
मो उर हरष ऐसो भयो मनु, रंक चिन्तामणि लयो ॥
मैं हाथ जोड़ नवाय मस्तक वीनऊँ तुम चरण जी,
सर्वोत्कृष्ट त्रिलोकपति जिन, सुनहु तारन-तरन जी ।
जाचूँ नहीं सुरवास पुनि नरराज परिजन साथ जी,
बुध जाचहूं तुम भक्तिभव-भव दीजिए शिवनाथ जी ॥

गद्य--एंदनेकस्तुतिसहस्रं गिलिं स्तुतियिसि निर्भरभक्ति पिंदेरगि पोडेमट्टु श्रेणिकमहाराजं ज्ञानर्द्धिसम्पन्नरप्पगौतम स्वामिवल्गे पोडे मट्टु मुकलितकरकमलनुयागि ॥६४॥

अर्थ—इस प्रकार भक्तिभावमय हजारों शब्दों से स्तुति करने के बाद बड़ी विनय भक्ति के साथ श्रेणिक राजा ने ज्ञानर्द्धि-सम्पन्न-गौतमगणधर को नमस्कार किया और हाथ जोड़ कर कहने लगा—

तिरकनारकमानवामरलोकदोळ् बेलेगोंडु नि-
त्तरि सदेल्लियुमल्लिगल्लिगेपुट्टि राटलदंददिं - ।
तिरिव संसृतिदुःखदिं पोरमोट्टु शाश्वतसौख्यदोळ् ।
तेरे वुपापनल्तेयिं बेससल्के वेल्कु मुनीश्वरा ॥६५॥

अर्थ—हे मुनीश्वर ! नरक, तिर्यंच, मानव और देव इन चारों गतियों में कभी क्षणमात्र भी अवकाश न लेते हुए जहां-तहां जन्म-मरण को प्राप्त कर, घटीयन्त्र के समान अनवरत घूमते हुए जीव को इस संसार के जन्म-मरण से निकलने का उपाय क्या है ? जिसमें मेरा मन लीन हो जावे, सो बताने की कृपा करें ।

भावार्थ—राजा श्रेणिक ने गौतम गणधर से प्रार्थना की कि हे मुनिश्रेष्ठ, इस जीव ने अनादिकाल से नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति, इन चारों गतियों में निरन्तर भ्रमण करते हुए अनन्त क्लेशों को सहन किया है । इसलिए हे प्रभो ! मुझे इन चार गतियों के भ्रमण से मुक्त होने का उपाय बताने की कृपा करें ।

एतेनर्यादि चतुर्विधसुरालिशिरोनतरागि हस्त को-
कनद्युगंगलं मुगियोदन्तमरीचिसुधांशुरश्मियं ।
तनुपभागि शोभिसिरे सर्वजनस्तुतरप्प गौतमर्
बनधिगभीररदि नुडिदरासमुखोद्गतमप्पतत्वमम् ॥६६॥

अर्थ—उस समय चारों प्रकार के देवों द्वारा शिर झुकाकर और हस्त कमल जोड़कर बड़ी विनय के साथ नमस्कार किये गये और समस्त मनुष्यों से स्तुति किये गए गौतम गणधर चन्द्र किरण सी शोभायमान अपने दांतों की किरणों से दिशाओं को प्रकाशित करते हुए समुद्र के समान गम्भीर होकर, महावीर भगवान के मुखकमल से प्रगट हुई वाणी का तत्व कहने लगे ॥६६॥

गद्य——नींबेसगोडं चतुर्गतिच्छेदमु जातिजरामरणदूरमु सारमुमप्प-निरन्तरसुखं मुक्तियोळ् ळल्लदेकोळदामुक्तियु त्रिजगन्मांगल्यमप्पसम्यग्दर्शन-दिन्दल्लदे समनिसदा सम्यग्दर्शनमु करणलब्धियिल्लदे कूडदासम्यग्दर्शन-मिल्लदे निरन्तरस्थायि यप्पमुक्तिश्रियं पडेवेन्यंबातं कणिणल्लदेकाणवणयंब मगिगल्लदे कारवं नेंव सतियिल्लदे सुतरं पडेवेगयंबमतियिल्लदे परदुगेवेलेंब-केरिल्लदे चित्रमं वरेवेनेंब नीरिल्लदेकूळनडुवेनेंब अग्निल्लदे, विल्विडिवेनेंब, तूविल्लदेकेरेयं कट्टुवेनेंव, कालिल्लदे परिवेणेंव, कीलिल्लदे पडिदेरेवनेंब, भैत्रमिल्लदे समुद्रदोळ् पोपनेंब, गोत्रमर्यदे कुसुगुडुवनेंब, किविियिल्लिदे केळ्वेनेंव, सवियिल्लदुणवेनेंब, कैविल्लदे वेलि इक्कुवेनेंब, वागिलल्लदे, पोगवेनेंब, (घ्राणमिल्लदधिकनेंब, बहाणमिल्लदेरुवेनेंब) नालगे यिल्लदे नुडिविनेंब, परगोलिल्लदे स्वरेयं पायवेनेंब, पच्चपसियग्गणं पोल्कु, यिंतु ॥६७॥

अर्थ—हे राजा श्रेणिक ! चतुर्गति के जन्म जरा मरण को दूर करके यदि तुमको अनन्त सुख प्राप्त करना है तो सावधान होकर सुनो । सम्यग्दर्शन के विना जीव को यह सुख प्राप्त नहीं हो सकता । तीनों लोक में मंगलमय सम्यग्दर्शन के विना उसकी प्राप्ति होना असम्भव है । और उस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करण-लब्धि के विना नहीं हो

सकती। जब वह करण-लब्धि प्राप्त हो जाती है तभी मोक्ष-श्री की लब्धि भी होती है। इसके विना यदि कोई मोक्ष की अभिलाषा करता है तो वह उसके समान है जैसे—कोई विना नेत्र देखना चाहता है, मिट्टी में बीज बोये विना फल की इच्छा करता है, स्त्री के विना सन्तान कामना करता है, विना बुद्धि के विद्या-पारंगत होना चाहता है, विना दीवाल के चित्र बनाना चाहता है, विना पानी के रसोई करना चारता है, विना वाण के लक्ष्यवेध करना चाहता है, विना पानी के तालाब भरना चाहता है, विना पांव के चलना चाहता है, विना धुरे के गाड़ी को चलाना चाहता है, विना जहाज के समुद्र पार होना चाहता है। वह अज्ञानी गोत्र-हीन होकर जैसे गर्व करना चाहता है, बहरा होकर भी सुनना और नेत्रहीन होकर देखना चाहता है, विना रुचि के भोजन करना चाहता है, विना कांटों के बाड़ बनाना चाहता है, विना धन के धनपति कहाना चाहता है, विना द्वार के प्रवेश करना चाहता है, विना वाहन के सवारी करना चाहता है, जिह्वा विना बोलना चाहता है, विना पतवार नाव चलाना चाहता है। जिस प्रकार ये सभी उपाय अकार्यकारी, व्यर्थ हैं, उसी प्रकार विना सम्यग्दर्शन के मोक्षमार्ग की अभिलाषा भी व्यर्थ है ।।६७।।

शुद्ध दर्शन की महिमा—

वरचक्रवर्तिपद्विग-
मुरुगीर्वाणाधिपतिय सद्विभवक्कं-
परमार्हन्त्य पदक्कं-
परमार्थं शुद्धदर्शनं मत्तमोद्ल् ।।६८।।

अर्थ—श्रेष्ठी चक्रवर्ती पद, उत्तम इन्द्र पद, उत्तम वैभव की प्राप्ति एवं परम अर्हन्त पद की प्राप्ति के लिए मूल कारण शुद्ध सम्यग्दर्शन है।

श्री समन्तभद्र आचार्य ने कहा है कि—

न सम्यक्त्वसमं किंचित्, त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व-समं नान्यत्तनूभृताम् ॥

अर्थ—तीनों लोकों और तीनों कालों में सम्यक्त्व के समान और दूसरा कोई पदार्थ प्राणियों का कल्याणकारी नहीं है और मिथ्यात्व के समान कोई अकल्याणकारी नहीं है।

सिद्धांतसार में भी कहा है कि–

संसारसागरे भीमे दुःखकल्लोलसंकुले ।
संतो रत्नानि गृह्णन्ति परे मज्जन्ति लोष्ठवत् ॥८॥
तत्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयं हितम् ।
तद्वन्तः सर्वदा सन्तः कथयन्ति जिनेश्वराः ॥९॥
लब्धं जन्मफलं तेन सार्थकं तस्य जीवितम् ।
येनावाप्तमिदं पूतं रत्नत्रयमनिन्दितम् ॥१०॥
श्रीमत्समन्तभद्रस्य देवस्यापि वचोऽनघम् ।
प्राणिनां दुर्लभं यद्वन्मानुषत्वं तथा पुनः ॥११॥
सुदुर्लभमपि प्राप्तं तत्कर्मप्रशमादिह ।
न ये धर्मरता मोहाद्वा हता हन्त ते नराः ॥१२॥
धर्मादवाप्तसत्सौख्या न धर्मं कथितं पुनः ।
शतशोऽपि विजानन्ति ये ते किं न विजातयः ॥१३॥
विषयेषु रता दीना यथा क्लिश्यन्त्यहर्निशम् ।
धर्मार्थं क्लिश्यतां तद्वत्क्षणेनापि न किं सुखम् ॥१४॥
स्वर्गापवर्गसौख्यानां कारणं परमं मतः ।
धर्म एव सतां मान्यो मन्यन्ते तमतो बुधाः ॥१५॥

अर्थ–जो सम्यग्दृष्टि सज्जन हैं वे नाना दुःखरूप तरंगों से भरे हुए भयानक संसार समुद्र में सम्यग्दर्शनादि गुण रत्नों को ग्रहण करते हैं परन्तु जो दुर्जन हैं वे उसमें मिट्टी के ढेले के समान डूबते हैं।

इसलिए इस संसार में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय ही आत्मा का हित करता है। जो भव्य जीव इसे धारण करते हैं उन्हें जिनेश्वर सज्जन कहते हैं। जिसने यह पवित्र और प्रशंसनीय रत्नत्रय प्राप्त किया है उसे मनुष्य जन्म का फल प्राप्त हुआ और उसका जीवित सार्थक हुआ है।

जैसे प्राणियों को मनुष्य जन्म दुर्लभ है वैसे ही भावी तीर्थंकर समन्तभद्राचार्य का पूर्वापर विरोधादि दोषों से रहित वचन भी दुर्लभ है। परन्तु कुछ अशुभ कर्म शान्त होने से उनका सुदुर्लभ वचन पाकर भी जो मनुष्य मिथ्या कर्म के उदय से धर्म में तत्पर नहीं होते हैं, हा! वे मोह से मारे गये हैं।

पूर्वार्जित धर्म से जिन्हें सुख प्राप्त हुआ है ऐसे मानव, धर्माचार्य द्वारा धर्म का स्वरूप सौ बार कहा जाने पर भी उसे नहीं जानते हैं वे क्या विजाति यानी–विफल मनुष्य जन्म वाले नहीं हैं? अथवा—वि-पक्षी की जाति वाले यानी-पक्षी (पशु) नहीं हैं?

विषयासक्त दीन लोग विषय-प्राप्ति के लिए जैसे हमेशा दुःख सहते हैं, धर्म के लिए यदि वे वैसा दुःख एक क्षण भी सहें तो क्यों सुखी वे नहीं होंगे? धर्म; स्वर्ग और मोक्ष सुख का प्रधान कारण है। सज्जनों को धर्म ही मान्य होता है अतः विद्वान् लोग उसे मानते हैं और उसको स्वीकार करते हैं।

और भी—

तं परीक्ष्यात्र गृह्णन्ति प्रेक्षावन्तः प्रयत्नतः।
वंचनाभयतो रत्नं यथा रत्नपरीक्षकः ॥१६॥

अधर्मोऽपि मतो धर्मो मत्यज्ञानादिदोषतः।
अत एव परीक्ष्येमं न गृह्णन्ति महाधियः ॥१७॥

हेयोपादेयबुद्धीनां सतामानन्दवर्तिनाम्।
न पारम्पर्यतो धर्मः प्रमाणं जातु जायते ॥१८॥

कुलायातमपि त्याज्यमवद्यमतिनिन्दितम्।
मूर्खापवादमात्रोक्तदोषोऽनन्तगुणा गुणाः ॥१९॥

धर्मे धर्मफले रागो द्वेषस्तदितरे महान्।
यः करोति नरः प्राज्ञः सफलं तस्य जीवनम् ॥२०॥

सर्वसौख्याकरं सम्यगैश्वर्यमविनिन्दितम्।
लब्ध्वा सन्तस्त्यजन्त्येव कुलदोःस्थित्यमञ्जसा ॥२१॥

कुलजोऽकुलजो वापि धर्मो ग्राह्यः सतां मतः ।
न च पक्षवशादेष लभ्यते केनचित्क्वचित् ॥२२॥
कुलायातं महाकुष्ठं सर्वाङ्गानां विनाशकम् ।
नीरोगत्वं समासाद्य त्यज्यते किं न धीमता ॥२३॥
कुलधर्मरता दीना विचारातिगता भुवि ।
के के न दुर्गतिं प्राप्ता यशोधरनृपादयः ॥२४॥
गुरूणां गुरुबुद्धीनां निःस्पृहाणामनेनसाम् ।
विचारचतुरैर्वाक्यैः सोऽपि संगृह्यते बुधैः ॥२५॥

जैसे कि रत्नपरीक्षक वंचना (ठगे जाने) के भय से परीक्षा करके रत्न ग्रहण करते हैं वैसे ही बुद्धिमान लोग धर्म की परीक्षा कर प्रयत्न से उसे ग्रहण करते हैं। कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि ज्ञान के द्वारा लोग अधर्म को भी धर्म समझते हैं। इसलिए महाबुद्धिमान् लोग अधर्म की परीक्षा करके उसे छोड़ देते हैं। ग्राह्य अग्राह्य का निर्णय करने वाले लोग कुल-परम्परा से चले आये धर्म को आंख मींच कर कभी ग्रहण नहीं करते, न उसे प्रमाण मानते हैं। कुल-परम्परा से जो अतिशय निन्द्य हिंसा, द्यूत (जुआ खेलना) आदि पाप चले आये हैं, उनको छोड़ना चाहिए और मूर्खों के द्वारा बुरा कहने मात्र से अनन्त गुणों वाला धर्म नहीं छोड़ना चाहिए।

जो धर्म में तथा धर्म से प्राप्त सुखादि फलों में प्रीति रखता है तथा अधर्म और उसके फल को त्याज्य समझता है, वह पुरुष प्राज्ञ व विवेकी समझना चाहिए, उसका ही जीवन सफल है।

सर्व प्रकार के सुख देने वाला वैभव प्राप्त होने पर सज्जन पुरुष कुल-परम्परा से चली आई दरिद्रता को शीघ्र छोड़ते हैं। सज्जन जो धर्म मानते हैं, वह कुल-परम्परा से प्राप्त हो या न हो, उसे ग्रहण करना चाहिए। ऐसा प्रशंसनीय धर्म किसी दुष्पक्ष-वश कहीं नहीं मिलता। आरोग्य प्राप्त होने पर आनुवंशिक (वंश परम्परा से आये हुए) हाथ पांव आदि अवयवों को गलाने वाले महाकुष्ठ रोग को क्या विद्वान नहीं छोड़ते? तात्पर्य यह है कि कुल-परम्परा से आया हुआ अधर्म भी कुष्ठ रोग के समान छोड़ना ही चाहिए।

अधर्मरूप कुलधर्म का पालन करने वाले, दीन, विचारहीन यशोधर राजा आदि कितने ही लोग दुर्गति को प्राप्त हुए हैं।

जो निःस्पृह हैं, पापरहित हैं, और हेय-उपादेय समझने वाली विशाल बुद्धि के धारक हैं, ऐसे गुरुओं के विचार चतुर उपदेशों से बुधजन आत्म-हितकर धर्म को ग्रहण करते हैं।

वैभवं सकलं लोके सुलभं भववर्तिनाम् ।
तत्वार्थदर्शिनां दृष्ट्या गुरूणां दुर्लभं वचः ॥२६॥
अज्ञानान्धतमस्तोमविध्वस्ताशेषदर्शनाः ।
भव्याःपश्यन्ति सूक्ष्मार्थान्गुरुभानुवचोंऽशुभिः ॥२७॥
मिथ्यादर्शनविज्ञानसन्निपातनिपीडनात् ।
गुरुवाक्यप्रयोगेण सर्वे मुंचन्ति मानवाः ॥२८॥
संसारार्णवमग्नानां कर्मयादोऽभिभाविनाम् ।
भविनां भव्यचितानां तरण्डं गुरवो मताः ॥२६॥
भववार्द्धिं तितीर्षन्ति सद्‌गुरुभ्यो विनापि ये ।
जिजीविषन्ति ते मूढा नन्वायुःकर्मवर्जिताः ॥३०॥
अन्तमुहूर्तकालेऽपि विविधासु च योनिषु ।
भ्रमन्ति भविनो नित्यं गुरुवाक्यविमोचिनः ॥३१॥
सर्वशास्त्रविदो धीराः सर्वसत्वहितंकराः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता गुरवो गरिमान्विताः ॥३२॥
सद्‌दृष्टिज्ञानसद्‌वृत्तरत्नत्रितयनायकैः ।
कथितो परमो धर्मः कर्मकक्षक्षयानलः ॥३३॥
श्रद्धानं शुद्धवृत्तीनां देवतागमलिङ्गिनाम् ।
मौढ्यादिदोषनिर्मुक्तां दृष्टिं दृष्टिविदो विदुः ॥३४॥

जीवों को इस जगत में संपूर्ण वैभव सुलभता से प्राप्त होता है किन्तु तत्ववेत्ता पुरुषों की दृष्टि से गुरुओं के वचन दुर्लभ हैं। गुरु रूपी सूर्य के वचन-किरणों से भव्यजीव सूक्ष्म पदार्थों को देखते हैं। गुरुउपदेश के प्रयोग से सर्व मनुष्य मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानरूपी सन्निपात ज्वर की पीड़ा से मुक्त हो जाते हैं। संसार समुद्र में डूबे हुए तथा कर्मरूपी मगर मत्स्यादिकों से पीड़ित हुए भव्यचित्त जीवों को गुरु नौका के समान संसार-तारक होते हैं।

सद्गुरु के विना भी जो संसार समुद्र से तैर जाने की इच्छा करते हैं वे मूढ़ जीव आयु कर्म से रहित होकर भी जीने की इच्छा करते हैं। जिन्होंने गुरु-उपदेश का उल्लंघन किया है वे लोग अन्तर्मुहूर्त काल में भी अनेक योनियों में क्षुद्रभव धारण कर भ्रमण करते हैं। (एक अन्तर्मुहूर्त के क्षुद्रभव छयासठ हजार तीन सौ छत्तीस होते हैं)।

वे सद्गुरु सर्वशास्त्रों के ज्ञाता, धीर, सर्व प्राणियों को हित का उपाय कहने वाले, रागद्वेष रहित तथा अहिंसा सत्य, शील आदि गुणों के गौरव को धारण करते हैं।

श्री समन्तभद्र आचार्य ने गुरु का लक्षण बतलाया है–

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्त-, स्तपस्वी सः प्रशस्यते ॥१०॥

अर्थ–जो पाँचों इन्द्रियों के विषयों की लालसा से रहित, खेती आदिक आरम्भ तथा बाह्य वा आभ्यन्तर परिग्रह का त्यागी और ज्ञान ध्यान तथा तप में तल्लीन होता है, वह सच्चा गुरु (सुगुरु) कहलाता है।

धन धान्य आदि १० प्रकार के बाह्य परिग्रह तथा क्रोधादिक अन्तरंग १४ परिग्रहों के त्यागी अर्थात् निर्ग्रन्थ हैं किन्तु ग्रन्थ (शास्त्र) से युक्त हैं। अर्थात् स्व-पर मतके ज्ञाता हैं जो कर्म भार नष्ट करने में लगे हुए हैं और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय कर्मों के क्षयोपशम होने से सम्यग्ज्ञानादि गुणों से जो सहित हैं, वे धर्मगुरु होते हैं। जिनको तीर्थंकर की दिव्य-ध्वनि धारण करने की क्षमता है, जो बीज ऋद्धिधारक होते हैं उनको 'गणधर' कहते हैं, वे परमगुरु हैं। उनके प्रतिपादित तत्वों पर श्रद्धान रखना सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन के २५ दोष—छह अनायतन, तीन मूढ़तायें, शंकादिक आठ दोष और

आठ प्रकार का गर्व; ये सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष हैं। क्योंकि ये सम्यग्दर्शन को मलिन करते हैं।

अनायतन का स्वरूप—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र ये तीन तथा इनके धारक अर्थात् मिथ्यादृष्टि पुरुष, मिथ्याज्ञानी पुरुष, तथा मिथ्याचारित्र वाले तपस्वी, इन छहों को विद्वानों ने 'अनायतन' कहा है। ये छहों सम्यग्दर्शन के आयतन यानी-आश्रय स्थान नहीं हैं, क्योंकि इनके संसर्ग से सम्यग्दर्शन मलिन होता है।

देवमूढ़ता—जिनमें काम, क्रोध, लोभ, गर्व, कपट और विनोद, हास्य रति आदिक दोष विद्यमान हैं ऐसे दुर्भावदूषित पिशाच आदि कुदेव होते हैं उनकी पूजा श्रद्धा करने से भी सम्यग्दर्शन मलिन होता है।

मूर्ख पुरुष 'वन्दने योग्य कौन हैं और अवन्द्य (अपूज्य) कौन हैं, इसका भेद नहीं जानते। यदि उनको भेदज्ञान होता तो वे लोग पृथ्वी, अग्नि, गाय, सर्प, नदी, देहली पीपल आदि को देव न समझते। विद्वान बुद्धिमान व्यक्ति को कुदेव तथा सुदेवादि का स्वरूप-भेद जानकर अपना सम्यग्दर्शन निर्मल रखना चाहिए।

गुरुमूढ़ता—गुरु के स्वरूप को न जानने वाले पुरुष मिथ्याचारित्रधारियों को गुरु समझते हैं। जटाजूट, रखना, पंचाग्नि तप करना, नदी में स्नान करना, परिग्रह रखना इत्यादिक मिथ्याचार है। जो ऐसे मिथ्याचार को आचरण करते हैं तथा जिनके परिणाम क्रूर, हिंसामय होते हैं- जो यज्ञ में पशु-वध करने का भी उपदेश देते हैं, ऐसे लोगों को गुरु समझना गुरुमूढ़ता है।

समयमूढ़ता—जिनमें याज्ञिक हिंसादिक आरम्भों का वर्णन मिलता है। जिससे कि वे सम्पूर्ण प्राणियों को भय उत्पन्न करते हैं, ऐसे शास्त्रों को जो धर्मग्रन्थ मानते हैं और उनकी श्रद्धा को आदरणीय समझते हैं, वह समयमूढ़ता है। मूढ़ अज्ञानी मनुष्य आगे आये हुए जिस किसी मनुष्य को भी देखता है, चाहे वह दुष्ट पाखंडी हो अथवा सच्चरित्र साधु हो, उसको वन्दना करता है, उसको सुगुण-दुर्गुण का विवेक नहीं होता। इस देव शास्त्र गुरु की मूढ़ता से यह जीव अनन्त संसार में घूमने वाला होता है।

विशद विवेचन—

सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं १—निसर्गज सम्यग्दर्शन और २—अधिगमज सम्यग्दर्शन।

तथा च उसके १—औपशमिक सम्यग्दर्शन, २—क्षायिक सम्यग्दर्शन, ३—क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन, ऐसे तीन भेद भी निरूपित किये हैं।

निसर्गज सम्यग्दर्शन—

पूर्वभव में धर्मदेशना सुनकर जो तत्वस्वरूप, आत्मज्ञान प्राप्त हुआ हो, उस संस्कार से अन्य भव में बिना किसी उपदेश के जो सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

मिथ्यात्व, सम्यक्-मिथ्यात्व, सम्यक्-प्रकृति, ये तीन दर्शन मोहनीय की प्रकृतियाँ और चारित्र मोह की अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ये मिलकर सात प्रकृतियों के उपशमादि होने पर परोपदेश के विना आत्मा का आत्मा में आत्मा के द्वारा जो श्रद्धान होता है, उसे निसर्गज सम्यक्त्व कहते हैं। सबसे पहले उपशम सम्यग्दर्शन होता है। उस समय अनादि मिथ्यादृष्टि के दर्शन मोहनीय की केवल एक मिथ्यात्व प्रकृति होती है, अतः अनादि मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ इन ५ प्रकृतियों का उपशम करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है।

गणधर आदि रत्नत्रयधारी सद्गुरुओं ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहा है, जो कि कर्मवन को दग्ध करने के लिए अग्नि के समान है।

शुद्धस्वभाव को धारण करने वाले जिनेन्द्रदेव, जिनेन्द्र के द्वारा कहा हुआ आगम-शास्त्र और शुद्ध आचरण करने वाले निर्ग्रन्थ गुरु के निर्दोष श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

सम्यग्दर्शन का महत्व बताते हैं—

आदर्शनमेंतप्पुदेंदोडे ॥६९॥

अमर्दष्टादशदोषवर्जितनवं सर्बज्ञनिं द्राचित-
क्रमनंतातने पेळ्दुदागमविमळालोकैकपूज्यं तदा- ।
गमदोंदर्थमे तत्वमेंदु नयदिं कैकोंडु नंबिर्पुदु-
त्तम सौख्यान्वितमप्पनिर्वृतिश्रीस्पर्शनं दर्शनम् ॥७०॥

अर्थ—जो सौ इन्द्रों के द्वारा पूजनीय हैं, एवं अठारह दोषों से रहित हैं ऐसे भगवान

जिनेन्द्रदेव के मुखकमल से विनिर्गत पवित्र वाणी के अर्थ को तत्व कहते हैं। क्रम से कहे हुए तत्व के ऊपर अचल श्रद्धान रखना और व्यवहार तथा निश्चयनय मार्ग से उसे समझ कर स्व-आत्म-अनुभूति करना तत्वश्रद्धान है। यह तत्व-श्रद्धान (सम्यग्दर्शन) तीनों लोकों में पूजनीय है, अविनाशी सुख-शान्ति रूप मोक्षसुख को देने वाला है।।७०।।

निसर्गज सम्यक्त्व में पूर्वभव में मिला हुआ गुरु का उपदेश कारण पड़ता है। पूर्वभव का स्मरण, वेदना का अनुभव, धर्मश्रवण, जिनप्रतिमा का अवलोकन, महामहोत्सव देखना, महाऋद्धिधारी आचार्यों की वन्दना आदि कारणों से मनःखेद के विना जीवादिक पदार्थों का यथार्थ श्रद्धान प्राप्त होता है किन्तु अन्तरंग कारण दर्शनमोह आदि सप्त प्रकृतियों के उपशम आदिक यदि न हों तो उपर्युक्त कारण मिलने पर भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती।

अधिगमज सम्यग्दर्शन–

गुरु से प्रमाण, नय द्वारा जीवादि पदार्थों का कहा गया स्वरूप सुनकर जो जीव उसका मनन, चिन्तन करता है, तब उसके मन में उज्ज्वल आत्म-ज्योति (सम्यग्दर्शन) उत्पन्न होती है। अतः गुरुउपदेशपूर्वक होने से उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं। अधिगमज में अन्तरंग कारण दर्शन मोहादि का उपशम अथवा क्षय या क्षयोपशम तथा बाह्य कारण गुरु का उपदेश होता है।

संशयादिक दोषरहित जीवादि पदार्थ जानना यह प्रमाण है। तथा वस्तु के नित्यत्व आदि धर्मों में से एक धर्म को जानना नय है। नय जिस धर्म को जानता है, उसे मुख्यता और अन्य धर्मों को गौणता प्राप्त होती है। प्रमाण पूर्ण वस्तु को जानता है, अतः उसमें गौणता, मुख्यता का प्रश्न नहीं।

वचनभेद, नयवाद और पर-समय–

जितने वचनभेद हैं, उतने नयवाद हैं। जितने नयवाद हैं उतने परसमय हैं। ब्रह्मवाद, भेदवाद, नित्यवाद, अनित्यवाद आदि सभी परसमय हैं। अन्य विरोधी नय से निरपेक्ष जो नय वस्तुओं को सर्वथा नित्य-अनित्य, एक-अनेक रूप मानते हैं, वे मिथ्या हैं। परन्तु जब सर्वथा पक्ष छोड़ कर नय कथंचित् पक्ष से वस्तु को कथंचित् नित्य, अनित्यादिरूप जानते हैं तब उनमें सत्यता, या प्रामाणिकता आ जाती है।

उपशम सम्यग्दर्शन–

सम्यक्-प्रकृति-मिथ्यात्व तथा मिश्रसम्यक्त्व एवं मिथ्यात्व इन तीन दर्शन मोहनीय प्रकृतियों का तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, और लोभ इन चार कषायों का जब उपशम होता है, तब जैसे कतकद्रव्य (फिटकरी) से मैला पानी निर्मल होता है, वैसे ही जो सम्यग्दर्शन निर्मल होता है, उस सम्यग्दर्शन को औपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं।

विशेषार्थ–

मिथ्यादर्शन अनन्त संसार का कारण है, इसलिए उसे अनन्त कहते हैं उसके सम्बन्ध से युक्त जो कषाय हैं, उन्हें अनन्तानुबन्धी कहते हैं। मिथ्यात्वप्रकृति सम्यग्दर्शन को नष्ट करती है। सम्यक्मिथ्यात्व (मिश्र) प्रकृति जीव में एक समय में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों के मिश्र परिणाम उत्पन्न करती है तथा सम्यक् प्रकृति जीव में सम्यग्दर्शन को प्रकट होने में तो बाधा नहीं करती किन्तु सम्यग्दर्शन में चल मलिनादि दोष उत्पन्न करती है। इन सातों प्रकृतियों के पूर्ण उपशम से प्रकट हुए सम्यक्त्व में ये दोष नहीं रहते। ऐसे सम्यक्त्व को उपशम-सम्यक्त्व कहते हैं। इससे जीवादि तत्वों का तथा स्व-आत्मद्रव्य का श्रद्धान निर्मल होता है।

क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन–

सम्यग्दर्शन की घाती सातों प्रकृतियों का पूर्ण नाश होने से प्रकट हुआ सम्यक्दर्शन सदा निर्मल रहता है। ऐसे सम्यक्दर्शन में शंकादि दोष नहीं रहते। उसे प्रक्षीण पाप वाले जिन-देव 'क्षायिकसम्यग्दर्शन' कहते हैं। क्षय और उपशम होने से क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन उभयात्मक होता है। अनन्तानुबन्धी चार कषाय, मिथ्यात्व तथा सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय होने से तथा आगामी काल में उदय में आने वाले इन प्रकृतियों का सत्ता में उपशम होने से एवं सम्यक् प्रकृति के देशघाती स्पर्द्धकों का उदय होने से जो तत्वार्थ में श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन या वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं।

उपर्युक्त सातों प्रकृतियों का क्षय होने से उत्तम क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। इसका कभी भी नाश न होने से वह साद्यनन्त है। औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन साधनभूत हैं। अर्थात् इनकी उत्पत्ति नहीं होगी तो क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होगा। प्रथमतः संसारी जीवों को औपशमिक सम्यक्-दर्शन होता है। औपशमिक

सम्यक्त्व के बाद में तत्काल या कुछ काल पश्चात् क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक सम्यक्त्व या औपशमिक सम्यक्त्व होता है . बीच-बीच में मिथ्यात्व या मिश्र भी हो सकता है। क्षायिक की उत्पत्ति में उक्त दोनों सम्यक्त्व साधन हैं और क्षायिकसम्यक्त्व साध्यरूप है।

सम्यग्दर्शन किसको उत्पन्न होता है :-

जिसको स्पर्शनादि पाँचों इन्द्रियों की प्राप्ति हुई है, जो पर्याप्त है, सनी है, जाग्रत दशा में है तथा जिसे काल आदि लब्धियां प्राप्त हुई हैं, ऐसे भव्य को सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है, संज्ञी, पंचेन्द्रिय और कालादि लब्धियां प्राप्त न होने पर भी भव्यता रहती है तथापि, वह अकेली सम्यग्दर्शन को प्रकट नही कर सकती। इसका सार यह है कि अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यग्दर्शन की प्रतिबन्धक प्रकृतियों का उपशम समस्त लब्धियों के प्राप्त होने से होता है। कर्मों से घिरे हुए भव्यात्मा के अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल अवशिष्ट रहने पर प्रथम सम्यक्त्व होता है।

पाँच लब्धियां

अन्तरंग बहिरंग (उपादान और निमित्त) कारणों के मिले जाने पर जब कोई कार्य बन जाता है, तब उसको उस कार्य की 'लब्धि' (लाभ) कहते है। इनके सिवाय लब्धि और कोई वस्तु नहीं है।

सम्यग्दर्शन होने के भी जब निमित्त उपादान कारण मिलते हैं तब उन कारणों को सम्यग्दर्शन की 'लब्धि' कहा जाता है।

सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करने वाली लब्धियां पांच हैं– १. क्षयोपशम, २. विशुद्धि, ३. देशना, ४. प्रायोग्य, और ५. करण।

क्षयोपशम–आत्माकी शुद्धिके लिएजीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप, संसार, मोक्ष, आराध्य देव, शास्त्र, गुरु, मिथ्यात्व, सम्यक्त्व आदि बातों को समझने योग्य ज्ञानावरण, अन्तराय आदि कर्मों का क्षयोपशम होना 'क्षयोपशम' लब्धि है। उदय में आने वाले कर्मों के सर्वघाती अंशों का उदय न आना (बिना फल दिए चला जाना), इस रूप से उनका 'क्षय' और भविष्य में वैसे ही सर्वघाती अंशों (स्पर्द्धकों) का सत्ता में रहे आना, इस रूप से उनका 'उपशम' होना तथा देशघाती कर्म-अंशों का उदय (फल देना) इन क्षय, उपशम और उदय की सम्मिलित अवस्था को क्षयोपशम कहते हैं। क्षयोपशम दशा में न तो आत्मा के गुण का पूर्ण घात होता है और न पूर्ण विकास होता है।

जैसे कि संसारी जीवों का ज्ञान गुण। तदनुसार संज्ञी, पंचेन्द्रिय, पर्याप्तआदि होना 'क्षयोपशम लब्धि' है।

विशुद्धि—क्रोध, मान, माया आदि कषाय भावों के मन्द उदय से आत्मा में आत्म-श्रद्धा करने के अनुरूप परिणामों में विशुद्धता प्रगट होना 'विशुद्धि' लब्धि है।

देशना—आत्मा की रुचि कराने वाले बाहरी साधनों का मिलना, केवली, श्रुतकेवली, मुनि आदि का उपदेश मिलना, जिनवाणी का सुनना आदि 'देशना' लब्धि है। मनुष्य, तिर्यञ्च तथा देवों को देशना के अवसर सरलता से मिल जाते हैं। नरकों में पहले भव के संस्कार कार्यकारी होते हैं।

प्रायोग्य—जब पहले बन्धे हुए कर्मों की स्थिति अन्तः-कोटाकोटि सागर (करोड़ को करोड़ से गुणा करके जो संख्या होती है वह कोटाकोटि है। उस कोटा कोटि के भीतर जो संख्या होती है उसे अन्तः कोटाकोटि कहते हैं।) प्रमाण रह जावे तथा नवीन बंधने वाले कर्मों की स्थिति अन्तः कोटाकोटि सागर से संख्यातवें भाग कम पड़ती जावे, कुछ पाप कर्म प्रकृतियों का बन्ध न हो, ऐसी दशा का नाम 'प्रायोग्य' लब्धि है।

ये चार लब्धियां अनेक बार भव्य जीवों तथा अभव्य जीवों के हो जाती हैं किन्तु उनको सम्यग्दर्शन नहीं हो पाता। इन चारों लब्धियों के साथ जब भव्य जीव को पांचवी करण लब्धि भी हो जाती है तब सम्यग्दर्शन होता है।

करण लब्धि—'करण' शब्द का अर्थ 'आत्मा के परिणाम' हैं। तदनुसार आत्मा के जिन परिणामों के द्वारा सम्यग्दर्शन अवश्य हो जाता हे उन परिणामों का नाम 'करण लब्धि' है। इसकी तीन श्रेणी या भेद हैं—१. अधः करण, २. अपूर्व करण, ३. अनिवृत्ति करण।

अधःकरण—जब आत्मा के परिणामों की विशुद्धता क्रम से तथा अक्रम से बढ़ती है यानी किसी करण-लब्धि वाले जीव के परिणाम पहले ही समय में अन्य करण-लब्धि-वाले जीव के दूसरे तीसरे आदि समयों के परिणामों के समान भी हो सकें। अर्थात् विभिन्न जीवों के पूर्ववर्ती उत्तरवर्ती परिणामों में समानता भी आ सके, उन परिणामों को 'अधः-करण कहते हैं। अधःकरण का समय अन्तर्मुहूर्त है।

अपूर्वकरण—प्रत्येक जीव के परिणाम प्रतिसमय अपूर्व-अपूर्व (पहले जैसे कभी न हुए हों, ऐसे विशुद्ध, परिणामों का होते जाना अपूर्वकरण है। इस करण में परिणामों की

विशुद्धता प्रतिसमय अनन्तगुणी बढ़ती जाती है। इसका समय अधःकरण से कम अन्तर्मुहूर्त है।

अनिवृत्तिकरण—जहाँ प्रतिसमय के निश्चित विशुद्धि-रूप परिणाम होते हैं, अनेक व्यक्तियों के भी परिणाम एक दो आदि समय में एक समान होते हैं, उनमें कुछ अन्तर नहीं होता, उन परिणामों का नाम 'अनिवृत्तिकरण' है। इसका समय भी अन्तर्मुहूर्त है परन्तु अपूर्वकरण से भी कम है।

इन तीनों करणों के द्वारा कर्मों का बल क्षीण होता जाता है, उनका अनुभाग, स्थिति घटती जाती है, बहुत भारी निर्जरा होती जाती है और आत्मा का बल बढ़ता जाता है, आत्मा के गुणों का विकास होता जाता है। मिथ्यात्व मोहनीय कर्म की शक्ति हीन होती जाती है। अतः अनिवृत्तिकरण के अन्त में मिथ्यात्व का अन्तर्मुहूर्त के लिये पूर्ण उपशम हो जाता है, तब अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के सब से पहले आत्म-अनुभूति रूप सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। जिसको कि 'प्रथम उपशम सम्यक्त्व' कहते हैं।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में जातिस्मरण, गुरूपदेश, वेदानुभव आदि भी कारण पड़ते हैं।

जिस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से अन्तर्मुहूर्त में त्रैलोक्यवन्द्य पंचकल्याणक की प्राप्ति हो सकती है अर्थात् तीर्थंकर पद का बन्ध होता है जिससे कि गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान तथा मोक्ष ये पंचकल्याणक प्राप्त होते हैं अथवा मोक्षप्राप्ति के लिये जो कारण है, ऐसा सम्यग्दर्शन क्या दुर्लभ नहीं? अर्थात् उसकी प्राप्ति होना कठिन है। गौतम गणधर कहते हैं कि इसलिए हे भव्यशिरोमणि श्रेणिक! मनुष्यजन्म प्राप्त करने के बाद सम्यक्त्व विना दान, तप, संयम, उपवास आदि क्रियायें व्यर्थ हैं। श्रेणिक! इस सम्यक्त्व की महिमा और भी सुनो—

> विदितं दर्शनमुल्लवंगे भवनज्योतिष्करा व्यन्तरा-
> स्पदमल्पायायुमनंगतापमवलत्वं निर्धनत्वं दुरा-।
> स्पद भोगावनिजत्वमुग्रनरकं तावागर्वेदुंदु लो-
> कदोलार्वणिणपरराणदर्शनदोलादैवश्वर्यमं स्थैर्यमं ॥७१॥

अर्थ—जिस भव्यजीव को सम्यग्दर्शन हो जाता है वह भवनवासी, ज्योतिष्क, व्यन्तर-देव, प्रथम नरक के सिवाय अन्य नारकजीव, स्थावर, विकलत्रय तिर्यंच, नपुंसक, स्त्री,

दुष्कुल, विकृतांग, अल्पायु तथा दीन, दरिद्री नहीं होता। इस प्रकार सम्यग्दर्शन की बड़ी भारी महिमा है। कहा भी है–

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां भजन्ति नाप्यव्रतिकाः॥

अर्थ–जो जीव सम्यग्दर्शन से शुद्ध होते हैं वे यद्यपि व्रती न भी हों फिर भी वे नारकी, तिर्यंच, नपुंसक, स्त्री, नीच कुली, विकृत अंगधारी, अल्पायु और दीनदरिद्री नहीं होते। यदि सम्यग्दर्शन होने से पहले नरक की आयु बांध ली हो तो पहले नरक से नीचे के नरकों में नहीं जाते।

हे श्रेणिक और भी सुनो–

भटसंघक्कदटेंतुटंतुटे मुखाम्भोजक्के मूगेंतुटं।
तुटे बिित्तिंगेलेयेतुटंतुटे महाभैत्रक्के कीलेंतुटं।
तुटे कैगंगुलियेंतुटंतुटे लसद्दीपक्के संदेरणे यें-
तुटुतानंतुटे दर्शनं सकलधर्मक्कं धराचन्द्रदोळ्॥७२॥

अर्थ–विना सम्यग्दर्शन के मनुष्य की शोभा नहीं है। जिस प्रकार सेना हो, किन्तु सेनापति न हो तो सेना शोभारहित होती है, मुख है किन्तु यदि नाक नहीं है तो मुख की शोभा नहीं होती, अंगूठी के विना अंगुली शोभायमान नहीं लगती, जिस प्रकार विना धुरी के गाड़ी चलने में समर्थ नहीं, हाथ जिस प्रकार अंगुली विना शोभा नहीं देता, विना तेल के जिस प्रकार दीपक प्रकाश नहीं देता, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् के मानवों की शोभा सम्यग्दर्शन के विना नहीं है॥७२॥

पटुदेहक्कसुवेंतुटंतुटे कुजानीकक्के बेरंतुटं
तुटे करणगलियदेंतुटंतुटे तटकक्केरितानेंतुटं।
तुटे कालिंगडियेंतुटंतुटे चिरवासक्कधिष्ठानमें
तुटु तानंतुटे दर्शनं सकलधर्मक्कं महीचक्रदोळ्॥७३॥

अर्थ–शक्ति विना शरीर की शोभा नहीं, सुकुल विना मनुष्य की शोभा नहीं है, जड़ विना वृक्ष की शोभा नहीं है, आंख के विना मुख की शोभा नहीं है, मोहल्ले विना गांव की

शोभा नहीं है, विना सुन्दर चाल के पांव की शोभा नहीं है, अपने घर के विना चिरप्रवासी की शोभा नहीं है, उसी तरह धर्म की शोभा सम्यग्दर्शन के विना नहीं है।

सुदतियरिल्लदोलगदलीलेमनोहरमप्पपुत्ररि-
ल्लदमनेवाळ्ते सारमिल्लद बाविविशेषदुर्गमि- ।
ल्लद महिपालनुप्रते जनोन्नतियिल्लदनाडु कूमे यि-
ल्लदनिजकान्ते सत्यदयेयिल्लद धर्ममदोप्पलार्कुमे ॥७४॥

अर्थ—सुन्दर स्त्री और लीला विनोद उत्पन्न करने वाले पुत्र के विना घर, जल रहित कूप, विशेष दुर्ग अर्थात् किले के बिना राजा, जनोन्नति विना देश, विश्वस्त भार्या के विना पुरुष, दया के विना धर्म जिस प्रकार कभी शोभा नहीं पाता ॥७४॥

गद्य—कंपिल्लद तुप्पमु पेंपिल्लद प्रभुत्वमं स्नेहमिल्लदकोडु मोह-मिल्लद वाळु भक्तियिल्लद कोंडाटमु शक्तियिल्लद सणसु नाडिल्लद-सिरियु नाडिल्लदरसु फलमिल्लद तोटमु कुलमिल्लदमहिमेयु वट्टे-यिल्लदपयणमु पट्टणमिल्लद राज्यमु किच्चिल्लदडुगेयु नच्चिल्लदपेंडतियु दयियिल्लद नगळ्तेयु नयमिल्लद सेवेयु भंडमिल्लददंगडियु गण्डनिल्लद-सतियु मोदलिल्लदपरदं मदमिल्लददानेयु नीरिल्लदरु केरिल्लद मनेयु श्रुत-मिल्लद तपमु घृतमिल्लददूटमु सम्यग्दर्शनमिल्लददानमु तपमु जपमु धर्ममुमप्पलार्कुमे ? ॥७५॥

अर्थ—सुगन्धि के विना घी, ख्याति विना प्रभुत्व, स्नेह विना मैत्री, मोह विना बालक, भक्तिरहित स्तुति, शक्ति विना शूरवीरता, ऐश्वर्य विना श्रीमन्तता, राजा विना देश, फसल विना खेत, फलरहित उद्यान, कुलरहित महिमा, (महिमारहित कुल) बिना मार्ग के गमन, राज्यहीन नगर, विना अग्नि के ओदन (चावल), स्नेहरहित स्त्री, दयारहित आचरण, प्रेम विना (भक्ति विना) सेवा, विना भाण्डों के दूकान, पति बिना स्त्री, जुआ विना बैलों से हल जोतना, मदरहित हाथी, विना पानी के गाँव, विना वीथि का घर, श्रुत-ज्ञान रहित तप, घृत के विना भोजन शोभा नहीं देता और सम्यग्दर्शन के विना दान-तप-जप सभी शोभा नहीं देते हैं।

वदविद्भूपरिल्लदिळेंभोजनमिल्लद् बाडवस्त्रमि-
ल्लद् बहुभूषणं नयनमिल्लद् सूळे विशेषलाभमि ।
ल्लद् परदब्जमिल्लद्कोळं बेळिमिल्लद् धात्रिरक्षेयि-
ल्लद् नृपनाळ्केके दर्शनदोळंदद धर्ममुमप्पलार्कुमे ॥७६॥

अर्थ–हे राजन्, कान लगाकर, (उपयोगपूर्वक) सुनो । विना राजा के पृथिवी, विना भोजन के वृत्ति, बहुमूल्य वस्त्रों के विना आभूषण, अलंकार के विना वेश्या, विशेष लाभ के विना तोड़ा हुआ कमल पुष्प, कमल के बिना तालाब, फसल विना देश, रक्षा विना राजा का राजपद, जिस प्रकार व्यर्थ है, उसी प्रकार दर्शनरहित जो धर्म है, इस जगत् में वह कभी भी शोभा नहीं पाता ।

दुरितवशदिंदे तिर्रने-
तिरियदे सुखनिलयमप्पमुक्तिश्रियोळ् ।
नेरेदिपें नेंब भव्यं
परमादरदिंदे ताळ्युवुदु दर्शनमं ॥७७॥

अर्थ–पाप के वशीभूत होकर जीव भ्रमण करते हुए स्व और पर का ज्ञान करने का अवसर प्राप्त न होने के कारण अभी तक निजात्मसुख का उपाय ढूंढ रहा है, जो कि उसे प्राप्त नहीं हुआ है । इसलिए जो भव्य जीव चतुर्गतिक पाप से मुक्त होकर, सुख के आगर मोक्षरूपी वैभव को प्राप्त कर सदा सुखमय साधन में रत रहना चाहता है, ऐसे भव्यजीव को परम आदर के साथ शुद्ध दर्शन को ग्रहण कर लेना अत्यन्त आवश्यक है ॥७७॥

गद्य—आदर्शनसौख्यक्कष्टांगमुं शरीरक्कवयवमुं मरक्केशाखेयुमेंतंते निःशंकेयुं निष्कांक्षेयुं निर्विचिकित्सेयुं अमूढदृष्टित्वमुं उपगूहनमुं स्थितिकरणमुं वात्सल्यमुं धर्मप्रभावनेयुमेंदु ॥७८॥

अर्थ–इस पवित्र दर्शनशुद्धि के लिए जिस प्रकार शरीर में आठ अंग रहते हैं और शरीर की शोभा जिस प्रकार उन आठ अंगों से होती है, उसी प्रकार दर्शन की शोभा के लिए आठ अंगों की आवश्यकता है । जिस प्रकार अनेक प्रकारके फूल, पत्तोंकी शोभासे पेड़ शोभित होता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन भी आठ अंगों से शोभित होता है । निःशंका,

निष्कांक्षता, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और धर्मप्रभावना ये आठ अंग हैं ।।७८।।

विशेषार्थ—दर्शन विशुद्धि के लिए २५ मल दोषों का त्याग करना आवश्यक बताया है । जब तक सम्यग्दर्शन को मलीन करने वाले दोष रहते हैं तब तक सम्यग्दर्शन विशुद्ध नहीं होता ।

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का मूल सम्यग्दर्शन है । जब सम्यग्दर्शन होता है उसी समय ज्ञान और चारित्र को सम्यक्पना आ जाता है ।

तप से भी सम्यग्दर्शन की श्रेष्ठता—महान तपस्वी मुनिराज जब सम्यग्दर्शन से निर्मल होता है तब उसे आत्मा का अनुभव होता है । सम्यग्दर्शन से ही आत्मानुभूति होती है,तप से नहीं । अकेला तप शरीर को तो क्षीण करता है परन्तु वह आत्मा को स्वानन्द प्रदान नहीं करता । अतः सम्यग्दर्शन तप से श्रेष्ठ है ।

मिथ्यात्व के उदय से कुदृष्टि को कारणविपर्यास, स्वरूपविपर्यास तथा भेदाभेद-विपर्यास आदि होते हैं जिससे आत्मा पदार्थों का यथार्थ स्वरूप नहीं जान सकता। अतः सम्यग्ज्ञान के लिए दर्शन-विशुद्धि आवश्यक कही है । दर्शन-विशुद्धि से स्याद्वाद दृष्टि विदित होती है जिससे भव्य आत्मा आत्मानुभव के साथ वस्तुओं के कथंचित् नित्यानित्य स्वरूप को जान सकता है ।

इस जगत में सम्यक्त्व के समान और कोई गुण नहीं है । इसको प्राप्त करके मनुष्य संसार का विनाश करता है । सम्यग्दर्शन प्राप्त होकर छूट जाने पर भी मनुष्य दीर्घ संसार वाला नहीं रहता, उसका संसार अर्द्ध पुद्गल परावर्तन तक हो जाता है । उतने समय में वह अवश्य मुक्त हो जाता है । यदि क्षायिक सम्यक्त्व हो तो वह पुरुष अधिक से अधिक तीन भव में ही मुक्त हो जाता है । सम्यग्दर्शन के विना कदापि मुक्त नहीं हो सकता । सम्यक्त्व-रहित जीव चारित्र के बल से नवग्रैवेयक तक जाता है परन्तु वह भव-समुद्र से पार नहीं हो पाता । सम्यग्दर्शन के साथ चारित्र पालने वाले मुनिराज सर्वार्थसिद्धि में जाकर दूसरे भव में जन्म-मरण से मुक्त हो जाते हैं ।

सम्यग्दर्शन नाव के समान है । उसका आश्रय छोड़कर जो जीव केवल चारित्र पालता है, वह मुक्त नहीं होता । जैसे नौका का आश्रय छोड़कर नदी को पार नहीं किया जा सकता ।

सम्यग्दर्शन से रहित ज्ञान और चारित्र अज्ञान और अचारित्र होते हैं । इसलिए

सम्यग्दर्शन परम उत्कृष्ट है। सम्यग्दर्शन ही निर्मल सुख का मूल है।

संसार के दुखों का अन्त करने वाला यह जिनेश्वर का शासन जिनके हृदय में रहता है वह विद्वानजनों में श्रेष्ठ है। जिसके मन में सम्यग्दर्शन का उदय होता है वह मनुष्य सर्व जनों में श्रेष्ठ होता है, ऐसा समझना चाहिए।

निःशंकादि अष्ट गुणों से युक्त सम्यग्दर्शन आत्मा की अमूल्य निधि है।

सम्यग्दृष्टि ही चक्रवर्ती होते हैं–

नवनिधिसप्तद्वयरत्ना-धीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम्।
वर्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ॥३८॥

–रत्नकरण्ड श्रावकाचार

अर्थ–सम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्व के प्रभाव से चक्रवर्ती भी होते हैं जो नवनिधि तथा चौदह रत्नों और २० हजार देशों के समूह रूप पृथिवी के छह खंडों और चक्ररत्न के स्वामी होते हैं। ३२ हजार मुकुटबद्ध राजा जिसके चरणों में सिर झुकाते हैं।

सम्यग्दृष्टि ही तीर्थङ्कर होते हैं—

अमरासुरनरपतिभि-र्यमधरपतिभिश्च नूतपादाम्भोजाः।
दृष्ट्या सुनिश्चितार्था, वृषचक्रधरा भवन्ति लोकशरण्याः ॥३९॥

अर्थ–सम्यग्दृष्टि जीव देवेन्द्र धरणेन्द्र, चक्रवर्ती तथा गणधरों से पूजनीय तीन लोक के शरणभूत तथा धर्मचक्र के धारक तीर्थङ्कर भी होते हैं।

सम्यग्दृष्टि ही मोक्षपद पाते हैं।

शिवमजरमरुजमक्षय-मव्याबाधं विशोकभयशंकम्।
काष्ठागतसुखविद्या-विभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणाः ॥४०॥

अर्थ–सम्यग्दृष्टि जीव मोक्ष भी पाते हैं, जहाँ पर जरा, रोग, नाश, बाधा, शोक, शंका, भय नहीं होते तथा अनन्तसुख, अनन्त ज्ञान का निर्मल वैभव प्राप्त होता है।

सम्यग्दृष्टि का पुण्य क्रम से मोक्ष की प्राप्ति का कारण होता है। जो व्यक्ति नास्तिक, एकान्तवादी, इन्द्रिय विषयों में संलग्न धर्म-शून्य भाव-शून्य होते हैं, वे अपने इन्द्रिय-विषय, कषायोंकी पुष्टि करते हैं। वे न तो वीतराग जिनेन्द्रदेव, जिनवाणी और निर्ग्रन्थ गुरुकी श्रद्धा, भक्ति पूजा करते हैं और न व्रताचरण करते हैं। वे देव, शास्त्र, गुरु को पर-पदार्थ कह कर उनको आत्मा का हित करने वाले नहीं मानते। इस तरह वे उनकी श्रद्धा भक्ति पूजा से दूर

रेह कर सम्यग्दर्शन से दूर रहते हैं। सम्यग्दर्शन के अभाव में उनके सम्यग्ज्ञान होता ही नहीं। और व्रत तप संयम को वे पुण्य बंधका कारण कहकर नहीं करते, इस तरह सम्यक्-चारित्र से भी दूर रहे आते हैं। ऐसा समझना चाहिए।

श्री कुन्दकुन्द आदिक पूर्व-आचार्यों ने भी आत्मशुद्धि के लिए व्यवहार-मार्ग का अव-लम्बन लिया है क्योंकि सम्यग्दृष्टि का वह व्यवहार-मार्ग निश्चय-मार्ग का साधनभूत है। अगर साधन नहीं होगा तो साध्यरूप निश्चय मार्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती। बहुत से निश्चयाभासी लोग अपने विषय-कषाय-पोषण के लिए कहा करते हैं कि "आत्मा और शरीर भिन्न हैं, आत्मा को समझ लेने मात्र से किसी प्रकार का कर्म-बन्ध नहीं होता। आत्मा कर्मों से अलिप्त है, जीवहिंसा, मद्यपान, मांसभक्षण, व्यभिचार आदि पाप केवल जड़ शरीर ही करता है, भगवान की पूजा, दान व्रत उपवास आदि क्रियाकाण्ड के आडम्बर से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, व्रत आचरण जड़ शरीर की क्रिया है, इससे आत्मा का कुछ हित नहीं होता।" इत्यादि बातें कहकर वे लोग भगवान जिनेश्वर द्वारा कही गई श्रावक की षट्क्रियाओं का लोप करके तथा निश्चय एकान्त मार्ग को पकड़ कर धर्म-कर्म-भ्रष्ट होते जा रहे हैं चारित्र से तथा चारित्रधारी महाव्रती निर्ग्रन्थ मुनियों की भक्ति से दूर रहने के लिये वे बहाना करते हैं कि "इस काल में मुनि द्रव्यलिंगी हैं, भावलिंगी नही हैं" आत्मा की भव्यता अभव्यता, सम्यक्त्व मिथ्यात्व, मुनियों का भावलिंग आदि आज कल का मतिज्ञानी, श्रुतज्ञानी नहीं जान सकता। वह तो अवधि, मनपर्यय तथा केवलज्ञानी ही जान सकता है, द्रव्यलिंगी हो या भावलिंगी हो इस पंचमकाल में दोनों प्रकार के मुनियों का अस्तित्व बताया गया है, इस बात के अनेक प्रमाण तिलोय-पण्णत्ति आदि अनेक आर्ष ग्रन्थों में मिलते हैं। फिर इस समय सभी मुनि द्रव्यलिंगी हैं, कोई भी भावलिंगी नहीं है।" यह बात किस ज्ञान द्वारा जानकर कही जा सकती है? अतः मुनियों का अभाव कहने वाले या सब मुनियों को द्रव्य-लिंगी मानने वाले स्वयं जिनवाणी की श्रद्धा से शून्य मिथ्यादृष्टि हैं।

एक शिष्य ने शंका की कि कोई मुनिराज कदाचित् सम्यक्त्व भ्रष्ट हो जाये तो वह पूज्य है या नही?

समाधान–चारित्र भ्रष्ट न हो तो वह यथाजात जिनलिंग सदा पूज्य है।

प्रश्न–जो जिनलिंग सदा पूज्य है तो जिनलिंगधारी द्रव्यलिंगी साधु भी पूज्य है क्या?

समाधान–भावलिंगी साधु की अपेक्षा द्रव्यलिंगी पूज्य नहीं है तो भी चारित्र का विनय करना योग्य है। यद्यपि व्यवहार चारित्र से हीन मुनि अपूज्य है किन्तु पंच महाव्रत, समिति

आदि व्यवहार चारित्र-धारी मुनि गृहस्थ श्रावक के लिए सदा पूज्य है। मुनि के भाव-लिङ्ग को श्रावक जान भी नहीं सकता। अतः भाव-लिंगी मुनि में गुण अधिक होते हैं, द्रव्य-लिंगी मुनि में उतने गुण नहीं होते। इससे भावलिंगी मुनिराज द्रव्यलिंगी की विनय न करे, किन्तु गृहस्थ को द्रव्यलिंगी का भी विनय करना चाहिए।

शंका—सम्यग्दृष्टि गृहस्थ द्रव्यलिंगी मुनि का विनय कैसे करे ?

समाधान-मिथ्यात्व से सम्यक्त्व पूज्य है और सम्यक्त्व से चारित्र पूज्य है। श्रेणिक राजा क्षायिक सम्यग्दृष्टि था उसने लिंगदेव नामक मायाचारी साधु की प्रथम विनय की, किन्तु बाद में उस साधु को शिक्षा दी और कहा "जो तू इस जिनलिंग के विपरीत कार्य करेगा तो तुझको गर्दभारोहण किया जाएगा।" श्रेणिक ने उस द्रव्यलिंग का विनय भंग नहीं किया। इसलिए जिनलिंग सर्वत्र पूज्य है और जिनलिंग के बिना महाव्रती साधु गृहस्थ-अवस्था के तीर्थङ्कर को भी नमस्कार नहीं करते।

शंका—द्रव्यलिंगी साधु का विनय सम्यक्त्व का दोष है या चारित्र का दोष है ?

समाधान—सम्यक्त्व का अतिचार नहीं है, चारित्र का अतिचार है इसलिए चारित्रवान् भावलिंगी साधु द्रव्यलिंगी का विनय न करे, गृहस्थ के लिए ऐसा नहीं है। जिनलिंग के दर्शन विनय से अतिचार नहीं आता है। इस विषय में समन्तभद्राचार्य ने कहा है कि—

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिंगिनाम्।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥३०॥

—रत्नकरण्डश्रावकाचार

यहाँ पर सम्यग्दृष्टि श्रावक को कुदेव, कुशास्त्र कुलिंगी को विनय प्रणाम करने का निषेध किया है। जिनलिंगी का विनय प्रणाम गृहस्थी को किसी शास्त्र में मना नहीं किया। जो द्रव्यलिंगी मुनि आत्म-ज्ञान से शून्य है, अतः वह मोक्ष का अधिकारी नहीं है फिर भी उसका जिनलिंग पूज्य है। जिनलिंग को देखकर ही विनय करना चाहिए। ऐसा न करने से जिनलिंग की अवज्ञा होती है।

आदिपुराण में श्री जिनसेनाचार्य ने कहा है कि—

पात्रं रागादिभिर्दोषैरस्पृष्टो गुणवान् भवेत्।
तच्च त्रेधा जघन्यादिभेदैर्भेदमुपेयिवत् ॥

जघन्यः शीलवान् मिथ्यादृष्टिश्च पुरुषो भवेत् ।
सद्दृष्टिर्मध्यमं पात्रं निःशीलव्रतभावनः ॥
सद्दृष्टिः शीलसम्पन्नं पात्रमुत्तममिष्यते ।
कुदृष्टिर्यो विशीलश्च नैव पात्रमसौ मतः ॥
कुमानुषत्वमाप्नोति जंतुर्ददपात्रके ।
अशोधितमिवालाबु तद्धि दानं प्रदूषयेत् ॥
आमपात्रे तथा क्षिप्तमिक्षुक्षीरादि नश्यति ।
अपात्रेऽपि तथा दत्तं तद्धि स्वं तच्च नाशयेत् ॥

इन श्लोकों में तीन पात्र (दान देने योग्य) बताये हैं । इन तीनों के सिवाय चौथा अपात्र होता है । जघन्य पात्र द्रव्य-जिनलिंगी, मध्यम अविरत सम्यग्दृष्टि, उत्तम द्रव्य-भाव-जिनलिंगी । जो व्रत और सम्यक्त्व-रहित है वह पात्र नहीं है, वह अपात्र है । उसको दान देने का फल कुमानुष में जन्म लेना होता है । द्रव्यजिनलिंगी साधु यथार्थ धर्म का उपदेष्टा है, उसके उपदेश से भव्य जीव मुक्त होते हैं, वह भी विनय के योग्य है ।

तदुक्तं बृहद्हरिवंशे–

अक्षरस्यापि चैकस्य, पदार्थस्य पदस्य वा ।
दातारं विस्मरन् पापी किं पुनर्धर्मदेशकं ॥

अर्थ–जो एक अक्षर के, एक पद के अथवा एक पदार्थ के भी ज्ञान देने वाले के उपकार को भूल जाता है, उसका विनय सत्कार नहीं करता, वह पापी है । तो फिर धर्म उपदेश के उपकार को भूल जाने वाला (उसका विनय आदर न करने वाला) क्या पापी नहीं है ? अवश्य है ।

एक और बात भी विचारणीय है कि विद्यमान भरतक्षेत्र में सम्यग्दृष्टि जीव विरले कहे हैं उसमें भी यह नियम नहीं कि वे मुनि हैं, या गृहस्थ हैं । और चार प्रकार का संघ पंचम काल के अन्त तक रहेगा तो तब तक के मुनि आर्यिका सब अपूज्य हैं क्या ? सो यह कैसे संभव है ? इस कारण जिनलिंगधारी द्रव्यलिंगी तथा भावलिंगी, सब पूज्य हैं ।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन-सहित व्यक्ति पूज्य होता है तथा स्वर्ग और मोक्ष को देने का निमित्त कारण है ।

सम्यग्दृष्टि के गुण—

संवेग—संसार से भयभीत होना। संसार की सभी गतियों में आत्मा को आकुलता, चिन्ता, भूख, प्यास, जन्म, मरण, आदि अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। अतः यह आत्मा संसार में कभी भी निर्भय नहीं रहता। ऐसा विचार करना संवेग है।

निर्वेद—शरीर, विषय भोग, परिवार आदि से विरक्त होना। आत्मा का अनुभव होने पर सम्यग्दृष्टि को शारीरिक मोह छूट जाता है अतः वह शरीर के बन्धन से छूटने का उत्साही होता है।

निन्दा—अपने दुर्गुणों को, कलुषित भावों को, मन वचन काय की अशुभ प्रवृत्ति को, असंयम भाव को आत्मा का अहितकारी समझ कर अपने उन दुर्भावों को तथा प्रवृत्ति की निन्दा करना, सम्यग्दृष्टि का निन्दा नामक लक्षण है। सम्यग्दृष्टि अन्य व्यक्तियों की निन्दा नहीं करता, अपने कलुषित भावों की निन्दा करता है।

गर्हा का लक्षण—राग द्वेषादि के अधीन होकर जब कोई पाप कार्य होता है तब गुरु के आगे उस कार्य की आलोचना करना 'गर्हा' है। यानी-अपने दोषों का स्वयं अनुताप करना गर्हा है। गर्हा से मानसिक शुद्धि होती है।

प्रशम का लक्षण—क्रोध मान आदि कषायों की मन्दता से परिणामों में क्षोभ न होना 'प्रशम' है। अनन्तानुबंधी कषाय न रहने से सम्यग्दृष्टि जीव के परिणामों में उग्रता नहीं आती, शान्त सरल परिणाम रहते हैं। यह प्रशम भाव भी सम्यग्दृष्टि का लक्षण है।

भक्ति गुण—अपने आत्मा में वीतरागता की वृद्धि के लिये गुणों के अनुराग से वीतराग श्री जिनेन्द्रदेव की तथा निर्ग्रन्थ मुनिराज की एवं संसार, शरीर, भोगों से विरक्त आर्यिका, क्षुल्लक, क्षुल्लिका आदि व्रती त्यागियों की निष्कपट हृदय से विनय, पूजा, सत्कार, आराधना करना सम्यग्दृष्टि का भक्ति गुण है। यह भी सम्यग्दृष्टि का लक्षण है।

वात्सल्य गुण—स्वधर्मी के साथ गाय-बछड़े के समान प्रेम होना वात्सल्य गुण है। सम्यग्दृष्टि जीव का धर्म के साथ अनुराग होता है, अतः वह धर्मात्मा के साथ अनुराग करता है। यह उसका वात्सल्य गुण है।

अनुकम्पा गुण—असाता वेदनीय तथा अन्तराय आदि अशुभ कर्मों के उदय से चिन्ता, निर्धनता, रोग, शोक आदि दुःखों से पीड़ित जीवों पर दया भाव पैदा होना, उसे जिनेश्वर भगवान ने 'अनुकम्पा' भाव कहा है। पर जीव की पीड़ा को देखकर वह पीड़ा अपने को ही हो रही है, ऐसा समझ कर उसे दूर करना अनुकम्पा गुण है।

इन आठ गुणरूपी अंजनके प्रयोगसे सम्यग्दृष्टि के नेत्र जब निर्मल हो जाते हैं तब वे इस दयालु जीवको इष्ट स्थानपर ले जाते हैं। यानी—परोपकार करनेके लिये प्रेरणा करते हैं।

जो भव्यजीव द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार विवेक-पूर्वक विचार कर सम्यग्दर्शन का पालन करता है, वह विद्वानों में श्रेष्ठ माना जाता है।

सम्यग्दृष्टि को चारित्र ग्रहण की योग्यता—

जिस का आत्मा सम्यग्दर्शन से निर्मल हुआ है, ऐसा संसारी जीव उत्तम निर्दोष चारित्र ग्रहण करने के लिए पात्र होता है। यदि सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ तो वह चारित्र ग्रहण को भी असमर्थ है। जैसे किसान द्वारा खेत हल से कर्षित होने पर विपुल धान्य देता है, वैसे ही निर्मल सम्यग्दर्शन जीव को विपुल सुख-सम्पत्ति देता है।

सम्यग्दृष्टि दोषदृष्टि नहीं होता—

किसी महान अशुभ कर्म के उदय का कारण पाकर किसी धर्मात्मा में उत्पन्न हुए दोष को सम्यग्दृष्टि नहीं देखता, यह महान आश्चर्य है।

आत्मसिद्धि की इच्छा करने वाले महान पुरुष दूसरे में विद्यमान महादोषोंको भी कभी प्रकट नहीं करते। तात्पर्य यह है कि आचार्य महाराज के पास जब अपराधी पुरुष आकर अपना अपराध कहते हैं तब वे गुरु अर्थात् आचार्य महाराज उसे अपने हृदय में ही रख लेते हैं किसी अन्य व्यक्ति से नहीं कहते। यदि कहेंगे तो अपने धर्म की निन्दा होगी और बड़ी अप्रभावना होगी। इसलिये वे उपगूहन अंगके धारक उस अपराधीको योग्य प्रायश्चित्त देकर उसके व्रतों की शुद्धि करते हैं। इस तरह वे सम्यग्दर्शन के उपगूहन अथवा उपबृंहण अंग का पालन करते हैं।

दोषग्रहण संसार-वर्द्धक है—

जो यतियों के दोष-ग्रहण में तत्पर रहते हैं वे संसार समुद्र में डूबते हैं। जिस तरह कालकूट विष को भक्षण करने से मृत्यु प्राप्त होती है। इसमें क्या आश्चर्य है? जो यतियों के दोषग्रहण में सदा तत्पर होते हैं, उनमें विद्यमान अथवा अविद्यमान दोषों को जगत् में फैलाते हैं, वे दोषभावना से तीव्र और बहुत पापसंग्रह करके नरक भूमि में उत्पन्न होते हैं, वहां सहस्रों दुखों का अनुभव करते हैं तथा पुनः वे निगोद में जाते हैं। ऐसा दोषग्रहण का फल जानकर जिनेन्द्रदेव के, जिनागम के तथा जैनमुनि के असत्य दोषों का अल्प भी वर्णन विद्वान नहीं करते।

सम्यग्दृष्टि का जन्म कहाँ पर होता है, कहाँ पर नहीं होता--

सम्यग्दृष्टि जीव पहले नरक को छोड़कर शर्कराप्रभा से महातमःप्रभा नरक तक यानी दूसरे नरक से सातवें नरक तक छह नरक भूमियों में नहीं जन्मते हैं। तात्पर्य यह है कि जिसको नरकायु का बन्ध होने पर सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वह जीव पहले नरक में उत्पन्न होता है। भवनवासी, व्यन्तर तथा ज्योतिष्क देवों में सम्यग्दृष्टि जन्म ग्रहण नहीं करता तथा नपुंसक और स्त्रियों में वह उत्पन्न नहीं होता। सम्यग्दर्शन वाला जीव सौधर्मादिक स्वर्गों में महर्द्धिक देव होता है, नीच जाति का देव नहीं होता।

जिनको मिथ्यात्व कारण है, ऐसे एकेन्द्रिय, विकलत्रय में सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होते। तिर्यंच आयु का बन्ध होने पर सम्यग्दर्शन जिसे प्राप्त हुआ है, ऐसे मनुष्य भोग-भूमि के पुल्लिंगी तिर्यंच होते हैं तथा मनुष्यायु का बन्ध होने पर जिसको सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ है, वह कर्मभूमि का मनुष्य अथवा पंचेन्द्रिय सैनी तिर्यंच एवं भोगभूमि में पुरुष होकर उत्पन्न होता है। स्त्री पर्याय में उसकी उत्पत्ति नहीं होती।

सम्यक्त्व रूपी सूर्य के द्वारा मिथ्यात्व रूप गाढान्धकार का नाश करके मोक्षमार्ग पर चलने वाले महापुरुषों को क्रम से आत्मसिद्धि यानी मोक्ष की प्राप्ति होती है। शुद्ध सम्यग्दृष्टि के आगे मोक्ष लक्ष्मी नाचती है।

निर्मल परिणाम वाला तथा सम्यग्दर्शन विभूषित पुरुष नरक में रहते हुए भी आत्म-अनुभव किया करता है, अतः अन्य नारकियों की अपेक्षा सुखी रहता है तथा स्वर्ग में रह कर अनेक गुणसमूहों से संसार का अन्त करने में अतिशय चतुर आत्मशुद्धि की वृद्धि करता हुआ ऋद्धि सिद्धि लक्ष्मी को अपने आगे नचाता है।

हे श्रेणिक ! जो मिथ्यात्व से दूर रहा है तथा सम्यक्त्व की प्राप्ति में आनन्दित रहा है, जिसने जीव अजीव आदि तत्वोंका यथार्थ स्वरूप जाना है तथा उत्तम शरीर से सुन्दर और लक्ष्मी की लीला का भोग किया है, जो निरुत्सुक है ऐसा पुरुष अतिशय निर्मल गुणसमूह से युक्त सम्यग्दर्शन को धारण करता है। जिससे वह इन्द्रों के द्वारा की जाने वाली पंच-कल्याणक पूजा को प्राप्त करने वाला होता है।

इसलिए हे श्रेणिक ! सांसारिक उत्तम पदों को तथा अनन्त सुखशाली मुक्ति पद को प्राप्त कराने वाला सम्यग्दर्शन ही है।

एसेवंगमेंटरिं रं-
जिसुवमहानर्घ्यमप्पदर्शनमं शं

किसदे तडेदिरदे कैकों-

डेसगुगे तांबळिकमैदणुव्रतततियं ॥७६॥

अर्थ—आठ अंगों से शोभने वाले महान् अनर्घ्य रत्नरूपी सम्यग्दर्शन को निःशंक होकर जो मनुष्य हृदय में धारण करता है और उसके साथ ही पंच अणुव्रत को धारण करता है, वह मनुष्य देवों के द्वारा पूजनीय होता है ॥७६॥

आवावुवेंदोडे- ॥८०॥

अर्थ—पांच व्रत कौन-कौन से हैं, यह बतलाते हैं ॥८०॥

कोल्लद पुसियद कळविनि-

सिल्लद परवनिते यगें पदपिं चित्तं ।

सल्लद परिग्रहक्कळि

पिल्लदसुव्रतमिमैदुमक्षवे रत्नम् ॥८१॥

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये पांच पाप कहलाते हैं। इन पांचों को मन, वचन, काय से एकदेश त्यागकर अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह परिमाण को अणुव्रत कहते हैं। ये पाँच अणुव्रत भव्य पुरुष को पंचरत्न के समान हैं। ये ही पांच रत्न मोक्ष-प्राप्ति करने में साधनभूत हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥८१॥

विशेषार्थ—आचार्यों ने पतन के कारण पांच पाप बतलाये हैं। उन हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन सेवन और परिग्रह की अभिलाषा रूप पापों से विरक्त होना व्रत है। "मैं इस प्रकार से यह शुभ कार्य करूंगा," ऐसा जो मन का संकल्प है, उस संकल्प को व्रत कहते हैं। यानी—मैं अहिंसा का पालन करूंगा, सत्य वचन कहूंगा, धन का स्वामी जो मुझे धन देगा उसे ही ग्रहण करूंगा, ब्रह्मचर्य (स्व-स्त्री सन्तोष) का पालन करूंगा, अपरिग्रह (स्वल्प परिग्रह) को स्वीकार करूंगा, इस प्रकार कर्तव्य की प्रतिज्ञा करना विध्यात्मक व्रत है।

हिंसा—प्रमत्त योग से प्राणियों के द्रव्य प्राण तथा भाव प्राण का नाश करना हिंसा है। संसार में दुःख देने वाला मुख्य पाप हिंसा ही है।

स्पष्टीकरण—जो जीव प्रमादयुक्त है, कषाय-संयुक्त परिणाम वाला है, उसे 'प्रमत्त' कहते हैं। इन्द्रियों की भोग क्रियाओं में सावधानी न रखता हुआ स्वच्छन्द रूप से प्रवृत्ति करने वाला जो मनुष्य है, उसे प्रमत्त कहते हैं। अथवा जिसके मन में कषाय बढ़ गये हों, जो प्राणघात के कारणों में तत्पर हुआ हो, तथा च अहिंसा में शठता से प्रवृत्ति दिखाता है,

कपट से अहिंसा में यत्न करता है, परमार्थ रूप से अहिंसा में जिसका प्रयत्न नहीं है, उसे प्रमत्त कहते हैं। अथवा चार विकथा, चार क्रोधादि कषाय, पांच स्पर्शनादि इन्द्रियां और निद्रा तथा स्नेह ये पन्द्रह प्रमाद हैं, इनसे जो युक्त है, उसे प्रमत्त कहते हैं। ऐसे प्रमत्त पुरुष की जो मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति है, उसे 'प्रमत्त योग' कहते हैं। इस प्रकार के प्रमत्तयोग से जो प्राणियों के इन्द्रियादि दश द्रव्य-प्राणों तथा भाव-प्राणों का घात करना, उसे हिंसा कहते हैं। यह संसार-दुःख का मुख्य कारण है।

इंतीपदिनाल्कुमन-
त्यन्तं दृढहृदयनागिताळिदर्दंगो ।
रंते निरंतरसौख्यं
भ्रान्तिक्षदे कूडुगल्लि सन्देहमुंटे ॥८२॥

अर्थ–इस प्रकार व्रत-रत्नों का अत्यन्त मनोयोग-पूर्वक दृढ़ता से पालन करने वाले, और उनमें दोष न लगाकर व्रत का निरतिचार पालन करने वाले व्यक्ति को निरन्तर सुख और शान्ति या निर्भ्रान्त पद की प्राप्ति होने में क्या सन्देह है ?

इनितु मनोरंतिरे ने-
ट्टने ताळ्दिद नरन सुखमनेवोगळ्विदोके-
ळनितरोळोंदं ताळ्दिद-
मनुजंगं मुक्तिलक्ष्मि गहणमे धरेयोळ् ॥८३॥

अर्थ–ऐसे मनोहर अर्थात् मन को आल्हाद करने वाले व्रतों को जो मनुष्य विधि पूर्वक पालता है वह भाग्यशाली है। किन्तु उनमें से एक व्रत को भी ग्रहण करने वाले मनुष्य को पुण्यमय सुख मिलता है। समस्त जगत् उसकी स्तुति करता है। अर्थात् जो मनुष्य चौदह में से एक भी व्रत ग्रहण करता है, उसे दृढ़ता से पालन करता है, उसे क्रमशः मोक्ष-लक्ष्मी प्राप्त होती है, इसमें कुछ आश्चर्य की बात नहीं है।

गद्य—एंबुदुं गणधरदेवर्गेमगधावनिवल्लभं भक्तिपूर्वकं वन्दिसि निम्म-डियेनगे तिळिवंतागे दर्शनमुं निश्शंकाद्यष्टगुणंगळुं पंचाणुव्रतमुमेंब पदि-नाल्कु महारत्नगळरोळ् चरियिसि निर्वृत्तियेनेयूदिदमहापुरुषरकथेगळं वेस-

सल्वेळकुवेंबुदु मृदुमधुरगम्भीरध्वनियिनितेंदु पेळलूतगुळद्र ॥८४॥

अर्थ—इस प्रकार श्रीगौतम गणधर देव ने राजा श्रेणिक को सम्यग्दर्शन का महत्व समझाने के बाद राजा श्रेणिक श्रीगौतम गणधर के चरणों में समक्ति नमस्कार कर कहने लगा कि हे भगवन् ! आपके चरण मेरे हृदय में विराजमान रहें। सम्यग्दर्शन और निःशंकादि आठ गुण तथा पंच अणुव्रत ऐसे चौदह रत्नों में से मुख्यता से एक-एक गुण का आचरण करके जिन्होंने निर्वृत्ति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति की हो उन महापुरुषों की पुण्य कथायें मुझे कहिये। राजा श्रेणिक से इस प्रश्न को सुनकर गौतम गणधर गम्भीरध्वनि से इस प्रकार कहने लगे कि—

मुददिन्दोदोंदरोलतागुव जल चरसन्दोहदळ्ळरिनिंपो-
गिमदत्छीताम्बुविं तज्जलधिनोगेदमुक्ताळियिं देयिदेशुभ्रां ॥
वुदमन्ताराळियं पोल्लेसेवनेरे नभोभागदन्तोप्पिसुत्ति-
दुंदुजम्बूद्वीपमं वारिधि कनयरमंवीरितदन्तागे चल्विं ॥८५॥

अर्थ—अत्यन्त आनन्द को उत्पन्न करने वाले जैसे एक दूसरे से बड़े मोतियों की माला दमकती है, ऐसे ही जलचर जीवों से भरे हुए समुद्रों से तथा द्वीपों से घिरा हुआ, शीताम्बु (जल) से निकालकर फेंकी हुई मुक्तामणियों वाले लवणसमुद्र से वेष्टित जम्बूद्वीप अत्यन्त शुभ्र तारागण से युक्त आकाश के समान शोभायमान है।

विशेषार्थ—इस श्लोक में श्री नयसेन आचार्य ने जम्बूद्वीप का संक्षेप से वर्णन किया है। यह जम्बूद्वीप सूर्यमण्डल के समान गोल है। असंख्यात द्वीप समुद्रों के बीच में है। इस जम्बूद्वीप के बिल्कुल बीच में मेरुपर्वत है, वह मानों इसकी नाभि है।

विवरण—इस जम्बूद्वीप में विचित्र तथा आश्चर्यजनक सात क्षेत्र हैं। इन क्षेत्रों के नाम भरतक्षेत्र, हैमवतक्षेत्र, हरिक्षेत्र, विदेहक्षेत्र, रम्यकक्षेत्र, हैरण्यवत और ऐरावतक्षेत्र हैं।

छह कुलपर्वत—उक्त सात क्षेत्रों के बीच-बीच में छह कुलपर्वत हैं। वे भरतादिक क्षेत्रों का विभाग करने वाले होने से उनको वर्षधर कहते हैं। अर्थात् भरतादिवर्ष के क्षेत्र को विभक्त कर धारण करने वाले ये पर्वत हैं। ये पर्वत पूर्व दिशा से पश्चिम दिशा तक फैले हुए हैं। इनमें पहला पर्वत हिमवान् है। दूसरा महाहिमवान्, तीसरा निषध, चौथा नील पर्वत, पांचवां रुक्मी और छटा शिखरी पर्वत है। इन छहों पर्वतों के पसवाड़े (पार्श्व) नाना मणियों से विचित्रित हैं। हिमवान पर्वत सुवर्ण वर्ण का है। पीले वस्त्र के समान

वह दिखता है। दूसरा महाहिमवान् पर्वत है, वह सर्वत्र सर्वथा शुक्ल है। तीसरा कान्तिमान् निषध पर्वत सुवर्णमय है। चौथा नील पर्वत वैडूर्यमणि की तरह नीलवर्ण का है। पांचवां महान् रुक्मी पर्वत रजतमय है। छठा पर्वत शिखरी है। वह सुवर्णमय है और आश्चर्य उत्पन्न करने वाला है।

हिमवन् आदि पर्वतों पर सरोवरों के नाम—उन प्रत्येक पर्वत पर एक एक सरोवर है। पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक, ये उन सरोवरों के नाम हैं। ये सरोवर (झील) नित्य हैं। तथा गंगादि नदियों के स्रोत हैं।

पद्मसरोवर से निर्गत गंगानदी का वर्णन—हिमवन् पर्वतके मस्तक पर जो पद्म नामक ह्रद है, गंगा नाम की प्रसिद्ध नदी उसके पूर्वतोरण से निकली है। उद्गम स्थान में गंगानदी का विस्तार एक कोश अधिक सवाछह योजन प्रमाण है। वह आधे कोश अवगाह वाली है। वह सुन्दर नदी पर्वत पर से पूर्व दिशा की ओर पांच सौ योजन बहती है। अनन्तर गंगाकूट के समीप पहुंच कर दक्षिण दिशा की ओर मुड़ती है और यहीं से सुन्दर भूमिकुण्ड में गिरती है। उसके दक्षिण मार्ग से निकल कर वह नदी भरतक्षेत्र के मध्यस्थित सुन्दर रूपाद्रि पर्वत के पास आती है।

विजयार्द्ध पर्वत—समुद्र के पूर्व और पश्चिमी विभाग को विजयार्द्ध पर्वत स्पर्श कर रहा है अर्थात् पूर्व और पश्चिम भाग को स्पर्श कर रहा है। अर्थात् पूर्व और पश्चिम समुद्र में विजयार्द्ध पर्वत के तट प्रविष्ट हुए हैं। क्योंकि चक्रवर्ती के विजय का आधा भाग यहां पर पूर्ण होता है, इसलिए इसे 'विजयार्द्ध' कहते हैं। यह पर्वत पच्चीस योजन ऊंचा है और इसका विस्तार पचास योजन का है। चक्रवर्ती को विजय प्राप्त कराने वाला यह पर्वत है। जमीन से दश योजन ऊपर जाने पर पर्वत के विभाग पर विद्याधरों के आधारस्थान रूप श्रेणियां है। उनमें दक्षिण श्रेणी में पचास नगरियां हैं और उत्तर श्रेणी में भी साठ नगरियां हैं।

विद्याधर श्रेणी के ऊपर पुनः दश योजन गमन करने पर व्यन्तरों की (विचित्र आकृति धारण करनेवाले व्यन्तर देवोंकी) निवासभूमि है अर्थात् जैसी दो विद्याधर श्रेणियां कही हैं, वैसी ही दश योजन विस्तार वाली और पर्वत की जितनी लम्बाई है, उतनी दीर्घता वाली व्यन्तरों की दो श्रेणियां हैं। वहां सोम, यम, वरुण और वैश्रवण ऐसे इन्द्र के दिक्पाल (लोकपाल) और आभियोग्य जाति के व्यन्तर देवों के निवास स्थान हैं। इस पर्वत के ऊपर नौ कूट हैं। उनमें में आठ कूटों पर दक्षिणार्ध भरतवृत्त माल्यदेव आदि के प्रासाद

हैं। उनमें उन-उन नामों के देव निवास करते हैं। नीचे कूट पर 'सिद्ध-कूट' नाम का अकृत्रिम जिन मन्दिर है। इस पर्वत में दो गुफाएं हैं उनके नाम तमिस्रा गुफा और खण्ड-प्रपाता गुफा है। विशाल तमिस्रागुफा में से जो गंगा नदी को मार्ग मिला उसी से निकल कर वह आर्य खण्ड में आई और उसमें बहती हुई पूर्व समुद्र में प्रवेश किया, उस स्थान पर वह साढे बासठ योजन प्रमाण विस्तृत है। जैसा गंगानदी का अवगाह है तथा जितनी परिवार नदियां (सहायक नदी) उसको मिली हैं, वैसा ही अवगाह और विस्तार सिन्धु नदी का भी है। तथा उतनी ही परिवार-नदियां उसे भी प्राप्त हैं। वह सिन्धु नदी भी इस भरत क्षेत्र के आर्य खण्ड में आकर पश्चिम समुद्र में मिलती है।

भरतक्षेत्र का संक्षेप में विवरण—भरत क्षेत्र सज्य (डोरी सहित) महाधनुष के समान आकृति वाला है। गंगा और सिन्धु दो नदियों से तथा विजयार्द्ध पर्वत से इस भरत क्षेत्र के छह विभाग हुए हैं। भरतक्षेत्र के बिलकुल मध्य में विजयार्द्ध पर्वत पूर्व से पश्चिम दिशा तक सीधा दीवार के समान खड़ा हुआ है। इससे भरत के दक्षिण भरत और उत्तर भरत ऐसे दो विभाग हुए हैं। तथा गंगा नदी और सिन्धु नदी उत्तर भरत और दक्षिण भरत के बीच में से बहती हुई लवण समुद्र में जाकर मिली हैं, इससे उत्तर भरत के तीन विभाग होनेसे भरत क्षेत्र षट्खण्ड वाला है। भरतक्षेत्र का विस्तार पांच सौ छब्बीस और छह बटे उन्नीस ५२६ $\frac{6}{19}$ योजन है।

पद्महृद और हिमवान् पर्वत—हिमवान पर्वत पर पद्म नाम का अनादिनिधन पवित्र सरोवर है। यह एक हजार योजन प्रमाण लम्बा है। तथा पांच सौ योजन प्रमाण चौड़ा है। यह सरोवर श्रीदेवी का नित्यनिवास स्थान है। इस सरोवर के बीच में प्रशस्त पद्म नामक कमल है जो प्रकाशमान् दलों से पूर्ण है। हिमवान् की ऊंचाई सौ योजन कही गई है। विस्तार एक हजार बावन तथा बारह बटे उन्नीस १०५२ $\frac{12}{19}$ योजन है। इसी प्रकार निषध, हरिवर्ष इत्यादि पर्वत हैं। उनके विस्तार में अन्तर है।

इसका विशेष विस्तार अन्य ग्रन्थों में देखना चाहिए।

आजंबुद्धी पद् नट्ट नडुवे ॥८६॥

मुददिं जिनाभिषेक-
विकदु मज्जनपी मेनिसि महिमेयिनोप्पि।

दु'दु पेंपिं त्रैलोक्या-

भ्युदयं रमणीय मप्प मंदर शैलं ॥८७॥

अर्थ—उस जम्बू द्वीप के मध्य भाग में त्रैलोक्यनाथ जिनेन्द्र भगवान के जन्माभिषेक का शाश्वत पीठ (अभिषेकके लिए स्थान) वाला तीन लोक के अभ्युदयरूप अत्यन्त रमणीय सुन्दर सुमेरु पर्वत है।

विशेषार्थ—आचार्य ने इस श्लोक में सुमेरुपर्वत का वर्णन किया है। मेरु पर्वत पांच हैं। उनमें से उपर्युक्त सुमेरु पर्वत जम्बू द्वीप के मध्य में स्थित है।

मेरु पर्वत दीवाल के समान नहीं है। किन्तु गोल स्तम्भ के आकार का अपनी नींव से चोटी तक एक लाख योजन ऊंचा है। पृथ्वी में नींव एक हजार योजन गहरी है और ९९ हजार योजन पृथ्वी से ऊपर है। सुमेरुपर्वत के पृथ्वी तल पर चारों ओर भद्रशाल वन है, इससे ५०० योजन ऊंचाई की कटनी पर चारों ओर नन्दन वन है। वहाँ से साढ़े बासठ हजार योजन की ऊंचाई पर सौमनस वन है। उससे ३६ हजार योजन ऊंचाई की चोटी पर पाण्डुक वन है। इन चारों वनों में सुमेरु पर्वत के चारों ओर एक-एक अकृत्रिम चैत्यालय है। इस तरह १६ चैत्यालय हैं। पाण्डुक वन में चारों दिशाओं में अर्धचन्द्र आकार की चार शिलाओं पर वेदी बनी हुई हैं। इन पर भरत, ऐरावत और पूर्व, पश्चिम विदेह के तीर्थंकरों का जन्म अभिषेक देवों द्वारा किया जाता है।

पूर्व दिशा की वेदिका पर पूर्व विदेह के तीर्थंकरों का, पश्चिम वेदिका पर पश्चिम विदेह के तीर्थंकरों का, और उत्तर दक्षिण दिशा की वेदिकाओं पर क्रम से भरत ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकरों का जन्मअभिषेक होता है। तीर्थंकरों के जन्माभिषेक होते रहने से तथा १६ अकृत्रिम चैत्यालयों के कारण सुमेरु पर्वत का बहुत भारी महत्व है।

इस मेरु के तल में उत्तर विभाग से और दक्षिण विभाग से सुन्दर चार गजदन्त पर्वत हैं, जो कि हाथी के दांत के आकार सदृश दिखते हैं। इसलिए 'गजदन्त' ऐसा उनका अन्वर्थ नाम है।

इन गजदन्त पर्वतों के अग्रभाग नील और निषध पर्वतों को स्पर्श करते हैं। तथा इन गजदन्त पर्वतों पर चार अकृत्रिम जिन मन्दिर हैं। अर्थात् प्रत्येक गजदन्त पर एक-एक अकृत्रिम जिन मन्दिर है।

मेरु पर्वत की उत्तर दिशा में दो गजदन्त पर्वत हैं, और मेरु के दक्षिण में दो गजदन्त

पर्वत हैं। इन दो-दो गजदन्त पर्वतों के बीच में अर्थात् मेरु के उत्तर में और दक्षिण में उत्कृष्ट भोग भूमि नामक दो बड़े क्षेत्र हैं। उनमें जो क्षेत्र मेरु की उत्तर दिशा में है उसको उत्तर कुरु (उत्तम भोगभूमि) कहा है और मेरु की दक्षिण दिशा में जो क्षेत्र है, उसे 'देव कुरु' (उत्तम भोग-भूमि) कहा है। ये दोनों भोगभूमियाँ दस प्रकार के कल्पवृक्षों से सम्पन्न हैं।

मेरु पर्वत की ऐशान दिशा में उत्तरकुरु क्षेत्र में सीता नदी और नील पर्वत के सुन्दर मध्य प्रदेश में अकृत्रिम जम्बू वृक्ष है। सुमेरु पर्वत के पूर्व और पश्चिम में कर्मभूमि वाला विदेह क्षेत्र है, जहाँ सदा चतुर्थकाल रहता है और सदा तीर्थंकर विद्यमान रहते हैं।

आमेरु गिरिय दक्षिणभागद भरतक्षेत्रदोळ्
सौराष्ट्रविषय मेंबुदु नाडल्लि ॥८८॥

अर्थ—उस सुमेरु पर्वत के दक्षिण भाग-वर्ती भरत क्षेत्र में सौराष्ट्र नाम का देश है। उस देश में—

जिनभवनावलियिं दुप-
वनदिंपेगेरेगळिं सरोजाकारदिं ।
धनदन पुरदंताप्पु-
दनवरतं शोभेयिं करं गिरिनगरं ॥८९॥

अर्थ—उस देश में जिनेन्द्र भगवान के अनेक भवनों से तथा उपवनों से युक्त सरोजाकार अर्थात् कमलों के आकार का अत्यन्त सुन्दर कुबेर की नगरी के समान शोभनीक 'गिरि' नामक नगर है।

आ पुरमनाळ्वें विश्वसेननेंब महामडंलीकनातनराजश्रेष्ठियन्वय ।
शुद्धनु प्रसिद्धनुमप्प दयामित्र सेट्टियेंब परदनिर्पनात ॥९०॥

अर्थ—उस नगर का शासक विश्वसेन नाम का महामंडलीक राजा था। उसका एक राजश्रेष्ठि-परम्परा में शुद्ध कुलीन दयामित्र नामक व्यापारी था।

सिरियोळ् कुबेर नं त्र-
स्तरियाडुवनहिपनोडने भोगक्कं म-
च्चरिसुव नुदार गुणदोळ्-
पुरुडिसुवं कल्पवृक्षदोळ् तद्वणिजं ॥९१॥

अर्थ—वह व्यापारी दयामित्र ऐश्वर्य में कुबेर के समान था। भोग में सौधर्म इन्द्र के समान था। वह उदार दानी था, याचक जनों के लिए कल्प-वृक्ष के समान था।

विशेवार्थ—आचार्य ने इस श्लोक में सेठ दयामित्र के वैभव तथा गुणों पर प्रकाश डाला है कि पूर्व-जन्म में संचित किये गए पुण्य के उदय से लक्ष्मी उसके चरण छूती थी। सौधर्म इन्द्र के समान सुख भोगता था तथा कल्पवृक्ष के समान सदा दान दिया करता था। एवं वह याचक जनों को इच्छित पदार्थ दान दिया करता था। अमूल्य मनुष्य जन्म पाकर ऐसे वैभव और गुणों का मिलना भी पूर्व जन्म के पुण्य कर्म का फल है। वीतराग भगवान की भक्ति में तथा दीन दुखियों के उपकार में लगाया गया धन महान पुण्य-उत्पादक होता है वह पुण्य स्वर्ग और मोक्ष-साधन करने के लिए इस लोक तथा परलोक में निमित्त कारण होता है। कदाचित मनुष्य को सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है तो वह प्राय: उस सम्पत्ति के गर्व से मत्त हो जाता है और वह अपने पूर्व जन्म में किये पुण्य भाव को भूल जाता है। उस सम्पत्ति का उपयोग वह स्व-पर कल्याण के लिए कुछ नहीं करता बल्कि उस सम्पत्ति को पंचेन्द्रियों के विषय-भोगों की पुष्टि का साधन बना लेता है और उस सम्पत्ति से या मनुष्य पर्याय से आगे के लिए अनेक पाप-संचय करके इस उत्तम मनुष्य पर्याय को नीच गति का साधन बना लेता है। इस तरह वह पूर्व-उपार्जित पुण्य फल को समाप्त करके आगामी भव के लिए निर्धन, दुखी दरिद्री बन जाता है।

अंतळविगलद् सिरियोळसुपनेगळद् भोगदोळमपरिमित जिनभक्ति योळं
नयळतेबेत्तु सुखसंकथाविनोददिं पलवुकालं पोपुदुमोंदुदिवसं तन्नोळिंतिंदं ॥६२॥

अर्थ—इस प्रकार दयामित्र श्रेष्ठी अपने मनुष्य जन्म का तथा पूर्वजों की सम्पत्ति का व्यर्थ दुरुपयोग न करते हुए समय के अनुसार शरीर को ध्यान पूजन और अध्ययन में तथा अपने द्रव्य को सत्पात्र-दान, पूजा में एवं समुचित भोग में लगाता था। पूर्वजन्म के संस्कार से जिनेन्द्र भगवान की भक्ति में रत रहता था। अपनी नित्य धर्म-क्रिया को और अपने व्यवसाय को संभालते हुए सत्पुरुषों की कथा में अपने समय को व्यतीत करते हुए रहता था। इसके बाद उसके मन में विचार आया कि—

पुरुषं धनमेनगुंटें
दिरलागदु द्रव्यमुळ्ळोडं द्रव्यमना-

जिपुदेकेने वित्तं तां-
दोरे पळे केळिहपरंगळेरडुं साध्यं ॥६३॥

अर्थ—जो धनिक पुरुष ऐसा समझता है कि "मुझे किसी बात की चिन्ता नहीं है, मुझे किसी के पास जाने की आवश्यकता नहीं है, मुझे किसी के आगे हाथ जोड़ना, याचना करना आवश्यक नहीं, मुझे किसी प्रकार का दुःख नहीं क्योंकि मेरे पास अटूट सम्पत्ति है।" ऐसा विचार करके जो न तो आगामी भव को सुख-सम्पन्न बनाने के लिए धर्म-कार्य में दान करता है, न किसी दीन दुखी दरिद्री की उस धन से सहायता करता है। तथा वह द्रव्य कमाने का पुरुषार्थ भी नहीं करता है, वह मनुष्य इस लोक में और परलोक में अपना बहुत बिगाड़ कर लेता है।

इसलिए मनुष्य को सदा अपने पुरुषार्थ के द्वारा न्याय नीति से द्रव्य कमाना चाहिये और उस द्रव्य से इस लोक तथा परलोक का साधन करना चाहिये, क्योंकि धन होने के बाद सुख शान्ति से धन का उपयोग करना और दान द्वारा परलोक का साधन करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है।

इसलिए ऐसे उत्तम कुल में जन्म लेकर मनुष्य भव को व्यर्थ नष्ट करना ठीक नहीं जब तक शरीर में शक्ति है, आँखों से दिखाई देता है, कानों से सुनाई देता है, चलने फिरने की शक्ति है तब तक न्याय नीति से धन का उपार्जन करना गृहस्थ का कर्तव्य है।

श्री पं० आशाधर जी ने कहा है—

न्यायोपात्तधनो यजन्गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भज- ।
न्नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणीस्थानालयो ह्रीमयः ॥
युक्ताहारविहार-आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी ।
शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत् ॥११॥

—सागारधर्मामृत

अर्थ—जो पुरुष न्याय से द्रव्य कमाता है, सद्गुणों से गौरवशाली गुरुओं की पूजा करने वाला है, जो सत्य और मधुर वचन बोलता है, धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों का परस्पर विरोध-रहित सेवन करता है, ऊपर लिखे हुए पुरुषार्थ सेवन करने योग्य नगर अथवा गांव के घर में तीनों पुरुषार्थ सेवन करने योग्य स्त्री के साथ निवास करता है, जो

लज्जा-सहित है, योग्य रीति से आहार विहार करता है, सज्जनों की संगति करता है, विचारशील है, कृतज्ञ है, इन्द्रियों को वश में रखने वाला है, जो सदा धर्म-विधि को सुनता रहता है, जो दयालु है और पापों से डरता रहता है, ऐसा पुरुष सागारधर्म (गृहस्थ धर्म) का आचरण करे।

भावार्थ—अपने स्वामी से विरोध करना, मित्र से विरोध करना, विश्वासघात करना, और चोरी करना इत्यादि निन्द्यकार्य कहलाते हैं। ऐसे नीच कार्यों को छोड़कर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि अपनी अपनी जाति के अनुसार सदाचाररूप जो द्रव्य कमाने के उपाय हैं उसे 'न्याय-वृत्ति' कहते हैं। ऐसे लोकमान्य न्यायसे जो द्रव्य कमाया जाता है वह न्यायोपात्त अर्थात् न्याय से कमाया हुआ द्रव्य कहलाता है। जो द्रव्य न्याय से कमाया जाता है वह इस लोक तथा परलोक दोनों में सुखकारक होता है क्योंकि उसे इच्छानुसार खर्च करने और भाई-बन्धु, कुटुम्ब आदि को बांट देने में किसी प्रकार का क्षोभ, दुख, शंका आदि नहीं होती। चोरी आदि निन्द्य कार्यों से एकत्र किये गए धन के व्यय करने में जैसा भय होता है, वैसा भय इसमें नहीं होता है।

जो व्यक्ति अन्याय से धन कमाता है, उसे राजा भी दण्ड देता है तथा लोक में भी उसका अपमान होता है। एवं अनेक प्रकार के दुख भोगने पड़ते हैं। इसलिए न्यायसे ही धन को कमाना चाहिए, ऐसा करने से ही यह जीव इस लोक में सुखी रह सकता है। न्याय से कमाया हुआ धन ही सत्पात्र को देने और दुःखी जीवों में बांटने पर, उनके दुःखों को दूर करने के काम में आता है और ऐसा करने से वह जीव भी सुखी होता है। विना धन के गृहस्थ-धर्म चल नहीं सकता इसलिये गृहस्थ के लिए धन का महत्व है।

सदाचार, सुजनता, उदारता, चतुरता, स्थिरता और प्रियवचन आदि अपने तथा दूसरे के उपकार करने वाले आत्मा के धर्म या गुण कहलाते हैं। सत्कार, प्रशंसा, सहायता आदि से उन गुणों को पूज्य मानना अथवा बढ़ाना गुणपूजा है। माता पिता और आचार्य को 'गुरु' कहते हैं। इनको तीनों समय (प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल) प्रणाम करना 'गुरु पूजा' है। अथवा जो ज्ञान संयमादि गुणों से गुरु यानी बड़े और पूज्य हैं, उन्हें 'गुण-गुरु' कहते हैं। ऐसे पुरुषों की सेवा करना, आते हुए गुरुजनों को देखकर खड़े हो जाना, उन्हें ऊंचा आसन देकर स्वयं उनके पावन चरणकमलों में खड़े रहना, नमस्कार आदि करना, गुणगुरुओं की पूजा कहलाती है।

सद्गीः—जो मधुर, प्रशंसनीय और उत्कृष्ट वचन कहता है, दूसरे की निन्दा और

अपमान करने वाले तथा कठोर, अप्रिय आदि वचन कभी नहीं कहता, वही सद्गी अर्थात् सत्य व मधुर वचन कहनेवाला कहलाता है।

त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम ये गृहस्थ के तीन पुरुषार्थ 'त्रिवर्ग' कहलाते हैं। जिससे अभ्युदय अर्थात् देवेन्द्र, नागेन्द्र, चक्रवर्ती आदि पद और निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष पद की प्राप्ति होती है उसे 'धर्म' कहते हैं। जिसके द्वारा लौकिक समस्त कार्यों की सिद्धि होती है उसे 'अर्थ' कहते हैं। इसी अर्थ के द्रव्य, धन, सम्पत्ति आदि अनेक नामान्तर हैं। स्पर्शन, रसना आदि पंचेन्द्रियों की स्पर्श आदि में जो प्रीति है, उसे 'काम' कहते है। इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम ये तीन त्रिवर्ग कहलाते हैं। इन तीनों पुरुषार्थों को सेवन करना गृहस्थ का नित्य कर्म है।

परन्तु यह सेवन इस प्रकार होना चाहिए कि जिससे एक के सेवन करने से दूसरे की हानि न हो। इसका अभिप्राय यह है कि धर्म और अर्थ का सर्वथा नाश करके विषयादि सुखों का सेवन या अतिसेवन नहीं करना चाहिए।

कहा है कि—

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः,
यो ह्येकसेवी स जनो जघन्यः।

यानी-गृहस्थ को धर्म, अर्थ, काम का समान रूप से (यथायोग्य) सेवन करना चाहिए। जो मनुष्य केवल एक (काम) का सेवन करता है, वह जघन्य श्रेणी का है।

क्योंकि, काम की प्राप्ति अर्थ से यानी धन से होती है और धर्म द्वारा उपार्जित शुभ कर्म उदय से धनका लाभ होता है। इसलिए जैसे बीज के नाश से वृक्ष नहीं उग सकता, उसी तरह धर्म और अर्थ के नाश होने पर काम की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। जो पुरुष केवल काम सेवन में ही रत रहता है उसके धन का भी नाश हो जाता है और उससे शरीर की भी बड़ी क्षति होती है। जैसे चारुदत्त सेठ की हुई। इसलिये धर्म-अर्थ की रक्षा करते हुए काम का सेवन करना उचित है।

इसी तरह जो पुरुष धर्म और काम का उल्लंघन कर केवल धनार्जन में लगा रहता है वह भी मूर्ख ही है क्योंकि हमारा कमाया हुआ धन यदि धर्म कार्य में खर्च न होगा तो वह आगे के जन्म के लिए, आगामी काल के लिए सुख का साधन नहीं हो सकता। यदि यही धन धर्मकार्यों में भी लगा दिया जावे तो उस धन से द्वारा उपार्जित किये हुए शुभ

कर्म से आगे के जन्मों में भी अनेक भांति के सुखों की प्राप्ति होती रहेगी।

इसी तरह यदि इस भव में भी धन का उपयोग न किया जाएगा यानी-कमाए हुए धन से गृहस्थाश्रम का आवश्यक कार्य (काम सेवन) न किया जाएगा तो वह ईंट पत्थरों की तरह पड़ा और गढ़ा रह जाएगा किसी काम नहीं आएगा। या किसी अन्य चोर आदि के हाथ लगेगा। किन्तु उसके कमाने में जो हिंसा, झूठ आदि पाप हुए होंगे, उनका बुरा फल तो भोगना ही पड़ेगा। इसलिए मनुष्य को उचित है कि धर्म और काम को यथायोग्य रीति से सेवन करता हुआ धन कमावे और खर्च करे।

अर्थ और काम को छोड़कर केवल धर्म सेवन करना मुनियों का काम है। गृहस्थों के पास तो धन होना ही चाहिए। बिना धन के गृहस्थ का धर्म नहीं चल सकता। परन्तु धर्म और काम को सर्वथा त्यागकर धन कमाना उचित नहीं। किसी पुरुष को पूर्वोपार्जित धर्म के प्रभाव से अतुल सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है किन्तु यदि वह उस सम्पत्ति का कुछ भी भाग धर्म कार्य में व्यय न करे तो वह जीव आगामी जन्म में उसी प्रकार दुखी होगा जिस प्रकार वह किसान दुखी होता है जो कि अगली फसल बोने के लिए बीज नहीं रखता है। संसार में वही जीव सुखी समझना चाहिए जो परलोक में भी सुख भोगता है। जो गृहस्थ पुरुष अपना सभी धन खर्च करके केवल धर्म और काम का सेवन करता है वह भी अन्त में दुखी होता है तथा जो पुरुष काम सेवन न करता हुआ केवल धर्म और अर्थ का सेवन करता है, वह भी गृहस्थ नहीं कहला सकता। क्योंकि श्री सोमदेव ने कहा है कि–

गृहिणी गृहमुच्यते न पुनः काष्ठसंग्रहः।

अर्थात् स्त्री का नाम ही घर है, ईंट, पत्थर और काठ को घर नहीं कहा जा सकता।

निन्दित धनी पुरुषों के तीन भेद हैं–तादात्विक, मूलहर और कदर्य। ये तीनों ही ऐसे हैं कि इनके हाथ से धर्म की रक्षा और कामसेवन नहीं हो सकता जो पुरुष आगे का कुछ विचार न कर मिले हुए धन को केवल अयोग्य कार्यों में तत्काल व्यय कर देता है, उसे तादात्विक कहते हैं। जो पूर्वजों के कमाए हुए धन की वृद्धि न करके केवल मौज शौक, खाने पीने में उड़ा देता है, उसे मूलहर कहते हैं और जो पुरुष आपको तथा अपने कुटुम्ब सेवक आदि को दुख देकर धन को बचाता है, किसी भी कार्य में उसे खर्च नहीं करता है, उसे कदर्य (कृपण) कहते हैं। इन तीनों में से तादात्विक और मूलहर का तो सभी धन व्यय हो जाता है किन्तु कदर्य का धन या तो राजा ले लेता है या चोर चोरी कर ले

जाते हैं। इसलिए धर्म अर्थ और काम इन तीनों को परस्पर बाधारहित ही सेवन करना चाहिए। किसी अशुभ कर्म के उदय से कदाचित् इसमें कोई विघ्न आ जाए तो जहां तक बने पहले पहले के पुरुषार्थों को सेवन करना चाहिए।

तीनों में विघ्न आने की सम्भावना हो तो धर्म और अर्थ की रक्षा करनी चाहिए क्योंकि इन दोनों की रक्षा होने से काम की रक्षा तो अपने आप ही हो जाएगी। कदाचित् इन दोनों की भी रक्षा न हो सके तो धर्म की ही रक्षा करनी चाहिए क्योंकि अन्य दोनों अर्थ, काम पुरुषार्थो का मूल कारण तो धर्म ही है।

गृहिणी-स्थान-आलय—जो अपने समान कुलमें उत्पन्न हुई हो, देव, अग्नि, माता, पिता, गुरु और सभ्यजनों के सामने जिसके साथ विवाह हुआ हो, ऐसी सदाचार से चलने वाली स्त्री को 'गृहिणी' कहते हैं। घर की स्वामिनी का नाम ही गृहिणी है। घर में ऐसी स्त्री होने से धर्म अर्थ और काम ये तीनों ही पुरुषार्थ अच्छी तरह सध सकते हैं। जो पतिके साथ किसी प्रकार का छल, कपट नहीं करे, दौरानी, जेठानी ननद, सासु आदि की सेवा करे, अन्य कुटुम्बी जनों को स्नेह दृष्टि से देखे, सेवकों पर दया रखे और सौत के साथ भी किसी तरह का विरोध न करे, वही स्त्री गुणवती और अच्छी कही जाती है।

इसी तरह गृहस्थ को किसी ऐसे गांव या नगर में रहना चाहिए कि जहाँ जिनमन्दिर, शास्त्र भण्डार तथा जैन पाठशाला और सज्जन पुरुषों की संगति आदि धर्मवृद्धि के साधन हों तथा जहां कुटुम्ब का अच्छी तरह निर्वाह हो सके, इतने साधनों की अनुकूलता हो ऐसे गाँव अथवा शहर में गृहस्थ को अपना निवास स्थान बनाना चाहिए। घर भी ऐसा होना चाहिए जिसमें उसको किसी भी ऋतु में किसी प्रकार का कष्ट न हो तथा धर्मध्यान, स्वाध्याय करने के लिए जिसमें स्वतन्त्र एकान्त स्थान भी हो। इस प्रकार गृहस्थ के लिये त्रिवर्ग सेवन करने योग्य स्त्री, गांव, शहर और घर होना चाहिए।

ह्रीमय—ह्रीमय का अर्थ है 'लज्जासहित'। लज्जावान् गृहस्थ को अपने ऐश्वर्य, वय (अवस्था) देश, काल और कुल के अनुसार अन्न वस्त्र अलंकार आदि धारण करने चाहिए। निर्लज्ज होकर अपने कुल और जाति में निन्द्य समझे जाएं ऐसे आचरण नहीं करने चाहिए।

युक्ताहार-विहार—अर्थात् जिसके भोजन और आने जाने के स्थान, दोनों यथायोग्य हों, शास्त्रानुसार हों। धर्म शास्त्र में जिन पदार्थों के खाने का निषेध है उनको न खाना

और वैद्यकशास्त्र के अनुसार भोजन करना, योग्य देश तथा योग्य काल में भ्रमण करना कि जिससे रत्नत्रय की हानि न हो, युक्ताहार विहार है।

आर्य समिति—अर्थात् गृहस्थ को सदाचारी और सज्जनों की संगति करना चाहिए। जुआरी, मूर्ख, व्यभिचारी, धूर्त, मिथ्यावादी, भांड, मायावी और नट व दुष्टों आदि की संगति कभी नहीं करनी चाहिए।

प्राज्ञ—कर्तव्य अकर्तव्य का ऊहापोहरूप विचार करने वाला। जो विचारवान् है, वह सब तरह का उचित विचार करता है, दीर्घदर्शक अर्थात् आगे दूर तक सोचने वाला होता है और सब मनुष्यों से विशेष जानकार होता है।

बल चार प्रकार का है। द्रव्य बल, क्षेत्रबल, कालबल और भावबल। ये चारों ही बल अपने आप में कितने हैं, और दूसरे में कितने हैं, इसके विचार करने को बलाबल विचार कहते हैं। जो कार्य बल-अबल के विचार किये विना ही किया जाता है उसमें सदा विपत्ति आ जाने की सम्भावना रहती है। जो मनुष्य किसी कार्य को प्रारम्भ करके अथवा समाप्त करके आगामी काल में होने वाले उसके हानि लाभ को भी उसी समय समझ लेता है अथवा विचार कर लेता है उसे दीर्घदर्शी कहते हैं। वस्तु में अवस्तु में, कृत्य और अकृत्य में, आप में और दूसरे में क्या अन्तर है उसको जो जानता है, वही विशेषज्ञ है। इस प्रकार जिसको बल-अबल का विचार है, जो दूरदर्शी है और विशेष जानकार है, उसे प्राज्ञ कहते हैं।

कृतज्ञ—जो दूसरे द्वारा अपने साथ किये हुए उपकार को जानता है, वह तथा जो उस उपकारी के हित और कुशल की इच्छा करता है, उसे 'कृतज्ञ' कहते हैं। ऐसा पुरुष सभी लोगों को प्रिय होता है। और सब लोग आवश्यक समय पर उसकी सहायता करते हैं।

वशी—जो व्यक्ति इष्ट पदार्थों में अधिक आसक्त नहीं होता जिसकी प्रवृत्ति विरुद्ध पदार्थों में नहीं है, जो पाँचों इन्द्रियो के विकारों को रोकने वाला हो और काम, क्रोध आदि अन्तरंग शत्रुओं का निग्रह करने वाला हो उसे 'वशी' कहते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष ये छह अन्तरंग शत्रु हैं। स्वस्त्री से अत्यन्त आसक्त रहना तथा विवाहित-अविवाहित परस्त्री की अभिलाषा रखना, काम कहलाता है। अपना तथा दूसरे के नाश व हानि का कुछ विचार न करके कोप करना क्रोध है। सत्पात्र को दान न देना तथा परद्रव्य को विना कारण ही ग्रहण करना लोभ है। अभिमान करना, योग्य वचनों

को न मानना और अन्य लोगों को अपने से छोटा मानना 'मान' है। यौवन, सुन्दरता, ऐश्वर्य और बलके होने से उन्मत्त होना हित-अहित का विचार न करना तथा इच्छानुसार क्रिया करना आदिको 'मद' कहते हैं। विना किसी कारण किसीको दुख पहुंचा कर अथवा जुआ, शिकार आदि पाप कर्म कर प्रसन्न होना, खुशी मनाना हर्ष कहलाता है। इन छहों अन्तरंग शत्रुओं को सदा वश में रखने वाला ही वशी-जितेन्द्रिय कहलाता है।

धर्मविधि को सुनने वाला—स्वर्ग मोक्ष के सुख प्राप्त होने का जो कारण है उसे धर्म कहते हैं। इस धर्म की जो विधि है और आगम के अनुसार उसकी जो स्थिति है, उसका जो मार्ग अथवा कारणहै, उसे धर्म विधि कहते हैं। उस धर्म विधि को अर्थात् धर्म साधन करने के कारण को धर्म विधि कहते हैं। उस धर्मविधिको जो सदा सुनता रहता है, वह धर्मविधि सुनने वाला कहाता है।

दयालु–दुःखी जीवों का दुख दूर करने की जिसकी सदा इच्छा रहती है, उसे दयालु कहते हैं, दया धर्म का मूल है, जिसके हृदय में दया नहीं है वह जैन धर्म को धारण करने का अधिकारी नहीं है। यदि शत्रु भी हो तथापि उस पर दया करनी चाहिए। जो दयालु होता है, उसमें सब गुण आकर निवास करते हैं।

अघभीः–अघों यानी-पापों से भीति (भय) रखने वाला पापभीरु। जो हिंसा, मिथ्या-भाषण, चोरी, व्यभिचार शराब, जुआ आदि बुरे कामों से डरता है, वही 'पापभीरु कहलाता है।

इस प्रकार ऊपर लिखे हुए चौदह गुण जिस पुरुष में विद्यमान हैं, वही सागार गृहस्थ धर्म के पालने का योग्य अधिकारी है।

इस प्रकार दयामित्र श्रेष्ठी विचार करके कहने लगा कि मनुष्य को हमेशा पुरुषार्थ करना चाहिए क्योंकि विना पुरुषार्थ के कोई भी लौकिक तथा पारमार्थिक कार्य सिद्ध नहीं होता।

कहा भी है कि–

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः,
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः॥

अर्थ—जो उद्योगी कर्मठ पुरुषसिंह यानी पुरुषों में सिंह के समान विक्रम धारक है, उसी के पास लक्ष्मी स्वयं उपस्थित होती है। कायर पुरुष ही 'दैव दैव' (भाग्य भाग्य) चिल्लाते हैं। ऐसे व्यक्ति को नीतिकारों ने प्रबोध दिया है कि तुम दैव को लात मारकर अपनी शक्तिभर पुरुषार्थ करो। यदि प्रयत्न करने पर भी कार्य की सिद्धि न मिले तो इसमें किसी को दोष नहीं दिया जा सकता।

एंदु परदुत्तोयनेंब वगेयं
तंदु यथोचितयस्स भडंतं कोंडु
शुभदिनदोळ् पोरवीडं विट्टु
तन्नाश्रयिसिर्प वरवर्पन्नेवरयिर्यन्नेगं ॥६४॥

अर्थ—इस प्रकार मन में विचार करके व्यापार के लिए दयामित्र सेठ ने परदेश जाने का मन से निश्चय किया। तत्पश्चात् जाने के लिए माण्डवल (माल) लेकर शुभ दिन में प्रस्थान कर दिया। प्रस्थान करके गांव के बाहर डेरा लगाकर वहां ठहर गया। इसके बाद अपने साथ चलने वाले अन्य व्यापारियों को भी साथ लेने के लिए नम्रता-पूर्ण आग्रह कर दयामित्र ने उन्हें अपने डेरे में बुला लिया।

उस समय दक्षिण दिशा की ओर से गंगा-स्नान के लिए वसुभूति नामक एक ब्राह्मण का आना—

कोरळपोसजन्निवरमो-
प्पिरे निडुवोट्टेमेये दर्वे करमतिशमदिं ।
बेरळोळ् रंजिसे काशां-
बरमेसेदिरे बन्दुनिंदु भूसुरनोर्वम् ॥६५॥

अर्थ—जिसके गले में नवीन यज्ञोपवीत शोभायमान हो रहा है। अंगुली में दर्भ(कुशा) की अंगूठी है, वह भी सुन्दर दिखाई दे रही है। उसने काषायाम्बर (गेरुआ वस्त्र) पहने हैं, अत्यन्त सुन्दर गोपीचन्दन का तिलक है, वेदमन्त्र का विशुद्ध उच्चारण कर रहा है, ऐसा वह ब्राह्मण जहां उस श्रेष्ठी ने डेरा लगाया था, उस स्थान पर पहुंचा।

गद्य—वेदस्वरक्कं पेळ्क्षतेयनीवुदुं दयामित्रश्रेष्ठिनोडि निम्मपेसरे नेंदे-

सणिं कंडुप्पिरिन्नलिगे पोदप्पिरिल्लिगेंकारणं बन्दिरेंदु वेसगोळ्दुदुं पार्वनिं तेंदं ॥९६॥

अर्थ–वेद का उच्चारण करते हुए, अक्षत हाथ में लिए हुए, कांख में वेद की पुस्तक लिए हुए ऐसे ब्राह्मण को उपस्थित देखकर श्रेष्ठीवर ने पूछा कि तुम्हारा नाम क्या है और तुम कहां से आए हो और कहां जाओगे, यहां आने का कारण क्या है ? इस प्रकार पूछे जाने पर ब्राह्मण ने इस प्रकार कहा–

वसुभूतियेंबुदेंन्नरा-
पेशरुन्नतिवेत्त तंकनाडिं वंदे ।
वसुधेगेसेदिर्द गंगेय-
नसहायनेयति वेरसुमीयलकेंदा ॥९७॥

अर्थ–मेरा नाम वसुभूति ब्राह्मण है, मैं दक्षिण देश से आया हूँ। और जगत् में प्रसिद्ध भगवती गंगा नदी में स्नान करने की अभिलाषा से जा रहा हूँ।

गद्य—एंदु मुन्दळवियप्पुदरिं क्रूरमृगंगळि दानुं वनचररिं दानुं प्राणभमक्कुं मेंदंजि नेरवं पोळलिनोळरसुत्तु मिद निम्मपोगं पुरजनं पेळे केळ्दु निम्म (नेरवनाश्रयसि वंदेनेंबुदुं सेट्टिकरमोळिळतु) बन्निमेने वसुभूति, ।९८।

परन्तु सन्ध्या के कारण आगे जंगल में क्रूर पशुओं का भय अधिक है । वनचर मनुष्यों ने मुझे सूचना दी है कि इस वन में प्राणों का भय है । इसलिए मैं आगे नहीं गया 'आपका विश्राम (डेरा) यहीं है' ऐसा जान कर विचार किया कि आपके साथ-साथ थोड़ी दूर जाना चाहिए, ऐसा सोचकर आपके पास आया हूँ ।

वसुभूति ब्राह्मण की बातें सुनकर श्रेष्ठी ने कहा कि अच्छा, आप यहां पर आनन्दपूर्वक रहो । फिर सेठ ने कहा कि यहां बैठो और तुम्हें अपने खाने पीने के लिये जैसी व्यवस्था चाहिए सो बताओ । ऐसा कहकर सेठ ने उस ब्राह्मण को अपने साथ ठहरा लिया ।

नीतिकार ने कहा भी है कि–

एह्यागच्छ समाश्वसासनमिदं कस्माच्चिराद् दृश्यते,
का वार्ता नन्वतिदुर्बलोऽसि कुशलं प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात् ।

एवं नीचजनेऽपि युज्यति गृहं प्राप्ते सतां सर्वदा,
धर्मोऽयं गृहमेधिनां निगदितः स्मार्तैर्लघु स्वर्गदः ।।

अर्थ—आओ, सुस्ता लो, विश्राम कर लो, इस आसन पर बैठो, बड़े दिनों के पश्चात् दिखाई दिये, क्या बात है जो बहुत दुर्बल दिखाई देते हो, कुशल तो है ? अहो, मैं तुम्हारे दर्शनों से प्रसन्न हो गया । इत्यादि सत्कार वचन, यदि सज्जनों के घर पर नीच भी आ जावे तो उसको कहना उचित है । ऐसा स्वागत सत्कार करना शास्त्रकारों ने गृहस्थों को स्वर्गदाता बताया है ।

कर मोसेदु रागदिं पे-
र्चिरे सेट्टि मनोनुरागदिं दोडनेयवर् ।
वरे नयदिं पिरिदु बलं
बेरसु महोत्साहचित्तदिं मरुदिवसम् ।।६६।।

अर्थ—दूसरे दिन श्रेष्ठी आनन्द के साथ स्नान सामायिक आदि से निबट कर अपने साथ चलने वाले अनेक बन्धुजनों, सम्बन्धियों एवं व्यापारियों को साथ लेकर अत्यन्त उत्सव के साथ आगे चला ।।६६।।

सत्पुरुषों की सदा से यही वृत्ति रही है कि वे अपने लाभ के साथ-साथ अपने इष्ट बन्धु बान्धवों का भी तथा परिचित-अपरिचित सभी का अभ्युदय चाहते हैं और अपने द्वारा जितना जो कुछ सध सके उतना परोपकार करने की ओर सचेष्ट रहते हैं । नीतिकारों ने कहा है कि—

बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगाः ।।

अर्थ—बड़े महानुभावों की सहायता से क्षुद्र भी अपने वांछित कार्यों में सिद्धि प्राप्त कर लेता है । जिस प्रकार महानदी से मिलकर छोटी-छोटी नदियां भी समुद्र को पा लेती हैं ।

दयामित्र सेठ भी इसी प्रकार उन सभी छोटे बड़े परिकर को साथ में लेकर चल पड़ा और वे छोटी नदियों के समान आश्रितजन भी उस महानदी के सम्पर्क में आकर कार्यसिद्धि की आशा से उसके साथ चल पड़े ।

गद्य—मुव्वत्तिर्वर्पडिरुमं बन्धुजनमुमं ज्येष्ठपुत्र नुमुं करेंदु ॥१००॥

अर्थ–उस सेठ की बत्तीस स्त्रियां और बन्धुजन तथा ज्येष्ठ पुत्र आदि सभी साथ में थे। वह एक विशाल कुटुम्ब के समान दिखाई देने वाला जन-समूह दयामित्र श्रेष्ठी की उदारता और परोपकारिता के कारण आनन्दमग्न और प्रसन्नवदन था। श्रेष्ठी ने सभी को बुलाया और कहने लगा कि–

संततं मुनिसंकुळक्केरेदन्नमं जिनपूजेगो
रंतें वेळ्प समस्त बस्तुव सारिसारिगे दानमं।
संतसं मिगे निम्मनाश्रयिसिर्प भव्यजनक्के ना-
नेंतु माडुवेनेन्न वर्पिनमंते माडि निरंतरं ॥१०१॥

अर्थ–मैं अपने बन्धुओं को, माताओं को, स्त्रियों को और पुत्रादि आप सब लोगों को थोड़ा सा नीति का मार्ग बतलाता हूं। सुनो! जैसा कि मैं अभी तक आचरण करता आ रहा हूं उसी प्रकार आप लोगों को भी मेरी परिपाटी के अनुसार अनुकरण करना चाहिए।

मेरी यह दिन-चर्या है कि मैं सत्पात्र दान अर्थात् साधु आदि को आहार-दान दिये बिना भोजन नहीं करता, ऐसा मेरा नियम है। भगवान की पूजा करने में मैं कभी प्रमाद नहीं करता, खूब मन लगाकर पूजा करता हूं। तत्पश्चात् शक्ति के अनुसार स्वाध्याय करता हूं और अपने आश्रित सभी भव्य व्यक्तियों को भी शास्त्र सुनाता हूं। ऐसी मेरी प्रतिदिन की चर्या है। इसी प्रकार आप लोगों को भी करते रहना चाहिए। मैं दीन दुखी आदि लोगों को हमेशा समय के अनुसार दान देता हूं। इस प्रकार आप लोग भी हमेशा अपने आश्रय में आने वाले धर्मात्मा भव्यजनों को दान करते रहें। जब तक मैं घर पर पर-प्रदेश से लौट कर न आऊं तब तक आप मेरे समान कर्त्तव्य का पालन करते रहें। आप लोगों के मन में मेरे प्रति वैसी ही श्रद्धा रहनी चाहिए जैसी कि मेरे सामने थी। इस प्रकार आप भी मेरे समान दिनचर्या पालन करते रहें।

दयामित्र सेठ ने अपने बन्धुओं और स्त्री पुत्र आदि को कहा कि मनुष्य-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है और कमल के ऊपर पड़े हुए पानी की बूंद के समान वह क्षणिक है इसलिए मनुष्य मात्र को एक पल भी व्यर्थ नहीं गंवाना चाहिए। जब तक नर-भव की मर्यादा है तब तक इस लोक और परलोक में आत्म-उन्नति की भावना रखनी चाहिए। नीचे लिखे अनुसार

दयामित्र सेठ ने अपने परिवार जनों को शिक्षा दी—

मानुष्यं वरवंशवित्तविभवो दीर्घायुरारोग्यता ।
सुजनत्वं सुसुता प्रियतमा भक्तिश्च तीर्थंकरे ॥
विद्वत्वं सुजनत्वमिंद्रियजयः सत्पात्रदाने स्थितिः ।
ते सर्वे पुण्येन विना त्रयोदशगुणाः संसारिणाम् दुर्लभाः ॥

अर्थ—मनुष्य भव, उत्तम कुल, अच्छा वैभव, दीर्घ आयु, वीतराग भगवान की भक्ति, सज्जनता, गुणी पुत्र, गुणवती प्रियपत्नी, विद्वत्ता, इन्द्रियजय, सत्पात्रों को दान देने की भावना, आरोग्यता, सर्वप्रियता (सबके साथ मित्रता) संसारी जीवों को इन सब बातों का मिलना बहुत कठिन है ।

अर्थात् तीव्र पुण्य के बिना मनुष्य को समस्त सुख-सामग्री प्राप्त होना दुर्लभ है। इसलिये आप लोगों को पूर्व जन्म के पुण्य के उदय से धर्म-साधन के लिये अवसर मिला है । आपको उत्तम जैनकुलमें जन्म लेकर भगवान जिनेन्द्रदेवकी उपासना करके कर्म-निर्जरा के साधन मिले हैं, इसलिये आप लोगों को अपना अमूल्य समय व्यर्थ नहीं खोना चाहिए। देव-पूजा, दान, संयम आदि धर्म-क्रिया अपनी शक्ति के अनुसार नित्य प्रति करते रहना चाहिए ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने रयणसार में कहा है कि—

जिणपूजा मुणिदाण करेइ जो देइ सत्तिरूवेण ।
सम्माइट्ठी सावय धम्मी सो होइ मोक्खमग्गरओ ॥

अर्थ—जो श्रावक अपनी शक्ति के अनुसार प्रति दिन देव, शास्त्र, गुरु की पूजा करता है और सुपात्रों को चार प्रकार का दान देता है, वह सम्यग्दृष्टी श्रावक है । दान देना तथा पूजा करना श्रावक का मुख्य धर्म है । जो भक्ति भाव और श्रद्धा-पूर्वक अपने धर्म का पालन करता है सो मोक्षमार्ग में गमन करता है । संसार-समुद्र से पार हो जाता है ।

पूयाफलेण तिल्लोके सुरपूज्जो हवेइ सुद्धमणो ।
दाणफलेण तिलोए सारसुहं भुंजदे णियदं ॥

अर्थ—जो शुद्धभाव से श्रद्धापूर्वक पूजा करता है वह पूजाके फल से त्रिलोकके अधीश

देवताओं से पूज्य हो जाता है और जो सुपात्र को चार प्रकारका दान देता है, वह दान के फल से त्रिलोक में सारभूत उत्तम सुखों को भोगता है ।

दाणं भोयणमेत्तं दिण्णइ धण्णो हवेइ सायारो ।
पत्तापत्तविसेसं संदसणे किं वियारेण ॥

अर्थ—भोजन (आहार दान) दान मात्र देने से ही श्रावक धन्य कहलाता है । एक जिन-लिंग को देखकर आहार दान देना चाहिए । केवल भोजन देने में जिनलिंग धारक के पात्रापात्र (द्रव्यलिंग भावलिंग) का क्या विचार करना । यानी-मुनिलिंग देखकर ही उनको आहार दान करना चाहिए ।

दिण्णइ सुपत्तदाणं विसेसतो होइ भोगसग्गमही ।
णिव्वाणसुहं कमसो णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ॥

अर्थ—सुपात्र को दान प्रदान करने से नियम से भोग भूमि तथा स्वर्ग के सर्वोत्तम सुखों की प्राप्ति होती है और अनुक्रम से मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है, ऐसा श्री भगवान ने कहा है ।

खेत्तविसेसं काले ववियं सुवीयं फलं जहा विउलं ।
होइ तहा तं जाणइ पत्तविसेसेसु दाणफलं ॥

अर्थ—जो मनुष्य उत्तम खेत में समय पर अच्छे बीज को बोता है तो उसका फल मनवांछित पूर्ण रूप से प्राप्त होता है । इसी प्रकार उत्तम पात्र को विधि-पूर्वक दान देने से सर्वोत्कृष्ट सुख की प्राप्ति होती है ।

इह णियसुवित्तवीयं जो ववइ जिणुत्त सत्तखेत्तेसु ।
सो तिहुवणरज्जफलं भुंजदि कल्लाणपंचफलं ॥

अर्थ—जो भव्यात्मा अपने नीतिपूर्वक संग्रह किये हुए द्रव्य को श्री जिनेन्द्र भगवान के कहे सात क्षेत्रों में वितरण करता है वह पंच-कल्याण की महाविभूति से सुशोभित त्रिभुवन के राज्य को प्राप्त होता है ।

मादुपिदुपुत्तमित्तं कलत्तधणधण्णवत्थुवाहणविसयं ।
संसारसारमोक्खं सव्वं जाणउ सुपत्तदाणफलं ॥

अर्थ—माता, पिता, पुत्र, स्त्री, मित्र आदि कुटुम्ब परिवार का सुख और धन, धान्य, वस्त्र अलंकार, रथ, हाथी, महल तथा महान विभूति आदि का सुख एक सुपात्र दान का फल है, ऐसा समझना चाहिए ।

सत्तंगरज्जणवणिहिभंडारसंडगवलचउद्दहरयणं ।
छराणवदिसहसिच्छिविहउ जाणउ सुपत्तदाणफलं ॥

अर्थ—सात प्रकार राज्य के अंग, नवनिधि, चौदह रत्न, माल खजाना, रथ, हाथी, घोड़े आदि छह प्रकार की सेना, और छयानवे हजार रानी, ये सर्व चक्रवर्ती का वैभव मिलना सुपात्र दान का ही फल है, ऐसा समझना चाहिए ।

सुकुलसुरूवसुलक्खणसुमइसुसिक्खासुसीलसुगुणचारित्तं ।
सुहलेसं सुहणामं सुहसादं सुपत्त-दाण-फलं ॥

अर्थ—उत्तम कुल, सुन्दर स्वरूप, शुभ लक्षण, श्रेष्ठ बुद्धि, उत्तम निर्दोष शिक्षा, उत्तम शील, उत्कृष्ट गुण, अच्छा सम्यक्चारित्र, उत्तम शुभलेश्या, शुभनाम और समस्त प्रकार के भोगोपयोग की सामग्री सुपात्र दान के फल से प्राप्त होती है ।

जो मुणिभुत्तवसेसं भुंजए जिणुवहिट्ठं ।
संसारसारसोक्खं कमसो णिव्वाणवरसोक्खं ॥

अर्थ—जो भव्य जीव मुनीश्वरों को आहार दान देने के पश्चात् अवशेष (बचे हुए) अन्न को प्रसाद समझकर सेवन करता है, वह संसार के सारभूत उत्तम सुखों को प्राप्त होता है और क्रम से मोक्ष सुख को प्राप्त होता है, ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान ने कहा है ।

सीदुण्ह वाउपिउलं सिलेसिमं तहपरीसमव्वाहिं ।
कायकिलेसुव्वासं जाणिज्जे दिराणए दाणं ॥२३॥

अर्थ—श्री मुनिराज की प्रकृति शीत है या उष्ण, वातरूप है या श्लेष्मारूप है या पित्तरूप है, मुनिराज ने कायोत्सर्ग और विविध प्रकार आसनों से कितना श्रम किया है, गमनागमन से कितना परिश्रम हुआ है, मुनिराज के शरीर में ज्वर संग्रहणी आदि व्याधि की पीड़ा तो नहीं है, कायक्लेश तप और उपवास के कारण मुनिराज के कण्ठ आदि में शुष्कता तो नहीं है इत्यादि समस्त बातों का विचार कर उसके उपचार-स्वरूप योग्य

आहार, औषधि, दुग्ध, गर्म जल आदि देना चाहिए ।

हियमियमण्णं पाणं णिरवज्जोसहिणिराउलं ठाणं ।
सयणासणमुवयरणं जाणिच्च देइ मोक्खरयो ॥२४॥

अर्थ—हित मित प्रासुक शुद्ध अन्न, पान, निर्दोष हितकारी औषधि, निराकुल स्थान, शयनोपकरण, आसनोपकरण, शास्त्रोपकरण आदि दान योग्य वस्तुओं को सुपात्र की आवश्यकतानुसार सम्यग्दृष्टि प्रदान करते हैं ।

अणयाराणं वेज्जावच्चं कुज्जा जहेह जाणिच्चा ।
गब्भभवेव मादा पिदुवा णिच्चं तहा णिरालसया ॥२५॥

अर्थ—जिस प्रकार माता पिता अपने गर्भ से होने वाले बालक का भरण पोषण लालन पालन और सेवासुश्रूषा तन मन की एकाग्रता और प्रेमभाव से करते हैं, सर्व प्रकार से बालक को सुरक्षित रखते हैं, इसी प्रकार सुपात्र की वैयावृत्य सेवा सुश्रूषा, आहार, पान व्यवस्था, निवास स्थान आदि के द्वारा पात्र की प्रकृति कायक्लेश वात पित आदि व्याधि और द्रव्य क्षेत्र काल के उपद्रवों को विचार करके करनी चाहिए।

सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरूणं फलाणसोहवहं ।
लोहीणं दाणं जइ विमाणसोहासवं जाणे ॥२६॥

अर्थ—धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि का दान कल्पवृक्ष के फल के समान महान शोभा को प्राप्त होता है और लोभी पुरुष का दान मृतक पुरुष के विमान (ठठरी) के समान है ।

भावार्थ—धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि पुरुषों का सुपात्र में दान, श्रद्धा, भक्ति और भावपूर्वक होता है इसलिए वह दान पंचाश्चर्य विभूति के साथ स्वर्ग मोक्ष के महान फल को प्राप्त कराता है परन्तु लोभी पुरुष का दान मान बड़ाई की इच्छा से दिया जाता है इसलिए वह मुर्दे की ठठरी के समान है ।

जसकित्तिपुण्णलाहे देइ सुबहुगंपि जत्थ तत्थेव ।
सम्माइ सुगणभायण पत्तविसेसं ण जाणंति ॥२७॥

अर्थ—लोभी, अज्ञानी पुरुष अपनी कीर्ति-यश मान बड़ाई और पुण्य लाभ की इच्छा से कुपात्र-अपात्र आदि अयोग्य मिथ्या अनायतनों में भी बहुत दान देते हैं किन्तु उनको

सम्यक्त्वरत्न से सुशोभित अनेक गुणोंकी खान, ऐसे सुपात्र की पहचान नहीं है।

किसी नीतिकार ने उचित ही कहा है कि गौओं को दिया गया तिनका भी दूध बन कर उनके स्तनों से दूध के रूप में झरता है, सुपात्र को दिया दान भी इसी प्रकार अनन्त-पुण्य कार्यों का साधक होता है किन्तु अपात्र को दिया हुआ तो मदिरा घट में कृमियों की संख्या को बढ़ाने के समान ही मानना चाहिए।

जंतं मंतं तंतं परिचरियं पक्खवायपियवयणं।
पडुच्च पंचमकाले भरहे दाणं ण किं पि मोक्खस्स ॥२८॥

अर्थ—यन्त्र मन्त्र की सिद्धि और जनता में अपनी प्रवृत्ति पक्षपात और खुशामद का लक्ष्य रखकर इस भरत क्षेत्र में, इस पंचम काल में जो दिया जाता है, वह दान मोक्ष का साधन नहीं होता है।

दाणीणं दालिद्दं लोहीणं किं हवेइ महाइसरियं।
उहयाणं पुव्वज्जियकम्मफलं जाव होइ थिरा ॥२९॥

अर्थ—दानी पुरुषों को दरिद्रता और लोभी पुरुषों को महान् विभव की प्राप्ति अपने-अपने पूर्वभव के किये हुए कर्मों का फल है। इसलिए भव्यजीवों को चाहिए कि जब तक पूर्व जन्म के कर्मों का फल है, तब तक अपनी अवस्था पर हर्ष या ग्लानि नहीं करे और न यह विचार करे कि मैं धर्म-सेवन करते हुए भी दरिद्र क्यों हो गया और पापी जन धनवान क्यों हो गए ?

भावार्थ—धर्म का सेवन सदैव सुखकर होता है, दान का फल सदैव सुखकर है किन्तु पूर्व उपार्जित पापों का जो इस समय उदय हो रहा है, उसके निमित्त से दरिद्रता भी और सभी कष्टादि भी प्राप्त हो जाएं तो उन्हें भोगने में शोक अथवा विषाद नहीं करना चाहिए। ऐसे समय में भावपूर्वक धर्म का विशेष सेवन करना ही हितकर है। जिससे पाप कर्मों का उदय पुण्य रूप में परिणत होकर उपस्थित हो।

धणधण्णाइ समिद्धं सुहं जहा होइ सव्वजीवाणं।
मुणिदाणाइ समिद्धं सुहं तहा तं विणा दुक्खं ॥३०॥

अर्थ—जिस प्रकार धन धान्य आदि भोगोपभोग की सामग्री और विभूति से सुख की प्राप्ति होती है उसी प्रकार समस्त प्रकार के परिग्रह और आरम्भ से रहित वीतराम

मुनीश्वरोंके दानके फलसे समस्त प्रकारके उत्कृष्ट सुख स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं।

ज्ञातिशतेषु लभते किल मानुषत्वं
तत्रापि दुर्लभतरं खलु भो द्विजत्वम्।
तद् यो न पालयति लालयतीन्द्रियाणि
तस्यामृतं क्षरति हस्तगतं प्रमादात्॥

अर्थ—अनेक जन्मजन्मान्तरों के पश्चात् पुण्य बल से मनुष्यत्व की प्राप्ति होती है और उसमें भी द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य) में जन्म पाना और भी दुर्लभ है। जो व्यक्ति इस द्विजातित्व को पाकर भी अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता और इन्द्रियों को तृप्त करने में लगा रहता है, मानो उसके हाथ में आया हुआ अमृत भी उसके प्रमाद से गिर गिर कर नष्ट हो रहा है।

गद्य—एदु कैयुगिदु वेडि कोंडु भरदि दोप्पैसि पोरमट्टु किरिद तरपं बंदु बन्धुजनरूपं तनयरुमं रमणीयमप्प बहिरुद्यानवनदोल् निन्दु मृगुलिर वेलदु पयणंबोगुत्तु तनगे (दिवसक्के) णूरुगलिगलिगेवं रधर्म श्रमणामं वेलदल्ल-दुणोनेवं व्रतमुंटप्पुदरिं बिट्ट बीडुगलोल् सकलं श्रावकवर्ग धर्मामं पेलिवद-यामित्र सेट्टिय धर्मश्रवणक्के वसुभूति कलकीलसिनक्कु तन्नोलितेंदें॥१०२॥

अर्थ—इस प्रकार अपने बन्धुजनों को तथा कुटुम्बीजनों को धर्मनीति, आचार-विचार के सम्बन्ध में सभी बातें समझाकर बाद में सभी को यथायोग्य नमस्कार जुहार करके, विनय शिष्टाचार करके, वहां से घर लौटने की आज्ञा दी। दयामित्र सेठ ने भी वहां से कुछ आगे चलकर अपने साथ चलने वाले व्यापारियों तथा पुत्रों के साथ एक अतिरमणीय बगीचे में डेरा डाल दिया।

तत्पश्चात् वसुभूति ब्राह्मण तथा अन्यजनों के साथ धर्म-चर्चा के लिए बैठा। धर्मचर्चा प्रारम्भ करते हुए दयामित्र सेठ ने कहा कि हमें अपना गांव छोड़े तीन दिन हो गए, इतने में ही मुझे कठिनाई मालूम हो रही है। मेरा यह नियम है कि धर्मचर्चा किये बिना मैं अन्न जल ग्रहण नहीं करता। ऐसा कह करके दयामित्र सेठ ने अपने डेरे में जितने अपने साथ श्रावक और बन्धुजन थे उन्हें बैठा कर शास्त्र-उपदेश सब को सुनाया। उस धर्म-

उपदेश को सुन कर वसुभूति ब्राह्मण मन में कहने लगा कि यह सेठ अभी तक धर्म के मूल से अनभिज्ञ है, इसके भावों में सच्चा धर्म उतरा नहीं है। लोगों की देखादेखी इसने जो धर्म ग्रहण किया है वह एक बालक के खिलौने के समान है। वह मनमें विचार करने लगा कि—

अकटकट वैश्यजं भा-
वकनल्लं लज्जेगेट्ट सवगरमालं।
निकरक्के नंबि ठक्कं
गे करं मतिगेट्टु गतिपनरियदे केट्टं ॥१०३॥

अर्थ—आश्चर्य की बात है कि यह सेठ विचारशील नहीं है क्योंकि जो दिगम्बर साधु माया-मोह से रहित हैं, लज्जा से भी रहित हैं और कोई काम धन्धा नहीं करते, सदा नग्न अवस्था में रहते हैं, ऐसे लज्जाहीन साधुओं के बहकावे में आकर यह सेठ उनकी बात पर विश्वास रखकर बुद्धि-भ्रष्ट हो गया है, भविष्य का विचार न करके इसने अपना यह लोक और परलोक बिगाड़ लिया है।

वसुमतियोलु पलरुं पू-
जितसुवेषगुव दैवमं महाधर्मयुगं।
विसुटहह नोड कोनेय-
कुरुकुरु धर्ममनर्देतु नैबिनीतं ॥१०४॥

अर्थ—जगत् में अज्ञानी लोग भेड़चाल के समान धर्म अधर्म का विवेक किये बिना ऐसे ही पूजने लगते हैं, कोने में किसी छाया अथवा आकार को देव या पूज्य मान कर पूजने लगते हैं। अज्ञानी बच्चे जिस तरह कल्पित गुड़ियों के खिलौने से खेलने लगते हैं इसी प्रकार दयामित्र सेठ भी धर्म का अनुभव तथा ठीक परीक्षा न करके लोकरूढ़ि धर्म को मान कर चल रहा है।

कायक्लेशं गलिनिनि-
सापासवडदे पेरर मनेयोल्लुणिसं।
मायावितनदिनुणवर-
दाप मनीपरदनरियदक्कटकेट्टं ॥१०५॥

अर्थ—जो नग्न साधु काय-क्लेश अर्थात् शारीरिक कष्ट आदिका कोई भी कार्य नहीं करते। ये दूसरों के घर में विना किसी संकोच प्रवेश कर जाते है। उन्हींको गुरु मानकर यह सेठ उनकी भक्ति कर रहा है। वे नग्न साधु मायाचारी होते हैं, दूसरों को ठगते हैं, जो धर्म नहीं है उसे धर्म बताते हैं। शरीर के लिए अन्न कारण है, घूमना फिरना कारण नहीं है, यह नहीं जानते। इसलिए भोला-भाला यह दयामित्र धर्मका मर्म नहीं जानता। सच्चे धर्मका तिलमात्र भी इसे ज्ञान नहीं है। अतः इसने अपने दोनों लोक बिगाड़ लिये हैं।

तिरिदाकूलं नीरोळ्
गरगरणप्पंतु कर्चि मेणुंडपरो ।
परियोळ् मेरिमदं परो-
मरुलीतं श्रवणरात्र तपमं कंडर् ॥१०६॥

अर्थ—जैसे नदी में मछली घूम-घाम कर खाती है, उसी प्रकार से वे साधु इधर-उधर घूम-घाम कर किसी के यहाँ आहार कर लेते हैं। वे कभी स्नान नहीं करते, न दान्त साफ करते हैं, न कभी स्वच्छ रहते हैं। वे यत्र-तत्र भ्रमण करते हुए आचार-विचार से शून्य आये हुए भक्तों को उपदेश देकर अपने समान बनाने की चेष्टा करते हैं। ऐसे साधु की भक्ति करने वाला यह दयामित्र सेठ पागल श्रमण के पीछे स्वयं भी पागल होकर उनकी पूजा करता है।

जगदधिवल्लभनं ल-
ड्डुगेमिं पलतेरद पुष्पदिं नानाप- ।
लगलिं पूजिसि निच्चं
सोगयिसि मेयूमिक्कि नाडे बडवादपरो ॥१०७॥

अर्थ—कितनी मूढ़भक्ति है कि ऐसे दिगम्बर जैन साधु को यह सेठ जग का नाथ कहता फिरता है, लाड्डुओं, पुष्पों, फलों से उनकी पूजा करके प्रतिदिन उनके पीछे यह पड़ा हुआ है। ऐसे धर्म से, ऐसे साधु की उपासना और पूजा करने से सभी दरिद्री हो गए हैं।१०७।

कुलमं मासिसि मोहमं तोरेदु कंडर्पिसे मेय्योळ् महा-
पलभं ताल्दिदकष्टरं स्रवणरं कंगेट्टरं कंडुसं ।
चलचित्तं कुलदैवमेंदुपदवीं कोंडाडुबितप्पगा-
र्विलनंगांपननेग्गणं जडननां कार्णे महीचन्द्रदोळ् ॥१०८॥

अर्थ—वे साधु अपने कुल को और शरीर को स्नान न करके मैला करते हैं, अतः जो लोग उनको देखते हैं वे उनसे घृणा करते हैं। उनके मैले शरीर में दुर्गन्धि आती है। वैसे वे अनेक कष्टों को सहन करते हैं, ऐसे श्रमणको जो देखता है वह उनका तिरस्कार करता है, लोक उनको महत्व नहीं देता और ये लोक-पूज्य हैं भी नहीं, ऐसे चंचलचित्त वाले श्रमण को कुलदेव मानकर उनकी स्तुति करने वाले, श्रावक दयामित्र के समान और कौन मूर्ख होगा ? ऐसा जडमति तो मैंने संसार में कहीं नहीं देखा ॥१०८॥

गद्य—एदु नानाविधदिं दूषिसि मत्तं सैरिसलारदे ईतनधनमुं बुद्धियुं वृथे यागदन्तेन्न बल्लमार्गदिं तिलिपि वलिवन्दिधर्ममं पत्तुविडिसि मदीयधर्मदोल् परिसुवेनेंवं वगेयं तन्दुसोद्दिगिंतेंदं ॥१०९॥

अर्थ—इस प्रकार वसुभूति ब्राह्मण के मन में अनेक दूषित विचार आये कि इसका धन और इसकी बुद्धि तथा पूजा आदि क्रिया व्यर्थ न हो, ऐसा हितकर मार्ग इनको समझा करके अपने धर्म के प्रति इसको सम्मुख करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार मन में विचार करके उस ब्राह्मणने दयामित्र श्रेष्ठी को इस प्रकार समझाने का उपक्रम किया।

वरवस्तुवनरिवेडेगं-
परदंनइजानरेंदु करमादरदिं ।
नरनाथपूजिसुव-
र्धरेयोगल्वुदु वस्तुपुरुषरेंदुरे निम्मं ॥११०॥

अर्थ—श्रेष्ठ वस्तुओं को जानने में आप लोगों के समान इस जगत् में और कोई नहीं है क्योंकि वैश्य लोग इस जगत् में सब वस्तुओं की परीक्षा करने में, पहचानने में बड़े चतुर होते हैं और कोई ऐसा पदार्थ नहीं जिसे वे नहीं जानते हों। किन्तु आश्चर्य है, कि फिर भी आप मूर्ख लोगों के समान इस तरह के पाखण्डी, धूर्त और मायाचारी साधु के पीछे लगे हुए हैं, यह आप जैसे बुद्धिमानों के लिए उचित नहीं है।

राजा, महाराजा तथा सभी जगत् के लोग जिस धर्म को तथा जिस गुरु को पूजते हैं और आराधना करने में अपना अहोभाग्य मानते हैं एवं उसे परमात्मा जानकर उसकी शरण में जाते हैं, ऐसा तो संसार में एक ही पुरुष है। वह है जगन्नाथ, जगत्-पति परम-पिता परमेश्वर, परब्रह्म ईश्वर। वही इस जगत में समस्त प्राणियों के लिये पूजनीय है,

आराध्य है, इसलिए आप इस महापाखंडी नंगेश्वर श्रमण मुनि के बहकाने में आकर इस मूढ धर्म को तथा मलिन शरीरधारी को गुरु मान कर, कुलदेवता समझ कर आराधना करते हो, यह कितने आश्चर्य की बात है। क्या यह तुम्हारे समान कुलीन वैश्य को शोभा देता है ? आप इस विषय में विचार कर देखो। आपके हृदय में कितनी मूर्खता, पाखण्ड और अन्ध-भक्ति है ॥११०॥

एल्लेल्लवस्तुगलुमं-
बल्लिर्निम्पन्नरिल्ल बुद्धिगेनीवुं ।
निर्लज्जरप्प सवणर-
सोल्लिंगोल्पादुदक्के ताबेरगार्दे ॥१११॥

अर्थ—जगत् में जहां-जहां जो-जो वस्तुएं हैं, वे सभी आप लोगों की बुद्धि से बाहर नहीं हैं। किन्तु महान् आश्चर्य की बात है कि आप जैसे बुद्धि के धनी भी उस निर्लज्ज नंगे साधु के अनुगामी बनकर उसके बताये मार्ग का अनुसरण करते हैं ॥१११॥

मायमने बोसि पेररवु-
पायदे ठक्कीक्कि देवकार्यदोलिनिसुं ।
नोयदे सुखियिसिवणरु-
पायमनिं निन्नोलन्न भाविसि नोड ॥११२॥

अर्थ—ये नग्न श्रमण उपायों से दूसरों को ठगते हैं और स्त्री-बाल-बच्चे भाई-सगे-बन्धु माता-पिता-बिरादरी का मोह उनको रंचमात्र भी नहीं होता। देव कार्य और धर्म कर्म में उनकी आस्था नहीं रहती, तिल मात्र भी वे विनीत नहीं होते हैं, कदाचित् उनके पूर्वाश्रम के घरमें से कोई इष्ट बन्धु कुटुम्बी जन आ जावे तो उसकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देखते हैं। किसी प्रकार का काम धन्धा भी ये नहीं करते हैं। इस प्रकार के श्रमणों की भी आप वन्दना करते हैं और उन्हें भगवान के समान मानते हैं, यह क्या आश्चर्य की बात नहीं है ? ॥११२॥

मलमं धरिपिसि नाणं-
तोलगिसि निर्ग्रन्थमिदुं सोंबि पल्लं ।

सुक्तियदे मीपदं मिल्कदे-
कुलदिं केट्टवरनरण नीं मन्निपुदे ॥११३॥

अर्थ—ब्राह्मण वसुभूति कहता है कि इनके शरीर में स्नान न करने से मलिनता रहती है, ये निर्लज्ज के समान दिगम्बर रहते हैं, कभी दन्तधावन नहीं करते, कुल को त्यागे हुए हैं, वस्त्रों का त्याग किये हुए हैं और निर्ग्रन्थ रहते हैं, कुटुम्ब से निर्मोह हैं, इस प्रकार के कुलपतितों को आप मानते हैं, यह परम आश्चर्य की बात है ॥११३॥

गद्य—मत्तं (भाविसुवोड) परमाटमेल्ल कॅलकारणमल्लदे गतिकारण मल्लदु:गतिवडेवेनेंबुदु कायक्लेशंबेलरिपुदु:आकायक्लेशं निम्मनच्चिन सवणर मेय्योकेल्लनितुमिल्ल, नीनवरुमनवर देवमुमं कोंडाडुव मरुलर क्केनगे पिरिदुं विस्मयमायादपुदेंबुदुं दयामित्रसेट्टी गुल्नक्कु तन्नोलितेंदें ॥११४॥

अर्थ—विचार करके देखा जावे तो उनके सभी आकार प्रकार क्रिया-कर्तव्य अद्भुत हैं, ये सुगति के कारण नहीं हैं। केवल ऐसे काय-क्लेश आदि क्रिया-काण्ड से सुगति प्राप्त करना सम्भव नहीं है। परमार्थ की प्राप्ति के लिए इन नंगे साधुओं को कुलदेव मानना, उनकी स्तुति करना अज्ञानी और उन्माद-ग्रस्तों का काम है। इसलिए विवेक-पूर्वक विचारिये कि देव कौन है, परमार्थ किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ? इत्यादि बातों को सुनकर श्रेष्ठी के मन में हंसी आई और वह सोचने लगा कि—

बेडं साणिकमोंदं-
काडोल् कंडोर्य मेल्दु पगिनल्लेंदी-
डाडिद्नेंबी नाणणुडि
नाडेयुमेसेदपुदु दुरितव शदिंदवनोल् ॥११५॥

अर्थ—जंगल में रहने वाला भील मणि को देखकर उसको हाथमें उठाकर देखता है कि यह शीशा है, ऐसा समझकर उसे चिड़िया को उड़ाने के लिये समुद्र में फेंक देता है। उसी तरह इन अज्ञानी जीवों को असली धर्म का ज्ञान न होने के कारण वे दम्भी नकली धर्म को 'धर्म' समझते हैं। और अपने अमूल्य धर्म का तिरस्कार कर उसको अगाध संसाररूपी समुद्र में ठुकरा रहे हैं।

कहा भी है कि—

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं,
स तस्य निन्दां सततं करोति ।
यथा किराती करिकुम्भजाताः,
मुक्ताः परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाम् ॥

अर्थ–जो मनुष्य जिस वस्तु के श्रेष्ठ गुण को नहीं जानता वह उस वस्तु की निन्दा ही किया करता है । जैसे जंगल में रहने वाली भीलनी हाथी के कुम्भस्थल में से निकले हुए गजमोती को न पहिचान कर छोड़ देती है, गुंजा फल (गोंगची) को गले में पहन लेती है ।

उसी प्रकार मूर्ख मनुष्य अपने असन्मार्ग को सन्मार्ग समझ कर उसीको अपनाता है । इतना ही नहीं किन्तु सन्मार्ग में लगे हुए अन्य सज्जन पुरुषों को भी धिक्कारता है । चाहे जितना उसको उपदेश करो तो भी वह मोहके वश होकर उस कुमार्ग पर ही डटा रहता है और उसको हितकारी समझ लेता है । जैसे कीचड़ का कीड़ा दुर्गन्धित कीचड़ में रहकर उसी में आनन्द लेता है ।

एक समय एक सज्जन पुरुषने देखा कि एक सूअर विष्ठाको चाट रहा है । यह देखकर उसने सुअर से कहा कि अरे ! तू ऐसी गन्दगी में रह करके अपना जीवन व्यतीत कर रहा है ! कितने दुख की बात है ।

तब सुअर बोला कि यहाँ से निकाल कर क्या आप मुझे नरक में ले चलेंगे ?

उस सज्जन ने उत्तर दिया कि जहाँ मैं ले जाऊंगा वहाँ पर तुझको बहुत सुख मिलेगा, ऐसा दुःख न उठाना पड़ेगा, तुझे खाने को भी अच्छी वस्तु मिलेगी ।

सूअर बोला, महाशय ! आप मुझे कहाँ ले जाना चाहते हैं ?

उसने उत्तर दिया कि तुझे स्वर्ग में ले जाऊँगा । वहाँ पर इन्द्रभोग के सुख हैं, ऐसे दुःख नहीं हैं, जो चाहोगे वही मिलेगा ।

सूअर ने पूछा कि मुझे बताओ कि जिस विष्ठा को मैं खाकर प्रसन्न होता हूँ, वह मुझे वहाँ मिलेगी या नहीं ?

तब उसने कहा कि वहाँ पर इस प्रकार की गन्दगी नहीं मिलेगी । तब सूअर ने उत्तर दिया कि अगर वहाँ विष्ठा नहीं मिलेगी तो मेरा वहां जाना व्यर्थ है, इसलिए मैं वहाँ पर नहीं जा सकता ।

तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय विषय-भोगों के लोलुपी लोगों की संगति में रहने वाले मोही जीवोंको कोई सज्जन सत्-धर्म का उपदेश भी दे तो वह हित-उपदेश उनको रुचिकर नहीं लगता। ब्राह्मण अशुभ कर्म के उदय से सद्धर्म को अधर्म मानता है, अधर्म को धर्म मान बैठा है, यह उसके दुर्भाग्य का दोष है। अभागा मनुष्य दुर्गति देने वाले असन्मार्ग में सन्तोष मानता है, उसको छोड़कर वह सुख स्थान में पहुँचाने वाले सन्मार्ग को कभी पसन्द नहीं करता है।

ऐसी ही इस ब्राह्मणकी स्थिति है। अभी तक इसको सन्मार्ग बताने वाला सद्गुरु तथा सद्धर्म का समागम नहीं मिला है, इसलिए इसकी भावना भी मैली है। इसी कारण यह मैली बात कहता है।

बेलगिनोलं काणदु निशि -
योल् काणबुदु पेम्गणक्के निर्गुणार्गतु ।
उज्वल् धर्ममनंरियदेयु -
म्मल्मं पोदुवुदु जडुर्गं सहजमेक्कुं ॥११६॥

अर्थ–चिमगादर तथा उल्लू पक्षी को दिनमें दिखाई नहीं देता है, उनको तो रातमें ही दिखाई देता है। सूरज निकलने पर वह सूर्य के प्रकाश की निन्दा करता है और जब रात होती है तो उसको दीखने लगता है, तब वह रात्रि की प्रशंसा करता है। उसी प्रकार मूर्ख लोगोंको कुमार्ग ही अच्छा लगता है, उनको सन्मार्ग बुरा लगता है, इसलिए वे सन्मार्ग की निन्दा करते हैं, यह उनका स्वभाव है। दुर्जन लोग दुर्जन की संगति में रह कर उनको वैसी आदत पड़ जाती है अतः विषय कषायों के पोषण का मार्ग अच्छा लगता है इसलिए वे उसी की प्रशंसा करते हैं, गुणवान लोगों की निन्दा करते हैं और दुर्गुणी जन की स्तुति करते हैं। यह बात मूर्ख लोगों में स्वाभाविक रहती है, इसलिए मूर्ख लोग वैसा ही अहित-कारी उल्टा काम किया करते हैं।

अरेयदु कप्पे सागर मेनेंबुधिगंतुदु कुंदे गूगे कं-
डरियदु चांडरोचिय निनंगदु मंगमे नोडे कागे कं -
डरियदु चंद्रन ससिगे हीनमे सज्जन रोल्पनिं -
तरियदे दूर्तिनिं परिये कष्टते सार्गुमे दिव्यरप्परं ॥११७॥

अर्थ—मेंढक गड्ढे में इकट्ठे हुए कीचड़ के पानी को ही सरोवर मान लेता है, वह विशाल स्वच्छ जल वाले समुद्रको जानता ही नहीं। उल्लू सूरजके प्रकाशको धिक्कार करके रात्रि के अन्धकार को ही अच्छा मानता है क्योंकि उसको दिन में दिखाई नहीं देता, रात को दिखाई देता है। कौवा चन्द्रमा की चांदनी का तिरस्कार करता है क्योंकि उसको चन्द्रमा की चांदनी में अच्छा दिखाई नहीं देता, इसलिए वह रात्रि की ही प्रशंसा करता है। इसी तरह हीन लोग हमेशा हीन-धर्मी तथा हीन लोगों के संसर्ग में रह कर हीन-प्रवृत्ति तथा कुसंस्कार वाले बन जाते हैं, इस कारण उनको हीन धर्म तथा हीन लोग ही अच्छे लगते हैं। इसी कारण वे उनकी प्रशंसा करते हैं और सज्जनों की निन्दा करते हैं क्योंकि उनको सज्जन लोगों का सहवास तथा संस्कार नहीं होता।

गद्य—मद्दुकुणिकेयं निंदंगे कल्लुं मण्णुं मरणुं पोन्नमागि तोर्पंते कर्मद तीवंते इंदीपविंगे लौकिक धर्ममे धर्ममागि तोर्पुद्दुकारणादिं सद्धर्म-मनोमे येपेल्देनोप्प पित्ताज्वरमुल्कंवंगे कुदिव पालनेरेवंतानुं, शिशुविन कैय्योल् मरोद बालं कोट्टंतानु मक्कुमदरिं दुपायदोल् तिलिपल्वेलकुमेंदु दयामित्र-सेट्टि पत्तोंटु दिवसं पोगले मत्तों दुदिवसं ॥११८॥

अर्थ—धतूरा खाये मनुष्य को कंकड़, पत्थर मिट्टी आदि सब पदार्थ सोने जैसे दीखने लगते हैं, उसी प्रकार मिथ्यात्व कर्म के तीव्र उदय वाले ब्राह्मण को लौकिक धर्म ही 'धर्म' समझ में आता है। उसे सद्धर्म नहीं दीखता है। इसका कारण पूर्व-संचित तीव्र अशुभ कर्म का उदय है। यदि इसको सद्धर्म का उपदेश इस समय दिया जाय तो जैसे पित्त ज्वर से मनुष्य को दूध अरुचिकर होता है वह दूध पीते ही उल्टी (कय) कर देता है, उसी तरह इसको इस समय सद्धर्म का उपदेश हितकारक नहीं होगा, अहितकारी ही प्रतीत होगा। जैसे छोटे बच्चेके हाथ में कोई तीव्र शस्त्र दे दिया जाय तो वह बच्चा अपने हितकारी कार्य में उसका उपयोग न करके अपना ही हाथ पांव काट लेगा अर्थात् उसका दुरुपयोग करेगा। बन्दर के गले में सुन्दर सुगन्धित पुष्पों की माला पहना दी जाय तो वह उसको तोड़-ताड़ कर फेंक देता है। क्योंकि वह उन सुगन्धित पुष्पों का मूल्य नहीं जानता। इस कारण इस ब्राह्मण को इस समय सद्धर्म का उपदेश देना उचित नहीं। हां उपाय से ही इसको फिर कभी समझाना चाहिए। ऐसा विचार कर वह सेठी उस समय चुपचाप रहा।

भावार्थ—यह है कि जो दृढ धर्मात्मा है वह सदा एक-रस रहता है, उसके मनमें सुख अथवा दुःख से हर्ष विषाद नहीं होता। वह शत्रु और मित्र में समान भावना रखता है। कभी मन में खिन्न नहीं होता है। वह वसुभूति ब्राह्मण दयामित्र सेठके पास रहकर उसके धर्म और गुरु की निन्दा करता है किन्तु वह सेठ उस पर क्रोध या द्वेष भावना नहीं करता। क्योंकि दयामित्र सेठ समझता है कि समस्त जीव अपने-अपने पूर्व संचित कर्मों के अनुसार ही फल भोगते हैं और उसी के अनुसार उनकी बुद्धि होती है। वह दोष उस जीवका नहीं होता। ये मलिन भाव उत्पन्न करने वाले कर्म भी जीवके सदा नहीं बने रहते शुभयोग मिलने पर अशुभ कर्म बदल कर शुभ भी हो जाते हैं। इसलिए इस मूढ को इस समय उपदेश देना व्यर्थ है। अहा! जो सज्जन हैं, उनके मन में कारण उपस्थित होने पर भी विकार उत्पन्न नहीं होता।

नीतिकार ने कहा है—

निर्गुणेष्वपि सत्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः।
न हि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनि॥

अर्थ—जो सज्जन होते हैं. वे निर्गुण प्राणियों पर भी दया करते रहते हैं। चन्द्रमा कभी भी अपनी किरणों को फैलाते समय यह विचार नहीं करता कि मेरी अमुक किरण किसी भद्रजन के घर पर और अमुक किरण किसी चाण्डाल के घर पर गिरेगी इसलिए मैं चाण्डाल के घर पर गिरती हुई किरणों को वहां से हटा लूं। समान रूप से ही उसकी चांदनी चाण्डाल और कुलीन के घर पर पड़ती है।

साधोःप्रकोपितस्यापि मनो न याति विक्रियाम्।
नहि तापयितुं शक्यं सागराम्भस्तृणोल्कया॥

अर्थ—क्रोध आ जाने पर भी सज्जन के मन में विकार नहीं होता। तिनकों की आग जलाने से क्या समुद्र का पानी गर्म होता है? अर्थात् जिस प्रकार तिनके की आग से सागर गर्म नहीं होता। उसी प्रकार सज्जनों का हृदय भी किसी अप्रिय बातको सुनकर भी विकृत नहीं होता।

दुर्जनवचनांगारैर्दग्धोऽपि न विप्रियं वदत्यार्यः।
अगुरुरपि दह्यमानः स्वभावगन्धं परित्यजति किं नु॥

अर्थ—जो आर्य (श्रेष्ठ पुरुष) है, वह दुर्जनों के वचनरूपी अंगारों से दग्ध होकर भी

विप्रिय बोलने वाले के प्रति दुर्वचन नहीं कहता। जैसे अगुरबत्ती जलाने पर भी अपनी स्वाभाविक सुगन्धि को नहीं छोड़ती।

पतितोऽपि राहुवदने तरणिर्बोधयति पद्मखण्डानि।
भवति विपद्यपि महतां अंगीकृतवस्तु-निर्वाहः॥

अर्थ—सूर्य-ग्रहण के समय राहु के मुख में गिरा हुआ भी सूर्य कमलों को खिला देता है। जो व्यक्ति महान् होते हैं, वे विपत्ति पड़ने पर भी अपने व्रतका निर्वाह करते हैं।

सुजनो न याति वैरं परहितनिरतो विनाशकालेऽपि।
छेदेऽपि चन्दनतरौ सुरभयति मुखं कुठारस्य॥

अर्थ—जिन्होंने पर-हित करने का व्रत लिया हुआ है, वे सज्जन पुरुष अपना विनाश उपस्थित होने पर भी, अपकार करने वाले के प्रति वैरभाव नहीं रखते। जो कुल्हाड़ा चन्दनके वृक्ष को काटता है, वह चन्दन उस कुल्हाड़ेके मुखको भी सुगन्धित ही करता है।

विप्रियमप्याकर्ण्य ब्रूते प्रियमेव सर्वदा सुजनः।
क्षारं पिबति पयोधेर्वर्षत्यम्भोधरो मधुरमम्भः॥

अर्थ—सज्जन किसी के कटु वचन सुनकर भी प्रियवचन ही बोलता है। जैसे बादल समुद्र से खारा पानी पीते हैं किन्तु वे फिर भी मीठा पानी ही बरसाते हैं।

इसी आशय का निम्नलिखित श्लोक है—

क्षारं जलं वारिमुचः पिबन्ति तदेव कृत्वा मधुरं वमन्ति।
सन्तस्तथा दुर्जनदुर्वचांसि पीत्वा च सूक्तानि समुद्गिरन्ति॥

अर्थ—बादल खारा जल पीते हैं और मीठा जल बरसाते हैं। उसी प्रकार सज्जन भी दुर्जन पुरुषोंके दुर्वचनोंको सुनकर अपनी सरस सूक्तियाँ-मीठे वचन ही प्रवाहित करते हैं।

आक्रोशितोऽपि सुजनो न वदत्यवाच्यं,
निष्पीडितो मधुरमुद्वमतीक्षुकाण्डः।
नीचो जनो गुणशतैरपि सेव्यमानो,
हास्येन तद् वदति यत् कलहेप्यवाच्यम्॥

अर्थ—कुपित किया जाने पर भी सज्जन अवाच्य (न कहने योग्य) अयोग्य वाणी नहीं बोलता है। ईख कोल्हू में पेली जाने पर भी मधुर रसको ही देती है। नीच मनुष्य सैकड़ों गुणों से सेवित किये जाने पर भी हंसी-हंसी में वैसी बुरी बात कह जाता है जिसे सज्जन कलह में भी नहीं बोल पाते।

बरिसि वसुभूतियं वि-
प्ररमं कुटवेलदु पिरियुयन्नणेयिंदा।
दरदि वीलयमं क-
पूरसहितं कोट्टु वैश्यसुतनिंतेंद ॥११६॥

अर्थ—एक दिन दयामित्र श्रेष्ठी ने अवसर पाकर वसुभूति ब्राह्मण को बुलाया और उसे सम्मान के साथ उच्चासन देकर शिष्टाचार से उसे कपूर वाला पान देकर कहा—

भट्टरे केलिं निम्मं-
विट्टट्ट् बेलकुलजनरोलूरे नांविदेनीगल्।
नेट्टने निम्मिं सुगतियग्
बट्टये नेरनरियलायूत्तु पुण्योदयदिं ॥१२०॥

अर्थ—हे भूदेव! मेरा अहोभाग्य है कि आपके आगमन से हमारा भाग्य खुल गया है। हे महाराज! आपके सिवाय इस संसार में कुल-शीलमें, विद्या में, बुद्धिमें और आचरणमें अन्य कोई भी श्रेष्ठ नहीं है। हमारा विश्वास आप पर बढ़ गया है। हमको सुमतिका मार्ग प्राप्त करनेके समान आपका यह शुभागमन है, इसे हमारा पुण्योदय ही समझना चाहिए।

भावार्थ—जगत में मानव को सज्जन पुरुष का समागम बड़े भाग्य के उदय से होता है, बिना भाग्य से नहीं होता।

सज्जन पुरुष स्नेह-पूर्वक किसी के घर पर आते हैं, यह इस बात का प्रमाण हैं कि उसने पुण्य किया है। बिना पुण्य उदय के सज्जनों को संगति मिलना अति दुर्लभ है।

एंबुदुं वसुभूति महाविभूतिवेत्तरंते यनदोल् पर्चं
दयामित्रसेट्टि मेल्लनितेंदं ॥१२१॥

अर्थ—दयामित्र श्रेष्ठीके ऐसे वचन सुनकर वसुमति ब्राह्मण अपने आपको महान् ऐश्वर्य-शाली समझ कर मनमें आनन्दित हुआ। यह देखकर दयामित्र सेठ धीरेसे कहने लगा कि—

एम्मन्वयदिं बंदुदु-
ताम्मिगिलप्पोंदु नोंपिं यातोंपियुमं '
नाम्परेदें संततमें-
तेम्मय्यं नोपनंतु नोनुतु मिपें ॥१२२॥

अर्थ— हेमूदेव ! मेरी एक प्रार्थना सुनो, हमारे यहाँ कुल-परम्परा से एक व्रत-विधान चला आया है जिसको हम अपने पूर्वजों की परिपाटी के अनुसार करते आये हैं। जब मैं व्यापार के लिए घर से बाहर निकला तब मुझे इस बात का ध्यान नहीं रहा कि उस व्रत-विधान को विधि-पूर्वक घर पर ही समाप्त करके परदेश के लिए गमन करता। अब मुझे उसकी याद आयी है कि वह व्रत इसी महीने और इसी तिथि से आठ दिनों के लिए किया जाता है। मैं इसी चिन्ता में पड़ा हूँ।

वसुभूति ने पूछा कि वह व्रत-विधान कैसे है ?

दयामित्र सेठ ने उत्तर दिया—

गद्य—अदेंतेंदोडे मनोज मदहरनुं सुरासुरमुकुट-तटघटित-चरणार-विंद् नुमघर्हत्परमेश्वर नेम्मन्वयदिं बंद कुलदेवमुप्पदरिं जिनेश्वर साक्षियागि महर्षियर्कलिं नोनिसिं बेल्पुदं कुडुवेनिगल् आनोंपि यं नोपं कालमा-सन्नभायती यवसरदोल् ऋषियरारुमिल्ल इल्लदोमेनाय्तु ॥१२३॥

अर्थ—उसका विधि विधान इस प्रकार है कि—

जिन्होंने मोह-मद पर पूर्ण विजय प्राप्त की है, अत एव जिनके आत्मा में काम, क्रोध, राग, द्वेष, मत्सर आदि दुर्भाव नहीं रहे; जिनके चरणों में सुर, असुर, चक्रवर्ती, इन्द्र, धरणेन्द्र आदि के मुकुट झुकते हैं, जो अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख, बल के स्वामी हैं, वे अर्हन्त भगवान हमारे कुल-देवता हैं। उनके समक्ष यानी—उनकी साक्षी से मेरे पूर्वजों ने यह व्रत लिया है।

कि जिस दिन से यह व्रत प्रारम्भ होता है उस दिन से व्रत पूर्ण होने तक प्रति दिन किसी न किसी एक ऋषि को नियम से भोजन कराना पड़ता है। उस व्रत का यह एक नियम है। इस समय कोई मुनिराज इस वनमें दिखाई नहीं देते, इसलिए मुझे चिन्ता है।

किन्तु—

पालेयदें बांतरे-
भूलोकस्तुत्यरप्प निम्मन्नोर्वर् ।
सालदे जगदोल् नीविरे-
मेलेनिसुवरारो कुलदोलं शीलदोलं ॥१२४॥

अर्थ—मुझे ऐसा मालूम हो रहा है कि जैसे दूध की धारा स्वयं बहकर मुझे पिलाने आ रही है। आप के समान इस पृथ्वी में स्तुत्य और कोई नहीं है। आप बुद्धि, विवेक, शील में तथा कुल में उच्च हैं।

नित्तरिसदे बल्दोरेयाल्-
मत्तोनिसदे बिर्दोडगण सहवासिये बं ।
देंतुवुदुलिदवररसियु-
मेत्ताल् केलागदें ब नियममुमुंटे ॥१२५॥

अर्थ—हे भूदेव ! जैन धर्म में ऐसा कोई नियम नहीं है कि जो राजा, महाराजा, या बलवान, पहलवान हो, जैन हो, वही दिगम्बर मुनि बने किन्तु जो कुलमें, शीलमें, वंश में, बुद्धि में, शुद्ध हो, शुद्ध आचार विचार का हो, ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो या वैश्य हो, वह दिगम्बर मुनि बन सकता है।

गद्य—अदरिंदेयगे रिसिपरल्लदे पेररागदें दु नियममिल्लः अदं बगे बोडवरिं नीवेयमं सहस्त्रयडियप्पुदरिं नियगे माडिद् दानयुं पालुक्किम्म डिसुवंतिम्मडि यक्कुमदुकारणदिंनिल्लि नोंपियं नोतुं नोपियतदनंतर पेल्पि नितु दक्षिणेयं बेडिकोळ्ळिलमेने सेट्टिय यातिंगे वसुभूति मनदोल् गुडिगट्टि १२६

अर्थ—हे वसुभूति महाराज ! दिगम्बर मुनि को आहार दान दिये बिना हमारा व्रत विधान नहीं बनता। यदि आप ही अपने मन में विचार करके मुनि-व्रत को धारण कर लेवें और हमारे व्रत पूर्ण होने तक आप मुनि बने रहें तो कृपा होगी। आपको दिया गया दान हजारों वर्ष तक हमको पुण्य फल प्रदान करेगा क्योंकि आप उत्तम कहलाते हैं,

इसलिए थोड़े दिनों के लिए अर्थात् हमारा यह व्रत विधान पूर्ण होने तक आप दिगम्बर मुनि बन जाइये, व्रत पूर्ण होने के पश्चात् आप जो मांगोगे वह यथेष्ट दक्षिणा आपको भेंट की जायगी। अतः प्रार्थना है कि आप अब विलम्ब न करें। इस प्रकार दयामित्र सेठ की बातको सुनकर वसुभूति ब्राह्मण मनमें अत्यन्त आनन्दित हुआ और विचारने लगा कि—

बित्तरदिं कुरूडं क-
गवेत्तंतिरेरागमोदवे बेलेवण् पगणं।
पेत्तंतिर पार्वं म-
गवत्तंतिरे पिरिदु संतसं मिगे मनदोल् ॥१२७॥

अर्थ—बिना चिकित्सा किये जैसे अन्धे के नेत्र खुल आवें, बिना परिश्रम से सम्पत्ति, स्वर्ग की देवांगना मिले, उसी के समान आज मेरे पुण्य के उदय से यह दयामित्र सेठ मेरे बहकाने में आया है और मेरे ऊपर इसकी श्रद्धा हो गयी है, तब मुझे क्या कमी है। मैं जो मांगूंगा सो ही दक्षिणा मुझे मिलेगी उससे मैं और मेरे बाल बच्चे जीवन भर सुखसे रहेंगे यह जैन श्रमण का भक्त है। अगर मैं इस व्रत को थोड़े दिन ग्रहण भी करता हूँ तो मेरा क्या बिगड़ता है, कुछ नहीं बिगड़ता। वसुभूति ऐसा मनमें विचार कर बहुत प्रसन्न हुआ।

गद्य—यर्दन गल्लपोदं निदिगंडंते पेर्चि करमशुचिगल्प्प सवणगें कुडुवात नेम्मन्नरप्प सद्ब्राह्मणगं कुडुवनेबुंदाद् चोद्यं ॥१२८॥

अर्थ—जैसे घनघोर वनमें भटकने वाले पथिकको भाग्यसे सीधा मार्ग मिल जावे, उसी तरह मुझे इस दयामित्र सेठ का समागम मिला है। यह सेठ धर्म कर्म को कुछ समझता नहीं है। इसने लौकिक बातों को ही धर्म समझ रक्खा है। इसको मेरे वचनों पर तथा मुझ पर विश्वास हो गया है। यह मलिन दिगम्बर साधुओं को अपना कुलगुरु मान कर उनको दान देता था अब हमारे समान शील में, कुल में, धर्म में तथा विद्या में निपुण ब्राह्मणों के प्रति इसको श्रद्धा हुई है। अतः श्रद्धान के साथ हमको मनमाना दान देगा।

ओदविद पोन्नप्पोडे जो-
ल्द राशियोलिर्पुदिल्लि नार्नेनं बे-
डिदोडं बेडिदुदं कुडु-
वुदु पुसिये वैश्यनंदननंदनं पुसिदपने ॥१२९॥

अर्थ–विविध प्रकार के धन धान्य का भण्डार मिल जाने पर पेट भरने के लिए बाहर जानेकी आवश्यकता न पड़ेगी। यह वैश्य-सत्तम दयामित्र सेठ मुझे मुंह-मांगा दान देगा।

करमोल्लि तास्यतु परदन-
नेरविं येट्टरालत्त चप्पटेर्येव।
तिरलां वोल्पि नितर्थ-
दोरकोडुं पुदाने घन्यनें भूतलदोलु ॥१३०॥

अर्थ–यह मेरा पूर्व जन्म का महान पुण्योदय है, मेरे लिये बड़े आनन्द का दिन है। मेरे भाग्य से यह महान् व्यापारी वैश्य मिला है। यह मुझे मुंह मांगी वस्तु दे सकता है। इस प्रकार कल्पवृक्ष के समान आज मुझे यह वैश्य पुत्र मिला, इसलिए मेरे समान इस लोक में कौन धन्य है?

नेरपत्वारद विरां-
दोरेकोंडुदु नेलेगे पोगि मक्कलोलं पें।
डिरोल मोडगूडि सुखदिं-
चरियिसुवें मेच्चिदंदनिं भोगिसुवें ॥१३१॥

अर्थ–मेरे पुण्योदय से अपार सम्पत्ति मुझे इस व्रत की समाप्ति पर मिलेगी। मैं उसे घर लेकर लौटूंगा। तब मेरी स्त्री, बालक-बालिकाएं आदि कुटुम्बी स्वर्ग के इन्द्र समान उस सम्पत्ति का भोग करेंगे। इस सम्पत्ति की प्राप्ति से हम सभी लोकमान्य होंगे। मेरी आज्ञा सब लोगों पर अव्याहतरूप से चलेगी, मेरी ख्याति बढ़ेगी, प्रतिष्ठा बढ़ेगी और बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी मेरा मान करेंगे। इस प्रकार उस प्रचुर सम्पत्ति से मैं तथा मेरा कुटुम्ब सुखी जीवन व्यतीत करेंगे।

गद्य—एंदु मनदोळ्माल्पुडिदु नोंपियं नोपक्रममं पेळिमेने वैश्यवंशल-लामनितेंदना नोंपितीर्वन्नं ग्रासदोलु कळवेय्य कूळं तिळिदुण्पमं पेररोर्वबडिशे कय्योळ् भौनदिंवुडु ॥१३२॥

अर्थ–ऐसा मन में विचार करके वह वसुभूति ब्राह्मण कल्पना करने लगा कि मानो, उसे आज मिष्ठान्न भोजन मिला हो या केसर-इलायची शर्करामिश्रित औटा हुआ दूध पीने

को मिल गया हो, इस प्रकार आनन्द मानते हुए उस वसुभूति ने दयामित्र सेठ से पूछा कि हे वैश्य-नन्दन ! इस व्रत को पूर्ण करने की विधि क्या है ?

वसुभूति को दयामित्र ने विधि बताते हुए कहा कि—हे विप्रदेव ! आपको दिगम्बर (नग्न) बनना पड़ेगा और मौनपूर्वक खड़े होकर दिन में एक बार सुन्दर, सुस्वादु भोजन करना होगा। दूसरे व्यक्ति ग्रास बना कर आपके हाथ में रख दिया करेंगे और आप अपने पाणिपात्र में ही (हाथों में ही) रख कर उसे ग्रहण करेंगे। भोजन के साथ ही आप को जल भी ग्रहण करना होगा। हाँ, आहार आपको ऐसा मिलेगा कि सुगन्धित भात देख-कर आपकी नासा तृप्त हो जायगी, ताजे घृत से सिद्ध किये हुए व्यंजनों से आप एक बार में ही इतने तृप्त हो जाएंगे कि दूसरे समय खाने की इच्छा नहीं होगी। आहार करते समय मौनव्रत रखना अनिवार्य होगा। भोजन समाप्ति के बाद पान, सुपारी, ताम्बूल आदि कुछ भी नहीं ले सकेंगे। रात में मौन रखना होगा और मौन-पूर्वक स्वाध्याय, ध्यान करते हुए अपना समय बिताना होगा। आप उस दिगम्बर मुनि-अवस्था में स्नान, दन्तधावन, कुटुम्बी जनों की स्मृति, सांसारिक कार्योंका चिन्तन नहीं कर सकेंगे। मन को विकारग्रस्त नहीं होने देंगे, अपने विचारों को शुद्ध रखना होगा। इस प्रकार अपने समय को आनन्द-पूर्वक बिताना होगा।

भर्तृहरि ने भी कहा है—

एकाकी निःस्पृहः शान्तः पाणिपात्रो दिगम्बरः ।
कदा शम्भो भविष्यामि कर्म-निर्मूलन-क्षमः ॥

अर्थ—हे शम्भो ! मैं कब अकेला, किसी भी तरह की स्पृहा (इच्छा) से रहित, शान्त, पाणिपात्र यानी-हाथ को ही पात्र मानकर उसमें ही भोजन-पानी लेने वाला और दिगम्बर नग्न व्रत पालन करने वाला हो जाऊंगा। वह समय कब आएगा जब मैं समस्त कर्मों को निर्मूलन करने में समर्थ हो सकूंगा।

व्रत के प्रारम्भ में सुमेरु पर्वत के समान धैर्य धारण करके तथा कष्टसहिष्णु बन कर अपने हाथ से केशलुंचन करना होगा। दिगम्बर होकर लज्जा को जीतना पड़ेगा। विकार और वासनाओं को हृदय से सर्वथा निकाल देना पड़ेगा। मेरे निवास-स्थान पर ही रहकर मुनि-दीक्षा लेनी होगी। मेरे व्रत की समाप्ति पर दीक्षा छोड़ देना और फिर मनमाना द्रव्य लेकर जहां इच्छा हो, चले जाना।

मलदिनमापोराप्पिन-
मरिकेय नीरूटतंबूलगळमातं-
तोरेदुमतियरेदुमनेयोळ्
पोरमेडदोदुबुमिर्पुदिरूळ्ुं नगलुं ॥१३३॥

अर्थ—जिस समय दिन में आप आहार ले रहे हैं, उस समय को छोड़ कर प्रातःकाल आत्म-चिन्तन के पश्चात् दोपहर से पहले दश या ग्यारह बजे आपको एक आहार लेना होगा, ऐसा हमारे ऋषि-मुनियों ने कहा है। इस क्रमबद्ध नियम के अनुसार आपको आठ दिन तक करना होगा ॥१३३॥

हे द्विजोत्तम ! एक बात और सुनो कि एक बार आहार ग्रहण करने पर दूसरे दिन आहार ग्रहण करने तक बीच में पानी, ताम्बूल या अन्य कुछ भी पदार्थ मुख से आप ग्रहण नहीं कर सकेंगे और सांसारिक जनों के साथ भी सांसारिक बातें नहीं कर सकेंगे।

आपको नीचे लिखे अनुसार तपस्वी बनना होगा—

विषयाशावशातीतो, निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ॥

अर्थात्—सभी विषय-वासनाओं से रहित, किसी भी प्रकार का आरम्भ (घर गृहस्थी का काम) न करने वाला (आरम्भ त्यागी) परिग्रह यानी—सांसारिक पदार्थों की मोह-ममता से रहित और ज्ञान-ध्यान तथा तप में मग्न रहने वाला, ऐसा तपस्वी ही प्रशंसनीय होता है।

इसके अनुसार मनःपूर्वक अपने स्थान पर बैठ कर इधर-उधर न आते-जाते हुए रात-दिन ध्यान में लीन रहना चाहिए। किसी प्रकार का परिग्रह भी नहीं रखना चाहिए। हे विप्र ! और भी जो नियम हैं, उन्हें ध्यान देकर सुनो—

सलेमरेयोल्पडुवुदु मे-
मलवेरित्तोंदु मीयलागदु पल्लम्।
सुलियदे वनितेपरं पं-
बलिसदे तल्लणिसदिर्पुदत्युत्सवादिं ॥१३४॥

अर्थ—जो ग्रहण किये हुए व्रत नियमादि हैं, उन्हें भूलना अथवा शरीर पर मैल चढ़ गया है, खुजली चलने लगी है, ऐसा सोच कर किसी तालाब, बापी या नदी में स्नान की अभिलाषा से डुबकी लगाने की इच्छा करना वर्जित है। दन्तधोवन (दंतौन) न करना, स्त्रियों की ओर न देखना, उनसे अधिक वार्तालाप की इच्छा न करना, घर का चिन्तन न करना, इन बातोंसे मनमें हर्ष-विषाद न मानना और आत्म-चिन्तन आपको करना होगा।

दयामित्र श्रेष्ठी ने मुनियों से मूल गुणों को बताते हुए कहा कि—

व्रतसमितीन्द्रियरोधा लोच आवश्यकमचेलमस्नानम्,
क्षितिशयनमदन्तधावन-स्थिति भोजनमेकभक्तं च।
एते खलु मूलगूणाः श्रमणानां जिनवरैः प्रज्ञप्ताः,
तत्र प्रमादकृतादतिचारान्निवृत्तोऽहम् ॥

अर्थ—पंच महाव्रत, पंच समिति, पंचेन्द्रियों का निरोध, केश-लोंच, छह आवश्यक, अचेल अर्थात् किसी प्रकार का भी वस्त्र न धारण करना, अस्नान—कभी भी स्नान न करना, पृथिवी पर शयन, दन्तधावन न करना, खड़े-खड़े एक समय भोजन करना ये २८ मूलगुण मुनियों के हैं।

इस प्रकार श्रेष्ठी ने वसुभूति को मुनियों की व्रतादि-चर्या समझाई। तदनन्तर दयामित्र ने कहा—

मरां (नोंपियं) प्रारम्भदोल नेरवियोल मन्दरदन्ते धैर्यम् बेरसु लाभं बेत्त परदनंतुत्साहंबेरसु पदेपंतु नोर्वि गल्कदे, तनियुडनं ते सालगुमेंन्नदे दृढचित्तदि दिदु (तेलपरोमंगलेल्लमं परिपिसिरागादिनेमगी वुदित्तु मनदोलुम्भ-किसदों देडेयोलु मुन्निन विनोदंगलंमरेदप्पोड नेनेयदे स्वाध्यायपरनागि बीडिनोलादिनितक्कं विस्मयक्कं वस्त्रकमुपेक्षेयिंदेलु सदिं तेरडुतिंगल्वरं एम्मयेल्दोजेयिं (क्रमदप्पदे) नोंपुदेंदुयेल्वुदु ॥१३५॥

अर्थ—हे विप्र ! दिगम्बर मुनि बनने के प्रारम्भ में पूर्व दिशा की ओर मुख करके पद्मासन या अर्धपल्यंकासन से बैठकर मन में पंच परमेष्ठियों का स्मरण करके और 'ओम् नमः सिद्धेभ्यः'—इस प्रकार तीन बार उच्चारण करके शिर के बालों को अपने हाथों से

उखाड़ना चाहिए । उन बालों को उखाड़ने के समय शिर में पीड़ा होगी, उस पीड़ा को सानन्द सहन करना होगा ।

तथा जब आप अपने आसन पर विराजमान हों उस समय अत्यन्त गाम्भीर्य के साथ, अडिग मेरु पर्वत के समान निष्कम्प बैठना चाहिए । मन में ऐसा अनुभव करना चाहिए कि मुझे बड़ा लाभ मिला है । जैसे व्यापारी को व्यापार में लाभ होने से अत्यन्त हर्ष होता है, उसी तरह इस व्रत को ग्रहण करने से अपने आपको लाभान्वित मानकर प्रसन्न होना चाहिए ।

कदाचित् केशलोंच के समय पीड़ा होने लगे तो कायर के समान उससे घबड़ाना नहीं चाहिए । उस समय ग्रीष्म-ऋतु में जैसे ठंडाई पीने से पेट में शान्ति और ठंडक पहुंचती है, ऐसे ही मन में सहनशील वृत्ति से चिन्तवन करना चाहिए । यह सोचना चाहिए कि इस पीड़ा से मेरे संचित कर्मों की निर्जरा हो रही है । 'अरी मां, मुझे बहुत पीड़ा हो रही है,' इत्यादि नहीं कहना चाहिए । धैर्य के साथ ये सब कुछ सहना चाहिए । क्योंकि, दिगम्बर साधु लोग धैर्यपूर्वक बैठकर केशलोंच किया करते हैं । वे इस प्रकार विचारते हैं कि जितने-जितने यह बाल उखड़ते जा रहे हैं, मानो उतने-उतने हमारे संचित कर्म उखड़ते जा रहे हैं, ऐसा विचार कर वे मन में दुःखी नहीं होते ।

हे भूदेव ! मन में ऐसा विचार भी नहीं लाना चाहिए कि मैंने यह व्रत क्यों ग्रहण किया ? अब मेरा क्या होगा ? किसे कहूं ? कौन सहायता करेगा ? अहो, मैं अपनी स्त्री, बाल-बच्चों को छोड़ आया । इस संकट के समय मेरा सहायक कौन बनेगा ? इस प्रकार वेदनातिशय से मन में कुटुम्बियों का स्मरण करते हुए साधुवेश के विपरीत दुर्ध्यान नहीं करना चाहिए । किन्तु सभी दुश्चिन्ताओं को भूलकर ध्यान चिन्तन करते हुए अपना समय सानन्द बिताना चाहिए ।

शीत या उष्णता अधिक सतावे उस समय दिगम्बरत्व के विषय में लज्जा अथवा हीनता नहीं अनुभव करनी चाहिए । कपड़े की इच्छा नहीं करनी चाहिए । इस विधि से व्रत को धारण कर आप मेरे व्रत की पूर्णता कर देवें । हे भूदेव, यह व्रत बहुत ही सरल है । इसी लिये तो हमारे ऋषियों ने इसे ग्रहण किया है । आप भी उत्तम नीतिवान्, विचारवान् तथा तत्ववेत्ता हैं, इस व्रत को पालन करने में आपको कौन सी कठिनाई हो सकती है । आप जैसे उद्भट विद्वान ही तो इस व्रत का पालन कर सकते हैं । हे द्विज !

आपके समान महापुरुष की सेवा का सौभाग्य मुझे प्राप्त हो रहा है, यह मेरे पूर्वजन्म के सद्भाग्य का ही परिणाम है।

ऐसे अनेक अनुनय-विनयभरे वचनों से दयामित्र श्रेष्ठी ने उस भूदेव के मन में आनन्द और शान्ति उत्पन्न की तथा उसे मुनिव्रत के लिए प्रेरित किया।

ओलगरिपद्नि तुमं सं-
चलचित्तं मालपेनेंदु पूणद तस्नों-
दक्वरियदे कडुलेमदि-
नेलगलुभयमरिपदेंवबोल्तद्विप्रम् ॥१३६॥

अर्थ—दयामित्र श्रेष्ठी ने दिगम्बर मुनियों के सम्बन्ध में जो बातें ब्राह्मण को समझाईं उन्हें सुनकर उसने विचार किया कि ऐसा पवित्र व्रत ग्रहण करने में तो कोई दिक्कत नहीं है, केवल मेरे मन के अनुकूल आहार नहीं मिलेगा, जैसा गृहस्थ श्रावक देंगे, वही खाना पड़ेगा। पर, इसमें भी कोई बात नहीं है। केशलोंच में थोड़ी सी कठिनाई मालूम हो रही है। उसमें चोटी आदि सभी को उखाड़ दिया जाता है, परन्तु इसमें भी कोई हानि नहीं। कुछ दिनों में बाल फिर भी आ जाएंगे। तब चोटी रखी जा सकती है। यदि मैं इन बातों को सहन नहीं करूंगा तो मुझे वह दक्षिणा भी कहां से मिलेगी। मुझे तो बस, किसी प्रकार दो मास निकालने हैं और बहुत-सी दक्षिणा प्राप्त करनी है। हां, एक बात खटकती है कि मुझे यहां नंगा रहना पड़ेगा। यह बात हमारे मत के विरुद्ध है।

दूसरी बात यह कि हमारी जाति इस वेष को बुरा समझती है किन्तु मैंने दयामित्र श्रेष्ठी को इस वेष के धारण करने का वचन दे दिया है। परन्तु इसमें भी कोई ऐसी बात नहीं है क्योंकि यहां तो मेरी जाति या कुटुम्ब है नहीं। यह तो जंगल है और मुझे पहचानने वाला भी इनमें कोई नहीं है। इस प्रकार वसुभूति ब्राह्मण लोभ के अधीन हो गया और उसने आगा-पीछा सोचे विना ही श्रेष्ठी को 'हां' कह दी।

कहावत भी है कि—

'लोभमूलानि पापानि'—

जब मनुष्य में लोभ उत्पन्न हो जाता है तो वह पुण्य पाप किसी बात का भी विचार न करके सभी बातों को केवल लोभ के कांटे पर ही तोलने लगता है। उसका सारा विवेक

केवल अपने लोभ पर ही केन्द्रित हो जाता है।

किसी नीतिकार ने कहा है कि–

'लोभो मूलमनर्थानाम्'—

यानी-सभी अनर्थों के मूल में लोभ ही कारण है, यह लोभ अनर्थों की जड़ है। अर्थ-संचय के लोभ से अभिभूत मनुष्य लोभ की एक परम्परा में फंस जाता है। वह सौ रुपये होने पर सोचता है कि ये हजार हो जाते तो मैं इससे अधिक नहीं चाहता। किन्तु जब हजार रुपये पल्ले में आ जाते हैं तो उसकी तृष्णा एक मीठा-सा अंकुश और मारती है कि रे, अभी से बस कर लिया। अभी तो लाख, करोड़ और इससे आगे की संख्या अछूती ही पड़ी है। तब उसका मन पंक में फंसे हुए गज के समान आगे और आगे धंसता चला जाता है।

नीतिकार कहते हैं कि–

इच्छति शती सहस्रं सहस्री लक्षमीहते।
लक्षाधिपस्तथा राज्यं राज्यस्थः स्वर्गमीहते॥

यानी–सौ रुपयेवाला सहस्र रुपये चाहता है और सहस्रवाला लाख रुपये के धन की इच्छा करता है। लाख रुपये मिलने पर वह पृथ्वी का राज्य चाहता है और तदनन्तर स्वर्ग का राज्य–इन्द्रपद चाहने लगता है। इस तृष्णा की सीमा कहीं नहीं दिखाई देती।

इसे ही कहते हैं–

'अहो, लोभपरम्परा'

धन सब तरह दुखदायी है–

अर्थानामर्जने दुःखं अर्जितानां च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् कष्टसंश्रयान्॥

अर्थ–इस धन को कमाने में अतिक्लेश होता है, कमाने पर रक्षा में चिन्ता उठानी पड़ती है। धन आता है तो चिन्ता और जाता है तो चिन्ता, अहो, इस चिन्तामूलक धन को धिक्कार है

दीपस्तमो भक्षति कज्जलं च प्रसूते

दीपक अन्धकार को खाता है और काले कज्जल को ही पैदा करता है।

जिसके कमाते समय कष्ट होता है और उसको प्राप्ति भी दुःख ही देती है, ऐसे धन को धिक्कार है। लोभान्ध व्यक्ति अपने विनाश को भी नहीं देख पाता है। जैसे कि–

कंकणस्य तु लोभेन मग्नः पंके सुदुस्तरे।
वृद्धव्याघ्रेण सम्प्राप्तः पथिकः स मृतो यथा ॥

एक सरोवर के तट पर एक बूढ़ा बाघ बैठा था। वह इतना बूढ़ा था कि भाग दौड़ कर शिकार नहीं कर सकता था। उसके हाथ में सुवर्ण का कंकण था। एक ब्राह्मण उधर आ निकला। बाघ ने उससे कहा कि मैं यह सोने का कंकण दान करने बैठा हूं, तू इस तालाब में स्नान करके मुझसे यह दान ले ले।

उसने सोचा अहो ! ऐसा अवसर तो भाग्य से मिलता है। किन्तु उसने समाधान के लिए बाघ से पूछा—तुम हिंसक जीव हो। तुम्हारा विश्वास कैसे किया जाए ?

व्याघ्र ने कहा–अरे भाई ! मैंने यौवन में, बहुत से जीवों की हिंसा की है, अब मेरे दांत, नख गिर गए हैं, बल पौरुष घट गया है। अब तो मैं इस तालाब के तट पर पुण्य कमाने के लिए दान देने बैठा हूँ, तुम शंका न करो। बाघ की बात सुनकर उस ब्राह्मण का समाधान हो गया। उस तालाब में कीचड़ बहुत थी, इसलिए जैसे ही स्नान करने के लिए तालाब में उतरा कि वह ब्राह्मण उसमें फंस गया।

बाघ ने कहा रे देवता ! तुम तो कीचड़ में फंस गए। लो, मैं तुमको निकाल दूं। ऐसा कह कर बाघ ने उसे धर पकड़ा और खा गया। लोभ से वसुभूति ब्राह्मण भी लोभाभिभूत होकर उस दिगम्बर मुनि-व्रत को धारण करने को तैयार होगया। अहो लोभी जन क्या नहीं करता।

यह संसारी आत्मा इन्द्रिय-विषय की पूर्ति करने के लिए अनेक यत्न करता है अपने भले बुरे का भी विचार नहीं करता, जो वसुभूति ब्राह्मण जैन धर्म की और जैन दिगम्बर साधु की निन्दा करने के लिए उतारू हुआ था उसी वसुभूति ब्राह्मण ने दक्षिणा के लोभ में बनावटी दिगम्बर मुनि-व्रत को कुछ दिन के लिये धारण करना स्वीकार कर लिया।

वसुभूति ब्राह्मण मन में विचारता है कि–

आरैयदु मोडिनगुवव-
रारैन्नं दूरदेशमां नोपेनिदं-

सैरणेयिं चेंबोंगल्
नोरंतिरे बेडिकोल्वेनेन्नार्पनितं ॥१३७॥

अर्थ–मेरे नंगे होने से कोई देखकर हंसेंगे। किन्तु यहां कोई मेरी जाति का मनुष्य नहीं है जो मुझे देखकर हंसे। यहां से मेरा देश भी दूर है फिर कौन हंसेगा? इसलिए इस व्रत को दो महीने तक पूरा करने में मुझे कोई दिक्कत न होगी। जो मुझे कष्ट होगा वह कष्ट थोड़े दिन के लिए होगा, हमेशा के लिए नहीं। सिर के बाल उखाड़ने में मुझे कष्ट अवश्य होगा परन्तु यदि इस कष्ट को सहन नहीं करूंगा तो मुझे दक्षिणा भी कैसे मिलेगी। अतः यदि मुझे दक्षिणा लेनी है तो केशलौंच के कष्ट को सहन करना होगा। परन्तु यह कोई भारी कष्ट नहीं है, थोड़े समय का है, उस दिन मुझे मौन धारण करना पड़ेगा तथा उपवास भी करना पड़ेगा, यह भी कोई कष्ट नहीं, इसको भी सहन कर लूंगा।

उखिरदे गल्विरं सै-
रिसि तलेयं परिसिकोडु चेंवोन्न सं-
तसदिं कै कोल्वें भा -
विसुवोडे तलेयल्लि मतेपुल्मोशे दपुदे ॥१३८॥

अर्थ–केश-लौंच होने तक मौन रहने की विधि में केवल दो घड़ी का ही समय लगेगा, ज्यादा नहीं। उस दिन मुझे उपवास करना पड़ेगा, यहां कोई दिक्कत नहीं है लोंच के कष्ट को सहन करने के बाद पुनः मुझे शुभ कर्म का उदय आयेगा। दूसरे दिन मुझे यथेष्ट मन-माने स्वादिष्ट अनेक पकवान खाने को मिलेंगे।

उंबुदु कल्वेय कूल्गड-
तंबुल मिपोंत्ति नुनिसु मीहं केलि।
ल्लेंविनिते गडं तिंगुलु-
मेंबुदु तस दूर मायते पेरेंगहनं ॥१३९॥

अर्थ–वसुभूति ब्राह्मण अपने मन में सोचने लगा कि अब मुझे इस व्रत को पूर्ण करने तक बिना नमक अर्थात् अनोन भी भोजन करना पड़ेगा। और यह भोजन मेरे अधीन न रहा, जैसा मैं चाहूं वैसा नहीं खा सकता। क्योंकि दूसरे गृहस्थ लोग जैसा अपने हाथ से देंगे

पराधीन होकर वही खाना पड़ेगा। दो महीने तक ऐसा करना ही पड़ेगा। भोजन के बाद तम्बाकू इलायची लौंग इत्यादि चीजें नहीं मिलेंगी। इस व्रत में एक बार ही खाना तथा पानी पीना होगा। सायंकाल पानी भी नहीं मिलेगा। यह कष्ट भी थोड़े दिन सहन करूंगा। ऐसा करने में मर थोड़ा ही जाऊंगा। दो महीने की कोई विकृत नहीं है इसको तो हां हां करते पूर्ण कर डालूंगा।

गद्य—एंदु तन्नोलू रागसुतिरे वणिग्वंश-ललामं बीडिनुप्पपगांमाडि मरुदिवसं समस्तदुरिताविलयनप्प जिनस्वामिगे तूर्यरव मेसेये महाभिषेक पूजेयं याडि माडिसि वसुभूतियिं बडगमुखनागिकुल्लिरिसि ॥१४०॥

अर्थ—इस प्रकार वसुभूति ने मन में सब बातों का विचार करने के बाद निश्चय किया कि मैं इस व्रत को दो महीने तक पालन करूंगा।

दयामित्र सेठ ने अपना डेरा वहां से हटाया और आगे के लिए प्रस्थान किया। उसके बाद दयामित्र ने शुभ दिन शुभ घड़ी देख करके दूसरे दिन सम्पूर्ण कर्म शत्रु को तथा पाप मल का सम्पूर्ण नाश करके अखण्ड अविनाशी अनंत आत्म सुख में मग्न रहने वाले, तीन लोक के नाथ, श्री जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक, पूजा बाजे गाजे के साथ की। तदनन्तर वसुभूति ब्राह्मण को पूर्व दिशा में एक ऊंचे आसन पर पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठा दिया और कहा कि हे भूदेव! आज का दिन बहुत उत्तम है इसलिए आप मन में विचार करो कि आज मेरे शुभ कर्म का उदय आया है ऐसा अवसर कभी मेरे जीवन में नहीं आया। ऐसा विचार कर आप अपने कपड़ों को उतार डालो और दिगम्बर रूप में बैठ जाओ।

तलेयं बलु दड़िगर्किले-
निललारदे सुंटिदिंद् लोडगदंतु।
म्मलिसि कलवलिसि नोविं-
तलेयं तिरिपुत्तुमंजि केट्टेनेनुतुं ॥१४१॥

अर्थ—ऐसा करने के बाद दयामित्र सेठ तीन बार णमोकार मंत्र पढ़कर जब उसके सिर से बाल उखाड़ने लगा तब वसुभूति ब्राह्मण पीड़ा को सहन न करने के कारण हाय हाय करने लगा और बार बार अपने हाथों से सिर को संभालते हुए मन में बहुत व्याकुल होने लगा। जैसे कि सौंठ खा लेने पर बन्दर के पेट में सौंठ की जलन होती है और

उसका मुंह भी जलने लगता है, जिससे चीं-चीं करता फिरता है दांत किटकिटाता है, भयभीत होता है, इधर उधर देखने लगता है। तदनुसार वसुभूति व्याकुल हो सोचने लगा कि मैंने यह क्या किया, मैंने बिना सोचे इस व्रत को स्वीकार किया, हाय भगवान अब क्या होगा, मेरा यहां कोई संबंधी भी नहीं है। इस प्रकार वसुभूति ब्राह्मण अत्यन्त भयभीत होकर केशलोंच की तीव्र वेदना से अपने सिर को इधर उधर हिलाने लगा। मन में विचार करता है कि अब मैं इससे कैसे छुटकारा पाऊं। ऐसा विचार करते हुए केशलोंच की पीड़ा सहन करता जा रहा था।

नडुगे शरीरं पल्लं-
गिडिगिरिदेर्दे गूडबाये पंदेयमेल्या-
त्तडर्दतिरे देहं मर-
वडे कएणीर्सुरिये तल्दिनदनोत्तु ं ॥१४२॥

अर्थ—पीड़ा सहन न होने के कारण शरीर कांप रहा था, दांत किटकिटा रहे थे, हाथ पैर सिकुड़ रहे थे। जैसे कायर पुरुष अपने शरीर पर सर्प लिपटने से जैसा घबरा जाता है उसी प्रकार वसुभूति ब्राह्मण केशलोंच से घबरा रहा था तथा अपनी आंखें मृतक मनुष्य के समान सफेद कर लेता था, कभी लम्बी सांस छोड़ता था। वसुभूति ब्राह्मण की दोनों आंखों से पानी टपक रहा था अपने शरीर को अपने हाथों से अपने आप दबा लेता था सिर को दोनों हाथ से दर्द के स्थान को दबाता था।

विडदोडुगर्चि नोवि ं-
दडिगडिगहहा येनुत्तुमेडय्यिंद ं।
तडवरिसुत्तु ं सासवे-
गुडिद ंतिरे करमे मसगि तलवेलगाद ं ॥१४३॥

अर्थ—नीचे और ऊपर के दांतों को दबाते हुए तथा देह को सिकोड़ते हुए पीड़ा सहन करने में असमर्थ हो रहा था। मुंह से हाय हाय कहते हुए दोनों हाथों से सिर को बार बार दबाता था। अत्यन्त दुखी हो रहा था, शरीर को हिलाता था, कभी शिर के बाल उखाड़ने वाले दयामित्र सेठ के हाथों को अपने हाथ से पकड़ लेता था। जैसे सरसों काट करके गड्डी कर देते हैं उसी प्रकार वसुभूति ब्राह्मण अपने शरीर को सिकोड़ कर दांत

किटकिटाता था। ब्राह्मण की वेदना बढ़ती आ रही थी और वह मन में विचार कर रहा था कि अब कब यह केश-लोंच समाप्त होगा। पहले मैं गरीब था, लोभ के वश होकर ही मैंने यह भार उठाया है, इससे बचना कठिन है।

गद्य—यत्तं कुदुरेयेर्द कुरुंबनते नडुगुत्तु पेगानं कंड पंपदेयंते कण्गां मुच्चुसुं बिन्नंपंगेय्व बोक्कलिगनंते बिक्कुत्तुं, साक्षियिल्लदे सालंगोहो (क्कलिग) नंते सुय्युतु, सिक्किद कल्लनंते पलवं नेनेयुत्तुं, ग्रहपीडितनंते तोनेयुत्तुं येनुल्लनंते तलेयं तुरिसुत्तुं करुसताविनंते यस्युत्तुं, तायसत्तशिशुविनंते बायूविडुत्तुं, केसरोलु बील्दनंते मिडुकुत्तुं मगनिल्लदर्थ पतियंते बेदेबेदे वेय्युत्तुं, सूलवेरिदनंते कालं नीडुत्तुं कूल्व डेयदनंते बंबलवाडुत्तुं मुल्लपोक्कवनंते कुशियुत्तुं, सूलेयुल्लवनंते कविदुबीलुत्तुं मौनगोंडचपलनं-तुम्मलि सुत्तुं (चित्तदोलुल्लल्कुत्तुं, निल्लवारदेनिसुव नोविंगे बेव्वरागि वाल्मोहक्के शिशुंव पिडिदरेंब नाण्णुडियते योग्र मोहक्के मनयं बलविडिदु) निश्रेयस श्रीयविवाहगेहद भूमिशोधने येनिम लोचनें तानुं सैरिसि ॥१४४॥

अर्थ—गडरिया को यदि किसी अच्छे घोड़े पर बैठा दिया जाय तो वह जैसे कांपता है तथा घबराता है उसी प्रकार वसुभूति ब्राह्मण का शरीर कांप रहा था। मुर्दे को देखकर जैसे डरपोक आदमी आंख बन्द कर लेता है, उसी तरह ब्राह्मण ने भी आंखें बन्द कर ली थीं। जैसे किसान अपने खेत में सिंचाई के लिए पर्याप्त जल न मिलने से या वर्षा न होने से खेत के सूखते समय बड़ा चिन्तातुर होता है उसी तरह वसुभूति ब्राह्मण भी दुःखी हो रहा था कि मैं इस व्रत से कैसे बचूंगा। मेरी स्त्री बच्चों की रक्षा कौन करेगा? जैसे विना साक्षी के किसी को कर्ज (ऋण) देने वाला मनुष्य पश्चात्ताप करता है और दी हुई रकम वापिस न आने से उसे अपना पागलपन मालूम होता है, उसी प्रकार वसुभूति ब्राह्मण भी मन में अत्यन्त चिन्तित हो रहा था। कोतवाल के हाथ में आया हुआ चोर छुटकारे के लिये मन में अनेक विचार करता है, उसी प्रकार वसुभूति ब्राह्मण भी छूटने की चिन्ता में ग्रस्त था जैसे पिशाचग्रस्त मनुष्य मनमाना बकता है उसी प्रकार वसुभूति ब्राह्मण बालों के उखड़ने की वेदना से बड़बड़ाता था, कोई स्त्री अपने शिर में जूं पड़ने से जैसे दोनों हाथों से अपना सिर खुजाती है उसी प्रकार वसुभूति ब्राह्मण भी केशलोंच से अपने सिर को दोनों

हाथों से खरोंचता था बछड़ा मरने से जैसे गाय को दुःख होता है विचलित होकर गाय इधर-उधर देखती है। उसी प्रकार वसुभूति ब्राह्मण भी चंचलता से चारों ओर देखता था और मुंह से हुंकार भरता था। जैसे छोटे बच्चे को कोई अपरिचित मनुष्य पकड़े तो वह बच्चा रोने लगता है, चिल्लाता है, उसी प्रकार वसुभूति ब्राह्मण भी मुंह खोल कर कभी रोने के समान हो जाता था, जैसे कीचड़ से फंसा हुआ कायर मनुष्य दुखी होता है उसी तरह वसुभूति ब्राह्मण केश-लौंच से दुखी हो रहा था, जैसे धनवान मनुष्य सन्तान-रहित होकर चिन्तातुर होता है उसी प्रकार वसुभूति ब्राह्मण दुःखी है। सूली पर चढ़े हुए अपराधी के पांव फैले होते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण भी पांव फैला कर चिल्लाता है। जैसे अन्न-हीन दरिद्री मनुष्य अन्न न मिलने से भूख के कारण बहुत दुबला हो जाता है, शक्तिहीन होकर उठने बैठने में असमर्थ होता है, उसी प्रकार वसुभूति ब्राह्मण उपवास के कारण भूख की वेदना सहन करने में असमर्थ होकर शक्तिहीन हो गया। पांव में कांटा चुभने से जैसे मनुष्य दुःखी होता है उसी प्रकार यह ब्राह्मण भी केश-लौंच तथा उपवास के दुःख से दुःखी हो रहा था। जैसे किसी मनुष्य के शिर में शूल रोग होने से भारी वेदना होती है, उसी प्रकार सिर की वेदना से वसुभूति व्याकुल हो रहा था। सोने के मोह से जैसे लोभी कष्ट में फंस जाता है, उसी प्रकार वसुभूति ब्राह्मण भी दक्षिणा के लोभ से होने वाले कष्ट को सहन कर रहा था। धैर्य के साथ मन में यह भी विचार कर रहा था कि यदि मैं इस वेदना को सहन न करूंगा तो मुझे दक्षिणा न मिलेगी। इस प्रकार मन में विचार करके मोक्ष-लक्ष्मी के महल में पहुंचने के लिए निमित्त कारण केश-लोंच विधि की वेदना को वसुभूति ब्राह्मण ने धैर्य के साथ सहन कर लिया।

जैसे भील अकस्मात् किसी मणि को पाकर उसका मूल्य न समझ कर उसे फेंक देता है इसी प्रकार पापी जीव धर्म अधर्म की अपेक्षा किये बिना सच्चे धर्म को खो बैठते हैं। जिन्होंने धर्म का स्वरूप नहीं समझा वह अपने झूठे धर्म को ही सब कुछ समझते हैं। जिस प्रकार कूप-मण्डूक ने कभी समुद्र का दर्शन नहीं किया अतः वह कुए को ही समुद्र समझता है। उल्लू जिसने कभी सूर्य के प्रकाश का दर्शन नहीं किया वह अन्धेरे को ही सूर्य का प्रकाश समझता है उसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति अधर्म को ही सब कुछ समझता है। इत्यादि अनेक विचार कर दयामित्र सेठ ने सोचा कि वसुभूति को दिगम्बर मुनि की चर्या का प्रत्यक्ष कराना चाहिए, अतएव मैंने (दयामित्र ने) उसको मुनि बनाया है और वसुभूति भी दक्षिणा के लोभ में मुनि बन गया।

दूसरे दिन वसुमति ब्राह्मण का आहार–

विनयपयोनिधि सत्यद-
मनेयेनिसिद् सेष्टि पेल्द् मार्गदोलंतं ।
दिनदिनमुपवासमनि-
र्दनुनयदिंदेक चित्तदिं मरुदिवसं ॥१४५॥

अर्थ–विनय के सागर, सत्य के आगर अर्थात् घर के समान दयामित्र श्रेष्ठी के कहे अनुसार पहले दिन केश-लोंच के निमित्त से वसुभूति ने उपवास किया था। उपवास के दूसरे दिन एक-चित्त होकर वह वसुभूति ब्राह्मण–

गद्य—अयाचित व्रत मप्पुदरिं सेट्टि मनेगे पोगि वैश्योत्तमं पेल्दोजेयिं निंदु पाणिपात्रपात्रदोल् शर्करे वेरसिद पालं कुडिदु तदनंतरं ॥१४६॥

अर्थ–मुनि का आहार अयाचित वृत्ति से होता है, निमंत्रण से नहीं होता, मन में किसी वस्तु, किसी घर आदि का अटपटा नियम धारण करके जैन साधु चर्या के लिए उठते हैं। उसी प्रकार दिगम्बर बना हुआ वसुभूति ब्राह्मण मुनि-अवस्था में अयाचित आहार के लिए निकलकर दयामित्र श्रेष्ठी के घर पहुंचा।

दयामित्र श्रेष्ठी अपने घर के सामने द्वारापेक्षण कर रहा था, हाथ में फल-फूल आदि लेकर खड़ा हुआ था। उस समय वसुभूति मुनि को आते हुए देखकर कहने लगा कि हे स्वामिन्! अत्र तिष्ठतिष्ठ, आहार पानी शुद्ध है। कुल शुद्ध है, वंश, जाति शुद्ध है, नव कोटि विशुद्धि से तथा मन वचन काय शुद्धि से एवं नवधा भक्ति-पूर्वक आहार जल तैयार किया है, आप हमारे घर में आहार के लिए पधारिये। इस तरह विधि के अनुसार कह कर तीन प्रदक्षिणा दीं और भूमि-शुद्धि करते हुए, जल की बूंदों के छींटें देते हुए जहां शुद्ध रसोई तैयार थी वहां ले जाकर उच्च स्थान पर वसुभूति मुनि को बैठा दिया। फिर आठ द्रव्यों से पूजा की। तत्पश्चात् उनके चरण का गन्धोदक अपने माथे पर लगाया। बाद में वहां शुद्ध आहार लाकर पात्र में रखा। तत्पश्चात् सेठ ने मुनि से कहा कि मन-शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि-पूर्वक आहार तैयार किया है इसलिए हे स्वामिन्, हे गुरुदेव! आप आहार ग्रहण कीजिए। इस तरह दयामित्र सेठ ने भक्ति-पूर्वक मुनिरूपधारी वसुभूति ने दयामित्र सेठ द्वारा बताई हुई आहार की विधि के अनुसार खड़े होकर आहार लेना प्रारम्भ किया।

वसुभूति ब्राह्मण की आहार में लोलुपता—

दयामित्र श्रेष्ठी ने अपने घर में अनेक प्रकार के पकवान बनवा कर सामने चौकी पर रखे थे, उन सभी वस्तुओं को देखकर वसुभूति ने मन में विचार किया कि इनमें से कौन २ सी वस्तु लेनी चाहिए, इस तरह विचार करते समय दयामित्र श्रेष्ठी ने प्रथम दूध का लोटा उठाकर दूध दिया। वह दूध अच्छा मीठा स्वादिष्ट था। स्वाद की लोलुपता से वसुभूति ने उसे अपने कर-पात्र में लेकर पिया।

सोगयिप घृतपूरं हो-
लिगे मंडगे तरगु नाडे रुचिवेरसिदल-
ड्डुगे चक्कुलि गारिगे पू-
रिगे मोदलागिर्द पलवु भक्ष्यमनागल् ॥१४७॥

अर्थ—तथा घी के बने हुए मनोहर, मधुर, स्वादिष्ट अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थों (पूड़ी मोदक, बर्फी आदि) का भोजन किया। दयामित्र सेठ क्रम-क्रम से उन सुन्दर वस्तुओं को दे रहा था।

अज्ययुतमप्पुवं मेल्लदु (तोरेयोल् पोपवंगे तेप्पव निक्कि
दंतिक्किद् गट्टिगोंड वलमोसरं कोंडु पदुलिसि निं दवलिक्कं १४८

अर्थ—बाद में घी के पुवे दिये तत्पश्चात् समुद्र के फेन के समान सफेद गाढ़ा दही दिया। उसके खाने के बाद—

कलवेपकूल्यगयगिसुव-
तिलिदुप्पं तिवुडुगलेद पोंवेसर महो-
ज्वलमप्प कंपिनिंपिन-
निलयमुये निसिर्द गवियिनोदविद तोवेयं ॥१४९॥

अर्थ—सुगन्धित बढ़िया चावल का भात और उसके साथ बढ़िया सुगन्धित घी सहित स्वादिष्ट मूंग की दाल भी दी। तदनन्तर अन्य नमक मिर्च खटाई के स्वादिष्ट रुचिकर पदार्थ दयामित्र सेठ ने खाने को दिये। वसुभूति ब्राह्मण बड़ी रुचि से आहार कर रहा था। दयामित्र सेठ आनन्द तथा भक्ति के साथ भोजन खिला रहा था।

अमृतदोल् (मच्चरिसुख, रसायनदोल्) पुरुडिसुव दिव्य
आहारमं (कैयूयोलिक्कुवुदु माकंठं) उंडु बलके वो गिर्पुदु ॥१५०॥

अर्थ—दयामित्र सेठ ने मुनि आहार के लिये ऐसे सुन्दर स्वादिष्ट पकवान तयार कराये थे जो देवों के अमृतमय आहार का भी तिरस्कार करते थे। दयामित्र सेठ वसुभूति मुनि के हाथ में वे पदार्थ रखता जाता था और वसुभूति ब्राह्मण अपने मन में उन पदार्थों के स्वाद की प्रशंसा करता हुआ रुचि के साथ खाता जाता था।

बालेय कर्जूरद कि-
त्तीलेय कंमरद् रंजिपम्माविन पे- ।
रिलिय नारंगद् कं -
चीलेय तनिवरणानिक्के मेद्दादरदि ॥१५१॥

अर्थ—सुन्दर पके हुए केले, खजूर, छुहारा, मौसम्मी, सन्तरा, स्वादिष्ट आम, बिजनौर के फल, पिस्ता, किसमिस, काजू, बादाम, गन्ने का रस दयामित्र श्रेष्ठी वसुभूति ब्राह्मण के कर-पात्र में रखता गया और वह खाता गया। उन पदार्थों से वसुभूति का पेट भर गया यहाँ तक कि आहार के अन्त में पानी पीने के लिए भी पेट में जगह खाली न रही। इसलिए उसने पानी नहीं पिया। इस तरह वसुभूति मुनि ने अपना भोजन पान समाप्त कर दिया।

गद्य—(कैयूयं कर्चिकोंडु) तरणरद तणगोडुवालिनीरं अर्पनितं कुडिदु संतोषदिं नुडिदु दयामित्रोष्ठियध्यत्तं वेरसु विहारक्के बंदु (काष्ठासनदोल्) कुळ्ळिदु तन्नोल् ॥१५२॥

अर्थ—वसुभूति ब्राह्मण अपना पेट भर जाने के बाद बैठ गया। मुख शुद्धि की क्रिया से निवृत्त होकर उसने दयामित्र सेठ का मुख आनन्दित देखकर मधुर वार्तालाप किया। तदनन्तर वहाँ से उठकर बाहर उच्च-आसन पर बैठ गया।

इबुलेसवुलेसेंबी-
विवरदोलें सकल भक्षमुं बाडुगलुं ।
सवियोल् सासिरमडि मि-
क्कुवु भुाविसिनोल्पोडिं द्रनुणवमृतमुमं ॥१५३॥

अर्थ–काष्ठासन पर बैठने के बाद वसुभूति ब्राह्मण मन में विचार करने लगा कि मैं कितना भाग्यवान मनुष्य हूँ कि जन्म से अभी तक मैंने ऐसा सुन्दर भोजन कभी नहीं किया। आज जो मुझको आहार मिला है उस आहार की प्रशंसा कहां तक वर्णन करूं ? पूड़ी, कचौड़ी, कढ़ी, भात आदि खाद्य पदार्थ, मोदक बर्फी आदि स्वाद्य पदार्थ, रबड़ी, चटनी आदि लेह्य वस्तुएं और दूध, रस, छाछ आदि पेय चीजें एवं ताजे स्वादिष्ट विविध प्रकार के अंगूर, केला, सेव, अनार आदि फल तथा किशमिश, पिश्ता, खजूर आदि मेवा सब पदार्थ एक से एक बढ़कर आज भोजन में मिले हैं। खाने में बहुत आनन्द आया। इस तरह मन में वसुभूति ब्राह्मण खाए हुए प्रत्येक पदार्थ के स्वाद का अनुभव कर रहा था।

जब वसुभूति भोजन के विचार में निमग्न था तब दयामित्र श्रेष्ठी को ऐसा प्रतीत हुआ कि इस समय वसुभूति ब्राह्मण अपने आत्म-चिन्तवन में मग्न है।

गद्य—एंदु तन्नतूटं तनगेजन्मापूर्वेयप्पुदरिं महाविस्मयं बट्टु इरुल्कंड कनसुगलं पगल्नेनेवंते नेनेयुत्तं [पगलेल्लं संतसदिंदिदु] नेसर्पट्टोदु जावक्के तोट्टने ॥१५४॥

अर्थ–जिस तरह प्रातः काल (सूर्य उदय से पहले) देखे हुए स्वप्न पर कोई बारम्बार विचार किया करता है, उसी तरह वसुभूति ब्राह्मण आज किये हुए अत्यन्त रोचक सुन्दर स्वादिष्ट भोजन के विषय में मन ही मन विचार कर रहा है कि 'ऐसा आश्चर्यजनक सुस्वादु भोजन मैंने जन्मान्तर में भी नहीं किया होगा। ऐसा आहार राजा महाराजाओं को भी दुर्लभ है। वास्तव में मेरे समान कोई भी नहीं है। सचमुच मैंने दिगम्बर साधु का भेष धर कर अच्छा किया। इस तरह रोज मुझे बढ़िया खाना मिलेगा, और आनन्द के साथ दो मास यह धारण किया हुआ दिगम्बर व्रत भी निर्विघ्न पार पड़ेगा। बाद में मुझे दयामित्र सेठ यथेष्ट दक्षिणा भी देगा जिससे मैं खूब ठाठ से रहूँगा। यहां से दक्षिणा लेकर घर जाने के बाद एक ऊंचा बढ़िया महल बनवाऊंगा जिससे मेरे गांव में तथा अन्यत्र मेरा सन्मान बढ़ेगा, कीर्ति बढ़ेगी। वसुभूति ब्राह्मण ने मिष्टान्न तो खूब खाया था किन्तु पानी बहुत कम पीया था, इसलिये–

असदळमेनिसुव तीव्रद-
तृषे मोक्कळमागे नाडेयुं मनदोळ्सै--

रिसलारदे तल्लनदि -
विसुसुयुदुम्मळिसि बाळरिदायतेनुतं ॥१५५॥

अर्थ—वसुभूति को कुछ समय पीछे बहुत भारी प्यास लगी। उस प्यास से वह बहुत व्याकुल हुआ, पेट में तीव्र जलन पैदा हुई, गला सूख गया, जीभ भी सूखकर लक्कड़ हो गई। प्यास से बेचैन होकर वह छटपटाने लगा और सोचने लगा कि बुद्धिहीन बालक के समान मैंने विना कुछ सोचे समझे यह दिगम्बर मुनिव्रत लिया। तथा जीभ की लोलुपता में मैं मिठाई पकवान आदि खाता चला गया किन्तु मैंने पानी नहीं पिया। अब इस प्यास से बचने की कोई आशा नहीं है। अब मेरा मरण निश्चित है। अरे राम, अरे हरे, अरे गोविन्द वासुदेव ! मुझे बचाओ। इस तरह प्यास की वेदना से विलाप करने लगा।

गद्य—कोडगमं पुल्लोळ् मुच्चे सिडिमिडिगोंबंने सिडिमिडिगो ळ्ळुत्तुं पेरगें पेळलंजि लज्जेयिं मागिय कोगिलेयंते बायूबिट्टाडदे मळलेरियंते (जर्रने) जरिदु ॥१५६॥

अर्थ—जैसे किसी बन्दर को घास में छिपा दिया जाय तो जैसे वह बन्दर तड़फड़ाते हुए घास के बाहर आता है तथा चों-चों करता है उसी तरह वसुभूति ब्राह्मण मन में व्याकुल था किन्तु दूसरे लोगों के भय से तथा दयामित्र श्रेष्ठी के भय से तथा लज्जा से मुंह खोलकर कुछ कह नहीं सकता था। जैसे रेत का ढेर अपने आप ढुलक कर नीचे आ जाता है, उसी तरह वसुभूति ब्राह्मण पानी की प्यास के मारे निर्बल होकर उठते उठते गिर पड़ता। वह सोचने लगा कि मैंने अपने लिये मृत्यु को स्वयं निमन्त्रण दिया है।

बिडुगुं बायं नेलदोळ्
पडुगुं पोरगण्गे पोगि तणपप्पेडेयोळ् ॥
पडुगुं तंपिल्लदोडेदे -
गिडुगुं वसुभूति धैर्यमिल्लदे मनदोळ् ॥१५७॥

अर्थ—रात हो जाने पर वसुभूति ब्राह्मण प्यास की वेदना से कभी कभी जमीन को ठण्डा जानकर जमीन में मुंह घुसाने की चेष्टा करता, कभी जमीन को चाटने लगता। मन में विचारता कि यदि कहीं यहां आस पास कुआ या तालाब हो तो वहां खूब ठण्डा पानी पी आऊं। परन्तु इसके साथ ही दयामित्र श्रेष्ठी के भय से घबराता भी था कि यदि मैं

इस समय चुपचाप तालाब में जाकर पानी पीकर आऊं और यह बात वयामित्र को मालूम हो जावे तो वह मुझे बाद में दक्षिणा नहीं देगा । फिर अब मैं क्या करूं । वह पेट में शान्ति न होने से तथा मुख और गले में ठण्डक न होने के कारण अत्यन्त व्याकुल हो गया । जैसे वृक्ष हवा से कांपता है उसी तरह वसुभूति ब्राह्मण प्यास की वेदना से कांपने लगा । जीभ खोलने में भी असमर्थ हो गई, भीतर घबराहट होने लगी, अतः वसुभूति ब्राह्मण अधीर हो गया ।

गद्य—तरुवलिय तलेय किरीटमनालिकल्ल मरे कोंडु देंबतें नगी-मुन्निनिरुळ्गळं नोडर्लिदिनिरुलूपिरिदायृतो वो केट्टेनेंदु ॥१५८॥

अर्थ—वसुभूति ब्राह्मण मन में आकुल तथा भयभीत होकर सोचने लगा कि "पहले तो कोई दरिद्री तथा नंगे शिर, उसमें भी गर्मी का तीव्र ताप, फिर जोर से आंधी चलकर पानी बरसे, उस वर्षा में भारी भारी ओले पड़ने लगें, उन भारी ओलों के नंगे सिर पर गिरते ही उस बेचारे का सिर फूट गया ।" इस दुखभरी कहावत के अनुसार मैं पहले तो दरिद्री हूँ, उस दरिद्रता को मिटाने के लिए मैं गंगा स्नान तथा तीर्थ-यात्रा करने चला था तब विधि ने मुझे इस आपत्ति में डाल दिया है । वैसे मैं दरिद्र होने पर भी रूखा सूखा भोजन खाकर पानी पीकर निर्वाह कर लेता था । परन्तु अब तो मुझे दरिद्रता के दुःख से भी अधिक दुःख उठाना पड़ रहा है । दरिद्रता को मिटाने के लिए इस व्रत को मैंने स्वीकार किया परन्तु एक दुःख को मिटाने गया, तब मेरे सामने यह दूसरा दुःख उपस्थित हो गया ।

कहा भी है कि—

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं,
गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य ।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे,
छिद्रेष्वनर्थाः बहुलीभवन्ति ॥

अर्थ—समुद्र की तरह गम्भीर और अपार एक दुःख का जब तक अन्त नहीं हुआ, इतने में दूसरा दुःख आकर मेरे सामने खड़ा हो गया । क्योंकि बात ठीक है, जब मनुष्य के बुरे दिन आते हैं तो एक पर एक विपत्तियां भी आने लगती हैं ।

यावदस्खलितं तावत्सुखं याति समे पथि ।
स्खलिते च समुत्पन्ने विषमं च पदे पदे ॥

अर्थ—जब तक मनुष्य को मार्ग में एक बार भी ठोकर नहीं लगती है तब तक तो वह खूब आनन्द से सुखपूर्वक समतल मार्ग में चलता जाता है। परन्तु एक बार भी यदि कहीं ठोकर लग जाती है तो फिर उसे बार बार पद पद पर ठोकर लगती रहती हैं।

जब तक कोई दुःख या कष्ट नहीं आता है तब तक तो मनुष्य सुख से रहता है परन्तु यदि एक बार भी कटु कष्ट या दुःख आ पड़ता है तो फिर उन दुःखों का तांता-सा बंध जाता है और दुःख पर दुःख आने लगते हैं और विपत्तियां चारों ओर से मनुष्य को घेर लेती हैं।

यन्नम्रं सगुणं चापि यच्चापत्सु न सीदति।
धनुर्मित्रं कलत्रं च दुर्लभं शुद्धवंशजम्॥

अर्थ—नम्र हो, सगुण हो और विपत्ति में बिगड़े नहीं, विपत्ति के समय में पूरा-पूरा काम दे, ऐसा शुद्ध वंश का धनुष, मित्र और स्त्री ये तीनों बड़े ही दुर्लभ हैं। बड़े भाग्य से किसी को मिलते हैं।

धनुष तो शुद्ध वंश यानी-अच्छे बांस का बना हुआ तथा सगुण यानी डोरी सहित हो तो वह धनुषधारी को विपत्ति में काम देता है और मित्र तथा अपनी स्त्री अच्छे वंश के यानी कुलीन तथा गुणी हों तो विपत्ति में सहायक होते हैं। परन्तु मेरे भाग्य में स्त्री पुत्रादि व कुटुम्ब इत्यादि मिलने पर भी मेरे पूर्व पाप के अनुसार इस आपत्ति के समय कोई भी काम नहीं आ रहा। मेरा दुर्भाग्य है। इस प्रकार वसुभूति ब्राह्मण अनेक विचारों में पड़ा हुआ प्यास से व्याकुल हो रहा है और कष्ट से—

नीरळके पॆर्चे निललु-
सॆरिसलुं बाग्दळ्कि तन्निंद ता।
नोरॆने कुदिदु मरगुव-
सारंगद पोरियंदवं नॆरॆ पोल्तं॥१५६॥

अर्थ—वसुभूति ब्राह्मण प्यास से अत्यन्त भयातुर तथा विह्वल होकर शक्तिहीन हो गया। पानी की प्यास उसे और बढने लगी। वह सहन न होने के कारण उसके मन में वेदना तथा मुख और कंठ में जलन बढ़ने लगी। जैसे भील को जंगल में धनुषवाण लेकर विचरते देखकर हिरण घबड़ाकर कांपने लगता है, उसी तरह ब्राह्मण पानी की प्यास के मारे कांपने लगा। प्यास की बाधा से उसका मन इधर उधर भटकने लगा।

गद्य—अंतिरुळ् नाल्कुं जावमुं मौहूर्तिकनंते पोरिनळ्वियं नोडुत्तुं, पेर्बाविनंते मंडलंगोल्लुत्तुं, जावद् कापिनवरं तेळुत्तुं, जंघाबल मिल्ल दनंते कुळ्ळिळतुं मरुळनंते तन्नोळ् ताने नुडियुत्तुं, मळ्यंपावों क्कलिगनंते गगन-मंडलंमं नोडुत्तुं, नूतनश्रीमंत नंते मेयूयरियदे वळकुत्तुं, चादगेयंताकास वनिगे वायंबिडुत्तुं, दाहज्वरं बेत्तंते गाळ्ळिगासे गेय् युत्तुं, कप्पेयंते तणपप्पेडेयोळ् पत्तुत्तुं, चोच्चल् फेरळुवंते तोळिलुत्तुं, पल्लियंते केरं पत्तुत्तुं, एलेवळ्ळियंते कम्बं सुत्तुत्तुं, पादरिगेयंते पेरगंजुत्तुं सूलेवेत्तरंते पोरळुत्तुं, कळ्गुडिदरंते मतिगिडुत्तुं, वृद्धनंते तडवरिसुत्तुं, लतेयंतल्लाडुत्तुं, कण्णले बेळ्गागे ।१६०।

भावार्थ—वसुभूति ब्राह्मण को दिगम्बर मुनि की दिन-चर्या, रात्रि-चर्या, और कठिन तपश्चर्या के विषय में कुछ ज्ञान नहीं था। वह तो दयामित्र सेठ के द्वारा मिलने वाली बड़ी भारी मुंह-मांगी दक्षिणा को पाने के लोभ से मुनि बन गया था। अब, जब उसे मुनि बन कर केश-लोंच तथा दिन में एक ही वार भोजन करने से कष्ट हुआ, तो वह बहुत व्याकुल हुआ। जो मनुष्य बिना विचारे कोई काम लोभ-वश करते हैं उनको कष्टों का सामना करना ही पड़ता है।

वसुभूति ब्राह्मण को इस समय प्यास सता रही है। क्योंकि यह शरीर अन्न और पानी से हरा भरा रहता है। यदि इसको समय पर अन्न या पानी न मिले तो जैसे विना पानी के हरी बेल या पौदा सूखने लगता है उसी तरह यह शरीर भी सूखने लगता है।

जिस तरह निमित्त-ज्ञानी रात्रि को तारे, नक्षत्र आदि देखने के लिए आकाश की ओर दृष्टि जमाये रहता है, इसी तरह वसुभूति अपनी प्यास बुझाने के लिए आकाश की ओर देख रहा था कि कहीं से दो बूंद पानी गिर जावे। उसको वह रात्रि का समय प्यास के मारे बहुत लम्बा मालूम हुआ और प्रभात होने की प्रतीक्षा करने लगा। जिस तरह अजगर (महासर्प) पृथ्वी पर गुंजलक लगाकर, पूंछ को लपेटकर पड़ा रहता है उसी तरह वसुभूति भी जमीन पर पड़ रहा है। प्रातः काल के समय मनुष्य अपना सोना समाप्त करके जंभाई लेते हुए उठते हैं, वसुभूति ब्राह्मण भी प्रातः जमीन से उठते समय लम्बी २ जंभाई लेकर घबराते हुए उठा। परन्तु बलहीन मनुष्य के समान प्यास की वेदना से अशक्त होने के कारण वसुभूति से उठा नहीं जाता था। ब्राह्मण बार बार आकाश की

तरफ देखता है। नवीन श्रीमंत जैसे चोरों द्वारा अपने धन के चुराये जाने की आशंका से डरता है इसी तरह नवीन दीक्षित वसुभूति ब्राह्मण डर रहा था। जैसे चातक पक्षी वर्षा ऋतु में बार-बार आकाश की ओर मुंह खोल कर देखता है उसी तरह प्यास से व्याकुल वसुभूति आकाश को देखता था। जैसे दाहज्वर से पीड़ित मनुष्य ठण्डी हवा की इच्छा करता है उसी तरह वसुभूति ठंडक चाहता था। मेंढक जैसे ठंडी जगह में जाकर बैठता है वैसी ही दशा वसुभूति की थी। प्रथम गर्भवती स्त्री जैसे प्रसव वेदना से अत्यन्त व्याकुल होती है, उसी तरह प्रथम मुनिचर्या की परिषह से वसुभूति घबड़ा रहा था। छिपकली जैसे दीवाल पर चिपकी रहती है, उसी तरह वसुभूति ब्राह्मण दीवाल से चिपक जाता था। बेल के समान खम्भे से लिपटता था, कुटिल स्त्री के समान वह ब्राह्मण दूसरे को देखकर डरता था। मनुष्य जैसे मदिरा के नशे में बड़बड़ाता है, उसी तरह वसुभूति ब्राह्मण पानी की प्यास की वेदना से यद्वा तद्वा बड़बड़ाता है। वृद्ध मनुष्य के समान खड़े होकर कांपते हुए इधर-उधर गिरने लगता है, पत्त के समान हिलता है। उसकी आंखें प्यास की निर्बलता से सफेद हो गईं।

निललारद्लसि पोदोडे-
पलवुं चंवोन्न पडपु केट्टपुदु करं।
कलियागि निंदेनप्पोडे-
निललारदु नीर देसेयनुळिदसुविनिसुं ॥१६१॥

अर्थ—वसुभूति ब्राह्मण अपने मन में प्यास की वेदना से विचारने लगा कि जैसे किसी अपराधी को किसी कड़े बन्धन में बांधकर उसकी कड़ी चौकसी की जाती है और उसे विवश (लाचार) होकर बन्धन का कष्ट सहना पड़ता है। इसी तरह मुझे भी दयामित्र सेठ ने मुनिव्रत के कड़े बन्धन से जकड़ दिया है और स्वयं मेरी देखभाल कर रहा है। प्यास की वेदना से मेरा दम निकला जाता है। यदि यह मुझे किसी से मिलने दे तो मैं अपनी प्यास को मिटा लूं और मृत्यु से बच जाऊं। मेरे शिर में भी बड़ी भारी वेदना है। इधर रात भी बहुत लम्बी हो गई है। बिना जल के मैं किस तरह जीवित रहूं। ऐसा विचार करते-करते रात समाप्त हो गई। प्रभात हुआ और सूर्य का उदय हुआ। तब वसुभूति प्यास की वेदना को भूल गया। उसको भोजन पाने की नई आशा दिखाई दी। अब वह आहार के समय की प्रतीक्षा करने लगा।

कहा भी है कि—

यद्भावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा ।
इति चिंताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते ॥

अर्थ—जो होनहार नहीं है वह घटना कभी नहीं होगी और जो होनहार है उससे उल्टा कभी न होगा, अर्थात् होनहार अवश्य होकर रहेगी, यह चितारूपी विष का नाश करने वाली औषधि है, इसको क्यों न पिया जावे ?

गद्य—एंदेरकक्के विट्ट करुविनंते मरुगुत्तुं (इदुं मत्तं दयामित्र सेट्टि निरिसे मनेगे पोगि मनद कांक्षयिंमुन्निनंतुंडु मुन्निन मरुकदिं दिंम्मडि मरुकमागे मरुदिवसं) भक्षदद्देसेगे पंक्षगेट्टु पालिंगेवेंचि तुप्पक्कि निसप्पोडं मनंदलारदे (तृषेणेयोळाद भीतिइंदोल्लेनेंबुदुं वैश्यवंशललाम निंतंदं ॥१६२॥

अर्थ—जैसे गाय का बछड़ा अपनी मां से अलग होकर दुखी होता है, घबड़ाता है, जब उसकी मां सामने आ जाती है और बछड़ा छोड़ दिया जाता है तो वह सीधा जाकर अपनी माता गाय का स्तन पीने लगता है और अपना पिछला दुःख भूल जाता है, उसी प्रकार वसुभूति ब्राह्मण पानी के विना बहुत व्याकुल हो रहा था, उसके प्राण निकले जा रहे थे । परन्तु दिन निकलते ही वह भोजन पान की आशा में रात का दुःख भूल गया ।

कुछ समय बीत जाने पर दयामित्र सेठ अपने दैनिक कर्तव्य के अनुसार आहार-दान के लिये अपने द्वार पर आ खड़ा हुआ और वसुभूति की प्रतीक्षा करने लगा । जैसे गाय का बछड़ा छूटते ही गाय के स्तन पर जा पहुंचता है उसी तरह वसुभूति ब्राह्मण भी तुरन्त दयामित्र श्रेष्ठी को अपने घर के सामने खड़ा देखकर वहां पहुंच गया । सेठ ने वसुभूति को भक्ति के साथ ठहराया और भोजन कराने के लिए नवधा भक्ति से अपने भोजनालय में ले गया । उस दिन जब वसुभूति ब्राह्मण ने दयामित्र श्रेष्ठी के यहां आहार लिया तो अपनी पहले दिन की गलती को सुधार लिया । उस दिन अन्न का भोजन पहले दिन से आधा किया । उसे जल और दूध आदि पेय पदार्थों से अधिक रुचि और अन्न के बने पदार्थों से अरुचि हो गई, इस कारण घी में तले हुए या घी के बने पदार्थों को सामने आते ही उसने नहीं लिया । उसने विचार किया कि कल मैंने यह सब वस्तुएं खूब खाई थीं इसलिए मुझे प्यास का कष्ट उठाना पड़ा । इस प्रकार प्यास के भय से वह अन्न के पकवान नहीं

ले रहा था। दयामित्र श्रेष्ठी पकवान आदि देना चाहता है परन्तु वसुभूति ब्राह्मण उनके लिये अपने हाथ बन्द कर लेता है। इस बात को समझ करके वैश्य-वंश-ललाम दयामित्र श्रेष्ठी वसुभूति से कहने लगा कि–

अंतितेन्नदे मुंपे-
दिंतु सिरदे मौनदिंदमुरबदु नाने।
नं तंदिक्कि दोडं गुण-
वंतकुल दोडे यरेनिप निमगिदु पिरदे ॥१६३॥

हे भूदेव! मैने आपको मुनियों के आहार करने की जो विधि समझाई थी, उसी प्रकार आपको भोजन करना चाहिए। मुनि भोजन करते समय मौन से रहते हैं। वे उस समय न कुछ बोलते हैं और न किसी तरह का संकेत (इशारा) करते हैं, उनके हाथ में जो पदार्थ भोजन के लिये रख दिया जाता है, उसको ले लेते हैं, अस्वीकार (इनकार) नहीं करते। और न किसी वस्तु के लेने का इशारा करते हैं। आप तो विद्वान कुलीन बुद्धिमान हैं, आपको क्या ऐसा करना उचित है?

गद्य—अळिपरप्प रिसियमोंदलागियुसिरदेम्म पेळ्दंते मोनदिंदुंब रंदोडे, कुलजरुं भूदेवरुमप्प निमगिदावुदरिदायतु न्गिर दिरिमेंबुदुं मरुमानुगुडलरि यदुस्मळिसि बेमर्तुसिरदुणुत्तुमी मार्गदिंदे लेंद्र दिवस मिदिर लारदेतल्लणसि) निंदुणिसि नंदक्कलमि "कैय्योळु बुंदुरय्यमल्लदु" वचालेयिरवु निरारि सलरिदु: नेले वक्के सलेकष्टं" एंदु मैरणेगेट्टु ॥१६४॥

अर्थ–आश्चर्य है कि दिगम्बर मुनियों की चर्या के अनुसार मैंने जो आपको भोजन करने की विधि बताई थी उसके पालन करने में आपको कठिनाई प्रतीत होती है। आप पूज्य भूदेव कहलाते हैं, कुलवान, शीलवान, विद्वान, समस्त शास्त्रों के ज्ञाता हैं। प्रत्येक वस्तु के परीक्षक हैं तथा हिताहित को जानने वाले हैं। आपको ये बातें असाध्य नहीं हैं। हमारे साधारण दिगम्बर मुनि भी इस व्रत को विधि-पूर्वक निभाते हैं तब आपके समान महान गुणवान व्यक्ति को निभाना कौनसी कठिन बात है? इस तरह दयामित्र श्रेष्ठी वसुभूति ब्राह्मण को विनय के साथ तथा मीठे-मीठे वचनों से आहार दे रहा था। इन बातों को सुनकर वसुभूति ब्राह्मण मन में विचार करता है कि ऐसे व्रत का पालन बहुत कठिन दीखता है। व्रत के ये दो दिन मुझे दो वर्ष के समान विदित हो रहे हैं। अब इसको आठ

दिन या दो मास तक निभाना मेरे लिये बच्चे का खेल नहीं है। क्योंकि इस व्रतमें दिगम्बर रहना, हाथों में जीमना और दाता जैसा आहार दे वैसा ही लेना, अपने इष्ट पदार्थों को नहीं खाना और मौन से भोजन करना, ये सभी बातें बहुत कष्टदायक हैं अतः मुझसे इस बात का निभना असाध्य है।

नसुगुञ्जि मुट्टि दंतिरे-
वसमल्लदे तिंब मेय्यतिनिसिंगं सै-
रिसलारदेरडु कय्यि-
मसगि मनंगेट्टु मरुलुबोलत रिसुत्तुं ॥१६५॥

अर्थ—चिरचिटा अर्थात् खुजली के झाड़ के पत्ते के लगने से जैसे शरीर में खुजली पैदा होती है, उससे अत्यन्त वेदना होती है, मनुष्य को उस खुजली से चैन नहीं पड़ता है, उसी तरह वसुभूति ब्राह्मण मन में कहता है कि अपने शरीर का दो दिन स्नान न करने कारण मेरे शरीर में अपार खुजली है। केशों का लोंच करने से मेरे शिर की पीड़ा अभी तक नहीं मिटी, शिर में अभी तक सूजन है। इस प्रकार कहते हुए खुजली सहन न होने के कारण वसुभूति ब्राह्मण अपने हाथों से अपने शरीर को खुजाने लगता है।

कुंददिनिसं मनके बंदुणिसनुंडु पद्-
पिंदे परतें केरेग पोगि तिलिनीरं।
मिंदु बिडदूरोलगणोंदुलिव मातुगल्-
दंदुगदालाने मगि कुर्तिरेदे निच्चं ॥१६६॥

अर्थ—वह ब्राह्मण दयामित्र श्रेष्ठी से प्रार्थना करना चाहता है कि हे वैश्यनन्दन! जिस व्रत को मैंने स्वीकार किया है उसे दो मास तक निभाने के लिए कुछ सुविधा दो। प्रतिदिन एक बार मेरी इच्छा के अनुकूल भोजन मुझे मिलता रहे और उसके बाद मुखशुद्धि के लिए ताम्बूल, पान-सुपारी-लौंग आदि मिलती रहें तथा एक बार तालाब के निर्मल जल में डुबकी लगाकर यथेच्छा स्नान कर लूं और मन भर कर पानी पी लिया करूं एवं गाँव देहात में या तुम्हारे आस पास रहने वाले लोगों के साथ कुछ मन बहलाने के लिये वार्तालाप कर लिया करूं। तथा कुछ समय तुम्हारे डेरे में ही घूम फिर कर अपने निवास स्थान पर आ जाने की छूट मिल जावे। इतनी मुझे सुविधा दें तो मैं इस व्रत को आसानी से निभा सकूंगा।

वसुभूति ब्राह्मण इस व्रत के कारण दो दिन में ही अशक्त हो गया। वास्तव में जैन मुनियों की आत्मसाधना अत्यन्त कठिन है। वसुभूति को दिन में दूसरी बार जल न मिलने के कारण तथा अपनी इच्छानुसार भोज्य पदार्थ न मिलने के कारण इतनी वेदना का अनुभव हुआ और वह मन में इस प्रकार संकल्प-विकल्प करता रहा, किन्तु मुनि तो स्वेच्छा से कई-कई दिन उपवास करते हैं या विधि के अनुकूल आहार न मिलने के कारण उनके भोजन का अन्तराय हो जाता है, वे उस क्षुधा तृषा (भूख, प्यास) को परिषह मानकर शान्ति और समता के साथ सहन करते हैं। वे अन्तराय को भी अपनी कर्म-निर्जरा का कारण मानते हैं और जो भोजन मिलता है तो उसे भी केवल संयम के साधन के लिए शरीर की स्थिति बनी रहे, इसी निमित्त ग्रहण करते हैं। किन्तु छिद्रान्वेषी दोषाग्राही मनुष्य जैन मुनियों की इस कठोर साधना में भी दोष देखा करते हैं।

निंदुणिसिनिंदोडलदोंदुतिनिसिं तृषेय-
दोंदुकुदिपिंतिगुलुनाड मेरेयं ता-
नोंदिदति दुःखदोले वेंदुनिललिन्नरिदि-
देंदु वसुभूति सेडेदलूकि वडवादं ॥१६७॥

अर्थ—वसुभूति ब्राह्मण इस व्रत के कारण खिन्न होकर मन में विचार करने लगा कि हे भगवन्, यह व्रत इसी प्रकार यदि दो दिन और पालन करना पड़ा तो मेरे प्राण अवश्य निकल जाएंगे। खड़े होकर भोजन करना, वह भी दूसरों के द्वारा इच्छानुसार बनाया हुआ, और करपात्र में खाना और जुड़े हुए हाथों से यदि ग्रास छूट जाए तो उसे भोजन में अन्तराय मान कर छोड़ देना...इत्यादि कष्ट से, केश लौंच से उत्पन्न हुई शिर की वेदना से, क्षुधा-तृषा की वेदना से मैं क्लान्त हो गया हूँ, मेरा शरीर इतना दुर्बल हो गया है कि मुझ में खड़े होने तक की सामर्थ्य नहीं रही। ऐसा लगता है कि मानो मुझे गर्म पानी में डाल कर उबाल दिया गया हो। व्रतरूपी कारागार में डाल दिया गया हूँ जिससे इधर-उधर कहीं जा नहीं सकता। इस प्रकार मैं इस दुर्दशा में पड़ा हुआ अत्यन्त वेदना का अनुभव कर रहा हूँ।

इस तरह वसुभूति उत्साहहीन और बलहीन हो गया।

गद्य—अंतु वेगडु गोंडु निललु नित्तरिसलु मारदे गालि गोड्डिद सोडरंते नडुगि सूलेयकोरलंते कगि, पिदिवेत्तकललनंते तल्लणसि, वडिवेत्त

(वडत्र) नंते शक्तिगेट्टु मठदवेक्किनं तोलगण्गोडियाडि, पटदसी रेयतंल्लाडि, ओल्लदपेंडतियंते सुयुदु, मल्लयेल् तोडर्दरंते तलुगि गर्भियाद रंडेयंते बाप-विट्टु, पर्वतवेरिविद्दरंते, निर्जीवनागि, पगलचन्द्रनंतेतेजंगेट्टु जगलगंटियंते मिडुमिरुमिडुकि वेसेगेय कोणनंते नालगेयनुर्चि हासुगोडं नायंते सिडिमिडि-गोंडु किच्चुतगुलद मरदंते नयंगेट्टु, नच्चुगेट्ट वडवनन्ते बेंबिदु, देसेगेट्टरं-लेमरुगिहुणसेयकार्यंतिदरंते चलितु, पल्लकठिवयं तेनेलनंपत्ति सेरेसिक्किदनं-तम्मलिसि नेरविल्लदन्ते कुंदि कूर्परनगलदरन्ते वेदेवेदेबेंदु सर्पनंमेट्टिदरंते भयगोडुं बन्धनक्के वंदानेयंते जोकरिसि वडवोडलंतेजोलुदु एवंडेद पंदेयन्ते तल्लणिसि, मारुवडेयद परदनंतेकंदि तण्णेरिदपरेयतेंदनि पोरमोडदे मरणत्तिद मूलिगनंते दूरिसिवयलोल्लक्किद मीनंते मिडुकि तलारनंते निद्रेगेट्टु सम्यक्त्वचूडामणिगितेंद ॥१६८॥

अर्थ—वसुभूति ब्राह्मण जमीन से उठकर स्थिरता से खड़े होने का प्रयत्न करता है किन्तु शक्ति न होने से हवा में जैसे दीपक झकोरे खाता है उसी प्रकार चकरा कर गिर पड़ता है। दीपक की लौ के समान काँपता है। उस व्रत से वसुभूति वेश्या के कण्ठ के समान पतला हो गया। वह पकड़े हुए चोर के समान चिन्ता करने लगा। पारने वाले बैल के समान क्षीण हो गया है। मठ में रहने वाली बिल्ली जिस प्रकार मठ में ही दौड़ती रहती है, वैसे ही वह भी वहीं चक्कर लगाने लगा।

वह ध्वजा के पट के समान हिलता है। पति को न चाहने वाली स्त्री के समान लम्बे श्वास खींचकर छोड़ता है। जिस प्रकार पहलवान आपस में भिड़ जाते हैं उसी प्रकार वह खम्भे से भिड़ जाता है। जैसे विधवा स्त्री गर्भवती होने से बार-बार मुँह खोलकर पड़ी-पड़ी घबड़ाती है, उसी प्रकार वह भी जमीन पर पड़े-पड़े मुँह खोलता है और बन्द कर लेता है। पर्वत पर से गिर पड़ने वाले व्यक्ति के समान निर्जीव-सा हो रहा है। दिन में चन्द्रमा के समान तेजोहीन हो रहा है। आपस में लड़ने वाली स्त्रियों के समान बार-बार भीतर से उठने वाली दुःख की लहरों में डूबता उतराता है। गर्मी की तीव्रता से जैसे भैंसों की जीभ बाहर निकल आती है उसी प्रकार वसुभूति की भी गर्मी के मारे बुरी दशा हो

रही है। भूख लगे हुए कुत्ते के समान जीभ बाहर निकल आई है, जले हुए वृक्ष के समान काला पड़ गया है। वह दीन-दरिद्र के समान दुःखी है। मार्ग भूले हुए पथिक के समान चिन्तित हो रहा है, क्रोध करने वाले मनुष्य के समान हो रहा है। मनुष्य खट्टी इमली खाकर जिस प्रकार अपना मुँह टेढ़ा करता है उसी प्रकार वह वेदना से मुँह बिचकाता है। जैसे पीछा करने वाले सर्प से व्याकुल मनुष्य इधर उधर दौड़ लगाता है। उसी प्रकार निरन्तर वह भी मानसिक अस्थिरता से दौड़ लगा रहा है। बन्धन में आये हुए गजेन्द्र के समान बुद्धि-भ्रष्ट हो गया है। लुटे हुए व्यापारी के समान उसका मुख निस्तेज हो गया है। जंग लगे लोहे के समान मलिन हो गया है, जाल में पड़ी हुई मछली के समान तड़पड़ा रहा है। निद्राभंग से जैसे रात का पहरेदार पीड़ित होता है, उसी प्रकार वह वसुभूति ब्राह्मण दुखी होकर दयामित्र श्रेष्ठी के मुख की ओर दीनतापूर्वक देखता हुआ कहने लगा कि—

पुलियं मीसेयनजंदुय्यलनाडलप्पुदुनंजनें-
जलिम्मलप्पुदु सिहमं पिडिदेरलप्पुदु किन्चि-
लूतोलगदोमेयपापलप्पुदु मोक्किदानेग संदु मा-
मेलेयलप्पुदुनिन्ननोंपिगेगंडनावतो सैरियं ॥१६९॥

अर्थ—शेर की मूँछें उखाड़ कर लाना यद्यपि बहुत कठिन है, ऐसा लोग कहते हैं किन्तु उसे भी प्राप्त किया जा सकता है। शेर की पूँछ को पकड़कर झूला भी जा सकता है। जो काम कठिन प्रतीत होता है उसे सरल किया जा सकता है, सिंह के ऊपर सवारी भी की जा सकती है। संसार में जो भी असाध्य प्रतीत होने वाले कार्य हैं, उन्हें भी किया जा सकता है किन्तु हे दयामित्र! तुम्हारा जो दिगम्बर साधु का व्रत है उसका पालन असाध्य है। वह व्रत नहीं है वह तो तीक्ष्ण करोंत के समान है, जिसे मैं तो स्पर्श करने में भी डर रहा हूँ। मुख से कहना तो सरल है किन्तु उस दिगम्बर मुनि-व्रत का पालन करना अति कठिन है। मैं इस कठोर व्रत को पालने में असमर्थ हूँ। वह पुनः कहने लगा कि—

त्रिसे मैय्यतितिसुनेरे सै-
रिस वारद तलेय नोऊ मत्तेत्तलू मुं
मिसुकदिरवेंब विनितुं-
पुसियलूतोंदोंदे किडिलारवेनररं ॥१७०॥

अर्थ—बहुत भारी प्यास, स्नान न करने से शरीर में खुजली का होना, असह्य शिर का दर्द तथा अन्य भी अनेक पीड़ाओं से श्रान्त-क्लान्त मैं मुनियों के २८ मूल गुणों में से एक का भी यथावत् पालन नहीं कर सकता। ऐसा कौन मनुष्य होगा जो इन्हें सहन करे। मैं तो एक-एक से ही इतनी वेदना अनुभव करता हूँ फिर सभी को सदा के लिए कैसे सहन कर सकता हूँ।

केलोदने पेरगल् यो
देरेंटु दिवसमेंबवेनगुम्मलदिं-।
टेरेंटे वर्षमादुवु
केलीदुःक्खके सैरिसिर्पवनावं ॥१७१॥

अर्थ—हे दयामित्र श्रेष्ठी ! आठ दिनों का व्रत पालन मुझे अठारह वर्ष प्रमाण समय-सा लगता है। इन दिनों में मुझे सारे जीवन के सुख याद आ गये। इस दुःख को कैद मैं ही जान सकता हूँ, दूसरा कोई नहीं जान सकता। मैं इस व्रत की कठिनता सहने में नितान्त असमर्थ हूँ।

भावार्थ—वसुभूति ब्राह्मण दयामित्र से कहता है कि मैंने जो आपका व्रत धारण किया है, वह व्रत नहीं है किन्तु तलवार की तीखी धार है। ऐसा लगता है कि मैं यमराज की दाढ़ों में आ गया हूँ। कहना सरल है किन्तु करना कठिन है। नीति में कहा है कि—

परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम्।
धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः॥

अर्थात्—किसी को उपदेश देना तो समस्त मनुष्यों को सरल है किन्तु धर्म का स्वयं पालन करना किसी-किसी महान् आत्मा के वश का ही काम है।

हे श्रेष्ठी ! मैंने इस व्रतको ग्रहण करने से पूर्व यथावत् विचार नहीं किया, मुझे तो यह सरल प्रतीत हुआ था। किन्तु अब पर्वत की चढ़ाई के समान कठिन प्रतीत हो रहा है। मैंने जैन दिगम्बर मुनि के विषय में समझा था कि ये नग्न रहते हैं, मलिन हैं, स्नान नहीं करते हैं और पका-पकाया अन्न प्राप्त कर मौज से रहते हैं, कोई काम नहीं करते, इत्यादिक बुरे विचार मेरे मन में आये थे किन्तु मैंने स्वयं अब इस वेष को धारण किया है तब से मैं सोचता हूँ कि मैंने जो जैन मुनियों की आलोचना की थी, वह मेरी भूल थी। वास्तव में यह अति कठोर चर्या है। मैं तो दो दिन में ही इस व्रत के कारण मरणासन्न

हो रहा हूँ। धन्य हैं, वे मुनि, जो आजीवन चर्या पालन करते हैं तथा अनेक अन्तरायों को सहन कर हँसते-हँसते अपने आत्मकल्याण में लगे रहते हैं। मैंने मुनियों की निन्दा की थी और आपने मुझे दक्षिणा का लोभ देकर मेरे वस्त्र उतरवा दिये। मैंने दो महीने का प्रण करके मुनि दीक्षा ली थी, किन्तु हे दयामित्र! इस व्रत को कौन निभा सकेगा?

पेरिन मेले पासरे मेरिनमेल्ले त्रडिगोलि कोलेयमेले लवते येंबते संताप-पद्मेले संतापमंमालिप् निन्न नोंपिएम्ब गरगसक्केन्नमेय्यनोड्डलारें. मत्ते-मोंदेरडु तिंगल विशेषमागिनोंतु कट्टपें. पिटद्प्पेन्नुमलिके थोपंतु निम्नध्यच्चं वेरसु केरगे योगिमेय्यं कर्चिकोंडोमयिमें नीरं कुडिदु निम्नवीडिनो देरडु गपलगे सुलिदाडुवंतु मालपुदेने दयामित्रसेट्ठि बापतंबुलं सूसेकलकलि-सिनक्कु ॥१७२॥

अर्थ—हे दयामित्र श्रेष्ठिन्! एक बैल, जो पहले से ही अशक्त है, यदि उस पर अधिक भार लाद दिया जावे, फिर उसको चाबुक मार-मार कर चलने को विवश किया जावे, तो वह नई शक्ति प्राप्त करने में अशक्त होकर मरणोन्मुख हो जाता है। वैसी ही दशा मेरी हो रही है। मैंने कभी भर-पेट सुस्वादु भोजन नहीं किया था और दक्षिणा के लोभ से ही इस व्रत को ग्रहण किया था किन्तु मैं तो इतने समय में ही शक्तिहीन हो गया हूँ।

हे वैश्यनन्दन! मेरा शरीर इन कठोर व्रतों को धारण करने में असमर्थ हो गया है। इसलिए निश्चित समय के लिए यदि आप इस व्रत को मेरे द्वारा पालन कराना चाहते हैं तो मेरी कुछ शर्तें हैं जिन्हें मानना होगा। वे इस प्रकार हैं कि १—मैं प्रातःकाल उठ कर एक बार तालाब के निर्मल जल में यथेच्छ स्नान करूंगा। २—दिन में इच्छापूर्वक एकबार पानी पीऊंगा। ३—दो घड़ी आपके डेरेमें रहनेके बाद इधर उधर घूमने को भी जाना चाहता हूँ। अन्यथा इस व्रत को दो महीने निभा सकूं, यह मेरे वश की बात नहीं है। यह सुन करके दयामित्र श्रेष्ठी मुख का ताम्बूल थूक कर खूब हँसा और विचार करने लगा कि—

कलितनदिंदं लोगर्-
पुलिपं पिडिदोडमदें त्रिडेंवती मों-

दिलियं पिडिदोडमवु पे-
बु लियेंदुर्जनर्गे तानिदु सहजं ॥१७३॥

अर्थ—मदोन्मत्त अज्ञानी मनुष्य चूहे को पकड़ने में भी युक्ति का प्रयोग करके डींग मारता है कि मैं क्या चूहों से डरता हूं, सिंहों को फंसाने में कौन सी बड़ी बात है? किन्तु ऐसा कहने वाले के समक्ष यदि सचमुच सिंह खड़ा कर दिया जावे तो उससे वह दूर भाग जाने में ही अपना पौरुष समझता है। इसी प्रकार यह वसुभूति ब्राह्मण भी लौकिक धर्म को श्रेष्ठ मान कर दिगम्बर मुनियों के महान धर्म को सामान्य समझ कर उसे अंगीकार कर बैठा किन्तु जब इसका वास्तविक आचरण देखा तो कहने लगा है कि 'मेरा इससे पीछा छुड़ाओ। अथवा कुछ सुविधा मुझे दो इत्यादि।' दुर्जन लोगों का ऐसा स्वभाव है।

पाविल्ल देडेयोल् कप्पेगल् तम्म गजरे गजरागिर्पुवु, पार वरे गजस्गेट्टु सत्तंतिपुवु अन्ते महापरीषहंगल् तम्म मनमं कद्डनूनं कुत्सितर् तम्मनेगल् नेमे पिर्स्दंदु पोंगुतिर्यर् परीषहं गलडसि दंदु देसे गेट्टु यायगेट्टु मरुगुत्तिर्पर ॥१७४॥

अर्थ—जब तक सर्प को प्रत्यक्ष देख नहीं लेता, तब तक मेंढक टर्र टर्र करता रहता है, खूब गरजता है किन्तु प्रत्यक्ष में जब सर्प का दर्शन हो जाता है तब वह अपनी टर्राहट बन्द करके इधर-उधर भाग जाता है। डींग हांकने वालों को प्रत्यक्ष में करने का जब प्रसंग आता है तो वे पूंछ दबा कर भाग जाते हैं। क्योंकि, व्यवहार करना और उसकी बात करना दोनों परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। कथनी और करनी में बड़ा अन्तर है।

जब तक दुर्जन व्यक्तियों के ऊपर कष्ट नहीं आता तब तक वे दूसरों के ऊपर आक्षेप करते हैं, बड़बड़ाते हैं। किन्तु जब उनके ऊपर आपत्ति आ जाती है तब वे ठण्डे पड़ कर भागने का विचार करते हैं। दुर्जन जन अपने माने हुए कुत्सित धर्म को सत्य धर्म मान बैठते हैं और उसका ही आचरण करते हैं तथा सम्पूर्ण जगत का कल्याण करने वाले सत्य धर्म की उपेक्षा करते हैं। वे इस प्रकार हिंसा-मूलक धर्म का प्रचार करके संसार में पापाचार का प्रचार करते हैं।

भावार्थ—संसार में आज कल अनेकों व्यक्तियों की प्रवृत्ति ऐसी हो गई है कि वे अधर्म को धर्म मान कर दुराचार को ही सुख का साधन मानते हैं। धर्म क्या है और अधर्म क्या है, इसका वे कभी विचार तक नहीं करते। वाममार्गियों का सिद्धान्त है—

मद्यं मांसं तथा मत्स्यं, मुद्रा मैथुनमेव च ।
पंचतत्वमिदं देवी, निर्वाणमुक्तिहेतवे ॥

अर्थ—मदिरा, मांस, मछली, मुद्रा और मैथुन ये पांच तत्व देवीरूप हैं । इनका सेवन करना ही मोक्ष का कारण है ।

इन पंच मकारों का प्रचार करना वास्तवमें नरक का मार्ग खोलना है । ऐसे दुराचार के अभ्यस्त व्यक्तियों की भावना जैन धर्म धारण करने और आत्म-कल्याण करने की कभी हो नहीं सकती । ऐसे व्यक्ति जीवन भर पापाचार करते रहते हैं और उस पापाचार को ही धर्म मान बैठते हैं । किन्तु क्या किसी के अन्धकार को प्रकाश मानने से वह अन्धकार प्रकाश हो जायगा ? अन्धकार अन्धकार ही रहेगा और प्रकाश प्रकाश ही रहेगा ।

कडुमूर्खर्तन्मिच्छेगे
पिडुद्ददे पिरिदंव गण जिनमार्ग दोलं-
नडेयल् वकुमे नारदु
कडलेगलं तिंब मोग्गुकलगलोकुटे ॥१७५॥

अर्थ—मूर्ख लोग अपने माने हुए अधर्म को धर्म मान कर उसके अनुसार आचरण करके नीच गति में अनेक दुःखों को प्राप्त करते हैं । ऐसे अधर्म में विचरण करने वाले जनों को क्या अहिंसात्मक पवित्र धर्म कभी रुचिकर हो सकता है ?

लौकायतों का मत है कि पुण्य पाप, स्वर्ग, नरक, मोक्ष कुछ नहीं है, जो कुछ सामने दीख रहा है, सो ही सब कुछ है । इस लिए व्रत तप करके शरीर को कष्ट देना व्यर्थ है । खाना, पीना, विषय भोग करना ही मुख्य कर्तव्य है । उनका मत है कि—

भोजनं कुरु दुर्बुद्धे, शरीरे मा दयां कुरु ।
मिष्टान्नं दुर्लभं लोके, शरीरं तु पुनः पुनः ॥
यावज्जीवेत्सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

अर्थ—हे मूर्ख ! तू भोजन के निमन्त्रण के अवसर पर खूब ठूंस-ठूंस कर भोजन कर, शरीर की चिन्ता मतकर । संसार में दूसरे का मीठा भोजन मिलना कठिन है । शरीर का मिलना कठिन नहीं है, वह तो बार-बार मिलता ही रहता है । जब तक जीवन है तब तक खूब

खा पीकर जियो। यदि तुम्हारे पास खाने पीने को पैसा न हो तो उधार ले लेकर घी पियो। क्योंकि शरीर के भस्म हो जाने पर फिर ऐसा अवसर कहाँ से आवेगा ?

ऐसे यथेच्छ,बेटोकटोक विषय भोगों की प्रेरणा करने वाले मत धर्म नहीं हैं, नास्तिक लोगों का यह भौतिकता-वादी दृष्टिकोण है। उनके लिए आत्मा परमात्मा, लोक परलोक, आचार विचार इन सबका कोई महत्त्व नहीं है। ऐसे व्यक्ति जैन धर्म के अमृत का स्वाद क्या ले सकते हैं ? वे धर्म और चारित्र को झूठा भले ही कहें, किन्तु उनके कहने से धर्म और चारित्र झूठे नहीं हो जाता। परलोक न मानने से परलोक नहीं मिट जायगा। उन्हें परलोक का अनुभव तब होगा जब वे नरक की अपार वेदना का अनुभव करेंगे।

भावार्थ—मूर्ख लोग अपने मनगढ़ंत मत को ही धर्म मानकर उसकी कामना करते हैं। इस भारत की पवित्र भूमि में अनेक महापुरुष हो गए हैं, उन्होंने आत्मोन्नति के लिए सद्गुरु की शरण में जाकर आत्म-हित का मार्ग पूछा और उसको हार्दिक श्रद्धानपूर्वक धारण किया, आचरण किया और उसमें विघ्न उपस्थित करने वाले अनेक उपद्रव तथा परिषहों को सहन किया तथा अपने प्रिय घर द्वार कुटुम्बादि का तथा इन्द्रिय-भोगों का, समस्त परिग्रह का त्याग कर संयम धारण किया। तिल मात्र भी पर-वस्तु में अपने मन की इच्छा को नहीं जाने दिया। संयम तथा तप के द्वारा मोह को दूर किया। तब ही उनको सच्चे आत्म-सुख की प्राप्ति सदा के लिए हुई।

आज के मानव प्राणी-संयम के नाम से भी चिढ़ जाते हैं और साधु के नाम से भी चिढ़ते हैं। इसका कारण यही है कि उनको संयम का अभ्यास नहीं है और संयमी सद्गुरु के पास बैठ कर उन्होंने धर्म-देशना सुनी नहीं। ऐसे लोगों को संयम का स्वाद तथा सच्चे आत्म-सुख का अनुभव भी कैसे हो सकता है ? कहा भी है कि—

न सा दीक्षा न सा शिक्षा न तद्दानं न तत् तपः।
न तद् ज्ञानं न तद् ध्यानं, दया यत्र न विद्यते ॥

अर्थ—जहाँ (हृदय में) दया नहीं है वह दीक्षा, शिक्षा दान, तप, ज्ञान, ध्यान सब निरर्थक है। इसलिए हिंसायुक्त क्रिया में जो धर्म मानते हैं वह लौकिक धर्म है, वह मिथ्या है। मिथ्यादृष्टि पर्वों के नाम से भी असत् प्रवृत्ति करते हैं जैसे कि—होली, दिवाली, दशहरा, राखी आदि तिथियों पर जुवा खेलना, मदिरापान करना, शिकार खेलना, हिंसा करना आदि अनेक प्रकारके पापोंकी प्रवृत्ति करते हैं। पौराणिक मतानुसार एकादशी पर्वतिथि में

दिन भर व्रत करके रात को अभक्ष्य पदार्थ खाते हैं। जबकि उनके यहां भी एकादशी व्रत करने वालों को कहा है कि–

एकादशी को अन्न, कन्द, फल, फूल भक्षण का त्याग, सोने का, मैथुन का, वस्तु खरीदने, बेचने का त्याग, बाल बनवाने (हजामत कराने), दांतोंन करने तथा स्नान करने का त्याग, इस तरह यह ग्यारह काम नहीं करने चाहिए। बल्कि एकादशी को दिन रात पानी तक नहीं पीना चाहिए। परन्तु इस समय विषय-भोगों की तथा इन्द्रियों की दासता सभी पुरुषों में फैल गई है इसलिये या तो विषय कषायों का त्याग उनसे नहीं किया जाता। यदि रूढ़ि से कोई व्रत पालते भी हैं तो व्रत के दिन भी अभक्ष्य-भक्षण आदि करते हैं। संयम, व्रत के अनुसार स्वयं प्रवृत्ति नहीं करते, अपनी प्रवृत्ति के अनुसार व्रत को विधि बना लेते हैं।

ऐसे निर्जला एकादशी आदि लोलुपी व्रतों को देखकर एक कवि कहता है कि—

गिरि और छुवारे खांय किसमिस और बदाम चाय.
सांठ और सिघांडे में होत दिल स्वादी है।
गिरी कलाकन्द, अरबी और सकरकन्द,
कुंदनके पेडे खांय लेटे पड़े गादी है।
खरबूजे तरबूजे और आतम जामुन निंबू जोर,
सिंघाडे के सहारे से भूख को भगा दी है।
कहते हैं नारायन करत हैं दूनी हान,
कहने की दकादशी पन द्वादशी की दादी है॥

दुनिया में अन्ध प्रवृत्ति को बढ़ाने वाले जो भ्रष्टाचार तथा पाप-मार्ग है उसी को लोग पसन्द करते हैं। इस कलिकाल में लोगों ने दुनिया की लोलुपता के कारण अधर्म को धर्म मान रखा है। ऐसे विषय-लोलुपी, कहा करते हैं कि—

आत्मा सो परमात्मा, आत्मा न कभी मरता है, न कभी जन्मता है, उसका पाप और पुण्य के साथ भी सम्बन्ध नहीं है, यह सभी कपोल-कल्पना है। यह सब पुद्गल का काम है, कर्ता धर्ता पुद्गल ही है, पुण्य पाप से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं। पाप, पुण्य पुद्गल करता है, पुद्गल में जीव नहीं है फिर पाप किसको लगे और पुण्य किसको लगे।

आत्मा हमेशा मुक्त ही है। शरीर से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस रूप से अपने इन्द्रिय-विषयों की पुष्टि करने के लिए मनगढन्त प्रचार करके उन्होंने धर्ममार्ग मलिन कर दिया है।

आचार्य कहते हैं कि इसतरह विना व्रत से या बिना इंद्रिय संयम तथा प्राणी-संयम या बिना तपश्चर्या के कर्म की निर्जरा नहीं होती है। इन्द्रियों की विषय-लोलुपता त्याग किये बिना न तो प्राणि-संयम होता है और इन्द्रिय-संयम होता है।

धर्म-साधना के लिये एक कवि ने लिखा है—

धन देकर तन राखिये, तन दे रखिये लाज।
धन दे तन दे लाज दे, एक धर्म के काज॥

यानी—धन को देकर शरीर की रक्षा करो, लाज रखने के लिये शरीर का भी मोह छोड़ दो और अपने धर्म की सुरक्षा के लिए धन, तन, लाज का भी बलिदान कर देना चाहिए।

श्री ऋषभदेव तीर्थंकर को महान् राज-सुख प्राप्त था, तीर्थंकर पद मिला था, समस्त इन्द्रिय-जन्य भोग-संपत्ति प्राप्त थी तो भी उनको उससे शान्ति नहीं मिली क्योंकि उस इन्द्रिय-विषय-भोग सामग्री से मानसिक तृष्णा घटती नहीं थी, बढ़ती जाती थी।

जब उन्होंने यह रहस्य समझा कि "इस इन्द्रिय विषय-भोग से आत्मा को शान्ति कभी नहीं मिल सकती, आत्मा कभी इससे तृप्त होने वाला नहीं और शरीर भी मेरे आत्मा से भिन्न है। केवल अपने आध्यात्मिक सुख से ही मुझको सुख शान्ति मिलेगी।" तब उन्होंने सारा राजपाट तृण के समान त्याग दिया।

ग्रन्थकार ने भगवान के उस वैराग्य के विषय में लिखा है कि—

चैत्रे मास्यासिते पक्षे सुमुहूर्ते शुभोदये।
नवम्यामुत्तराषाढे सायान्हे प्राव्रजद्विभुः ॥२०३॥
केशान् भगवतो मूर्ध्नि चिरवासात्पवित्रितान्।
प्रत्यैच्छन्मघवा रत्नपटल्यां प्रीतिमानसः ॥२०४॥
सितांशुकप्रतिच्छन्ने पृथौ रत्नसमुद्गके।
स्थिता रेजुर्विभोः केशा यथेन्दोर्लक्ष्मलेशकाः ॥२०५॥

भगवान वृषभदेव ने चैत्र मास के कृष्ण पक्ष की नवमी के दिन सायंकाल के समय दीक्षा धारण की थी। उस दिन शुभ मुहूर्त था शुभ लग्न था और उत्तराषाढ़ नक्षत्र था। भगवान के मस्तक पर चिरकाल तक निवास करने से पवित्र हुए केशों को (केशलोंच के बाद) इन्द्र ने प्रसन्नचित्त होकर रत्न के पिटारे में रख लिया था। सफेद वस्त्र से परिवृत उस बड़े भारी रत्नों के पिटारे में रखे हुए भगवान के काले केश ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो चन्द्रमा वाले चिन्ह के अंश ही हों। ऐसे केशों को देवों ने अत्यन्त भक्ति के साथ क्षीर-समुद्र में ले जाकर छोड़ दिया। और देवों ने भक्ति के साथ बाद में पूजा की थी।

जिस समय भगवान वृषभदेव ने दीक्षा ली उस समय—

चतुःसहस्रगणना नृपाः प्राव्राजिषुस्तदा।
गुरोर्मतमजानाना स्वामि-भक्त्यैव केवलम् ॥२१२॥
यदस्मै रुचितं भर्त्रे तदस्मभ्यं विशेषतः।
इति प्रपन्नदीक्षास्ते केवलं द्रव्यलिंगिनः ॥२१३॥
छंदानुवर्तनं भर्तुः भृत्याचारः किलेत्यमी।
भेजुः समौढ्यं नैग्रर्थ्यं द्रव्यतो न तु भावतः ॥२१४॥
गरीयसीं गुरौ भक्तिम् उच्चैराविश्चिकीर्षवः।
तद्वृत्तिं विभरामासुः पार्थिवास्ते समन्वयाः ॥२१५॥

उसी समय चार हजार अन्य राजाओं ने भी दीक्षा धारण की थी। वे राजा भगवान का मत (अभिप्राय) नहीं जानते थे केवल स्वामी-भक्ति से प्रेरित होकर ही दीक्षित हुए थे। जो हमारे स्वामी के लिए अच्छा लगता है वही हम लोगों को भी विशेष रूप से अच्छा लगना चाहिए बस, यही सोच कर राजा दीक्षित होकर द्रव्यलिंगी साधु हो गये थे। स्वामी के अभिप्रायानुसार चलना ही सेवकों का काम है, यह सोचकर ही वे मूढ़ता के साथ मात्र द्रव्य की अपेक्षा निर्ग्रन्थ अवस्था को प्राप्त हुए थे, नग्न हुए थे, भावों की अपेक्षा नहीं।

बड़े-बड़े वंशों में उत्पन्न हुए वे राजा, भगवान में अपनी उत्कृष्ट भक्ति प्रकट करना चाहते थे इसलिए उन्होंने भगवान-जैसी निर्ग्रन्थ वृत्ति को धारण किया था। इस लोक और परलोक सम्बन्धी सभी कार्यों में हमें हमारे गुरु भगवान वृषभदेव ही प्रमाणभूत हैं यही विचार कर कच्छ आदि उत्तम-उत्तम राजाओं ने दीक्षा धारण की थी। उन राजाओं

में से कितने ही मोह से और कितने ही भय से भगवान वृषभदेव को आगे कर अर्थात् उन्हें दीक्षित हुआ देखकर दीक्षित हुए। जिनके संयम प्रकट नहीं हुआ है ऐसे उन द्रव्य-लिंगी मुनियों से घिरे हुए भगवान वृषभदेव ऐसे सुशोभित होते थे मानो छोटे-छोटे कल्प-वृक्षों से घिरा हुआ कोई उन्नत विशाल कल्पवृक्ष ही हो।

उन चार हजार राजाओं ने केवल वृषभदेव के मोह से दीक्षा ग्रहण की थी। उनके हृदय में संयम की भावना का नाम मात्र भी नहीं था। जब भगवान छह महीने तक योग धारण करके आत्म-चिन्तन में लीन हो गए तब वे लोग इस दृष्टि से उनकी तरफ देखते रहे कि भगवान आजकल यह वेश छोड़कर आहार को निकलेंगे तब तक हमें भी इसी वेष में रहना ठीक है। परन्तु भगवान उठे नहीं, जैसे के तैसे रहे। तब उन राजाओं को भूख प्यास जब सताने लगी, उससे उन्होंने जैनेन्द्री दीक्षा से भ्रष्ट होकर जंगल में कंदमूलादि भक्षण करके उदर निर्वाह करने लगे, उन्होंने अपने मन के अनुसार विभिन्न मतों की स्थापना की। सारांश यह है कि जैन मुनि-दीक्षा और साधुचर्या कायर मनुष्य के योग्य नहीं है, यह दीक्षा धीर वीर विरक्त के लिए है।

इस शिवभूति ब्राह्मण ने मोह से दक्षिणा के लोभ के वशीभूत होकर दिगम्बर वेष कुछ दिनों के लिए लिया है। परन्तु वह मुनिचर्या से दो ही दिन में घबरा गया है, अतः वह इसको छोड़ना चाहता है। अगर इसको कुछ बातों के लिए छूट मिल जाय तो वह दो महीने तक इस व्रत को निभाना चाहता है। तब वसुभूति ब्राह्मण से दयामित्र सेठ कहने लगा कि—

गद्य—इंतु नेगलिल्करिदादुवुं फलदोल् पिरियवुयप्प पन्नेरडु तेरद तपयुयं तिललुं नित्तरिसलुं बारदिप्परेडु महापरोषहंगलुयं मोक्षश्रेणिगिवु मेट्टिनिसिर्पात्तेंटुमूलगुणंगलुयं, महाव्रताविकवु वज्रप्राकार येनिसि नेगल्तेवडेद पंचाचारमुंमंरत्नत्रयक्के कापागि बल्सिद कोंटेहयिदेनेंसिर्प हदिमूर चरित्र-मुयं सकलगुणगलेंबं रत्नंगलगे करंडयेनिसुव दशधर्ममुं ओर्वगल घोडं तप्प-लियदे मरणपर्यंतं बेंबीलिद् (लसदोस रिसदारेनेन्नदे ब्रेच्चदे) नडेयिसुव महर्षिगल मनद धैर्ययं बणिग पनावनेवरोल्किरियवप्पोंदेरडु परीषहंगलुवे बेविर्दि रक्कटा येंबुदुं वसुभूति विस्मय बंद्टु ॥१७६॥

अर्थ—साधारण चना खाने वाला मनुष्य लोहे के चने नहीं चबा सकता। जैन धर्म केवल चने चबाने के समान नहीं है बलिक लोहे के चने के समान अत्यन्त कठिन है। इसको महा-पुरुष ही धारण कर सकते हैं। जैन धर्म का पालन शूरवीर महापुरुष सरलता से करते हैं, जैसे सिंहिनी का दूध सोने के पात्र में ही रह सकता है, उसी प्रकार पवित्र जैनधर्म का आचरण पवित्र हृदय वाले धीर वीर महापुरुष द्वारा ही हो सकता है।

हे वसुभूते! आप अपने हृदय में विचार करके देखो कि तुमने यह व्रत केवल दो दिन किया है और इस थोड़े समय में तृषा (प्यास) परिषह, नग्न परिषह सहना तथा केश-लोंच का कष्ट सहन करना ही आपके लिए कठिन हो गया और उस साधारण वेदना के भय से उस व्रत को छोड़ने के लिए तैयार हो गए।

जिस व्रत को तुम घबरा कर छोड़ना चाहते हो उसी महाव्रत को हमारे दिगम्बर मुनि बाईस परिषहों के साथ एक दो दिन ही नहीं बल्कि आजन्म पालते हैं। बाईस परिषहों का शान्ति धैर्य से सहन करना मोक्ष महल में चढ़ने को सीढ़ी के समान है। अट्ठाईस मूलगुण महाव्रत के लिए प्राकार कोट के समान रहने वाले और सदा उसको वृद्धि करके आचरण में लाने वाले पाँच पंचाचार तथा रत्नत्रय की रक्षा करने के लिए बज्र परकोट के समान तेरह प्रकार के चारित्र और संपूर्ण गुण रूप रत्नों के लिए करंड के (तिजोड़ी) समान दश प्रकार के धर्म हैं। उसमें से एक भी अलग न हो अर्थात् न्यूनता न होने पावे, इस दृष्टि को रखकर अत्यन्त प्रयत्न पूर्वक रात और दिन प्रमाद-रहित एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने देते, आजन्म पालन करते हैं। दिगम्बर मुनि इनको पालन करते समय परिषह आने पर उनको बहुत शान्ति पूर्वक सहन करते हैं, ग्रहण किये हुए व्रतों में मलीनता नहीं आने देते। अपने पर होने वाले परिषह को देखकर मन में आनन्द मानते हैं, मन में विचारते हैं कि अपने ऊपर आये हुए ये परीषह मेरे कर्म की निर्जरा के लिए हैं, इनको शान्तिपूर्वक सहन करके अपना मल दूर कर लेना चाहिए।

हे वसुभूते! देखो उन महर्षि मुनिराजों का धर्म कितना दृढ़ है वे कितने शूरवीर और धैर्यशाली हैं, आप अपने मन में विचार करो।

विशेषार्थ—मुनि आत्म-धर्म में अत्यन्त दृढ़ होते हैं। सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्-चारित्र, तप और वीर्य इन पंचाचारों का पालन करते हैं, पांच महाव्रतों—अहिंसा, सत्य, असत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का सर्वदेश पालन करते हैं। वे जब चलते हैं तो भूमि को देखकर चलते हैं जिससे असावधानी में किसी जीव की हिंसा न हो जाय (ईर्या समीति); वे

हित, मित और प्रिय वचन बोलते हैं, ऐसी भाषा नहीं बोलते जिससे दूसरे को पीड़ा हो [भाषा समीति] ; वे नियम लेकर आहार को निकलते हैं और जो आहार लेते हैं उसे बहुत देखकर लेते हैं [एषणा समीति] अपने संयम के उपकरण–पिच्छी और कमण्डल और ज्ञान के उपकरण शास्त्र आदि देखकर उठाते हैं और देखकर रखते हैं, इस सावधानी का कारण भी यही है कि किसी जीव को बाधा या पीड़ा न होने पावे [आदान निक्षेपण समिति] ; और जब मलमूत्र का परित्याग करते हैं तो प्रासुक और निर्जन्तु स्थान पर ही करते हैं और उसे भी अच्छी तरह देखभाल कर [उत्सर्ग समिति] । इस प्रकार इन पांच समितियों का पालन करते हैं ।

इनके अतिरिक्त वे मन, वचन और काय को तत्व-विचार से अपने वश में रखते हैं । मन को कभी आर्त और रौद्र ध्यान की ओर नहीं जाने देते, वे सदा मन में द्रव्यों का स्वरूप, आत्म गुणों का विचार किया करते है, जिसमें मन धर्मध्यान से हटकर विषय-कषायों की ओर न आ सके । आत्मा के मुख्य शत्रु विषय कषाय ही हैं । इनकी उत्पत्ति मूलतः मन में होती है । मन में यदि विषय कषाय का लेश भी हो और शरीर से धर्मक्रिया हो रही हो तो भी अशुभ कर्म का बन्ध तो होता ही है क्योंकि कर्म का बन्ध परिणामों पर निर्भर है । मन के विचारों को ही परिणाम कहते हैं । आत्मा को अशुभ बन्ध से बचाने के लिए मन को ही वश में रखना आवश्यक है । इसीलिए मुनिजन मन को अपने वश में रखते हैं । मन की तरह वे वचन पर भी नियन्त्रण रखते हैं । वे अधिक नहीं बोलते, व्यर्थ नहीं बोलते, जो बोलते हैं विचार-पूर्वक बोलते हैं, हितकारी बोलते हैं । मुनि चूंकि वचन गुप्ति का पालन करते हैं और उनकी तपस्या में शक्ति होती है, अतः उनके मुख से जो शब्द निकलते हैं वह अमोघ होते हैं, प्रभावकारी होते हैं । ऐसे मुनि के एक शब्द से ही भव्यजनों का कल्याण हो जाता है । मन और वचन की तरह मुनि काय का भी नियमन करते हैं । वे काय से सेवक की भांति आत्मा की सेवा कराते हैं ।

वसुभूति ब्राह्मण इन सभी बातों के यावज्जीवन पालन करने वाले उन मुनियों की महान तपश्चर्या को तथा सभी परिषहों को सहन करने की बात सुनकर आश्चर्य-चकित होकर मन में विचारता है कि अहो ! उन मुनिराज की तपश्चर्या और परिषह-सहन का यदि विचार किया जाय तो इस लोक में जितने भी साधु हैं उन सब साधुओं में ये ही साधु श्रेष्ठ हैं । उन्हीं का तप वास्तव में तप है । आत्म-कल्याण तथा मोक्ष प्राप्त करने में दिगम्बर साधु के सिवाय अन्य कोई दूसरा साधु समर्थ नहीं है । इस प्रकार आश्चर्य-सहित

अपने मन में कहने लगा कि अरे मैं एक दो साधारण परिषह सहन करने में ही घबरा गया और मेरी दशा बिगड़ गई। किन्तु वे महात्मा लोग यावज्जीवन ऐसे कष्ट को सहन करते हैं वे महान् धन्य हैं, उनकी जितनी भी प्रशंसा की जाय वह कम ही है।

अलिपिंदयलेय बदें गे-
यलेयं कुटियिसिदरेंब तेरदिं मुनिसिं।
कुलमुमनानुर्किदं-
पलिदोडे मुनिदेन्न सिट्टनेन्नोल् कलदें ॥१७७॥

अर्थ—वर्षा न होने के कारण जैसे किसान खेत में उगे हुए धान्य के कोमल अंकुरों को क्रोध से उखाड़कर अपने आप को नष्ट कर लेता है, उसी तरह मैंने जो उन महान् तपस्वी दिगम्बर साधुओं की निन्दा की थी उसके बदले में दयामित्र श्रेष्ठी ने मन में रुष्ट होकर उन दिगम्बर मुनियों का क्रियाकाण्ड मेरे द्वारा ही करवाकर मुझे यह बताया कि वे साधु किस प्रकार रहते हैं और उनकी तपश्चर्या का महत्व क्या है? इस तरह दयामित्र ने मुनि-निन्दा का बदला मुझसे लिया है। मैं इसको अच्छी तरह समझ गया कि साधु का मार्ग कैसा होता है और उनका संयम, तप, आचार किस तरह का होता है।

गद्य—कटकमं कंडरियदवंगे पल्लिपिरियूरागि तोर्पंते धैर्यान्वितरप्प महर्षियर तपोमार्गमनरियदेनगेम्म चारित्रये परिदागिदुं क्कु दुसाजयादोडं परदरोलुयसाकूल्ल, सूलेसाधुवल्लै एवं नाणणुडि युंदुप्पु दरिंदीतंमरुल्लमी-तन पिडिद धर्मये धर्ममेंदु ॥१७८॥

अर्थ—यह बात सत्य है कि जिसने अपने जीवन में कटक (सेना) को नहीं देखा है वह चार दस मनुष्यों के दल को ही कटक या सेना समझ लेता है, उसी तरह महान् धैर्यशाली दिगम्बर मुनियों के तप या निर्मल संयम मार्ग को न जानते हुए मैंने अपने मनगढ़न्त हीन चारित्र को ही महान् समझ लिया कि मेरा क्रियाकाण्ड ही महान् चारित्र है, इससे बढ़कर दूसरा कोई अन्य चारित्र नहीं है, ऐसी कल्पना मेरे मन में थी। मेरे लिए ऐसा होना स्वाभाविक है। यदि मेरा क्रिया-काण्ड ही श्रेष्ठ चारित्र माना जाय, तो यह मान्यता ऐसी है जैसे वेश्या किसी दिन धनिक व्यभिचारी न मिलने से कामक्रीड़ा से रहित रहे, तो क्या वह वेश्या साध्वी हो सकती है? नहीं। क्या कभी वैश्य भी पागल बन सकता है?

कभी नहीं। तदनुसार यह दयामित्र सेठ भोला (बेसमझ-बुद्धिहीन) नहीं है, वह तो महान चतुर, बुद्धिमान, धनवान और धर्मवान है अतः इसने जो धर्म-मार्ग पकड़ा है, या माना है वह ही श्रेष्ठ धर्म है।

भावार्थ—वसुभूति ब्राह्मण अपने मन में सोचने लगा कि मैंने दयामित्र सेठ के श्रद्धास्पद दिगम्बर मुनियों की निन्दा करके दयामित्र को रुष्ट किया था। उसका बदला लेने के लिये दयामित्र ने मुझे दक्षिणा (धन की भेंट) का लोभ देकर दिगम्बर मुनि बना दिया है। उसी कठोर मुनि-व्रत से मेरी दुर्दशा कराई है। दिगम्बर साधु का मार्ग और उनका आचार विचार कैसा होता है, वे क्या खाते हैं, कैसे उपसर्ग सहन करते हैं, इन सारी बातों को दयामित्र श्रेष्ठी ने मेरे द्वारा साक्षात् आचरण करवा कर मुझे अनुभव करा दिया है। सो यह बात ठीक ही है क्योंकि दस बीस व्यक्तियों के झुण्ड को देखकर कोई अनजान मनुष्य उसी को सेना कल्पना कर लेता है, उसी तरह मैंने महामुनियों के आचार विचारों को ठीक नहीं समझा, अपने लौकिक धर्म तथा लौकिक आचरण को ही महान चारित्र मान रखा था। उन महान ऋषियों की क्रिया तथा उनके चारित्र को अचारित्र समझ रखा था। इसलिये मैंने अज्ञानवश उनकी निन्दा की थी। यदि वेश्या को किसी दिन किसी धनी का संसर्ग न मिले तो उस दिन वह सती या साध्वी, ब्रह्मचारिणी नहीं कहला सकती, इसी तरह यदि मैं कठिन दिगम्बर मुनि-चर्या आचरण न कर सकूं तो मैं महान चारित्रधारक नहीं बन सकता अथवा मुनि-चारित्र हीनकोटि का नहीं बन सकता। दयामित्र महान चतुर व्यापारी है वह जैसे लौकिक व्यापार में गलती नहीं कर सकता इसी तरह धर्मगुरु की परीक्षामें तथा धर्माचरण की परीक्षामें भी गलती नहीं कर सकता।

आरुमिदक्के नित्तरिसलाररेनिप्प परीषहंगलं।
सैरणेयिंदे गेल्व मुनिमुख्यर सादुं जिनेंद्र धर्ममं॥
सारमेनिप्पुदं तिलिदु नंबिदरन्यरनेके पोदुं वर।
मेरुवनेरि नोडिदवर्गीधरे तां किरिदागि तोरदे॥१७६॥

अर्थ—जो मुनिराज नियम से कठिन दुर्जय परिषहों पर अपनी प्रचण्ड शक्ति से विजय प्राप्त करते हैं और जिनेन्द्र भगवान के निर्मल धर्म की साधना बड़ी रुचि से करते हैं, लोक में ऐसा कौन व्यक्ति है जो दिगम्बर मुनीश्वरों की निन्दा करे? अर्थात् ऐसे दिगम्बर ऋषियोंकी निन्दा कोई नहीं करेगा। जो मनुष्य सुमेरु पर्वत पर चढ़कर वहाँ से पृथ्वी को

और देखता है उसको भ्रम से पृथ्वी के पदार्थ छोटे दिखाई देते हैं, परन्तु उसके भ्रम के कारण वे पदार्थ छोटे नहीं हो जाते। एसी तरह भ्रम से कोई मनुष्य अपने लौकिक क्रिया-काण्ड रूप धर्म को सच्चा महान धर्म समझ बैठे तो क्या उसे जिनेन्द्र भगवान का पवित्र महान धर्म छोटा दिखाई नहीं देगा? अवश्य दिखाई देगा। किन्तु उसके भ्रम के कारण जिनेन्द्र भगवान का महान धर्म छोटा नहीं हो सकता।

गद्य—(एंदु नन्नोले विचारिसि वात्सल्य रत्नाकरंगे कैगलंमुगि दु निम्मपिडिद धर्मये लेसंबुदनीगलरिदें नीनेनगे धर्मदोलादभिप्रायमनरियें पेललुबेकेंदु सेट्टियिंतेंदं ॥१८०॥

इस प्रकार वह वसुभूति ब्राह्मण सद्धर्म के विषय में विवेक से विचार करके प्रेम से दयामित्र श्रेष्ठी के सामने हाथ जोड़ कर कहने लगा कि आपने जिस धर्म को ग्रहण किया है, आचरण किया है, वही सच्चा धर्म है। संसार में इसके समान और कोई दूसरा धर्म नहीं। इससे पहले मैंने इस धर्म का मर्म समझा नहीं था। अब आप मुझे सद्धर्म का अभिप्राय सुगमरीति से समझाइए कि जिससे मैं उसे अच्छी तरह जान सकूं। वसुभूति ब्राह्मण की इस प्रकार प्रार्थना सुन कर दयामित्र श्रेष्ठी कहने लगा कि—

परमार्थमप्पुदं म-
च्चरिसदे कोपिसदे डंकेगोल्लदे पक्ष।
क्कुरिदेलदोंदे मनदिं-
निरुतं केलववने धर्मदोलगं तिलिगुम् ॥१८१॥

अर्थ—आत्मा का जो परम धर्म है, उसको सुनते समय मन में यदि मत्सरभाव, पक्षपात या कुछ राग-द्वेष हो तो उसे निकाल देना चाहिए और किसी प्रकार की शंका नहीं रखनी चाहिए। इस तरह सत्य श्रद्धा के साथ सुनने से यह परमार्थ आत्मधर्म ठीक समझ में आवेगा। पुनः श्रेष्ठी दयामित्र कहने लगा कि हे विप्र, सुनो—

कन्नडियं नोडुवावं-
तन्नय पेरगागे कानलपिनेरूपं।
मुन्नने परिदोलसववं
सन्नुत धर्ममप्पुदं तानरियं ॥१८२॥

अर्थ—जिस प्रकार शीशा (दर्पण) देखते समय दूसरे का रूप नहीं दिखाई देता अपना ही रूप उसमें प्रतिबिम्बित होता हुआ दीख पड़ता है, और जिस प्रकार किसी स्लेट पर कुछ लिखकर तुरन्त मिटा देने से कालान्तर में वह स्मरण नहीं रहता, उसी प्रकार अनादि काल से अज्ञानरूपी आवरण से परोक्ष किये जाने के कारण यह प्रशस्त निर्मल धर्म जीव को प्रत्यक्ष रूप में अनुभव नहीं होता। गोबर के कीड़े को जैसे गोबर ही रुचिकर होता है, उसी प्रकार उसे भी कुधर्म में ही आनन्द प्रतीत होता है। हे विप्र, आप मन में विद्यमान कुशंकाओं को तथा मन की चंचलता को, निकाल कर सुनो। क्योंकि यदि मनमें शल्य रहेगी तो धर्म का मर्म सम्यक् प्रकार से समझ में नहीं आवेगा। अतः इस धर्म का स्वरूप सुनते समय·········

गद्य—ओलियनंते पोल्लमेयं पिडिपदे, कोणनंते कद्‌डदे, बकनंते धूर्तनागदे, नारियंतोडनोडनोदरदे जडनंतविचारियानदे पाणवेयंते मत्तोंदुमनगानदे नपुंसकनंतेरड्‌डक्कासेगेय्यदे गिलियंते पलवं गलिपदे सबतियंते पुरुडिसदे, पुलियंते मेलुवायदे पेरेयंते वक्रनागदे सिडिलंते भयंदोरदे लंचगारनंते, नुडिगेडिसदे (एकचित्तदिं) केलिवरप्पोडं पेलिद्‌पेनेंबुदुं वसुभूति निम्मवेससिदते देरतु भावनेयिल्लदोंदे बुद्धियिं केलद्‌येनेंबुदुं सुरवक्कागरमेनि सुतसद्धर्ममं सेट्टियितेंदुं पेलिदं ॥१८३॥

अर्थ—जिस प्रकार जंगली चूहा जिस किसी वस्तु को देखता है, उसी को पकड़ने के लिये लपकता है, उसी प्रकार जिस-तिस धर्म को देखने मात्र से लालायित नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार भेड़ अपने समूह को नहीं छोड़ती है आगे चलने वाली भेड़ों के पीछे ही चलती है। यदि आगे की भेड़ कुए में गिरती है तो पीछे की भेड़ें भी कुए में गिरती चली जाती हैं, उसी प्रकार धर्म के आचरण में भेड़-चाल की तरह गतानुगतिक नहीं बनना चाहिए। बगुले समान धूर्त नहीं होना चाहिए। सियार के समान बार-बार व्यर्थ नहीं बोलना, मूर्ख के समान अविचारी नहीं होना, अस्थिर चित्त के समान क्षण-क्षण में भिन्न-भिन्न विचार मन में नहीं लाना, नपुंसक जैसे स्त्री और पुरुष दोनों को ही भोगने की इच्छा करता है उस तरह अधर्म और सद्धर्म दोनों के प्रति आस्था रखने वाला नहीं होना, केवल शुकपाठी नहीं होना, अर्थात् जिस प्रकार तोता बिना कुछ समझे रटा हुआ शब्द ही बोलता है उसका अर्थ नहीं समझता, उसी प्रकार ज्ञान-शून्य तोता-रटन्त नहीं बनना।

सद्धर्म के प्रति मत्सर भाव नहीं रखना अर्थात् शुद्ध भावना से सुनना, श्रद्धान रखना और चारित्र पालन करना, सद्धर्म सुनते समय मन में बारबार अस्थिरता नहीं करना, कुत्ते की पूंछ के समान वक्र-कुटिल नहीं होना, बिजली के समान दूसरों के लिए त्रासदायी नहीं होना, उत्कोचग्राही (घूंस लेने वाला) के समान बार-बार अपने उच्चरित वचन में परिवर्तन नहीं करना, इन बातों को पालन करने से ही आप धर्म के स्वरूप को सम्यक् प्रकार से समझ सकेंगे। इसके उत्तर में वसुभूति ब्राह्मण ने कहा कि आप जिस प्रकार मुझे समझावेंगे उसी प्रकार मैं इसको ग्रहण करूंगा और पालन करूंगा।

दयामित्र श्रेष्ठी पुनः कहने लगा कि हे ब्राह्मण! इस दयामय धर्म का स्वरूप तुम एकाग्रता से सुनो—

नेरेदेल्लर् कलगुडियु-
त्तिरे वडवर्गेल्लि धर्मगलूकेंदेरेवर् ।
धरे योलुगददुवं धर्ममे-
निरुतं पेलक्पण नीने भाविसि मनदोल् ॥१८४॥

अर्थ—अज्ञानान्ध लोग जिस प्रकार एकत्र होकर मदिरापान करते हैं और उसी उन्माद में उचित-अनुचित बकते हैं तथा उस वर्ग के लोग भी उसे ही हितकर धर्म मानकर उसी का प्रचार करते हैं तथा पापाचार की परिपाटी चलाते हैं। आप ठीक मन से विचार कर सोचिए कि क्या संसार का उससे कल्याण हो सकेगा? क्या वह मान्यता सच्चा धर्म है? यह अपने मन में सोच कर देखिए।

परवनिलेगोलु सेरिस-
लरिदांगिवागितार्प धर्मम् निनग ।
क्करेडिल्लदेंदूनंबिसि-
नेरेवसद्धर्ममप्पुदे केलदुवु ॥१८५॥

अर्थ—दुर्व्यसनी लोग अपनी इच्छा के अनुरूप ही धर्म के नाम पर अधर्म का प्रवर्तन करते हैं। जिस प्रकार परस्त्री-रत रहने वाला लम्पट लोगों को बतावेगा कि परस्त्री गमन ही धर्म है, इसी प्रकार मद्य पीने वाला कहेगा कि मदिरापान ही धर्म है। अज्ञानी तथा स्वादलोलुप लोग उसका अनुगमन करने लगेंगे और स्वार्थ की पूर्ति होते देखकर उसको

जय बोलेंगे तथा कहेंगे कि यह भी धर्म है। पापाचारी लोग उसी को धर्म मानकर उसका आचरण करते हैं। वे कहते हैं कि जितना हम पाप करेंगे उतना हमको अगले भव में पुण्य मिलेगा। हे विप्र ! क्या यह सद्धर्म है ? क्या ऐसे पापमय आचरण को ही धर्म समझ लिया जावे ?।

भावार्थ—सप्त व्यसनों में आसक्ति रखने वाले लोग पापमय मार्ग को त्यागने में असमर्थ होने के कारण उसी मार्ग को धर्म के नाम पर फैलाना चाहते हैं। कामातुर लोग परस्त्री गमन, और वेश्या सेवन को भी धर्म का रूप देने लगते हैं, मांस-लोलुपी मांसभक्षण को, नशेबाज मदिरा, भंग पीने को भी धर्म की मान्यता देते हैं। नास्तिक कहते हैं कि पाप-पुण्य ढकोसला है, स्वर्ग-नरक किसने देखा है। वाममार्गी कहता है—

मातृयोनिं परित्यज्य विहरेत् सर्वयोनिषु।

यानी—केवल अपनी माता को छोड़कर शेष सभी स्त्री और पुरुष का किसी प्रकार विवेक किये विना स्वतन्त्र काम-भोग करो।

इस तरह कामभोगों की दुरन्त लिप्सा में पड़े हुए वे पातकी अपनी वासनाओं से धर्म के नाम पर खुल कर खेलते हैं। कुछ लोग भांग-गांजा चरस पीना, मांस और मदिरा का देवो को भोग लगाना धर्म मानते हैं। इस प्रकार संसार में अनेक धर्म हैं, या यों कहना चाहिए कि धर्म के नाम पर कहे जाने वाले पापाचार हैं, क्या उनको सत्य धर्म मानें ?

अन्धे तमसि मज्जन्ति. पशुभिर्ये यजन्त्यहो।
हिंसा नाम भवेद्द धर्मो. न भूतो न भविष्यति॥

अर्थ—जो लोग पशु-बलि देकर यज्ञों का अनुष्ठान करते हैं, वे घोर अन्धतम नरक में गिरते हैं। क्योंकि हिंसा न कभी कहीं धर्म हुआ और न कभी होगा। इस प्रकार के केवल नाम के धर्म हैं, वस्तुतः वे कुधर्म और मिथ्याधर्म हैं।

बसवल्लुदरुजेयं सै-
रिसलारदेधर्ममरण कोल्लेने दयेमिं-
वसुमतियोलिरिवरदुवुं-
मिसुगुव सद्धर्ममेंदु नंबुवदेबुधं ॥१८६॥

अर्थ—अपने पूर्व जन्म के उपार्जित अशुभ कर्म के उदय से अनेक जीवों को असाध्य

रोग उत्पन्न हो जाते हैं उस रोग से मुक्ति पाने के लिए अपने पूर्व कर्मों का विचार न करके और अधिक पाप करने की ओर प्रवृत्त होना तथा देवी के आगे किसी मूक निर्बल, निरपराध पशु की हत्या करना और इस पापमार्ग से रोग-मुक्त होने की या पुण्यवान् बनने की स्पृहा करना क्या धर्म है ? क्या संसार के बुद्धिमान् लोग इस प्रकार के पाप को धर्म मानने को प्रस्तुत होंगे ? आप ही विचार करो कि क्या दयामय सद्धर्म के समान कोई निर्दयतामय धर्म हो सकता है ?

भावार्थ—रोग से अत्यन्त पीड़ित मनुष्य रोग को अपने पूर्व जन्म-कृत असातावेदनीय आदि कर्म के उदय का परिणाम न मानकर, तीव्र मिथ्यात्व के उदय से हिताहित का विचार न करके अपनी सुख-सुविधा के लिए अधर्म को धर्म समझ कर देवी-देवता के सामने पशुओं की बलि चढ़ाते हैं और यह मानते हैं कि इससे देवता प्रसन्न होंगे और रोग-कष्ट से मुक्ति मिल जाएगी। परन्तु क्या आग में बैठकर पानी की शीतलता प्राप्त की जा सकती है ? या पाप करके पुण्य का उपार्जन किया जा सकता है ? कभी नहीं।

(धरेयोळ् कलवुं कोलेयुं प्रसिद्ध पापंगलागिदुं)
कवदुं तदं धनमुमं (वेंटेयोळ्) कोंदु तंदडगुमं तम्मोळ् धर्मदिं
पच्चिकोंडि मेंवरदुवुं धर्ममक्कुमे ॥१८७॥

अर्थ—चोरी, डकैती, अन्याय, अत्याचार, बटमारी और पापाचार करके जिस सम्पत्ति का उपार्जन किया जाता है उसका उपभोग करने वाले यदि अपने उस बुरे कृत्य को धर्म कहेंगे तो क्या उसे धर्म माना जा सकेगा ? या उसे मानव का कल्याणकारी कहा जा सकेगा ?

भावार्थ—जीव-हिंसा से उपार्जित धनादि का उपभोग करने वाला धार्मिक नहीं हो सकता उसी प्रकार अधर्म—पशुबलि आदि भी धर्म नहीं कहा जा सकता। किन्तु मूर्ख अपनी इन्द्रिय-वासना से पराभूत होकर अथवा मिथ्यात्व से अभिभूत होकर पापमार्ग की पुष्टि करने लगता है और दीर्घकाल तक दारुण दुःखों को भोग कर रोता-कलपता, अटताता-पछताता परभव को प्रयाण कर जाता है।

अरसेंबपेसर पगरण-
दरसंगे धारिणीश्वरंगं करमा- ।

दरदिदं मक्कुमनितरो
लरसनदोंदाज्ञे बगवोडातं गुंटे ॥१८८॥

अर्थ—संसार में अनेक मनुष्यों का नाम 'राजा' होता है। किन्तु क्या वे सभी राज-गद्दी-प्राप्त होते हैं ? किसी दो एक के सिवाय शेष सभी लोग केवल नामधारी होते हैं। क्या उन सभी नामधारी राजाओं की आज्ञा को जनता मानती है ? इसी प्रकार धर्म के नाम पर संसार में अनेक धर्म प्रचलित हैं किन्तु क्या उनके आचार-विचार को देखते हुए उन्हें धर्म कहा जा सकता है ? दया का उपदेष्टा, अहिंसा का पालक तथा प्राणिमात्र को कल्याणका मार्ग प्रशस्त करने वाला एक ही सम्राट् धर्म है, वह है अहिंसाधर्म मूलक जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रवर्तित धर्म। दुनिया के अधर्म, कुधर्म केवल नाम मात्र के लौकिक धर्म हैं, उन्हें सच्चा धर्म नहीं कहा जा सकता। उनसे पाप की पुष्टि होती है। इस लिए धर्म वही है जो दया का सदुपदेश करता है।

पिट्टेंब पेसर् कलवेय-
पिट्टिंगं भूतलाग्रदोल्भाविसे वेल्- ।
विट्टिंगमक्कुमादोडे-
पिट्टिनोलिप्पोदु रुचियनदु तलेतपुदे ॥१८६॥

अर्थ—आटे के नाम से चावल का, गेहूं का, बाजरे का, लकड़ी का, सिंघाड़े का और न जाने किस-किस का आटा प्रसिद्ध है। किन्तु सभी सफेद हैं या आटे हैं, इतने मात्र से वे सभी खाद्य (खाने योग्य) नहीं हो सकते। रुचिकारक, पौष्टिक भी नहीं हो सकते। जिस प्रकार उन सभी आटों में से केवल गेहूँ आदि खाद्य कणों का आटा ही रसोई में सिद्ध किया जा सकता है, इसी प्रकार धर्म नाम से अनेक मत हैं और हो सकते हैं किन्तु पालनीय धर्म कौन-सा है ? यह पूछा जाने पर तो अहिंसा धर्म का नाम ही लिया जावेगा।

कब्बेंवभिदानं का-
लुगिब्बिंगं नेगल्दिमेलुवकब्बिंगं के-
लुर्वरे योलक्कुमादोडे-
कब्बिनोलुंटादपनदु तलेदपुदे ॥१६०॥

अर्थ—जिस प्रकार गन्ने के नाम से बहुत प्रकार के सांठे संसार में देखने में आते हैं

गांठ वाले, पर्व वाले घास भी देखने में आते हैं परन्तु खाने में रसमय और स्वादु जिस प्रकार ईख का गन्ना ही होता है उसी तरह जगत् के सम्पूर्ण प्राणियों को ग्रहण करने योग्य जो धर्म है, वह दयामय धर्म ही है, इतर कोई नहीं है। हे वसुभूति! केवल धर्म संज्ञा धारण करने मात्र से कोई कृत्य या मत 'धर्म' नहीं कहा जा सकता।

पोन्नेंब पेसर् कनकक्क-
न्नपदिं मद्दुगुणिवेगं समनक्कु
पोन्नेल्लिगमेसेवंतिरे
नान्नेरे संदुपुदे मद्दुगुणिकेयुमिलेयोल ॥१६१॥

अर्थ—पोन्न अर्थात् 'कनक' शब्द के दो अर्थ हैं, १. सुवर्ण और २. धतूरा। तदनुसार 'कनक' नाम से तो धतूरा का ग्रहण भी होता है, तो क्या कनक कहने से केवल एक सुवर्ण का ही बोध होगा? नहीं, दोनों का बोध होगा। इसी प्रकार धर्म शब्द से भी यद्यपि इतर धर्मों की प्रतीत होगी किन्तु जैसे वे वास्तविक धर्म नहीं (जैसे धतूरा कनक-सुवर्णवाचक नहीं) अहिंसा धर्म ही वास्तविक धर्म है, सुवर्णवाचक कनक सदृश है। और तो धतूरे के समान भिन्न-अर्थधारी हैं।

पालेंब नाममात्रिन-
पालिंगं नायवटर कार्लेलयोलादा।
पालिंगं मक्कुक मादो डे।
पालोलपु सविपुमरोलें समनिकुमें ॥१६२॥

अर्थ—दूध के नाम से भी अनेक प्रकार के दूध होते हैं। बट में, आक में, तथा अन्य क्षीरी वृक्षों में भी दूध होता है। किन्तु गाय, भैंस और बकरी का दूध ही पीने योग्य होता है। इसी प्रकार समस्त गुण धर्म की दृष्टि से अहिंसा धर्म ही दयामय धर्म है। उससे भिन्न धर्म तो दूध के नाम से प्रसिद्ध होने वाले वास्तविक दूध के गुणों से वंचित आक आदि वृक्ष के दूधों के समान नाम मात्र के धर्म हैं।

गद्य—तुप्पमेंब पेसरात्रिनतुप्पक्कं गेरतुप्पक्कमु टप्पडं तुप्पदन्तिनिदनक्कुमे? कुदुरेयेंबं पेसर् त्रिसिलगुदुरेगं जात्यश्वक्कमु टादनितरोले कुदुरेयंतक्कुमे धर्ममेवं पेसरसद्धर्मकं कुधर्मक्कं समनिसुगुमनितरोले सद्धर्म दोलादैश्वर्यमं पडेयदार्कुमे पढेय कूडदुकारणदिं ॥१६३॥

अर्थ–घी नाम के पदार्थ भी अनेक हैं। कनाड़ी में भिलाव के तेल को भी 'घी' कहते हैं और गाय के घी को भी 'घी' कहते हैं। तो क्या भिलाव के तेल को भी घी मान कर उसको गाय के घी के समान खा सकते हैं ? अर्थात् कभी नहीं खा सकते। दूर से पानी के समान दीखने वाले मरुस्थल (बालू के मैदान-रेगिस्तान) को कनाड़ी में "बिसलुगुदुरे" अर्थात् मृग-तृष्णा कहते हैं और अपनी प्यास मिटाने के लिये उस रेगिस्तान में दौड़ भाग करने वाले हिरण का नाम कनाड़ी में 'धूप का घोड़ा' इस अर्थ का वाचक शब्द होता है। तो क्या वह हिरण घोड़े के समान सवारी करने के काम में लाया जा सकता है ? अर्थात् क्या वह घोड़ा हो सकता है ? इसी तरह दुनिया में अनेक धर्म हैं परन्तु क्या सभी धर्मों को धर्म कहेंगे अर्थात् नहीं। सद्धर्म और कुधर्म इसमें बहुत अन्तर है। कुधर्म कभी सद्धर्म नहीं हो सकता है। सारांश यह है कि कुधर्म सद्धर्म के समान कभी आत्मकल्याणी नहीं हो सकता। सद्धर्म की आराधना के द्वारा जैसे हम लोग आत्म-वैभव प्राप्त कर सकते हैं वैसे कुधर्म की आराधना से कुगति के सिवाय शुभ गति या शुद्धात्मा की प्राप्ति करके मोक्ष गति को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इसलिए–

रसमं पोर्दि समंतु लोहनिकरं पोन्नथं बोलुर्वियोळ् ।
रसमेंबी पेसरिंगे भेर रसदोळ् पोन्नक्कुमे नोड पो-
र्दिसि सद्धर्ममनेनु नंबि सुखमप्पं तण्ण नीं नो भा-
विसि पोर्दिडे कोल्वधर्मदोळदें कैसार्गुमे तत्सुखं ॥१६४॥

अर्थ–जैसे रसायन की सिद्धि से रस प्राप्त होता है, उस रसके स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है। उसी तरह क्या भिलाव के रस से कभी सोना बनेगा ? कभी भी नहीं बनेगा। इसी तरह जिनको आत्म-कल्याण करना है उनको सत्धर्मका श्रद्धान रखकर इह लोक तथा परलोक का सुखसाधन कर लेना चाहिए। इस प्रकार हे वसुभूति ! आप अपने मनमें विचार करके देखो कि जो लौकिक पाप-वासना से भरा हुआ है सो कुधर्म है। एवं जो धर्म जीव-हिंसा से भरा हुआ है उस धर्म से कभी प्राणी-मात्र का कल्याण नहीं हो सकता।

भावार्थ–यह है कि जहां जीव-हिंसा है वहां जीव का कल्याण नहीं है और जहां दयामय धर्म है वहां जीव का कल्याण है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

विशेषार्थ– पद्मनंदि पंचविंशति में कहा है कि–

आद्या सद्व्रतसंचयस्य जननी सौख्यस्य सत्संपदां
मूलं धर्मतरोरनश्वरपदारोहैक—निःश्रेणिका ।
कार्या सद्भिरिहांगिषु प्रथमतो नित्यं दया धार्मिकैः
धिङ्नामाप्यदयस्य तस्य च परं सर्वत्र शून्या दिशः ॥८॥

अर्थ—यहाँ धर्मात्मा सज्जनों को सब से पहले प्राणियों पर सदा दया करनी चाहिए। क्योंकि वह दया समीचीन व्रतसमूह को एवं उत्कृष्ट सुख संपदाओं की जननी अर्थात् उत्पादिनी है, धर्म-रूपी वृक्ष की जड़ है। तथा अविनश्वर पद अर्थात् मोक्षमहल पर चढ़ने के लिए अपूर्व नसैनी का काम करती है। निर्दय पुरुष का नाम लेना भी निन्दाजनक है, उसके लिए सर्वत्र दिशाएं शून्य-जैसी हैं।

विशेषार्थ—जिस प्रकार जड़ के बिना वृक्ष की स्थिति नहीं रहती उसी प्रकार जीवों की दया के बिना धर्म की स्थिति नहीं रह सकती है। अत एव वह धर्म-रूपी वृक्ष की जड़ के समान है। तथा दया के होने पर ही चूंकि उत्तम व्रत तप संयम की एवं समीचीन सम्पदाओं की तथा अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती है, अतएव धर्मात्मा जनों का प्रथम कर्तव्य है कि वे समस्त जीवों पर दया भाव रखें। जो प्राणी निर्दयता से जीव-घात में प्रवृत्त होते हैं उनका नाम लेना भी बुरा समझा जाता है। उनके लिए कहीं भी सुख-सामग्री प्राप्त होने वाली नहीं है। इसलिए यह प्रथम उपदेश है कि मनुष्य समस्त प्राणियों पर दया का आचरण करे।

संसारे भ्रमतश्चिरं तनुभृतः के के न पित्रादयो।
जातास्तद्वधमाश्रितेन खलु ते सर्वे भवन्त्याहताः॥
पुंसात्मापि हतो यदत्र निहितो जन्मांतरेषु ध्रुवम्।
हंतारं प्रतिहंति हंत बहुशः संस्कारतो नु क्रुधः ॥९॥

अर्थ—संसार में चिर काल से परिभ्रमण करने वाले प्राणी के कौन-कौन से जीव पिता, माता और भाई आदि नहीं हुए? अतएव उन सब जीवों के घात में प्रवृत्त हुआ प्राणी निश्चय से उन सब को मारता है। आश्चर्य तो यह है कि वह अपने आप का भी घात करता है। इस भव में जो दूसरे के द्वारा मारा गया है वह निश्चय से भवान्तरों में क्रोध की वासना से अपने उस घातक का बहुत बार घात करता है, यह खेद की बात है।

विशेषार्थ—जन्म मरण का नाम संसार है। इस संसार में परिभ्रमण करते हुए प्राणी के भिन्न-भिन्न भवों में प्रायः प्रत्येक जीव के साथ माता-पिता आदि का संबंध प्राप्त हुआ है। अतएव जो प्राणी निर्दय होकर उन जीवों का घात करता है वह अपने माता-पिता आदि का भी घात करता है। और तो क्या कहा जाय, क्रोधी जीव अपना आत्मघात भी कर बैठता है। इस क्रोध की वासना से इस जन्म में किसी अन्य प्राणी के द्वारा मारा गया जीव अपने उस घातक का जन्मान्तरों में अनेकों वार घात करता है। इसलिए यहां यह उपदेश दिया गया है कि जो क्रोध अनेक पापों का जनक है उसका परित्याग करके जीवदया में प्रवृत्त होना चाहिए। सार यह है कि अधर्म से धर्म नहीं हो सकता और हिंसा से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। प्रत्येक मानव का यह कर्तव्य है कि यदि अपना भला करना चाहते हो तो दया धर्म का आचरण करो, हिंसामयी धर्म का त्याग कर देना चाहिए।

मरुलल् पयनाक्के तरगलोये संगडिगनेबंते पापियप्पंगे-
कुत्सित धर्मये सद्धर्मभागि तोकुं ॥१६५॥

अर्थ—जैसे पागल मनुष्य अपने गाँव से प्रस्थान करते समय और को रास्ता बताने के लिए साथ ले जाता है तो वह चोर उसके इष्ट स्थान पहुँचने से पहले ही उसका सर्वस्व

टिप्पणी—पिप्पलं च वटं चैव शणशाकं तथैव च। उदुम्बरं न खादेच्च भव्यार्थी पुरुषो नृप ॥६२॥
आज्यं गव्यं च यन्मांसं मायूरं चैव वर्जयेत्। वर्जयेच्छुष्कमांसानि तथा पर्युषितं च यत् ॥६३॥
न पाणौ लवणं विद्वान् अश्नीयान्न च रात्रिषु। दधिसक्तुं न दापारणं पिबेन्मधु च नित्यशः ॥६४॥
—महाभारत अनुशासनपर्व, अध्याय ६४।

अभक्ष्यमेतदिति वै इति हिंसा निवर्तते। खादतः क्रमतो हिंसा मृगादीनां प्रवर्तते ॥३२॥
यस्माद् हिंसंति चैवायु हिंस्यादीनां महाद्युते। तस्मात्तु वर्जयेन् मांसं य इच्छेद् भूतिमात्मनः ॥३३॥
—महाभारत अनुशासन पर्व, अध्याय १०४।

अर्थ—हे राजन्! भव्य पुरुष पीपल का फल, बड़ का फल, शणशाक (सनका शाक) और उदुम्बर फल (क्षीरी फल—जिन फलों के पहले फूल न आवे) न खावे ॥६२॥ तथा बकरे का, गाय का, मोर का मांस खाना छोड़ दे। सूखा मांस और बासी (जो ताजा न हो) मांस भी न खावे ॥६३॥ विद्वान् को हाथ में नमक, रात्रि में भोजन न खाना चाहिए। दही का सतू और शहद कभी नहीं पीना चाहिये ॥६४॥ मांस को अभक्ष्य समझ कर जो मांस खाना छोड़ देता है वह हिंसा से निवृत्त हो जाता है और जो हिरण आदि जीवों का मांस खाता है वह हिंसा में प्रवृत्त होता है ॥३२॥ हे शोभनीक! हिंसक मनुष्य हिरण आदि हिंस्य (जिनकी हिंसा की जावे) पशुओं की आयु का घात करते हैं (तभी उनका मांस मिलता है) इसलिये आत्म-वैभव चाहने वाले व्यक्ति को मांस-भक्षण छोड़ देना चाहिये ॥३३॥

हरण करके उसे जंगल में छोड़ देता है उसी तरह पापरूपी चोर के समान कुधर्म को ही मूर्ख लोग धर्म समझ कर, उसी को अपना कर संसार में दीर्घ काल तक परिभ्रमण करते हैं, यह कितने आश्चर्य की बात है ? हे वसुभूति, सुनो–

एल्लेलमुखं गलोलं
निल्लदे नेरदिपं नेंबं मनमुल्लोडे त-
लूपिल्लदे पिरिदादर दिं-
कोल्लदे धर्ममने पिडिगे नंडेगेयिदं ॥१६६॥

अर्थ–मानव को जो इस लोक में या परलोक में सुख प्राप्त होता है वह सभी सुख सद्धर्म से मिलता है, ऐसा निश्चय जानो। इसलिए तुम्हें यदि इह लोक और परलोक सुख की इच्छा है तथा संसार सुखों से भी ऊपर मोक्ष के सुख की अभिलाषा है तो मन में

महाभारत के १०५ वें अध्याय में लिखा है––

मधु मांसं च ये नित्यं वर्जयन्तीह धार्मिका:। जन्मप्रभृति ये नित्यं मद्यंश्चैव विवर्जिता: ॥७२॥
सत्य प्राणिदया शौच श्रेय: प्रीति: क्षमा दम:। एवमादि तथान्यच्च कर्म सात्विकमुच्यते ॥१०३॥
यस्तु सर्वाणि मासानि यावज्जीव न भक्षयेत्। स स्वर्गे विपुल स्थानं लभते नात्र संशय. ॥१०४॥
यत्त वर्षशतं पूर्ण तप्यते परमं तप.। यच्चापि वर्जयेत् मांसं सममेतन्न वा समम् ॥१०५॥
न हि प्राणै: प्रियतम लोके किंचन विद्यते। तस्मात् प्राणिदया कार्या यथात्मनि तथा परे ॥ ०६॥
सर्वे यज्ञा न तत् कुर्यु: सर्वे वेदाश्च भामिनि। यो मासरसमास्वाद्य पुनर्मास विवर्जयेत् ॥१०७॥
इत्येवं मुनय. प्राहु: मांसस्याभक्षणे गुणान्। एव बहुगुण देवि, नृणा मासविवर्जनम् ॥१०८॥
न शक्नुयात् यदातीव त्यक्तुं मास कथचन। पुण्यं तन्मांसमात्रं वा वर्जनीयं विशेषत: ॥१०९॥

अर्थ––धर्मात्मा स्त्री पुरुष जन्म से ही सदा शहद और मांस खाने का तथा शराब पीने का त्याग कर देते हैं ।७२। सत्य बोलना, जीवों की दया, शौच (मन की पवित्रता), श्रेय (सदाचार), दम (इन्द्रियों का जीतना), इस प्रकार के और भी अच्छे काम सात्विक कर्म है ।१०३। जो मनुष्य सब तरह का मांस-भक्षण जन्म भर त्याग देता है, वह स्वर्ग में उच्च पद प्राप्त करता है, इसमें सन्देह नहीं है ।१०४। पूरे सौ वर्ष तपश्चरण करना और मांस भक्षण का त्याग करना ये दोनों बराबर है। अथवा बराबर नहीं है। यानी––सौ वर्ष की तपस्या से भी अधिक श्रेष्ठ मांस भक्षण का त्याग है ।१०५। संसार में प्रत्येक जीव को अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय (प्यारी) और कोई वस्तु नहीं है। इसलिये अपने प्राणों की तरह दूसरे जीवों के प्राणो पर भी दया करनी चाहिए ॥१०६॥ हे देवि ! समस्त यज्ञ और समस्त वेद भी वह कार्य नहीं करते, जो मास का स्वाद लेकर फिर उसका त्याग देना कर देता है ।१०७। इस प्रकार हे देवि ! ऋषिगण मांस के न खाने में बहुत गुण बतलाते हैं। अत: मनुष्यों को मांस भक्षण का त्याग बहुत गुणकारी है ।१०८। जब किसी भी तरह मांस-त्याग न कर सके तो मांसमात्र (सब तरह का मांस) विशेष रूप से त्याज्य श्रेष्ठ है ।१०९।

किसी प्रकार की कुशंका न करके सम्यक् श्रद्धानपूर्वक आदर के साथ भगवान् जिनेन्द्रदेव के दयामय धर्म को रुचिपूर्वक मन में धारण करो। इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग कल्याण का नहीं है।

गद्य—आकोल्लदद्धर्मम् जैनागमदोल् ल्लदीरयल्‌वारदापरमागममुं निर्दोषियप्प परमात्मानमुखेकमलदिं दंल्लदेपोरमडदादेवनेतप्पनेदोंडे ॥१६७॥

अर्थ—दयामय अहिंसा धर्म या प्राणिवध-रहित धर्म जैनागम के सिवाय अन्यत्र पूर्णरूप से मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। यह दयामय धर्म निर्दोष परमात्मा के मुखारबिंद से निकला है। राग-द्वेष में पड़े हुए किसी देव के मुख से इसकी उत्पत्ति नहीं हुई।

भावार्थ—समस्त ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय आदि घाति कर्मों का नाश करके वीतराग और सर्वज्ञ पद प्राप्त होता है। सर्वज्ञ हो जाने पर श्री जिनेन्द्र भगवान ने पदार्थों का यथार्थ स्वरूप तथा जीवों का कल्याण जाना, उसी को उन्होंने अपनी वाणी द्वारा वीतराग भाव से निर्दोष विवेचन किया। अतः उनका उपदेश ही पूर्ण सत्य है। और समस्त जीवों का यथार्थ कल्याणकारी है। इनकी वाणी हिंसा से त्रस्त विश्व को अभय का पाठ पढ़ाती है। जीव हिंसा से धर्म कभी नहीं होता और जो मनुष्य पापाचार की पुष्टि करके उसको धर्म कहता है, वह अज्ञानी है, क्योंकि जहां हिंसा है वहां धर्म नहीं है जहां अहिंसा है वहां परम धर्म है, अतएव प्राणिमात्र के लिए अहिंसा धर्म ही कल्याणकारी है, ऐसा श्रीजिनेन्द्रदेव ने कहा है।

टिप्पणी—

हिरण्यदानैर्गोदानैर्भूमिदानैश्च सर्वशः। मांसस्याभक्षणे धर्मो विशिष्टः इति नः श्रुतिः ॥४१॥

अर्थ—सुवर्णदान, गोदान भूमिदान करने से जो धर्म की प्राप्ति होती है मांस न खाने में उससे भी उत्तम धर्म की प्राप्ति होती है, ऐसा हमारे सुनने में आया है।

लोभाद् वा बुद्धिमोहाद् वा बलवीर्यार्थमेव च। संसर्गादथ पापानामधर्मरुचिता नृणाम् ॥३३॥

अर्थ—लोभ से अथवा बुद्धि के व्यामोह से या शारीरिक बल संवर्द्धन की कामना से और पापियों के संसर्ग से मनुष्यों की रुचि अधर्म की ओर जाती है।

स्वमांसं परमांसेन यो वर्द्धयितुमिच्छति। उद्विग्नवासे वसति यत्र यत्राभिजायते ॥३४॥

अर्थ—जो व्यक्ति पराये मांस से अपने शरीर का मांस बढ़ाना चाहता है वह कभी भी चैन से नहीं बैठ सकता। जहां-जहां भी वह जाता है, उद्विग्नता उसके पीछे पड़ी रहती है।

धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं स्वस्त्ययनं महत्। मांसस्याभक्षणं प्राहुर्नियताः परमर्षयः ॥३५॥

अर्थ—नियम-परायण महर्षियों ने मांस के परित्याग को ही धन, यश, आयु, स्वर्ग और परम कल्याण का मार्ग बतलाया है।

टिप्पणी भाग—

इदन्तु खलु कौन्तेय, श्रुतमासीत् पुरा मया । मार्कण्डेयस्य वदतो ये दोषा मांसभक्षणे ।।३६।।

अर्थ - हे कुन्ती-नन्दन ! मांस भक्षण के जो दोष है उनके विषय में महात्मा मार्कण्डेय जी के मुख से मैंने पहले सुन रखा है ।

यो हि खादति मासानि प्राणिनां जीवितैषिणाम् । हतानां वा मृतानां वा यथा हन्ता तथैव सः ।३७।

अर्थ—जो जीवित रहने की इच्छा वाले मारे हुए या मरे हुए प्राणियों का मांस भक्षण करता है, वह उन्हें न मारने पर भी उनका हत्यारा ही समझा जाता है ।

धनेन क्रयिको हन्ति खादकश्चोपभोगतः । घातको वधबन्धाभ्यां इत्येष त्रिविधो वधः ।।३८।।

अर्थ—धन से खरीदने वाला, उपभोग से खाने वाला वध और बन्धन से प्राणियों का घातक (मारने वाला) ये तीनो ही वध (हत्या) के दोष के भागी होते है ।

अधृष्यः सर्वभूतानामायुष्मान् नीरुजः सदा । भवत्यभक्षयन् मास दयावान् प्राणिनामिह ।।३६।।

अर्थ—जो मनुष्य मांस नहीं खाता और इस जगत् में सब जीवो की रक्षा भी करता है, उसका कोई तिरस्कार नहीं करता और वह दीर्घायु तथा नीरोग होता है ।

खादकस्य कृते जन्तून् यो हन्यात् पुरुषाधमः । महादोषतरस्तत्र घातको न तु खादकः ।।४२।।

अर्थ—जो मांस खाने वाले के लिए हत्या करता है वह मनुष्यों मे अधम है । घातक को ही अधिक दोष लगता है, मास खाने वाले को उतना दोष नहीं लगता ।

इज्यायज्ञश्रुतिकृतैर्यो मार्गैरबुधोऽधमः । हन्याज्जन्तून् मांसगृध्नुः स वै नरकभाङ् नरः ।।४३।

अर्थ—जो मांसलोभी अधम (नीच) यज्ञादि के नाम से प्राणि-हिंसा करता है, वह नरकगामी होता है ।

भक्षयित्वापि यो मांस पश्चादपि निवर्तते । तस्यापि सुमहान् धर्मो यः पापान् विनिवर्तते ।।४४।।

अर्थ—जो पहले मांस खाने पर भी फिर उससे निवृत्त हो जाता है उसको भी महान् धर्म लाभ होता है क्योंकि वह पाप से निवृत्त हो जाता है ।

आहर्ता चानुमन्ता च विशस्ता क्रयविक्रयी । संस्कर्ता चोपभोक्ता च खादकाः सर्व एव ते ।।४५।।

अर्थ—हत्या करके पशु को लाने वाला, अनुमति देने वाला, उसे अभिनन्दित करने वाला और क्रय-विक्रय (खरीद बिक्री) करने वाला, मांस पकाने वाला और उसे खाने वाला, सभी मांस खाने वाले के समान पाप के भागी होते हैं ।

इदमन्यत्तु वक्ष्यामि प्रमाण विधिनिर्मितम् । पुराणमृषिभिर्जुष्टं वेदेषु परिनिष्ठितम् ।।४६।।

अर्थ—अब मैं इस विषय में एक दूसरा प्रमाण भी बता रहा हूँ जो साक्षात् ब्रह्मा जी द्वारा प्रतिपादित पुरातन ऋषियों द्वारा सेवित तथा वेदों में भी प्रतिष्ठित है ।

प्रवृत्तिलक्षणो धर्मः प्रजार्थिभिरुदाहृतः । यथोक्तं राजशार्दूल, न तु तन्मोक्षकांक्षिणाम् ।।४७।।

अर्थ—हे नृपश्रेष्ठ ! प्रजार्थी पुरुषों ने प्रवृत्ति रूप धर्म का प्रतिपादन किया है किन्तु मोक्ष की अभिलाषा रखने वालों के लिए वह अभीष्ट नही है ।

य इच्छेत् पुरुषोऽत्यन्तमात्मानं निरुपद्रवम् । स वर्जयेत् मांसानि प्राणिनामिव सर्वशः ।।४८।।

अर्थ—जो मनुष्य अपने आपको अत्यन्त उपद्रव-रहित बनाये रखना चाहता हो उसे चाहिए कि वह सर्वथा प्राणियों के मांसभक्षण का परित्याग कर दे ।

श्रूयते हि पुराकल्पे नृणां व्रीहिमयः पशुः । येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः ।।४९।।

अर्थ—सुना है कि पूर्वकाल में मनुष्यों के यज्ञ में पुरोडाश आदि के रूप में अन्नमय पशु का ही उपयोग होता था । पुण्यलोक की प्राप्ति के साधनों में लगे रहने वाले याज्ञिक पुरुष उसी अन्न के द्वारा यज्ञ करते थे ।

ऋषिभिः संशयं पृष्टो वसुश्चेदिपतिः पुरा । अभक्ष्यमपि मांसं यः प्राह भक्ष्यमिति प्रभो ।।५०।।

अर्थ—हे प्रभो, प्राचीन काल में ऋषियों ने चेदिनरेश से अपना संशय पूछा था, उस समय उसने मांस को भी (जो सर्वथा अभक्ष्य है) उसे भक्ष्य बता दिया ।

आकाशाद् धरणीं प्राप्तः तथा च पृथिवीपतिः । एतदेव पुनः प्रोक्त्वा विवेश धरणीतलम् ।।५१।।

अर्थ—उस समय आकाशचारी राजा वसु अनुचित निर्णय करने से पृथिवी पर गिर पड़ा और पुनरपि यही निर्णय देने से वह पाताल में समा गया ।

इदन्तु शृणु राजेन्द्र ! कीर्त्यमानं मयानघ । अभक्षणे सर्वसुखं मांसस्य मनुजाधिप ।।५२।।

अर्थ—हे निष्पाप मनुजेश्वर ! मेरी कही हुई यह बात भी सुनो । मांस भक्षण न करने से सब प्रकार का सुख मिलता है ।

यस्तु वर्षशतं पूर्णंतपस्तप्येत् सुदारुणम् । यश्च वर्जयेत् मांसं सममेतत् मतं मम ।।५३।।

अर्थ—जो मनुष्य सौ वर्ष तक कठोर तप करता है और दूसरा वह, जो मांस का परित्याग कर देता है, वे दोनों मेरी दृष्टि में समान हैं ।

कौमुदे तु विशेषेण शुक्लपक्षे नराधिप । वर्जयेत् मधुमांसानि धर्मो ह्यत्र विधीयते ।।५४।।

अर्थ—हे नरेश्वर ! विशेषतः शरद् ऋतु में मांस और मद्य का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए । क्योंकि ऐसा करने में धर्म होता है ।

चतुरो वार्षिकान् मांसान् यो मांसं परिवर्जयेत् । चत्वारि भद्राण्याप्नोति कीर्तिमायुर्यशोबलम् ।५५।

अर्थ—जो मनुष्य वर्षा के चार महीने भी मांस का परित्याग कर देता है, वह चार कल्याण मय वस्तुओं—कीर्ति, आयु, यश और बल को प्राप्त कर लेता है ।

अथवा मासमेकं वै सर्वमांसान्यभक्षयन् । अतीत्य सर्वदुःखानि सुखं जीवेन्निरामयः ।।५६।।

अर्थ—अथवा एक मास भी सम्पूर्ण मांसों का परित्याग करने वाला मनुष्य सभी दुःखों को पराजित कर सुखी नीरोग जीवन प्राप्त करता है ।

वर्जयन्ति हि मांसानि मासशः पक्षशो पि वा । तेषां हिंसानिवृत्तानां ब्रह्मलोको विधीयते ।।५७।।

अर्थ—जो एक मास अथवा एक पक्ष भी मांस खाना छोड़ देते हैं, उन हिंसा से दूर हुए मनुष्यों को ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है ।

(फिर जो कभी भी मांस नहीं खाते उनके लाभ की तो कोई सीमा ही नहीं है ।)

मासं तु कौमुदं पक्षं वर्जितं पार्थ राजभिः ।
सर्वभूतात्मभूतस्तैर्विदितार्थपरावरैः ॥५८॥
नाभागेनाम्बरीषेण गयेन च महात्मना ।
आयुनाथानरण्येन दिलीपरघुपूर्वभिः ॥५९॥
कार्तवीर्यनिरुद्धाभ्यां नहुषेण ययातिना ।
नृगेण विश्वगश्वेन तथैव शशविन्दुना ॥६०॥
युवनाश्वेन च तथा शिविनौशीनरेण च ।
मुचकुन्देन मान्धात्रा हरिचन्द्रेण वा विभो ॥६१॥

अर्थ—हे युधिष्ठिर ! जिन राजाओं ने आश्विनमास के दोनों पक्ष अथवा एक पक्ष मांस-भक्षण का त्याग किया था वे सम्पूर्ण भूतों के आत्मस्वरूप हो गये और उन्हें परावर्तत्व का ज्ञान हो गया था। उनके नाम इस प्रकार हैं—नाभाग, अम्बरीष, महात्मा गय, आयुनाथ, अनरण्य, दिलीप, रघु, पुरु, कार्तवीर्य, अनिरुद्ध, नहुष, ययाति, नृग, विश्वगश्व, शशिविन्दु, युवनाश्व, उशीनरपुत्र शिवि, मुचकुन्द, मान्धाता और हरिचन्द्र।

सत्यं वदत मासत्यं सत्यं धर्मः सनातनः। हरिचन्द्रश्चरति वै दिवि सत्येन चन्द्रवत् ॥

अर्थ—सत्य बोलो, असत्य न बोलो। सत्य ही सनातन धर्म है। हरिश्चन्द्र सत्य के प्रभाव से आकाश में चन्द्रमा के समान विचरते हैं।

सारांश यह है कि—

तदेतदुत्तमं धर्ममहिंसा धर्मलक्षणम्। ये चरन्ति महात्मानो नाकपृष्ठे वसन्ति ते ॥

अर्थ—यह अहिंसा धर्म सभी धर्मों से उत्तम है, जो महात्मा इनका आचरण करते हैं, वे स्वर्गलोक में निवास करते हैं।

मधु मांसं च ये नित्यं वर्जयन्ति हि धार्मिकाः। जन्मप्रभृति मद्यं च सर्वे ते मुनयः स्मृताः ॥

अर्थ—जो धर्मात्मा पुरुष जन्म से ही इस जगत् में शहद, मद्य और मांस का परित्याग कर देते हैं वे सभी मुनि माने गये हैं।

इमं धर्ममसांसादं यश्चरेच्छ्रावयीत वा। अपि चेत् सुदुराचारो न जातु निरयं व्रजेत् ॥

अर्थ—जो मांस भक्षण के परित्याग रूप इस धर्म का आचरण करता है, दूसरों को सुनाता है वह कितना ही दुराचारी क्यों न रहा हो, नरक में नहीं जाता।

मरणं चिन्ते भयं मदं मुलिसुमोहं खेदरोगं बेम-
र्जरे नीरल्के विशायमूटजननलोभं महाविस्मयं ।
स्नरवाणाहतिनिदेयोंविविनितं गेल्दातने तां जिने-
श्वरनिद्रार्चितपादनातनेवल' सौक्खकतां कारणं ॥१६८॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्रदेव के गुणों का वर्णन करते हुए दयामित्र श्रेष्ठी पुनः कहने लगा कि हे विप्रदेव ! भगवान कैसे हैं ? यह सुनो । उनको मरण नहीं, चिन्ता नहीं, मद-राग-मोह-खेद-जरा-प्यास-विषाद, क्षुधा-जन्म-मरण-लोभ-महाविस्मय नहीं, काम के वाणों से वे अविद्ध हैं, जिन्होंने काम को जीत लिया है । इस प्रकार के जिनेन्द्र भगवान् का जो अहिंसा धर्म है, वही धर्म सम्पूर्ण जगत् के लिए सुखकारी है ।

विशेषार्थ—जिनके चार घातिया कर्म नष्ट हो गए हैं उनका शरीर परमौदारिक हो जाता है । उसकी सारी धातुएं निर्मल और पवित्र हो जाती हैं । वे अठारह दोषों से रहित हो जाते हैं । अरहन्तों में जो तीर्थंकर होते हैं उनके जन्म और केवलज्ञान आदि के चौंतीस अतिशय होते हैं । जब तीर्थङ्कर अपनी माता के गर्भ में आते हैं, उससे छह मास पूर्व ही तीर्थंकर के घर इन्द्र की आज्ञा से कुबेर प्रतिदिन साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा करता है और यह वर्षा अनवरत रूप से तीर्थंकर के जन्मकल्याणक तक होती रहती है । उनके जन्म के दश अतिशय होते हैं अर्थात् उनका शरीर सर्वसाधारण से पुण्यातिशय के कारण श्रेष्ठ होता है । इसी प्रकार केवलज्ञान होने के बाद में इन्द्र की आज्ञा से कुबेर समवशरण की रचना करता है । भगवान् समवशरण के बीच में बनी हुई गन्धकुटी में विराजमान होते हैं । वहीं पर भव्य जीवों के पुण्य के कारण दिन और रात में उनकी दिव्यध्वनि खिरती है । उनके उपदेश से अनेक प्राणियों को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है । अनेक प्राणी मोक्षमार्ग पर चलकर कर्मों का नाश करके कैवल्य प्राप्त करते हैं । जहां भी भगवान् का विहार होता है वहां सर्वत्र बारह योजन में सुभिक्ष हो जाता है । समस्त वृक्षों पर समस्त ऋतुओं के फल और फूल लग जाते हैं । लोगों की चिन्ता और शोक दूर हो जाते हैं तथा सभी प्राणियों को आल्हाद का अनुभव होता है । उनके कारण धर्म की पावन मन्दाकिनी प्रवाहित होती है जिसमें मनुष्य, तिर्यञ्च और देव अवगाहन करके अपनी आत्मा के कालुष्य को धोते हैं ।

आ परमेश्वरननरि वरत्तानुमोर्वरप्प रर्देतेनेः ॥१९९॥

अर्थ–जैसे जोंहरी नकली और असली रत्न की परीक्षा करने में अत्यन्त कुशल होता है, उसी प्रकार सद्धर्म को कहने वाले तथा शुद्ध मोक्ष मार्ग प्राप्त करा देने वाले शुद्ध रत्नत्रय मार्ग को पहचान कर भव्य जीवों को बतलाने वाले यह अरहन्त देव हैं। इनके सिवाय धर्म और अधर्म की पहचान करा देने वाला अन्य कोई देव नहीं है।

जगत में जितने प्राणी हैं, उतने ही प्रकार के धर्म हैं, इसलिए उनमें से ग्रहण करने योग्य धर्म कौन सा है ?

कक्किन पवलद् मणिगल्-
निक्कुवर्पलरोमुक्किनेसरयं के-
केक्किवर्पलरो करं-
निक्कुवमारैदुनोपडिवनीतलदोल् ॥२००॥

अर्थ–कोई लोग अपने गले में कर्कति की मणि को पहनते हैं. कोई मोती की मणि को पहनते हैं, कोई कांच की मणि को पहनते हैं, कोई नकली मोती पहनते हैं। इस तरह अपनी-अपनी इच्छानुसार जगत के प्राणी मोती और कर्कतिक मणि आदि को पहनते हैं। परन्तु वे उन मणियों के भिन्न-भिन्न मूल्य को नहीं जानते। इसी तरह संसारी अज्ञानी प्राणी देव, अदेव, गुरु और अगुरु को न जानते हुए अपनी इच्छानुसार चाहे जिसको देव या गुरु मान लेते हैं।

निक्कुवदिं तालोलेय-
निक्कुवर्पलरो नोड पन्नोलेयनं।
तिक्कुवर्पलरो मन-
वकुक्केवयं पेदिलीयदिदनारयूनीं ॥२०१॥

अर्थ–कोई स्त्रियां चोटी में ताड़ वृक्ष के 'ओला' अर्थात् अपने शिर को शोभा के लिए ताड़ के पत्ते का अलंकार (गहना) बनाकर चोटी में लगा लेती हैं। और कोई स्त्रियां सोने के अलंकार (चार अंगुल लंबे जेवर) बनाकर पहनती हैं, कोई स्त्रियां ताड़ के पत्ते का कमरपट्टा बना लेती हैं और कोई सोने की कमर-पेटी (करधनी) बनवा कर पहनती हैं। नाम के अनुसार वे दोनों कमर-पट्टे एक से हैं परन्तु एक सोने का है और दूसरा ताड़ का

है। अतः दोनों में बहुत अन्तर है। परन्तु उन दोनों का यह अन्तर और निमित्त जब तक न जाना जावेगा तब तक उन दोनों का असली मूल्य मालूम न होगा। इसी प्रकार धर्म और अधर्म की जब तक पहचान नहीं होगी, तब तक इस जीव को सुख और असुख का मार्ग विदित नहीं होगा।

वररत्नमनरिववरु-
वेरेयोल्केलूपलरो कल्लुयं पुल्लुमनु।
वेरेयोलरिववरनेकेरो-
परिकिसि नोडरण निश्चयणदोल् नयदिं ॥२०२॥

अर्थ—इस जगत में कई लोग असली रत्न को जानने वाले हैं और अन्य लोगों को रत्न की परीक्षा नहीं होती। वे लोग कंकड़ को भी रत्न समझ कर ग्रहण करते हैं। इस प्रकार हे विप्र! संसार में भिन्न-भिन्न जीव धर्म और अधर्म को ग्रहण करने वाले हैं यानी—सभी तरह के जीव संसार में हैं। आप अपने मन में धर्म अधर्म का निश्चय करके देखो कि कौन-सा धर्म हेय है और कौन-सा उपादेय है।

यरननरिवंतु वल्लरे-
सिरिखंडवरण पगिननरिवंतरे क-
पुरमं वल्लरे कुत्सित-
सुररं नररिव नेरदिनरिवरे जिननं ॥२०३॥

अर्थ—समान दृष्टि से पेड़ को सभी लोग जानते हैं परन्तु उनमें से भिन्न चन्दन के वृक्ष को नहीं जानते हैं। कपूर को सामान्य दृष्टि से प्रायः सभी लोग जानते हैं परन्तु वे भिन्न-भिन्न जाति के कपूर को नहीं पहचानते हैं। इसी प्रकार संसार के लोग देव को तो जानते हैं परन्तु सच्चे आत्म-कल्याण के मार्ग को बतलाने वाले श्री जिनेन्द्र देव को तथा उनके मार्ग को नहीं जानते हैं।

गद्य—(अदरिंसु वस्तुवनरिवरु सुवस्तुवं कोडुववरुं केलंबर, कुवस्तु वनरिवरुं कुवस्तुवं कोडुववरुं पलंबरादोडं [सुवस्तु] वस्तु-परीक्षकरिं दक्ष-दरियल्बारदु, कुवस्तु वादोडे हलधर गोपालादिगलरितक्कोलगादुदरिं सर्वज्ञनुं सुवस्तुवप्पुदरिं वस्तुपुरुषर्गल्लदरियल्बारदु ॥२०४॥

अर्थ—इसलिए सुवस्तु को जानने वाले सुवस्तु को देते हैं और कुवस्तु को जानने वाले कुवस्तु को देते हैं। इस जगत में अज्ञानी मूर्ख लोग यथार्थ वस्तु स्वरूप को न जानने से कुवस्तु को ही सुवस्तु मानते हैं। उसी को सुख का कारण समझते हैं। वस्तु की परीक्षा के बिना सुवस्तु को नहीं जान सकते। सुवस्तु के परीक्षक श्री जिनेन्द्र देव ही हैं। उनके सिवाय सुवस्तु का स्वरूप अल्प ज्ञानी नहीं जानता है। इसलिए वस्तु-स्वरूप की परीक्षा के बिना वस्तु को ग्रहण करने से वह वस्तु हितकारी नहीं हो सकती। श्री जिनेन्द्रदेव ही वस्तु-परीक्षक होने के कारण वे ही सच्चे सर्वज्ञ देव हैं। उन्होंने ही वस्तु-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान करवाया है। इसलिए वह सच्चा देव है। वे ही निर्दोष आप्त हैं, उनको छोड़ और कोई जगत में सत्‌देव नहीं है इसलिए उनका श्रद्धान करो—

परमार्थं निर्दोषिये-
परमेश्वर नातनेंदुदागमयंता ।
परमागमदर्थं विस्तर वि-
स्तर दिंदं तत्वमेंब नंबुगेये वलं ॥२०५॥

अर्थ—अठारह दोष रहित परमेश्वर और उनके द्वारा प्रतिपादन किये गये अहिंसा का प्ररूपक परमागम तथा परमागम के अर्थ को विस्तार से कहने वाले ज्ञानी सच्चे गुरु हैं। उनको जानकर उनका श्रद्धान करना, यह व्यवहार सम्यक्त्व है।

विशेषार्थ—इस श्लोक में दयामित्र श्रेष्ठी ने वसुभूति ब्राह्मण को व्यवहार सम्यक्त्व का लक्षण बताकर उसमें उसको दृढ़ रहने की प्रेरणा की है। इसमें उसने यह बतलाया है कि निर्दोष सच्चे देव, शास्त्र और गुरु इन तीनों पर गाढ़ श्रद्धान रखना तथा उनको रुचि-पूर्वक समझ लेना उसी के अनुसार आचरण करना इसका नाम व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन को निर्दोष पालन करना चाहिए। श्री समन्तभद्राचार्य ने सम्यग्दर्शन का लक्षण इस तरह कहा है कि—

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम् ।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयं ॥४॥

अर्थ—सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु का जैसे का तैसा सत्य श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन (सम्यक्त्व) कहलाता है। इसलिए इन तीनों पर श्रद्धान रखना भी तत्व है,

तथा पंच परमेष्ठियों पर श्रद्धान रखना भी तत्व है और इनके द्वारा प्रगट आगम अर्थ पर विश्वास रखना भी तत्व है। उस सम्यग्दर्शन को तीन मूढ़ता रहित और आठ अंग सहित पालना चाहिए।

तत्व सात हैं–जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश ये पांच अस्तिकाय हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये नौ पदार्थ हैं। ये सब मिलकर सत्ताईस होते हैं। इन सत्ताइस का जैसा निर्दोष निरूपण श्री जिनेन्द्र भगवान् ने किया है वैसा श्रद्धान रखना सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन (सच्चा श्रद्धान के) समान इस लोक में इससे बढ़कर और कोई चीज मानव को सुख देने वाली नहीं है। कहा भी है कि–

न सम्यक्त्वसमं किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥३४॥ र. क. श्रा.।

भावार्थ–तीन लोक और तीन काल में सम्यक्त्व के समान और कोई प्राणियों का कल्याण करने वाला नहीं है और मिथ्यात्व के समान अन्य कोई अकल्याणकारी नहीं है।

हे विप्र, जब तक सच्चे धर्म का मार्ग नहीं मिलता तब तक जीव का कल्याण होना अति दुर्लभ है। अर्हन्त परमेष्ठी वीतराग पूर्ण राग-द्वेषादि विकार-विहीन होते हैं। इस कारण राग-सूचक वस्त्र, अलंकार, स्त्री आदि कोई पदार्थ उनके पास नहीं होता और द्वेष तथा भय-सूचक कोई शस्त्र आदि उनके पास नहीं होता। निर्भय, निर्विकार, प्रशान्त मूर्ति उनकी होती है।

देवसमूह के मुकुटों में प्रकाशमान नीलरत्नों की कान्तिरूपी चंचल भ्रमरों की पंक्ति से स्पर्शित जिनेन्द्र देव के चरण-कमल, स्मरण करने मात्र से ही लोगों के पाप सन्ताप को दूर करते हैं, वे लोक के अधिनायक भगवान् जयवन्त हों। उन भगवान् के मुख कमल से निकली हुई धर्म-वाणी प्राणी मात्र का कल्याण करने वाली है। हे वसुभूते, प्राणियों के ऊपर दयाभाव रखना यह जैनधर्म का स्वरूप है। वह धर्म गृहस्थ और मुनि के भेद से दो प्रकार का है। वही धर्म सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप रत्नत्रयरूप तीन प्रकार का है तथा उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव आदि के भेद से १० प्रकार का भी है। परन्तु निश्चय से मोह के निमित्त से उत्पन्न होने वाले मानसिक विकल्प समूह से तथा वचन एवं शरीर

के संसर्ग से भी रहित जो शुद्ध आनन्दरूप आत्मा की परिणति होती है, उसे ही धर्म कहा जाता है। हे विप्र ! यह धर्म मनुष्यभव धारण करने के बाद भी सभी मनुष्यों को मिलना अत्यन्त दुर्लभ है। जिन जीवों ने तीव्र पुण्य का संचय किया हो उनको ही प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं।

जिसको संसार से मुक्त होना है उसको प्राणियों पर दया करनी चाहिए। क्योंकि वह दया समीचीन व्रत समूह एवं उत्कृष्ट सम्पदाओं की जननी है, धर्मरूपी वृक्ष की वह जड़ है तथा अविनश्वर पद अर्थात् मोक्ष महापदके लिए अपूर्व निःश्रेणी के समान काम करती है।

भावार्थ—जिस प्रकार जड़ के विना वृक्षकी स्थिति नहीं रहती उसीतरह प्राणिदया के विना धर्म की स्थिति भी नहीं रहती। अतएव दया धर्मरूपी वृक्ष की जड़ के समान है। इसलिए धर्मात्मा जनों का प्रथम कर्तव्य है कि समस्त प्राणधारियों के ऊपर दयाभाव रक्खें। जो निर्दयता से जीवघात करते हैं उनका नाम लेना भी बुरा समझा जाता है। उनके लिए कहीं भी सुख सामग्री प्राप्त होने वाली नहीं।

त्रैलोक्यप्रभुभावतोपि सरुजोप्येकं निजं जीवितं,
प्रेयस्तेन विना स कस्य भवितेत्याकांक्षतः प्राणिनः।
निश्शेषव्रतशीलनिर्मलगुणाधारात्ततो निश्चितं,
जन्तोर्जीवितदानतस्त्रिभुवने सर्वप्रदानं खलु ॥

अर्थ–यदि किसी को तीन लोक की सम्पदा और जीवन में से किसी एक को चुनने को कहा जाए तो वह अपने रोगी भी शरीर को ही चुनेगा, न कि संसार की समस्त सम्पदा को। क्योंकि वह जानता है कि मरने पर यह तीन लोक की सम्पदा किस के काम आएगी ? (आप मरा जग सूना) निश्चय ही यह जीवन समस्त व्रतों, उत्तम गुणों का आधारभूत है। इसलिए प्राणी को जीवन-दान देना सर्वोत्तम दान माना गया है।

मिथ्यादृशां विसदृशां च पथच्युतानां, मायाविनां व्यसनिनां च खलात्मनां च।
संगं विमुंचत बुधाः, कुरुतोत्तमानां गन्तुं मतिर्यदि समुन्नतमार्ग एव ॥

भावार्थ–यदि उत्तम मार्ग में गमन करने की अभिलाषा है तो बुद्धिमान् पुरुष का यह कर्तव्य है कि वह मिथ्यादृष्टियों, विरुद्ध धर्मानुयायियों, सन्मार्ग-भ्रष्ट मायाचारियों, व्यसनासुरों तथा दुष्टजनों का संगति छोड़कर उत्तम पुरुषों का सत्संग करना स्वीकार करे।

स्निग्धैरपि व्रजत मा सह संगमेभिः, क्षुद्रैः कदाचिदपि पश्यत सर्षपाणाम् ।
स्नेहोऽपि संगतिकृतः खलताश्रितानां, लोकस्य पातयति निश्चितमश्रु नेत्रात् ॥

भावार्थ—दुष्ट व्यक्ति यदि अपने स्नेही भी हों तो भी उनकी संगति कभी नहीं करनी चाहिए । देखो, खल के आश्रय से क्षुद्र सरसों के दानों का स्नेह (तेल) भी लोगों के आंसुओं को गिराता है । सरसों को कोल्हू में पेरकर जब तेल निकाला जाता है तो शेष बचे छूंछ भाग को 'खल' कहते हैं । अतः 'खल' शब्द के दो अर्थ हैं—एक तो 'दुष्ट' और दूसरा सरसों का निस्तैल-निष्पीड़ित भाग । इसी प्रकार स्नेह शब्द के भी दो अर्थ हैं, एक 'चिकनाई' और दूसरा प्राणी से 'प्रेम भाव' । सरसों का तैल जिस प्रकार खलाश्रित होकर लोगों के नेत्रों में अश्रुपात का कारण होता है, उसी प्रकार खलों के आश्रय से भव्यजन का भी निपात हो जाता है । अतएव आत्महितैषी जनों को दुष्टजनों की संगति का परित्याग कर देना चाहिए ।

कलावेकः साधुर्भवति कथमप्यत्र भुवने
स चाघ्रातः क्षुद्रैः कथमकरुणैर्जीवति चिरम् ।
अतिग्रीष्मे शुष्यत्सरसि विचरच्चंचुचरतां
बकोटानामग्रे तरलशफरी गच्छति कियत् ॥

भावार्थ—इस कलिकाल में बड़ी कठिनता से कोई एक साधु होता है वह भी यदि निर्दय दुष्टों द्वारा सताया जावे तो कितने काल तक जीवित रह सकता है ? अर्थात् नहीं रह सकता । ठीक ही तो है, जब प्रचण्ड ग्रीष्म काल में तालाबों का पानी सूखने लगता है तब चोंच को हिलाकर चलते हुए बगुलों के सामने बेचारी मछली कितनी देर तक ठहर सकती है, अर्थात् बहुत देर तक जीवित नहीं रह सकती । उनके द्वारा मारकर खायी ही जाती है ।

इह वरमनुभूतं भूरि दारिद्र्यदुःखं,
वरमतिविकराले कालवक्त्रे प्रवेशः ।
भवतु वरमितोऽपि क्लेशजालं विशालं
न च खलजनयोगाज्जीवितं वा धनं वा ॥

अर्थ—इस संसार में कठिन दरिद्रता को भोग लेना अच्छा है, और अत्यन्त विकराल

काल के मुंह में चला जाना भी अच्छा है। तथा च इससे भी कठोर कष्टों की विशाल परम्परा का सहन करना भी सुखकर है किन्तु दुष्ट जनों के संयोग से जीवित रहना या उनसे धन प्राप्ति करना उचित नहीं है।

आचारा दशधर्मसंयमतपोमूलोत्तराख्या गुणा
मिथ्यामोहमदोज्झनं शमदमध्यानाप्रमादस्थितिः।
वैराग्यं समयोपबृंहणगुणा रत्नत्रयं निर्मलं
पर्यन्ते च समाधिरक्षयपदानन्दाय धर्मो यतः॥

अर्थ–ज्ञानाचारादि स्वरूप पांच प्रकार का आचार, उत्तम क्षमादि रूप दश प्रकार का धर्म, तप तथा मूलगुण और उत्तरगुण, मिथ्यात्व-मोह एवं मद का परित्याग, कषायों का शमन, इन्द्रियों का दमन, ध्यान में प्रमादरहित अवस्थान, संसार-शरीर, इन्द्रिय-विषयों से विरक्ति, धर्म को बढ़ाने वाले अनेक गुण, निर्मल रत्नत्रय तथा अन्त में समाधिमरण यह सब धर्म अविनश्वर मोक्ष-पद के आनन्द का कारण है।

स्वं शुद्धं प्रविहाय चिद्गुणमयं भ्रान्त्याणुमात्रोऽपि यत्,
सम्बन्धाय मतिः परे भवति तद्बन्धाय मूढात्मनः।
तस्मात् त्याज्यमशेषमेव महतामेतच्छरीरादिकं,
तत्कालादिविनादियुक्तित इदं तत् त्यागकर्मव्रतम्॥

अर्थ–चैतन्य गुण स्वरूप शुद्ध आत्मा को छोड़ कर भ्रान्ति से जो अज्ञानी जीव की बुद्धि परमाण प्रमाणु भी बाह्य वस्तु विषयक संयोग के लिए होती है वह उसके लिए कर्म-बन्ध का ही कारण होती है। इसलिए महान् पुरुषों को इस शरीर आदि का त्याग कालादि के विना प्रथम युक्ति से करना चाहिए। यह त्याग कर्म-व्रत है। अभिप्राय यह है कि शरीर आदि जो भी बाह्य पदार्थ हैं, उनमें ममत्व बुद्धि रखकर उनके संयोग आदि के लिए जो कुछ भी प्रयत्न किया जाता है उससे कर्म का बन्ध होता है और जीव को पराधीन करता है। इसके विपरीत शुद्ध चैतन्य स्वरूप को उपादेय समझ कर उसमें स्थिरता प्राप्त करने के लिए जो प्रयत्न किया जाता है उसमें कर्मबन्ध का अभाव होकर जीव को स्वाधीनता प्राप्ति होती है। इसी लिये यहां यह उपदेश दिया गया है कि जब तक शरीरादि रत्नत्रय की परिपूर्णता में सहायता करते हैं तब तक ही ममत्व बुद्धि को त्याग कर

शुद्ध आहार के द्वारा उसका रक्षण करना चाहिऐ। किन्तु जब वे असाध्य रोगादि के कारण उक्त रत्नत्रय की पूर्णता में बाधक बन जाते हैं तब उनके नष्ट होने तक के कालकी अपेक्षा न करके धर्म की रक्षा करते हुए सल्लेखना विधि से उस देह का त्याग कर देना चाहिए। यही त्याग कर्म की विशेषता है।

मुक्त्वा मूलगुणान् गतेर्विदधतः शेषेषु यत्नं परं
दण्डो मूलहरो भवत्यविरतं पूजादिकं वांछतः।
एकं प्राप्तमरेः प्रहारमतुलं हित्वा शिरश्छेदकं
रक्षत्यंगुलिकोटिखण्डनकरं कोऽन्यो रणे बुद्धिमान्॥

अर्थ—मूल गुणों को छोड़ कर शेष उत्तर गुणों के परिपालन में ही प्रयत्न करने वाले तथा निरन्तर पूजा आदि की इच्छा रखने वाले साधु का यह प्रयत्न मूलघातक ही होगा। कारण कि उत्तर गुणों में दृढ़ता उन मूलगुणों से ही आती है। इसलिए उसका यह प्रयत्न उसी प्रकार का है, जिस प्रकार युद्ध में कोई मूर्ख योद्धा अपने शिर का छेदन करने वाले शत्रु के अनुपम प्रहार की परवाह न करके उस अंगुलि के अग्रभाग को काटने वाले प्रहार में ही अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करता है। अर्थात् यदि शिर ही कट गया फिर जीवित ही नहीं रह सकता और अंगुलि का अग्रभाग तो कट भी जावे उससे जा न को क्षति नहीं पहुँचती। इसी प्रकार मूल-गुणों को शिरः-स्थानीय समझ कर उनका रक्षा करना धर्म है, उत्तर गुण तो अंगुलि के अग्रभाग के समान हैं जिनका पालन शिर की रक्षा के समान मूल गुणों का पालन करके ही किया जा सकता है।

म्लाने क्षालयतः कुतः कृतजलाद्यारम्भतः संयमो,
नष्टे व्याकुलचित्तताथ महतामप्यन्यतः प्रार्थनम्।
कौपीनेऽपि हृते परैश्च झटिति क्रोधः समुत्पद्यते,
तन्नित्यं शुचि रागहृत् शमवतां वस्त्रं ककुम्मण्डलम्॥

अर्थ—वस्त्र के मलिन हो जाने पर उसके धोने के लिए जल, सोडा, साबुन आदि का आरम्भ करना पड़ता है और ऐसा करने से संयम का घात होना अवश्यम्भावी है। इसके अतिरिक्त उस वस्त्र के नष्ट हो जाने पर महान् पुरुषों का भी मन व्याकुल हो जाता है। इसकी पूर्ति के लिए दूसरों से उसकी प्राप्ति के निमित्त प्रार्थना करनी पड़ती है। यदि कोई

लंगोटी भी अपहरण करता है तो भी झट से क्रोध उत्पन्न हो आता है। इसी कारण मुनिजन सदा पवित्र रहते हैं और राग भाव को बढाने वाले सूत्रमात्र का भी परित्याग कर दिग्मण्डल रूप अविनश्वर वस्त्रों को धारण करते हैं। अर्थात् किसी प्रकार का वस्त्रादि धारण नहीं करते हैं।

काकिन्या अपि संग्रहो न विहितः क्षौरं यया कार्यते,
चित्तक्षेपकृदस्त्रमपि वा तत्सिद्धये नाश्रितम्।
हिंसाहेतुरहो जटाद्यपि तथा यूकाभिरप्रार्थनैः,
वैराग्यादिविवर्द्धनाय यतिभिः केशेषु लोचः कृतः॥

अर्थ–मुनिजन कौडीमात्र भी धन का संग्रह नहीं करते जिससे कि मुण्डन कार्य कराया जा सके और उक्त मुण्डन कार्य के लिए उस्तरा, कैंची या ऐसा ही कोई अन्य औजार भी पास नहीं रखते क्योंकि उससे चित्त में क्षोभ उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में वे जटा धारण करते हों सो भी नहीं हैं क्योंकि, बाल बढ़ जाने से जूं आदि जन्तु उत्पन्न होने लगते हैं जिनका रोकना उस स्थिति में असम्भव है। इसलिए अयाचक वृत्ति को धारण करने वाले साधु जन वैराग्य गुणों के संवर्द्धन के लिए केशों का लोच किया करते हैं।

यावन् मे स्थितिभोजनेऽस्ति दृढता पाण्योश्च संयोजने,
भुंजे तावदहं रहाम्यथ विधावेषा प्रतिज्ञा यतेः।
कायेऽप्यस्पृहचेतसोऽन्त्यविधिषु प्रोल्लासिनः सन्मतेः,
न ह्येते न दिवि स्थितिर्न नरके सम्पद्यते तद्विना॥

अर्थ–जब तक मुझ में खड़े होकर भोजन करने की दृढ़ता है तथा दोनों हाथों को भी जोड़ने की क्षमता है, दृढ़ता है, तब तक मैं आहार ग्रहण करूंगा अन्यथा भोजन का परित्याग करके ही रहूँगा, इस प्रकार जो यति प्रतिज्ञा-पूर्वक अपने नियम में दृढ़ रहता है, उसका चित्त शरीर में निःस्पृह हो जाता है। इसीलिए वह सद्बुद्धि साधु समाधि-मरण के नियमों में आनन्द का अनुभव करता है।

एकस्यापि ममत्वमात्मवपुषः स्यात् संसृतेः कारणं,
का बाह्यार्थकथा प्रथीयसि तपस्याराध्यमानेपि च।

तद्वास्यां हरिचन्दनेपि च समः संश्लिष्टतोप्यंगतो,
भिन्नं स्वं स्वयमेकमात्मनि धृतं पश्यत्यजस्रं मुनिः ॥

अर्थ—महान् तप का आराधन करने पर भी जब एक मात्र अपने शरीर में ही रहने वाला ममत्वभाव संसार का कारण होता है, तब भला प्रत्यक्ष में दिखने वाले अन्य बाह्य पदार्थों के मोह के विषय में क्या कहा जाय । अर्थात् उनके मोह से तो संसार-भ्रमण होगा ही । इसी लिए मुनि निरन्तर वसूला और हरिचन्दन इन दोनों में समभाव को धारण करते हुए आत्मा का स्वयं अवलोकन करते हैं ।

तृणं वा रत्नं वा रिपुरथ परं मित्रमथवा,
सुखं वा दुःखं वा पितृवनमथो सौधमथवा ।
स्तुतिर्वा निन्दा वा मरणमथवा जीवितमथ,
स्फुटं निर्ग्रन्थानां द्वयमपि समं शान्तमनसाम् ॥

अर्थ—जिनका मन शान्त हो गया है ऐसे निर्ग्रन्थ मुनि तृण और रत्न, शत्रु और मित्र, सुख और दुख, श्मशान और प्रासाद, स्तुति और निन्दा तथा मरण और जीवन इन इष्ट और अनिष्ट पदार्थों में स्पष्ट ही समबुद्धि रखते हैं । अभिप्राय यह है कि वे किसी वस्तु पर राग या किसी पर द्वेष नहीं रखते । वे समभाव ही रखते हैं ।

इस प्रकार दयामित्र श्रेष्ठी का उपदेश सुनकर वसुभूति की कर्मकालिमा धुलने लगी और परिणाम शुद्ध होने से उसके अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्त्वमिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति इन सात प्रकृतियों का नाश हो गया जिससे उसकी आत्मा मिथ्यात्व मल से निर्मल हो गई और तत्क्षण उसे सम्यक्दर्शन उत्पन्न हो गया ।

दयामित्र श्रेष्ठी वसुभूति ब्राह्मण से कहने लगा कि हे विप्र ! और भी मेरी बात को ध्यानपूर्वक सुनो कि यदि सब इन्द्रियाँ अन्तरात्मा के सम्मुख हैं तो फिर व्यर्थ के बाह्य तप से कुछ भी प्रयोजन नहीं हैं । यह बात निश्चित है कि उससे कुछ भी प्रयोजन सिद्ध होने वाला नहीं है । यदि अन्तरंग और बहिरंग दोनों में अन्य वस्तु से अनुराग नहीं है तो बाहरी बाह्य तप से क्या प्रयोजन ? वह व्यर्थ ही हैं । इसके विपरीत यदि अन्तरंग और बाह्य में अन्य वस्तु से अनुराग बना हुआ है तो बाह्य तप करना व्यर्थ है, उससे कुछ भी लाभ नहीं मिल सकता ।

इसलिए हे भूदेव, यदि तुम्हें इस संसार से शीघ्र पार होने की अभिलाषा है और इस कर्म जाल से छूटना चाहते हो तो अन्तरंग और बहिरंग दोनों को शुद्ध करो। मिथ्यात्व का वमन करो। ऐसा करने से तुम्हारा बेड़ा पार हो जायगा। हे वसुभूते, यह आत्मा इस क्षणिक विषय सुख की लालसा से अनादिकाल से अत्यन्त दु,ख उठाते हुए तेली के बैल के समान संसार-चक्र में परिभ्रमण कर रहा है। परन्तु इस आत्मा को अपने निज स्वरूप का पता नहीं हुआ है।

मनुष्यभव की दुर्लभता—

भ्राम्यन् कालमनन्तमत्र जनने प्राप्नोति जीवो न वा,
मानुष्यं यदि दुष्कुले तदघतः प्राप्तं पुनर्नश्यति।
सज्जातावथ तत्र याति विलयं गर्भेपि जन्मन्यपि,
द्रागबाल्येपि ततोपि नो वृष इति प्राप्ते प्रयत्नो वरः॥

अर्थ—इस जन्म-मरणरूप संसार में अनन्तकाल से परिभ्रमण करने वाला जीव मनुष्य-पर्याय को प्राप्त करता है। अथवा नहीं भी। अर्थात् उसे मनुष्य पर्याय बड़ी कठिनता से मिलती है। यदि कदाचित् वह मनुष्यभव को प्राप्त भी कर लेता है तो नीच कुल में उत्पन्न होने से उसका वह मनुष्यभव पापाचरणपूर्वक ही नष्ट हो जाता है। यदि किसी प्रकार से उत्तम कुल में भी उत्पन्न हुआ तो भी वहाँ वह या तो गर्भ में ही विनष्ट हो जाता है या जन्म लेते समय मर जाता है अथवा बाल्यावस्था में भी शीघ्र मरण को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार भी धर्म की प्राप्ति नहीं हो पाती। फिर यदि आयुष्य की अधिकता में वह धर्म प्राप्त हो जाता है तो उसके विषय में उत्कृष्ट प्रयत्न करना चाहिए।

जगत् द्रव्य की अपेक्षा से स्थिर हो कर भी पर्याय की अपेक्षा क्षण क्षण में मेघपटल के समान नष्ट होता रहता और प्रतिक्षण उत्पन्न भी होता है। इस कारण यहां ज्ञानी जन को किसी प्रिय वस्तु के उत्पन्न होने पर हर्ष और उसके नष्ट हो जाने पर विषाद नहीं करना चाहिए। इसलिए हे विप्र! इन क्षणिक इन्द्रियजनित विषय भोग का मोह त्याग कर समस्त परद्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा के स्वरूप का ही अन्वेषण करना चाहिए, अर्थात् ध्यान करना चाहिए।

यह आत्मज्योति ही उत्कृष्ट तेज है। यही आत्मज्योति साधुजनों के लिए जन्मरूपी वृक्ष को दग्ध करने वाली है। समाधि में स्थित योगीजनों का अभीष्ट प्रयोजन उसी एक

आत्म-ज्योति से है । मोक्षाभिलाषी के लिए वह आत्मज्योति ही श्रेयस्कर है दूसरा कोई नहीं । उसे त्याग.कर किसी अन्य में आनन्द की सम्भावना भी नहीं है । शान्त और शीतल यही आत्मज्योति संसाररूपी भयानक सन्ताप को दूर करने वाली है । वही आत्म-ज्योति विपुल बोध है, वही आत्मज्योति प्रकाशमान मन्त्र है । वही जन्मरूपी रोग को नष्ट करने वाली महौषधि है । इस प्रकार एकाग्रता से विचारना चाहिए कि 'मैं एक चैतन्यमूर्ति हूँ, उससे भिन्न कोई मेरा स्वरूप नहीं है । किसी अन्य पदार्थ के साथ मेरा सम्बन्ध नहीं है ।' ऐसे दृढ़ता के साथ निश्चय करके आत्मा का विचार करने से या ध्यान करने से परवस्तु के प्रति जो मोह है वह आत्मा से दूर हो जाता है और आत्मा की अखण्ड ज्योति जग जाती है तब यह आत्मा पूर्णतया अपने पुरुषार्थ के द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का नाश कर देता है जिससे सदा इसे संसार के बन्धनोंसे छुटकारा मिल जाता है । तब यह आत्मा सदा के लिए सुखशान्ति का अनुभव करने वाला हो जाता है ।

दयामित्र श्रेष्ठी द्वारा इस प्रकार दिये गये उपदेश को सुनकर वसुभूति अत्यन्त आनन्दित हुआ मिथ्यात्व का वमन करता है ।

द्रव्यलिंग से भावलिंग में आना—

सम्यक्त्वमासम्यक्त्वमेगेयूदुं दोरेकोलूलदुदुं पुण्यदिंदोरेकोंडुदप्पोडनं-तसुअदोलूकुडुगुमेंदु वणिग्वंशललामं पेल वसुभूति (केलूदु) तागि वागिदनंत (मुन्निन) दर्पगुट्ट कदडितिलिद नीरनंत (मनदोलू) निर्मलनागि सम्यग्दर्शनं दोरे कोंडुदक्के [मनदोलानंदवेत्तु] सम्यक्त्व-चूडामणियं नानाविधदिंयोगलूदु दर्शनदोल् दृढनागिर्दन्नेगमिभान्वयपवित्रं मुरुदिनवसं वीडनेत्ति कतिपयपयणं-बोगि नन्द्यावलीयेबं पेरडवियोल् बीडं विडुवुदुं ॥२०६॥

अर्थ—हे वसुभूति मुने ! देखो अनादिकाल से संसार में इस आत्मा को अनेक प्रकार के इन्द्रियविषयभोगजन्य सामग्री अनेक भवों में मिल चुकी है । अनेक बार चक्रवर्ती, अनेक बार देव पद और धरणेन्द्रपद तेरी आत्मा को मिल चुके हैं , पुण्ययोग से अनन्ततार उत्तम कुल भी मिला परन्तु जिस धर्म से इस जीव का जन्म और मरण रूप भवभ्रमण मिटे ऐसे सच्चे धर्म का समागम तथा सच्चे धर्ममार्ग का उपदेश करके मोक्षमार्ग पर लगाने वाले गुरु का समागम तुम्हें नहीं मिला । कदाचित् सद्गुरु का उपदेश मिला भी होगा तो तुम्हारे

हृदय में उसको रुचिपूर्वक ग्रहण करने की इच्छा जाग्रत नहीं हुई होगी। इस कारण सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति इससे पूर्व आपको नहीं हुई।

अब तुमको समझना चाहिए कि इस समय तुम्हारे तीव्र पुण्यकर्म का उदय हुआ है। क्योंकि सम्यक्त्व का उदय पुण्यवान् व्यक्ति को ही हो सकता है। आप इस सम्यक्त्व से ही इस मनुष्य पर्याय में संसार का बन्धन नष्ट कर सकते हैं। तथा च आप अपने मन में विचार करो कि तुम कितने भाग्यवान् हो कि श्री जिनेन्द्र भगवान् के निर्विकार दिगम्बर स्वरूप को धारण करने का सौभाग्य तुम्हें प्राप्त हुआ है। इस दिगम्बर मुद्रा को देवेन्द्र, चक्रवर्ती भी नमस्कार करते हैं और उसे मनुष्यपर्याय की महान् सफलता मानते हैं। इसलिए हे विप्र, आप धन्य हैं। आपकी यह मुनिमुद्रा तीनों लोकों में सदैव वन्दनीय है। इसलिए आप भगवान् जिनेन्द्रदेव द्वारा कहे हुए तत्व को ही संसार का अन्त करने वाला मानकर रुचिपूर्वक इस व्रत को धारण करें।

इस प्रकार सम्यक्त्वचूडामणि, वैश्यललाम दयामित्र श्रेष्ठी के उपदेश से द्रव्यलिंगी रूप में मुनिधारक वसुभूति ब्राह्मण जिस प्रकार बिजली के गिरने से ऊँची दीवाल गिर जाती है उसी प्रकार दयामित्र श्रेष्ठी के वचनों से वसुभूति का अनादि काल का मिथ्यात्व नष्ट हो गया। उसका आत्मा सम्यक्त्व उदय से निर्मल हो गया।

यह देखकर वसुभूति के प्रति अत्यन्त श्रद्धा करते हुए दयामित्र के मन में आनन्द हुआ और वसुभूति मुनि को द्रव्यलिंगी से भाव-लिंगी होता जानकर उसने मन में कहा कि 'हे वसुभूति! आप धन्य हैं जो द्रव्यलिंग से हटकर आपने भावलिंग में प्रवेश किया है।' वसुभूति ब्राह्मण सम्यक्त्व में दृढ़ हो गया, इस बात से आनन्दित दयामित्र श्रेष्ठी ने वह रात्रि वहीं व्यतीत की। दूसरे दिन षटकर्म से निवृत्त होकर उसने वहाँ से प्रस्थान किया। प्रस्थान करके कई कोस दूर जाकर नंद्यवली नामक एक विस्तीर्ण वन के मैदान में अपना डेरा लगाया।

भीलों का उपद्रव और उनके साथ दयामित्र श्रेष्ठी का युद्ध—

नेरदुवनचररूमोमेयं-
भरवशर्दिं तागे सेट्ठि पिरिदप्पबलं।
वेरसिदिरदारमं-
करियोड्डं सिंहदोड्ड तागुव तेरदिं ॥२०७॥

अर्थ—रात में वनचर अर्थात् भील लोग एकत्र होकर आये और उन्होंने दयामित्र श्रेष्ठी के पड़ाव को घेर लिया। उसका माल-असबाब लूटने के लिए प्रयत्न करने लगे। तब दयामित्र श्रेष्ठी ने तथा उनके साथ वाले अन्य व्यापारियों ने मिलकर उन भीलों के साथ युद्ध करना आरम्भ किया। उस समय ऐसा प्रतीत होने लगा मानो राम और रावण का परस्पर युद्ध होने लगा। जिस प्रकार वन में दुर्द्धर्ष हाथी आपस में लड़ते हैं, जिस प्रकार सिंह एक दूसरे को चीर फाड़ने के लिए उद्यत होकर भिड़ जाते हैं, उसी प्रकार उन दोनों पक्षों में समर आरम्भ हो गया,

तागिकिच्चु ं किडियुमागि कादुत्तुमिरि दूरदोलिर्द वसुभूतियं ॥२०७॥

अर्थ—उनके परस्पर युद्ध करने से ऐसा प्रतीत होता था कि मानो वन में अग्नि लग गई है और उसकी चिनगारियों से आकाश दीप्त हो उठा है। आपस में वाण इस प्रकार चल रहे थे मानो, वे आकाश में उड़ते जा रहे हों। भावलिंगी मुनि वसुभूति उस समय उस पड़ाव से दूर अपने ध्यान में लीन थे।

अंबरिगुमायुतप्पिदो-
डेंबी नागणुडिपनल्लि पुसिमाडदेकू।
रंबोंदु बंदु नडे नो
विंविद्दं सावपोत्तनावं बल्लं ॥२०८॥

अर्थ—उस समय ध्यानावस्थित वसुभूति मुनि के हृदय में उन वाणों में से एक वाण जा लगा। हा हन्त! इस क्षणिक शरीर के लिए मनुष्य कितना कुछ पाप-अपराध और मोह करते हैं किन्तु उसी शरीर की, दैवचक्र से घटित होने वाली अचानक महान दुर्घटना का कुछ भी पता नहीं चलता। वसुभूति को मुनि-दीक्षा को लिये अभी अल्प समय ही हुआ था कि मुनि को काल ने आ घेरा।

किसी नीतिकर ने ठीक कहा है कि—

क्षणं वित्तं क्षणं चित्तं क्षणं जीवेन्न मानवः।
यमस्य करुणा नास्ति धर्मस्य त्वरिता गतिः॥

अर्थ—संसार में धन क्षणस्थायी होता है, चित्त भी प्रतिक्षण अपनी चंचलता से

क्षणस्थायी ही है, मनुष्य भी क्षण के पश्चात् जीवे या न जीवे कोई भरोसा नहीं । क्योंकि मृत्यु को दया नहीं होती । वह तो निर्दय संहार करती है । इसलिए धर्म की भावना जब उत्पन्न हो उसी क्षण उसे अवश्य कर लेना चाहिए । 'कल करूंगा या फिर कर लूँगा' इस प्रकार दुविधा में नहीं रहना चाहिए ।

वाण लगते ही वसुभूति विचारने लगा कि भगवान ने मरण का समय जब जाना है वह अन्यथा नहीं हो सकता । इस समय मेरी आयु समाप्त हो रही है, यह वाण उसका निमित्त कारण है । दयामित्र ने मेरा आगे का भव सुधार दिया । श्री जिनेन्द्र भगवान की वाणी मेरे रोम-रोम में समा रही है । तदनन्तर वसुभूति मुनि वेदना से अशक्त होकर गिर गए ।

(अंतु वी लुवुद्रुमत्तमुठ्विदंबेडर गर्वदगुर्व केडसि कावदपं गेलदु वीडं पोकुनोंदिदं वसुभूतियं कंडु धर्मपक्षपातदिंदेरुपिरिदप्पुदरिं) सन्यसनमं कोट्टु पंच नमस्कारमं पेलुत्तिपुदुं (मत्तेनिसदे तनगेजिनने देवमेंडुव) भावनेयिं वसुभूति (दयामूलमप्प धर्ममं नेनेयुत्ते मुडुपि दर्शनकल्लदिं सौधर्मकल्पदोल् मणिप्रभा विमानदोल् मणिकुंडलनेवं देवनागि पुट्टुवुदुं ॥२१०॥

अर्थ–वसुभूति पीडाकुल होकर पड़े हुए हैं और धर्म का स्मरण कर रहे है । वह सोचते हैं कि यह शरीर आत्मा से भिन्न है । उधर दयामित्र श्रेष्ठी उन भीलों को परास्त कर, उनका दर्पदलन कर लौटता है तो मैदान में जाकर वाणविद्ध मुनि को देखता है । यह देखकर उसने मरणासन्न मुनि को पुनः धर्म-प्रबोध करते हुए कहा कि हे वसुभूते, मनुष्य-जन्म और उसमें उत्तम कुल तथा उसमें भी जिनेन्द्रभगवान की शरणागति एवं भगवान जिनेन्द्र-प्रोक्त सत्यमार्ग को हृदय से धारण करने का पुण्य अवसर तुम्हें मिला है, इसका अन्त समय में दृढ़ता से पालन करो । इस समय तुम्हें स्त्री-पुत्र-परिवार कोई भी नहीं बचा सकता, अतः शुद्ध और दृढ़ मन से भगवद् जिनेन्द्र के धर्म की शरण में रह कर उसी धर्म का चिन्तन करो ।

अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम ।
तस्मात् कारुण्यभावेन रक्ष रक्ष जिनेश्वर ॥

अर्थात् हे वसुभूते ! तुम एकाग्र होकर भगवान् की शरण में जाओ । क्योंकि वही एक मात्र शरण हैं । कहो कि हे जिनेश्वर प्रभो ! करुणा करके मेरी रक्षा करो ।

आपको जो मुनिपद मिला है उससे आप धन्य हैं। आपने मनुष्य-पर्याय को धन्य कर दिया। सम्भवतः इस संसार से मुक्त होने के लिये ही तुम्हें मेरे पास आना था। हे वसुभूते ! आपके समान कौन धन्य है ? इस समय आप सभी सांसारिक चिन्तन से दूर रहकर शरीर का मोह त्याग करो। आत्मबल से कर्मशत्रु को पराजित करो। णमोकार मन्त्र का जाप करो।

पंच णमोकार मंत्र के महत्व के विषय में कहा है कि—

आकृष्टिं सुरसम्पदां विदधते मुक्तिश्रियो वश्यतां।
उच्चाटं विपदां चतुर्गतिभुवां विद्वेषमात्मैनसाम् ॥
स्तम्भं दुर्गमनं प्रति प्रयततो मोहस्य सम्मोहनम्।
पायात्पंचनमस्क्रियाक्षरमयी साराधना देवता ॥१३॥

अर्थ—णमोकार मंत्र स्वर्ग की देव सम्पत्ति का आकर्षण करता है और मोक्ष-लक्ष्मी का वशीकरण करता है। चारों गतियों की विपत्तियों का उच्चाटन करता है। इस णमोकार मन्त्र से पापों का क्षय हो जाता है। इस मन्त्र की आराधना से दुर्गतियों का स्तम्भन (रुकावट) होता है। णमोकार मन्त्रके जपनेसे मोह मूर्छित हो जाता है, वह पंच नमस्कार मन्त्र की आराधना रक्षा करे।

इसकी जो आराधना करता है उसको सम्पूर्ण सुख प्राप्त होते हैं। और उसके अनन्तानन्त संसार का नाश हो जाता है। हे वसुभूति मुने ! इस मंत्र को दृढता के साथ अपने मन में जपते रहो।

हे वसुभूते ! यह शरीर अनन्त बार आपको मिल चुका है किन्तु किसी भी भव में तुमको सम्यक्त्व प्राप्त नहीं हुआ। पूर्व भव के पुण्य के उदय से अब तुमको उस दुर्लभ सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई है। अब तुम प्रमाद मत करो। शरीर जब तुम्हारा नहीं है तो इसका मोह मत करो। बाण शरीर में घुसा है तुम्हारे आत्मा में नहीं घुसा। इसलिए आत्मा की इस बाण से कोई क्षति नहीं हुई, न हो सकती है। शरीर जड़ है, आत्मा चेतन निर्विकार अमूर्तिक है। शरीर को आत्मा से भिन्न समझ कर इससे मोह ममता छोड़ो और जिनेन्द्र भगवान के वचन का सहारा लो।

कहा है–

ण य दुम्मणा ण विहला अणाउला होंति चेय सुप्पुरिसा
णिप्पडियम्मसरीरा देंति उरं वाहिरोगाणं ॥

अर्थ–सत्पुरुष रोगादिक होने पर मन में खेद-खिन्न नहीं होते, न विचार-शून्य विह्वल होते हैं। न आकुल होते है किन्तु शरीर में ममकार-रहित हुए व्याधि रोगों के लिए हृदय दे देते हैं। अर्थात् शान्ति से सब को सहते हैं।

सर्वरोग नाशक परम औषधि—

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरेयणं अमिदभूदं ।
जरमरण वाहिवेयण खयकरणं सव्वदुःक्खाणं ॥

अर्थ–इन्द्रियों के विषय सुखों का विरेचन करने वाला, जरा मरण व्याधि की पीड़ा का क्षय करने वाला और सब दुःखों को मिटाने वाला यह अमृत रूप जिन वचन ही औषध है।

ऐसा समझ कर हे वसुभूते ! धैर्य के साथ भगवान जिनेन्द्र देव के वचनरूपी अमृतमय औषध को पीकर जन्म मरण और जरा व्याधि को हमेशा के लिए दूर करो।

जिनेन्द्र भगवान के नाम-स्मरण में कितनी शक्ति है–

प्रापद्दैवं तव नुतिपदैर्जीवकेनोपदिष्टैः,
पापाचारी मरणसमये सारमेयोपि सौख्यम् ।
कः संदेहो यदुपलभते वासवश्रीप्रभुत्वम् .
जल्पञ्जाप्यैर्मणिभिरमलैस्त्वन्नमस्कारचक्रम् ॥१२॥

अर्थ–जब आपकी भक्ति कुत्ता जैसे पापी प्राणी का भी उद्धार करने में समर्थ है, उसे तिर्यंच गति के दुःखों से छुड़ा कर स्वर्ग सुख का अनुभव कराती है तो उस भक्ति से यदि इन्द्र सम्पत्ति की प्राप्ति हो तो इसमें क्या आश्चर्य है ?

भावार्थ–हे वसुभूते ! कुछ ब्राह्मण यज्ञ करने के लिये घी आदि एकत्र करके तयारी कर रहे थे कि उस समय चुपके से एक कुत्ता आगया और हवन के घी को चाटने लगा। ब्राह्मणोंने हवन सामग्री को अपवित्र हुआ जान कर क्रोधमें आकर लकड़ीसे कुत्ते को इतना

मारा पीटा कि वह मरण के समीप पहुँच गया। उस समय संयोग से वहाँ जीवन्धर आ पहुँचे। उनकी दृष्टि उस समय मरणोन्मुख कुत्ते पर पड़ी, तब उन्होंने मरते समय उस कुत्ते के कान में णमोकार मन्त्र सुनाया, उस णमोकार मन्त्र को कुत्ते ने शान्ति से ध्यानपूर्वक सुनते-सुनते प्राण छोड़े, उस समय शुभ परिणामों के कारण उस कुत्ते के देव आयु का बन्ध हुआ जिससे वह मर कर तत्काल देव हो गया। इसलिए हे वसुभूते! आपकी मृत्यु निकट आ गई है। अब आप सब के साथ मोह छोड़ दो, इस समय जो आप के शरीर में वेदना हो रही है, सो वेदना थोड़े समय के लिए है। यदि तुम थोड़ी देर इस वेदना को शान्ति से सहन करके भगवान् पंच परमेष्ठी का स्मरण करोगे तो कुछ भव में जन्म-मरण से मुक्त हो जाओगे। इसलिए स्व-पर भेद-ज्ञान करके शरीर तथा कुटुम्बादिक का मोह छोड़ कर केवल भगवान जिनेन्द्र देव का स्मरण करो।

इस तरह दयामित्र श्रेष्ठी के वचन पर विश्वास करके वसुभूति मुनि जिनेन्द्र भगवान का एकाग्र मन से ध्यान करने लगे दयामित्र सेठ ने वसुभूति मुनि के कान में धीरे-धीरे स्पष्ट स्वर में णमोकार मन्त्र सुनाने लगा—

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं, णमो आइरीयाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं॥

इस प्रकार णमोकार मन्त्र दयामित्र श्रेष्ठी ने सुनाया और वसुभूति मुनि ने एकाग्रता से सुना तथा दयामूल ही धर्म है, ऐसा मन में स्मरण करते हुए समाधि-भावना से मरण किया। उस सम्यग्दर्शन के फल से वसुभूति सौधर्म कल्प के मणि-प्रभ विमान में मणि-कुंडल नाम का देव उत्पन्न हुआ।

इदु निन्निर्य महाप्रभोर्जित विमाणं नूत्नलावण्यदिं-
दोदविदा दिविजांगनासमिति पेंपि निन्न कांताजनं।
मुददिंदी विभूदालि निन्न परिवारं देवक काडु का-
बुदु नीनेंद सुरालि विन्नविसे तद्देवं महाचोर्यदिं॥२११॥

अर्थ—उस स्वर्ग में उत्पन्न होते ही वहाँ के अनुचर तुरन्त आकर कहने लगे कि हे देव! आपके निवासके लिये यह महाकान्तिशाली विमान आपका ही है, इसमें आप रहिये। वस्त्रा-भरण से शोभायमान अत्यन्त सुन्दर यह देवांगना के समुदाय हैं। यह आपकी प्रिय देवांगना

है, ये शेष देव समुदाय आप के किंकर हैं, आपके सेवक हैं। इस विमान के आप स्वामी हैं। इस समस्त सम्पत्ति के स्वामी आप ही हैं। यह सारा वैभव ग्रहण करके आप सुख-पूर्वक उसका भोग, उपभोग करें। इस तरह उस स्वर्ग के देव के वचन सुन कर वसुभूति ब्राह्मण का जीव मणि-कुण्डल देव आश्चर्य-चकित होकर अपने विमान का समस्त वैभव देखने लगा।

मणि-कुण्डल विचारने लगा कि क्या मैं स्वप्न तो नहीं देख रहा। इस तरह हक्का बक्का होकर पूछने लगा कि यह सब क्या है? तब वहाँ के देवों ने कहा कि यह सब वैभव आप के पूर्व-उपार्जित पुण्य कर्म का फल है इसलिए इस सम्पत्ति को आप ग्रहण करके सुखपूर्वक इसका भोग करे। फिर भी वह आश्चर्य से इधर उधर देखने लगा कि—

आनारी लोक याव्रुदी केलिमुत्तिर्द परिजनमारेंदु कुरुंवनरसु गंडंते नोडुत्तुमिर्पन्नेगं भवत्यय-ज्ञानं पुट्टे तज्ज्ञान दिं परगण भवमनारिदु बेरगागि ॥२१२॥

अर्थ—यह देवांगना कौन हैं किसकी हैं और ये उच्च एवं आनन्दित स्वर से मेरी स्तुति करने वाले परिवार जन कौन हैं और कहाँ के हैं? इस प्रकार आश्चर्य से विचार करते ही उसको भवप्रत्यय अवधि ज्ञान हुआ जिससे उसको अपने पूर्व-भव का बोध हुआ कि मैं पहले कौन था और किस निमित्त मैं आया।

वह चकित होकर सोचने लगा—

आनेत्तदेवलोकद-
नून सुखास्पदमिदत्त बगेवोडि देल्लं।
मानित दर्शनदिदं-
तानादुदु भापु दर्शनं केवलमें ॥२१३॥

अर्थ—अरे में कौन था मेरे पूर्व जन्म की स्थिति क्या थी और जो इस समय मेरे सामने सुखदायी स्थान दीख रहा है, वह किस के निमित्त से मुझे मिला है? इस तरह जिज्ञासु विचार करते समय तुरन्त ही भव-प्रत्यय अवधि ज्ञान से वह समझ गया कि मैंने जो शुद्ध सम्यग्दर्शन की आराधना शुद्ध भाव से की थी उसी का यह फल है। आह! दर्शन आराधना क्या साधारण चीज है, ओ हो इसका कितना महत्व है। इस सम्यग्दर्शन के समान जगत में और कोई वस्तु इसकी तुलना करने योग्य नहीं है।

पुसिदेन्नं पोन्निं बं-
चिसि वैश्यनुपायदिंदे दर्शनयं ब-
णिसे नंवि देवनादें-
वसुधेग सम्यक्त्वमुलूल मनुजने देवं ॥२१४॥

अर्थ—ओहो ! देखो दयामित्र श्रेष्ठी ने मुझे प्रचुर दक्षिणा के प्रलोभन से फुसलाकर अर्थात् मिथ्या मोह और आशा उत्पन्न करके दिगम्बर वेष धारण करवाया। उसके निमित्त से वीतराग जिनेन्द्र भगवान का कहा हुआ आत्मतत्व का बोध कराया और शुद्ध सम्यक्त्व की प्राप्ति कराई। उसी के प्रभाव से मैं आज उस दरिद्र अवस्थासे निकल कर इस देवपद को प्राप्त हुआ हूँ। संसार में जिस प्राणी को शुद्ध सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है उसी को देव समझना चाहिए। आज मुझे यहां लाकर देव के ऐश्वर्य में रखने का निमित्त वही देव के समान श्रेष्ठी दयामित्र है।

आवावुपायदिंदं-
जीवक्कोरंत धर्ममं पेलूदु सुख-
क्कावगमेयुदिपरदरिं
श्रावकरिं रुषिपरिं कृतार्थरमोकरे ॥२१५॥

अर्थ—जिस जिस उपाय से श्रावक, मुनि या श्राविकाओं को उनके मन में धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न हो, उसे उस प्रकार धर्ममार्ग पर जो लगाता है वह धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि मानव संसार में धन्य है।

भावार्थ—जो भव्य धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि मानव संसारी अज्ञ जीवों का कल्याण जिस जिस उपाय से हो, उसी उसी प्रकार (धर्म की प्रभावना से या उपदेशों के द्वारा या व्रत से या अध्यात्म के प्रकाश से) मार्ग बताता है, सत् श्रद्धान उत्पन्न कराता है, उसको सन्मार्ग पर लगाता है, वह इस संसार में इस मनुष्य पर्याय को कृतार्थ करता है, ऐसा समझना चाहिए।

एंदु महाविभूतियिं [वसुभूतिचरामरं] बंदु दयामित्र सेट्ठिगे पोडमट्टु निन्न प्रसाददिंदा देवनादेनेंदु तन्न महिमेयं तोरिदेवलोक्कके योगि (प्रोड-

शकल्पंगलनन्दीश्वरद्वीपद्मेरुगिरिपज्योतिर्लोकद् व्यन्तरलोकद् भवनलोकद् मणिकनकमयमप्पकृत्रिम चैत्यालयगलं दर्शनविशुद्धिपिं दिदादिपंचक दोलुपुट्टु-वदेवरुमं कंडु बल्लितं कर्वान्नोलु कट्टटिसिदंते सम्यक्त्वदोलु दृढनागि ॥२१६॥

अर्थ—इस प्रकार देव-पर्याय के महान् ऐश्वर्य को प्राप्त होने वाला (वसुभूति) मणि-कुण्डल देव धर्म के प्रभाव से होने वाले अतिशय से प्रभावित होते हुए मध्य लोक में जहाँ दयामित्र श्रेष्ठी भगवान् के मन्दिर में पूजा-अर्चा कर रहे थे। वहां आकर एकदम दयामित्र श्रेष्ठी के चरणों में गिरकर उनको बार बार नमस्कार करने लगा।

दयामित्र यह देखकर कहता है कि अरे! तू कितना मूर्ख है? तुझे पहले भगवान् अर्हन्त देव को प्रणाम करना चाहिए बाद में और लोगों की वंदना करनी चाहिए। तब उस देव ने कहा कि मेरे लिए तो आप देव हैं। इसीलिए मैंने सबसे पहले आपको नमस्कार किया है।

दयामित्र ने पूछा कि तुम कौन हो? कहाँ से आये हो और तुम्हारा क्या नाम है?

तब उस देव ने कहा कि मैं मनुष्यपर्याय में वसुभूति ब्राह्मण था। आपके धर्मोपदेश से और प्रभाव से मैं स्वर्ग में देव गति को प्राप्त हुआ हूँ। ऐसा कहते हुए और अपनी महिमा को बताकर वहाँ से वह चला गया। फिर वह १६ स्वर्गों के सुमेरु पर्वत के, नन्दीश्वर द्वीप के तथा ज्योतिषी, व्यन्तर और भवनवासी देवों के सुवर्ण रत्नमयी जिनमन्दिरों की विशुद्ध श्रद्धा से वन्दना करने गया। उन जिनालयों में विराजमान जिनेन्द्र भगवान की मनोहर वीतराग प्रतिमाओं के दर्शन से हर्षित हुआ।

एल्लि जिनभवनमोलवं-
तल्लि यं मनदेरक दोलगं मुदर्दिं म-
त्तल्लियें भोगं नेलेयुम-
दल्लिपे रागं सुराधिपंगतिशपर्दि ॥२१७॥

अर्थ—लोक में जहाँ २ मन्दिर हैं, चैत्यालय हैं और जिनभवन हैं, तहाँ तहाँ जाकर उस देव ने मन लगाकर दर्शन किये और धर्म के अतिशय में आनन्द अनुभव करने लगा तथा स्वर्ग में प्राप्त हुए दिव्य इन्द्रिय-भोगों का एवं देवगति के वैभव का यथेच्छ भोग उपभोग

करता हुआ स्वर्ग का अधिपति मणिकुण्डल देव आनन्द से अपना समय व्यतीत करने लगा।

भावार्थ—तात्पर्य यह है कि जहां पुण्य है वहां इस जीव को जंगल में भी मंगल हो जाता है और पत्थर तथा मिट्टी भी रत्न और सोना हो जाती है। भगवान् जिनेन्द्र के वचन जिसके हृदय में जम जाते हैं और जो रुचिपूर्वक जिनेन्द्र भगवान् के प्रतिपादित धर्म का पालन करता है उस जीव को उसी पर्याय में महान् वैभव तथा आत्मसुख मिल जाता है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है कि—

अष्टगुणपुष्टितुष्टा दृष्टिविशिष्टाः प्रकृष्टशोभाजुष्टाः।
अमराप्सरसां परिषदि चिरं रमन्ते जिनेन्द्रभक्ताः सर्वे ॥

अर्थ—जो भव्यजीव जिनेन्द्र भगवान् के भक्त हैं, वे स्वर्ग में इन्द्रपद प्राप्त करते हैं। वे अष्टगुणों से पुष्ट और नित्य तुष्ट होते हैं। उनकी दृष्टि सामान्य लोक से भिन्न विशिष्ट होती है। वे उत्कृष्ट शोभा से युक्त होते हैं। और अप्सराओं की सभा में चिरकाल तक रमण करते रहते हैं।

सम्यग्दृष्टि ही चक्रवर्ती होते हैं—

नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम्।
वर्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ॥३८॥

अर्थ—निर्मल सम्यग्दृष्टि जीव छोटे छोटे मुकुटबद्ध राजाओं से सेवनीय, नवनिधि और चौदह रत्नों के तथा च समस्त छह खण्ड पृथिवी के स्वामी होते हुए आज्ञा या चक्ररत्न को चलाने में समर्थ होते हैं।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव का निदानरहित पुण्य चक्रवर्ती देवपद तथा तीर्थंकर पद को देकर अन्त में मोक्षपद को देनेवाला है। इसलिए भव्यजीव को सदा रत्नत्रय की आराधना करनी चाहिए। व्यवहार सम्यक्त्व निश्चय सम्यक्त्व का साधन है, निश्चय सम्यग्दर्शन साध्य है। प्रत्येक बुद्धिमान नर नारी को सात तत्व, नौ पदार्थ तथा वीतराग देव, जिनवाणी और निर्ग्रन्थ गुरु की अटल श्रद्धा करके व्यवहार सम्यक्त्व प्राप्त करना चाहिए। व्यवहार सम्यक्त्व के पश्चात् दर्शन मोहनीय के अभाव से निश्चयसम्यक्त्व प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन ही जगत् में श्रेष्ठ है। उसके साथ साथ ज्ञान और चारित्र का पालन भी आवश्यक है। ऐसा समझकर जिनको इस संसार समुद्र से शीघ्र पार जाना है,

उन भव्य जीवों को सम्यग्दर्शन अर्थात् सच्चे धर्म के प्रति सच्ची श्रद्धा की आवश्यकता है, ऐसा समझना चाहिए।

ग्वंतु देवलोकद सुखनोदु सागरोपमकालमनुभविसि बंदिल्लिनिनगं निन्नग्रमहिषिगं नंदश्रीगभयकुमारनागि पुट्टि वनधियंते गम्भीरनु दिनकर-नंते तेजस्वियु चन्द्रनंते सौम्यनु मनोजनंते सुभगनु सकलशास्त्रप्रवीणनु जागनुमागि (प्रत्यक्षमिदयं मेलीतनु महामंडलीकर तपंबडुवरंबादेशमं केलदु तपंबट्टु मुडपि सर्वार्थसिद्धियोलु पुट्टुवनेंदु गणधरस्वामिगलूपलूवुदु दर्शनदोलाद प्रत्यक्षफलमं कंडु नंबि ॥२१८॥

अर्थ—इस प्रकार राजा श्रेणिक से श्री गौतम गणधर कहने लगे कि—हे श्रेणिक ! देखो, इस सम्यग्दर्शन का कितना बड़ा भारी महत्व है ? वह वसुभूति ब्राह्मण का जीव मणिकुण्डल देव हुआ। वहाँ पर उसने समस्त स्वर्गीय सुखों का सागरोपमकाल अनुभव किया फिर उस स्वर्ग से चयकर वह देव आपके यहाँ आपकी नन्दश्री नामक पट्टरानी के गर्भ से उत्पन्न हुआ है। वह समुद्र के समान गम्भीर, सूर्य के समान तेजस्वी, चन्द्र के समान सौम्य, कामदेव-सा सुन्दर, सुभग, सम्पूर्ण शास्त्र और कलाओं में पारंगत और प्रवीण पुत्र अभय-कुमार आपके सामने प्रत्यक्ष बैठा है। पहले यह राज्य करेगा। उसके बाद यह सम्पूर्ण राज्य-वैभव का त्याग करके मुनि-दीक्षा लेगा, घोर तप करेगा। अन्त में संन्यास धारण करके शरीर को छोड़कर सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न होगा।

इस प्रकार गौतम गणधर ने राजा श्रेणिक को कथा सुनाई। यह सुनकर राजा श्रेणिक के मन में विचार हुआ कि अहो ! आज मैंने सम्यग्दर्शन की महिमा को प्रत्यक्ष देखा है, ऐसा विचार करने से राजा श्रेणिक के मन में सम्यग्दर्शन की रुचिः पुन पुनः बढ़ने लगी। इसके पश्चात् उसने धर्म के विषय में सुनने की उत्कंठा व्यक्त की।

देखिए, कर्म की गति कैसी है ? दरिद्रता का मारा वसुभूति गंगा-यमुना में स्नानादि के लिए जा रहा था। वह अपनी दरिद्रता को दूर करने के प्रयत्नों में लगा हुआ था किन्तु विना पूर्व पुण्य के इन्द्रियभोगसामग्री भी इस जीव को मिलनी दुर्लभ है। परन्तु समय आने पर उसके मिलने में भी क्षण नहीं लगता है। सुख दुख का कुछ न कुछ निमित्त आकर जीव के आगे उपस्थित हो ही जाता है। उस वसुभूति ब्राह्मण का शुभ समय आते ही

देर नहीं लगी । यद्यपि लोभ के निमित्त से वसुभूति ने द्रव्यलिंगी मुनि का वेष धारण किया था परन्तु अन्त में भगवान् जिनेन्द्र के धर्म का उपदेश उसे दयामित्र श्रेष्ठी से प्राप्त हुआ और वह भावलिंगी बनकर, शुद्ध सम्यग्दृष्टि मुनि बन गया तथा समाधिमरण करके देव हुआ । यह सब पुण्य का ही महत्त्व है ।

जो व्यक्ति व्यवहार रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) को हेय (छोड़ने योग्य) समझकर देव शास्त्र गुरु की श्रद्धा में भी योग नहीं देते, दुर्व्यसन, पाप, अभक्ष्य-भक्षण त्यागकर व्रत, तप, संयम का पालन नहीं करते वे व्यवहार सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से तो शून्य रहते ही हैं किन्तु इसके साथ ही उनको निश्चय सम्यक्त्व तथा ज्ञान, चारित्र भी नहीं प्राप्त होता । ऐसे दोनों प्रकार के मोक्षमार्ग से भ्रष्ट होने वालों को वसुभूति की घटना से शिक्षा लेनी चाहिए ।

पिरिदुं सन्तोषदिंदं तनगेसकलसाम्राज्यमुं कैगेवंदंतिरे
पेर्चिदोंदु मुयूपिल्लदे नलिदन नैगांलकं शीलरत्ना-
भरणं त्रैविद्यचक्रेश्वरविमलपदाम्भोजभृंगजिनश्री-
चरणालंकारशीर्ष सुकविजनमनः-पद्मिनी-राज हंसं ॥२१६॥

अर्थ—जिन्हें अखिल सन्तोषमय साम्राज्य अधिगत करना हो तथा मनः-पूर्वक आकुलता से रहित होकर आनन्द और प्रेम से सुखशान्ति समुद्र में अवगाहन करना हो वे शील रत्ना-भरणयुक्त त्रैविद्यचक्रेश्वर के चरण कमल में भ्रमर के समान लीन रहने वाले मेरे इस काव्य को जो कि श्री जिनेन्द्र भगवान के चरणोंको अपने शिर पर अंकित किए हुए है, मनन करें, सुकविजन पद्मिनीवन के समान हैं और यह काव्य उसमें लीन रहने वाले राजहंस के समान है । इससे अज्ञानरूप अन्धकार दूर होगा, अशुभपरिणामप्रद भाव नष्ट होंगे, एक-दो भव में ही संसार का बन्ध सदा के लिए छूट जाएगा । ऐसे पवित्र कथा मार्गों को सुनकर भव्यजन आत्मकल्याण करें और उत्तरोत्तर ऊँची भूमि पर अपनी आत्मा को उठाने का प्रयत्न करें ।

इदु निखिलदिविजपरिवृढमुकुटतटघटितमणिनिकरविलुलितकिरण-
चुम्बनीयपरमजिनचरणयुगलसरसीरुहमत्तमधुकरनिरुपमसहजकविजन-

पयःपयोधिहिमकरनुतभावयुतदिगम्बरदासनूतनकविताविलासश्रीमन्न-
यसेनदेवविरचितमप्प धर्मामृतदोल् दर्शनव्यावर्णनं नाम प्रथमाश्वासः ।

अर्थ—यह सम्पूर्ण देवों के इन्द्र के मुकुटतट में घटित मणि-समूह से उद्भासित किरणावली से चुम्बनीय श्रीजिनेन्द्र भगवान् के चरण युगलरूप कमलों के मत्त भ्रमर और उपमा रहित (श्रेष्ठ) सहज-स्वाभाविक कवियों के मन रूप क्षीर समुद्र के लिए चन्द्रमा के समान भाव राशि से पूर्ण दिगम्बर, नवीन कविताविलासी श्री नयसेन आचार्य देव द्वारा विरचित धर्मामृत काव्य का सम्यग्दर्शनकी महिमाका दिग्दर्शन कराने वाला प्रथम आश्वास (प्रकरण) समाप्त हुआ।



दूसरा अध्याय

श्रीगिदु मुकुरं मुक्ति-
श्रीगिदु लावण्यमेनिप दर्शनरत्नं ।
बेगं दोरे कोले पिरिदु
रागसिदं सुकविपिकमाकन्दं ॥१॥

अर्थ—मोक्षलक्ष्मी के लिए दर्पण के समान तथा च मुक्ति स्त्री का लावण्य (कान्ति) रूप सम्यग्दर्शनरत्न मुझे शीघ्र प्राप्त हो, इस हेतु मैं भक्ति के साथ, अत्यन्त रस भरित राग से इसका गुणगान करता हूँ, जो कि सुकविरूपी कोयलों के लिए माकन्द (आम के बौर) के समान है ।

अन्तप्प अंतनर्घमप्पदर्शनरत्नमं संशयचौरर् पृथुदन्तुनंबुगे
येंब वलूगायनिक्किमनमेंब वज्रदोषरियोलिसिसि ॥२॥

अर्थ—इस महान अनर्घ (अमूल्य) सम्यक् दर्शन रत्न को संशयरूपी चोर, भीतर घुस कर चुरा न ले जाए, इसलिए इसके चारों ओर विश्वासरूपी अत्यन्त बलशाली परकोट खींचकर, इसे मनरूपी म्यान में रखो ।

विशेषार्थ—शंका, कांक्षा, मिथ्यादृष्टियों की प्रशंसा, मिथ्यादृष्टि संस्तव तथा विचिकित्सा ये दोष सम्यग्दृष्टियों को त्याज्य हैं । 'देव, गुरु और शास्त्रका जो सत्स्वरूप है, वह ऐसा है या नहीं है, या अन्यथा है, ऐसा मनमें जो संशय उठता है उसे 'शंका' कहते हैं । जो शुभकर्म के उदय के अधीन है तथा नश्वर [नाशशील] है, जिसके बीच-बीच में दुःख भी आया

करता है, और जो पाप का कारण है, ऐसे सांसारिक सुख की अभिलाषा करना 'कांक्षा' है। स्वभाव से अपवित्र किन्तु रत्नत्रय से पवित्र ऐसे मुनि आदि धार्मिकों के शरीर को देखकर ग्लानि करना 'विचिकित्सा' है। मिथ्यादृष्टियों के ज्ञान और चारित्र की प्रशंसा [तारीफ] करना 'अन्यदृष्टिप्रशंसा' है। मिथ्यादृष्टियों की वचन से स्तुति करना 'अन्यदृष्टि संस्तव' है; इन दोषों से रहित जो तत्वविषयक श्रद्धा है उसे दर्शनीय अर्थात् गुणसुन्दर और शरीर-सुन्दर ऐसे मुनिनाथ गणधर सम्यग्दर्शन कहते हैं।

सम्यग्दर्शन के भेद—जिनदेव ने उत्पत्ति की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के निसर्गसम्यग्दर्शन और अधिगम सम्यग्दर्शन ऐसे दो प्रकार कहे हैं। तथा औशमिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक-सम्यग्दर्शन और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन इस प्रकार तीन भेद भी सम्यग्दर्शन के हैं।

निसर्गसम्यग्दर्शन—यह आत्मा अपने आत्मा के अपने आत्मा के द्वारा जो पूर्वभव में ग्रहण किये हुए भावसे अपना शुद्ध दर्शन स्वभाव प्राप्त करता है उसे 'निसर्गसम्यग्दर्शन कहते हैं। यानी दर्शनमोह की मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व तथा सम्यक्प्रकृति, ये तीन प्रकृतियाँ और चारित्र मोह की अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, इन सात प्रकृतियों के उपशम आदि होने पर जो परोपदेश के विना आत्मा का आत्मा में आत्मा के द्वारा जो श्रद्धान होता है उसे निसर्गसम्यक्त्व कहते हैं।

इस निसर्गसम्यक्त्व में पूर्व भव का सुना हुआ गुरु का उपदेश कारण पड़ता है। जिस व्यक्ति को सम्यक्त्व उत्पन्न होने वाला हो उसे पूर्वभव का स्मरण, वेदना का अनुभव जिन प्रतिमा का अवलोकन, महामहोत्सव देखना, महर्द्धि-प्राप्त आचार्यों की वन्दना इत्यादि कारणों से मनको खेद के विना जीवादिक पदार्थों में यथार्थ श्रद्धा प्राप्त होती है। यदि अन्तरंग कारण दर्शन-मोहादि सात प्रकृतियों का उपशमादि नहीं हो तो उपर्युक्त बाह्य-कारण मिलने पर भी वह प्राप्त नहीं होता। (य० ति० चं० ६ आश्वास)

अधिगमज सम्यग्दर्शन—गुरु से प्रमाण नय द्वारा जीवादि पदार्थों का कहा गया स्वरूप सुनकर जो जीव उसका मनन-चिन्तन करता है, तब उसके मन में उज्ज्वल आत्म-ज्योति अर्थात् सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। गुरूपदेशपूर्वक होने से उसे अधिगमसम्यक्त्व कहते हैं। अधिगमज सम्यक्त्व में भी अन्तरंग कारण दर्शनमोहादिकों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम होने से बाह्यकारण रूप गुरु का उपदेश होता है।

संशयादिक दोषरहित जीवादिपदार्थ जानना 'प्रमाण' है। वस्तु के नित्यत्वादि धर्मों में से किसी एक धर्म को जानना नय है। नय जिस धर्म को जानता है उसको मुख्यता और

अन्य धर्मों को गौणता प्राप्त होती है। प्रमाण पूर्ण वस्तु को जानता है, अतः उसमें गौणता और मुख्यता का प्रश्न नहीं है।

(वचनभेद-नयवाद और परसमय)—जितने वचनभेद हैं, उतने नयवाद है। जितने नयवाद हैं उतने परसमय हैं। ब्रह्मवाद, भेदवाद, नित्यवाद, अनित्यवाद आदिक परसमय हैं। ये परसमय वस्तुओं को सर्वथा नित्य, अनित्य, एक, अनेक रूप मानते हैं, इसलिए वे मिथ्या हैं। परन्तु जब सर्वथा पक्ष छोड़कर कथंचित् पक्ष से वस्तु को कथंचित् नित्यानित्यादि रूप जानते हैं तब उनमें सत्यता यानी—प्रामाणिकता आती है। उनका मिथ्यापन दूर हो जाता है।

उपशमसम्यग्दर्शन—मिथ्यात्व सम्यग्मिथ्यात्व यानी-मिश्र तथा सम्यक्प्रकृति, इन तीन दर्शनमोहप्रकृतियों का तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों का जब उपशम होता है तब जैसे कतक द्रव्य से मैला पानी निर्मल होता है, वैसा थोड़े समय रहने वाला सम्यग्दर्शन भी निर्मल होता है। उस पहले सम्यग्दर्शन को औपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं।

विशेषार्थ—मिथ्यादर्शन अनन्त संसार का कारण है इसलिए उसे अनन्त कहते हैं। उसके सम्बन्धी जो कषाय हैं उन्हें अनन्तानुबन्धी कहते हैं। मिथ्यात्व प्रकृति सम्यग्दर्शन का पूर्णघात करती है। सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति जीव में एक साथ सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के मिले हुए मिश्र परिणाम उत्पन्न करती है। तथा सम्यग्प्रकृति जीव में सम्यग्दर्शन को तो प्रकट होने देती है परन्तु उसके उदय से सम्यक्त्व में चलमलिनादि दोष होते रहते हैं। इन सातों प्रकृतियों के उपशम से प्रकट हुए सम्यक्त्व में वे दोष नहीं होते हैं। ऐसे सम्यग्दर्शन को उपशमसम्यग्दर्शन कहते हैं। इसमें जीवादि तत्वों का श्रद्धान निर्मल होता है।

क्षायिक सम्यग्दर्शन—सम्यग्दर्शन की घातक सातों प्रकृतियों का पूर्ण क्षय हो जाने से प्रकट हुआ सम्यग्दर्शन सदा निर्मल रहता है। ऐसे सम्यग्दर्शन में शंकादि दोष नहीं रहते हैं। श्री जिनेन्द्रदेव उसे क्षायिक सम्यग्दर्शन कहते हैं।

क्षयोपशम सम्यग्दर्शन— सम्यग्दर्शनकी घातक प्रकृतियों का क्षय अर उपशम होने से क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। अनन्तानुबन्धी चार कषाय, मिथ्यात्व तथा सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों का उदयाभावी क्षय (उदय होते हुए भी फल न देना) होने से तथा आगामी काल में उदय में आने वाली इन प्रकृतियों का उपशम होने से और सम्यक्त्व प्रकृति के देशघातिस्पर्द्धकों का उदय होने से जो तत्वार्थ में श्रद्धान उत्पन्न होता है उसे

क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन या वेदक सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

उपर्युक्त सात प्रकृतियों का क्षय होने से उत्तम क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है । इसका कभी भी नाश नहीं होता, अतः यह साद्यनन्त होता है । औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन क्षायिक-सम्यग्दर्शन के साधनभूत हैं । अर्थात् इनकी उत्पत्ति न हो तो क्षायिक-सम्यग्दर्शन कदापि नहीं होगा । प्रथमतः संसारी जीवों को औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है, तदनन्तर प्रायः क्षायोपशमिक होता है । इसके पश्चात् क्षायिक होता है । अतः क्षायिक की उत्पत्ति में ये दोनों सम्यक्त्व साधन हैं और क्षायिक सम्यक्त्व साध्यरूप है ।

जिसको स्पर्शनादि पाँच इन्द्रियों की प्राप्ति हुई है यानी-जो संज्ञी पंचेन्द्रिय हो । तथा जिसे कालादि लब्धियां प्राप्त हुई हों । ऐसे भव्य जीव को सम्यग्दर्शन प्रकट होता है । पंचेन्द्रियाँ और कालादि लब्धियां प्राप्त न होने पर भी भव्यता रहती है । तथापि वह अकेली सम्यग्दर्शन को प्रकट नहीं कर सकती ।

विशेष स्पष्टीकरण—अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यग्दर्शन की प्रतिबन्धक मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम कालादि लब्धियों के प्राप्त होने पर होता है । कर्मों से घिरी हुई भव्य आत्मा अर्धपुद्गल परिवर्तन काल अवशिष्ट रहने पर प्रथमसम्यक्त्व की प्राप्ति के योग्य होती है । पुद्गलपरिवर्तन के द्रव्यकर्म पुद्गल परिवर्तन तथा नोकर्म द्रव्यपुद्गलपरिवर्तन ऐसे दो भेद हैं उनमेंसे किसी एक को भी अर्द्धपुद्गल परिवर्तनकाल कहते हैं । जिसका संसार में रहने का काल इससे अधिक होगा, उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता । यह प्रथम काल लब्धि है ।

कर्मस्थितिकाल लब्धि—जीव में जब कर्म उत्कृष्ट स्थिति के अथवा जघन्य स्थिति के होते हैं, तब उसको प्रथम सम्यक्त्व नहीं होता अर्थात् जिस जीव में बध्यमान कर्मसमूह विशुद्ध परिणामों से अन्तःकोटाकोटिसागरोपम प्रमाण के संख्यातवें भाग होता है तथा पूर्वबद्ध कर्मों की सत्ता कम होकर अन्तःकोटाकोटि सागर प्रमाण स्थिति में आ जाती है, उसको उपशमसम्यग्दर्शन प्राप्त होने के लिए योग्यता प्राप्त होती है ।

भाव अपेक्षा से काललब्धि, भव्यता, पंचेन्द्रियपना, पर्याप्तता जिसको प्राप्त हुई है, ऐसे विशुद्ध जीव को सम्यग्दर्शन होता है । अन्य को नहीं । सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में जाति-स्मरण, गुरूपदेश, वेदना का अनुभव आदि अन्य अनेक कारण भी होते हैं ।

जिस सम्यग्दर्शन से त्रिलोकवन्द्य तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है । तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होने से गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्ष इन पंचकल्याणों की प्राप्ति होती है, तथा मोक्ष प्राप्ति के लिए जो कारण है उस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना बहुत कठिन है ।

सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का मूल कारण सम्यग्दर्शन है। ज्ञान और चारित्र को सम्यग्दर्शन से ही सम्यक्पना प्राप्त होता है। जब सम्यग्दर्शन होता है उसी समय ज्ञान मिथ्याज्ञान से सम्यग्ज्ञान और चारित्र सम्यक्चारित्र हो जाता है। इसलिये संसार रोग का नाश करने वाला सम्यग्दर्शन है। इसीलिये ज्ञान और चारित्र से भी अधिक महत्त्व सम्यग्दर्शन का है।

मिथ्यात्व के उदय से मिथ्यादृष्टि जीव को कारण-विपर्यास, स्वरूपविपर्यास तथा भेदाभेदादिविपर्यास होते हैं जिससे पदार्थों का यथार्थस्वरूप नहीं जान सकता। इसलिए दर्शनविशुद्धि को मुख्य माना गया है। तात्पर्य यह है कि दर्शनविशुद्धि से स्याद्वावदृष्टि का उदय होता है जिससे भव्यात्माको आत्मानुभवके साथ-साथ वस्तुओंकी कथंचित् नित्यानित्यात्मकता का भान होता है।

सम्यक्त्वरहित जीव चारित्र के बल से नवम ग्रैवेयक तक जाता है किन्तु उसका संसार-भ्रमण दूर नहीं होता जबकि सम्यग्दर्शन के साथ अप्रतिहत चारित्र पालने वाले मुनिराज सर्वार्थसिद्धि में जाकर दूसरे भव में मुक्त भी हो जाते हैं।

सम्यग्दर्शन से रहित ज्ञान और चारित्र निर्मल होने पर भी अज्ञान और अचारित्र बने रहते हैं तथा संसार परिभ्रमण के कारण बने रहते हैं।

सम्यग्दृष्टि में निम्नलिखित गुणों का उदय होता है—

संवेग—रत्नत्रय धर्म, अभ्युदयनिःश्रेयसादिक धर्मफल, जिनेश्वरकथित तथा गणधरादि प्रणीत शास्त्र, परिग्रहरहित रत्नत्रयधारक मुनिवर्ग इनमें जो स्थिर अनुराग उत्पन्न होता है उसे 'संवेग' कहते हैं।

निर्वेग—रत्नत्रय-रहित पुरुष को उन्मत्त मित्र, पुत्र स्त्री आदि को कर्मयोग से प्राप्त होने वाली सामग्री समझना, सांसारिक पदार्थों में अनुरक्त न होना निर्वेग है।

निन्दा—जब आत्मा कषाय से व्याकुल रहता है तब वह अन्य सज्जनों की निन्दा करता है। परन्तु जब कषाय का वेग कम होता है तब वह अन्य जीवों की निन्दा नहीं करता, अपने अवगुणों की निन्दा करता है। सम्यग्दृष्टि के मन में जो ऐसा अनुताप होता है, उसे निन्दा कहते हैं।

गर्हा—रागद्वेषादि से जब कोई दोष हो जाता है तब गुरु के आगे उसकी आलोचना करना यह सम्यग्दृष्टि का 'गर्हा' नामक गुण है, अपने दोषों का स्वयं अनुताप करना 'निन्दा' है। तथा गुरु के आगे अपने दोषों का पश्चाताप-पूर्वक वर्णन करना 'गर्हा' है।

प्रशम—कोई कलुषता का कारण उत्पन्न होने पर भी जिसका मन क्षुब्ध नहीं होता वह भव्य जीव का प्रशमगुण है।

भक्तिगुण—वीतराग देव, जिनवाणी तथा निर्ग्रन्थ मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविकारूप चार प्रकार के संघ का सम्यग्दृष्टि अन्तःकरण से जो अनुराग तथा आराधना करता है, वह उसका 'भक्ति' नामक गुण है। यह गुण मुक्ति के परम्परा कारणभूत पुण्य की प्राप्ति कराने वाला है।

वात्सल्य—साधर्मी जन से गाय-बछड़े के समान प्रेम करना, अन्न औषध आदि के द्वारा चार प्रकार के संघ की सेवा-सुश्रूषा करना वात्सल्य गुण है।

अनुकम्पा—असातावेदनीय और अन्तरायादि अशुभ कर्मों के उदय से दरिद्रता। रोग, चिन्ता आदि दुःखों से पीड़ित हुए दुखी जीवों पर करुणा भाव का प्रकट होना अनुकम्पा है। अन्य जीवों के दुःख को देखकर, मानो वह पीड़ा अपने को ही हो रही है, ऐसा समझ कर उसे दूर करने का मन से या वचन से अथवा शरीर से यत्न करना अनुकम्पा गुण है।

सम्यग्दृष्टि जीव में ये गुण स्वयं प्रकट हो जाते हैं।

जो मिथ्यात्व से दूर रहा है, जो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से आनन्दित हुआ है, जो निरिच्छुक है। ऐसा पुरुष संवेगादि गुणसमूह से युक्त सम्यग्दर्शन आराधना को धारण करता है और वह जगत्पूज्य बन जाता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन की महिमा सुनकर राजा श्रेणिक के मन में सम्यक्त्व के अंगों का फल सुनने की उत्कंठा हुई।

मगधावनीश्वरं कै-
मुगिदुत्सवदिं मुनीन्द्रंवंद्यक्रमरं ।
जगतीमण्डनरं मि-
मिक्कगणितगुणगणरमणर् तिपिं गौतमं ॥३॥

अर्थ—मगधाधीश राजा श्रेणिक ने नम्र होकर कमल-कलिका के समान दोनों हाथों को जोड़ कर उस समवशरण में जितने मुनि और ऋद्धिधारी ऋषि उपस्थित थे उन्हें नमस्कार किया तथा पुनः पुनः श्रीकेवली भगवान के तथा भगवान महावीर के चरणों में नम्र होकर नमस्कार किया। तदनन्तर अगणित गुणधारक श्री गौतम गणधर को भक्ति-पूर्वक नमस्कार किया।

उक्त दोनों श्लोकों में श्री नयसेन मुनि ने दर्शनरत्न की महिमा का वर्णन किया है। यह दर्शन-रत्न जिस भव्य जीव को प्राप्त हो जाता है, उसके लिए अन्य किसी सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं रहती। राजा श्रेणिक का हृदय जिस समय इस महान् दर्शनरत्न से दीप्तिमान हुआ, तब उसकी आत्मज्योति जगमगा उठी।

तदनन्तर श्रेणिक राजा के हृदय में सम्यग्दर्शन के निःशंकित अंग का महत्व और उसका फल प्राप्त करनेवाले धर्मात्माकी कथा सुननेकी उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। इसलिये उसने गौतम गणधर से विनयपूर्वक प्रार्थना की, कि मुझको निःशंकित अंग पालन करके महान फल प्राप्त करने वाले की कथा सुनाइये।

तब गौतम गणधर कहने लगे—

अमळ्वेत्तरंते काडिगेयेच्चुवरंते अंदुगेयिडुवरंते बत्तंरगुट्टुवरंते कुदुरेयनेरुवरंते मदुवेयमनेयंते मीसेयंतिददुवरंते पोरेगट्टुवरंते उळुवरंते बंडिहूडुवरंते तोरणंगट्टु वरंते बागिळमाडुवरंते सुरगिरगट्टुवरंते अमळ्वडिगीस्वरंते कावडिगारनंते पल्लं सुलिवरंते मुन्निन दर्शनमुं निःशंकेयुमेंबेरडुमंलेसु माडुवदु ।४।

अर्थ—दर्शनसहित निःशंकित अंग को धारण करने वाला मनुष्य उसी प्रकार शोभा को पाता है जैसे मंगलवेष से सजा हुआ दूल्हा, जैसे आंखों में कज्जल की रेखा, पांवों में पैंजनी, कूटने से जिसका ऊपर का छिलका उड़ गया है ऐसा धान्य, अश्व पर सवार जैसे सुन्दर युवक, जैसे विवाहोत्सव का मंगलमय घर, शूरवीर की मूंछों की बांकी मरोड़, चावल की मुट्ठी के समान, तेजधार परशु के समान, जुती हुई सुन्दर बैलजोड़ी के समान, तोरण से शोभायमान घर के द्वार के समान, दोनों ओर कन्धे पर झूलती हुई कावड़ के समान, दन्तधावन से निर्मल हुए दांतों के समान, निःशंकित अंग को धारण करने वाला मनुष्य शोभा पाता है।

शंकेयने विट्टु मनयोळ्
कोकंदे मिथ्यात्वमेंबपेर्बुलिविंडं ।
सोंकदे जिनेन्द्रं पदयुग-
पंकजमं पिडिद्नेय्दुगुं निर्वृत्तियं ॥५॥

अर्थ—मन की समस्त शंकाओं को छोड़ कर किंचित्मात्र भी मिथ्यात्व को अवकाश न देते हुए श्री जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों को जो भव्य जीव श्रद्धानपूर्वक धारण करता

है, उसके लिए निर्वृत्तिसुख अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति क्या आसान नहीं है? अर्थात् वह सरलता से मुक्ति को प्राप्त करने में सफल हो जाता है।

इन्नदरमहिमेदेंनेदोडे (ई जम्बूद्वीपभरतक्षेत्रदोळ् काश्मीरेवेंबुदु विषयमा-विषय दोळ् ॥६॥

बळसिदनन्दनवनदिं-
जलरुहखण्डं गळिं तटाकंगळिनु- ।
ज्ज्वळमप्प जैनगेहा-
वळियिं करमल्लियोप्पुगुं विजयपुरं ॥७॥

हे श्रेणिक ! इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में अत्यन्त विशाल रमणीक धार्मिक पुरुषों और स्त्रियों से शोभायमान, काश्मीर नाम का एक देश है। उस देश में नन्दन वन से घिरा हुआ, प्रफुल्लित कमलों वाले अनेक सरोवरों से रमणीय और बहुत से सुन्दर निर्मल जिन मन्दिरों से शोभायमान, जगत् की शोभा को लज्जित करने वाला विजयपुर नगर है।

सुरपतिसमानविभवं
स्मररूपं रिपुकुलान्तकं जिनपदपंके-
रुहमधुपं गुणाम्बुधि-
परहितनरिमथननेंबनदनाळ्वरसं ॥८॥

अर्थ—उस विजयपुर नगर का शासन करने वाला 'अरिमथन' नामक राजा था जिसका वैभव इन्द्र के समान था। जो कामदेव के समान सुन्दर था। अपने शत्रुओं का नाश करने के लिये काल के समान था। जो श्रीजिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों का भौंरा था और बहुत परोपकारी था।

सरसिरुहनयने जिनपद-
सरोजषट्पदे मनोजगजगामिनिसुं-
दरहेम कुम्भकुचे सौं-
दरियेंबळ् पट्टदरसियाभूपतिया ॥९॥

अर्थ—उसकी पट्टरानी अत्यन्त सुन्दर थी, कमल के समान उसके नेत्र थे, भगवान्

जिनेन्द्र के पदकमल में मधुप के समान लीन रहती थी यानी—जिनेन्द्र भगवान् की भक्त थी। कामदेव (रति) के समान मनोहर थी। हाथी के समान गमन करती थी। सुवर्ण के कलशों के समान उसका सुन्दर कुच-युगल था।

अनेगळिृदर्दरिमथनम-
हानरपंगं समस्तगुणनिळये सरो-
जानने सौन्दरिगं भुव-
नानन्दं पुट्टुवं मंगं ललितांगं ॥१०॥

अर्थ—वे राजा और रानी पूर्व-संचित शुभ कर्मके उदयसे सुखपूर्वक राज्य करते थे। गृहस्थाश्रम में पुत्र का होना बहुत सुखकारी है। 'पुत्रलाभो महान् लाभः' यानी—पुत्र का लाभ महान् लाभ माना गया है। जिनको पुत्र की प्राप्ति हो जाती है, उन्हें सब कुछ मिल जाता है। इसके अभाव में उनके मन में एक शल्य बनी रहती है। किन्तु पुण्यवान् स्त्री पुरुषों को पुत्र की कमी नहीं रहती। तदनुसार समय आने पर उस राजा की रानी ने एक अत्यन्त सुन्दर, सम्पूर्ण जगत् को आनन्दित करने वाले, समस्त गुणों से सम्पन्न एक पुत्र को उत्पन्न किया, उसका नाम 'ललितांग' रखा गया।

ललितांगं शुक्लपक्षद्चन्द्रंनंते बेळेंयुत्तु मिर्पुदुं तायूगे तंदेगमातनोळ् मोहं तिरणमागे, ॥११॥

अर्थ—शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान वह ललितांग बढ़ने लगा, माता-पिता उसको बड़ा होते देखकर हर्षित होने लगे। वह अपनी बोलचाल, खेलकूद आदि से माता-पिता को प्रसन्न करता था। उसके लाड़-चाव में वे दोनों रानी और राजा सब कुछ भूल गये। वह जैसे-जैसे बढ़ने लगा माता पिता का मोह भी बढ़ने लगा। ललितांग ने युवा-अवस्था में पदार्पण किया। अपने माता पिता के लाढ़ प्यार के कारण ललितांग ने विद्या का अभ्यास नहीं किया। वह आयुमें बढ़ता गया किन्तु शिक्षामें लेशमात्र भी आगे न बढ़ सका। इसी कारण अनेक दुर्गुण उसमें आ गये। सभी दुर्व्यसनों का अभ्यास उसे होने लगा। किन्तु अतिशय प्यारा होने से माता-पिता उसको कुछ भी नहीं कहते थे। ललितांग जैसा करता वैसा ही उसके माता पिता को भला प्रतीत होता था। इकलौता पुत्र होने से राजा रानी ने सदा उसको प्यार किया, दुर्गुणों में पड़ने से भी उसे न रोका।

नीतिकार ने कहा है—

माता वैरी पिता शत्रुः येन बालो न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥

अर्थात्—जिन माता-पिताओं ने अपने पुत्र को नहीं पढ़ाया वे उसके शत्रु हैं । वह सभा में बैठकर उसी प्रकार शोभा को प्राप्त करने में असफल होता है जिस प्रकार हंसों को सभा में बैठा हुआ बगुला शोभा नहीं पाता ।

केयेत्ति दुर्जनिक्केगे-
पोयूयदे दुर्जनरोळम्मकूडिरवेडं ।
दोयूयने शिक्षिसि मुनिसिं-
बयूयने पोल्लमेगे जरियलारदेपदपिं ॥१२॥

अर्थ—संस्कारहीन होने से उस राजकुमार का चाल-चलन बिगड़ने लगा और वह यद्वा-तद्वा जो चाहे सो करने लगा । परन्तु दुःख की बात यह थी कि उससे उसके माता-पिता को कुछ भी क्षोभ नहीं होता था । वे पुत्र को देखकर सदा आनन्द मानते थे । उसमें बढ़ते हुए दुर्गुणों पर वे तनिक भी ध्यान नहीं देते थे । जिससे वह ललितांग जनताके लिये भयानक दुष्ट बन गया । इसका परिणाम यह हुआ कि वह जब नगर में निकलता तो भय से लड़के छिप जाते थे और जो भी उसके हाथों चढ़ जाता, उसे वह खूब अपमानित करता, मारता, पीटता अथवा अपने साथ में रहने वाले साथियोंसे पिटवाता था । वह सब को बुरी गालियां बकता था, किसी के घर में घुस जाता तो वहां कौतूहलसे आग लगाकर उसे जला देता । ऐसे नीच उपद्रवों से भी उसके माता और पिता ने उसे कभी नहीं रोका, न डांटा फटकारा । वे उसको प्यार ही करते रहे । माता-पिता के लाड़ चाव ने उसे और भी अधिक दुर्विनीत और उद्दंड बना दिया ।

मगनविनोदमं मगनमुद्दगळं मगनाडुवाटमं मगनदुरुक्तियं मगनदूर्तगळं मगनोदुकयूतमं मगन विलासमं मगन वीरमनोजेयनागळुं मुगुळ्ळनगेवेरसळ्करिं नगुते नोडुतमिंनिरुतिर्दरिवर्कं ॥१३॥

अर्थ—माता-पिता उस लड़के की उद्दंडता और अविनय को देखकर भी आनन्द मानते और उसकी दुरुक्ति (गाली गलौज), धूर्तता और उसके अत्याचारों को नहीं देखते थे ।

प्रत्युत ललितांग के दुराचार को सुनकर हँस देते थे। सामने भी उसकी दुर्वृत्तियां देखकर कुछ नहीं कहते थे।

नीतिकार ने कहा है—

वरमेको गुणी पुत्रो, न च मूर्खशतान्यपि।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति, च तारागणोपि च ॥

अर्थात्–एक ही सुगुणी पुत्रका होना तो अच्छा होता है। सैकड़ों भी मूर्खपुत्र किसी काम के नहीं। जैसे आकाश में एक चन्द्रमा उदित होकर अन्धकार का नाश कर देता है किन्तु हजारों तारे भी वैसा प्रकाश नहीं कर पाते। अथवा–

गुणिगणगणनारम्भे न पतति कठिनी ससम्भ्रमा यस्मिन्।
तेनाम्बा यदि सुतिनी, वद वन्ध्या कीदृशी भवति ॥

अर्थ—गुणवान पुरुषों की गिनती करते समय जिसका नाम न लिया जावे, जिसकी ओर संभ्रम के साथ अंगुली का निर्देश न हो, उस पुत्र को जन्म देकर भी यदि माता 'माँ' कहाने का दम्भ करे तो बताओ, बांझ किसको कहेंगे? अर्थात् माता यथार्थ में वही है जिसके पुत्र की गिनती गुणी पुरुषों में हुआ करती है।

पुरजनमं परिजनमं-
करमुक्किपिडिदु तन्न गेणेगळ्तानु।
परि भविभि बडियलरसनु-
मरिसियुमळ्कतु नोडुतिर्पनेगुतु ॥१४॥

अर्थ–एक तो वह राजा का पुत्र, दूसरे मूर्ख, तीसरे उसमें अधिकार-मद और चौथे सातों दुर्व्यसन, इस स्थिति में वह ललितांग पुरजनों [प्रजा] को और परिजनों [अपने सम्बन्धियों] को मारने पीटने, अपमानित करने तथा सताने लगा। उसी के समान उसके अनेक दुष्टमित्र साथी भी उसे मिल गये। अथवा उसी ने अपने-जैसे दुष्टों को अपने लिए चुन लिया। वह लोगों को पत्थर मार कर आनन्दित होता, उन्हें खींचकर खम्भों से बांध देता, स्त्रियों को उठाकर ले जाता। किन्तु इतने पर भी उसके माता-पिता चुप थे। उसे रोकते या डांटते नहीं थे।

कहा है–

यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता ।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥

अर्थात्—यौवन, धन-सम्पत्ति, अधिकारमद और मूर्खता, यह एक एक बात भी बहुत अनर्थकारिणी होती है । यदि किसी एक ही व्यक्ति में वे चारों बातें हों तो फिर जो कुछ भी अनर्थ न हो जावे वह कम है । यानी–वह चारों बातें मिलकर तो महान-अनर्थ कर डालती हैं ।

यही स्थिति उस ललितांग की थी । वह युवक था, धन सम्पत्ति की उसे कुछ कमी नहीं थी, राजपुत्र होने से निरंकुश था और मूर्ख होने के कारण विवेकहीन भी था । इसी लिए वह सब तरह के अनर्थ अत्याचार करता था ।

अन्तु बेवं पोर्दिद नीरेंतु कयूपेयक्कुमातेरदिं दुर्जनसंगदिं दतिचपळ-
नागिसोर्किदं अंकुशमिल्लदमद्दानेयंतेमेयूयरियदे. ॥१५॥

जिस प्रकार नीम से मिलकर पानी कड़वा हो जाता है उसी प्रकार माता-पिता के अनुचित लाड-प्यार से बालक भी बिगड़ जाता है, जिस प्रकार विना अंकुश के मदोन्मत्त हाथी नियन्त्रण-रहित हो जाता है, उसी तरह दुर्जनोंकी संगतिसे यह ललितांग भी मनमाना दुराचरण करने लगा ।

अळद्दट्टु सोर्कु-
वळमुं जव्वनमुमोदवे तीव्रतेयिं सं-
चळमत्ति बिडदात्मनो-
व्वळतवुडिंगदंतु बयूयुं पोयूवं ॥१६॥

अर्थ–ललितांग के शरीर में सिंह के सवान बल था, विवाहयोग्य उसकी अवस्था थी, किन्तु लापरवाह माता-पिता उस ओरसे जैसे आंख मूंद कर बैठे थे । परिणाम स्वरूप वह राजकुमार भले-भले घरों की तरुणी कन्याओं तथा स्त्रियों को उठाकर ले जाता और मनमाना दुर्व्यवहार, कामभोग उनसे करता था । मर्यादाशील सद्गृहस्थों का जीवन ऐसे वातावरण में दूभर हो गया उनका रहना कठिन हो चला । न केवल वह राजकुमार ही उन कुलीन कन्याओं का शील भंग करता था, अपितु वह अपने बदमाश, गुण्डे प्रकृति के

साथियों को भी उसमें सम्मिलित करता था। इस प्रकार अधिकार मद से उसकी निराबाध कामवासना दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। कहा है–

न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥

अर्थात्–कामवासना काम सेवन करने से अधिक बढ़ती है, शान्त नहीं होती। जिस प्रकार घृत की आहुति देने से अग्नि अधिक प्रज्वलित होती है, बुझती नहीं।

इसके विपरीत नीतिकारों ने कहा है कि–

धनिनोपि निरुन्मादा युवानापि न चंचलाः।
प्रभवोप्यप्रमत्तास्ते महामहिमशालिनः॥

अर्थ—ऐसे व्यक्ति जिनके पास प्रचुर सम्पत्ति हो और फिर भी जिनको उन्मादविकार न हो और ऐसे युवक जिनमें बल हो किन्तु जो चंचलता न करें, मर्यादा में रहें, तथा ऐसे अधिकार-सम्पन्न जो सब कुछ करने का सामर्थ्य रखते हुए भी किसी को न सतावें, इस प्रकार तो कोई विरले ही होते हैं, जिनकी लोक में महामहिमा है। किन्तु राजकुमार ललितांग तो इन सभी सद्गुणों से रहित था और सारे संसार के दुर्गुण-दुर्व्यसन उसमें समा गये थे।

कंडवरेदे नडुगल्तां-
मिंडुगळं पिडिदु नायुमं पांदियुमं।
मिंडुरुमं पेंडिरुमं
गुंडेल्लं नेरेदु नोडे कादिसुतिर्पम्॥१७॥

अर्थ–उस ललितांग को देखकर लोग कांप जाते थे। किन्तु वह दुष्ट उनको पकड़वा मंगाता था और उन्हें यन्त्रणा देता था, उनका घर फुंकवा देता था। अनेक कुत्तों को एकत्र करके लड़ाता था, कहीं सूअरों के झुण्ड को लड़ाता था। कभी मार्ग चलते हुए दो मनुष्यों को पकड़ कर उनका सिर आपस में इस प्रकार टकरा देता कि उनके सिर फूट जाते थे। उसके साथ के साथी स्त्रियों को पकड़ कर लाते थे और उनका शील भंग करके छोड़ देते थे। वे उन स्त्रियों की लम्बी चोटियों को पकड़ कर खींचते थे और ताली पीट कर हंसते थे। जहां भी उनको लोग मिलते वे उनके साथ इसी प्रकार का निन्द्य पशु-व्यवहार करते थे और किसी का भय नहीं लाते थे।

पुरदोळ्गण सूळेयरे-
ल्लरूमं पिडिदेळेदुतरिसि यक्षियमुंदा-
दरदिं दिरुळेल्लं जा-
गरमिरिसुवनवनमेर्कनिन्नेवेवे ॥१८॥

अर्थ–इतना नीच आचरण करके भी ललितांग को सन्तोष नहीं होता था। वह अपने साथियों के साथ नगर की वेश्याओं के घरों में घुस जाता था और उन्हें खींचकर बल-पूर्वक ले आता था। फिर उन्हें एकत्र कर यक्षिणी के मन्दिर में खड़ा कर देता था और रात-रात भर जागरण कराता था। उन्हें नाचने पर विवश करता था। इच्छा होने पर उनके साथ सभी प्रकार के दुराचार भी करता था। कहा भी है–

दिवा पश्यति नोलूको नरो रात्रौ न पश्यति।
अपूर्वः कोपि कामान्धो दिवारात्रं न पश्यति॥

यानी–उल्लू को रात में दीखता है, दिन में नहीं दीखता, मनुष्य रात में नहीं देखता, दिन में देखता है, किन्तु कामान्ध मनुष्य की तो कथा ही निराली है, वह न रात में देखता है, न दिन में। रात और दिन उसको समान ही लगते हैं। जब उसको काम वेग होता है तो वह किसी भी समय मर्यादा का पालन नहीं करता और अपनी इच्छा से समय कुसमय दुराचारण करता है। इस प्रकार वह समाज को भी मलिन बनाता है। जिस प्रकार गाय का बछड़ा बचपन से ही बन्धन-रहित होने से युवा होने पर सांड हो जाता है और किसी के वश में नहीं आता, सभी को मारने को दौड़ता है, उसी प्रकार वह ललितांग भी अपने दुर्विनीत दुराचरणों से प्रजा के लिए भयस्वरूप बन गया।

मत्ते मुक्किंदक्कुंदलेवायुदु तानुं मिडुगळुं नेरदु पिडिदु ॥१९॥

अर्थ–इस प्रकार नित्य नूतन उपद्रव करता हुआ वह ललितांग नगर में जहां-जहां जाता था वहां-वहां त्राहि-त्राहि की पुकार उठा देता था। निरपराध प्रजा को वह पिटवा देता था और पापमार्ग में उन्हें प्रवृत्त करता था।

तिरिदुवं तिरिकरं नि-
ष्करुणदिनरियपट्टिपिडिदुसुं कमनिक्कें।

दरवरिसदेकाडुवनु-

वेरेयुरिविनमरो वगेवोड वनवोळिळेयोळ् ॥२०॥

अर्थ—वह इतना निष्ठुर और निर्दय था कि भिखारियों को पकड़ कर उनसे भी कर वसूल कर लेता था उन्हें कर न देने पर सताता था। पीटता था, क्योंकि उसके सामने कोई बोलने वाला तथा विरोध करने वाला नहीं था। उसके सामने विरोध प्रकट करने का किसी को साहस न होता था।

मत्तं मन्त्रवादियं कंडग्रहदन्ते तेल्लिगर् तल्लणिसे तेल्लि-

गगेरियं पोक्कु ॥२१॥

अर्थ—जिस प्रकार मन्त्रवादी को देखकर ग्रहों, भूतों की बाधा शान्त हो जाती है, उसी प्रकार उसे देखकर नर-नारी समूह भाग जाते थे। इस प्रकार उद्दंड वह राजकुमार एक दिन एक तेली के घर गया।

कोड्देण्णेयेल्लमंकू-

गिडे दूर्तिंसूरेगोडुवंदु नितांतं।

सोडरं यक्षियमनेयोळ्-

तडेयदे पोत्तिसुत्तनेयूदे वेळगप्पिनेगं ॥२२॥

अर्थ—तेली के घर में पहुँच कर उसके घर में जो तेल से भरे हुए घड़े रखे हुए थे, उन्हें अपने साथियों सहित छीनकर उठा लाया और यक्षी के मन्दिर में ले गया। रात भर वह बड़े-बड़े दीपक जलाता रहा और मशालें तेलमें भिगोकर उनका प्रकाश करता रहा। इस प्रकार दिन निकलते-निकलते उसने तेली का वह सारा तेल समाप्त कर दिया और खूब आनन्दित हुआ।

मत्तं कागेयंकंडकोगिलियंतेमालेगारबेर्चिदेसेगेट्टु

परिये पूविब संतेयं पोक्कु ॥२३॥

अर्थ—जिस प्रकार कौए को देखकर कोयल भाग जाती है, उसी प्रकार उसे देखकर लोग भाग जाते थे। एक दिन वह फूल वालों के बाजार में जा पहुँचा और—

सुरगिमल्लगे जाजिसंपगे मोल्लेकेदगे संद या-
दरि य पूगळनावगं नेरे सूरेगोंडतिर्पदिं- ।
दिरदे तन्नोडनिर्द धूर्तजनाळियुं सलेतानुमो-
प्पिरे तुरुंबि विनोददिं नगुवर्करुळ्परिवन्नेगं ॥२४॥

अर्थ–जपा, जुही, चम्पा, केतकी, पारिजात और इसी प्रकार अन्य अनेक तरहके पुष्पों को तथा फूलोंकी मालाओंको उठाकर ले गया, बड़ा हल्ला गुल्ला किया, अनेक प्रकारकी गर्जना करके उसने पकड़ कर लायी हुई स्त्रियोंकी चोटियों में वे फूल लगा दिये और शेष मालाओं को धूर्तों के गले में डालकर उसने खूब आनन्द मनाया । तमाशा करने लगा ।

वहां से निकलकर–

मत्तं पुलियं कंडपुल्लेय पिंडिनंते कंचुकागारभयदिं मनेयं बिट्टु
पोगं कंनुगारगेरियं पोक्कु ॥२५॥

अर्थ–जब वह दूसरे मोहल्ले में पहुँचा तो वहां के लोग जैसे हरिण सिंह को देखकर भयभीत होता है, उसी प्रकार भयत्रस्त होकर भागने लगे । वह ललितांग वर्तन वालों के मोहल्ले में पहुँच गया और हाथ जोड़ कर खड़े हुए व्यापारियों को अपमानित करके उनकी प्रार्थना पर कोई ध्यान न देकर उनकी दूकान में घुस गया और उनको मारने पीटने लगा । फिर जितने वर्तन वहां थे उन्हें उठाकर उसने अपने मित्रों में बांट दिया ।

तळगि कन्नडिसिप्पु कंचिनसट्टुगं तेरुवट्टल-
गळदकैमळे ताळ्मोप्पुवगिण्णलेंबिवभावगं ।
कळेदुकोंडोडनिर्दधूर्तजनक्के जीवितमेंदु त-
न्नोळे विचारिसिनिच्चलुं कुडुमं नृपात्मजनर्तियिं ॥२६॥

अर्थ–उन दुकानों पर जो शीशे के वर्तन रखे थे, थाली, चम्मच, कटोरे, छोटी कटोरी रखी हुई थी । कहीं सुवर्णपात्र रक्खे हुए थे । उसने उन सभी पात्रों को एकत्र करके अपने मित्रों को बांट दिया और कहने लगा लो, लो, तुम गरीब हो, तुम जीवित रहो । ऐसे ही ऊल जलूल कहकर वह विनोद करने लगा ।

मत्तं सिंहनमंकंड करिघटयंते कंडर्वेगडु गोडुं निंदनेलेयं बिट्टा
डे निष्करुणदिं बंकोडुं ॥२७॥

अर्थ—फिर वह वहां से निकल कर चला तो उसे देखकर, जैसे सिंह को देखकर हाथियों का समूह भाग जाता है, उसी प्रकार लोग भागने लगे। वह उन्हें बलात् पकड़वा कर मारने पीटने लगा और अत्याचार करने लगा।

नीतिकार ने कहा है—

आकाशं जनमस्तके पतति चेत्, अन्नं विषं चेद् भवेत्।
अन्यायं कुरुते यदा क्षितिपतिः, कस्तं निरोद्धुं क्षमः॥

अर्थ—यदि आकाश ही शिर पर गिरने लगे, यदि अन्न ही विष बन जावे, और जब राजा ही अन्याय करने लगे तो उसे कौन रोक सकता है। ललितांग राजा का लाढ़ला जवान पुत्र था इसलिये उसके अत्याचारों को कौन रोकता।

विशेषार्थ—पापकर्म का उदय आने पर इस जीव की दुर्बुद्धि हो जाती है। और उससे प्रेरित हो यह मनुष्य पशु बन जाता है। तमोगुण-प्रधान व्यक्ति अकार्य को कार्य और कार्य को अकार्य मानकर विपरीत पापमयी प्रवृत्ति करता है। जीव के भावों में मलिनता का कारण उसके पूर्वसंचित कर्मों का विपाक तो है ही किन्तु बाह्यसामग्री कुसंगति, स्वच्छन्दता माता पिता का अनुचित प्रेम, युवा-अवस्था, धन सम्पत्ति आदि भी जीवन को पतित बनाने में प्रेरणा प्रदान करती है। अशुभ लेश्याओं के कारण जीव की मनोवृत्ति मलिन हो जाती है उससे वह कुमार्ग में प्रवृत्त होता है। वास्तव में आत्मा अनन्तशक्ति का पुंज है। यदि वह अपनी दृष्टि सदाचार की ओर लगा दे और हृदय में जिनेन्द्रभक्ति को स्थापित करे तो उसका जीवन कभी भी कष्टपूर्ण नहीं हो सकता। दुर्वासनाओं का दास बनने वाला यह प्राणी दीन और हीन होता हुआ कर्मों की प्रेरणा से उसी प्रकार नाचता है जैसे मदारी के संकेत पर बन्दर विविध प्रकार के प्रदर्शन किया करता है।

ऐसे लोग धार्मिकता को भूल कर जड़वाद के उपासक बनकर पापाचार की ओर उन्मुख होते हैं, उन्हें हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा लोभ लालसा आदि अपना दास बना लेते हैं। इस पाप की वृद्धि के होने के कारण अन्य बहुत से व्यक्ति भी दुखी हो जाते हैं। जब राज्यसत्ता भी धर्म के प्रति उदासीन बन जाती है तब वह हिंसात्मक कार्यों से जनसाधारण को नहीं रोकती है। यदि राज्यसत्ता अधर्मको न रोक कर हिंसा आदि मलिन प्रवृत्तियोंका पोषण करे तो प्रजा का कल्याण नहीं होता। दुराचारी निर्दय मनुष्य स्वयं दुःखी होता है तथा अपने निमित्त से अन्य व्यक्तियों को भी क्लेश और सन्ताप दिया करता है।

विवेकी व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपने मन को वश में करके पवित्र जीवन विताने का उद्योग करे। भाग्य के भरोसे बैठकर अपने जीवन को न सुधारने वाले का तो भविष्य अन्धकारमय होजाता है। इसीलिए शास्त्रकारोंने कहा है कि—'पावं दूरेण परिहर' यानी-पाप को दूरसे ही छोड़ दो। और 'धम्मं आयरह सया' धर्मका सदा आचरण करो। अशुभ काल का प्रभाव है कि लौकिक प्रभाव-सम्पन्न व्यक्ति धनिकों का आश्रय पाकर स्वच्छन्दता का पोषण कर लोगों को भ्रम में फँसाते हैं। इस प्रकार के व्यक्ति और उनके साथियों को सोचना चाहिए कि पुण्य का क्षय होने पर वे तथा उनके साथी या तो पशुयोनि में पहुँचेंगे या नरक पर्याय में अवर्णनीय दुःख भोगेंगे। जहाँ पर न उनका पैसा होगा और न उनके खुशामदी लोग उनकी चाटुकारिता करते हुए उनका अनुगमन करेंगे। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति को अपनी आत्मा के कल्याण के लिये कुपथ का तथा कुपथगामी का आश्रय छोड़-कर वीतराग सद्‌गुरु का शरण ग्रहण करना चाहिए और सर्वज्ञप्रणीत जिनागम के कथना-नुसार अनेकान्त ज्योति के प्रकाश में चलकर अपने जीवन को सुसंस्कृत बनाना चाहिए।

कोई-कोई यह कहते हैं कि कुसंग आदि बाह्य सामग्री का जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हमारी आत्मा शुद्ध है, बुद्ध है, त्याग, संयम और सदाचार में कुछ नहीं धरा है। ऐसे लोगों को ऐतिहासिक पुराणग्रन्थों में उन दुराचारी जीवों के चरित्र को पढ़ना चाहिए जिन्होंने उनके समान स्वच्छन्दता का कुमार्ग अपनाया था। महापुराण में यह कथन आया है कि आदिनाथ भगवान दशभव पहले जब महाबल राजा के रूप में थे तब उनके मंत्रियों में एक स्वयंबुद्ध मंत्री तो धार्मिक था किन्तु शेष तीन मंत्री पाप मार्ग के पोषक थे। उन्होंने महाबल राजा को धर्म से डिगाने का प्रयत्न किया था, उस मिथ्या-उपदेश के कारण उन तीनों मन्त्रियों को कुयोनियों में जन्म लेना पड़ा। उनमें से एक मन्त्री तो निगोद गया और दूसरों ने नरकपर्याय प्राप्त की। ऐसी ही गति उन लोगों की होती है जो सदाचार और स्याद्वाद वाणी के द्वारा प्रकाशित अध्यात्म पद्धति का त्याग कर या तो नास्तिक चार्वाक बनते हैं। अथवा एकान्तरूप से व्यवहारवादी या निश्चयवादी बन कर धर्माचरण नहीं करते। उनकी आत्मा जन्म-मरण के चक्र से नहीं छूट पाती। इसलिए तत्वज्ञाता की यह श्रद्धा रहती है कि वर्तमान पर्याय में यह जीव न सिद्ध है, न शुद्ध है, न बुद्ध है। उनमें उक्त अवस्था प्राप्त करने की शक्ति विद्यमान है। उस शक्ति के सद्‌भाव मात्र से कार्य नहीं होता। पुद्‌गल में अनन्त शक्ति होती है, उसे जिस प्रकार का कारण मिलता है उस प्रकार से उसकी शक्ति अभिव्यक्त (प्रकट) हुआ करती है। इसी तरह आत्मा को जैसा

निमित्त मिलता है उसी तरह का वह अच्छा या बुरा बन जाता है।

कोई-कोई व्यक्ति गृहस्थ होते हुए भी अपने को पुण्य और पाप से विमुक्त मानकर पुण्यात्माओं की निन्दा करते हैं और पापात्माओं के पथ का आश्रय ग्रहण करते हैं। उन्हें विचारना चाहिये कि जैनागमने प्रथम अवस्था में पापके परित्याग का उपदेश दिया है, कहीं भी पुण्य के त्याग की बात गृहस्थ के लिए नहीं बतलाई। आत्मानुशासन में श्री गुणभद्र आचार्य ने कहा है—'पुण्यं कुरुष्व'—अरे जीव ! तू पुण्य का संचय कर। क्योंकि तेरा मन धन-धान्य, स्त्री-पुत्र, सोने चांदी आदि में फंसा हुआ है, तू अपने मन को उसी ओर लगाये रहता है, जिससे न तो तुझे देवदर्शन के लिए समय मिलता है और न भगवान की पूजा के लिए तुझे अवसर प्राप्त होता है। कोल्हू के बैल की तरह निरन्तर जुता रहता है। यदि तू सातिशय पुण्य को प्राप्त कर ले तो उच्च-अभ्युदयों को प्राप्त कर प्रगति करता हुआ एक दिन सर्वसंग-परित्यागी बन कर मोक्षलक्ष्मी का अधिपति बन सकता है।

कळ्ळसिगगेरियोळगण-
कळ्ळमनेळेदुतरिसिपोरगणवनदोळ् ।
कळ्ळगें धूर्तगें-
भिल्लर्गं सूरेगोडुवनिदुवे विनोदं ॥२८॥

अर्थ—वह ललितांग चोरों से मित्रता रखता था, नगर में जितने चोर थे शहर के बाहर के बगीचेमें उन्हें बिठाकर तथा अपने धूर्तोंको, दुराचारी स्त्रियोंको शराब पिलाता था और मांस खिलाता था। इसके सिवाय भीलों आदि को भी नशीले पदार्थ खिला-पिलाकर मदोन्मत्त कर देता था जिससे वे सभी मिलकर अंट संट बकने लगते थे और दूसरे सज्जन-पुरुषों को भी बुरे निन्दनीय वचन कहकर अपमानित करते थे।

मत्तं बगेवन्द गोड्डाटमनाडलेदुं दुर्जनपरिवृतनागि, ॥२६॥

अर्थ—वह ललितांग मदिरा के नशे में अपने गुण्डे साथियों तथा धूर्तों के साथ अनेक प्रकार के निन्द्य खेल तमाशा करता रहता था।

वरभूषणमं तोळ्तिर-
नेरविगे लेसागितोडिसुवं दिव्यस्त्री-

यरनट्टि पिडिदु नीरं
तरिसुवनोरंते दूर्तिनिं ललितांग ॥३०॥

अर्थ—इस प्रकार मदोन्मत्त हुआ ललितांग अपने साथियों के साथ जिस ओर निकल जाता था उस ओर वह अनैतिक व्यभिचार तथा स्त्री-हरण व उनका शीलभंग करता रहता था। कभी-कभी उनको पकड़ कर अच्छे आभूषण पहना कर देवी के मन्दिर में ले जाता था और रात होने पर वहीं उनसे व्यभिचार करता था। इस प्रकार उसकी तीव्र व्यभि-चार-वृत्ति बढ़ती जा रही थी।

एसेव कोळंगळोळं र-
जिसुव महोद्यानरम्यवनळोळं शो-
भिसि पुरद सूळेयवें र-
ससहायं मनके वंदुवोळ् क्रीडिसुवं ॥३१॥

अर्थ—वह ललितांग व्यसन में अत्यन्त लीन होकर शहर की वेश्याओं को, एकान्त वन में, उद्यान में ले जाकर खेलता और व्यभिचार करता था। व्यसन में लगे हुए मनुष्य को अपनी स्त्री, पुत्री और भगिनी का विचार भी नष्ट हो जाता है और सभी को समानरूप से वासनापूर्ति के लिए तत्पर रहता है।

मत्तमातंगे धूर्तविनोदमे विनोदमप्पुदरिं दुर्जनपरिवृतनागि
वंदंगडियं पुगे तोलनं कडं कुरिविडेनंने परदर् पग्दुवोगे ॥३२॥

अर्थ—उस ललितांग को नीच पापमयी मनोरंजन के सिवाय और किसी अच्छे कार्यों में आनन्द नहीं आता था। उसका मन दुराचारी दुष्ट मनुष्यों में ही लगता था। वह लूट-पाट भी निर्बन्ध रूप से करता था। लोग उससे उसी प्रकार भय खाते थे जिस प्रकार भेड़िया से भेड़-बकरियों के झुण्ड भय खाते हैं। ललितांग को आता देख दूकानदार दूकानें छोड़ कर भाग जाते थे।

दूसिगरंगडियं पो-
क्कासुरमागोदरि पिडिदुमिंडु तानु-
लेसप्पवस्त्रनिकरम-
नोसरिसदे सूरेगोंडु चागगेयूर्यं ॥३३॥

अर्थ—कपड़े के व्यापारियों की दूकानों में घुस कर ललितांग के साथ के धूर्त लोग अच्छे-अच्छे कपड़ों की गठरियों को उठा कर ले गये। उन्होंने उन वस्त्रों को अपने मित्रों में तथा वेश्याओं में बांट दिया। तथा चिल्ला-चिल्लाकर वे लोग उनका उपहास (मजाक) करने लगे।

भावार्थ—वह राजकुमार ललितांग निरन्तर इसी प्रकार से सर्वत्र मनमाना उपद्रव करता था, दुराचार करता था और व्यापारियों की दूकानों में घुसकर जो भी द्रव्य मिलता उसे उठा कर अपने साथी नीच लोगों में और वेश्याओं में बांट देता था। यदि उसका कोई विरोध करता तो वह उनको पीट भी देता था।

तानुण्णद पेरगिक्कद-
पेनिय पच्चडिके येनिप लोभिपपोन्नं।
तानोदुं मुळियदंतिरे-
हीनगुणं कवदु कोंडुं चागंगेय्वं ॥३४॥

अर्थ—जिस प्रकार एक लोभी व्यक्ति अपने धन का उपयोग स्वयं भी नहीं करता और दूसरों को भी नहीं करने देता, उसी प्रकार ललितांग भी उन व्यापारियों का द्रव्य लूटकर नाश करता था। उन लूटी हुई वस्तुओं का उपयोग न स्वयं करता था और न व्यापारियों को करने देता था।

सारांश यह है कि पहले उस राजा का कोई पुत्र न था उस समय राजा रानी को पुत्र की बहुत चाह थी जब वह पुत्र उत्पन्न हुआ तो राजा और रानी ने अपने पुत्र के उचित-अनुचित कार्यों की ओर ध्यान न देकर लाड़ से पुत्र की इच्छा को पूर्ण करना ही अच्छा समझा, इसीलिए उसकी शिक्षा पर भी ध्यान नहीं दिया और न उसके आचरण को सुधारने का ही प्रयत्न किया। इसका परिणाम यह हुआ कि राजा का लड़का होने से वह निर्भय तो था ही साथ ही, कुसंगति से दुराचार के मार्ग पर लग गया। नीचे को जाने-वाला मार्ग सदा ऐसा ही होता है। पर्वत से यदि कोई फिसल पड़ता है तो फिर वह बिलकुल नीचे आकर बिना खड्डे में गिरे बीच में नहीं रुकता। ललितांग भी सदाचार से गिरने लगा तो वह उचित-अनुचित सभी कुछ भूल गया और वह पापाचार की मूर्ति बन गया। किन्तु यह सब भूल राजा तथा रानी की थी, उनको चाहिए था कि जिस प्रजा का वे पालन करते हैं, उस पर होते हुए अत्याचारों को वे रोकते। अपने अभद्र लड़के को

ताड़ना करके सन्मार्ग पर लगाते। किन्तु उनके अन्धे लाड़-प्यार ने ललितांग को महा-दुर्व्यसनी, पातकी, अन्याय अत्याचार का घर बना दिया। वह प्रजा के लिए काल बनकर विचरने लगा। अब तो वह पक्का दुराचारी बन गया था, इसलिये उसे दिया गया उपदेश भी निरर्थक था क्योंकि नीति में कहा गया है कि—

यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नान्यथा भवेत्।

अर्थात् नये कोरे घड़े में जैसा सुगन्ध या दुर्गन्ध का संस्कार डाला जाता है वह वैसा ही बना रहता है, जब वह पक जाता है तो उस पर नये संस्कार लगने कठिन हो जाते हैं। नये पौधे को चाहे जिधर झुकाया जा सकता है किन्तु जब उसका तना मोटा और मजबूत हो जाता है तब उसे नही झुकाया जा सकता। ऐसी ही दशा उस ललितांग की थी। वह बचपन से ही स्वच्छन्द हो गया था इसलिए अब किसी प्रकार के बन्धन में रखना उसके माता-पिता के लिए कठिन हो गया था। ऐसी अवस्था मे उसको समझाना उपदेश देना उलटा उसको कुपित करना था क्योंकि विनयपूर्वक शिक्षा ग्रहण करने की उसकी अवस्था अब वीत चुकी थी। कहा भी है—

उपदेशो न दातव्यो यादृशे तादृशे जने।

अर्थात्—जैसे-तैसे अयोग्य मनुष्य को उसकी योग्यता का विचार किये विना उपदेश नहीं देना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से उस पर उलटा प्रभाव पड़ता है, उसका क्रोध भड़क उठता है।

मत्तं मणिगारर पसरमं पोक्कु ओडलिंविल्लदे
कैगळं मुगिदु निंदिर्दवरंलेक्किसदे, ॥३५॥

अर्थ—एक वार ललितांग अपने धूर्त साथियों के साथ अनेक प्रकार की उद्धतता करते हुए विसातियों के बाजार में घुस गया। उसे देखकर बिसांती भयभीत हो गये और अपने माल की रक्षा के लिए चिन्तित हो उठे। वे खड़े हो गये और राजकुमार से विनती करने लगे कि वह जो चाहे उस वस्तु को ले ले किन्तु अनावश्यक सामान की हानि न करे जिससे वह किसीके काम में भी न आ सके। मालको नष्ट न करे। निर्दयी ललितांग तो नाम का ही ललितांग था। वास्तव में तो वह क्रूर हृदय कठोरांग ही था। उसका दयारहित व्यवहार सब के लिये एक समान था, अतः उसने तथा उसके गुण्डे अनुचरों ने उसका संकेत पाकर सभी आवश्यक तथा अनावश्यक सामान उठाकर सड़क पर फेंक दिया, नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

तक्किनं पवळद् संकेय-
टिक्केयमणिगळननेकमं कोंडबनुं ।
डोक्करिसदे करुणिसिदय-
शक्कंजदे सूरेगोळ्वनवनुत्सवदिं ॥३६॥

अर्थ—उसने सन्दूकों को ताले तोड़ कर खोल डाला, अलमारियों को तोड़ कर गिरा दिया। विविध प्रकार की सामग्री फर्श पर फैल गई। वह उनमें से शीशफूल, बुन्दे, झुमके, कर्णाभरण, मणियां, नकली और असली मोती, तथा गले के, नाक के, कण्ठ के और विविध अंगों के विविध आभूषणों को उड़ाकर, लूटकर, अपने मित्रों में बांटकर प्रसन्न होने लगा। उसको अपनी कुल-मर्यादा का, वंश के गौरव का तनिक भी ध्यान नहीं आया। वे गरीब जो अपना उदर-भरण करने के लिए यहाँ दूकान लगाकर बैठे थे, उन पर भी उसे दया नहीं आई। अहो, नीतिकारों ने उचित ही कहा है कि—

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसन्तोषविहितवृत्तीनाम् ।
धानुष्कधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति ॥

अर्थात्—मछलियाँ केवल जल पीकर रहती हैं किन्तु धीवर उनको भी मारने के लिए तत्पर रहते हैं, मृग बेचारे घास खाकर अपना निर्वाह करते हैं और किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाते किन्तु व्याध (शिकारी) उनके पीछे वाण लिये पड़े रहते हैं। सज्जन किसी की कुछ हानि नहीं करते किन्तु दुष्ट लोग उन्हें निष्कारण ही सताते हैं और विविध प्रकार के कष्ट उनको दिया करते हैं।

राजपुत्र ललितांग कामान्ध था, विषयान्ध था और राज-अधिकार मदसे भी अन्धा था अतः प्रजाको अकारण दुख दे रहा था। किसी का भय, किसीकी लज्जा उसके मनमें जरा भी नहीं थी। कहा भी है कि—

कामातुराणां न भयं न लज्जा—

अर्थात् जो कामातुर होते हैं उनको किसी प्रकार की लज्जा नहीं होती। न उनको किसी का भय होता है।

आत्मानुशासन में लिखा है—

अन्धादयं महानन्धो विषयान्धीकृतेक्षणः ।
चक्षुषान्धो न जानाति विषयान्धो न केनचित् ॥३५॥

अर्थात् जो विषयवासना में अन्धा हो रहा है वह अन्धे मनुष्य से भी घोर अन्धा होता है। क्योंकि, जो अन्धा होता है वह तो नेत्रों से कुछ नहीं देख सकता किन्तु विषयान्ध मनुष्य तो किसी भी इन्द्रिय द्वारा अच्छा बुरा नहीं जान सकता। कोई भी उसकी चेष्टा को नहीं जान पाता कि किस समय यह क्या करने लगेगा। बेचारा अन्धा तो विषयों की ओर रुचि भी नहीं रखता किन्तु यह नेत्र वाला विषयान्ध तो सौ आंखों से वासना की पूर्ति के निमित्त इधर-उधर भटकता रहता है। कहा भी है कि—

वामः कामो मनुष्याणाम्—

अर्थात् काम सब से बलवान् है। यह ऐसा दुर्दमनीय शत्रु है कि जिसकी शक्ति का पार नहीं।

मसगिद्नितु मिडु तानु भयंकरमागेब-
द्मग ओळेयं पोक्कोवोवेंदु कूगिडुवन्नेंगं।
कुसियददर्टि वस्त्रव्रातंगळं नेरेकोंडुसं-
किसदे तुडुवं नन्नं सुत्तिर्द धूर्तजनक्कवं ॥३७॥

अर्थ—जिस प्रकार हाथी खम्भों को उखाड़ फेंकता है, वृक्षों को गिरा देता है और धूलि कंकड़ उछालता है उसी प्रकार वह ललितांग प्रतिदिन प्रजा की कोई न कोई विध्वंसलीला किया करता था। वह एक दिन कपड़े के दूकानदारों में जा पहुँचा। व्यापारी उसे देखकर भयाकुल होकर इधर-उधर भागने लगे। उसने दूकानों में रक्खे हुए, अच्छे-अच्छे कपड़े वेश्याओं को देने के लिये तथा अपने धूर्त साथियों को बांटने के लिये ले लिए। तथा कपड़ों की गांठें खोलकर उस सारे सामान को बखेर दिया।

महाभारत में लिखा है—

राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्यां दण्डधारकः।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन दुर्बलं बलवत्तराः॥

अर्थ—यदि संसार में अपराधियों को दण्ड को देने वाला राजा न हो तो जिस प्रकार जलमें निर्बल मछलियों को बलवान् मछलियां खा जाती हैं, उसी प्रकार बलवान लोक अपने से निर्बलों का भक्षण कर जावें।

इसलिए अन्याय अत्याचार, दुराचार, गुण्डागर्दी रोककर प्रजा में शान्ति-व्यवस्था को

रक्षाके लिए राजा आवश्यक है । जो राजपद पर बैठ कर भी प्रजा की रक्षा नहीं करता, वह राजा वास्तव में राजा कहलाने का अधिकारी नहीं है ।

स्मरतापं पेरपिंगे सूळे परोळंगं बोंदि कूडिर्द्द गं-
डरनाटं दलेदट्टि पोय्वुकळेदोर्पदांतोंडं तूळ्दि नि-
ष्ठुरकोपं पिडिदोत्ति सूळे परोळुग्राटोपदिं बल्मेयिं-
नेरेवं भूभुजनन्दनं पिरिदरुळ्ळूळ्ळक्किर्पिनं दर्पदिं ॥३८॥

अर्थ—काम के वशीभूत वह ललितांग एक समय वेश्याओं के मोहल्ले में जा पहुँचा और उनके साथ मनमाना स्वेच्छाचार करने लगा । वहां जो अन्य लोग उपस्थित थे उनको वह गालियां देने लगा, पांवों के नीचे रौंदने लगा । तथा क्रोधित होकर वहां की वेश्याओं के साथ भी निष्ठुर व्यवहार करने लगा । वहां उसको किसी अन्य व्यक्ति का होना पसन्द न था । अतः अन्य व्यक्तियों को वहां से भगा करके अधिपति होकर कामलीला करने लगा । उसके साथ के धूर्त जन भी वहीं जम गये । इस तरह ललितांग मनमाना विनोद करने लगा ।

नीतकार ने कहा है—

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा ॥

अर्थात्—जो ज्ञानवान होते हैं वे अपने समय का सदुपयोग करते हैं और शास्त्राध्ययन किया करते हैं किन्तु जो मूर्ख हैं वे सातों व्यसनों में लीन होकर अथवा नींद लेकर या वृथा कलह करके अपने समय का दुरुपयोग करते हैं ।

मत्तं मसगिर्द सिंगदंते मिडुंगळ् तंडतंडदि सुत्ति मुत्तिवरे बंदूरोळ् कंडु निंदिर्द निंदिर्दल्लिये कुळ्ळिळ्दं कुळ्ळिल्दल्लिये कंपि तरंते विट्टोडदिरे सूळेगेरियं पोक्कु ॥३९॥

अर्थ—जब कभी वह ललितांग तीक्ष्ण सींग वाले बैल के समान हाथों में फरसा आदि अनेक प्रकार के आयुध लेकर अनेक धूर्त लोगों के साथ बहुत शोर करता हुआ उस वेश्या के मोहल्ले में पहुँचता तब वे सभी वेश्यायें और पुरुष उनको दूर से देखकर ही घबड़ा जाते, जो जैसे बैठे होते वे घबड़ा कर किंकर्तव्य-विमूढ़ होकर वैसे के वैसे ही बैठे रह जाते

और जो खड़े होते वे खड़े हो रह जाते। कोई हिलता तक नहीं। ऐसी दशा में वह ललितांग अपने धूर्त बदमाश साथियों के साथ वेश्यायों के घरों में घुस जाता।

मूळे परोल्व बोजंगर-
नाळापदिनट्टि कलेवनब्जाननेयर् ।
कोळोल्लदविटरं कडु-
लीलेयिनवरोडने नेरेसुवं दूर्तिदं ॥४०॥

अर्थ—वेश्यायें अपने-अपने यहाँ अनेक कामी पुरुषों के साथ गायन तथा अनेक प्रकार के हाव भाव विलास आदि क्रियायें करती होतीं, उस समय ललितांग वहां पहुँच जाता तो वह उन सुन्दर वेश्याओं के साथ दुराचार करता और जो वेश्या उसके साथ भोग करने से इनकार करती तो उसके साथी गुण्डे लोग बलपूर्वक (जबरदस्ती) व्यभिचार करवाते। वेश्याओं के मोहल्ले में जितनी सुन्दर वेश्यायें, कन्यायें थीं उनके साथ ललितांग अपने साथियों सहित बलात्कार (जबरदस्ती व्यभिचार) करता था।

ई केरिय वेलेवेणगळ-
ना केरिय यंदिरोडने कूडुव निरदं ।
ताकेरिय वेलेवेणगळ्-
नीकेरियवंदिरोडने कूडुवनदटिं ॥४१॥

अर्थ—लज्जा रहित ललितांग काम-वासना में अत्यासक्त होकर जिस मोहल्ले में सुन्दर स्त्रियाँ होतीं वहाँ जाकर जबरदस्ती उनके साथ अत्याचार करके उन सती शीलवती स्त्रियों का शील भंग करता था।

भावार्थ—ललितांग जहां रूपवान और सुन्दर स्त्रियाँ होतीं वहां जाकर उन स्त्रियों को जबरदस्ती खींचकर ले जाता और उनके साथ मनमाने अत्याचार करके उनके शील को बिगाड़ देता।

करमेरे पट्टि दुष्ट विटसंकुळमं पिडि दोर्वं रिंदमो-
र्वर तलेयं करिसुत्तरी सुतुं छलदिं दिर दोर्वरिंदमो ॥
र्वरननिरिसुत्ते तूकिरिदु बोब्बिरिदाडुवनोर्वरिंद मो
र्वरनेरेयट्टि मोदिसुतुमीतेरनिं नगुतिर्पनावगं ॥४२॥

अर्थ—वह पापी ललितांग धूर्त बदमाश लोगों को भी एक दूसरे से एक दूसरे का शिर टकरा देता तथा अनेक छल कपट द्वारा एक से एक को भिड़ा देता था, उनको परस्पर में लड़ा देता था, आपसमें अनेक प्रकार की मार पीट भी करवाता था। एकके ऊपर दूसरे को धकेल देता। इस प्रकार अनेक तरह की छल बुद्धि द्वारा अपने साथी बदमाश लोगों के साथ विनोद करते हुए खूब हंसता, तालियां बजाता तथा मौका देखकर गालियां भी देता हुआ हास्यास्पद विनोद करता।

भावार्थ—अज्ञानी जीव पौद्‌गलिक शरीर को अपनी आत्मा समझता है, इसलिये उसकी रक्षा के लिए अनादि काल से इस जीव का प्रयत्न चालू है। परन्तु अभी तक न तो यह शरीर सदा के लिए, सुरक्षित, अमर हुआ और न वह आत्मा का साथी बना। यह पुद्‌गल शरीर के नाश को अपना नाश तथा उसकी उत्पत्ति को अपनी उत्पत्ति मानता है। पर-वस्तु के नाश को अपना नाश तथा दुःख मानता है। यह इन्द्रियोंके सुख को अपना सुख और इन्द्रिय सुख के नाश को अपना दुख मान बैठता है। इस तरह यह इन क्षणिक सुख और दुःख के बीच में पड़कर इस संसार में परिभ्रमण करता जा रहा है। जब तक पर-पदार्थ तथा इन्द्रिय-जनित सुख के प्रति यह जीव लालायित रहेगा तब तक इसको सुख और शान्ति का मार्ग मिलना असम्भव है। इस आत्मा ने मनुष्य-पर्याय धारण करने के पहले पूर्व भव में जो पाप और पुण्य उपार्जित किये, उसी के अनुसार यह सुख दुःख का अनुभव करता है।

ललितांग ने पूर्वभव में पुण्य-उपार्जन किया था जिससे वह राजा के घर उत्पन्न हुआ परन्तु उस पुण्य से इस मनुष्य भव में स्वपर (अपने और पराये) का ज्ञान न होने के कारण केवल इन्द्रियों की भोग-सामग्री को ही वह अपने कल्याण की सामग्री मान रहा है और मनुष्य पर्याय, कुल, जाति, बुद्धि, धन, मान और पुरुषार्थ का उपयोग निंद्य पाप-बंध करने में कर रहा है। उसे मालूम नहीं कि यह पुण्य भी कितने दिन रहेगा ? केवल अपनी काल-मर्यादा तक रहेगा। अन्त में समाप्त हो जावेगा। तब पाप का उदय आयेगा। उस समय अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ेंगे।

इसलिए जब तक जड़ और चेतन का स्वरूप नहीं समझा जायगा और समझ कर जड़ का भाव छोड़कर यह जीव सच्चिदानन्द आत्मानन्द स्वभाव को नहीं जानेगा तब तक संसार की वेदना का अन्त नहीं हो सकता। इसलिए भव्यजीवों को जड़ में ममत्व-बुद्धि त्याग करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके बिना शान्ति मिलना असम्भव है। मनुष्य

जड़वाद की ओर अधिक झुके हुए हैं और आत्मा की चर्चा को बिल्कुल भूल गये हैं। जब मार्ग ही उल्टा है, दिशा ही गलत है तब मनुष्य को सुख, शान्ति कहां मिल सकती है। सुख शान्ति का मार्ग आत्मा की ओर है। भौतिकवाद से यह मार्ग विपरीत दिशा में है। जहाँ जो वस्तु है नहीं, वहां खोज करने पर भी वह मिल नहीं सकती। भौतिकवाद में पड़कर मानव ने सुख शान्ति को गंवा दिया है। आत्मा में सुख शान्ति है। उसकी खोज किये बिना सुख शान्ति मृग-मरीचिका (रेगिस्तान में जलका भ्रम) ही बनी रहेगी। हिरन बालू के कणों को चमकते हुए देखकर उसे जल समझता है, किन्तु उससे क्या उसकी प्यास बुझती है ? इसी प्रकार मनुष्य शरीर, इन्द्रिय-भोग आदि पुद्गल पदार्थों के लुभावने रूप को देख कर वहाँ सुखकी कल्पना करता है और उस ओर दौड़ लगा रहा है, किन्तु उसको निराशा ही हाथ लगती है। विषय-वासना की तृप्ति के लिए अनेक नये-नये उपाय खोजे जा रहे हैं। परन्तु उस वास्तविक उपाय की खोज नहीं हो रही, जिससे शान्ति मिले। वह उपाय है—आत्मस्वरूप की प्राप्ति।

संसार विषय कषाय की तुष्टि के लिए ही हिंसा व्यभिचार आदिक दुराचार कर रहा है। अत्याचार अन्याय आदिकी मात्रा दिनों-दिन बढ़ती जा रही है। जितने-जितने अत्याचार बढ़ते जा रहे हैं उतनी-उतनी अशान्ति भी मनुष्य के हृदय में बढ़ रही है।

यहां जिस कथा-नायक का वर्णन कर रहे हैं, उसने बचपन से पापाचार की प्रवृत्ति की इसका कारण यह है कि ललितांग को सद्गुरु का समागम नहीं मिला और उसके माता-पिता ने उसके हृदय में धार्मिक प्रवृत्ति के संस्कार बचपन से नहीं डाले।

उसी ललितांग के दुराचार का और भी वर्णन किया जाता है।

अंतुकि मोर्किंदक्कुंदलेवायुदु दूर्तिं कणगाणदे मूळेगरियं पोक्कु ताँ माळ्पुव्वरक्कं अव्वरं पिरिदागे कडेय मनेय कुंटिणियोर्वळ् सेज्जेमनेयं पोक्कु, ॥४३॥

अर्थ—इस प्रकार वह धूर्त ललितांग अनेक युवती स्त्रियों के साथ रमण करते हुए रात को अपने कुमित्र बदमाशों के साथ उसी वेश्याओं के मोहल्ले में अन्तिम वेश्या के घर पहुँच गया। वे धूर्त जब वहां पहुँचे तब वे हल्ला गुल्ला करते तथा मुख से अत्यन्त निन्दनीय अश्लील वचन कहते घरमें हुए भीतर घुसे। उनका भयङ्कर कोलाहल सुन कर एक वेश्या भय से कांपते हुए सुसज्जित—

तडेपदे मगळें दळियन-
नडुवं तळ्कैसि कोंडु हित्तलदेसेयोळ् ।
बिडिदोडुवाके कानदे-
केड्दळ्तल्लणदिनागळेंजलकुळियोळ् ॥४४॥

अर्थ—कमरे के भीतर दौड़ी । वहां उसकी लड़की और दामाद सोये हुए थे । वह ललितांग से बचाने के लिए अपनी लड़की को किसी छिपे स्थान में ले जाने की इच्छा से अन्धेरे में ही उस कमरे में पहुँची, जहां वह सोई हुई थी । वहीं पर उसका पति अर्थात् वेश्या का दामाद भी सोया हुआ था । अन्धकार में उस कुटनी (वेश्या) ने दामाद को ही लड़की समझा और विना बोले चुपचाप उसे उठाकर अपने शरीर से चिपटाकर पीछे की ओर दरवाजे से फूल-बाग में ले गई । वहां वह खड्डा था जिसमें गन्दा पानी बह-बह कर इकट्ठा हो गया था । वह गड्ढा गहरा था और भरा हुआ था । अन्धेरे में वह दिखाई नहीं दिया, इससे सास और दामाद दोनों उसमें गिर पड़े ।

जिस समय मनुष्य पर विपत्ति आती है, उस समय व्याकुलता में मनुष्य को कुछ नहीं सूझता । इसी प्रकार उस ललितांग के भय से वह कुटनी भी कुछ सोच विचार किये विना ही पुत्री के भरोसे दामाद को लेकर उस मैले खड्डे में गिर पड़ी । ललितांग ने सारे मोहल्ले में हा-हाकार मचा दिया था ।

मत्तोंदेडेयोळोर्ळ पंदेयप्पविटं दूरदिंदब्बरमं केळ्दु सूळेय केलदिंदे-
दोडुवागळ् पळुकिन कंबदोळ् तन्नरूपंकंडुललितांगनेंदु तल्लणिसि ॥४५॥

अर्थ—दूसरी एक वेश्या के घर में एक जार पुरुष उससे भोग कर रहा था, रमण करते समय ही उसे ललितांग का क्रोधपूर्ण शोर पास के घर में सुन पड़ा । उसने भयभीत होकर उस कुटनी को बीच में ही छोड़ दिया और वहां से भागने लगा । उस वेश्या के घर में कांच-जड़ित खम्भे थे । उनमें भागते हुए उस जार को अपनी परछाई दिखाई दी । उसने समझा कि ललितांग ही मुझे पकड़ने आ गया है ।

इन्नित्तलुक्किबंदोडे-
निन्नाणे नरेन्द्र मरेदु बंदोडे कोलम ।

तेन्नदे नीनिनितोंद-
बकन्नेरे सैरिसुबुदेंदु पोडेमडुर्तिदम् ॥४६॥

अर्थ–वह हाथ जोड़कर कहने लगा कि हे राजकुमार ! ललितांग, भूल से मैं यहां आ गया था। मुझे मारिए मत, क्योंकि मैं जान बूझ कर यहां नहीं आया। फिर कभी यहां नहीं आऊंगा। इस वार मुझे क्षमा करो। इस प्रकार बार-बार अपनी ही परछाई से विट विलाप करके कहने लगा और उस परछाई को नमस्कार करने लगा।

मत्तोंदेडे योळोर्व दूरदिं पयनंबन्दु नाडेयुं बळ्लदु तानुं तन्नवल्लभेयुं निद्रेगेय्युत्तमिदुं ललितांगनिं नेरेवनेयोळाद् कळकळकरवक्के नल्ल ळेच्चुत्तु पोरगं नोडलेंदु बंदु पडुवेडेयं कानदेकरदिं तडवरिसुतिरेतानु मेदॄ कळ्ळनेंदु तॄं कडिकेगणिणं दाकयमुं दलेय नर्डिसि पिडिदु ॥४७॥

अर्थ–दूसरे घर में ऐसा हुआ कि एक पुरुष व्यापार के लिए कहीं दूर गया था सो लौटकर थका हुआ सो रहा था। उसके पास ही उसकी स्त्री सोई हुई थी। पास के घर में जब ललितांग का शोर सुनाई दिया, तो उसकी स्त्री उठ बैठी और पति को सोया हुआ देखकर उसे जगाया नहीं, अतः आप अकेली ही उठकर स्थिति को भांपने के लिये बाहर चली गई। उसी समय उसके पति की आंख भी शोर सुनकर खुल गई। वह बाहर की ओर चला तो अन्धेरे में अपनी स्त्री को खड़ा देखकर उसने उसे चोर समझा और उसे पकड़ कर पीटने लगा तथा कहने लगा कि अरे तू जानता नहीं कि मैं शेर हूं। क्या शेर की मांद में चूहा घुसने का साहस कर सकता है ? ऐसा कहते हुए वह अपनी ही भार्या को पीटने लगा। अभी तक उसकी नींद पूरे रूप से खुली नहीं थी। वह कहता है कि—

अनिदोंडे पेरतें गड-
तानदु पुलियिर्दं मेळेयें बगेयदे पोक्के-
नीनिंदु सत्तयेंदा-
दानिनमं पोयुदनडिसिसोवडिप्पिनोगं ॥४८॥

अर्थ–क्या मेरे यहां रहते हुए कोई दुष्ट, दुराचारी प्रवेश कर सकता है ? जिस वन में सिंह रहता है, उस वन में शृगाल प्रवेश करने से पूर्व क्या यह नहीं जानता कि मुझे सिंह भक्षण कर जायगा ? क्या जाल में पड़ा हुआ श्वापद यह नहीं सोचता है कि इससे

निकलना मेरे लिए कठिन हो जायगा ? इस प्रकार अपनी ही स्त्री को पकड़ कर वह कहने लगा कि अब मैं देखता हूँ कि तू किस प्रकार छूट कर यहां से जाता है ? वह आधी नींद में ही अपनी स्त्री को पुनः मारने-पीटने लगा।

मत्तमोदें डेयोळोर्वर तोळ्तु ललितांगं बंद् निन्नावातन तोटि पिगुंबिनं नेरेवनेयोळिदु वर्पमेळिमेंदु तन्नाळ्दिच्छेयरप्प वधिरेयगं मेल्लने पेळ्वुदुम-वर्मुनिदु (इर्तेंदर्) ॥४६॥

अर्थ—उसी घर के पड़ौस वाली स्त्री ने यह देखकर कि ललितांग मेरे घर में आ रहा है, बगीचे में सोये हुए सेवकों के पास जाकर एक को धीरे से कहा। वह बहरा था इसलिए कम सुनता था। उसकी समझ में कुछ भी नहीं आया तो वह चिल्लाकर कहने लगा कि—

पोल्लमेयिल्लदे कळविन-
सिल्लदे रिक्कटमदेके भूपालं न- ।
म्मेल्लरुमं सेरेवोयूद्प-
निल्लगे नावरियवेलेगे नींमट्टमिरा ॥५०॥

अर्थ—राजा हमें क्यों कैद में डालेगा ? क्या हमने किसी की चोरी की है ? हम तो निरपराध हैं। ललितांग हमें मत पकड़ो। हम चोरी नहीं करेंगे। आप से प्रार्थना करते हैं। आपके चरणों में गिरते हैं। इसी प्रकार नींद में पड़े हुए सेवक अंट संट चिल्लाने लगे।

मत्तोदें डेयोमेर्वळ् ललितांगन बरवं कंडुतन्नमक्कळप्पसूळेयगें परितंदु पेलवदुमवर्ताय मार्तिगे किनिसि ॥५१॥

अर्थ—दूसरे एक घर में कुछ लड़कियां सो रही थीं। माता ने आकर उनको जगाया और कहा कि भागो, ललितांग आ रहा है, किन्तु मदोन्मत्त हुई उन बालाओं ने उस पर ध्यान नहीं दिया। इतनेमें धूर्त लोगों के साथ ललितांग उस घर में घुस आया और उनको अपमानित करने लगा।

पळिद्परेंबुदेतयेगे केरियसूळेयरेम्मनावव-
र्गिळियेवे कूडुव......................।

............पल्देरदु पारुलुमि दोंडेमायुदुरुक्तियें ।
दोळगण किवुडियर् पिडिदुकोंडवळं पेरगगे नूंकिदर् (?)।५२।

मत्तमोंदेडेयोळोर्वळ्मुदुगुंटिणिपोरगे निंदुदेसेयं नोदुवाके ललितांगन
बरवं दूरदोळ् कंडोळगे बंदुमगळ्गे पेळदोडवळदं केळदे मुन्निनमुदुबोजंगनं
बरवेळ्दपळेंदुरिदेद्दु ॥५३॥

अर्थ—उसी समय उस मोहल्ले में एक वृद्धा वेश्या ने बाहर आकर इस कोलाहल (शोर) का कारण जानना चाहा तो उसे माभूम हुआ कि ललितांग आ रहा है। तो वह लौटकर भीतर गई और अपनी सोई हुई लड़की को जाकर कहा कि उठ, ललितांग आ रहा है। उस समय वह लड़की (वेश्या) किसी जार के साथ में रतिविलास कर रही थी। लड़की गुस्से से भर कर बोली कि अब तो तेरी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है जो इस समय सुख में बाधा देने आ गई है। इस प्रकार अनेक गालियां देने लगी।

कोरेदुं सुयद्दुं सींतुं-
मोरेदुं निद्रेयने केडिपमुदुओरसं म-
त्तेरडिल्लदोल्लेनेंदोडे-
करदिं कडुधूतें येंदुमोगमं पोय्दळ् ॥५४॥

अर्थ—वह कहने लगी कि अरी बुढ़िया! अभी तक तुझको यमराज ने याद नहीं किया, कैसे भूल गया है? ऐसा कह कर वह दीर्घ श्वास लेने लगी। वह कहने लगी कि पुरानी खटिया के समान तेरी हड्डियां दीख रही हैं। फिर भी तुझे मृत्यु नहीं आती। इस प्रकार उसने उसकी खूब भर्त्सना की।

कामातुर स्त्री हो या पुरुष हो, व्यसनाधीन होने पर उसे कुछ दिखाई नहीं देता। वह किसी का भी अपमान करने से भी नहीं झिझकता। *

★ असंत्यागात् पापकृतामपापान्, तुल्यो दण्डः स्पृशते मिश्रभावात्।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावान्, न मिश्रः स्यात् पापकृद्भिः कथंचित्॥

(महाभारत ४६१६ पृष्ठ)

अर्थ—जो व्यक्ति पाप करने वालों की संगति करता है, वह निष्पाप होने पर भी पापियों के संग-दोष से जनित दण्ड को समान भोग करता है। जिस प्रकार एक गीली लकड़ी है और बहुत-सी सूखी

मत्तमसगवोळेयोळोर्वळगसनपेंडति कुरुडनप्पसगंगे ललितांगं बंद्नेंदु पेळ्दोडायेडेगे बंदनकटेंदु तडवरिसि ॥५५॥

अर्थ—उस समय एक धोबी की स्त्री ने आते हुए ललितांग को देखा और वह घबड़ा कर घर में भागी। उसका पति अन्धा था। उससे वह कहने लगी कि यहां राजकुमार ललितांग आ रहा है।

पट्टिर्दनाथ नडुवं-
मेट्टे कनलूदोडनेमेले पायूदुदुतिनेबा-
यिवट्टु ललितांगनिरिदं
केट्टेनेनुत्तोडुवातनं मत्तोर्वम् ॥५६॥

अर्थ—वह अन्धा भयभीत होकर भागने लगा तो दरवाजे में एक कुत्ता बैठा था। वह उसी के ऊपर जाकर गिरा तो कुत्ते ने उसे काट लिया। वह विचारने लगा कि ललितांग ही इस प्रकार काट रहा है। उस भ्रम में चिल्ला-चिल्लाकर वह कहने लगा कि मुझे बचाओ। इस प्रकार वह घबड़ा कर शोर मचाने लगा।

तां कंडु दिटमेंदे बगेदु भयर्दिदोडुत्तिरे काडोळोंदु मरदकोंकुगोवात्तनतुरुंबं पिडिदु तडेये पेरगं नोडलणमदे ॥५७॥

अर्थ—एक आदमी ने दूर से आते हुए ललितांग को देखा तो वह भागने लगा कि यह मेरी ही ओर आ रहा है। वह किसी बाग में से निकल रहा था उसके शिर पर बड़ी चोटी थी जो गांठ लगाकर बांधी हुई थी। बाल उसके लम्बे थे। इससे भागते हुए वह किसी पेड़ से उलझ गया और यह समझकर कि मुझे ललितांग ने पकड़ लिया है, चीखने चिल्लाने लगा।

लकड़ियों के साथ चूल्हे में डाल दी गई है तो वह उन सूखी लकड़ियों के साथ ही जल जाती है। यद्यपि वह अकेली जल नहीं सकती थी, उनके दोष ने उसे भी अग्नि ने जला डाला। इसलिए नीतिकार कहते हैं कि मनुष्य को पापवान् के साथ संगति भी नहीं करनी चाहिए।

इसी प्रकार वह बूढ़ी कुटनी अपनी ही उस वेश्या से अपमानित हुई। और उसके कुछ समय पश्चात् ललितांग अपने साथियों सहित आ पहुँचा और उसके साथ मनमाना अत्याचार करने लगा। तब वह माता की सीख न मानने से पश्चाताप करने लगी।

बिडुनिन्न धर्मनिन्नां
नुडियें मत्तेटुमक्कळोळवेनगां स-
त्तोडे पेरगी बूदंमन-
प्पोडे पोरेवरिल्लवां देसिगनें ॥५८॥

अर्थ—वह चिल्लाकर कहने लगा कि हे राजकुमार ! मुझे छोड़ दीजिए । मैं गरीब हूँ । मेरे पास कुछ भी नहीं है और मैंने आपको कोई अपशब्द नहीं कहा । मेरे बालों को न खींचो । मेरे साथ इस प्रकार का व्यवहार न करो । मेरे आठ बच्चे हैं । यदि मैं मर जाऊंगा तो उन्हें भोजन कौन देगा ? मेरे अतिरिक्त कोई उनका पालन करने वाला नहीं है । इस प्रकार घबड़ाकर बड़बड़ाने लगा ।

अंतुरियुत्तुमिर्प ललितांगन पोल्लमेयं कंडुबुद्धिवन्तरिंतेर् ॥५९॥

इस प्रकार ललितांग की इन भयानक चेष्टाओं से सभी लोग उसे धिक्कारने लगे किन्तु राजकुमार होने से उससे भय खाते थे । उसके सामने कोई भी विरोध नहीं कर सकता था । किन्तु हृदय में निरन्तर यही मनाते थे कि इसको मार डाला जावे तो प्रजा की व्याधि मिटे । सभी बातों की सीमा होती है । एक दिन मुख्य-मुख्य विद्वान् तथा पुजारी मिलकर विचारने लगे ।

अरसन मगनुर्किंदु
वरेयुरिवोडमाने सोर्कि कोल्वडे किच्च ।
च्चरियर्गि ताने सुडुवोडे
करमवनड्डेसितागि माटर्कोळवरार् ॥६०॥

अर्थ—कि इसके आचरणों से यहां निवास करना कठिन हो गया है इस लिए इसके रोकने का उपाय होना चाहिये । या तो इसको मार दिया जावे अथवा कोई अन्य व्यवस्था करके इसके अत्याचार का मुकाबिला करना चाहिए । वे कहने लगे कि अग्नि में ईन्धन डालने से वह बढ़ती है । इसी प्रकार यह कुमार भी अन्याय के मार्ग पर रोक लगाये विना बढ़ रहा है । किन्तु दूसरे कहने लगे कि यदि कोई बड़ी विपत्ति आ जावे तो कौन सम्भालेगा ? इसके अशुभकर्म का उदय है, अतः वह कितने दिन टिक सकेगा स्वयं काल पाकर शान्त हो जाएगा ।

मसं केलंबर्विवेकिगळिंतेंदर् ॥६१॥

अर्थ—उनमें उपस्थित कुछ विद्वान् लोग इस प्रकार कहने लगे कि—

सुतनेंदु मन्निपं क्षिति-
पति लुप्पदकोडनमेगणिलियातं ग-
र्वितनादनेंदोडवनु-
द्धतियिंदीमहियोळंजदिर्पवनावं ॥६२॥

अर्थ—भाई! यदि कोई अग्नि को प्रज्वलित करे और उसमें ईन्धन डालता जावे तो फिर उसके बढ़ने में क्या सन्देह है? इस राजकुमार को भी आज तक किसी ने रोका-टोका नहीं, इस कारण इसका दुस्साहस बढ़ता गया, आज यह हम सभी के लिए एक चिन्तनीय प्रश्न बन गया है। यदि हम सद्भावना से भी इसके मार्ग को रोकेंगे तो भी राजसत्ता के सामने हमारा कुछ वश नहीं चलेगा। अतः यदि कोई आपत्ति उठ खड़ी हो तो उसका सामना कौन करेगा? इस प्रकार सब आगा पीछा विचार करके और—

एदिंतु) पोळल्लेल्लमुमल्लोलकल्लोलमागे कनसिनोळं ललितांगन भयमे तिणमागे बेडनुगोंडेरडुवेट्टद नडुवे पडिव पेदेरेयंते मूगं बायुमं पिडिदोतिदंते करमुम्मळिसि तेरेदेरमोंदागिराजमंदिरदबागिलगे बंदिपुय्यलि-डुवुदुमापुय्यलनोलगदोलिर्दरिमथनमहाराजं केळ्दनिवरं बरवेळ्दु पुय्यलिदे-नेंदु बेसगोळ्वदुं बिन्नपमेंदु कैमुगिदरिंतेंदर् ॥६३॥

अर्थ—प्रजा के प्रतिनिधि भी राजा अरिमथन के पास अपना दुःख निवेदन करनेके लिए राज-प्रासाद की ओर गये। उनके मन में ललितांग का इतना भय समाया हुआ था कि स्वप्न में भी उन्हें वह ही दिखाई देता था। उसका भय इस प्रकार का था कि जैसे राक्षस शहर में प्रवेश करके प्रजा को भक्षण करने के लिए उद्यत हुआ हो, जैसे दो पहाड़ों के बीचमें से जाते हुए मनुष्यों को डाकुओं ने लूट लिया हो। वे द्वारपाल से कहने लगे कि हमें राजा से मिलकर कुछ निवेदन करना है इसलिए हमें स्वीकृति का परवाना चाहिए। राजकर्मचारियों ने यह बात राजा से जाकर कही। राजा ने तत्काल प्रजा के प्रतिनिधियों को उपस्थित होने की स्वीकृति दी। वे प्रजाप्रतिनिधि आकर हाथ जोड़ कर विनय के साथ एक ओर खड़े हो गये। राजा ने पूछा कि तुम इस प्रकार दुःखसन्तप्त

होकर क्यों आये हो, और क्या कहना चाहते हो ? आप लोगों पर कौन-सा संकट आ गया है जो इस प्रकार उदास होकर आये हो । क्या बात है ? तब लोगों ने हाथ जोड़कर कहा कि–

देव भवत्पुत्रं कर-
मोवदे संकिसदेमिं डुवडेवेरसदटिं ।
दोवोवेंदेळरे जर्न-
दावानलनंते सुडुवनिरुळुं पगलुं ॥६४॥

अर्थ–हे देव ! आपका राजकुमार ललितांग निर्दय अत्याचार करके प्रजा को रात-दिन उत्पीड़ित करता है । वह दुष्ट लोगों की संगति में है और व्यभिचारी बनकर कुलीन स्त्रियों का बलपूर्वक शील भंग करता है तथा अपने दुष्ट साथियों से भी उनका शीलभंग कराता है । वह दावानल के समान प्रजा के घरों को जलाता है और किसी की कुछ भी आन नहीं मानता । इस प्रकार के उसके निरन्तर बढ़ने वाले कुत्सित आचरणों से प्रजा अति सन्तप्त हो उठी है । आप इसका कोई उपाय करें अन्यथा हम कठिनाइयों से त्रस्त होकर देशत्याग करने के लिए विवश हो जावेंगे । इससे बचने का अन्य कोई उपाय नहीं है ।

[देवा मत्तं निम्मकुमारनादपोळलोळगणमहाभयमं पोळवडे ॥६५॥

अर्थ–हे राजन् ! राजकुमार ललितांग की बुराइयों का वर्णन नहीं हो सकता । उसके भयानक अनर्थकारी कृत्यों से सभी भयभीत हैं । एक घटना तो ऐसी है कि आप सुनेंगे तो ललितांग की नीच वृत्तियों का आपको भी ज्ञान हो जायगा ।

पोरमट्टं ललितांगनेंदोडमत्वंळ्कुत्तुमळ्कुत्ते-
पच्चरिगेट्टोडुवरिर्वरोंदेडेयोळं माताडलणमविं ट- ।
नेरे वेर्चिबेलवेंडिरोळ्नुडियलणममीतिर्यि बीरमं-
मरेदुं पाडिसलणमरंक्मनवविं ट्टोडलणमर्भेटर् ॥६६॥

अर्थ–हे राजन् ! जिस समय ललितांग किसी एक घर में से निकल कर दूसरे घर में घुसना चाहता है तब लोग (स्त्री तथा पुरुष) भयाकुल होकर अपने-अपने घरोंको छोड़कर भागने लगते हैं । कोई-कोई भागते हुए ठोकर खाकर गिर पड़ते हैं, किसी को उसके नाम सुनते ही पसीना आ जाता है, उसके भय से मल और मूत्र निकल जाता है । कोई उसके

इन दुष्कृत्यों को मार्ग में खड़े होकर कुछ कह भी नहीं सकता। यदि किसी चौराहे पर दो चार आदमी खड़े हों और बातचीत कर रहे हों तो उनके मनमें निरन्तर यही खटका रहता है कि न जाने, किस मार्ग से ललितांग आ निकले और उनकी बिना कारण ही दुर्गति कर दे। उसे यदि कोई भला नागरिक मिल जाता है तो वह उसकी दुर्गति करना अपना कर्तव्य समझता है। वह जिस प्रकार के स्वभाव का है उसी प्रकार के क्रूर तथा दुष्ट स्वभाव के उसके साथी हैं। वे सभी जिस प्रकार व्याध किसी पशु को मारने के लिए धनुष-बाण चढ़ाये निरन्तर घूमता रहता है, उसी प्रकार ललितांग शीलवती कुलीन स्त्रियों का शील अपहरण करने के लिए उद्यत रहता है। वह किसी का भय नहीं मानता। कुलीन स्त्रियां उसके भय से अपने घरों से बाहर भी नहीं निकलतीं। रात में उसके भय से कोई सुरक्षित नहीं है। इस तरह कोई भी सुख की नींद नहीं सो सकता।

मत्त मातं माडुवनाचारमं पेळ्दोडे तंबुलिगर नंबलिये मट्टे गट्टुवरंते कोडगगट्टंगाट्टि काडुवं, चन्निगरं, मन्निसिमेंदु, बडिदुबायतिबे, पुडियं पोयसुवं सोक्किर्दरमदमिंतल्लदुडुगदेंदुसाये बडिसुवं, विरुद्गरि देनिसुवबाधेयंमाडिसुवं, वीररपडपंपारिसुवं, मिंडरनंडले देळिसुवं बंटरं कोंडाडुवरगंटलोळ्नेण-निक्कि तेगेयिसुवं गंडरं कोंडाडुवर मंडेयनणेसुवं बल्लरंकोल्लदकोलेयिं बाधिपनं तु मल्लदेयु ! ॥६७॥

अर्थ—हे राजन्! ललितांगके दुराचार के विषयमें हम कितना सुनावें? जैसे बहेलिया जाल फैलाकर उड़ती चिड़ियाओं को फंसा लेता है उसी प्रकार वह भी अपने साथियों के साथ रास्ते चलते लोगों को, स्त्रियों को बिना पीड़ा दिये नहीं जाने देता। उसके दुराचार से उत्साहित होकर गुण्डे तथा दुष्ट निर्भय हो गये हैं और सज्जन क्लेश पाने लगे हैं तथा भयाकुल हो गये हैं। किसी को पकड़ कर वह कहता है कि 'मुंह खोलो'। मुख खोलने पर वह उसके मुख में मिर्च ठूंस देता है, अपने राजपद से उन्मत्त होकर वह लोगों को इस प्रकार पीटता है कि प्राण निकल जावें। दूकानें लूटना, शील भंग करना, वस्तुओं को नष्ट करना, अग्नि लगा देना, ये उसके नित्य के कर्म हैं।

मरुळ पडेयंते मिडं-
बेरसतिमुददिंदे केरिकेरिगळोळ्क-

गिडेपेर्चिसोर्कि पुलूगळ-
नुरिपुत्तु बडिसुतिर्प निदुवेविनोदं ॥६८॥

अर्थ–वह ललितांग पागल के समान अपने साथ और दुष्टों को लेकर कुलीन स्त्रियों को छेड़ता है, गलियों में चिल्लाते हुए अभद्र आचरण करता है, गरीबों की झोंपड़ियों को जला डालता है, तथा लोगों को पिटवाने में आनन्द मानता है।

मत्तं कुमारनं भयमं पेळूवोडे पार्वरारु मोडेयरिल्लदन्ते नडुनडुगे परदर्-रियमरदंतल्लाडे, दूसिगदे सिगरंने भयंगोळे (बळेगाररळवुगेट्ट कुदुरेयंतेनिले, कंचुगाररूमिंचुगंडशिशुविमंतंजे) राजकुमाररू भोजनं वडेयदरंते बडवागे, ओक्कलिगर साक्षिमिल्लदे मालंगोट्टरंते (वेक्कसं) बेरगागे, वंटरं, नंटरं, कंडवडवनंतोळसारे, बिरुदरू, करिगिक्किद कळूळनन्तेजरिये, वीररूदारिगेट्टरंते बेद्रे, मिंडरू दंडंदेतोक्कलिगनंतेदेगिडे, नेल्लिगर्बिल्लं कंडकागेयंते, चेल्ल-वरिये, सूळेयरूगाळदयिनंतळवळिये, मणिगाररू गुणं गेट्टर ऋषियंते, चिंतिसे (कुंबाररूसवळमिल्लददंडिनाळंने बेर्चि, असगरूदेसेगेट्टरंते, बार्यवरे) वेडर-बीडं, विट्टोडे बेसदवरबसमल्लदवरंतंजिउलिये, दूर्तरूमातडिनं कंडमंजिनंते परिये, बच्चर्किंचुमुट्टिद तुप्पदन्ते, बलूपुगिडे जंतिगरू संततिगेट्टरंतळरले तंबूलिगरू नंबुगेगेट्टवरंने, पेरसारे चोल्लेयरू गल्लयंबलियंते, नेलनंपत्ते, सर्वांगद्रोहरंकवर्वने, सर्वस्वापरहरणं माडितन्नोडनिर्द ॥६९॥

अर्थ–हे राजन्, कुमार ललितांग के विषय में साफ-साफ कहते हुए भी हमें भय लगता है। जैसे अरक्षित प्रदेश में रहने वाले ब्राह्मण कांपते रहते हैं, सारी प्रजा की वैसी ही दशा है। मानो यहां कोई राजा नहीं है, कोई रक्षक नहीं है। मानो किसी शत्रु ने आकर आक्रमण कर दिया है। ललितांग के द्वारा दी जाने वाली पीड़ाओं का हम वर्णन भी नहीं कर सकते। मानो, हम लोग रातदिन शूली पर टंगे रहते हैं, इस प्रकार निरन्तर भयाक्रान्त होकर हम जीवन विता रहे हैं। जिस प्रकार कोई निज देश छोड़कर प्रवास में जाता है और वहां किसी विपत्ति में फंस जाता है तो उसकी सहायता करने वाला वहां कोई नहीं होता, उसी प्रकार यहां ललितांग के द्वारा सताये गये हम हो रहे हैं। जिस

प्रकार फिरने वाले (फेरी वाले) किसी एक स्थान पर टिककर नहीं रहते उसी प्रकार कुमार ललितांग के भय से हम एक स्थान पर निर्भय होकर नहीं रह पा रहे हैं। जिस प्रकार धातु के बर्तन-भाण्डे बनाने वाला पीतल तांबा आदि धातु को तपा करके उसे हथौड़े से कूटता-पीटता है और उसे सुनकर जिस प्रकार छोटे बालक भयभीत हो जाते हैं उसी प्रकार समस्त स्त्री पुरुष ललितांग से भयभीत हैं। जिस प्रकार बिना साक्षी के दिया गया ऋण वापिस मांगने पर कोई साक्षी (गवाह) नहीं दिया जा सकता, उसी प्रकार ललितांग के भय से उसके द्वारा किये गए अत्याचारों को प्रजा अपना मुख खोलकर कह नहीं सकती। जिस प्रकार किसी निर्धन के घर पर अचानक बहुत से अतिथि आ जावें और वह उनका ठीक आदर सत्कार न कर सकने के कारण मन में कुंठित होता है, संकुचित हो उठता है। जिस प्रकार पुलिस के आने से गरीब आदमी भयभीत हो जाता है, उसी प्रकार उसके आने से जनता भयसंकुल हो जाती है। जिस प्रकार बन्धन में बंधा हुआ चोर भाग नहीं सकता, उसी प्रकार उसे देखकर बिना बंधे भी जनता भागने में अपने को असमर्थ पाती है, वह भय से भाग भी नहीं सकती। जिस प्रकार मार्ग भूला हुआ यात्री भयभीत हो जाता है उसी प्रकार उसे देखकर मार्ग भूले के समान ही जनता हो जाती है। किसान जिस प्रकार सेना को देखकर अपनी पकी हुई खेतीके प्रति आशंकित हो उठता है उसी प्रकार ललितांग को देखकर जनता जान और माल के प्रति शंकित हो जाती है। जिस प्रकार तीर को देखकर कौआ डर जाता है उसी प्रकार ललितांग को देखकर प्रजा डर जाती है। वह किसी का गला घोंट देता है और किसी को मार डालता है। जिस प्रकार कांटे में बिंधी हुई मछली तड़पती रहती है किन्तु उस कांटे से निकल नहीं सकती, उसी प्रकार उसके क्रोध में तथा बन्धन में पड़े हुए प्रजाजन निकल नहीं सकते। जिस प्रकार दिन भर काम करने पर सायंकल मजदूरी न मिलने से श्रमिक व्याकुल होता है, उसी प्रकार ललितांग के उत्पीडनसे प्रजा दुःख अनुभव करती है। जिस प्रकार एक छोटा बछड़ा दिशा ज्ञान रहित होकर इधर-उधर दौड़ता है उसी प्रकार उसके भय से जन समूह इधर-उधर घर छोड़कर भागता है। जिस प्रकार भीलों या डाकुओं के गांव के पास डेरा डाल देने से गाँव वाले निर्भय होकर नींद नहीं ले सकते उसी प्रकार ललितांग के अचानक होने वाले आक्रमणों से त्रस्त प्रजा को रात भर नींद नहीं आती है। जिस प्रकार कुहरे में सूर्य का बिम्ब ठीक दिखाई नहीं देता उसी प्रकार प्रजा को उसके भय से कुछ नहीं सूझता है। जिस प्रकार उबालने पर घी चट-चट करने लगता है उसी

प्रकार प्रजा उससे सन्तप्त होकर रोती है। राजा का विश्वास ही प्रजा को आश्वस्त रखता है। यदि वह विश्वास भी उठ जावे तो प्रजा कहां रहेगी। ललितांग प्रजा को पीड़ा देकर तथा उसका सर्वस्व अपहरण करके आप के पास आकर सुरक्षित रहता है। आप भी ऐसे अपराधी को दण्ड देने के स्थान पर शरण देते हैं।

कसविंगं कळुचिंगं
डसिकिंग दूर्तवडेगमतिचपलर्गं।
पुसिवर्गं सितगर्गं
वसुधेश्वर केळकुडवनुर्कि कुमारं ॥७०॥

अर्थ—आपका कुमार ललितांग धूर्तों, अत्याचारियों, चपल-बदमाश-गुण्डों, चोरों, चुगलखोरों और असत्यभाषियों आदि दुष्ट साथियों के साथ निर्भय भाव से हमारा सभी प्रकार का सामान हम से छीन लेता है और यदि हम लोग उसका विरोध करें या उसे रोकें तो हमारी दुर्गति करने लगता है।

मत्तं मने माडुवरन्ते मुन्दिदेल्लरुमं केवरेनुत्तु, पयणं बोपरसियंते [कंडे-कंडकंडरं तूळदट्टि] पिडियेनुत्तु सालंगोट्टवरंते काडिपोडे येनुनुत्तु बडगि-युं तुळियेनुत्तु सालिगनंनेळेनुत्तु कळळनंत्ते कोइलकेनुत्तु रसवादियंते कोल्ले-नुत्तु पोसतागि बंदेरोक्कलिगनंते मुट्टेनुत्तु कुलियोळविर्द्दनंते तेगेयेनुत्तु नगेगारनंते काडनुत्तु पगेगारनंने पाडेनुत्तु पोलेयरंतेकोययेनुत्तु मादिगनंते मेट्टनुत्तु तिरिकनंतिक्केनुत्तु मासाळगळंते बीडेनुत्तु हरिकाररंते कासेनुत्तु पित्तादिकर्नंते, बीसेनुत्तु [बिक्किगनंतेतितियेनुत्तु] तोरेयंतहोरात्रं परियुत्तु ईमार्गदिंबाधेयं माडे पळिळयं मन्नेयराळसुतिदंते कुरिमिंडं तोळं पोक्कंते गर्भिणियनेभ्य अगलूदंते तावरेगोळनं मंजुपोक्कंते [बडवरमनेयनरसाळ पोक्कंते] गूगेयं कागेसुतिदंते। पूमरनं कोडगवेरिदंते कःब्बितोटमं नरियोक्कंते बेळेंदकेयं किच्चुतगुळदंते, पुणिरोयं गाळिपोक्कंते [कंचुगारनपसरमनेत्तुपोक्कंते मदुवेयनेरवियं कडंदुरु कविदंते पंदेयुं पेणं तगुळ्दंते गोष्टियं पावुपोक्कंते बीडके-

कळ्ळकविदंते पसुमक्कवळं गूळितगळदंते, पत्तीयं किच्चुतगळ्दंते गोवुविंडं पुलियपक्कंते जोळदराशियंपोनल्कविदंते [वेल्लद पेरनिलियोक्कंते] कलसुगूळं कागेसुत्तिदंते, वेळ्ळिलियबिलदोळ् निपोक्कंते पोळ्लोळगणप्रजेयेल्लमुं महा-भयज्वरंगोडुं कुमारनाडुवाटकं माडुवभाटक्कं निललुं नित्तरिसलुमारवेमगे ७१

अर्थ—हे राजन्, आपके कुमार की अनीति का हम कितना वर्णन करें। वह घरवालों को बेघर करने के लिए घर से निकाल देता है। उनकी गर्दन पकड़ कर बाहर धकेल देता है। रास्ते में आते-जाते जो लोग मिल जावें उनको उद्दंडता से मारता पीटता है, उसके साथी नीचे गिरे हुओं को पांवों से ठकुराते हैं, कुचल देते हैं। फिर पीड़ित मनुष्य भागने लगता है तो उसको पकड़वा कर फिर मारते हैं कि जैसे इनका वह ऋणी (कर्जदार) हो और उसकी वसूलीके लिए बल प्रयोग करना आवश्यक हो गया हो। ऐसा अभद्र बर्ताव ललितांग रात-दिन प्रजा के साथ करता है। यदि कोई विरोध करता है तो वह अपने उन उक्त साथियों को संकेत कर देता है कि इसको लूट लो और मारो। वह लोगों के हाथों को रस्सों से बंधवा कर खींचता है और इस प्रकार के अत्याचार देखकर वह बच्चों के समान प्रसन्न होता है। जहां उसके आचरण से पत्थर-हृदय को भी आंसू आ जावे, वहां वह हंसता है और उन नृशंस कार्यों से प्रसन्नता प्रकट करता है। वह भद्र प्रजाजनों को भांड़ों तथा गायकों के ससान गाने के लिए विवश करता है। न गाने पर पीट देता है। चाण्डालों के समान उनके साथ दुर्व्यवहार करता है। नीच जनों को तरह उनकी दुर्गति करता है। जैसे डाकू आते हैं, इस प्रकार वह अपने साथ वालों को लेकर आता है और उनको खड़ा करके सामान लूट कर अपने आदमियों में बांट देता है। जिस प्रकार पित्त-ज्वर का रोगी यद्वा-तद्वा बकता है, जिस प्रकार गन्दा नाला निरन्तर बहता रहता है उसी प्रकार वह ललितांग कुमार निरन्तर घूमता रहता है और जो जी में आता है बकता है। वह प्रत्येक प्रजाजन को बाधा पहुँचाता है। गरीबों की झोंपड़ी गिरा देता है। जिस प्रकार भेड़ों के बीच में भेड़िया आकर उन्हें अस्त व्यस्त तथा क्षतविक्षत कर देता है उसी प्रकार ललितांग भी प्रजा के साथ दुराचरण करता है। जिस प्रकार किसी गर्भवती को भैंस मार दे और वह पड़ी-पड़ी कराहने लगे, उसी प्रकार ललितांग के प्रहारों से लोग वेदना का अनुभव करते हैं। जिस प्रकार उल्लू को कौवे घेर लेते हैं उसी प्रकार वह प्रजा को घेरता रहता है और पीड़ा पहुँचाता है। जिस प्रकार चम्पाके पौधे पर बन्दर बैठ जावे और उसका सही उपयोग न करके उसे नोंच देता है उसी प्रकार वह भी प्रजा को विना कारण ही

तंग करता है। वह खड़ी फसल को जलवा देता है। लोग उसके आचरणों से मूर्छित हो जाते हैं। वर्तनों की दूकानों में घुस करके वह सारी दूकान के बर्तनों को फिकवा देता है। इसमें जो व्यापारियों, दूकानदारों को हानि होती है उसकी ओर उसका तनिक भी ध्यान नहीं। जहां सुन्दरी स्त्रियां बैठी हों वहां वह अवश्य पहुँच जाता है और उनका शीलहरण तथा उनके साथ दुर्व्यवहार की पराकाष्ठा कर देता है। उसको देखकर जनता इस प्रकार भयभीत हो जाती है जिस प्रकार कोई कमजोर व्यक्ति भयानक मुर्दे को देखकर डर जाता है। जैसे छोटे बच्चे सांड को देखकर डर जाते हैं उसी प्रकार लोग उससे डरते हैं। वह गायों में शेर के समान गरीब प्रजा में घुसकर उसका विध्वंस करने लगता है। जैसे चूहा अनाज में घुस कर उसकी हानि करता रहता है, उसी प्रकार वह श्रीमानों के घरों में पहुँच कर नुकसान पहुँचाता है। जिस प्रकार पानी भरने से बिल में बैठे हुए चूहों का निकलना कठिन होजाता है उसी प्रकार वह जहां प्रवेश करता है वहीं लोग कठिनाईमें फंस जाते हैं।

इस प्रकार हे राजन्! ललितांग कुमार से सभी लोग भयभीत हो रहे हैं। उसके असह्य असीम निन्द्य आचरणों को सहन न कर सकने के कारण हम आपकी सेवा में निवेदन करने आये हैं। यदि आप इसका समुचित प्रबन्ध न कर सकेंगे तो हम आपके नगर में नहीं रहेंगे।

> बेसनावुदु धरणीश्वर
> वेससेने तनयंगे नाडेयुं मुनिदुनृपं।
> मिसुगुव दंतमरीचिग
> ळेसेविनमंबुधिनिनादर्दिदं नुडिदं ॥७२॥

अर्थ—इस प्रकार प्रजा के प्रतिनिधियों ने ललितांग पर जो अभियोग लगाया और राजा के सम्मुख यह कहा कि ललितांग प्रजा में महामारी के समान छाया हुआ है, उसे सुनकर राजा विचार करने लगा कि कुमार को ऐसा क्या व्यसन लग गया जिससे प्रजा में इतना क्षोभ उठ खड़ा हुआ है। अब क्या उपाय करना चाहिए और किस प्रकार प्रजा को सान्त्वना देनी चाहिए। सम्पूर्ण प्रजा राजकुमार पर प्रकुपित है यदि मैं ध्यान नहीं देता हूं तो यह राज्य नष्ट हो जायगा, अधिक दुराचार फैलेगा और इस तरह राज्य पर आपत्ति भी आ सकती है। यदि मैं कुमार का पक्ष लूंगा तो यह महान् अधर्म होगा क्योंकि प्रजा भी तो हमारी अयोनिज सन्तान है। एक कुपुत्र के लिए इतने बड़े प्रजावर्ग को असन्तुष्ट करना या उसको विपत्ति में पड़े रहने देना उचित नहीं। नीति कहती है—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ।।

अर्थ—यदि अपने कुल पर किसी एक सदस्य के कारण आपत्ति आवे तो उस एक व्यक्ति को त्याग देना चाहिए और किसी कुल के कारण गांव पर आपत्ति आती हो, तो ग्राम के हित में उस कुल का उत्सर्ग कर देना चाहिए। इसी प्रकार यदि जनपद का हित होता हो तो ग्रामका त्याग करना चाहिए और यदि आत्माके लिए पृथिवीका भी त्याग कर देना पड़े तो वह भी कर देना चाहिए।

इस प्रकार विचारशील राजा ने उन प्रतिनिधियों को बड़ी विनय के साथ मृदुवचनोंसे शान्त किया और 'भविष्य में उनके प्रति अन्याय नहीं होगा' इसके लिए आश्वासन दिया।

नीविदनेमगरिपिर्मु-
न्नीवार्तयनरियेविद्रदेसेगिसानु ।
नीवंबजेडसुखमिरि-
माविदनेणिसुववरल्लमतिशयदिंदं ।।७३।।

एंदरिमथनमहाराजं किरियपिरियरेन्नदेमन्नणेयिं कर्पूरसहितं वीळेयं गोट्टु पोगलुवेळ्दु प्रधानर्गं सोंदरिमहादेविगमिंतेंदं ।।७४।।

अर्थ—राजा कहने लगा कि आप लोग इतने दिन तक चुप क्यों रहे ? आश्चर्य है कि अब तक आपने इतनी सहनशीलता से सब सहन कर लिया। यदि समय रहते ही यह सूचना मिल जाती तो अब तक कुछ न कुछ उपाय कर दिया जाता। अस्तु, फिर भी मैं इसको सुधारने का प्रयत्न करूंगा। आप निर्भय होकर राज्य में रहें। आप मेरी प्रजा हैं मेरी सन्तान समान हैं। आपका कष्ट दूर करने के लिए मैं पूर्ण प्रयत्न करूंगा। ऐसा कह कर उन्हें सम्मान के साथ ताम्बूल दिया और विदा किया।

इनिसुं माणदे दुःशा-
सनशकुनिदिवाकरात्मजर कूडे सुयो-
धननलिदनेंदोडें दु-
र्जनरप्पवरोडने कूडिकेडदवरोळरे ।।७५।।

अर्थ--इसके पश्चात् सभी प्रजाजनों को विदा कर राजाने अपने प्रधान तथा पट्टमहिषी को बुलाया और कहने लगा कि—

देखो ! पुत्र प्राप्ति के लिए कितनी कामना हमने की थी किन्तु उसी सन्तान के कारण आज सारी प्रजा पर संकट आया हुआ है। उसकी निर्बाध उद्दण्डता ने प्रजाजनों को दुःखित कर दिया। ऐसी सन्तान यदि हजार भी हों तो कोई प्रयोजन नहीं। ऐसी दशा में धर्मोन्नति, कीर्ति, प्रजा का सुख-चैन, सभी कुछ दुर्लभ है। हमने पुत्र का लाड़-प्यार तो किया किन्तु उसे सन्मार्ग पर तथा शिक्षा पर नहीं लगाया। कभी दो शब्द इस प्रकार के नहीं कहे कि जिससे वह अच्छे मार्ग को पहचान सकता। कुसंगति और राजमद ने उसको इस अवस्था में पहुँचा दिया है। इसका होना न होना दोनों समान ही है। शास्त्रों में कहा गया है कि—

चिन्तनीया हि विपदामादावेव प्रतिक्रिया

विपत्तियां आवें, इससे पूर्व ही उसकी प्रतिक्रिया सोच लेना बुद्धिमानों का धर्म है। योग्य संगति के अभाव में तथा दुष्टबुद्धि, शकुनि, दुःशासन, कर्ण आदि की संगति से दुर्योधन उन्मार्गगामी बन गया और यावज्जीवन माता-पिता के हृदय में शल्य के समान उसका चरित चुभता रहा।

महाभारत के कथन अनुसार–

पाण्डु और धृतराष्ट्र कुरुवंश के इन दो महाराजाओं के वंश में युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव इन पांच पाण्डवों तथा दुर्योधन आदि सौ कौरवों की उत्पत्ति हुई। पाण्डवों का बचपन और यौवन दुर्योधन की कुटिल नीति के कारण सुख से नहीं बीता। एक तो पाण्डु का स्वर्गवास हो गया था और दूसरे राजगद्दी पर अन्धे राजा धृतराष्ट्र अधिकार जमाये बैठे थे। वास्तव में जो राज्य-उत्तराधिकार परम्परा से पाण्डवों को मिलना चाहिए था, उसे धृतराष्ट्र ने दबा रखा था। इसलिए शासक का पुत्र होने तथा अनुचित पुत्रवात्सल्य के कारण दुर्योधन बहुत ही उद्दंड तथा दुष्ट स्वभाव का हो गया था। उसे साथ के लिए शकुनि, दुःशासन और कर्ण जैसे बल-छल के धनी भी मिल गये थे जो दुर्योधन के राज्य-विस्तार में ही अपना कुशल-क्षेम समझ कर उसी की उचित-अनुचित उन्नति देखना चाहते थे।

जब पाण्डु का देहान्त हो गया तो पाण्डव राजा धृतराष्ट्र के पास आकर रहने लगे।

इससे पहले वे वन में अपने पिता-माता के पास ही पले और रहते रहे। दुर्योधन जो स्वभाव से ही घमण्डी था, उद्धत तथा मुंहजोर था, पाण्डवों के आने से प्रसन्न नहीं हुआ। किन्तु उसकी प्रसन्नता या अप्रसन्नता से पाण्डव टलने वाले नहीं थे। अतः वहीं रहते हुए उनकी शिक्षा दीक्षा हुई। बल-पराक्रम में भीम, शस्त्रास्त्र विद्या में अर्जुन और अपने धार्मिक स्वभाव के कारण युधिष्ठिर प्रजा में अत्यन्त प्रियता प्राप्त करने लगा।

कालान्तरमें जब दुर्योधनादि के ईर्ष्या-द्वेषसे पाण्डवोंका एक साथ रहना कठिन हो गया तो भीष्म-द्रोण-कृपाचार्य आदिकी सम्मतिसे धृतराष्ट्रने इन्द्रप्रस्थका राज्य पाण्डवोंको दे दिया। वे वहां सुखपूर्वक रहने लगे। वहीं रहते हुए उन्होंने राजसूय यज्ञ का आयोजन किया। उसमें दुर्योधनादि भी सम्मिलित हुए। पाण्डवों के शील-सौजन्य तथा पराक्रम से सभी राजे-महाराजे उनसे प्रसन्न थे और इस महोत्सव में सम्मिलित होने आये थे। यहीं पर श्रीकृष्ण की अग्रपूजा से असन्तुष्ट होकर शिशुपाल उन्हें गाली-गलौज करने लगा जिससे यज्ञसभा का सन्तुलन बिगड़ते देखकर श्रीकृष्ण को अपने सुदर्शन चक्रसे उसे मारना पड़ा।

दुर्योधन इस प्रकार का यश-वैभव और पराक्रम देखकर मन ही मन में जल-भुन गया। जब वह वहां से लौटा तो उसके मन में भीषण प्रतिक्रिया हो रही थी। उसके साथी शकुनि और कर्ण ने अपने दांव-पेच से दुर्योधन को इस बात पर तैयार किया कि पाण्डवों को द्यूतक्रीड़ा के लिए निमन्त्रण भेजा जाए। राजा युधिष्ठिर द्यूत (जुआ खेलने) के लिए ललकारे जाने पर कभी विमुख नहीं होते। सुनिश्चित षड्यन्त्र के अनुसार धृतराष्ट्र की सहमति से दूत भेजा गया और विनोद के लिए ही द्यूत का आयोजन किया गया है, ऐसा विश्वास देकर पाण्डवों को बुला लिया। द्रौपदी सहित पांचों भाई आ गए।

जब जुआ आरम्भ होने लगा तो दुर्योधन ने कहा कि मेरी ओर से शकुनि पांसा फेंकेगा। युधिष्ठिर भोले-भाले थे और उनके सुनियोजित षड्यन्त्र को नहीं पहचान सके। उन्होंने उस जुए में धीरे-धीरे अपना सारा राज्य हार दिया।

जब उनके पास कुछ भी दांव पर लगाने को नहीं रहा तब कुटिल दुर्योधन ने कहा कि अभी तो द्रौपदी को दाव पर लगाना शेष है। धर्मराज युधिष्ठिर की बुद्धि अधर्म से पराभूत हो गई थी। उन्होंने 'हां' कहा और दांव लगाने पर उसे भी हार गये। दुर्योधन तो इस दिन की प्रतीक्षा में था ही। उसने तुरन्त दुःशासन से कहा कि जाओ और पांचाली को यहां ले आओ।

द्रौपदी के पास जाकर जब दुःशासन ने कहा कि जुए में तुम्हें जीत लिया गया है।

तो उसने पूछा कि क्या युधिष्ठिर ने अपने को हारने के बाद मुझे दाव पर लगाया था या पहले ? यदि स्वयं को हारने पर दाव पर लगाया है तो वह उसके अधिकारी ही नहीं रह गये थे। किन्तु उसकी युक्तियों को न सुनकर वह दुष्ट अपमान-पूर्वक उसे खींचकर सभा में ले आया। वहां दुर्योधन ने अपनी जांघ ठोंककर कहा कि आओ, इस पर बैठो। इस पर युधिष्ठिर ने शिर नीचा कर लिया किन्तु भीम की भुजाएं फड़कने लगीं और अर्जुन कुछ करने के लिए अधीर हो उठे। भीम की चेष्टाओं का कुछ असर नहीं हुआ और द्रौपदी को दासी शब्द से सम्बोधित किया गया।

बड़ी कठिनता से भीष्म और अन्य वृद्ध जनों ने इस विपत्ति को टाला और द्रौपदी को दासीत्व से मुक्ति मिली। यहीं भीम ने दुःशासन और दुर्योधन को मारने की प्रतिज्ञा की। द्यूत में हार जाने के परिणाम स्वरूप उनको बारह वर्ष का वन प्रवास तथा एक वर्ष गुप्त वास करना पड़ा।

वनवास के पश्चात् लौटे पाण्डवों के साथ अनेक सन्धि प्रयत्न करने पर भी दुर्योधन कर्ण के बल पर, शकुनि के छल-छन्द की योग्यता पर तथा अपने सहज दुष्ट स्वभाव के कारण युद्ध के लिए प्रवृत्त हुआ। उसने कहा कि मैं तो विना युद्ध के एक इंच भूमि भी नहीं दूंगा। परिणामस्वरूप दुःशासन और दुर्योधन भीम के हाथों मारे गए। शेष सेना का अर्जुन ने संहार कर दिया। इस प्रकार पापाचार के कारण, दुष्टों की संगति के दोष से धृतराष्ट्र के सभी पुत्रों का संहार हो गया। दुःसंगति तथा दुराचार का इससे बढ़कर और उदाहरण क्या होगा।

मोदलिं मंदिगळोडना-
डिदकरुवुं पंदियंते मेलं तिंगें।
बुदु नाणणुडि तानदुत
प्पदुसितगर कूटदिंदे केडदवरोळरे ॥७६॥

अर्थ—अगर किसी गाय का बछड़ा बचपन से ही किसी शूकर की संगति में रहे तो निरन्तर उसके निकट रहने से उसका भी स्वभाव-संस्कार, आचरण शूकर के समान हो जाते हैं। यह लोकोक्ति व्यर्थ नहीं है, देखो! कुमार ललितांग भी इन दुष्टों की संगति में पड़कर उन्मार्गगामी बन गया है।

आरयल्कु नोडे वोरेगळ
नीरुं वारिधियनीर पोद्दु गेयिंदं ।
सारंगेट्टुप्पप्पवो-
लारुं दुर्जनर कूटदिंदं केडरे ॥७७॥

अर्थ–महानदियों का पानी कितना निर्मल तथा पीने योग्य होता है किन्तु जब वही खारे समुद्र में आकर मिल जाता है तो पीने योग्य नहीं रहता । उस खारे जल का क्षारत्व उस मीठे पानी में भी आ जाता है । यह कुसंग के दोष का परिणाम ही तो है । कहा है–

आस्वाद्यतोयाः प्रभवन्ति नद्यः, समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः ।

यानी–नदियों का जल स्वादिष्ट होता है किन्तु समुद्र की संगति से वह पीने योग्य नहीं रहता । इसी प्रकार कुसंग से प्रभावित होकर राजकुमार का चाल-चलन भी दोषपूर्ण हो गया है ।

कडुतप्पु केट्टु किच्चिनो
ळोडगूदिडनीर् बळिक्केतीव्रतेयिंके ।
सुडुवंते नोडे दुर्जन-
रोडगूदिड मानिसर्गे सद्गुणमुंटे ॥७८॥

अर्थ–पानी का स्वभाव शीतल है किन्तु अग्नि के सम्पर्क से वह उष्ण हो जाता है। और तब वह अग्नि के समान ही जलाने भी लगता है । शीतलता प्रदान करने वाले जलमें दाहकता कहां से आई । उसी अग्नि के साहचर्य से । ऐसे ही संगति के प्रभाव से मनुष्य में गुण और अवगुण आ जाते हैं । कुसंग से उसके सद्गुण नष्ट हो जाते हैं ।

(अदुकारणदिं कुमारनोळाद दुर्वर्त्तमेम्मिंदादु दातनोळ् दोषमिल्लेंतेने) ॥७९॥

अर्थ–इस कारण राजकुमार में रहने वाले दुर्गुण कुसंगति से आये हैं, स्वाभाविक नहीं हैं ।

विशेषार्थ–जूआ खेलना, मांस खाना, मद्य पीना, वेश्या गमन, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्री सेवन, मनुष्य के पतन के ये सात मुख्य कारण हैं । जो माता-पिता

अपने बच्चों को इन पापों से बचाने के लिए ध्यान नहीं देते तो उनके बच्चोंको कुसंग पाकर ये बुरी आदतें बचपन से ही लग जाती हैं। इस कारण बच्चों को गुणी बनाने के लिये उनमें शुभ संस्कार बाल-अवस्था से ही डालने चाहिए। सोना यद्यपि कीमती होता है किन्तु जब तक वह संस्कार से रहित होता है और उसमें खोट मिला होता है तो उसकी कीमत बाजार में गिर जाती है। इसी प्रकार मनुष्य भी कुसंगति में जब पड़ जाता है तो वह अपने सद्गुणों को नाश करके दुर्गुणी बन जाता है। मनुष्य जब इन्द्रिय-विषयों में लालायित होकर किसी एक भी दुर्व्यसन में फंस जाता है तो वह पतित हो जाता है। इसी प्रकार राजा अरिमथन का वह कुमार भी चारित्र-दोष से बिगड़ गया। माता-पिता के प्रेम से तथा दुर्लभ पुत्ररत्न की प्राप्ति के सम्मोहन से उसके दुर्गुणों पर ध्यान नहीं दिया गया। यदि कोई धनिक तथा प्रभुता-सम्पन्न व्यक्ति अपने बालक को शिक्षा नहीं देता तथा अनीति के मार्ग पर बढ़ने देता है तो उसका दुर्गुणी होना स्वाभाविक है। यही दशा ललितांग की हुई।

यदि मनुष्य जुआ नहीं खेले तो उसका अपयश तथा निन्दा कहां से हो सकती है? इसके सिवाय क्रोध और लोभ से भी उसे बहुत कुछ छुटकारा मिलता है? निर्धनता और चोरी की आदत से भी वह बच जाता है तथा मरने पर वह नरक में नहीं जाता। अर्थात् जुआ से विरक्त मनुष्य को दुःख, दैन्य आदि नहीं सताते। जुआ सप्तव्यसन के लिये गाड़ी में धुरा के समान मुख्य माना गया है।

जो मांस घृणित पदार्थ है, बकरी, गाय, कबूतर, मृग आदि प्राणियों के घात से प्राप्त होता है, अपवित्र है, कृमि आदि क्षुद्र कीड़ों का स्थान है, जिसकी उत्पत्ति निन्दनीय है, अच्छे पुरुष जिसे छूते भी नहीं, तथा देखते भी नहीं हैं, वह मांस खाने योग्य नहीं है। फिर जो ऐसे मांस को खाता है, उसके लिए लोक में यहां निर्दय हिंसा पाप होता है तथा परलोक में नरकगति होती है। मांस प्रथम तो हिरण, बकरी आदि मूक प्राणियों के बध से उत्पन्न होता है, दूसरे उसमें अन्य त्रसजीव भी उत्पन्न हो जाते हैं, जिनकी हिंसा होना अनिवार्य है। इस कारण उसके भक्षण में बहुत हिंसा होती है। अत एव सज्जन पुरुष मांस को न छूते हैं, न खाते हैं, उसका परित्याग ही करते हैं।

मद्य (शराब) एक ऐसी नशीली चीज है जिसको पीकर बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, विवेक जाता रहता है। अतः मद्य इस जन्म में समस्त धर्म, अर्थ, काम आदि पुरुषार्थों का नाश करने वाली है और पर-भव में दुर्गति देती है। मद्यपायी [शराब पीने वाला] मनुष्य ऐसा

कोई भी शुभ कर्म नहीं करता जो उसको अपने लिये तथा अन्य के लिये हितकारी हो। व्यापार आदि लौकिक कार्य भी मद्यपायी से नहीं हो सकते। जिनको शराब पीने की आदत पड़ जाती है उनकी सब सम्पत्ति नष्ट हो जाती है। इसी विचार से बुद्धिमान् मनुष्य सदा शराबका त्याग करते हैं। मद्यपायी मनुष्य नशेमें चूर होकर निर्लज्ज होजाता है, माता, पुत्री, बहिन से भी पत्नी के समान निन्दनीय चेष्टाएं करता है। यही नहीं शराब के नशे में बेहोश होकर जब वह मार्ग में गिर जाता है तो कुत्ते भी उसके मुखमें मूत्र कर देते हैं और वह शराबी उसको मद्य का घूंट मानकर गले के नीचे उतार लेता है।

वेश्या वह व्यभिचारिणी स्त्री है जो केवल धन से प्रेम करती है और सभी ऊंच नीच मनुष्यों के साथ काम-क्रीड़ा करती है। मांस भक्षण करती है, मद्य पीती है, असत्य वचन बोलती है, केवल धन पाने के लिए बनावटी प्रेम करती है। वेश्या सेवन से मनुष्य का धन और प्रतिष्ठा दोनों नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार धोबी के पत्थर पर अच्छे-बुरे सभी प्रकार के वस्त्र धोये जाते हैं उसी प्रकार वेश्या के साथ ऊंच-नीच सभी मनुष्य एक समान सम्बन्ध रखते हैं। ऐसी वेश्याओं का सेवन करने से इस भव में धन और प्रतिष्ठा का नाश होता है तथा परभव में नरकादि के महान् कष्ट भोगने पड़ते हैं। इसलिए बुद्धिमान पुरुषों को वेश्याओं से सदा दूर रहना चाहिए।

जिस हरिणी के पास केवल एक मात्र अपना शरीर ही धन होता है, वनमें रहती है, जिसका कोई रक्षक नहीं है, जो स्वभावसे ही भीरु (डरपोक) होती है, जंगलकी घास खाकर निर्वाह करती है। कभी किसी का कोई अपराध (बुरा) या हिंसा नहीं करती, उस बेचारी को भी शिकारी मार डालते हैं। और उसका मांस खाकर अपना पेट भरते हैं, इससे अधिक पाप इस लोक में और क्या हो सकता है? यह एक प्राचीन रीति है कि यदि शत्रु भी मुख में तिनका लेकर आ जावे तो उसके सभी अपराध को क्षमा कर दिया जाता है। किन्तु मुंह में तिनका लेकर रक्षा की याचना करने वाली हिरनी को शिकारी निर्दयता से मार देते हैं, क्या यह मनुष्यता से गिरी हुई खेद की बात नहीं है? जब अपने शरीर में छोटा-सा भी कांटा लगता है तो व्याकुल होकर उसे दूर करने के लिए हम लालायित हो जाते हैं तब आश्चर्य है कि एकान्त जंगल में विचरण करने वाले हिरण आदि भोले जीवों पर शस्त्र चलाकर उन्हें मारने में मनुष्य को संकोच नहीं होता। उसमें शिकारी लोग आनन्द का अनुभव करते हैं। जो मनुष्य जिस जीव को मारता है, जन्मान्तर में वह जीव उसे मारता है। क्योंकि हिंसा की प्रतिक्रिया प्रतिहिंसा होती है। इस तरह शिकार खेलने

की हिंसा जन्मजन्मान्तर में प्रतिहिंसा का कुफल दिया करती है ।

मनुष्य अपने जीवन-निर्वाह के लिए धन-उपार्जन करने में तरह-तरह के शारीरिक तथा मानसिक कष्ट उठाता है, घनघोर परिश्रम करता है, अनेक अपमान सहन करता है, अनेक न करने योग्य कार्य करता है। शर्दी, गर्मी, धूप, वर्षा के कष्ट सहा करता है। ऐसी कठिनाई से कमाये गये धन को यदि कोई मनुष्य चुरा ले जाता है तो उसको बहुत भारी दुख होता है। इसलिये चोरी करना बहुत बुरा पाप है।

मनुष्य के प्राण धन के निमित्त से ही जीवित रहते हैं। धन के नष्ट हो जाने पर मनुष्य को जितना दुःख होता है उतना दुख प्रायः मरते समय भी नहीं होता। अतः दूसरों के धन को चुराने वाले चोर उनको प्राण-घातक दुख देते हैं। इसलिये चोरी करना निन्दनीय कृत्य है। प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि उसकी बहिन, बेटी, माता, स्त्री आदि स्त्रियों को कोई व्यक्ति कामुक दृष्टिसे न देखे, न उनसे अनुचित प्रेम करके उनका शील भंग करे। तो उसका कर्तव्य है कि वह भी अन्य स्त्रियों को अपनी बहिन पुत्री या माता के समान समझे, कभी उनके साथ काम-क्रीड़ा न करे।

परस्त्री में अनुराग बुद्धि रखने वाले को इस जन्ममें चिन्ता, आकुलता, भय, द्वेषभाव, बुद्धिका विनाश, अत्यन्त सन्ताप, भ्रान्ति, भूख, प्यास, आघात, रोग, वेदना और मरण रूप दुःख प्राप्त होते हैं। परजन्म में नरक गति में जाना पड़ता है वहां तपायी हुई लोहमयी स्त्रियों के आलिंगन से चिरकाल तक बहुत दुःख उठाना पड़ता है। इस कारण परस्त्री-सेवन दोनों लोक में दुखदायी है। परस्त्री सेवन करने वाले मित्रों द्वारा दी हुई सहायता, सम्पत्ति भी ग्रहण नहीं करनी चाहिए। अभिप्राय यह है कि जिस सामग्री के मिलने पर लोगों का मन लोकमर्यादा को छोड़कर पर-धन और परस्त्री में आसक्त हो जावे वह सब सामग्री धिक्कारने योग्य है।

जुआ खेलने से युधिष्ठिर को, मांस भक्षण से बक राजा को, चोरी से शिवभूति ब्राह्मण को तथा परस्त्री हरण से रावण को (इस प्रकार एक-एक व्यसन सेवन करने से) महान् कष्ट प्राप्त हुआ तो फिर जो सभी व्यसनों का सेवन करता है, उसके महान विनाश में क्या सन्देह है ? व्यसन शब्द का अर्थ है—

यत् पुंसः श्रेयसः व्यस्यति तद् व्यसनम्—

यानी—जो पुरुष को कल्याणमार्ग से भ्रष्ट कर दे, वह व्यसन है।

युधिष्ठिर—द्यूत (जुआ खेलने)के व्यसनसे युधिष्ठिरने अपना सारा राज्य और द्रौपदीको भी हार दिया तथा बड़े कष्टोंमें रहकर उसे बारह वर्षका वनवास भोगना पड़ा । और भी कष्ट इन्हें तथा इनके भाइयों को जुए के निमित्त से ही उठाने पड़े ।

बक राजा—कुशालपुर में भूपाल नाम का राजा था । उसकी पत्नी का नाम लक्ष्मीमती था । उसके बक नाम का एक पुत्र था जो मांस खाने का बहुत लोलुपी था । राजा का रसोइया उस राजकुमार के लिए प्रतिदिन मांस बनाकर उसे खिलाया करता था । एक दिन रसोइया मांस पकाकर किसी प्रयोजन से रसोई को छोड़कर बाहर चला गया । उसी समय एक बिल्ली आकर उस मांस को खा गई । जब लौटकर रसोइए ने यह देखा तो उसे बहुत चिन्ता हुई । वह मांस ढूंढने के लिए नगर से बाहर गया । वहाँ उसने एक मृतक बालक को जमीन में गाड़ते हुए देखा । अवसर पाकर वह उसी को निकाल लाया और उसका मांस पकाकर राजकुमार को खिला दिया । उसको वह मांस बहुत ही स्वादिष्ट लगा । तब उसने प्रतिदिन इसी प्रकार का मांस खिलाने के लिए रसोइये को बाध्य किया । बेचारा रसोइया अपने प्राणों की चिन्ता से लड्डू आदि खिलाने का लोभ देकर किसी न किसी बालक को फुसला कर ले आता और उसको मार कर उसका मांस राजकुमार बक को खिलाया करता । इससे नगर में बच्चों की कमी होने लगी तो खोज-बीन शुरू हुई और एक दिन वह रसोइया बालक को उड़ाकर ले जाता हुआ रंगे हाथों पकड़ लिया गया जब उसकी लात-घूंसों से मरम्मत की गई तो उसने यथार्थ बात को प्रकट कर दिया । इस बीच में बकके पिता की मृत्यु हो चुकी थी । इससे बक राज्य प्राप्त करके राजा बन चुका था । तब समस्त जनताने मिल कर उसे राज्यसे भ्रष्ट कर दिया और शहरसे निकाल दिया ।

परन्तु वह नगर से बाहर रहकर भी मृतक मनुष्यों के मुर्दा शरीरों को खाने लगा । जब कभी उसे जीवित मनुष्य भी अकेला मिल जाता तो वह उसे भी मार कर अपनी भूख बुझा लेता । इसलिए लोग उसे राक्षस कहने लगे । अन्त में भीम के द्वारा वह बक मारा गया । इस तरह मांस भक्षण के व्यसन से उसे अनन्त दुःख उठाने पड़े और भवान्तर में तो उसकी बहुत दुर्गति हुई ।

यादव—किसी समय भगवान् नेमिनाथ का समवशरण गिरनार पर्वत पर आया था । उस समय अनेक पुरवासी उनकी वन्दना करने के लिए गिरनार पर्वत पर गए । धर्मश्रवण के अनन्तर बलभद्र ने पूछा कि यह द्वारकापुरी कुबेर के द्वारा निर्मित की गई है । उसका विनाश कब और किस प्रकार से होगा । उत्तर में भगवान् ने कहा कि यह पुरी यादवों

द्वारा मद्य के सेवन से बारह वर्ष बाद द्वीपायन द्वारा भस्म कर दी जाएगी। यह सुनकर रोहिणी का भाई द्वीपायन अपने द्वारा द्वारकापुरी को भस्म होने से बचाने के विचार से दीक्षित हो गया और उस अवधि को पूर्ण करने के लिए पूर्व देश में जाकर तप करने लगा। तत्पश्चात् वह द्वीपायन 'अब बारह वर्ष बीत चुके हैं' ऐसा समझ कर फिर से वापिस द्वारिका आया, द्वीपायन ने ढाई,ढाई वर्ष पीछे होने वाले अधिक मासों (मल महीनों) को नहीं गिना था। अतः बारह वर्ष समाप्त होने से पहले ही वह द्वारिका आ गया था। और द्वारिका से बाहर ध्यान करने लगा।

इधर जिन-वचन के अनुसार मदिरा पान को द्वारिका-दाह का कारण समझ कर कृष्ण ने प्रजा को मद्य और उसकी साधन सामग्री तक को दूर फेंक देने के लिए आदेश दे दिया। तदनुसार द्वारिका की जनताने नगर की सभी शराब और उसके बनाने की वस्तुओं को द्वारिका से बाहर कादम्ब पर्वत के पास एक गड्ढेमें फेंक दिया। उस गड्ढेके आस-पास महुओं के वृक्ष थे। उन वृक्षों से महुओं के फल भी उस गड्ढे में गिरते रहे। अतः वहां का जल शराब के समान नशीला होता रहा। एक समय शंबूक आदि राजकुमार वन की क्रीड़ा के लिए उधर गए। तब उन लोगोंने प्यास से पीड़ित होकर उस कुंडका वह मदिरा-जैसा नशीला जल पिया। ऐसा करने से उनको उस कुंड की मदिरा का नशा चढ़ आया और वे उन्मत्त होकर नाचते गाते हुए द्वारिका की ओर वापस लौटने लगे। उन्होंने मार्ग में द्वीपायन मुनि को बैठा देखा, तब उसको द्वारिका के भस्म होने का कारण समझ कर नशे में उसको पत्थर मारने लगे। जिससे द्वीपायन को क्रोध आ गया। क्रोध से उसके बांयें कन्धे से तैजस शरीर रूप अग्नि का गोला प्रकट हुआ, उस तैजस गोले ने द्वारिका में चारों ओर से आग लगा दी। जिससे सारी द्वारिका उस अग्नि से भस्म हो गई। इस दुर्घटना में कृष्ण और बलभद्र को छोड़कर अन्य कोई भी प्राणी जीवित नहीं बचा। यह विध्वंस मद्यपान से ही हुआ था।

चारुदत्त—चम्पापुरी में एक भानुदत्त नाम का सेठ था। उसकी पत्नी का नाम सुभद्रा था। इन दोनों की युवावस्था पुत्र के विना ही व्यतीत हुई। तत्पश्चात् एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम चारुदत्त रखा गया। उसे बचपन से अणुव्रत दीक्षा दे दी गई। उसका विवाह सुन्दरी कन्या मित्रवती के साथ हुआ। चारुदत्त को शास्त्र स्वाध्यायका व्यसन था। वह गृहस्थाश्रम की आधारभूत पत्नी के साथ कामक्रीड़ा से अनजान था। इसलिए अपनी पत्नी के साथ कामक्रीड़ा करने में उसे कुछ भी अनुराग नहीं था। तब चारुदत्त की माता ने

उसको कामभोग में आसक्त करने के लिए रुद्रदत्त (चारुदत्त के चाचा) को प्रेरित किया था। वह किसी बहाने से चारुदत्त को कलिंगसेना वेश्या के यहां ले गया। उस वेश्या की वसन्तसेना नाम की एक पुत्री थी। वह अत्यन्त रूपवती थी। वसन्तसेना ने अपनी वेश्या-वृत्ति के हाव भाव से चारुदत्त को फंसा लिया जिससे चारुदत्त अपने घर को बिलकुल भूल गया और वहीं वेश्या के घर रहने लगा। कामवासना के सिवाय उसे कुछ नहीं सूझता था। वह वसन्तसेना के यहां बारह वर्ष तक रहा। वसन्तसेना में अत्यन्त आसक्त हो जानेसे चारुदत्त को अपनी माता, पिता एवं पत्नीका कभी स्मरण भी न आया, उसको अन्य अपना कर्तव्य तो स्मरण क्या रहता? इस बीच कलिंगसेना के यहां चारुदत्त के घर से सोलह करोड़ दीनारें (मोहरें) आ चुकी थीं। तत्पश्चात् जब कलिंगसेना ने मित्रवती के आभूषणों को भी अपने यहां आते देखा तो वह समझ गई कि अब चारुदत्त के घर में कुछ नहीं बचा सारा धन मेरे घर आ चुका है। तब उसने अपनी लड़की से कहा कि अब तू इस निर्धन चारुदत्त को छोड़ दे। अपनी माताके इन वचनोंको सुनकर वसन्तसेनाको अत्यन्त दुःख हुआ उसने कहा हे माता! चारुदत्त को छोड़कर मैं कुबेर जैसे किसी सम्पत्तिशाली भी किसी अन्य पुरुष को नहीं चाहती। माता ने अपनी पुत्री वसन्तसेना के दुराग्रह को देखकर अन्य उपाय से चारुदत्त को अपने घर से बाहर निकाल दिया। वेश्या के घर से निकलकर चारुदत्त ने दुःख से समय बिताती हुई अपनी माता और पत्नी को देखा। तब चारुदत्त का विवेक जाग्रत हुआ, उसने अपनी माता और पत्नी को आश्वासन दिया और वह चारुदत्त धनोपार्जन के लिए विदेश चला गया। वह अनेक देशों और द्वीपों में गया, जहां उसे अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा। अन्त में वह बहुत-सा धन कमा करके चम्पापुरी में वापस आया। उसने वसन्तसेना को भी अपने घर बुला लिया। पश्चात् मित्रवती एवं वसन्तसेना आदि के साथ सुखपूर्वक कुछ काल बिताया, तदनन्तर चारुदत्त ने जिनदीक्षा ले ली। और निर्मल घोर तपश्चरण किया, आयु के अंत में समाधि मरण करके वह सर्वार्थसिद्धि में देव उत्पन्न हुआ। जिस वेश्या-सेवन के कारण चारुदत्त को अनेक कष्ट सहने पड़े, उस वेश्या व्यसन से विवेकी जनों को सदा दूर रहना चाहिए।

ब्रह्मदत्त—उज्जयिनी नगरी में ब्रह्मदत्त नाम का एक राजा राज्य करता था। वह मृगया (शिकार) व्यसनमें अत्यन्त आसक्त था। किसी समय वह मृगया (शिकार)के लिए वन में गया। उसने वहां एक शिलातल पर ध्यानावस्थित मुनि को देखा। इससे उसका मृगया कार्य निष्फल हो गया। वह दूसरे दिन भी मृगया के निमित्त उसी वन में गया किन्तु उस

फिर भी मुनि के प्रभाव से उसे शिकार में सफलता नहीं मिली। इस प्रकार वह कितने एक दिन शिकार के लिए उस वन में जाता रहा किन्तु उसे सफलता नहीं मिल सकी। इससे उसे मुनि के ऊपर अतिशय क्रोध उत्पन्न हुआ। किसी एक दिन जब मुनि आहारके लिए नगर में गए हुए थे, तब ब्रह्मदत्त ने अवसर पाकर उस शिला को अग्नि से बहुत गर्म कर दिया। कुछ देर पीछे मुनि वापस आ गए, और शीघ्रता से जलती हुई उस शिला पर बैठ कर ध्यान करने लगे। शिला के अत्यन्त गर्म होने पर भी उन्होंने ध्यान नहीं छोड़ा। इससे उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। वह अन्तकृत केवली होकर मुक्ति को प्राप्त हो गए। इधर ब्रह्मदत्त राजा मृगया व्यसन एवं मुनिप्रद्वेष के कारण सातवें नरक में नारकी उत्पन्न हुआ। तत्पश्चात् बीच-बीच में क्रूर हिंसक तिर्यंच जीव होकर क्रमसे छठे और पांचवें आदि शेष नरकों में गया। मृगया व्यसन में आसक्त होने से प्राणियों को इस प्रकार के महा-भयानक कष्ट सहने पड़ते हैं।

शिवभूति—बनारस नगर में राजा जयसिंह राज्य करता था। रानी का नाम जयावती था। इस राजा का एक शिवभूति नाम का पुरोहित था। जो अपनी सत्यवादिता के कारण पृथिवी पर 'सत्यघोष' नाम से प्रसिद्ध हो गया था। उसने अपने यज्ञोपवीत (जनेऊ) में एक छुरी बांध रखी थी। वह कहा करता था कि यदि मैं कभी असत्य बोलूं तो इसी छुरी से अपनी जिह्वा काट डालूंगा। इस विश्वास से बहुत से लोग सुरक्षार्थ अपना धन-द्रव्य उसके पास जमा कर दिया करते थे। किसी एक दिन पद्मपुर से एक धनपाल नाम का श्रेष्ठी आया और इसके पास अपने बहुमूल्य चार रत्न रख कर व्यापार के लिए बाहर चला गया। वह बारह वर्ष तक परदेश में रहा और देशान्तर में रहते हुए बहुत-सा धन कमाकर वापस आ रहा था कि मार्ग में उसकी नाव डूब गई, इससे उसका सारा उपार्जित धन नष्ट हो गया और वह निर्धन कंगाल हो गया।

उस धनहीन अवस्थामें वह बनारस पहुँचा। उसने शिवभूति पुरोहित से अपने धरोहर रखे हुए चारों रत्नों को मांगा। पुरोहित ने उसे पागल बताया और घर से निकाल दिया। पागल समझ कर ही उसकी पुकार राजाने भी नहीं सुनी। तब वह प्रतिदिन रात्रिके समय राजमहल के पीछे एक पेड़ पर चढ़ कर व उच्च स्वर में राजा को अपना न्याय कराने के लिये कहा करता था किन्तु राजा उसको पागल समझ कर उसकी बात पर कुछ ध्यान नहीं देता था। एक दिन रानी ने उसकी बात सुनने के लिए राजा से आग्रह किया। राजा ने जब उसे पागल बताया तो रानी ने कहा कि वह पागल प्रतीत नहीं होता है। ऐसा कहकर

रानी ने सत्य बात का पता लगाने के लिए कुछ उपाय सोचा। उसने पुरोहित के साथ जुआ खेला और जुआ खेलते हुए ही उसकी मुद्रिका (अंगूठी) तथा छुरीयुक्त यज्ञोपवीत जीत लिया। जिसे निशानी (चिह्न) के रूप में पुरोहित की स्त्री के पास भेजकर उसने धनपाल के उन चारों बहुमूल्य रत्नों को मंगवा लिया।

राजा को यह देखकर शिवभूति के इस व्यवहार से बहुत दुख हुआ और शिवभूति पुरोहित के झूठ बोलने पर क्रोध आया। राजा ने उसको गोबर खाने या आठ जोरदार मुक्के खाने अथवा निज द्रव्य समर्पण यानी-अपना सब धन दंडमें दे डालने में से किसी एक दण्ड को सहने के लिए बाध्य किया। तदनुसार वह गोबर भक्षण के लिए उद्यत हुआ किन्तु गोबर नहीं खा सका, अत एव उसने मुष्टिघात (घूंसे खाने) की इच्छा प्रकट की। तदनुसार मल्लों द्वारा घूंसे मारे जाने पर वह मर गया और राजा के भाण्डागार (खजाने) में सर्प हुआ। इस प्रकार उसे चोरी करने के एक व्यसन के कारण इतना घोर कष्ट सहन करना पड़ा और अन्त में सर्प-योनि में जन्म लेना पड़ा।

रावण—किसी समय अयोध्या नगरी में राजा दशरथ राज्य करते थे। उनके चार रानियाँ थीं। कौशल्या, सुमित्रा, कैकेयी और सुप्रभा। इनके यथाक्रम से रामचन्द्र, लक्ष्मण और भरत तथा शत्रुघ्न ये चार पुत्र उत्पन्न हुए। एक दिन राजा दशरथ को अपना बाल सफेद दिखाई दिया। इससे उन्हें बड़ा वैराग्य हुआ उन्होंने रामचन्द्र को राज्य देकर जिन-दीक्षा ग्रहण करने का निश्चय किया। पिता के साथ भरत के भी दीक्षित हो जाने का विचार जान करके उसकी माता कैकेयी बहुत दुःखी हुई। उसने इसका उपाय सोचकर राजा दशरथ से पूर्व में दिया हुआ वर माँगा। राजा की स्वीकारता पाकर कैकेयी ने भरत के लिए राज्य देने की इच्छा प्रकट की। दशरथ विचार में पड़ गए। उन्हें खेद-खिन्न देख-कर राम ने मन्त्रियों से इसका कारण पूछा और उनसे उपर्युक्त समाचार ज्ञात कर स्वयं भरत का राज्यतिलक कर दिया। तत्पश्चात् मेरे यहां रहने से भरत की प्रतिष्ठा न रहेगी, ऐसा सोच कर वे स्वयं सीता और लक्ष्मण के साथ अयोध्या से बाहर चले गए। इस प्रकार जाते हुए वे दण्डकवन में पहुँच कर वहां ठहर गये। वहां वन की शोभा देखते हुए लक्ष्मण इधर-उधर घूम रहे थे। उन्हें बांसों के वन में लटकता हुआ एक खड्ग (चन्द्रहास) दिखाई दिया। उसे लपक कर उन्होंने हाथ में ले लिया और उसको उसी बांसों के समूह पर खड्गकी तीक्ष्णता देखनेके लिए चला दिया। इससे बांसोंके साथ उसमें बैठे हुए शम्बूकुमार का शिर कट कर अलग हो गया। वह शम्बूकुमार ही यहां बैठ कर बारह वर्ष से उस

चन्द्रहास खड्ग को सिद्ध कर रहा था।

इस घटना के कुछ समय पश्चात् खरदूषण की पत्नी यानी—शम्बूकुमार की माता सूर्पनखा वहां आ पहुँची। पुत्र को मरा हुआ देखकर विलाप करती हुई वह इधर-उधर पुत्र के घातक को खोजने लगी। वहां कुछ दूर पर उसने राम और लक्ष्मण को बैठे देखा। तो वह उनके सुन्दर रूपको देखकर मोहित होगई। उसने प्रेम करनेके लिए दोनोंसे प्रार्थना की किन्तु जब दोनों में से किसी ने भी उसको स्वीकार नहीं किया तो वह अपने शरीर को स्वयं विकृत करके अपने पति खरदूषण के पास पहुँची और उसको राम लक्ष्मण के साथ युद्ध के लिए उत्तेजित किया।

खरदूषण अपने साले रावण को इसकी सूचना करा कर युद्ध के लिए चल पड़ा। सेना सहित खरदूषण को आता देखकर लक्ष्मण भी युद्ध के लिए चल दिया। वह जाते समय राम से कहता गया कि यदि मैं विपत्ति-ग्रस्त होकर सिंहनाद करूं तो आप मेरी सहायता के लिए आना, अन्यथा यहीं पर रहकर सीता की रक्षा करना।

इसी बीच पुष्पक विमान में चढ़ कर रावण भी खरदूषण की सहायता के लिए लंका से वहां आ रहा था। मार्ग में वह सीता का रूप देख कर उस पर मोहित हो गया और उसके हरण करने का उपाय सोचने लगा। उसने विद्या द्वारा राम को सीता से अलग होने का उपाय जान लिया। तब उसने दूर से सिंहनाद किया। सिंहनाद सुनते ही रामने लक्ष्मण को आपत्ति-ग्रस्त समझा तो उसकी सहायताके लिए रामने तत्काल प्रस्थान किया। रावण ने अवसर पाकर सीता का अपहरण कर लिया।

उधर लक्ष्मण खरदूषण को मार कर लौट रहे थे। उनने जब राम को सामने आते देखा तो वह बहुत चिन्तित हुए और तुरन्त राम को उलटे पांव लौट जाने के लिए कहा। राम ने वहां पहुँच कर सीता को न देखा। इससे वे बहुत व्याकुल हुए और उसे खोजने लगे। लक्ष्मण और राम को सीता ढूंढते समय सुग्रीव आदि विद्याधरों से मिलाप हुआ। तब सीता की खोज के लिए हनुमान जिस किसी प्रकार से लंका जा पहुँचा और उसने सीताको रामके पास लौटाने के लिए रावणको बहुत समझाया। किन्तु वह सीताको लौटाने के लिए तैयार नहीं हुआ। उसे पर-स्त्री में आसक्त देखकर स्वयं उसका भाई विभीषण भी उससे अलग होकर रामचन्द्र जी की सेना में सम्मिलित हो गया। अन्त में राम और रावण में घमासान युद्ध हुआ और समस्त परिवार के साथ रावण मारा गया।

कहने का तात्पर्य यह है कि जो बुरे काम हैं, उन्हें दुर्व्यसन या व्यसन कहते हैं। ऐसे

व्यसन बहुत हो सकते हैं किन्तु स्थूल रूप में उनको सात ही निरूपित किया है। कारण कि मन्दबुद्धि जन सन्मार्ग से च्युत होकर विविध रीतियों से कुमार्ग में प्रवृत्त हो जाते हैं। उनकी सभी प्रवृत्तियां व्यसन के ही अन्तर्गत हैं। अत एव व्यसनों की यह सात संख्या स्थूल रूप से समझनी चाहिये।

पेदिवसुतमोहदिंदो-
दिदेडं मुनिजनद सारे वसदियोळिर्दा-।
डिंदोडमिवनलसुगेदा-
निदनरियदे दुष्टकष्टनोडनाडिसिदें ॥८०॥

अर्थ—ललितांग का पिता राजा अरिमथन विचार करने लगा कि राजकुमारको अच्छी शिक्षा न देने का दोषी मैं ही हूं, कुमार के मोह से जो मैंने उसे बहुत लाड़ प्यार किया उसी से यह कुछ न पढ़ सका, न गुणी बन सका। हाय मैं क्या राज-शासन करूंगा, मुझे तो 'अपने घर में क्या हो रहा है' इसका भी पूरा ज्ञान नहीं। नीतिकार कहते हैं—

'चारैः पश्यन्ति राजानः'—

यानी—राजा अपने गुप्तचरों द्वारा निरन्तर राज्यकी गति विधियों को देखते रहते हैं। किन्तु मैंने तो अपना घर भी नहीं देखा। मैं कैसा राजा हूं? मैंने ललितांगको किसी सुगुरुके द्वारा सुशिक्षित गुणी नहीं बनाया और न उसको सन्मार्ग पर लगाने के उपायों को कभी सोचा, न उसको देवदर्शन आदि धार्मिक नियम सिखाये। इसी का परिणाम यह हुआ कि वह जैसी कुसंगति में रहा वैसा ही दुर्गुणी बन गया। नीच धूर्त लोगों ने इसकी संगतिका लाभ उठाया। इसको धूर्त बदमाश बनाकर वे अपनी गुण्डागर्दी से लाभ उठाते रहे। मनुष्य पर संगति का प्रभाव होता ही है। कहते हैं कि—

"काजल की कोठरी में कैसो हू सयानो जाय,
काजल की एक रेख लागि है पै लागि है"—

अर्थात्—कितना भी चतुर मनुष्य काजल की कोठरी में क्यों न घुसे किन्तु काजल का कुछ न कुछ धब्बा उसके कपड़ों पर लग ही जाता है। फिर यह ललितांग तो मूर्ख था, इस पर खोटी संगति का असर क्यों न होता?

यिनितुं मोहं केनूळी
तनमेलिंपिरिदुमेन्नोळुंटप्पुदरिं ।
दनियितिळेयिंदे नडस-
ळ्किनितादुदु शिक्षगेट्ट कारणदिंदं ॥८१॥

अर्थ–ललितांग कुमार में मैंने जितना मोह किया उसके परिणाम में आज मुझे उतनी ही अपकीर्ति मिल रही है। न केवल मेरी अपकीर्ति हो रही है बल्कि इसमें असीम दुर्गुण भी आ गये हैं। राजवंश का यह उत्तराधिकारी किस तरह अपनी प्रजा का पालन करेगा, कैसे उनके चारित्र की रक्षा करेगा ? जब कि यह स्वयं ही दुर्गुणों में फंसा हुआ है। जो संस्कार बचपन में डाले जाते हैं यौवन काल में वे ही पककर प्रगट होते हैं। छोटे पौधे की शाखा को चाहे जिस ओर मोड़ा जा सकता है किन्तु बड़े हो आने पर उसकी शाखाको किसी ओर नहीं झुका सकते। उसी तरह युवक लड़के को बाल्य-अवस्था के संस्कारों से छुड़ाकर दूसरी ओर ले जाना कठिन हो जाता है। माता पिता के संस्कार जन्मान्तर तक जाते हैं। जन्म भर तो छुटते ही नहीं।

कमदोडने कूडि पेर्चिद-
ससियुं शिन्तिसद मवक्कळनुं मानदे चिं- ।
तिसदोंदुं पलवं भा-
विसुतिर्पन तपमुमोप्पलार्कुमे कडेयोळ् ॥८२॥

अर्थ–साधारणतया संसार में यही होता है कि कचरे के साथ में मिला हुआ चावल भी कचरे के समान ही निष्किंचन हो जाता है। घूरे पर पड़े हुए उसमें यदि वर्षायोग से अंकुर भी निकल आवे तो उसकी ओर भी अपने चावलों के समूह से बिलग होने से लोगों की बुद्धि 'यह चावल है, ऐसी नहीं होती। कषाय के साथ कठोर तप भी महत्वशाली नहीं बन पाता। व्यर्थ होता है। यह संग और कुसंग का ही प्रभाव है। दुर्जन की संगति करने वाला सज्जन भी निन्दनीय और त्याज्य हो जाता है। इसी प्रकार अनीति के सम्पर्क से ललितांग भी पथच्युत हो गया है और आज उसके कारण हमें भी कीर्तिरहित होना पड़ रहा है। किन्तु इसमें उसका इतना दोष नहीं है, जितना हमारा है। यदि हम समय पर उसे राजकुमारोचित शिक्षा देते तो आज यह हमारा कुलदीपक होता।

किसी नीतिकार ने कहा है कि—

शिष्यं चैव च पुत्रं च ताडयेन्न तु लालयेत् ।
लालने बह्वो दोषास्ताडने बह्वो गुणाः ॥

अर्थात् शिष्य को और अपने पुत्र को ताड़ना देते रहना चाहिए, लाड़ प्यार में ही नहीं रखना चाहिये । क्योंकि उनको लाड़ प्यार करनेसे उनमें दोष पैदा होते हैं और ताड़ने का भय रहने से उनमें गुणों की वृद्धि होती है ।

आधुनिक शिक्षा, सभ्यता पर विचार—

भारत वर्ष में आज जितना शिक्षा का प्रचार है, शिक्षण पद्धति तथा शिक्षा का जितना अनुसन्धान हो रहा है, पूर्वकाल में इसका शतांश भी नहीं था । उस समय वर्ण-मर्यादा के अनुसार पैतृक-व्यवसायसे ही देश की समुन्नति अपने चरम शिखर पर थी । जो विद्याध्ययन करते थे उनके लिए बड़े-बड़े गुरुकुल थे, जहाँ पर रहकर ब्रह्मचारी नैष्ठिकविधि से अपनी शिक्षा प्राप्त करते थे । उनमें शिक्षा के साथ-साथ उत्तम चारित्र का विकास भी गुरुकुलों की शिक्षा प्रणालीसे स्वतः होता था । जब वे पढ़ लिखकर स्नातक होकर घरमें प्रवेश करते थे तब उनके शील से, चारित्र से, उनकी महान ज्ञान-सम्पत्ति से देश, समाज और धर्म कृतकृत्य हो उठता था । वे शिष्य अपने गुरुओं, आचार्योंके निकट बड़े विनय भावसे रहते थे और अपने माता-पिता तथा वृद्धजनों के लिए उनका मस्तक सदा विनम्र रहता था । किन्तु आज शिक्षा का प्रचार तो पहले से बहुत अधिक है, तदनुसार आशा तो यह होनी चाहिए कि उस काल से इस काल में शिक्षितों का समुदाय अधिक हो और राष्ट्र की चारित्रिक, धार्मिक और शैक्षणिक स्थिति पहले से कई गुणी अधिक उत्कृष्ट हो, किन्तु हम इस आशाके सर्वथा विपरीत देखते हैं ।

आज शिक्षा के नाम पर फैशन और बाहरी तड़क-भड़क को प्रमुखता दी जा रही है । अनुशासन के स्थान पर उद्दंडता का बोल-बाला है । विनय को तुच्छता (दीनता) समझा जाता है । नम्रता को उपहास की दृष्टि से देखा जाता है । सद्गुणों की श्री असद्गुणों के समुदाय में फीकी दिखाई देती है । इसका कारण है शिक्षा के क्षेत्र में तथा परिवार में उत्तम शिक्षकों तथा माता-पिताओं की योग्यता का अभाव । आज के माता-पिता अपने बालकों को स्कूल में भेजकर निश्चिन्त हो जाते हैं और समझने लगते हैं कि हमने अपने बालकों को मार्ग पर लगा दिया । यानी—अपना कर्तव्य पूरा कर दिया ।

इसी प्रकार उच्च कक्षाओं के अध्यापक वर्ग भी पढ़ाने आते हैं और नियमानुसार लेक्चर (व्याख्यान) देकर समझ लेते हैं कि हमारा कर्तव्य पूरा हो गया। इस तरह शिक्षकों और माता-पिताओं की उपेक्षावृत्ति के शिकार हुए आज के बालक किस प्रकार के बनकर, कितनी योग्यताको प्राप्त करके निकलते हैं, यह सब कुछ सामने साफ दिखाई दे रहा है। सभी विभागों में शिक्षित अधिकारी बैठे हैं फिर भी देश का नैतिक-स्तर अधोगति में जा रहा है।

यह किसका दोष माना जाय, उनकी विकृत शिक्षा का या उपेक्षा करने वाले माता-पिता का, या केवल व्याख्यान देकर कृतार्थ हो जाने वाले शिक्षकों का, अथवा उन सभी से कुछ भी ग्रहण न करने वाले शिक्षार्थियों का ? मेरा विचार है कि सभी क्षेत्रों के उन-उन व्यक्तियों का इसमें दोष है जिन-जिन क्षेत्रों में होकर नव-शिक्षार्थी को गुजरना पड़ा है। साधारण बेपढ़े माता-पिताओं की बात तो जाने दीजिए किन्तु वे सम्पन्न परिवार के लोग जो शिक्षित भी हैं, अपने बालकों के पालन पोषण की कला में निपुण नहीं हैं। उनके घरों में तो नौकर अथवा आया रहती हैं जिनकी गोद में, संगति में अवकाश न पाने वाले व्यस्त माता-पिताओं के बच्चे पलकर बड़े होते हैं, विशेषतया अवगुण प्रवेश कर जाते हैं। तुच्छ वर्ग के, साधारण वेतन-भोगी, अपढ़ तथा अनेक दुर्गुणों से कीलित वे नौकर उस कुलदीपक को भी उसी प्रकार अपनी ओर ढाल लेने का प्रयत्न करते हैं। वे उन बालकों के प्रति सहज अनुराग न होने से उनके हिस्से की उत्तम वस्तुओं को उनकी जानकारी के अभाव में स्वयं खा जाते हैं तथा उन्हें अपना उच्छिष्ट (जूठन) भी देते रहते हैं। उनके साथ रहने से बालक उसी प्रकार हीन-संस्कारी जाते हैं।

माता-पिता की इस उदासीन मनोवृत्ति के कारण बालक पर अपने वंश के स्वच्छ उच्च संस्कार नहीं आ पाते जिससे कालान्तर में वे अपने परिवार के अनुक्रम में आये हुए शील, शौच, धर्म आदि से अछूते रह जाते हैं। चारित्र-पतन की यह महामारी बालकों को उनकी उचित देखरेख के अभाव में ही त्रास देती है। अतएव समाज आज भीतर से खोखला हो रहा है और हमारे अपने ही घरों में अपनी ही परम्परा और आचार के प्रति अवज्ञा करने वाले पुत्र उत्पन्न हो रहे हैं। आहार में, विहार में, शिक्षा में, धर्मव्यवहार में, कोरे आज के बालक-बालिकाओं को धर्म के प्रति एवं सच्ची शिक्षा के प्रति जागरूक करना माता-पिता और अध्यापकों का, जिनके सम्पर्क में बालक अपनी संस्कार प्राप्त करने वाली अवस्था में रहता है, ध्यान देकर अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए। क्योंकि, बच्चे ही राष्ट्र की भावी निधि हैं, सम्पत्ति हैं।

बच्चे राष्ट्र की अमूल्य सम्पत्ति हैं—

जिस भवन को कई मंजिल ऊपर उठाना हो अथवा उसको ठोस स्थायित्व प्रदान करना हो तो उसकी नींव को मजबूत करना होता है। बिना नींव मजबूत किये वह भवन बालू की दीवाल के समान ढह कर गिर पड़ता है। वह स्वयं तो नष्ट होता ही है किन्तु उसके साथ अपने नीचे रहने वालों को भी नष्ट कर देता है। यही स्थिति बालकों के लिए भी लागू होती है।

बच्चे की जितनी सावधानी से देखभाल की जावेगी वह उतना ही गुणवान् बनेगा और अपना तथा समाज का ही नहीं विश्व का कल्याण करने में समर्थ होगा। पड़ोसी की फुलवारी की सुगन्धि उसके पड़ोस में रहने वालों के घर तक भी जाती है। उस सुगन्धि के उपभोग में केवल उसके लगाने वाले माली का ही हिस्सा नहीं होता। इसी प्रकार सुपुत्र केवल अपने कुल का ही दीपक नहीं होता किन्तु वह समाज, धर्म और देश का भी उपकारक होता है। यदि शिक्षण के प्रभाव की तुलना की जावे तो प्राचीन बालक, जिन्होंने ऋषियों के पास रह कर गुरुजनों की सन्निधि में निवास कर जैसी शिक्षा पाई थी और लोक में आज भी जिसके प्रभाव से उनका नाम अंकित है, आज की शिक्षण पद्धति में पले हुए बालकों से श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं।

इस कोटि में विचार करने पर भरत चक्रवर्ती, राम, कृष्ण, वीरनायक हनुमान इत्यादि की एक तेजस्विनी पंक्ति हमारी आंखों के सम्मुख उपस्थित हो जाती है। जिसका गुण-गान आज भी भारत के घर-घर में किया जाता है। उन्होंने धर्म-अर्थ-काम इन तीनों पुरुषार्थों का प्रभाव प्रजा पर डालते हुए स्वयं मोक्ष का मार्ग प्रशस्त किया है। ऐसे महापुरुष इस पवित्र भारतवर्ष में धर्म स्थापना करने के लिए और मानवता का प्रचार करने के लिए ही उत्पन्न होते हैं और अपने चारित्र से इस पवित्र भूमि को धन्य करते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय को उत्पन्न करने वाली यह वसुन्धरा सचमुच रत्नों की खान है। इसी प्रकार बालिकाओं, स्त्रियों की उज्ज्वल परम्परा का इतिहास है। सीता, अंजना, सावित्री जैसी आर्य-ललनाएं जिनकी कीर्ति आज भी श्रद्धा के साथ स्मरण की जाती है और जिनके चरित्र के समान चरित्र पालन करने की शिक्षा माता-पिता अपनी कन्याओं को देते हैं, वे भी इसी आर्यदेश की सन्तान थीं। इस प्रसंग में कालिदास का वह श्लोक जो कण्व के मुख से शकुन्तला को पति के घर जाते समय दिया गया था, स्मरणीय है—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने,
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी,
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥

अर्थ—कण्व शकुन्तला को विदा करते समय उसे कहते हैं कि हे पुत्रि, तुम गुरुजनों को, सास-ससुर की सेवा करना, अपनी जो सौत हों, उनके प्रति भी प्रिय सखियों के समान व्यवहार करना, कभी पतिदेव तुम्हें डांट दें, तो रोष नहीं करना, न ही विरुद्ध चलना, जो तुम्हारे परिजन, सेवकादि हों उनके प्रति तुम सदैव दाक्षिण्यपूर्ण व्यवहार करना, दया रखना, और हे पुत्रि, अपने सौभाग्य पर कभी गर्व नहीं करना, निरभिमान तथा विनीत रहना, इस प्रकार का जो चारित्र पालन करती हैं, वे स्त्रियां सदैव कुशल गृहिणी के रूप में श्वसुरालय में आदर-मान पाती हैं और जो इससे विपरीत चलती हैं, वे कुल के लिए मानसिक पीड़ा देने वाली होती हैं।

इस प्रकार की शिक्षा लेकर जो लड़कियां श्वसुरालय में पहुँचती थीं, उनके स्वभाव और व्यवहार से वहां का वातावरण सुगन्धित, हर्षमय, सरस हो उठता था और उनकी कोख से लोक को कल्याण मार्ग पर चलाने वाले पुत्र-रत्न उत्पन्न होते थे। किन्तु जो स्त्रियां गृहस्थ-जीवनमें विपरीत आचरण करती हैं; वे स्वयं अपने को तथा अपने कुटुम्ब को भी आधि व्याधियों में फंसा देती हैं। बालकों का समुचित विकास न होने में स्त्रियों का चरित्र भी मूल कारण है। क्योंकि, बालक की प्रथम शिक्षा मां को गोद में ही होती है। मां ही उसकी प्रथम गुरु है। योग्य सन्तानके निर्माण में पिता का दूसरा स्थान है। क्योंकि मां की गोद से वह पिता की गोद में आता है। पिता उसे अपने वंश के अनुरूप शिक्षा से, आचार से तथा धर्म से अलंकृत करने के लिए गुरुओं के चरणों में समर्पित करता है। भगवान् वृषभदेव ने अपने पुत्र के लिए कामना की थी—

रथेनास्तोद्घातस्तिमितगतिना तीर्णजलधिः,
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः ।
इहायं सत्वानां प्रसभदमनात् सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्यां भरत इति लोकस्य भरणात् ॥

अर्थ—मेरा पुत्र चक्रवर्ती सम्राट बने, बाधा रहित रथ में बैठकर समुद्र पर्यन्त मेदिनी को विजय करे। अप्रतिरथ (जिसका सामना करने वाला कोई न हो) होकर सातों द्वीप वाली इस पृथ्वी को जीते और सत्ताधारियों (राजाओं) को अपने बल-पराक्रम से दमित करके गुणानुरूप ही 'सर्वदमन' इस नाम को प्राप्त हो। तथा लोकका भरण-पोषण करनेसे 'भरत' इस प्रकार नाम से विश्रुत हो।

यदि राष्ट्र को फिर उसी पुरातन सद्भावना-कलित उन्नत संस्कृति पर प्रतिष्ठित करना है तो माताओं और पिताओं को अपने पूर्व समय में सन्तान के लिये दिये जाने वाले उन्हीं उच्च उपदेशों को स्मरण करना होगा अपनी सन्तान के हृदय में उन्हें उतारना होगा। नहीं तो पश्चिम की यह आंधी उन्हें किस ओर उड़ा ले जाएगी, इसका अनुमान करना कठिन है।

वर्तमान सहशिक्षापद्धति—

इस समय देश में सहशिक्षा की धूम है और नारी के समानाधिकार के नाम पर स्त्रियों को समान अवसर दिये जा रहे हैं। वे सभी क्षेत्रों में पुरुषों के साथ और कहीं-कहीं तो उनसे भी आगे बढ़ कर आ रही हैं। प्राचीन काल की वे स्त्रियां जो पर्दे में रहती थीं और घर की देहली से बाहर नहीं निकलती थीं, उनको आज की शिक्षित महिलाएँ सम्मान देना अपनी शिक्षा का अपमान समझती हैं। क्या सीता बी० ए० पास थी, क्या अंजना ने किसी विश्वविद्यालय का डिप्लोमा प्राप्त किया था? यदि नहीं किया, तो आज को गाउन पहन कर दीक्षान्त समारोहों में डिग्रियां प्राप्त करने वाली स्त्रियां या लड़कियां उनके स्तर से अपने आप को ऊंचा तथा सुसंस्कृत सुशिक्षित मानें तो किस आधार पर? वे तो केवल चौका-चूल्हा सम्भालने वाली थीं। या सन्तान को उत्पन्न कर उसी के लालन-पालन में लगी हुई थीं, केवल पति के चरणों में अपना जीवन न्यौछावर करनेवाली थीं उनकी संकुचित दुनियां थी और आज की स्त्रियों के सामने तो जीवन के बहुमुखी क्षेत्र खुले हुए हैं। वह पुरुषों के योग्य उचित शिक्षा भी प्राप्त करने का समान अवसर प्राप्त करती हैं और विश्वविद्यालयों में लड़कों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर मार्चपास्ट करती हैं, पढ़ती हैं। माता-पिता तथा शिक्षकों को उनके डिप्लोमा लेने में सन्तोष अनुभव होता है। किन्तु मानव का यह जीवन केवल बाहरी शिक्षा दीक्षा के लिए नहीं है। इसमें आत्मा को तथा चारित्र की दुनिया जान लेना ही महान् लाभ माना जाता है। हमारे ऋषियों और मुनियों ने निरन्तर इसी बात पर बल दिया है कि हमारे घरों का वातावरण

धर्म, संस्कृति और सदाचार से फला-फूला रहना चाहिए। बिना चारित्र-विकास के जीवन निरर्थक है। इस रूप में आज की नारी का जीवन प्राचीन नारी के सामने प्रभात के समय अस्त हो जाने वाले दीपकों या तारों के समान है। उनकी कान्ति से सूर्योदय होता है तो आज की ललनाओं की प्रभा ब्रह्मचर्य के अभाव में कृत्रिम पफ, पाउडर लगा-कर भी कान्ति लाभ नहीं करती। उन्होंने भगवान् वृषभदेव भरत चक्रवर्ती, नेमिनाथ, कृष्ण, बलभद्र, पार्श्वना ', महावीर, लक्ष्मण, महाबली हनुमान् आदि को जन्म दिया, जिनका यश सदा बना रहेगा।

यदि राष्ट्र को फिर उस प्रकार के उज्ज्वल रत्न देने हों तो उनकी प्रसविनी माताओं को सीता, सावित्री, अंजना, दमयन्ती आदि माताओं का अनुकरण करना होगा। आज जो सहशिक्षा प्रचलित है, उसी के परिणाम-स्वरूप अन्तर्जातीयविवाह, न्यायालयानुमोदित दाम्पत्य, भक्ष्याभक्ष्य विचार-हीनता, धर्म के प्रति अनास्था, भौतिक जीवन के प्रति अत्यन्त मोह, वैषयिक जीवन, कामुकता, लम्पटता की वृद्धि हो रही है। विद्याभ्यास के समय ही बालक-बालिकाओं में ये कुसंस्कार आ जाते हैं। प्राचीन समय में शील संस्कार को महत्व दिया जाता था। इस प्रसंग में रामायण का वह श्लोक स्मरणीय है, जिसमें रामचन्द्र जब लक्ष्मण को सीता के पड़े हुए आभूषणों को पहचानने के लिए कहते हैं तब लक्ष्मण उनको उत्तर देते हैं–

> नाहं जानामि केयूरे नैव जानामि कुण्डले।
> नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ॥

अर्थात् मैं सीता के मस्तक के तथा कानों के आभूषणों को नहीं पहचानता। मैं तो उनके पैरों के नूपुरों को जानता हूं, क्योंकि प्रतिदिन प्रणाम करते समय मुझे उनकी झलक दिखाई देती रहती थी।

यह कितना ऊंचा जीवन है ? क्या आज के देवर-भाभी इस श्लोक को हृदयंगम कर अपने प्राचीन मर्यादित पारिवारिक जीवन को स्मरण कर अपनी निर्मल दृष्टि बनावेंगे।

अतः वे माता-पिता जो अब तक यह समझने की भूल कर रहे हैं कि वे अपने पुत्रों और पुत्रियों के लिये अपने कर्तव्य को निभाते हैं, उन्हें विदित हो गया होगा कि वे वस्तुतः अपना कर्तव्य पर्याप्त रूप में पालन नहीं कर रहे हैं। किन्तु क्योंकि आधुनिक कालेजों और स्कूलों में लौकिक शिक्षा के साथ-साथ धार्मिक शिक्षा नहीं दी जाती,

अतएव माता-पिता को अधिक सावधान होकर इस विषय पर ध्यान देना चाहिए। चारित्र-नाश के दुष्परिणाम को यदि नहीं रोका गया तो कालान्तर में वह सारे राष्ट्र को भुगतना पड़ेगा। अतः समय रहते माता-पिताओं को अपनी सन्तान को धार्मिक शिक्षा देने का उपाय करना चाहिए। देवदर्शन, गुरुदर्शन तथा शील-सदाचार का आचरण उनके आवश्यक दैनिक कार्यों में सम्मिलित कर देना उचित है। तभी उच्चकोटि के पुरुष होंगे तथा शीलवती नारियों की सत्ता अक्षुण्ण रह सकेगी। यदि घर का सदाचारी वातावरण तथा धार्मिक शिक्षा बनी रही तो वे कालेजों और स्कूलो में धार्मिक शिक्षा के न दिये जाने पर भी धर्मच्युत नहीं होंगे और चारित्रवान् नागरिक बनेंगे। देश को आध्यात्मिक संपत्ति इससे उच्छिन्न नहीं होगी और उसका अभ्युदय तथा निःश्रेयसका मार्ग सदा खुला रहेगा।

स्त्रियां इस समय की शिक्षा से शृङ्गारप्रिय तथा निरन्तर पुरुषों के समान घर से बाहर घूमने फिरने, जीविका चलानेकी ओर अधिक व्याकुल दीख रही हैं। यह गृहव्यवस्था के लिए शुभ शकुन नहीं है। घर की व्यवस्था और बाहर की व्यवस्था दो विभिन्न क्षेत्र हैं जिन पर परम्परा से पति-पत्नी समझौते के साथ चलते आये हैं। किन्तु आज तो पति के साथ पत्नी भी बाहर रहने लगी है। दोनों ही धन-उपार्जन की दौड़ में एक दूसरे से आगे निकल जाना चाहते हैं। किन्तु ऐसे परिवारों में भी घर की व्यवस्था के लिये किसी न किसी को रखना ही पड़ता है, जो पीछे से बाल-बच्चों की तथा घर को, चौका-चूल्हा की व्यवस्था देख सके। वे वेतनभोगी घर को घर नहीं रख सकते, वे घर को होटल बना देते हैं। बालक-बालिकायें भी उनके संग में रहकर जैसा कि कहा जा चुका है, हीनसंस्कार के हो जाते हैं। समय रहते इस ओर से सावधान हो जाना चाहिए।

अश्लीलता का त्याग

ब्रह्मचर्यावस्था में शृङ्गार का निषेध रखने से तन और मन दोनों ही पवित्र रहते हैं तथा शृङ्गार में जो समय व्यर्थ चला जाता है उसे विद्याध्ययन में लगाया जाकर अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है। इसके विपरीत शृङ्गार में लगे रहने से उनकी बुद्धि पर अनजाने ही कामुकता के संस्कार आ जाते हैं और पता भी नहीं चलता। जब पता चलता है तब तक बहुत देर हो चुकती है और वे कुसंस्कारों के घेरे में दूर तक फंस चुके होते हैं। अतः विनय, सेवा, संयम, शिष्टाचार का उपदेश उनके जीवन में प्रारम्भ से ही संक्रान्त करना चाहिए। और विद्याभ्यास में ही सारा समय लगाया जा सके, इसके लिए सादा जीवन तथा उच्च विचारों को अपनाना चाहिए। विद्यार्थी के लिए तो सच्चा शृङ्गार

उसकी विद्या ही है । कहा भी है कि—

विद्या नाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्नगुप्तं धनं,
विद्या भोगकरी यशःसुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः ।
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परा देवता,
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः ॥

अर्थात् विद्या ही मनुष्य का अनुपम शृङ्गार है, वही उसका गुप्त धन है, विद्या ही समस्त भोग सुखों को देने वाली है, विद्या ही गुरुओं का परम गुरु है । विद्या विदेश यात्रा में बन्धुजन है, विद्या ही परम देवता है । विद्या ही राजाओं में पूजी जाती है, धन नहीं, जो विद्या से विहीन है, वह पशु ही है ।

माता पिता की सेवा

बालकों के लिए अपने माता-पिता की सेवा करना प्रथम कर्तव्य है । सेवा करने का पहला पाठ उसे घर में ही मिलता है । यदि वह माता-पिता को पूजता है तो कालान्तर में गुरु और देव के प्रति भी भक्तिमान् हो सकता है । किन्तु जो घरमें ही कभी माता-पिता के चरण स्पर्श नहीं करता, वह बाहर निकल कर गुरु तथा देव के चरणों में किस प्रकार भक्ति रख सकेगा । माता-पिता को वृद्ध जानकर उनके प्रति सेवाभाव न रखना उनकी जर्जर देह से उपेक्षा रखना तथा उनकी अगाध ममता और वात्सल्य को विसरा देना किसी प्रकार भी किसी भी पुत्र के लिए शोभन नहीं कहा जा सकता । कहा भी है कि—

पितरौ विकलौ दीनो वृद्धौ दुःखितमानसौ ।
महागदेन सन्तप्तौ परित्यजति पापधीः ॥
स पुत्रो नरकं याति दारुणं कृमिसंकुलम् ।
वृद्धाभ्यां यः समाहूतो गुरूभ्यामिह साम्प्रतम् ॥
न प्रयाति सुतो भूत्वा तस्य पापं वदाम्यहम् ।
विष्ठायां जायते मूढः कृमिश्च ग्रामशूकरः ॥
पुनः जन्मसहस्रेभ्यः श्वयोनावभिजायते ।
पितरौ कुत्सितैः पुत्रः कटुकैर्वचनैरपि ॥
स च पापी भवेद् व्याघ्रः पश्चाद् ऋक्षः प्रजायते ।
मातरं पितरं चापि न नमस्यति पापधीः ॥

अर्थ—यदि माता-पिता वृद्ध हैं, अंगों से लाचार हैं, दीन हैं, मन में किसी प्रकार से दुःख का अनुभव कर रहे हैं, किसी महारोग से पीड़ित हैं, उनका जो पुत्र परित्याग कर देता है, वह पापात्मा पापबुद्धि कहा जाता है। ऐसा पुत्र मरने पर नरक में जाता है, जिसमें अनन्त कृमि भरे हुए हैं। जो वृद्धजनों के बुलाने पर भी नहीं आता उसके पापों का वर्णन मैं करता हूँ। वह मूढ विष्ठा में कृमि होता है। तथा ग्राम-शूकर बनता है। तथा वह व्यक्ति कुत्ते की योनिमें हजारों वार जन्म लेता है। जो पुत्र कटुक वचनोंसे माता-पिता का तिरस्कार करता है, अपने माता-पिता को प्रणाम नहीं करता; वह पापी बाघ की योनिमें जन्म लेता है। इसके अनन्तर रीछ होता है।

मत्तं पुत्रं च शिष्यं च ताडयेन्न तु लालयेत्, एवं पूर्वाचार्योक्तियं कैकोळ्ळदे मोहदाकेवोतियादळेंबंते मगनंकिरियंदिं तोडगि शिक्षिसदिदु दरिनितायूतेंदरसं तलेयं तूगि बेरळं मिडिदुललितांगनं वरिसिंमुदे कुळि्ळरिसि बळिक्कर्मितेदं ॥८३॥

अर्थ—राजा अरिमथन ने सोचा कि पूर्व आचार्यों का वचन है कि अपने पुत्र तथा शिष्य को सद्‌गुण सिखाने के लिए ताड़ना देते रहो, केवल लाड़ प्यार में ही न रक्खो, किन्तु मैंने मोहवश इस नीति पर ध्यान नहीं दिया। इस कारण मेरा पुत्र शिक्षा और सद्‌गुण प्राप्त न कर सका। अब इसे सुधारना चाहिये।

इस प्रकार विचार करके राजा अरिमथन ने बड़े प्रेम से कुमार ललितांग को बुलाया और उसको अपने पास स्नेह से बैठाया। उसे पुचकारा। फिर उसको मधुर सम्बोधन देते हुए कहने लगा—

धरेयं रक्षिसि दुष्टरं जडिदु सद्धर्मंगळं कायूदुत
स्करं वारिसि कष्टरं केडिसि दंडगोंडु मिंडर्कळं।
भरदिं बंधिसि शिष्टरिष्टफलमं संतोषदिं दत्तुधू
र्तर बेरं नेरे किळतु पालिपुदु धात्रिचक्रमं क्षत्रियं ॥८४॥

अर्थ—हे राजकुमार ललितांग ! राजा और शासनकी एक नीति होती है जिसके आधार पर राज्य-संचालन किया जाता है। राजा यदि नीतिमान् होता है तो प्रजा भी नीतिमान् हो जाती है और यदि राजा अनीतिमान् होता है तो प्रजा में भी अनीति, दुराचार और

बुरी बातें प्रवेश कर जाती हैं। कहा है कि–

'यथा राजा तथा प्रजा'

यानी–जिस प्रकार राजा होगा उसी प्रकार की उसकी प्रजा हो जावेगी। राजा का इस लिए कर्तव्य-भार और भी गुरुतर हो जाता है। वह चाहता है कि मेरी प्रजा में धर्म की वृद्धि हो और न्याय नीति बढ़ती रहे। शिष्टाचार की बढ़ोतरी होती रहे। यही राजा का तथा राजकुमार का कर्तव्य है। किन्तु तुम इस ओर से उदासीन हो तथा राजधर्म को क्षति पहुँचाने वाले कार्यों में लगे रहते हो। क्या तुम मेरे पुत्र नहीं? क्या मेरी अपकीर्ति में तुम्हें सुख मिलता है? क्या कुलदीपक का यही कर्तव्य है जिसे तुम निवाह रहे हो? जब घर में ही कोई मर्यादा का उल्लंघन करने वाला हो तो बाहर हम किस आदर्श की स्थापना कर सकते हैं? तुमको क्या उचित नहीं है कि मेरे सत्कार्यों में सहायता देकर राज्य को उन्नति के शिखर पर पहुँचाओ तथा ऐसा चमत्कार उत्पन्न करो कि बाहर से आने वाले इसकी समुन्नति को देखकर चकित रह जावें तथा प्रशंसा करें, न कि इसकी पतित अवस्था को देखकर हंसें, ताली पीटें। तुम तो मेरे ही घर में रहकर घर को आग लगाने-जैसा कार्य करते रहते हो। हमें राजधर्म की गुरुता और उसके उन्नत-स्वरूप को देखते हुए उसकी रक्षा करनी चाहिए तथा प्रजा को उनकी मान-मर्यादा तथा धर्म एवं उसके व्यवसाय में क्षति नहीं पहुंचानी चाहिए। इस समय प्रजा प्रकुपित है और धूर्तों से त्रस्त है। खेद की बात तो यह है कि उन चोर, लुटेरों में तुम भी सम्मिलित हो गये हो। राजकुमारों का तो यह कर्तव्य है कि वे प्रजा को दुख देने वालों को नष्ट कर प्रजा को सुख प्रदान करें। शिष्ट कुलीन प्रजाजनों को सुरक्षित तथा प्रसन्न रखने से ही राजा का राज्य चल सकता है। पृथ्वी को पालन करने वाले क्षत्रिय का यही धर्म है।

कालिदास ने कहा है कि–

क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः, क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।

अर्थात् प्रजा को क्षत से–पीडा से जो बचावे वही क्षत्रिय है और इसी अर्थ में सारे भुवनों में क्षत्रिय की कीर्ति फैली हुई है। यदि ऐसा नहीं करता तो वह वास्तविक क्षात्रधर्म का पालन नहीं करता है।

सिसुवं तायूसुरसौख्यमं बयसुमं चारित्रमं शीलमं
वसुवं तां बिडदर्थलोभि ससियं शूद्रंतळारं समं।

तोसेदूरं गुणमं महापुरुषरोळूपं शौचि केलेंतुर
च्चितिसुवं मोहदिनंते रक्षिपुदु धात्रिचक्रक्षत्रियं ॥८५॥

अर्थ—हे राजकुमार ! जिस प्रकार छोटे शिशुको माता सुख पहुँचाने को इच्छा करती है और निरन्तर उसके शील और चारित्र की समुन्नति का विचार रखती है, उसे कुसंगति से बचाने की चेष्टा रखतो है, तथा जिस प्रकार लोभी मनुष्य अपनी सम्पत्ति को सम्भाल कर रखता है, उसी प्रकार माता उस बच्चेकी रक्षा करती है, धर्मके प्रति प्रेम करना सिखाती है, जिस प्रकार चन्द्रमा की अमृत औषधिसे अंकुर पल्लवित होते रहते हैं, उसी प्रकार उसका पोषण करती है, जिस प्रकार प्रजा को सुख सुविधा देने के लिए कोटपाल रात में पहरा लगाता है उसी प्रकार माता शिशु को सम्भालती है । महापुरुष कलंकित जनों से सदैव दूर रहते हैं, शुद्धता को नहीं छोड़ते वैसे तुम भी लोकरक्षार्थ राजा के समान प्रजा को अपना ही समझो तथा उसके पालन में योग दान करो । यही अच्छे क्षत्रियों का धर्म है ।

शशिकिरणगळेंतु कुमुदाळिगळं रविरश्मियेंतुरं
जिसुव सहस्रपत्रनिकुरम्बनोप्पललर्त्ति डाडे सं-
तसमने माळूपुवंते खळरेंतुदुदनेन्नदे तन्नभूमिगं
मिसुपवचोंशुवि मुदमनोप्पिरे माळूपुदुधारिणीश्वरं ॥८६॥

जिस प्रकार चन्द्रमा से कुमुदिनी खिल उठती है, जिस प्रकार कमल सूर्य की किरणों से प्रफुल्लित हो जाता है, वह कमल दर्शकों को भी मुग्ध कर देता है, उसी प्रकार किसी के प्रति अनुचित प्रक्षपात न करने वाले राजा को देखकर सारी प्रजा प्रसन्नता अनुभव करती रहती है । अनेक प्रकार के दुष्टों का नाश करके तथा साधु पुरुषों को राज्य में बसा कर राज्य को स्वर्ग के समान करना ही राजा का राजधर्म है, न कि उसमें बसने वाले साधु-पुरुषों को त्रस्त करके उनको निर्वासित कर देना राजा का धर्म है । राज्य की व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि उसे देखने के लिए दूर-दूर से आये हुओं का मन उसे देखकर कमल के समान खिल जावे, न कि उसे देखकर विषाद हो । प्रजाको धर्म-मार्ग पर प्रेरित करना, अधर्म के प्रचार को नष्ट करना, धार्मिकों की रक्षा करना तथा दुर्जनों को उनके अपराध पर दण्ड देना राजा का प्रथम धर्म है । राजा का यह धर्म नहीं है कि जिस प्रजा से वह कर वसूल करता है वह दुःख के भंवर में डूबती-उतराती रहे और वह सुखोपभोग में लीन होकर उसकी ओर तनिक भी ध्यान भी न दे ।

नयमुळ्ळुदरिं चन्द्रो-
दयदोळ् वेळगुवुवु तारे सूर्यदयदोळ् ।
भयदिं दं दृश्यमप्पुवु-
नियतं केळ्मगने तीव्रतेयनेयूदुवरे ॥८७॥

अर्थ—हे राजकुमार, जिस प्रकार आकाश में चन्द्रमा के प्रकाश में तारागण शोभित होते हैं और जिस प्रकार तारों के समुदाय से चन्द्रमा शोभायमान होता है, उसी प्रकार राजा और प्रजा मिल कर आपस में शोभा को प्राप्त होते हैं। और सूर्य उदय होने पर वे तारे कान्तिहीन हो जाते हैं उसी प्रकार राजा जब प्रजा का पालन करने में निस्तेज हो जाता है तब राज्य में विप्लव, क्रान्ति तथा विरोध उठ खड़े होते हैं। जिनका शमन करना कठिन हो जाता है। कहा है कि—

'दुर्भिक्षं मरणं भयम्'

यानी—राजा के निर्बल होने पर अकाल पड़ता है, महामारी आ जाती है या किसी अन्य राजा का भय राज्य पर छा जाता है। इसलिए तुम नीतिमान् होकर दुर्नीतियों को छोड़ दो।

एळिदर पुयूयलं करे-
दाळोचिसितिर्दि सैतसंबडिसदेव ।
ल्लाळप्पर कोर्वं जडि-
दाळायंगेयूदु केडसिदं नृपसुतने ॥८८॥

अर्थ—हे राजकुमार ! देखो, जो हो गया सो हो गया, नीति शास्त्र कहता है—

'गतं न शोचामि'

यानी—जो चला गया उसका सोच करना व्यर्थ है। ऐसा मानना चाहिए कि वह अज्ञान से होगया। किन्तु अब उसको दुहराना नहीं चाहिए। यदि प्रजा को शान्ति नहीं मिलेगी तो वह विरोध करने के लिए उद्यत हो जायगी। प्रजा का विरोध उठ खड़ा होने पर राज्यशासन नहीं चल सकता। तुमने अपनी दुराचार प्रवृत्ति से अनेक सज्जनों को कष्ट दिया है। तुम्हारे दुराचरण से प्रजा क्षुब्ध है, अतः विप्लव भी हो सकता है।

एंबी राजनीतियं नीनरियदे ळोविसरद् मेलेबंडिपरिदंते पोळलेल्लमं
निर्वाळिवट्टमं माडिदेयादोडेनायूतु पोदुदिं पोगलिपेरगणि सलागदु मुंदगगे ८६

अर्थ—हे पुत्र ! तुम इस राजनीति को नहीं जानते, इसी लिए जिस प्रकार कोई घृतकुमारी ('गंवारपाठा' नामक चिकने गूदे वाली फली) के ऊपर रथ चलाना चाहे तो रथ उसकी चिकनाई से फिसल जाता है, और रथका नाश कर लेता है। उसी प्रकार तुमने भी अपने अज्ञान से कुमार्ग पर चल कर अपना अधःपतन कर लिया। किन्तु जो हो चुका, उसका पछतावा न करके तुम प्रतिज्ञा करो कि अब से ऐसा न करोगे।

इंदु मोद्लागे नीं सो-
किंद् पोळलोळगे केळबाधेगळंदू- ।
तिंद् माडिदे यप्पोडे
कंदा कडुमुनिवेनेनगे नीं मगनल्लय् ॥६०॥

अर्थ—हे कुमार, आज तुम प्रतिज्ञा करके कहो कि किसी प्रकार की अनीति, अथवा दुराचार प्रजा में नहीं करोगे। दूर देहातों में तथा नगर में किसी प्रकार का दुष्कर्म नहीं करोगे। यदि तुम अनीति दुष्कर्म करोगे तो मैं तुम्हें राजकुमार नहीं मानूंगा तथा तुम्हारा त्याग कर दूंगा। न केवल इतना ही बल्कि तुम्हारे अपराधों के लिए दण्ड की व्यवस्था भी करूंगा। तुम्हें देश से निर्वासित (बाहर) कर दिया जाएगा।

(विशेषार्थ) संक्षेप में राजनीति—

धर्मशीलः सदा न्यायी पात्रे त्यागी गुणादरः ।
प्रजानुरागसम्पन्नश्चिरं नन्दति राजकृत् ॥

अर्थ—जो राजा धर्मशील है, सदा न्याय का आचरण करता है, सुपात्र को दान देता है, गुणों का आदर करता है, तथा प्रजा में अनुराग करता है अथवा प्रजा जिसे प्यार करती है, वह राज्य करने वाला चिरकाल तक आनन्द भोग करता है।

दुष्टस्य दण्डः सुजनस्य पूजा,
न्यायेन कोषस्य च सम्प्रवृद्धिः ।
अपक्षपातोऽर्थिषु राजरक्षा,
पंचैव यज्ञाः कथिता नृपाणाम् ॥

अर्थ–दुष्टों को दण्ड देना, सज्जनों का सम्मान करना, न्यायमार्ग से कोष (खजाने) की वृद्धि करना, पक्षपात नहीं रखना, जो न्याय या रक्षा की याचना करें उनकी रक्षा करना यानी–सब तरह से राज्य की रक्षा करना, ये राजाओंके पांच प्रकारके यज्ञ हैं। इन्हें राज्य की कुशल-क्षेम चाहने वाले राजा को नहीं भूलना चाहिए।

राज्यं निःसचिवं गतप्रहरणं सैन्यं विनेत्रं मुखम्
वर्षा निर्जलदा धनी च कृपणो भोज्यं यथाज्यं विना।
दुःशीला गृहिणी सुहृत् निकृतिमान् राजा प्रतापोज्झितः
शिष्यो भक्तिविवर्जितो नहि विना धर्मं नरः शस्यते ॥

अर्थ–विना मन्त्री का राज्य, शस्त्रायुधों से रहित सेना, नेत्ररहित मुख, पानी न बरसाने वाले बादल, कंजूस धनिक, विना घृत का रूखा भोजन, चारित्र-पतित यानी–कुशील भार्या, छल कपट करने वाला मित्र, प्रताप से रहित राजा, एवं भक्ति न रखने वाला शिष्य और धर्म रहित मनुष्य शोभा प्राप्त नहीं करते।

प्रशस्त राजा के लक्षण–

यस्तेजस्वी यशस्वी शरणगतजनत्राणकर्ता प्रवीणः,
शास्ता शश्वत् खलानां क्षतरिपुनिवहः पालकश्च प्रजानाम्।
दाता भोक्ता विवेकी नयपथपथिकः सुप्रतिज्ञः कृतज्ञः,
प्राज्यं राजा स राज्यं प्रथयति पृथिवीमण्डलेऽखण्डिताज्ञः ॥

अर्थ–जो तेजस्वी हो, यशस्वी हो, शरण में आने वाले मनुष्यों की रक्षा करने वाला हो, प्रवीण हो, दुष्टों का निरन्तर शासन (दमन) करता हो, विरोधी राजाओं को नष्ट करने में समर्थ हो, प्रजा की रक्षा करने वाला हो, दानवीर हो, धन का समुचित भोग करता हो, विवेक रखता हो, नीति के मार्ग का अनुसरण करने वाला हो, जिसकी प्रतिज्ञाएं किसी अच्छे उद्देश्य के लिए होती हों, जो किये हुए उपकार को कभी भूले नहीं, वह राजा पृथिवी मण्डल पर अखंडित आज्ञा करने वाला होता है तथा अपने धन-धान्य से समृद्ध राज्य का विस्तार करता है।

जिस प्रकार गोपालक आलस्यरहित होकर आश्रित गायों की रक्षा करता है, उसी प्रकार राजा को भी राज्य की समृद्धि के लिए दूध के समान कर देने वाली अपनी प्रजा का पालन करने में प्रमाद तथा उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। यदि गायों के समूह में कोई गाय अपराध भी कर देती है तो भी गोपालक उसे कठोर दण्ड न देकर अनुरूप दण्ड से

नियन्त्रण में रखने की भावना रखता है उसी प्रकार राजा को भी अपनी प्रजा के अपराधों का सामान्य दण्ड देकर उसे अनुशासित करने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि उग्र दण्ड देने वाला राजा प्रजा को अधिक उद्विग्न कर देता है, जिससे प्रजा भयभीत होकर उसका राज्य त्याग करने की सोचने लगती है। ग्वाला अपनी गायों के समूह की समुचित रक्षा करने से निरन्तर बढ़ती हुई गायों से सम्पन्न होता जाता है, उसी प्रकार प्रजा का संरक्षण करने वाला राजा भी निरन्तर राज्य के समृद्धियुक्त विस्तार को प्राप्त करता है। श्रेष्ठ राजा न्याय नीति-बल-सम्पन्न होने से अधिकाधिक भूमि पर अधिकार करने में समर्थ हो सकता है। यदि किसी ग्वाले की कोई गाय बीमार हो जावे या किसी का अंग भंग हो जाए तो वह उसे एक स्थान पर बांध कर सुख पहुँचाता है, उसके लिए घास की व्यवस्था करता है, उसी प्रकार प्रजा में जो दीन, दुर्बल, दुःखी हों उनके लिये राजा का कर्तव्य है कि वह उनका उचित पालन पोषण करे, उन्हें निकम्मा जान कर उनकी ओर से उपेक्षा न करे। राजा को चाहिए कि वह घायल योद्धाओं को समुचित विश्राम दे और उनकी चिकित्सा की व्यवस्था करे। जब वह वीर स्वस्थ हो जावे तब उसकी उचित आजीविका का प्रबन्ध करे। ऐसा करने से उसको पुण्यफल मिलता है तथा उसके कर्तव्य पालन का पक्ष प्रबल होता है। ऐसा करने में अन्य सैनिकों के मानस में भी इसी प्रकार राजा के प्रति भक्तिभाव उत्पन्न होता है। जिस सेवानिवृत्त सैनिकको सुखजीविका नहीं मिलती और वह आजीविका से कष्ट पाता है तो उसके मनमें निराशा आ जाती है। उसकी निराशा देखकर अन्य सैनिकों तथा कर्मचारियों के मनमें भी आकुलता पैदा हो जाती है। राजा को चाहिए कि वह अपने सेवकों को निराश न करे और अपनी प्रजा के सुखों में किसी प्रकार क्षति न आने दे। जिससे प्रजा निर्भय होकर अपना व्यापार तथा खेती-बाड़ी आदि कर सके।

जिस प्रकार ग्वाला अपनी गायों के झुण्ड में किसी उत्तम सांड को या भार ढोने वाले बैल को और अधिक बलवान बनाने के लिए अच्छा चारा देता है उसी प्रकार राजा को भी अपने आश्रितों की योग्यता को देखकर उनकी पदवृद्धि करना चाहिए तथा धन, भूमि, आजीविका देकर उसको तथा उसके कुटुम्बियों को प्रफुल्लित रखना चाहिए। जैसे ग्वाला शीत, गर्मी वर्षासे अपने गोसमूहको बचाता है तथा उनके लिये नवीन गोचारण भूमियों की व्यवस्था करता है उसी तरह राजा को भी अपने आश्रितों के लिए उचित व्यवस्था करनी चाहिए। जो अपने लिए क्लेश सहन करते हैं, उनके सुख प्रबन्धका करनेवाला राजा सदैव

राज्य में क्षेम तथा उन्नति प्राप्त करता है और उसके सेवक भी उसके लिए सदा अपने प्राण हथेली पर लिये रहते हैं।

राजा को चाहिए कि जो वस्तु प्रजा के पास न हो उसको बाहर से लाने की व्यवस्था करे तथा उसके पास जो कुछ हो उसकी रक्षा का उपाय करता रहे। जिस प्रकार एक पहर रात शेष रहने पर ग्वाला उठ पड़ता है और गायों को दुहता है तथा उनके चारे की व्यवस्था करता है, उनके बछड़ों को दूध पिलाता है उसी प्रकार राजा को चाहिए कि वह किसानों को समय रहते उत्तम बीज दे, ताकि वे खेती करने में यथासमय समर्थ हो सकें तथा जब खेती पक कर तयार हो जावे तब उसमें से उचित अंश लेकर शेष प्रजा के पास ही रहने दे। यदि दुर्भाग्यसे कभी वर्षा न हो तो राजाको अकालकी स्थिति जानकर कृषकों से कर नहीं लेना चाहिए तथा उनको उचित सहायता देनी चाहिए ताकि वे वर्षा आने पर पुनः खेती करके पृथिवी को दुहने में समर्थ हो सकें। इस प्रकार से आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करने से प्रजा राजा के प्रति गुरुभाव, पितृभाव रखेगी। आपत्ति आने पर वेतन-भोगी सैनिकों के अतिरिक्त इनकी लोकसेना भी इस प्रकार पंक्ति बांध कर खड़ी हो जायगी जिसकी लोह प्राचीर को लांघना शत्रु के लिए असम्भव हो जाएगा।

राजा को चाहिए कि जो व्रती हों, धर्मात्मा हों, दयावान हों, सच्चरित्र हों, उनका प्रजा में विशिष्ट सम्मान रखे।

राजा अश्वपति ने अपने राज्य का विवरण बतलाया कि—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

अर्थ—मेरे राज्य में किसी का धन चुराने वाला कोई भी चोर नहीं है, न कोई कदर्य अर्थात् कृपण है, न कोई मद्य पीने वाला है, न कोई यज्ञ पूजा न करने वाला है, न मूर्ख है तथा कोई भी पुरुष व्यभिचार-परायण नहीं है फिर कुलटा स्त्री तो हो ही कैसे सकती है? अर्थात् मेरे राज्य मे सर्वविध उत्तम संस्कारशील प्रजा है।

राजा अश्वपति ने इस श्लोक में उत्तम आदर्श राजनीति बतला दी है? क्या आज कोई प्रदेश, कोई राज्य इस प्रकार का दावा कर सकता है कि उसके राज्य में चोर डाकू नहीं हैं, उस राज्यमें कोई भी व्यभिचारी नहीं है, कोई भी स्त्री व्यभिचारपरायणा नहीं है?

ऐसी ही सुख सुविधा शान्तिपूर्ण व्यवस्था राम राज्य के विषय में ग्रन्थों में उल्लिखित है। जिसका सार यह है कि राम के राज्यमें प्रजा सुखी थी। वहां अकाल नहीं पड़ता था,

कोई भी दुःखी होकर आत्म-हत्या नहीं करता था। पानी में डूब कर मरने की घटनाएं नहीं होती थीं। अग्निप्रकोपसे गांव दग्ध नहीं होते थे। 'नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः'—यानी—स्त्रियां पतिव्रताएँ होती थीं और विधवाएँ नहीं होती थीं। यह सब राजा के पुण्य का प्रभाव था। यदि राजा अधार्मिक हो तो उसके राज्य में रहने वाली प्रजा भी पापाचार-परायण होती है। कारण यह है कि खाये हुए अन्न का, जलका, देश और काल का तथा राजा का प्रभाव प्रजा पर तत्काल पड़ता है। उस समय सभी पुरुष पत्नी-व्रत पालन करते थे, स्त्रियां भी मन, वचन, काय से पति का हित चाहने वाली थीं। रावण के बहुत भयभीत करने पर भी सीता ने कहा था कि—

दीनो वा राज्यहीनो वा, यो मे भर्ता स मे गुरुः- ।
तं नित्यमनुरक्तास्मि, यथा सूर्यं सुवर्चला ॥

अर्थात् राम राज्य-हीन हैं, या कि दीन हैं, वही मेरे पति हैं। मेरा अनुराग सदा उन राम में ही है, जिस प्रकार सुवर्चला नित्य सूर्य के अनुगत रहती है। धन्य हैं वे सती स्त्रियां, जो इस प्रकार सभी अवस्थाओं में अपने पतियों के साथ अटूट रति, अक्षय श्रद्धा रखती थीं। इसी पुण्य के प्रभाव से उस समय वृक्ष ऋतु पर फल देते थे, मुनि—आश्रमों में सिंह और हरिण वैर-भाव को भूल जाते थे। हाथी और सिंह एक घाट पर पानी पीते थे। गायें बहुत दूध देती थीं, लहरों द्वारा समुद्र अपनी मुक्ताराशि को किनारे पर स्वयं विकीर्ण कर देता था। सूर्य भी उतना ही तपता था, जितना आवश्यक था। यह सभी प्रभाव उस समय के धार्मिकों, सन्तों, मुनियों, आचार्यों तथा राजाओं का था। राजा सुधन्वा के पितर.जा हंसध्वज के सम्बन्ध में वर्णन मिलता है कि उसके राज्य में सभी पुरुष पत्नी-व्रती (अपनी पत्नी के सिवाय अन्य स्त्रियों से प्रेम क्रीड़ा न करने वाले) थे, देश के सभी नर-नारी धर्मपरायण थे। यदि कोई दूसरे देश का निवासी उसके राज्य में जीविका प्राप्ति की सुखद सम्भावना देख कर आता था तो राजा सब से प्रथम उससे पूछता था कि—

एकपत्नीव्रतं तात, यदि ते विद्यतेऽनघ ।
ततस्त्वां धारयिष्यामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥
न शौर्यं न कुलीनत्वं न कोपि पराक्रमः ।
स्वदाररसिकं वीरं विष्णुभक्तिसमन्वितम् ॥

वासयामि गृहे राष्ट्रे तथान्येपि च सेवकाः ।
अनंगवेगं स्वान्ते ये धारयन्ति महाबलाः ॥

अर्थात्–हे निष्पाप ! यदि तुम एक पत्नी-व्रत का पालन करने वाले हो, तो मैं तुम्हें अपने यहां रख सकता हूं । भाई ! मैं सत्य कहता हूं कि मुझे केवल शूरवीरता, कुलीनता शालीनता और पराक्रम पसन्द नहीं है । जो भगवान् की भक्ति से सम्पन्न होगा उसे मैं अपने घर में तथा राष्ट्र में स्थान दे सकता हूं । अथवा वे दूसरे भी सैनिक जो कामदेव के वेग को अपने मन में ही रखते हैं (शरीर द्वारा परस्त्रियों के साथ रतिक्रीड़ा नहीं करते) वे ही महाबली हैं । अतः मैं उन्हें ही आश्रय दे सकता हूं । राजा के राज्य का वर्णन करते हुए फिर कहा गया है कि–

सर्वे ते वैष्णवा वीराः सदा दानपरायणाः ।
एकपत्नी-व्रतयुता समस्तास्ते प्रियंवदाः ॥

अर्थ–वे सभी भगवान के भक्त होते थे तथा सदैव दानधर्म में परायण थे । वे एक पत्नी-व्रत का पालन करते थे और मीठे वचनों से सभी का चित्त आल्हादित करते थे । किसी के साथ कठोर भाषण नहीं करते थे ।

राम का एक-पत्नीव्रत तो प्रसिद्ध ही है । रावण द्वारा सीता का अपहरण होने पर राम से अनेक विद्याधर राजाओं ने अत्यधिक अनुरोध किया था कि हम अपनी सुन्दर कन्यायें आपको देते हैं, आप उनसे विवाह कर लें, सीता का ध्यान छोड़ दें । परन्तु राम ने वह बात स्वीकार नहीं की ।

जिस प्रकार सन्तान की सुधरने तथा बिगड़ने की सारी जिम्मेवारी माता-पिता पर होती है उसी प्रकार प्रजा की भलाई-बुराई की समस्त जिम्मेवारी भी राजा पर ही होती है । यदि राजा उस कर्तव्य का पालन नहीं करता तो प्रजा की भावना उसके प्रति ठीक नहीं रह सकती । कहते हैं–

राजा राक्षसरूपेण व्याघ्ररूपेण मन्त्रिणः ।
लोकाश्चित्रकरूपेण यः पलायति जीवति ॥

अर्थ–जहां राजा राक्षस के रूप में हो ओर मन्त्री बाघ के समान हो, तथा प्रजा मृग के समान हो, तो वहां से जो भाग जाता है, वही जीवित रहता है ।

विदुला और संजय का संवाद–

संजय नाम का एक क्षत्रियकुमर युद्धभूमि में गया और वहां से पराजित होकर पीठ

दिखाकर भाग आया। उसकी माता का नाम विदुला था। विदुला बड़ी धार्मिक तथा दीर्घदर्शिनी थी। उसने जब पीठ दिखाकर आये हुए पुत्र को देखा तो उसके मन में बहुत दुख हुआ। वह सिंहिनी के समान गर्जना करते हुए अपने पुत्र से बोली कि–

उत्तिष्ठ रे, कापुरुष, माऽशेष्वेवं पराजित।

अरे कायर पुरुष! उठ, इस प्रकार पराजित होकर मत सो।

प्राचीन भारत में वीरों के कर्तव्य से च्युत होने वाले का सत्कार नहीं किया जाता था। स्वयं उनकी माताएँ, पत्नियां ही युद्ध पर उन्हें विदा देती थीं। जब मारवाड़ के महाराजा जसवंतसिंह औरंगजेब से युद्ध-विमुख होकर जोधपुर पहुंचे तो महारानी ने यह जानकर कि वह युद्ध से विमुख होकर लौट आये हैं, किले के सारे द्वार बन्द करवा दिये और बुर्ज पर से गर्ज कर बोली कि पराजितों के लिए किला नहीं खोला जा सकता। जाइए और शत्रु को पराजित करके आइए, या वीरगति को प्राप्त हो जाइए। आप मेरे नाथ नहीं हैं। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण ने कहा है—

हे ना, नहीं नाथ नहीं कहूंगी, अनाथिनी होकर ही रहूँगी।
होते कहीं जो तुम नाथ मेरे, आते यहां क्या तब पीठ फेरे॥

राजस्थान की क्षत्राणियां तो सदैव अपने पतियों और पुत्रों को सोत्साह खड्ग देकर विदा करती थीं। कविराजा सूर्यमल्ल मिश्रण ने कहा है–

आज घरे सासू कहे हर्ष अचानक काय।
बहू बलेवा हूलसे पूत मरेवा जाय॥

सास पूछती है कि आज मेरे घर में अचानक यह हर्ष उत्सव किस बात का हो रहा है? प्रतीत होता है कि उसका लड़का तो युद्ध में जाने के लिए उतावला हो रहा है और उसकी बहू (पुत्रवधू) जौहर करने के लिए तैयार हो रही है।

जिस देश में इस प्रकार के गीत प्रचलित हों, वह कभी पद-दलित नहीं हो सकता। भारत में किसी समय इसी प्रकार का वीरयुग था।

राजा का स्वरूप–

धार्मिको यः कुलाचारैर्विशुद्धः पुण्यवान्नयी।
स स्वामी कुरुते राज्यं विशुद्धं राज्यकण्टकैः॥

अर्थ–जो धर्मपरायण है, कुल से आचार से विशुद्ध है, पुण्यवान् है, तथा नीति का

पालन करने वाला है, वही राजा निष्कण्टक (निर्विघ्न) राज्य करता है। यह शुक्रनीति का मत है।

'क्षुद्रपरिषत्कः सर्पाश्रय इव न कस्यापि सेव्यः'। (नीतिवाक्यामृत) यानी—जिसकी सभा में क्षुद्र पुरुष हों वह सर्प की बांबी के समान किसी के लिए भी सेवनीय नहीं है।

अधर्मपरे राज्ञि को नाम नाधर्मपरः। नीति०। यानी—राजा जब अधार्मिक हो तो प्रजा भी अधर्म-परायण क्यों न होगी ?

देवतापि यदि चौरेषु मिलति कुतः प्रजानां कुशलम्। नीति०। यदि देवता यानी—राजा चोरों से मिलता रहे तो प्रजा की कुशल कहां ? अर्थात् प्रजा तो राजा पर विश्वास करके ही रहती है, यदि उसको राजा ही भक्षण करने लगे तो फिर उसको कौन बचावे ?

राज्ञोऽन्यायकरणं समुद्रस्य मर्यादालंघनमादित्यस्य तमःपोषणमिव
मातुश्चापत्यभक्षणमिव कलिकालविजृम्भितानि।

नीतिवाक्यामृत का कहना है कि राजा का अन्याय आचरण उसी प्रकार का है, जैसे—समुद्र मर्यादा लांघने लगे, जिस प्रकार सूर्य अन्धकार का पालन पोषण करने लगे, जिस प्रकार माता ही अपने पुत्रों को खाने लगे। ये सभी कलियुग के कौतुक हैं। कलियुग में धर्मभ्रष्ट होने से ऐसा होता है।

न्यायतः परिपालके राज्ञि प्रजानां कामदुघा भवन्ति सर्वा दिशः।
(नीति० ११-४५)

राजा जब न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता है तो प्रजा फलती फूलती है और उसके लिए सभी दिशाएं अभीप्सित इष्ट मनोरथों को पूरण करने वाली होती हैं।

राजपुत्रो दुराचारो यदि राज्ये नियोजितः।
तद्राज्यं क्षयमायाति घुणजग्धं च दारुवत्॥

अर्थ—जो राजा अपने दुराचारी पुत्र को राज्याधिकार पर नियुक्त करता है, वह राज्य क्षय को प्राप्त होता है। जिस प्रकार घुण से खाया हुआ काठ।

मत्तमेभ्मन्वयधर्मम्पोडे शुद्धस्फटिकद्दोणियोळेरेदपालंते निर्मळमप्प-
जैनधर्मपदं चन्नागितिळिदु पापानुरागमं पत्तुविट्टु दुर्जनरोडनाटमं माणबु-
देम्राणेयेंदु तन्नं मुट्टिसिकोंडु मगन कद्पं कचिं पासायनमं कोट्टरिमथन-
महाराजं संतसदिनिर्पुदु ॥६१॥

अर्थ–हे राजकुमार ! हमारे घराने में यह परम्परा है कि प्रजा का पुत्रवत् संरक्षण किया जावे। गाय के दूध के समान शुद्ध तथा स्फटिक के समान निर्मल हमारे कुल की जैनधर्म-परायण-परम्परा है। भगवान् वीतराग की वाणी जो अहिंसा की विश्वसन्देश-वाहिनी है, हमारी धर्मभावना का मुख्य अंग है। तुम ऐसे पवित्र वंश में उत्पन्न हुए हो जिसे ये सारी निर्मलताएँ तथा महिमा वंश-परम्परा से मिली हैं, जो संसार में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। तुमको इस महान् कुल में जन्म लेने का गर्व होना चाहिए। हे ललितांग ! ऐसा समझ कर तुम उन दुष्टों तथा नीच जनों की संगति का सर्वथा परित्याग कर दो। पापानुराग जो तुम्हारे अशुभ संचित कर्मों का परिणाम है, उसकी वृद्धि से तुम्हें बहुत विपत्तियों का सामना करना पड़ेगा। इसलिए तुम को चाहिए कि सर्प के समान उनका त्याग कर दो। तुम मेरा स्पर्श करके यह प्रतिज्ञा करो कि 'अब ऐसा नहीं करूंगा'। तुम शपथ ग्रहण करो। ललितांग ने 'हां' कह दिया। पिता के प्रताप के सामने उसको अस्वीकार करने का साहस नहीं हुआ। राजा ने इतनी सरलता से इस महान् गुत्थी को सुलझता देखा तो वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने पुत्र को प्यार किया, उसको बहुत-सी वस्तुएं पुरस्कार दीं और सन्तोष प्रकट किया।

तेंगिन पोसनेणिंदरु-
दि्खळवरडसि कंबियिं कट्टिदोडं ।
तांगड बिट्टोडे मत्तं
पिंगिदु डोंकेंब नाय बालदतेरदिं ॥९२॥

अर्थ–'स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते'–स्वभाव तो शिर पर चढ़कर बोलता है। राजस्थानी में एक कहावत है कि–'ज्यांका पडगा सुभाव क जासी जीव सूं, नीम न मीठो होय क सींचो भल गुड़ घीव सूं'—अर्थात् जिसका जो स्वभाव हो गया है वह कहां से जा सकता है ? नीम को गुड़ से तथा घी से सींचा जावे तो भी वह मीठा नहीं हो सकता। जिस प्रकार नारियल का पेड़ यदि टेढा हो तो उसको यदि किसी आधार से सीधा भी किया जावे तो उस आधार के हटते ही वह फिर टेढ़ा हो जाता है। कुत्ते की पूंछ को कितने ही समय नलिका में रखकर सीधा किया जावे किन्तु वह निकलते ही पुनः टेढ़ी हो जाती है।

मन्निसदे तंदेयं पोळ-
लं नेरे काडुत्तु मळलिसुत्तुं दूर्ति ।

दं नृपसुतनिरे मत्तं-
तन्नाणेयनुळिदुदर्के मुळिदु नरेन्द्रं ॥६३॥

ललितांग बरिसिकोंडु मगणे पल्लिंगे पालं बिट्टोडोसडेल्लमं देवं तिंदुदेंबंते मोहदिं नी माडिद पलवुपोल्लमेंगळं सेरिसिदोडं नीकोर्वीगाळियेळ्-कूडिदकिंचिनंते दळ्ळुरिंदु पोळलोळगेमुन्निनेडेगीगळुं पिरिदबरमं माडि-देयिंतु ॥६४॥

अर्थ–(ऊपर लिखित कहावतों के समान ही ललितांग का स्वभाव था) वह जब तक पिता के पास रहा तब तक सब कुछ उपदेश सुनता रहा और 'हां, हाँ' कहता रहा किन्तु जैसे ही वहां से दूर हटा वैसे ही उसको पिता का सारा उपदेश भूल गया। उसकी कुप्रवृत्तियां पुनः जोर मारने लगीं। वह दूसरे दिन उठते ही फिर उन बुरे साथियों को याद करने लगा और उन दुराचरणों के लिए अधीर हो उठा। उसका नित्य का अभ्यासी कुसंस्कार किसी को मारने, किसी को उत्पीड़ित करने, किसी का गला घोंटने और किसी की झोंपड़ी में आग लगाने के लिए व्याकुल हो उठा। परिणामस्वरूप वह पुनः उन्हीं ठगों, धूर्तों की टोली में सम्मिलित हो गया और दुगुने दुरुत्साह के साथ अन्याय आचरण करने लगा। प्रजा पुनः राजा अरिमथन के पास पहुँची और राजकुमार की कुचाल के नवीन समाचारों को सुनाने लगी अपने दुराचारी कुपुत्र की बात सुन-सुन कर राजा के कान पक गए। उसे अत्यन्त क्रोध हुआ कि मेरी शपथ लेकर, हाथ में हाथ देकर प्रतिज्ञा करके भी ललितांग एक ही दिन में फिर सब कुछ सदुपदेश भूल गया। उसने राजआज्ञा का उल्लंघन किया। तब उसने तुरन्त राजकुमार को बुला भेजा और आने पर कहा कि हे कुमार! तुम्हें तो मेरा उपदेश छिपकली को दूध पिलाने के समान हुआ। जैसे छिपकली दूध पी लेवे, तो भी वह कीड़े मकोड़े खाना नहीं छोड़ती। इसी तरह तुमको उपदेश-अमृत पिलाया गया तो भी तुमने बुरे कार्यों को नहीं छोड़ा। तुमने अवश्य ही कोई भयंकर पाप किये हैं जिनके कारण तुम में ऐसे खोटे संस्कार आ गए हैं। यह नीतिमय उपदेश तुम्हें रुचता नहीं। जैसे कुत्ता घृत खाकर वमन कर देता है, उसी प्रकार तुमने भी सदुपदेश को सुनकर उगल दिया है। अपने पास नहीं रखा। मैंने तुम्हारे साथ मोह किया और तुमको साधारण दण्ड देना भी, जो कि राजा का कर्तव्य है, उचित नहीं समझा, यह मैंने ठीक नहीं किया। इस कारण प्रजा पर फिर आपत्ति आ गई है। उसे कष्ट झेलने पड़ रहे हैं। यदि अब हम

तुम्हें फिर कोमल उपदेश देवें और दण्डित न करें तो फिर राज्य नहीं चलेगा। जिस प्रकार से आग की जरा-सी चिनगारी हवा के सहयोग से बढ़कर सारे वन को जला देती है, उसी प्रकार तुम भी अपने आचरणों की चिनगारी को हमारी सहनशीलता रूपी वायु के साहचर्य से बढ़ा कर हमारी प्रजा के जीवन रूपी वन में आग लगा रहे हो। तुम उपदेश के बाद पहले से अधिक उद्दण्ड हो गए। तुम अपने कुसंस्कारों को अच्छा मानकर विष का घूंट पीने में अपना जीवन सुखी समझते हो। मदिरा पिये हुए के समान तुम पद से भ्रष्ट हो गये हो, बुद्धि आचार तथा गुणों को तुमने त्याग दिया है। मैं यदि तुम्हें अपने पास घर में रखूंगा तो मैं भी तुम्हारे दोषों से पाप का भागी बन जाऊंगा। मेरा भी यश और सम्मान विदा हो जायगा। अतः मेरा निश्चय है कि तुम राज्य को छोड़ कर यहां से अपना काला मुंह लेकर चले जाओ। मुझे तुम्हारे समान कुपुत्र की जो यश और कीर्ति के चन्द्रमा के लिए राहु हो, सर्वथा आवश्यकता नहीं है। तुम मेरे सामने से तथा मेरे राज्य से तत्काल चले जाओ। नीति शास्त्र कहता है कि—

खलानां कण्टकानां च द्विविधैव प्रतिक्रिया।
उपानन्मुखभंगो वा दूरतो वा विसर्जनम् ॥

अर्थ—दुष्टों और कांटों के लिए दो ही उपाय हैं या तो उन्हें जूतों से ठीक किया जावे या फिर दूर से ही उनका त्याग कर दे।

सर्पः क्रूरः खलः क्रूरः सर्पात् क्रूरतरः खलः।
मन्त्रेण शाम्यते सर्पो न खलः शाम्यते कदा ॥

अर्थ—सर्प और दुष्ट दोनों ही दुष्टता में बराबर हैं। किन्तु ऐसा कहना भी उचित नहीं। क्योंकि मन्त्र के प्रयोग से सर्प को शान्त किया जा सकता है किन्तु दुष्ट को शान्त करने का कोई उपाय नहीं।

खलास्तु कुशलाः साधोर्हितप्रत्यूहकर्मणि।
निपुणाः फणिनः प्राणानपहर्तुं निरागसाम् ॥

अर्थ—यदि दुष्ट बिना बाधा के स्वतन्त्र तथा स्वच्छन्द विचरण करते हैं तो वे सज्जनों के हितों में बाधा पहुंचाते हैं। जो विषधर सर्प होते हैं वे निरपराध प्राणियों को डंसने के लिए ही घूमते रहते हैं।

अहो बत महत्कष्टं विपरीतमिदं जगत्।
येनापत्रपते साधुरसाधुस्तेन तुष्यति ॥

अर्थ–यह बड़ा कष्ट का विषय है कि जिस कर्म को करने से सज्जन लज्जा का अनुभव करता है उसी को निस्संकोच करते हुए दुर्जन प्रसन्न होता है अर्थात् दुर्जन सदा ही निन्द्य कर्म करके प्रसन्नता का अनुभव करता है।

पाषाणो भिद्यते टंकैः वज्रं वज्रेण भिद्यते।
सर्पोऽपि भिद्यते मन्त्रैर्दुष्टात्मा नैव भिद्यते ॥

अर्थ—पत्थर को टांकियों से तोड़ दिया जाता है, वज्र को वज्र से ही खण्डित किया जाता है। सर्प को भी मन्त्रों के प्रभाव से वशीभूत किया जाता है किन्तु दुष्ट को किसी उपाय से वश में नहीं किया जा सकता।

यशःसौरभ्यलशुनः शान्तिशैत्यहुताशनः।
कारुण्यकुसुमाकाशः खलः सज्जनदुःखदः ॥

अर्थ—जो दुष्ट जन हैं वे यश को सुरभि के लिए दुर्गन्धित लहशुन के समान हैं, शान्तिरूप शीतलता के लिये अग्नि के समान हैं, जो उसे नष्ट करके अशान्ति फैलाते हैं। करुणा के पुष्प के लिए आकाश के समान हैं, अर्थात् जिस प्रकार आकाश में पुष्प नहीं लगते उसी प्रकार दुष्टों को किंचित् भी करुणा नहीं होती। इस प्रकार सभी कर्मों से खल सज्जनों के लिए दुःखप्रद होते हैं।

यत् स्मृत्वैव परां यान्ति सन्तः सन्तापसन्ततिम्।
तदसन्तो हसन्तोऽपि हेलयैव हि कुर्वते ॥

अर्थात्–जिस बात का स्मरण करने से भी साधु जन सन्ताप को प्राप्त होते हैं, दुष्ट लोग हंसते हुए ही बड़ी सुगमता से उसे कर डालते हैं। आशय यह है कि प्रयत्न करके भी जिस कुमार्ग पर सज्जन नहीं चल पाते उसी पर दुष्ट हंसते-हंसते चलते हैं और लज्जा का तथा सन्ताप का अनुभव नहीं करते।

शिरसि निहितोऽपि नित्यं यत्नादपि सेवितो बहुस्नेहैः।
तरुणीकच इव नीचः कौटिल्यं नैव विजहाति ॥

अर्थ–नीच मनुष्य स्त्रियों के केशों के समान ही होता है जो निरन्तर शिर पर धारण किये जाने पर भी तथा अतिशय स्नेह से (केशपक्ष में तेल से) स्निग्ध रखने पर भी अपनी स्वाभाविक कुटिलता को नहीं छोड़ता है।

न दुर्जनः सज्जनतामुपैति बहुप्रकारैरपि सेव्यमानः।
भूयोपि सिक्तः पयसा घृतेन न निम्बवृक्षो मधुरत्वमेति ॥

अर्थ–अनेक प्रकार से सेवित भी नीच व्यक्ति सज्जन के समान नहीं हो सकता। नीम की जड़ में निरन्तर यदि घी और दूध सींचा जावे तब भी वह अपनी कटुता को नहीं छोड़ता, अतः मीठा नहीं बन पाता।

शमयति यशः क्लेशं सूते विशत्यशिवां गतिं,
जनयति जनोद्वेगायासं नयत्युपहासताम्।
भ्रमयति मतिं मानं हन्ति क्षिणोति च जीवितं,
क्षिपति सकलं कल्याणानां कुलं खलसंगमः॥

अर्थ–खल का संग-दोष कीर्ति का नाश कर देता है, क्लेश को उत्पन्न करता है, नीच गति (नरक) को पहुँचाता है, मनुष्यों में उद्वेग उत्पन्न करता है, उपहास की दशा को प्राप्त करा देता है, मति (बुद्धि) को भ्रान्त कर देता है, सम्मान को मिटा देता है, सारांश यह है कि वह समस्त जीवन को ही समाप्त कर देता है और इस तरह सभी कल्याणों के समुदाय का विध्वंस कर देता है।

पोतो दुस्तरवारिराशितरणे दीपोऽन्धकारागमे,
निर्वाते व्यजनं मदान्धकरिणां दर्पोपशान्त्यै सृणिः।
इत्थं तद् भुवि नास्ति यस्य विधिना नोपायचिन्ता कृता,
मन्ये, दुर्जनचित्तवृत्तिहरणे धातापि भग्नोद्यमः॥

अर्थ–सभी कठिनाइयों के नियन्त्रण के लिए उपाय हैं, जैसे कि महान् समुद्र को पार करने के लिए जहाज, अन्धकार आने पर दीपक, पवन-संचार रुकने पर पंखा, मदोन्मत्त गजों को वश में करने के लिए अंकुश उपाय है। इस प्रकार ऐसा कोई काम नहीं, जिसका उपाय विधाता ने नहीं किया किन्तु दुष्ट व्यक्ति की चित्तवृत्ति को बदलने में तो विधाता भी हार मान गया है।

कस्त्वं भद्र, खलेश्वरोहमिह किं घोरे वने स्थीयते,
शार्दूलादिभिरेव हिंस्रपशुभिः खाद्योऽहमित्याशया।
कस्मात् कष्टमिदं त्वया व्यवसितं मद्देहमांसाशिनः,
प्रत्युत्पन्ननृमांसभक्षणधियस्ते घ्नन्तु सर्वान् नरान्॥

अर्थ–किसी एक वन में एक व्यक्ति ने वन में बैठे हुए दूसरे व्यक्ति से पूछा–कि भाई! तुम कौन हो? उसने उत्तर दिया कि मैं दुष्टोंका राजा हूं, महादुष्ट-दुर्जन हूं। तो भाई, यहां

घोर वन में किस लिये बैठे हो ? उसने उत्तर दिया कि घोर हिंसक बाघ आदि आकरें मुझे भक्षण कर लें, इसी आशा में यहां बैठा हूं। पूछने वाले को आश्चर्य हुआ कि यह तो बताता है कि 'मैं दुष्टों का सम्राट हूं और भोला इतना है कि वन में अपने आपका मांस देने के लिए उपस्थित हुआ है।' उसने फिर पूछा हे भद्र, तुमने यह कष्ट-दायक विचार क्यों किया ? दुर्जनों के उस राजा ने उत्तर दिया कि 'मेरा मांस खाने से वनमें रहने वाले सिंह-व्याघ्रों को मनुष्य का मांस खाने की इच्छा उत्पन्न हो जावे और वे सभी मनुष्यों को खा लें' इसी लिए मैं अपना मांस उन्हें खिलाना चाहता हूं। धन्य हैं ऐसे दुर्जन शिरोमणि, जो किसी भी काम में अन्यके कष्ट की सम्भावना के विना प्रवृत्त नहीं होते और यदि अपने प्राण देने से भी पृथिवी के सज्जनों को सन्ताप मिल सके तो वे अपना शरीर बलिदान करके भी इसको करने को तैयार रहते हैं।

वन्द्यान्निन्दति दुःखितानुपहसत्याबाधते बान्धवान्,
शूरान् द्वेष्टि धनच्युतान् परिभवत्याज्ञापयत्याश्रितान्।
गुह्यानि प्रकटीकरोति घटयन् यत्नेन वैराशयं,
ब्रूते शीघ्रमवाच्यमुज्झति गुणान् गृह्णाति दोषान् खलः ॥

अर्थ–दुष्ट व्यक्ति सभी उल्टे काम करता है, वह जो वन्दनीय हैं उनकी निन्दा करता है, जो दुःखित हैं उनका उपहास (मखौल) उड़ाता है, बान्धवों को पीड़ा पहुँचाता है, शूरवीरों से मन से द्वेष रखता है, धन से रहितों (गरीबों) का निरादर करता है, आश्रितों (अपनी शरण में रहने वालों) को कठोर अनुशासन में रखता है, जो छिपाने योग्य हो उसे प्रकट करके लोगों को लज्जित करता है, प्रयत्नपूर्वक वैर करने की इच्छा रखता है, जो अवाच्य है यानी–न बोलने योग्य है, उसे बोलता है (अश्लील गाली-गलौज करता रहता है) गुणों का परित्याग करता है और दोषों को ग्रहण करता है।

केट्टिपे पेंदानीक्षिसे-
नेट्टने नीनेत्तिकोंडकल्लं वापं-।
सुट्टोडिदनेंबेतिरे-
दुपनीं मीरि नेगलूदेयेन्नाणेयुमं ॥८५॥

अर्थ–राजा अरिमथन पुनः अपने कुपुत्र ललितांग से कहने लगा कि तुम्हें धार्मिक संस्कारों की प्राप्ति नहीं हुई सदुपदेश तुमने कभी सुना नहीं, नीतिमार्ग का अनुसरण करके

देखा नहीं, इस प्रकार केवल दुर्जनों, धूर्तों की अपवित्र कुसंगति करके तुम विनाश को प्राप्त ही गये हो। तुम्हारी बुद्धि तथा सद्विवेक मदिरा पीये हुए के समान ही नष्ट हो गया है। तुम बुद्धि और आचार से भ्रष्ट तथा सप्तव्यसनों से अभिभूत हो गये हो। तुम्हें जो नीतिप्रद उपदेश दिया जाता है उसकी तुम आलोचना करते हो। तुमने मेरी शपथ लेकर वचन भंग किया है। मैं ऐसी स्थिति में तुम्हें अपने घर में आश्रय नहीं दे सकता। तुमको मैं निर्वासन करके ही अपनी कीर्ति तथा प्रतिष्ठा की रक्षा कर सकता हूं, अन्यथा नहीं। मुझे अब तुमको घर में नहीं रखना है।

मक्कलं पलेवेनेंदु मर्द् कुडिद् मरुदिवसक्के गंडसत्तनेंबंते मत्तिन मक्कल-युदासीनंगेयुदु निनगेराज्यमं कुडलोंदिदेन्न चित्तकेकुरालं पमं माडिदेयिन्ने-न्निमेंते पलियु पापमिल्ल ॥६६॥

अर्थ—लोकप्रवाद है कि वह स्त्री जो पुत्र की अभिलाषा करती थी, उसका जब विवाह हो गया तो उसे लगा कि अब तो शीघ्र ही पुत्र मेरी गोद में खेलने लगेगा। किन्तु भाग्य की बात, उसका पति दूसरे ही दिन मर गया। अब तो वह पुत्र प्राप्ति की कामना को भूल कर रोने लगी। उसे कल्पना में सोचे हुए पुत्र से अधिक पति के वियोग का दुःख था। इसी प्रकार मैं तुमको चाहता था कि मेरे भी एक पुत्र है। किन्तु उसी पुत्र ने मेरी कीर्ति को मलिन कर दिया है और मुझे उस पुत्रार्थिनी के पति-वियोग-जन्य दुःख के समान ही दुःख दिया है। यह तेरे नहीं किन्तु मेरे ही पापों का उदय है। क्योंकि संचित कर्मों का फल तो अवश्य ही भोगना पड़ता है।

कडुले सेदोडं पिडि
दोडे कै मासियप्प मार्गदि दुर्जनरं।
कडुमोहदिनोलकुडि
दोंडे केडगु तन्नोलाद् गुणमेनितनितु ॥६७॥

अर्थ—हे ललितांग! तुम्हें अब शिक्षा देना व्यर्थ है। जिस प्रकार ऊसर में बोया हुआ बीज वर्षा होने पर भी नहीं उगता, इसी प्रकार तुम्हारा हृदय ऊसर भूमि के समान दुष्ट-स्वभाव का है, अतः तुम्हारे हृदय में भी सदुपदेशका अंकुर नहीं जम सकता। तुम्हें दण्ड प्रहारसे भी शिक्षित नहीं किया जा सकता। क्योंकि, तुम में इतनी मलिनता है कि यदि मैं

हाथ से तुम्हें छूना चाहूँगा तो वह मलिनता मेरे शरीर में भी लग जायगी । कालिमा को छूने से कालिमा के दाग से बचा नहीं जा सकता, यह सब कुछ तुम से अधिक मोह या स्नेह रखने का परिणाम हुआ है । गाय को यदि घास ही डाली जावे तो वह दूध बनकर निकलती है किन्तु सर्प को यदि दूध भी पिलाया जावे तो वह विष बनकर लोगों को डंसने के काम आता है । तुम्हारे आचरण देखते हुए मुझे विश्वास है कि तुम्हारा दुर्गुण अब नहीं जायगा ।

अदुकारणदिं दुर्जनागिर्द निन्नोलकोंडिर्दोडे नगिददोलिर्प कीर्तियुं परदोलप्प सद्गतियुं किडिगुमिन्नेनालूव देशदोलिर्दे पोरमोट्टु पोगेंदु जडिदु नुडिदोडरसन मातिंगेललितांगनेलूदु सौंदरि महादेवियल्लिगे वंदु तन्न देशत्यागवृत्तान्तमंपेलेकेलूदिं तेंद लू ॥६८॥

अर्थ—तुम दुर्जन हो और मेरे जैसे प्रजापालक के घर में विरोधी गुण धारण करने से तुम रहने योग्य नहीं हो । यदि मैं भी तुम्हारे साथ रहूंगा तो मुझ पर भी दुर्जन का प्रभाव पड़ेगा । मेरी अपकीर्ति होगी । मेरी आज जो प्रतिष्ठा है ? वह मिट जायगी । इसलिए मेरे राज्य से कहीं बाहर चले जाओ, यही मेरी आज्ञा है । इस प्रकार राजा अरिमथन ने उसको देश निकाले का दण्ड दिया । तो वह व्याकुल होकर अपनी माता सौन्दरी देवी के पास गया ।

जगदीशं स्नेहदिंदं करुवे विविदीं धूर्त नेंदार्तनेकै-
मुगिदनिपुत्र माणीखलर केलयनेंदार्तनेमंत्रिवर्गमिंगे
यावेनेंदेवेंदतिरे नेरे नेगलेंदार्तरे निन्न सोर्किं
मगने नीं माडिकोंडे नृपनमुलिसनाने गुवेंकर्तुकंदा ॥६९॥

अर्थ—पिता से डांटे जाने पर ललितांग जब माता के समीप पहुंचा तो माता से उसने निवेदन किया कि पिता जी ने मुझे देश-निर्वासन का दण्ड दिया है । यह सुनकर माता सौन्दरी देवी कहने लगी कि बेटा ! तेरे पिताजी ने तो जो उचित मार्ग था, उसका तुम्हें उपदेश दिया और तुम्हारे पहले के किये हुए अपराधों को भी स्नेह के कारण क्षमा कर दिया किन्तु तुमने उनके उपदेश को सुन कर अनसुना कर दिया और अपने दुराचार की प्रवृत्ति को नहीं छोड़ा । तुमको यदि अपने पिताजी के तथा मेरे साथ एवं इस राज्य में रहना प्रिय होता तो तुम उसी क्षण दुर्व्यसनों का त्याग कर देते तथा पिताजी के आदेश में

चलकर उनका चित्त आल्हादित करते। किन्तु तुमने तो इधर सुना और दूसरे ही क्षण उधर भुला दिया। तुम फिर उन्हीं व्यसनों में अपने कुटिल साथियों के साथ निमग्न हो गए। ऐसी स्थिति में तुम्हें क्षमा किस प्रकार किया जा सकता है ? तुमने राज्य के मंत्रियों तथा श्रेष्ठजनों के समक्ष इस देश के राजा के सामने प्रतिज्ञा की और राजा का हाथ थाम कर उनकी आज्ञा को पालन करने का वचन दिया, आश्वासन दिया किन्तु पालन नहीं कर सके। फिर भी तुम राज्य में रहना चाहते हो ? मैं उनकी आज्ञा के विरुद्ध किस प्रकार तुम्हें रहने का आश्वासन दे सकती हूं ? मैं उनके आदेश के विरुद्ध दूसरा आदेश नहीं दे सकती। तुम्हारे समान मैं तो उनकी आज्ञा की अवहेलना करने वाली नहीं हूं। तुमने अपनी विपत्ति अपने आप बुलायी है। यदि तुम अब भी सप्तव्यसन का त्याग करने का पक्का वचन दो तो तुम्हारे पिताजी तुम्हें सम्भवतः फिर भी क्षमा प्रदान कर सकते हैं।

क्षितिपं निन्न समस्तपोल्लमेगलंकण्गरे कंडु महो-
न्नतचित्तं सुतमोहदिं पलवुमूलेन्नाणे माणदेंदोर्ड
सितगं माण दे दुष्टसंगतियनेवं भूपनेंदिपेरिं
टुतनं कण्गलिवायूतु पेत्तिनगे नी पोंवट्टमंकट्टिदै ॥१००॥

अर्थ—हे ललितांग, तुम्हारे पिताजी ने तुम्हारे दुराचरणों को अच्छी प्रकार देखकर ही दण्डव्यवस्था की है। उन्होंने तुम्हारे सभी दोषों को जान लिया है। फिर भी सहसा तुम्हें दण्ड न देकर बड़े प्यारसे बुलाकर समझाया तथा तुमसे प्रतिज्ञा ली। फिर भी तुमने अपने व्यसनों को नहीं छोड़ा। ऐसी स्थिति में यदि वे कठोर कदम उठा कर तुम्हें निर्वासित करना चाह रहे हैं तो इसमें मैं किस प्रकार बाधा डाल सकती हूं ? मैं तो उनके आदेश में किसी प्रकार परिवर्तन नहीं कर सकती। तुमने उनको अपने दुराचरणों से विवश कर दिया है कि वे तुम्हें इसी प्रकार का कोई कठोर दण्ड दें ताकि तुम प्रजा के सम्पर्क से दूर जाकर अपने कुकर्मका प्रायश्चित कर सको। यदि तुमको फिर भी यहां रहना हो तो पिता जी के पास जाकर उन्हीं को सन्तुष्ट करो और उनसे ही आज्ञा प्राप्त करो। तुमने राजा की आज्ञा का भंग किया है, इसलिए वहीं जाओ और उन्हीं से क्षमा की प्रार्थना करो। यदि वे क्षमा कर दें तो तुम अपने चरित्र का सुधार करके सुखपूर्वक रह सकते हो।

कडुगायूदुं नीर् मनेयं-
सुडलरिगुमे मगने मुलिसिनिं निम्मयूयं।

नुडिदनितरिंदे कलेवनं
विडिवुदु दुर्गुणमनण्ण पिडिवुदु गुणमं ॥१०१॥

अर्थ–ललितांग को जितना उपदेश माता-पिता ने दिया वह सब उसके लिए विपरीत ही सिद्ध हुआ। जिस प्रकार पानी आग पर रखने से औटने लगता है, उसी प्रकार वह भी उन शीतल उपदेशों को सुनकर क्रोध से उत्तेजित हो गया। माता ने सोचा कि यदि इसका यही स्वभाव है तो यह एक दिन अपने पिता के लिए भी अहित-कर सिद्ध होगा। यदि इसको मैं अपनी ओर से रहने का आश्वासन दे दूं तो यह तो अपने बुराचार से हटेगा नहीं और राजा भी मुझ से अप्रसन्न होकर क्रोधाग्नि में मुझे भस्म कर देंगे। उसने कहा कि हे ललितांग ! तुम दुर्गुणों को त्याग कर सद्गुणों को ग्रहण करो।

एंदु सौंदरिमहादेवि नुडिद नुडिगलं कोलेवावु गारुडमं केलिदंते केलदिरे बेसत्तु ॥१०२॥

अर्थ–माता सौन्दरि रानी के वचनों को सुनकर जिस प्रकार गारुडिक के मन्त्रों से कीलित सर्प फन फटकारता है उसी प्रकार कुछ प्रतिकार करने में असमर्थ ललितांग दीर्घनिःश्वास लेने लगा, उसको माता का कहा हुआ उपदेश अत्यन्त बुरा प्रतीत हुआ।

इंबागितंदेगं ता-
यूगं बगेवडे नाच्चिदेम्मे कोणननीद।
तेबंते माडिदें गुण-
मं बगेयदे मगने दुष्टसंगतियिदं ॥१०३॥

अर्थ–सन्मार्ग पर पुत्र को लगाने के लिए माता ने बहुत प्रयत्न किया। उसे विश्वास था कि पिताका न सही, मेरा उपदेश तो ललितांग मान लेगा। किन्तु उसकी आशायें उसी प्रकार निराशा में बदल गईं जिस प्रकार कोई ग्वाला भैंस से पाड़ी की आशा लगाये हो और उससे पाड़े का प्रसव हो जाय। उसकी आशा के विपरीत ही फल निकला। उसने कहा कि हे ललितांग ! न केवल तुम्हारे अपि तु हमारे भी पापों का ही कुछ उदय हुआ है जो तुम इतना समझाने पर भी उन्मार्ग को छोड़ना नहीं चाहते हो।

कागेय मरेयेंदरियदे-
कोगिले कैगोंडु कूर्मेपिं नडंपिदोडं।

कागायेंदुदु मत्तं-
कागेगलोडगूडितेंबवोलू्नीं मगने ॥१०४॥

अर्थ—जिस प्रकार कोयल के बच्चे को कौआ पालता है किन्तु वह बड़ा होकर पंख निकल आने पर उड़ कर कोयलों में ही जा मिलता है। इसी प्रकार तुम भी पाले गये हो राज भवन में, किन्तु तुम्हारी संगति तो काले दुष्ट साथियों में है। तुम पंख लगते ही कोयल के समान उनमें जा मिले हो। हमारे स्वप्न भंग हो गये। हमने सोचा था कि एक दिन तुम राजगद्दी पर बैठोगे, प्रजा को आनन्दित करोगे। अपने उज्ज्वल गुणों से प्रजा को सुखी करने का निरन्तर प्रयत्न करोगे। किन्तु वे सभी आशाएं धूमिल हो गईं, मिट गईं। तुम दुर्गुणी, दुर्व्यसनी, दुराचारी, प्रजा के उत्पीडक ही निकले। यद्यपि तुमने मेरे गर्भ से जन्म लिया है किन्तु वास्तव में तुम 'पुत्र' कहलाने के अधिकारी नहीं हो किन्तु कुपुत्र ही हो।

कललं कुडिदरंते सोर्कि दोग्गलेयंतुर्वि [वलेवमोलेयंते कोर्वि) एलेवेरेयंते वक्रनागि सूलेयंते कालागि, मुलमोनेयंतेकूरनागि, सत्तरंते मैविट्टु पगरणिगनंते विपरीतनागि, पच्चोतियंते, पलवु बगणमागिबागेयंते निस्सारनागि अशोकेयंते निष्फलनागितरियदमरदंते नेरिदनल्लदे बडवनंतेपुरुलिल्लदे, कोगेयंते मतिइल्लदे, रंडेयंते पतिपिल्लदे, कालगेट्टनंते गतिगेट्टु। बेसनियंतेपेंपबिट्टु, कुदुरेयंते कीलं कैकोंडु ते लिनंतेल्लापनिगमौलगादे निन्नकेडिगंलल्वारदु, नीनरिवेयेंबेंदु, विजयपुरमं पोमपट्टु पोगिनेपालदेशमं योक्कल्लि ॥१०५॥

अर्थ—माता ने जितना उपदेश दिया वह सब भी व्यर्थ गया। उपदेश सुनकर वह राजकुमार उसी प्रकार हीन चेष्टाएं करने लगा जैसे कि मदिरा पीकर कोई करता है, वह सदुपदेश पाकर भी दुर्गुणों की ओर ही तत्पर हुआ। जिस प्रकार कोमल धान्य का अंकुर हवा के वेग को सहन न करके कि पृथ्वी पर लेट जाता है, उसी प्रकार वह शिर झुकाकर बैठ गया, वेश्या के समान उसका चरित्र हीन था, वह कांटे की नोंक के समान सभी को चुभने वाला था, मृतक के समान आंख मूंदकर सुनता रहा, पागल के समान उन्मत्त-चेष्टाएं करने लगा, गिरगिट के समान अनेक रंग बदलने लगा, बहुविध दुष्ट विचारों को विचारने लगा, वह क्षार जल के समान अपेय, दरिद्र के समान दुःखाकुल, काक के समान कान्ति-हीन या अस्पृश्य, पति रहित स्त्री के समान शोकाकुल, बेड़ी से जकड़े हुए के समान

बन्धनग्रस्त अनुभव करने वाला, व्यसनी के समान मन्दमहिमवान्, जिस प्रकार घोड़े के मुख में रहने वाली लगाम कुठुम-कुठुम करती है उसी प्रकार निरर्थक शब्द (प्रलाप) करने वाला, बिच्छू के समान सभी के प्रति उद्यतायुध (सभी से द्वेषबुद्धि रखने वाला) था। माता ने कहा कि ललितांग, सभी दुर्गुण तुम्हारे आत्मघात के लिए ही हैं। किन्तु माता के उपदेश को न मान कर वह ललितांग विजयपुर को छोड़कर नेपाल राज्य को चला गया।

पाविन नंजुमनवरुम-
नोविनिस तृगि नोडे दुष्टतनक्का।
पाविन पल्ल विषक्कं
भाविसे मिगिलेनिप वुलूलरोल् ललितांगं ॥१०६॥

अर्थ—यदि गारुडिक को विष नहीं चढ़ता है, तो ललितांग को ही कहां का सदुपदेश फलित हो सकता था। वह ललितांग विषय कषायों से न डर कर संसार-भ्रमण रूप जन्म मरण के कारण पाप कार्यों को तथा सात व्यसनों को बेरोक टोक सेवन करने लगा। तथा डाकुओं के समुदाय में सरदार के रूप में सम्मिलित हो गया।

कूडि केळेगोंडु बिडदोड
नाडि नृपाचारमेल्लमं मरेवोडनुं।
डोडाडि केट्टु दूर्तिं-
नाडेयुमवरेडेगे ताने मिक्कं घरेयोळ् ॥१०७॥

अर्थ—कुमार ललितांग का जन्म उत्तम कुल में हुआ था किन्तु बचपन से ही धूर्तों में खेलने तथा उनकी दुस्संगति करने से राजोचित आचार-विचार उसमें नहीं आ पाये। उन धूर्त दुराचारी लोगों में रहते हुए तथा इधर-उधर स्वच्छन्द उद्देश्य-रहित घूमते रहने से वह दुर्गुणी हो गया। यदि बाड़ ही खेती को खाने लगे तो फसल की रक्षा कौन करे, इस नीति के अनुसार जिसे अपने राज्य में उत्तम आचरण उपस्थित कर प्रजा की रक्षा करनी चाहिए थी, यदि वह स्वयं ही भक्षक चोर बन गया तो प्रजा की रक्षा कैसे हो सकती थी?

विशेषार्थ—अज्ञानी जीव अपने अज्ञान से तथा पापाचरण से अपना इह लोक और परलोक दोनों का नाश कर लेता है और स्वकुकर्म दोष से ही निरन्तर संसार में विभिन्न दुःखप्रद योनियों में भ्रमण किया करता है। जन्म और मरण के चक्र में वह निरन्तर घूमता

रहता है। मनुष्य पर्याय मिल जावे तो भी खोटे संस्कार वाला मनुष्य अपना कल्याण नहीं कर सकता। नीच कुल में उत्पन्न हुए मनुष्य को श्रेष्ठ संगति के अभाव में सन्मार्ग मिलना दुर्लभ होता है। उत्तम कुल में जन्म लेने वाले व्यक्ति को सन्मार्गका मिलना सरल है किन्तु फिर भी दुराचारी मनुष्योंकी संगतिसे जिसमें मद्य पान, मांस भक्षण, व्यभिचार आदि दोष आ गये हों, उसका उद्धार केवल उत्तम कुल होने मात्र से नहीं हो सकता। शास्त्रकार कहते हैं कि चाहे राजा हो, चक्रवर्ती हो, उत्तमकुलीन हो, किन्तु यदि वह खोटा आचरण करने लगा हो तो उसके लिए कल्याण का मार्ग बन्द ही समझना चाहिए। केवल इन्द्रिय-विलास में सुख मानने वाले को कल्याण की उपलब्धि कैसे हो सकती है ? कहते हैं कि मनुष्य-पर्याय पशु-पर्याय से उत्तम है। यह ठीक भी है किन्तु यदि वह आचरण-पतित है तो मनुष्य पशु से भी गया बीता है। पशु तो अपने प्रकृति-प्राप्त सहज गुणधर्म को पालन करता है किन्तु मनुष्य तो प्रकृति-विरुद्ध आचरण से हीन गुणों को अपना करके पशु-योनि से भी नीचे जा गिरता है। जातिहीन चाण्डाल भी यदि उत्तम आचरण करता है और भगवान् जिनेन्द्रदेव की शरण पाकर उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग को श्रद्धान-पूर्वक ग्रहण करता है तो उसके परिणाम शुभ होने से वह दुराचारी उत्तम कुलीन मनुष्य से भी श्रेष्ठगति को प्राप्त होता है, इसमें सन्देह नहीं।

'मैं मनुष्य हूं', ऐसा मान करके ही कोई मांस, मदिरा, परस्त्री गमन आदि पापाचार में लगा रहे और अपने आप को पशु-योनि से उत्तम मानने लगे, तो यह उसकी भूल है। हरिण, गाय, कबूतर आदि पशु होते हुए भी प्राकृतिक शाकाहार करते हैं किसी को कष्ट नहीं देते, स्वाभाविक आहार विहार करते हैं। दुराचारी दुष्ट मनुष्य इन पशुओं से अच्छा कैसे माना जावे ? वह तो निरन्तर रौद्र और आर्त ध्यान में मग्न रहता है। जब कि वे गाय, हिरन, कबूतर भद्र-स्वभावी पशु प्रायः रौद्र-स्वभावी नहीं होते। पशु पक्षियों में अपनी-अपनी जाति के अनुसार स्वाभाविक अचारण आहार विहार होता है। किन्तु मनुष्य तो देव भी बन सकता है और अपना स्वभाव छोड़ कर राक्षस भी बन सकता है। वह निगोदमें भी जा सकता है और निष्कलंक देव भी बन सकता है। जिसके हृदय में अहिंसा धर्म हिलोर ले रहा है, वह नीचकुली मनुष्य भी उच्च कुल वाले निर्दय दुष्ट से अच्छा है। ललितांग यद्यपि उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ है, राजोचित सभी सुविधाएं उसे प्राप्त हुईं किन्तु फिर भी कुसंस्कारों से वह पतित बन गया। राजा और रानी ने जो स्वप्न सँजो रखे थे कि 'हमारा पुत्र राजगद्दी को शोभित करेगा तथा हमारा नाम उजागर करेगा,

प्रजा की रक्षा करेगा,' वह सभी आशा धूमिल हो गई ।

अंतु) मुन्नवदं किविियिदं बलकं बंद् कोडु कूरित्तेबं नाणुडियंते मुन्निन कल्लरेडेगे ताने प्रसिद्धमागिननगवकूर्मयिंदुपदेशंगेयुदं जनघटिकेयं साधिसि- तद्घुटिकाप्रयोगर्दिदद्दश्यरूपं कैकोंडुजगमेल्लमं मोष्टनागे कल्वजंनचोरनेंब पेसरेसेये नेगल्दुदु ॥१०८॥

अर्थ—जिस प्रकार बछड़ा सींग निकलने पर उद्धत हो जाता है और सींग मारने लगता है, उसी प्रकार ललितांग को भी सींग निकल आये थे। उसे अपने यौवनके मदमें प्रजा को उत्पीडित करने का मार्ग ही प्रिय लगा था। अतः वह राज्य त्याग करने के अनन्तर चोर-डाकुओं का सरदार बन गया और अपने दुष्कर्म में सफलता तथा निर्बाधता प्राप्त करने के लिए उसने अंजनगुटिका नाम की विद्या सिद्ध कर ली। उस विद्या से वह अदृश्य (दूसरोंको दिखाई न देने वाला) होकर मनमाने अत्याचार का उपक्रम करने लगा। वह अदृश्य होकर जब चाहे तब चोरी करने निकल जाता और चोरी करके निर्विघ्न लौट आता। इससे उसका नाम प्रजा ने 'अंजनचोर' रख दिया।

कलवुं जूंजु मांसदे-
मलिनतेयं मालववेंटेयुं परराातिग-
लूगेल सुवुदुं व्रतमिल्लदे-
वेलेवेण्णोडनिर्पुदोतु कुडिवुदुकल्लं ॥१०९॥

अर्थ—जो व्यक्ति चोरी करने की वृत्ति को अपना लेता है, उसमें, ऐसा कौन-सा पाप है, जो नहीं आ जाता? यानी—अन्य सभी पाप उसमें स्वयमेव आ जाते हैं। अंजन चोर में भी सातों व्यसन स्वयं आ गये। वह सुन्दरी स्त्रियों का उपभोग कर लम्पट भी बन गया। और मनमाने ढंग से मांस-मदिरा का सेवन करने लगा। अब उसे किसी प्रकारका भी भय नहीं रहा।

असुगतियेनेयदिसल्किवु-
मिसुपमरुज्जवदतुरगमेनिसुव सप्त-
व्यसनमने विडदे कैकों-
डेसगि सदाचारमेल्लमं नेरे मरेदं ॥११०॥

अर्थ—ललितांग ने भवभवान्तर में जन्म-मरण रूप दुर्गति को देने वाले सभी व्यसनों को अपना करके सदाचार को तिलांजलि दे दी।

ललितांग जो इतना भ्रष्ट हुआ कि अपने दुर्गुणोंके कारण उसको अपने राज्यसे अपने पिता द्वारा ही निर्वासन (देश निकाला) मिला, यह सब कुसंगतिका कुफल है। यदि उसको सत्संगति मिलती तो वह न तो इतना दुराचारी बनता और न अपने पिताके उत्तराधिकार से भ्रष्ट होता। नीतिकार का कहना है कि—

चन्दनं शीतलं लोके चन्दनादपि चन्द्रमाः।
चन्द्रचन्दनयोर्मध्ये शीतलः साधुसंगमः॥

अर्थात्—संसार में चन्दन को शीतल कहा गया है। ग्रीष्मकाल में उसको लगाने से ठंडक मिलती है, किन्तु चन्द्रमा उस चन्दनसे भी अधिक शीतल होता है, क्योंकि आकाशमें बहुत दूर रहते हुए भी वह समस्त लोक को शीतलता प्रदान करता है। नीतिकार कहते हैं कि उन चन्दन और चन्द्रमा से भी अधिक शीतल साधु की संगति होती है। क्योंकि इससे मानव को आन्तरिक शीतलता मिलती है।

एल्लिविनोदमेल्लि विटरेल्लिमनं नडुगेल्लि दुष्टरं
तेल्लि कनिष्ठरेल्लि गणिकाजनमेल्लि पुलिंदं गोष्टिम-
त्तेल्लि जडात्मरेल्लि चपळर्करमल्लि विशेषकळूळरं
तेल्लिये रागमल्लिये महोत्सवमल्लिये तापनागळु ॥१११॥

अर्थ—अंजनगुटिका की सिद्धि प्राप्त करके वह ललितांग और अधिक दुराचारी बन गया। वह उन स्थानों में रहने लगा जहां धूर्तों का निवास हो, जहां विनोद की सामग्री प्राप्त हो, जहां दुष्टों का अड्डा हो, जहां गुण्डागर्दी हो, जहां बिना प्रयास के ही दुष्टता की पाठशाला खुली हो, जहां मूर्ख, चपलेन्द्रिय रहते हों और रागपरिणति की बातें करते रहते हों, जहां उन्हीं निकृष्ट व्यसनों का विनोद चलता हो। ललितांग उन्हीं स्थानों पर निवास करने लगा। नीतिकारों ने कहा है कि—

'आपगा इव निम्नानां वृत्तयो निम्नगामिनः।' अर्थात् नदी प्रवाहों के समान अथवा पानी की नीच-गामिनी वृत्ति के समान नीचों की चेष्टाएं तथा वृत्तियां सदा ही नीचे की ओर जाने वाली—पतनोंन्मुखी ही होती हैं।

अंतु तन्न मनक्के वंदंते नेगळुत्तुं करटद कदिरंते तिर्रने तिरुगुत्तुमोमें
राजग्रहमेंब पुरक्के वंदु तत्पुरद मूळे गेरियं पोक्कारुपं मेच्चदेपोगु-
त्तमिदुं मनसिन कयूय मसेदसियननुकरिसुव अनंगसौंदरियिंबसूळे
यं कंडु कणबेटंगोंडोत्तेगोटूटाकेय मेले मोहमुं स्नेहमुं तिणमागे ।११२।

जिस प्रकार चरखा चारों ओर भ्रमण करता है, उसी प्रकार कुमार ललितांग भी चारों ओर भ्रमण करके डाका डालने लगा और घूमता-घूमता राजगृह नगरमें आ पहुँचा। वह वहां की वेश्याओं के मोहल्ले में जा निकला और किसी भी वेश्या के देखने से उसके मन को तृप्ति नहीं मिली। किन्तु एक वेश्या ने उसका मन हरण कर लिया, वह धारदार शस्त्र के समान तीक्ष्ण सौन्दर्य वाली थी, जिसे देखते ही ललितांग वशीभूत हो गया। वह जगतमोहिनी वेश्या भी ललितांग से चार आँख होते ही उसके प्रति अनुरागवती हो उठी। उसका नाम अनंगसुन्दरी था। ललितांग उस पर आसक्त हो गया।

ओपककूमें योळब्ज-
द्वीपदगुळ्ळयबोलगरारदे सले नि-
त्तेपद पोन्न कैंकों-
डेपोत्तुं नोडुतिर्प पाविननेगर्दि ॥११३॥

अर्थ—उसके कपोल, भौंहें और कमल के समान मुख मन को आकर्षित करने वाला था। अधर में मानों कामाग्नि की चिनगारी धरी हुई हो—मदनवन्हि का एक खण्ड वहां दहक रहा हो। उसकी आँखें सर्पमणि के समान थीं, जिनसे वह ललितांग को एकटक देख रही थी। उसके देखने में औरों के देखने से भिन्नता थी, ऐसा ललितांग ने अनुभव किया। क्योंकि, उसके नेत्रों से नेत्र मिलने पर वह उसके अधिकार में आये विना नहीं रहा। अनंगसुन्दरी के देखने से ललितांग पर उसका दृष्टि-विष चढ़ने लगा। वह वेश्या भी इतने सुन्दर, सुरूप धनिक युवा को देखकर उसे चाहने लगी।

इरुदिर्दाकेयेनितर्पमं वेडिदोडनितुमं प्रीतियिंकैदेगेयदेरडुगेलदेयनवरतं
कुडुत्तुमिर्पुदुमातनोरंतीव कोडिगंनंगसौंदरि बेरगागितन्नोळिंतेंदळ् ॥११४॥

अर्थ—ललितांग उस अनंगसुन्दरी वेश्याके पास रहने लगा। वे दोनों आपस में नितान्त

प्रीतिबन्ध में बंधे हुए परस्पर में ऐसे एक प्राण हो रहे थे जैसे कि अंगुलियों में नाखून। ललितांग का उस वेश्या पर अपार अनुराग था। जैसे किरण और प्रकाश अभिन्न होते हैं इसी प्रकार वे दोनों परस्पर अभिन्न थे। उस वेश्या के मुख से जो मांग निकलती थी ललितांग तत्क्षण उसकी पूर्ति करता था। अंजनगुटिकाकी सिद्धिसे वेश्याकी इच्छित वस्तु लाने में ललितांग को कोई बाधा न होती थी। जो भोग, जो पदार्थ अनंगसुन्दरी चाहती थी। उन्हें ललितांग बात की बात में लाकर उसे देता रहता था।

सुरपतियंसिरियोळ्म-
च्चरिसुव धरणीशरुत्तराशाधिनोळ्।
दोरेपेनिप वैश्वजर्मा-
सुरतेजर्मिक्कु गंडरेन्नबोजंगर् ॥११५॥

अर्थ—वह वेश्या अनंगसुन्दरी विचार करने लगी कि मेरे पास राजा, महाराजा, धनिक और संसार के उत्तम श्रेष्ठी जन आते रहे हैं किन्तु इस प्रकार से तो किसी ने मुझे सम्पन्न नहीं किया। किसी के भी पास इस प्रकार मुंह-मांगी सम्पत्ति देखने में नहीं आई। ऐसा रूप, गुण, धन-सम्पन्न तो मैंने किसी को नहीं देखा। इसके आने पर तो मुझे देवों को भी दुर्लभ पदार्थ मिलने लगे हैं।

अन्तप्पवरोवमीतनोंदुदारतेयं कनसिनोळा दोडं कंडरिये नीतंगे फेरगे नाडिल्लोळगे भंडारमिल्लीतंगे पोन्नताणं वर्पुदिदनारय्वेनें दु पुसिगुमेंयिंदने-कचाटुकारदिं नंबिसि मेल्लने बेसगोळ्बुदुं मेंमरेदु तन्न कळविन मार्गमेल्लमं पेळे, केळ्दनंगसौंदरि बेरगागिर्पुदुं, मरुदिवसमरसनराजियवेरसु तूर्यत्रय मोप्पे जलक्रीडेगे पोरमोट्टु पोगुत्तिरे, ॥११६॥

अर्थ—वेश्या सोचने लगी कि कहीं मैं स्वप्न तो नहीं देख रही? मेरा घर सोना, चांदी, मणि-रत्नों से भर गया है, कहीं रखने को भी स्थान नहीं है। किन्तु यह इन पदार्थों को कहां से लाता है? इसका पता युक्ति से करना चाहिए। यों ही पूछने से कदाचित् रुष्ट हो जावे। मेरे लिए तो यह दैवी वरदान समान है। विश्वास दिलाकर ज्ञात करना चाहिए कि इतनी द्रव्य प्राप्ति का स्रोत क्या है? उसने ऐसा विचार किया अब ललितांग बाहर से आया तो वह उसे बड़े प्यारसे, लीलामय विलासोंसे, हावभावसे प्रसन्न करके कहने लगी कि

अहो, यह सब तुम कहां से लाते हो ? मुझे तो ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिला जो इस प्रकार की सामर्थ्य रखता हो । हे नाथ ! आप यह कैसे लाते हो ? मुझे जानने की उत्सुकता है । ललितांग तो उसके वशीभूत था ही । वह कहने लगा कि हे प्रिये, मेरे पास अंजनगुटिका है । जिसे मैं आंखों में आंजकर अदृश्य हो जाता हूं और फिर कहीं भी अलक्ष्य होकर इच्छित वस्तु उठाकर ला सकता हूं । यह सब चोरी का द्रव्य है । इस प्रकार उसने सब रहस्य प्रगट कर दिया ! वेश्या यह सुनकर आश्चर्य प्रकट करने लगी । उसने सोचा कि अब मुझे क्या कमी है ? वह निश्चिन्त हो गई । एक समय जब वह अपने भवन की छत पर बैठी थी तो उसने देखा कि जल-क्रीड़ा करने के लिये राजा और उसकी पट्टमहिषी हाथी पर आरूढ़ होकर बड़े गाजे-बाजे के साथ उसके सामने की राजवीथि (सड़क) से चले जा रहे हैं ।

तरणियकिरणावळिगं
सरसिजवेरिय मयूखततिगं मिगिल-
च्चरि कांतियेनिप वेळर्गि-
स्फुरियिप सद्रत्ननिकरदिंदोप्पुवुदु ॥११७॥

अर्थ–सूर्य की विविध रंगमयी किरणों से जैसे कमल खिल उठते हैं, उसी तरह से विविध प्रकार के रत्नजड़ित आभूषणों की कान्ति से कमलमुखी रानी का शरीर दमक रहा था ।

पट्टदमहादेवियुरदोळोपुपर्तिद ज्योतिःप्रभमेंब पदकमं कंडनंगसोंदरीया-पदकद मेले प्रीतिबट्टु, अंजनचोरं घुटिकाप्रयोगदिंदं दृश्यरूपदिं पोगिकळ्दु तंदुकोडुव समर्थनें बुंदं तां वल्ललप्पुदरिं दां पदकमनेनगे कूर्तयप्पोडे बेगदिं तंदीवुदेंदु लल्लेगेदु प्रार्थिसुदुमदु पोरमागे नीनेतंतरबेळ्दोडं तंदित्तपेनिदोंदु मात्रं बेडदेकेने ॥११८॥

अर्थ–इस प्रकार सर्वांग शोभायमान उस पट्ट रानी के कण्ठ में जो ज्योतिःप्रभ नामक रत्नपदक (रत्न हार) था, उसने वेश्या के मन को मोह लिया । वह सोचने लगी कि यह तो मेरे कण्ठ में आना चाहिए । यदि इसे नहीं पहना तो मेरा स्त्री-जन्म ही व्यर्थ हो गया । किन्तु मेरा प्रिय तो अंजनविद्या में निपुण है, वह तुरन्त इसे प्राप्त कर मेरे लिये ला देगा ।

गुटिका के प्रयोग से वह इसे लानेमें सफल होगा । मैं इस पदक को पहन कर अपनी शोभा को बढ़ाऊंगी । ललितांगमें यह सामर्थ्य है । फिर वह मुझे तो बहुत प्यार करता है इसलिए मेरी इच्छाकी पूर्ति वह अवश्य करेगा । मैं किसी उपायसे यह पदक ला देने के लिए उससे प्रार्थना करूंगी । अंजनचोर के आते ही वह पलंग पर लेट गई और उसने शिर दर्द का बहाना कर लिया । बाल अस्त व्यस्त करके मूर्च्छिता के समान लेट गई । पूछने पर उसने स्पष्ट कह दिया कि रानी के कण्ठ में जो मैंने रत्नहार देखा है उसे लाकर मुझे दो ।

नीतिकार ने कहा है कि—

संसार को पार करना कोई कठिन नहीं है किन्तु इसके बीच में कांचन और कामिनी ये दो दुस्तर बाधाएं हैं । यदि ये बाधा न हों तो संसार को पार करके मुक्त होना कोई कठिन काम नहीं है ।

स्त्रियों के विषय में नीतिकार कहता है—

एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतो-,
विश्वासयन्ति च नरं न च विश्वसन्ति ।
एताः प्रविश्य सरलं हृदयं नराणाम्,
किं किं न वामनयना हि समाचरन्ति ॥

अर्थात् ये स्त्रियां किसी विगूढ स्वार्थसे हंसती हैं तथा रोती हैं और मनुष्य को विश्वास करने पर विवश कर देती हैं किन्तु स्वयं किसी का भी विश्वास नहीं करतीं । यह सरल मनुष्यों के हृदय में प्रवेश करके उनसे अपना इच्छित प्रयोजन साधनेके लिये क्या-क्या नहीं करतीं ? अर्थात् सभी कुछ करती हैं ।

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः,
केचित् प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः ।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य,
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः ॥

अर्थ—इस संसारमें ऐसे वीर पुरुष हैं जो मदोन्मत्त हाथी को वशमें कर लेते हैं, कोई-कोई वीर पुरुष प्रचण्ड सिंह को भी मार डालते हैं । किन्तु मैं बलवानोंके सामने साहस के साथ कहता हूं कि कामदेव का दर्प दलन करने में समर्थ कोई विरले ही मनुष्य हो सकते हैं । अर्थात् कामदेव को वश में करना अति कठिन है । काम से प्रेरित होकर ही मनुष्य स्त्रियों के मायापाश में फंसता है ।

जो व्यक्ति कामदेवको जीतकर मनमोहिनी स्त्रियोंके जालसे बचा रहता है वही सबसे अधिक बलवान होता है। वह अटल ब्रह्मचारी लोक में सभी से वन्दनीय होता है। उसके सामने किसीका तप तेज ठहर नहीं सकता। उसे किसी स्त्री का कामुक मायाचार वशीभूत नहीं कर सकता। अतः वह अजेय होता है।

आपदकं बंदोडेके-
ळोपोत्तु तोडले बेळ्कुमरिदोडे निन्नं।
भूपति कोळ्गु कवरुगु-
मेपडिमातदर पंबलं बिडु नयदिं ॥११६॥

अर्थ–(प्रसंग–वेश्या ने आग्रह किया कि वह पट्टरानी का ज्योतिःप्रभ नामक पदक तो तुमको लाकर मुझे देना ही होगा, क्योंकि तुम में देवों तक के पास की वस्तु लाकर देने की सामर्थ्य है। अनंगसुन्दरी के दुराग्रह को देखकर ललितांग ने उससे कहा–) हे अनंग-सुन्दरि ! तुम इसके लिए हठ मत करो। यद्यपि मैं तुम्हारे लिए आकाश-पाताल एक कर सकता हूँ। जो अति दुर्लभ वस्तु हो, उस वस्तु को भी लाकर दे सकता हूँ किन्तु इस पदक के लिए तुम्हारा हठ करना उचित नहीं। क्योंकि यह ज्योतिःप्रभ पदक (रत्नहार) दीप्ति-मान रत्न का है अतः यह प्रदीप्त मणि-पदक अन्धकार में भी चमकता है। तुम जैसे ही उसे पहनोगी, राजा के अन्वेषक सिपाही तुम्हें पकड़ कर वह हार छीन लेंगे तथा तुम्हें मार डालेंगे। किन्तु उस वेश्या ने इस बात को ललितांग का किया हुआ बहाना ही समझा और वह अपने दुराग्रह से तनिक भी इधर-अधर नहीं हुई।

एंबुदुमंजनचोरंगे मुळिदु पासिनमेलिं नेलक्के बीळलोदेदु, कोळोलं कैयोळं मूडेगट्टुवंते मोदि, कोपानळनिं कणगाणदे केलदोळिर्द जंतद पावुगेविंदमिट्टु ॥१२०॥

अर्थ–वह वेश्या अंजनचोर पर अत्यन्त क्रोधित हो गई। पलंग से नीचे गिर पड़ी, त्रिदोषसन्निपात के लक्षणों के समान उसको जैसे मूर्च्छा आ गई हो, वह हाथों में ऐंठन दिखाने लगी, लकवा मार जाएगा, इस प्रकार अंगों को करने लगी, उसे उस रत्नपदक के सिवाय कुछ भी नहीं सूझता था। नाना प्रकार से त्रिया-चरित्र करके वह रूठी हुई रानी के समान हो गई।

तोडवेनगप्पोडे लक्कं-
बडेववु पळयोळवु नंबेयप्पोडे नोडी ।
गडे कूपें येंदु नां पे-
ळदोडे गंडरबूते नुडिवुदे पेरपेरतं ॥१२१॥

अर्थ—उस अनंगसुन्दरी ने कहा कि यदि आप रानी का वह ज्योति:प्रभ पदक लाकर मुझे दे देंगे तो आपके रहते हुए राजा मेरा क्या बिगाड़ सकता है ? पदक लाकर जब आप मुझे देंगे तभी में आपको सच्चा वीर समझूंगी। आप मेरे प्रिय प्राणाधार पति हैं, क्या इतना भी नहीं करेंगे ? मेरा आप पर पूरा विश्वास है। यदि आपने पदक लाकर नहीं दिया तो मैं समझूंगी कि आपका यह प्रेम बनावटी है। क्या यह बात आपको बार-बार कहनी अच्छी लगती है।

सितगेये नानेम्मण्वेय-
मतमं बंधुगल् वचनमं मोरि महो-
न्नतियिं निन्नोड नोति-
र्दतिचपलेगे भावि पंदि दावुदु चोद्यं ॥१२२॥

अर्थ—हे प्राणेश्वर ! मैंने अपने सभी भाई-बन्धुओं का भरोसा त्याग कर आप पर ही भरोसा किया है। वह मेरा भरोसा करना अनुचित नहीं है। क्योकि संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसे आप लाकर न दे सकते हों, यह तो आपकी न लाने की इच्छा ही है कि मुझे राजभय दिखाकर, आप बात को टालना चाहते हैं। यदि आप ला देंगे तो क्या आश्चर्य की बात होगी ?

एन्नेंद् मातनंतिं-
तन्नदे तडदिरदे कूडुवच्चिगमं केळ् ।
निन्नोड निर्द् वोजंगर्-
निन्नंतिरे बंजरल्लरदटर्कळ्वर् ॥१२३॥

अर्थ—यदि आप को मुझ से प्रयोजन हो और मुझ पर आपका सच्चा प्रेम हो तो आप को वह पदक लाना ही पड़ेगा। नहीं तो मेरे पास जिस प्रकार अन्य सामान्य जार पुरुष

आते हैं, वैसा ही आपको भी समझूंगी । यही नहीं किन्तु यह वीरोचित कार्य न करने से मुझे विश्वास हो जावेगा कि आप को प्रसव देकर भी आपकी माता वन्ध्या ही है ।

एडयनरसादोडे कोडेय कावु मेगादुदेंबते देसिगनप्पनिनगेरडिळ्ळदे स्नेहमं माडि कूडिदें नगे संतोषमं माडिदै (एंदातनेरडिल्लदे कूर्तूनरिदनप्पुदनरिदु) कडेगण्ण नोटेदोल् श्रृंगाररसमुं मेल्तुडियोळ् कारुण्यरसमुमोड नोडने पेर्च नुडियलिन्मुनिदपळेंदंजनचोगं भयगोंडु नल्लळपादमंतलेयोळ् पोत्तुकोडुं (एन्नमुद्देमुनियदिरदावगहणं) निनदं तंदिवेनेजदिरेंदु संतसंगोळिसिकळ्ळंगे बेळदिंगळसोगसदेंब नाणुडिय नन्निमाडि शुक्लपक्षं पोपिनमिदु कृष्णपक्षदष्टमियेंदुं ॥१२४॥

अर्थ—उस वेश्या ने पुनः कहा कि जिस प्रकार राजा के छत्र को छत्र दण्ड साधता है, उठाता है, जिस प्रकार प्रजा राजा के लिए आधार बनती है, उसी प्रकार यदि तुम मुझ से प्रेम करते हो तो पदक को लाकर मुझे दो और मुझे उठाओ । मैं भी उसके अभाव में गिरी हुई के समान हूं । उसे लाकर देने से ही जैसे सेवक स्वामी को परिचर्या से उठाते हैं, उसी प्रकार आपके द्वारा अपने आप को उठाई हुई मानूंगी । मेरे हृदय में जो उद्विग्नता है आप उसे पदक प्रदान कर शान्त करें । ऐसा कहती हुई वह वेश्या एक कुशल-अभिनेत्री के समान आंखों में आंसू भर कर करुणा का प्रवाह तरंगित करने लगी, दीर्घ श्वास लेकर अभी प्राण निकलने वाले हैं, ऐसा अभिनय (स्वांग) दिखाने लगी । आप के सिवाय अन्य कोई मुझे नहीं उबार सकता है, ऐसा भाव प्रकट करने लगी । कभी वह हाव-भाव कटाक्षों से शृङ्गार रस में करुणा रस का भाव प्रगट करने लगी । ललितांग उसके स्त्रीचरित्र को सत्य मान बैठा । वह उसकी दयनीय दशा पर भयभीत होकर पिघल गया तथा उसके तीक्ष्ण कटाक्षों से मोहित भी हो गया । कामावेग में आकर उसने उस वेश्या के दोनों चरणों को अपने मस्तक पर रख लिया और कहने लगा कि हे प्रिये ! मैं तुम्हारे लिए वह पदक लाकर दूंगा । तुम्हारी इच्छा की अवहेलना करना मेरे वश की बात नहीं है । किन्तु अभी शुक्ल पक्ष की रात्रियां हैं, और इसमें मेरी अंजनगुटिका विद्या सफल नहीं होसकती, तुम धैर्य धरो मैं आने वाले कृष्णपक्ष की अष्टमी की रात्रि में तुम्हें वह रत्नपदक लाकर दूंगा । अब तुम हठ छोड़कर सौम्य वेष धारण करो, हंसो और पदक को निश्चित समय पर आया ही समझो ।

नीतिकारों ने कामी, व्यसनी, लम्पटों के विषय में ठीक ही कहा है कि 'कामातुर पुरुषों को किसीका भय तथा लज्जा नहीं होती।' कामदेवके बाणों की मार पुरुष सह नहीं सकता, बड़े-बड़े धीर-वीर भी इसके सामने झुक जाते हैं। फिर ललितांग तो बचपन से व्यसनी था। इसलिए तुरन्त विश्वास कर बैठा कि यह वेश्या रो रही है, सो इसके आंसू सच्चे हैं, ये मोती से आंसू बहुमूल्य हैं। संसार में ऐसी ही माया में फंसे व्यक्ति निरन्तर ठगे जाते हैं। उन्हें फिर भी होश नहीं होता।

तुरिपदिनंजनमं वि-
स्तरदिंदं कराणेळच्चिकोंडादरदिं।
भरदिंदद्दश्यरूपिं-
दरमनेयं पोक्कु पदकमं कोंडागळ् ॥१२५॥
पोरमट्टु पेर्चिनिं मे-
य्यरियदे बरे रत्नदीप्तदेसेदेसेगेल्लं।
मिरुगे रविकिरणनिकरद-
नेरदिं तोळलुत्तुमिर्प दंडकनेंबा ॥१२६॥

अर्थ—वह अंजन चोर कृष्णपक्ष की अष्टमी को अन्धकार से पूर्ण रात्रि में राजा के राजभवन में जहां महादेवी सोती थी, अंजनगुटिका के प्रयोग से छिपकर जा पहुँचा। उसने तत्काल अवसर पाकर वह पदक रानी के कण्ठ से निकाल लिया और शीघ्र वहां से लौट चला। किन्तु वह रत्न बहुत दीप्तिमान था, उसकी कान्ति सूर्य की किरणों के समान थी। इस लिए वह रास्ते में अपनी किरणें बिखेरने लगा और प्रकाश की एक लहर सी अंजनचोर के साथ दौड़ती दिखने लगी।

तलारं कंडरिदातनंजनविद्येयंकेडिसि बेन्नट्टि बरेमयदिं दंजनचोरं पदकमनीडाडियापुरदकोटेयं विद्याधर करणदिलंघिसिदेसेगेटडुवातनेंदु श्मशानभूमियोळादमरदकेळगुरिव, सोडरं कंडळ्ळिगे बंदुनिंदुनोडुवागळालदमरदकोंबिनोळ् नूरोंदु कालनेलयं कट्टि नेलपिनकेळगे ॥१२७॥

परशुविळुकोंतमसि तो-
मरमुद्गर भंडिवाळचक्रं शूलं ।
सुरगिमोदलागे मूवत्ते-
रडायुधमं महोत्सवं बेरसिनितं ॥१२८॥

अर्थ—कोतवाल ने जब यह देखा तो वह समझ गया कि महारानी का पदक कोई अंजन विद्या से चुराये लिये जा रहा है । उसने अंजनविद्या को नष्ट कर दिया और उसका पीछा करके उसे घेर लिया । अंजनचोर ने भयाकुल होकर पदक वहीं डाल दिया और विद्या के बल से कोट का उल्लघन किया । वह कूदकर श्मशानभूमि में जा पहुँचा जहाँ एक वटवृक्ष था और उस पर सौ सींकों का छींका लटका हुआ था । उसके नीचे चक्र, शूल, बर्छी, मुद्गर आदि बत्तीस आयुध गढ़े हुए थे ।

निलापि पूजिसि नेलपिन कालं कोयूवल्लणमदेरुत्तुं मिळियुत्तुमिर्पनं कंडंजनचोरनवनं पिडिदु नीनार्गे नीं साधिसुव विद्येयपेसरेनिदनुपदेशंगंगेयुदरार् पेळ्, पेळिदेंदु निन्ननिल्लिकोल्लदे. माणदेंदु सुरगियं किळ्तु गंटल्गे पूडुवुदुं प्राणभयदिं बेर्च्चि ॥१२९॥

अर्थ—एक साधक (विद्या साधने वाला) पूजा के अनन्तर उस बड़ के वृक्ष पर चढ़ता और उस छींके की एक डोरी को काट देता, ऐसा करने के पश्चात् वह फिर वृक्ष से नीचे उतर आता और पुनः ऊपर जाकर छींके की एक अन्य डोरी को उसी प्रकार काट देता । इस प्रकार उसे छींके से बार-बार उतरते और चढ़ते देखकर ललितांग ने सोचा कि यह क्या कर रहा है । प्रतीत होता है यह कोई मंत्रसाधक है । ललितांग ने जाकर उसे पकड़ लिया और पूछा—तुम जिस विद्या की साधना कर रहे हो, उसका नाम क्या है ? इसकी किस प्रकार सिद्धि होती है ? क्या तुमने वह सिद्धि पा ली है ? इत्यादि । शीघ्र बताओ । ललितांग ने अपने पीछे लगे हुए कोतवाल के आने की शंका से भयभीत होकर कहा ।

एन्न पेसर्वरसेनं
सन्नुतमीविद्ये गगणगामिनि पेसरिं ।

मुन्निदनुपदेशंगे-
यूदन्नेरे जिनदत्तसेट्टि निर्मलचरितं ॥१३०॥

अर्थ—उस साधना करने वाले ने कहा कि मेरा नाम 'वरसेन' हैं। यह अतिपवित्र गगनगामिनी विद्या है। इस विद्या का उपदेश मुझे पर-उपकारी, सत्यवादी, सम्यग्दृष्टि पवित्र चारित्रवान् जिनदत्त श्रेष्ठी ने दिया है।

एंबुदुमंजनचोरं वरसेननमातिंगे मुगुळ्नगेनक्कु। (सकलसद्गुणनिळय-नु सद्धर्मजलनिधिचन्द्रनु सत्यनिधिमुमेनिसिनेगळ्द जिनदत्त सेट्ठियें मंत्रोपदेशं गेयदूनेने, निनगे पंदेतनमे तानादोडिनितानु भयमिल्लदोमिये नेलपिनकालेल्लमं कोयवें नीनादोडेळुत्तुमिळियुत्तु मिते किदपे भयं बेडे ने वरसेननिंतेंदं ॥१३१॥

अर्थ—वरसेन की यह बात सुनकर ललितांग हंसने लगा। बोला, देखो, यह दुनिया में सम्पूर्ण सद्गुणों का आगार, सद्धर्मरूपी समुद्र को बढ़ाने के लिए चन्द्रमा के समान, सत्य, दया आदि का निधान, लोक प्रसिद्ध, जिनेन्द्र देवका भक्त, समस्त मनुष्योंका विश्वास-पात्र, जिनदत्त सेठ है। उसका उपदेश तथा उसकी वाणी मिथ्या नहीं हो सकती। किसी को वह असत्य बात नहीं कहता, जो व्यक्ति उसके वचनों का पालन करेगा, वह क्या कभी धोखा खा सकता है? कभी नहीं। अरे! तुमको जिनदत्त सेठ पर और अपनी साधना पर भी विश्वास नहीं है जो कभी वृक्ष पर चढ़ते हो और फिर उतर आते हो? तुम्हारे हृदय में शंका भरी है। तुम साधना करते हुए भी भय रहित नहीं हो। तुम्हारे पास विश्वास की कमी है। सम्भवतः तुम मरने से डरते हो।

एत्तलरिवर्मनुष्य-
च्चित्तमनारयूवनानिदं कोयूदेग्गिं।
सत्तोडे बळिक्के कर्तसिन-
बत्तक्केच्चुत्तु गोणियांतंतक्कुं ॥१३२॥

अर्थ—वरसेन कहने लगा कि मैं मरने से डरता हूँ, यह तो ठीक है। ऐसा कौन है, जो मरनेसे नहीं डरता, यह मनुष्य-पर्याय क्या सदा यों ही मिलती है? मैं शंका कर रहा हूँ तो

क्या अनुचित कर रहा हूं। जिनदत्त श्रेष्ठी का वचन जैसा आप कहते हैं, वैसा ही सत्य होगा। किन्तु मैं केवल इसी विश्वास पर इतना बड़ा त्याग करने को तैयार नहीं हूँ। मुझे संशय तो है ही। मैं पहले ही गरीब हूं। जिस गधे पर बोझ पहले ही अधिक होवे, फिर भी उस पर और अधिक बोझ लाद दिया जावे तो उसकी मृत्यु हो ही जायगी।

सत्तु कोळवस्वर्गदिं बदुकोळव नरकंलेसु [एंबुदुनाणणुडि] जीवमुळ्ळोडे हाडिकोंडुणलक्कुमेंबनीतियं बिट्टुमारियुं बळारियुं सायुगुमानादोडोल्लेनेने, ललितांगं [तन्नंतरंगदोळिनेंदंमुगिलं मुट्टिदुदर नीळमं मक्कळूपेत्तमदुबेयं पट्टं गाट्टिदनराज्यमं गेल्दंकदगेल्लमं मोक्षमनेयूदिदनतपमं पर्वतननेत्ति दन-साहसमं] समुद्रमं लंघिसिदनर्पि, इन्द्रत्व पडेदवनपडेदवन जिनभक्तियं काममननोळसिदळसोवगं त्रिभुवनविजयिय वीरमं, चक्रवर्तित्वमनेयूदिदन-विद्येयुमं बेळ्तनदंते ॥१३३॥

अर्थ–ललितांगने सोचा कि मुझे तो अब मरना ही है, क्योंकि कोतवाल मेरे पीछे लगा हुआ है। यदि जिनदत्त श्रेष्ठी के वचन सत्य निकले तो मुझे एक उत्तम विद्या की प्राप्ति हो जायगी और मैं आकाशमें उड़कर कोतवालकी पहुँच से भी परे हो सकता हूं। यदि ऐसा न हुआ और मैं पृथ्वी में गढ़े हुए इन शस्त्रों पर गिरकर मृत्यु के मुख में चला गया तो भी अच्छा रहेगा, लोग यही कहेंगे कि मन्त्र-साधन करते-करते मर गया। यह तो नहीं कहेंगे कि चोरी करते मारा गया। यह मरण भी कीर्तिकर होगा। विद्या की साधना करते हुए मरने से मुझे स्वर्ग मिलेगा। अन्यथा उस चोरीके अपराधमें मरने से नरकगति प्राप्त होगी। जब तक यह जीव शरीर में विद्यमान है, तब तक तो उपाय कर लेना अच्छा है। इस प्रकार से विचार करते हुए उसकी भावना शुद्ध होती चली गई। वह विचार करने लगा–

जिनदत्तं जिनपादपद्ममधुपं दुष्कर्मदावाग्निस-
ज्जनचूडामणि सर्वजीवहितहितनिंद्रादिक्षमं निर्मलं।
विनयालंकृत नागमान्वितनुदारं सत्यवाक्यं जग-
ज्जनसंस्तुत्यनणुव्रतैकनिलयं वात्सल्यरत्नाकरं ॥१३४॥

अर्थ–जिनदत्त श्रेष्ठी कैसे हैं? सदैव जिनेन्द्र भगवान् के चरण-कमलों में भ्रमर के समान लीन रहने वाले हैं और दुष्कर्म के लिए दावानल के समान हैं, अर्थात् सभी प्रकार

के पापों को जलाने वाले हैं, सज्जनों के लिए चूणामणिरत्नोपम हैं, अर्थात् सज्जन उन्हें उनके सद्‌गुणोंके कारण मस्तक पर धारण करते हैं, आदर-मान देते हैं । सम्पूर्ण जीवात्माओं के हित-साधन में दयानिधि हैं, वह इन्द्र के द्वारा पूजनीय हैं, मेरुपर्वत के समान उच्चाशय हैं, निर्मल मन वाले हैं, विनयरूप अलंकार से सम्पन्न हैं, आगम मार्ग पर चलने वाले हैं, यानी--शास्त्र वचनों में पूर्ण श्रद्धान रखने वाले हैं, पांच प्रकारके पापों से रहित हैं, अणुव्रतों के धारक हैं, सम्पूर्ण जीवों पर वात्सल्य को धारण करते हैं, सभी प्राणियोंमें श्रेष्ठता को प्राप्त हैं ।

ओंदिरु पेय प्राणक्कं तप्पदातं निन्न प्राणक्के कप्पुवने ? तप्पलरियं, नानातळारन कैयोळ्सायदिल्लिपरिच्छेदमं माळ्वेनेंदु ॥१३५॥

अर्थ--वह ललितांग (अंजन चोर) सोचने लगा कि पुण्यवान् जिनदत्त श्रेष्ठी तो चींटी को भी दुख देने वाला नहीं है, अर्थात् कोई ऐसा काम नहीं करता कि जिससे किसी भी प्राणी को पीड़ा हो फिर किसी मनुष्य के लिए वह किसी विद्या का उपदेश करते समय तो ऐसा नहीं कह सकते कि साधना करने वाले को प्राणों से हाथ धोना पड़े । तो क्या उनके वचन पर विश्वास रखने से मेरे प्राणों की रक्षा नहीं होगी ? अवश्य होगी, क्योंकि उनका वचन मिथ्या हो नहीं सकता । कोतवाल के हाथों पड़कर मरने से तो विद्या को साधन करते हुए मृत्यु भी आ जावे तो उसका भी सहर्ष स्वागत करना चाहिए ।

कोडुमन्त्रमनेले बेगं-
कुडर्पददोंडे निन्ननिल्लि देसेवलिगेय्वें ।
तडेपदेनो पंदेयं पां-
वर्डदंति बेचि नाडेयु वरसेनं ॥१३६॥

अर्थ--अधीर होकर वह ललितांग वरसेन से कहने लगा कि तुम इस विद्या को तुरन्त मुझे देदो । बोलो ऐसा करते हो या नहीं ? यदि किसी प्रकार भी ननु-न च (गड़बड़) करोगे तो तुम्हारा गला घोंट कर अभी मार डालूंगा । बोलो, शीघ्रता करो । जैसे कोई सर्प को देखकर कांपता है, उसी प्रकार वरसेन अंजनचोर की बात सुनकर भय से कांपने लगा ।

जिनदत्तसेट्ठि मुन्नं-
तनगेंतळवडिसि पेळ्दनंता तेरदिं ।

मनद् महाभयदिंदं
जनचोरंगरिये पेळे तिळिदादरदिं ॥१३७॥

अर्थ—ललितांग कहता है कि देखो, जैसा मन्त्र तुमको जिनदत्त सेठ ने दिया है वैसा ही मुझे बता दो। उसमें किसी प्रकार की गड़बड़ न करना। वरसेन ने स्वीकार किया कि जैसा मन्त्र मुझे मिला है उसी प्रकार कहूँगा, किसी प्रकार का वर्ण-बिन्दु-विसर्ग की न्यूनता-अधिकता (कमीवेशी) व्यत्यय (उलटफेर) नहीं करूंगा। ललितांग ने एकाग्र होकर वरसेन से वह मन्त्र यथावत् (जैसे का तैसा) सुना।

परमजिनेश्वरपदमं
स्मरियिसि जिनदत्तसेट्ठिगादरदिंदं।
करयुगमं मुगिदु नि-
र्भरचित्तं पंचपदमनुच्चरिसित्तु ॥१३८॥

अर्थ—क्योंकि ललितांग के पीछे कोतवाल पड़ा हुआ था, इसलिए उसे इतना अवकाश नहीं था कि वह मन्त्र को वार-वार सुनता या उसे कण्ठस्थ करता। उसने केवल भगवान् जिनेन्द्रदेव का स्मरण किया और भक्तिपूर्वक उन पर अडिग श्रद्धान करके पुन: जिनदत्त श्रेष्ठी को नमस्कार किया और पंचपरमेष्ठियों का एकचित्त होकर स्मरण किया।

एरि नेलयं मनंबिडे-
तोरुव नूरेंटु तेरद् नेलपिन कालं।
कीरिदिडे शंकेयिंदं-
बेरोदं बेनेयदनितुमं ललितांगं ॥१३९॥

अर्थ—तब वह ललितांग उस वटवृक्ष पर चढ़ गया और हाथमें छुरी लेकर उन शेष बची हुई छींकेकी डोरियोंको एक साथ काटनेके लिए उद्यत हो गया। उस समय उस ललितांग के मन में किसी भीप्रकार की शंका नहीं थी, उसके मन में पूर्ण विश्वास का संचार हो रहा था।

चेक्कने कोय्वुदुं आयुधाग्रमं मुट्टे वंदु तागदे मेगणगे नेगेये तद्विद्या-देवते मुंदे निंदु कैयूयं मुगिदुबेससु बेससेने, ललितांगं बेसनेनेन्न सुकवि-

निकरपिकमाकन्दंनल्लिगोयूवुदेंबुदु अंते गेय्वेनें दु मेरुगिरिय भद्रसालनंदन-वनदोळिर्द जिनदत्तं तोरि नेलक्किळिपि त्रियेपोपुदु मंजनचोरं मेरुगिरियं नोडि ॥१४०॥

अर्थ—इस प्रकारसे उसने अपना दृढ़ निश्चय करने के बाद एक ही वारमें उस छींके को उन सभी डोरियोंको काट डाला। डोरियों के कटते ही वह गिरा और नीचे गड़े हुए तीक्ष्ण आयुधों की नोंक पर पहुँचने से पहले ही उसे आकाशगामिनी विद्या देवता ने अधर ही विमान में आरूढ़ करा लिया। इसके अनन्तर वह गगनचारिणी विद्या देवता उससे कहने लगी कि आज्ञा करो, तुम क्या चाहते हो ? ललितांग ने कहा मुझे कुछ नहीं चाहिए, केवल उस महाभाग व्यक्ति के दर्शन करने हैं जिनकी कि स्तुति श्रेष्ठ कविजन भी करते हैं, वह श्री जिनदत्त श्रेष्ठी हैं। इस समय वह जहां भी हों, मैं उन्हींके पास जाना चाहता हूं, और किसी प्रकार की इच्छा नहीं है। गगनचारिणी विद्याने तुरन्त एक क्षण में उसे विमान में बैठाकर जिनदत्त सेठ के पास पहुँचा दिया। वह उस समय सुमेरु पर्वत के भद्रशाल नन्दन वनमें स्थित चैत्यालय में पूजा करने गए हुए थे। उस आकाश-गामिनी विद्या ने ललितांग (अंजनचोर) को वहां छोड़ दिया और तुरन्त अन्तर्धान हो गई। वह हक्का बक्का होकर देखने लगा कि अहो, क्या यही मेरु गिरि है ?

एं भक्तियिं विधात्रं-
तां भाविसि नोडि माडलेनसिद्मान-
स्तम्भमेनिसिदुदोळ्पिं-
शुभंच्छोभाकरं सुरेश्वरशैलं ॥१४१॥

अर्थ—जो व्यक्ति पुण्यवान् होता है। वही ऐसी देवभूमि को देख सकता है। उसके दर्शनमात्र से ही ललितांग के कर्म झरने लगे और उसमें आनन्द-उल्लास का संचार होने लगा। वह पापों से रहित हो गया और उसके आत्मा पर छाये हुए अनादिकाल के कर्म-वासनाएं नष्ट होने लगीं। उसका मन मानस्तम्भ को देखकर प्रसन्न हो गया। आनन्दित होकर वह शोभा के निधान सुरेश्वरशैल मेरु पर्वत को देखने लगा। अनेक प्रकार के स्तुतियों द्वारा वह भगवान् की प्रार्थना करने लगा। वह विभोर होकर सुजनोत्तम रचित स्तुति के समान स्तुति करने लगा—

श्रीयु' निर्मलवंशमु' विभूतेयु' शास्त्रार्थवेदित्वमु'
कायायुस्तिरभावमु' मनुजगात्रंगादोडं मत्त पा।
देयं हेयमिदेंदु तांस्वपरतत्वातत्वमु' काणदं,
दायेल्लं विफलंलेंदरिपिदे निर्वाणलक्ष्मीपती ॥१॥

हे मोक्षलक्ष्मी के अधिपति अरहंत भगवन्! किसी प्राणी को जब तक अपने स्वरूप का तथा अन्य पदार्थ के स्वरूपका ज्ञान नहीं होता तब तक उत्तम कुल, वैभव, शास्त्रज्ञान, सुन्दर शरीर, दीर्घ-आयु, अनेक भोगोपभोगों के सामान इत्यादिक बाहरी सामग्री में स्थिर होना, ममत्वबुद्धि रहना उचित है किन्तु स्व-परका भेदज्ञान होनेके अनन्तर इन सभी ऊपरी वस्तुओं को हेय जानकर छोड़ देना ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव को उचित है। परन्तु स्व-पर ज्ञान के विना प्राणी को ये सारी वस्तुएं तथा सम्पत्ति सुखकर जान पड़ती हैं, फिर भी वास्तवमें वे सभी उसके लिए निष्फल हैं और त्याज्य हैं।

यानी—जब तक मनुष्य को स्व और पर का ज्ञान प्राप्त न हो तब तक उसकी रुचि स्त्री, पुत्र, कलत्र, कुटुम्ब, महल, मकान, जमीन, सुन्दर पदार्थ, ख्याति, मद, अहंकार आदि में रहती है। वह इन्हीं में स्वबुद्धि रख करके परिग्रह में लगा रहता है। जब भेद-विज्ञानसे स्वपर विवेक हो जाता है, तब वह इनकी असारता को समझ लेता है और इनसे वास्तव में विरक्त होकर अक्षय सुख की खोज में लग जाता है। वह अक्षय सुख वैराग्य (पर-पदार्थों से रागभाव द्वेषभाव त्यागने) में है। उसी के द्वारा वह मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त कर सकता है। जिस प्रकार मकड़ी अपने बुने हुए जाल में स्वयं ही फंस कर मर जाती है उसी प्रकार यह जीव भी अपने ही कुटुम्बादि परिग्रहों में फंसकर उसी की चिन्ता करते-करते मृत्यु का शिकार हो जाता है और अपने उद्धार का समय नहीं निकाल पाता।

प्रणुतात्म। परमेष्ठि निश्चयनयं स्वद्रूपमं द्रव्यदि'
गुणदि पर्यदिदंभावनरिगु' निन्नुक्तिविन्दातनु।
ळ्वणमोहग्रहमंपेणर्चिसि परिच्छिन्नात्मतत्वं दृढ-
प्रणिधानोचितनप्पनेंदरिपदे निर्वाणलक्ष्मीपती ॥२॥

भगवन्! जो भव्यजीव आपके अमृतमय दिव्य उपदेश को सुनकर द्रव्यगुण-पर्याय की अपेक्षा से श्रेष्ठ-आत्म-स्वरूप पंचपरमेष्ठियों को और निश्चयनय को एवं अपने स्वरूप को

जानने वाला है और मन में भ्रमको उत्पन्न करने वाले मोहरूपी पिशाच को दूर करके आत्मस्वरूप में दृढ़ता से आस्था रखने वाला है, वह ही भेद-विज्ञान के योग्य है और वह ही मनुष्य धन्य है।

हारं सूत्रादिनोंदे मौक्तिकमणि-व्रातंगळि बेरुबे
रारूढोज्ज्वलकान्तियिं बगेये बेरूबेरु भल्तैंबवो।
त्तारेयूवंदु सदर्थ पर्ययगुणव्रातं गळिं जीवने
दारोळूपं सुविचार दिं दरिपिदे निर्वाणलक्ष्मीपती ॥३॥

हे निर्वाण लक्ष्मीके स्वामिन् ! सूत्र में पिरोये हुए मोतियोंकी अपेक्षासे तो माला अलग-अलग-दिखती है किन्तु अपनी कान्ति की अपेक्षा से एक ही दिखाई देती है, अनेक नहीं। इसी प्रकार यह जीव द्रव्य, गुण और पर्याय की अपेक्षा से तो अलग-अलग दीखता है किन्तु चैतन्य की अपेक्षा से एक अभिन्न रूप में दीखता है। अज्ञानी जीव इस प्रकार के मोती-माला के दृष्टान्तसे सरलता के साथ जीव और आत्मा के भिन्नत्व को अच्छी तरह से समझ सकते हैं।

केन्नं द्रव्यतेयिं दभिन्नने मरुन्मर्त्यादि पर्यायदिं
भिन्नं दर्शन बोधमुख्यगुणसन्दोहंगळिं नोडेतां।
भिन्नाभिन्नने निक्कुमात्मननेनितुं निन्नुक्तियिं निन्नवो
ल्तन्नं भाविसुवंगे मुक्तियेंदरिपदे निर्वाणलक्ष्मीपती ॥४॥

हे निर्वाणलक्ष्मी के अधिपति भगवन् ! यह आत्मा द्रव्य की अपेक्षा से अभिन्न है तथा मनुष्य आदि पर्यायों की अपेक्षा से अनेक भेदवाला है तथा ज्ञान-दर्शन इत्यादि गुण समुदाय की अपेक्षा से अभिन्न है। इस प्रकार यह आत्मा भिन्न-अभिन्न रूप है, हे भगमन् ! इस तरह आपने तत्व प्रतिपादन किया है। इस तत्व की भावना करने वालों से क्या मोक्ष-लक्ष्मी दूर रह सकती है ? अर्थात् नहीं।

एन्नं तत् परमात्मनं नेनेयलानु शक्तियिं व्यक्तियिं
केन्नं भव्यतेयिंद मागदिरदंबगिन्नदप्पल्लिगं।
तन्नं तानरिदन्यदिं तोलगिं तन्नोळनिल्वनुष्ठानमु-
च्छिन्नकारण मक्कुमेंदरिपदें निर्वाणलक्ष्मीपती ॥५॥

अर्थ—हे परमात्मन् ! भव्य जीव में परमात्म-शक्ति विद्यमान है, उस शक्ति को व्यक्त करने के लिये परमात्मा का स्मरण किया जाता है। अतः जो भव्य आपका स्मरण करता है, क्या उसकी परमात्म-शक्ति व्यक्त न होगी ? अर्थात् अवश्य होगी । अपने आप ही भावना करने से आत्मसिद्धि होती है । इसलिए अपने स्वरूपको आप ही जानकर पर-वस्तुओं से ममत्व को छोड़कर जो भव्य जीव अपने स्वरूप में आप ही रत होकर रमण करता है, वही संसार भ्रमण के कारणों को नाश करके मोक्ष लक्ष्मी का पति होता है ।

गुरुतां पेळ्दोडमेनो तत्वरुचि तन्निश्चायकत्वं तदा
चरणं नेट्टने तन्नधीनमदरिं द निश्चयापेक्षेयिं ।
गुरुवक्कुं वगेवंदु ताने तनमेंबी युक्तियं युक्तियु
त्करचित्तंबुगे पेळद्र नीने गुरुवै निर्वाणलक्ष्मीपती ॥६॥

हे निर्वाणलक्ष्मी के स्वामी ! जो गुरुजनों ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सत्य मार्ग भव्य जीवों के लिए बताया है वह रत्नत्रय वास्तव में अपने ही आत्मा में विद्यमान है, अन्यत्र नहीं है । इसीलिए आत्मा अपने लिए आप ही गुरु है, अन्य कोई गुरु नहीं है। इस प्रकार आपने आत्मोन्नति का मार्ग (रत्नत्रय) निरूपण करके भव्यजीवों को बताया है अतः हे जिनेन्द्र देव ! हमारे लिए आप ही परम गुरु हैं । अन्य कोई नहीं है ।

पिरिदप्पोंदु वनांतराळदोळगिंबिल्लागिबिद्दिद सिंह
दुरदंती भवदोळ् स्वकर्मवशदिं बिद्दि जीवनमं ।
परेत्तळ्नेरेवन्न रार्पोगदु तन्नं ताने सोत्साहना
दरदिंदेत्तदोडेंबुदुं निजमतं निर्वाणलक्ष्मीपती ॥७॥

अर्थ—हे निर्वाणलक्ष्मीपति जिनेन्द्र भगवन् ! यह जीव संसार में उसी प्रकार बन्धनों में जकड़ा हुआ पड़ा है जिस प्रकार कोई हाथी किसी बीहड़ वन में सहायकों से रहित किसी गहरे खड्डे में पकड़ने वालों द्वारा वश में किया हुआ पड़ा हो, उसी प्रकार संसार के गर्त में निरालम्ब गिरे हुए प्राणियों की दशा है । वे भी इस संसार के गहरे गढ़े में गिरे हुए हैं उन्हें उस गड्ढे से निकालना कठिन है । किन्तु आप ही उनका उद्धार कर सकते हैं । यह आत्मा ही वह महान् गज है जो इस प्रकार के मोह गर्त में गिरा पड़ा है । इसको अन्य कोई सहायता नहीं पहुंचा सकता । यह तो अपने आप ही आपके आलम्बन से अपना

उद्धार करना चाहे तो कर सकता है ।

ईसंसारमुमात्मविभ्रमदिमात्मंगात्मविज्ञानदिं
दी संसारदोळिर्पु दागदर्दरिंदात्मप्रबोधेतरा ।
भ्यासर्वाह्यतपःप्रपंचमनेनिच्चं माडुतिर्दु समं
ती संसारदे पिंगरेंदरिपिदे निर्वाणलक्ष्मीपती ॥८॥

अर्थ—हे मोक्षलक्ष्मी के अधिपति भगवन् वीतराग जिनेन्द्र देव ! यह जीव निरन्तर अपने विभ्रम या मिथ्यात्व से ही रागपरिणत होकर संसार को वृद्धि करता है । तथा आत्मपरिज्ञान होनेपर यही संसारसे निवृत्त भी हो जाता है । किन्तु जो निरन्तर मिथ्यात्वमें ही पड़ा रहता है तथा मिथ्या तपस्या आदि में रत रहता है, उसको संसार से कभी मोक्ष नहीं मिल सकती ।

भववारासि योळाळ्वरात्मविमुखर्वाह्यक्रियाविह्वळर्
स विशेषात्मविवेकरप्पवर्गळुं स्वात्मस्थरल्लादोडं ।
तवरुं मग्नरे नेट्टनिसुवरदं दुष्कर्मकाण्डप्रमा-
दविदूरस्वर्गतकूर्क ळोंदरिपिदे निर्वाणलक्ष्मीपती ॥९॥

अर्थ—हे निर्वाण लक्ष्मीपते ! आत्मज्ञान से रहित यह अज्ञानी जीवात्मा बाह्यक्रिया में मग्न होकर इस संसाररूपी समुद्र में हमेशा दुःख भोगता रहता है । परन्तु इसके विपरीत आत्मपरिज्ञानी विवेकी जीवात्मा आत्मध्यान को नहीं करने पर भी इस संसार समुद्र में दुःखपूर्वक न भटक कर क्षणमात्र में प्रमाद रहित होकर अपने आत्मध्यान में लीन होते हैं । अर्थात् आत्मज्ञान-शून्य व्यक्ति ही इस संसार में नाना क्लेशप्रद क्रियाओं को करता हुआ दुःख उठाता है । ज्ञानवान् तो आत्मचिन्तन आदिसे सम्यग्दृष्टि होकर यदि कुछ समय भ्रमण भी करेगा, तो दुःख नहीं उठाएगा ।

समयज्ञानदे सिद्धियागददरोळ् श्रद्धानमिल्लादोडा
समयज्ञानमुमल्लिनंबुगेयुमुं टागिर्दोडं शुद्धसं-
यममिल्लादोडमेंतु मागददरिं रत्नत्रयं सिद्धियुं
समनिक्कुं मुनिगेंदु नीवेससिदे निर्वाणलक्ष्मीपती ॥१०॥

अर्थ–हे निर्वाण लक्ष्मीपति अरहंत भगवन् ! अपने आत्मा के श्रद्धान के विना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी तरह आत्मा का परिज्ञान होना चाहिए। इन दोनों (आत्म-श्रद्धा, आत्मज्ञान) के होने पर शुद्ध संयम से आत्म-ध्यान की सिद्धि होती है। उस आत्म-ध्यान (शुक्ल ध्यान) से निश्चय चारित्र प्राप्त होता है। इसलिए मोक्ष लक्ष्मी का पति बनने के लिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों (रत्नत्रय) का धारण करना आवश्यक है।

अरिवागळ्नयमेल्लरिंदरिदु नानावस्थेयिं वस्तुवं
नेरेतद्रूपमनिंतटेंदु तरिसंदव्यग्रनादसत्तमं।
तोरेदेल्लानयपक्षपाततितियं स्वस्थं विकल्पच्युतं
पेरगुं निन्ननुमतानुभूतियनदं निर्वाणलक्ष्मीपती ॥११॥

अर्थ–हे मोक्ष लक्ष्मी के अधिपति भगवन् ! यह भव्यजीव विभिन्न नर-नारक आदि पर्यायों से मिश्र हुए जीव अजीव पदार्थों को नयों द्वारा भिन्न-भिन्न रूप से अच्छी तरह से जान कर निःसंशय होता है और बाद में उस नय पक्ष को छोड़कर अपने आत्मामें लीन होता है तथा संकल्प-विकल्प से रहित होकर आत्माका अनुभव करता है, वह ही सदा के लिए सुखी होता है।

परभावं परभावमं जनियिकुं स्वात्मस्थभावं निरं-
तरितं स्वात्मगतत्वमं बगेये पात्रं लोहदिं निर्मितं।
निरुतं लोहमयं सुवर्णगतिनं सौवर्णमेंबंददिं
परमल्तेंबुदु निन्नशास्त्रदतिरुळ्निर्वाणलक्ष्मीपती ॥१२॥

अर्थ–हे भगवन् ! आपने अज्ञानी जीव को समझाते हुए इस प्रकार सरल उदाहरण दिये हैं कि जिस प्रकार लोहे से निर्मित पात्र लोहे का पात्र है। और सुवर्ण से बना हुआ पात्र सुवर्णमय है, इसी प्रकार जो जीव आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न मानता है, समझ लेता है, और भेद-विज्ञान से आत्मेतर पर-पदार्थों को, जो रागद्वेषादि को उत्पन्न करनेवाले हैं, आत्मासे अलग जान लेता है, वह कभी भी विभाव परिणतिको प्राप्त नहीं होता है। अर्थात् पर-परिणति रागद्वेषादि को उत्पन्न करती है और स्वपरिणति ही शान्ति देने वाली है, इस बात को जानकरके स्व-पर का भेद विचार कर आत्मस्वरूप का ही चिन्तन करना चाहिए।

अशुभं पोल्लदु कर्मवोळ्ळितु शुभं कर्मंगळं नोल्पडें-
तो शुभं लेसि निसल्के साल्वुदद्बुवं संसारमं माळ्कुमें ।
दशुभक्कं शुभकं समानतेय नावों कंडने कर्ममं
वशमं माडिदशुद्धनातने शिवं निर्वाणलक्ष्मीपती ॥१३॥

अर्थ—हे अरहंत भगवन् ! इस संसार में दो प्रकार के कर्म हैं, एक पापकर्म और दूसरा पुण्यकर्म । पापकर्म दुःख के कारण हैं और पुण्य कर्म सुख के लिए कारण हैं । किन्तु दोनों ही वास्तव में बन्धन के कारण भी हैं । इसलिए जो व्यक्ति संसार से पार हो जाना चाहते हैं, वे इनके प्रलोभनों में न आकर केवल आत्म-ध्यान में ही निमग्न रह कर मुक्ति को प्राप्त करते हैं । अर्थात् जो दोनों कर्मों को सम्यक् प्रकार से जानते हैं वे कर्मोंका नाश करने के लिए आत्मस्वरूप में लीन रह कर सुखी होते हैं ।

ओर्व ब्राह्मणभावदिं मदिरेयं कंडोडुवं मत्तमि-
ओर्व वर्वर बुद्धियिंददनदंतु विट्टिटरन्नोळ्पडा ।
इवर्गंगढ मत्तुशूद्रिकेये शूद्रजाति भेदभ्रमा
ग्वर्वेंष्टिसुवंतेकर्मविधियु निर्वाणलक्ष्मीपती ॥१४॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र भगवन् ! एक मनुष्य शुद्ध ब्राह्मण के समान शुद्ध आचरण करता है और मद्य-मांस का सेवन नहीं करता, उन्हें देखकर घृणा करता है, दूसरा व्यक्ति उनका सेवन करता है तथा उनसे घृणा नहीं करता है । विचार-पूर्वक देखा जाय तो उन दोनों को जन्म प्रदान करने वाली माता एक-सी है । वह माता शूद्र नहीं है । ऐसा होते हुए भी अभिमान में कोई अपने को ऊंचा और दूसरे को नीचा मानते हैं, यह भावना कर्म की विचित्रता के कारण है । यह जीव कर्म-विकल्प के कारण आत्मा को उच्च नीच मानकर अज्ञान से शरीर में हेय और उपादेय भावना करता है ।

निरुतं पापदे दुर्गतित्वमदरिं नानाविधं दुःखदु-
भर्र मादुःखदिनार्तरौद्रपरिणामं तद्विभावोदयं ।
पिरिदप्पोदघबंध हेतुवदरिंद देव पापक्के क
ण्वरियं माडुवल्ल निन्ननुचरर्निर्वाणलक्ष्मीपती ॥१५॥

अर्थ—हे मोक्षलक्ष्मी पति ! पापसे दुर्गति होती है दुर्गतिमें नाना प्रकारके दुःख मिलते हैं उससे जीवके आर्त-रौद्र परिणाम होते हैं, जो कि विभाव परिणाम हैं। उनसे पाप कर्मों का बन्ध होता है। फिर उन पापों का उदय होता है। इसलिए पाप के कारण से ही इन समस्त कष्टदायक परिणामों को विचार कर आप के भक्त गण पाप की ओर दृष्टि भी नहीं देते, पापों से सदा भयभीत रहते हैं। अर्थात् यह संसारी जीव अनादिकाल से मिथ्यात्व के कारण सदा पापों का संचय किया करता है तथा उस पाप से अनेक बार नरक में नाना प्रकार के दुःख उठाता है। इसीलिए भगवान् के भक्त नित्य ही पापों से उद्वेजित रहते हैं उनका स्पर्श भी नहीं करते।

निरुतं पुण्यदे भोगमक्कू मर्दिरिं दं तृष्णे तृष्णार्तियिं
परवस्तुप्रकरानुभूतियदरिं रागादि रागादियिं ।
दोरे कोंडास्त्रवमास्त्रवं भवनिबद्धं पुण्यमुं पापदो
ळूनिरेयायूतीविधर्दिंदयोनिगे वलं निर्वाणलक्ष्मीपती ॥१६॥

अर्थ—हे मोक्षलक्ष्मी के अधिपति अरहंत भगवन् ! जो व्यक्ति निरन्तर पुण्यकार्य करता है, उससे भी उसको सुखों की इच्छा निरन्तर बढ़ती जाती है। सुख की इच्छा से वह पर-वस्तुओंकी ओर आसक्ति करता है। पर-वस्तुके भोगसे मोह होता है। और मोह के उदयसे कर्मास्त्रव होता है। कर्मास्त्रव से संसार बन्ध होता है। इस प्रकारसे पुण्य करने तथा उससे सुखों की अभिलाषा रखने से भी संसार का बन्ध होता है। तो क्या यह पुण्य भी संसार बन्ध के लिए कारण नहीं है ? अर्थात् सत्पात्र को दान देने से तथा व्रत आदि करनेसे पुण्य-बन्ध होता है। उसके प्रभावसे देवगति की प्राप्ति होती है। फिर उससे मनुष्य गति मिलती है और फिर शुभाशुभ कर्म करते हुए उसे मृत्यु का द्वार देखना पड़ता है। इस प्रकार पुण्य भी निरन्तर भव-भ्रमणकारक ही है। मुक्ति के लिए तो केवल वीतरागता ही समर्थ है।

उंतुयोनिगे निश्चलारमसुखदिं दं बळ्केयुं दुःखमिं-
न्नेंतातं विषयंगळेत्तरगुवं नीरिं द मीनपिंगेयुं ।
संतापं बडगुं ज्वलज्ज्वलनमुं सार्वदंमेंबंतेवो-
लिंती युक्तियगम्यमन्यमतदोळ् निर्वाणलक्ष्मीपती ॥१७॥

अर्थ—हे जिनेन्द्रदेव ! यह मनुष्य स्थिरता-पूर्वक बैठ करके परिश्रम के साथ आत्म-ध्यान

करने पर भी यदि निदानशल्यके कारण देवगति आदिके सुखोंकी इच्छा करता है, वहां के अस्थिर विषय-सुखोंमें मग्न रहता है और अन्तमें अपनी आयु पूर्ण होने पर जब उस देवगतिसे च्युत होता है, तब अनेक दुःखों को उठाता है। जिस प्रकार पानी से निकली हुई मछली तड़पती है, उसी प्रकार देवगति से निकल कर यह जीवात्मा तड़पता है।

स्वपुरोपार्जितपापपुण्यवशदिं सौख्यावहं गळ्दगु-
ळ्दुपभोगक्कवु बंदोडागळरिवुळ्ळासन्नभव्यं निर-
स्तपुरोबन्धन हेतुभूतरतिविद्वेषं निजात्मस्थितं
च्पियिक्कुकृतकर्ममं तदनुगं निर्वाणलक्ष्मीपती ॥१८॥

अर्थ—मोक्षलक्ष्मी के अधिपति हे अरहंत भगवन्! आसन्न भव्यजीव, पूर्व जन्म में सम्पादित किये हुए पुण्य और पाप कर्मसे सुख-दुःखको प्राप्त करता है, उसको अनुभव करते समय सम्यग्ज्ञान से पहले कर्म बन्ध के कारण रागद्वेष को छोड़ कर अपने आत्मचिन्तन में मग्न होता है, अनादिकाल से अपने साथ किये हुए कर्मों का नाश करता है। पूर्व जन्म में उपार्जन किये हुए पुण्य और पापका अनुभव करते हुए भी ज्ञानवान् आसन्न भव्यजीव अपने कर्म-बन्ध के कारण शुभाशुभ चिन्तन को छोड़कर अपने आत्मचिन्तन में मग्न होता है तब उसका समस्त कर्ममल धुल जाता है।

विदितं भविसे ज्याति लिंगमेरडुं देहश्रितं देहम-
प्पोडे जीवक्के भवप्रबन्धमदरिंदं ज्याति लिंगगळो।
प्पुदिवोंदाग्रहमुळ्ळवर्मवदे पिगर्पिगुवर्शुद्धचि-
त्पदमोंदल्लदुदेल्लमं विसुटवर्निर्वाणलक्ष्मीपती ॥१९॥

अर्थ—हे मोक्षलक्ष्मी के अधिपति अरहंत देव! जाति और लिंग ये दोनों शरीर के आश्रित हैं। शरीर के बिना जाति और लिंग की कोई स्थिति स्वतन्त्र रूप से नहीं है। इसलिए जाति और लिंगके अभिमान द्वारा अन्यसे ऊंचे होने का अभिमान संसार का कारण है। इस अभिमान के कारण इस जीव को संसार से मुक्ति नहीं मिलती। 'यह जीव शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, जाति और लिंग तो शरीराश्रित बाह्यचिह्न हैं, अतः उनका मोह त्यागकर आत्मध्यानमें लीन रहने वाला जीव ही संसार से मुक्ति प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकता है।

हतपापं बोल्पुरायमं शिवपद्प्राप्त्यर्थमल्लादोडं
प्रतिबन्धप्रदमळ्तु वर्णतेगमर्हत्यक्कसुच्चैः कुलो ।
दितसंशोधकमल्लदप्पुदरिनेंतु सर्वकर्मोत्कर
क्षतियिंदल्लदे मुक्तियागदुवलं निर्वाणलक्ष्मीपती ॥२०॥

अर्थ–हे भगवन् ! शुभ परिस्थिति को उत्पन्न करने वाला पुण्य भी शुभकर्म के बन्ध का कारण होने से मोक्ष के लिए कारण नहीं है। परन्तु वह मोक्ष का प्रतिबन्ध करने वाला नहीं है। वह पुण्य-कर्म संसार के लालच को बढ़ाने वाला होनेसे कर्म बन्धका कारण है। इस दृष्टि से देखा जाय तो पुण्य और पाप दोनों मोक्ष के लिए कारण नहीं है।

दिवदिंबंदु नृपेन्द्र तीर्थकर राज्यश्रीयुमं विट्टुभू-
भुवनं बांगिसे दीक्षेगोंडनुमधोलोकोद्गतं भिक्षुम ।
व्यवरं प्रात्रेयनिक्कि लब्धिवशदिंद दीक्षेयं गोंडनु
भवदिं पिंगिदोडावभेदमरोळ्निर्वाणलक्ष्मीपती ॥२१॥

अर्थ–हे मोक्षलक्ष्मी के अधिपति अरहंत देव ! कोई भव्य जीव स्वर्ग से आकर चक्रवर्ती और तीर्थंकर होकर मध्यलोक-संबन्धी अनेक भोगोंको भोगते हैं, फिर अन्तमें उसको त्यागकर लोकोत्तर श्रेष्ठ जिन-दीक्षा को धारण करके मोक्ष पदको पाते हैं और कोई अन्य भव्य जीव सत्पात्र को भक्तिपूर्वक आहार, शास्त्र, औषधि, अभय इन चार प्रकारके दानों को दे करके काल-लब्धि को पाकर जिन-दीक्षा धारण करते हैं, इस संसार समुद्र से मुक्त होकर मोक्षपद को पाते हैं। इन दोनों में क्या भेद है ? अर्थात् कुछ भी भेद नहीं है। दोनों ही समान हैं।

अदरिं भव्यनदर्शनोन्मुखतेयं वैराग्यसम्पत्तियुं-
पदुळं नीक्षेयनांपुदुं जिनमतार्थोद्बोधमुं संयमा- ।
भ्युदयप्राप्तियुमप्रमाददेयुमात्मध्यानमुं वार्तेय
ल्लदेमुन्नाद विभावमेल्लमफलं निर्वाणलक्ष्मीपती ॥२२॥

अर्थ–मोक्षलक्ष्मी के अधिपति हे अरहंत भगवन् ! इस कारण भव्यजीव का सम्यक्त्व के उन्मुख होना, वैराग्य (शरीर आदि पर-पदार्थोंसे रागद्वेषका त्याग, संसारसे उदासीनता) सन्तोष के साथ दीक्षा धारण करना, जैनागम के रहस्य को समझना, सम्यक्चारित्र का

अभ्युदय प्राप्त होना, तथा प्रमाद-रहित होना एवं आत्मध्यान में लीनता; यह सभी जीव की सफलता है। इसके विपरीत मिथ्यात्व आदि विभाव परिणाम जो हैं, वे सभी जीव के लिए निष्फल हैं, अतः वे हेय हैं।

तनुमात्रं युतबोध दर्शनसंख्यातप्रदेशं प्रति
छनमूर्तम् प्रभु कर्तृ भोक्तृनियतं संहारविस्तारश- ॥
क्तिनियुक्तं भवमुक्तनूर्ध्वगतिशीलं प्राणभृज्जीवनं ।
बिनुतु ताने विशिष्टजीवकथनं निर्वाणलक्ष्मीपती ॥२३॥

अर्थ—हे मोक्षलक्ष्मी के अधिपति अरहंत भगवन्! यह जीवात्मा अनादिकाल से अपने प्राप्त किये हुए शरीरप्रमाणत्व, ज्ञानदर्शनत्व, असंख्यातप्रदेशत्व, अमूर्तत्व प्रभुत्व और कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व, संकोच-विस्तारशक्तिमत्व और संसारसे मुक्तत्व, ऊर्ध्वगमन-स्वभावत्व ये सभी जीवात्माओंमें सहज निवास करने वाले विशेषगुण ही तो हैं? अर्थात् यह जीवात्मा छोटे-बड़े शरीर प्रमाण वाला भी है, दर्शनज्ञान उपयोगमय भी है, असंख्यात-प्रदेशी भी है, अमूर्त है, सामर्थ्यवान् और पापपुण्य का कर्ता तथा उसके फल को भोगने वाला भी है, संसार से मुक्त होता है, स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला भी है। ये सभी आत्मा में रहने वाले विशेष गुण हैं।

चरमांगप्रभुचिद्घनाकृतिये पेर्चं कुंदनन्यांगदो
ळ्पोरपिल्लप्पुदरिंदमिंतुमुचितासंख्यप्रदेशं प्रवं ।
धुरनष्टाष्टकळंकनष्टगुणनानंदात्मकं लोकंभू-
धरचूडामणिसिद्धनंदरिपिदे निर्वाणलक्ष्मीपती ॥२४॥

अर्थ—हे मोक्षलक्ष्मी के अधिपति सिद्ध भगवन्! यह आत्मा अपने अन्तिम शरीर से कुछ न्यून और चिदानन्दमयी तथा अन्य किसी भी शरीर में प्रवेश न करने के कारण न्यूनाधिक प्रमाण रहित, और समान असंख्यात प्रदेश वाला तथा अष्ट कर्मों से रहित व क्षायिक-सम्यक्त्वादि आठ गुणों से युक्त, आनन्दस्वरूप, लोकरूपी पर्वत के शिखर पर चूड़ामणि रत्न के समान विराजमान होकर रहने वाला है। अर्थात् जो जीव ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्वादि आठ गुणों के धारक हैं तथा अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार वाले हैं, वे सिद्ध हैं और ऊर्ध्वगमनस्वभाव से लोक के अग्रभाग में स्थित हैं।

नित्य हैं तथा उत्पाद और व्यय इन दोनों से भी युक्त हैं।

व्रतदिं दं परिशुद्धरागिमतियं जैनागमार्थगळोळ्
रतियं माडि तदर्थ मंतिळिदु सर्वग्रन्थमं त्विट्टुसं।
व्रतरागादिविभावरात्मपददोळ्योगीन्द्ररिर्पंतेसं
हृतरेम्मंदिगरीगळेंतु नेरेवर्निर्वाणलक्ष्मीपती ॥२५॥

अर्थ–हे मोक्षलक्ष्मी के अधिपति अरहंत देव ! जो जीव अहिंसा इत्यादि व्रतों से परिशुद्ध होकर जैन शास्त्र में भक्ति और प्रेम रख कर, उसके अर्थ को ठीक तरह से समझ लेता है, अन्त में सभी बाह्य और अन्तरंग परिग्रह को त्याग कर, रागद्वेष आदि विभावपरिणति को दूर करके, आत्मसम्पन्न तथा श्रेष्ठ मुनि के समान जितेन्द्रिय होकर आत्मचिन्तन में लीन रहने वाला है उसको बन्धु तथा अन्य कुटुम्बी लोगों के द्वारा क्या उपद्रव होगा ? नहीं, ऐसे सत्पुरुष को कोई उपद्रव नहीं करता।

अदरिं निन्न पदाब्जमं तेनेव निन्नकारमं नोळ्पनि
न्नदयामूलंचरित्रदोळ् नेगळ्व निन्नोंदुक्तियं केळ्वपेळवु।
दिदेल्लं मद्विधर्गायुतु देवशरणं स्वस्थत्वमिल्लप्पका
ळदोळी मार्गमे मेलु कुडुवुदरिं निर्वाणलक्ष्मीपती ॥२६॥

अर्थ–हे मोक्षलक्ष्मी के अधिपति भगवन् ! आपके चरण कमल का स्मरण करना, आपके मंगलमय स्वरूप को देखना, आप के दयामय चरित्र में प्रसिद्धि-लाभ करना, आप के वचनामृतरूपी शास्त्र को सुनना, इस पंचम कालमें हमारे जैसे चंचल चित्त वाले अज्ञानियों को निरन्तर चिन्तन करना चाहिए। क्योंकि आप ज्ञानी व अज्ञानी सभी प्राणियों के संरक्षक हैं।

परमेशं परमेष्ठिशम्भुभवं ब्रह्मं शिवं शंकरं
स्मरसंहारकनच्युतं पुरहरं बुद्धं जिनं विष्णुविं।
दरहस्यं प्रभुशुद्धनेंदु नेगळ्दिर्दतप्प नामानियं
परमार्थंतळेदर्थमप्पुददु तां निर्वाणलक्ष्मीपती ॥२७॥

अर्थ–हे मोक्षलक्ष्मी के अधिपति भगवान् अरहंत देव ! आप ही श्रेष्ठ स्वामी हैं,

(परमेश्वर हैं) परमेष्ठी (उत्तम स्थान में रहने वाले) हैं। शम्भु (सुखको उत्पन्न करने वाले) हैं, संसार रहित हैं, ब्रह्म (ज्ञानवान्, सर्वव्यापक), शिव (मंगलकारक) शंकर (सुखकारक), स्मरसंहारक (कामविकार को सर्वथा विनष्ट करने वाले) हैं, अच्युत (अचल रहने वाले) स्वरूप में मग्न रहने वाले, अचल (सिद्ध-शिला पर आसीन), पुरहर [ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्म को निर्मूलन तथा नाश करने वाले], जिन [अर्थात् कर्म वैरी को या पाचों इन्द्रियों को जीतने वाले], विष्णु [सर्वलोक में व्यापक, सर्वदेशी, सर्वज्ञ] इस प्रकार से गुणावली विभूषित उत्तम नाम के धारण करने वाले हैं।

भवविध्वंसनवास्तवस्तवमनोदं फळुनीनेंदुभ-
व्यवरप्रेरणेयिंद मिंतु सुजनोत्तंसं सासद्वृत्तस-
च्छविमुक्तागणदिंदे निर्मिसिदुदी निर्वाणळच्मीपती
स्तवविभ्राजिके भव्यकंठकलितं नक्षत्रमालोपमं ॥२८॥

अर्थ—इस उत्तम स्तोत्र पदावली में भगवान् जिनेश्वर का पवित्र स्मरण है। यह स्तोत्र सद्वृत्तों [छन्दों और सदाचरण की प्रेरणा] से युक्त है, अनेक उत्तम कान्ति-गुणों से युक्त है। काव्यपक्ष में कान्त्यादिगुणों से तथा भगवत्-संकीर्तनात्मक शोभन-गुणावली से विभूषित है, मोती के समान अनेक वर्णों से शोभित है, नक्षत्र-माला नामक मोती की माला जिस प्रकार नक्षत्रों की संख्या २८ से संवलित होती है, उसी प्रकार यह स्तोत्र-पदावली भी २८ श्लोकों से विरचित है और उत्तम नक्षत्र माला के समान है। इसको पढ़ने से, सुनने से इहलोक और परलोक में कल्याण होता है। यह स्तोत्र सूर्य और चन्द्र की स्थिति पर्यन्त जयवन्त रहे, ऐसी कवि की अभिलाषा है।

एंदु वोगळ्दु- ॥१४२॥

अगणितमप्पकंदळिरगोंदणदिंतुरगिर्द माउसं-
पगे सुरहोन्ने मन्मथ वीडिन केंगुडियेंबचलविर्नि
सोगयिप पल्लवप्रकरदिं नेरेदोप्पुवशोके नागसं-
पगे हरिचन्दनं बगेगेबंदुवु मेरुनगोपकंठदोळ् ॥१४३॥

अर्थ—इस प्रकार भाव विभोर होकर के अंजनचोरने भक्ति-भरे अगणित शब्दोंके द्वारा भगवान का स्तवन किया। उस नन्दन-उद्यान में नाना प्रकार के स्वर्गीय वृक्ष पत्र-पल्लवों

से, पुष्पों-फलों से शोभायमान विलसित थे। आम्र के हरे-भरे अंकुर, कोमल-कोमल पत्ते अनेक गुच्छों के भार से झुके हुए, अतिसुन्दर चम्पा के, पारिजात के, मन्मथ नाम के पादप तथा च पुष्प शोभा विस्तारित कर रहे थे। अनेक प्रकारके पल्लवप्रकर, अशोकवृक्ष, नाग-चम्पा, हरिचन्दन और भांति-भांति के देवपादप वहां सुमेरु पर्वत के कटिबन्ध में सुशोभित हो रहे थे।

पाडुव तुंबियं कुकल्विकोगिलेयिं कडुरयूयमागिरल्-
तीडुव दक्षिणानिलनिनळ्करिनोतिरदोवरोवरोळ्।
कूडुव देवदम्पतिगळिं देडेयाडुवखेचराळियिं-
दाडुव केकीयिं मनमनिर्कुळिगोळ्वुदुनोवर्पोडिवनं ॥१४४॥

अर्थ—उस देव उद्यान में अनेक प्रकार के पुष्पों पर उनकी सुगन्धि से लुब्ध होकर मण्डराने वाले भ्रमर गुंजार कर रहे थे, दक्षिण दिशा से चलने वाला मन्द-सुगन्धित समीर श्वासों को सुरभित कर रहा था, आनन्द का वातावरण छाया हुआ था, वह स्थान निर्मल जल से आपूर्यमाण सरोवरों से तथा अनेक प्रकार के पादपों से सुशोभित था। भगवान् की पूजा के लिए आने वाले देव-दम्पति तथा विद्याधर और उनकी स्त्रियां, उनके भक्तिभीने गान और मन को हरण करने वाली पवित्रता को संवर्द्धन देने वाली स्तुति का मधुर स्वर सभी कुछ अपूर्व था। ललितांग अतृप्त नेत्रों से उन्हें देखने लगा।

एंदुमेच्चि पोगुळुत्तुमतिरमणीयमप्प नंदनवनदोळ् शुद्धस्फटिकद नेलगट्टिं पच्चेयकंबंगळिं चन्द्रकान्तदबोदिगेगळिं इन्द्रनीलदनागवट्टिगेयिं वज्रद सोपानगळिं पवळद कीळ्गळिं पोन्न केर्गळिं वैडूर्यदपडिगळिं सूर्यकान्तद्वारबन्धगळिं पद्मरागद कलशंगळिं पुष्परागदमकरतोरणंगळिं मुत्तिन सूसकंगळिं माणिकप्रतिमेगळिंदोप्पुवकृत्रिमचैत्यालयंळं कण्तणिविनं नोडुत्तुं, जिनप्रतिमेगळं भक्तियिं पल नेरदर्चनाद्रव्यं गळिंदर्चिसुत्तुं बल-गोंडु पोडेमडुव देवविद्याधरसमूहमं नोडुत्तुं पोगळुत्तं उत्तमवैराग्यद पेर्चु-गेयं तडेयदे सिद्धियनेयदेवंदु ॥१४५॥

अर्थ—अंजन चोर जितना ध्यान-स्थित होकर उस सुषमा का अवलोकन करने लगा

उतना-उतना उसका मन भक्ति से परिप्लुत हो गया। उसके मन में विमल भावना जाग उठी। नन्दन वन की स्फटिक मणि से निर्मित शुद्ध भूमि, हरित मणि, गोमेद, नीलम, हीरे-पन्ने-पुखराज खचित खम्भे, चन्द्रकान्तमणि को धरनें, वज्र की सीढ़ियां, सुवर्ण,वैडूर्य, कौशुक, सूर्यकान्तरचित द्वार बन्धों से सुशोभित, पद्मराग के कलशों से भ्राजमान, मरकत के तोरण, मोती की झालरों से सजा हुआ, अनेक जाति के हीरों पन्नों से विराजमान भगवान् की प्रतिमा पर आंखें नहीं ठहरतीं, किरणों से चौंधिया रही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यहां केवलज्ञान को प्राप्त कर सभी भगवान् सिद्ध शिला पर विराजमान हो गये हों। अंजनचोर मनःपूर्वक अपनी दृष्टि से तृप्त होने तक उनका दर्शन करने लगा। उसने वहां प्रदक्षिणा कर नमस्कार करने वाले देवों, विद्याधरों के समूह को देखा। उसके मन में तीव्र वैराग्य का उदय हो गया। वह संसार के पदार्थों से विरक्ति अनुभव करने लगा। इस प्रकार भावना करते-करते वह शीघ्र जहां जिनदत्त श्रेष्ठी भगवान की पूजा-वन्दना कर रहे थे, वहां उनके पास जा पहुंचा।

अळिनिकुरम्बमशोकेय
तळिरं मुसुकुववोलंघ्रिपल्लवमं कु-
तळततिगळ्मुसुरेमहो-
ज्ज्वळतेजं वैश्यजंगे तां पोडेमट्टं ॥१४६॥

अर्थ—उस समय श्रीजिनदत्त श्रेष्ठी भगवान् की प्रदक्षिणा करके नमस्कार कर रहे थे। अंजनचोर ने जब उनको देखा तो इतना आनन्द हुआ कि जैसे उसे कोई अलभ्य निधि मिल गई हो। इस प्रकार भावमुग्ध हो करके वह जिनदत्त के चरणों में हाथ जोड़ कर नमस्कार करने के लिए झुक गया। उसकी आंखों से आनन्द के आंसू बहने लगे।

अंतु तनगे पोडमट्टंजनचोरनं जिनदत्तसेट्टि नोडिबेरगागि तन्नोळिंतेंदं ॥१४७॥

अर्थ—उस अंजनचोर ने (ललितांग ने) सम्यक्त्वचूड़ामणि जिनदत्त सेठ को देखा और नमस्कार किया। जिनदत्त सेठ मन में विचार करने लगा कि यह तो मैं स्वप्न से भी विचित्र देख रहा हूं, कि यह पातकी, लुटेरा, जिसका प्रातःकाल उठकर कोई नाम भी नहीं लेता, इस पवित्र भूमि पर आ गया ? यह यहां कैसे आया। जिससे जनता भयभीत होती है, कांपने लगती है, उसी अंजन चोर को यहां देख रहा हूं।

वरिदे कुणिवंगे मत्तं-
परेयवनु कूडिदंते धारणियं मु-
न्नेय्दह्दि कळ्व कळ्ळं - ❀
गरिकेय सद्विद्येयार दसेयिं दायुतो ॥१३८॥

मुमिनोळुळ्वातंग नेगिलं कोट्टरेंबंते (गाळियंमेल्वनबायुगबलं पोयूदरेंबंते वडिदुकोल्वंटूटेंग सालंगोट्टरेंबंते कोलल्वर्फपिगिदिर्वोदरेंबंते) कवरल्वंदंग बयकेयं तोरिदरेंबंते कळलवंदंग कैयेडेगोट्टरेंबंते पिडियबंदंग केनीडिकोट्टरेंबंते लोकदोळीतं मायाविद्ययप्पंजनघुटिकेयंजनरसवस्वमं कळ्वनी तंगे गगन-गामनीविद्ये साध्यमादुदी तनिन्नु नाडेल्लमं निवाळिवट्ट माडि कल्ळदं माण-नेंदु पापभीरुत्वदिं बेचि ललितांगनमोगमं नोडि + ॥१४६॥

अर्थ—किस निमित्त से इसको ऐसी विद्या मिल गई ? कि यह सीधा यहां तक आ पहुँचा। वह जिनदत्त सेठ स्तब्ध होकर के आश्चर्य करने लगा। वह इतना अभिभूत होगया कि बोल भी नहीं पाया। वह विचारने लगा कि अहो, यह तो हत्यारा है, लुटेरा है। क्या भगवान् भी इसके दुष्ट स्वभाव से चकरा कर इसके अधीन हो गए हैं ? अथवा इसने इस विद्या को भी चुरा कर किसी से प्राप्त कर लिया है ? या किसी देव ने ही घबरा कर इसको यह विद्या प्रदान तो नहीं कर दी ? इसने कभी धर्म की भावना तक नहीं की। गुरुदेव के चरणोंमें भी नहीं आया। अहो, यह तो बड़ा मायाचारी है। अंजनगुटिका इसके पास है। अदृश्य होकर ही प्रतिदिन यह लोगों का सर्वस्व हरण करने में आनन्द मानता रहा। तब फिर क्या इसे आकाशगामिनी विद्या भी सिद्ध हो गई ? यह तो गगनगामिनी विद्या ही के प्रभाव से यहां तक आ पहुँचा है। इसके मुख से भी प्रतीत होता है कि यह अब अवश्य ही पापभीरु (पापों से डरने वाला) हो गया है। इस प्रकार मन ही मन अनेक विचार करते हुए जिनदत्त सेठ ने उस अंजनचोर से कहा कि—

टिप्पणी— * कोलव कष्टं गरि केय (ग)
+ (एनगे कपट बेडी सद्विद्येयं मनदल्किरि-
निनगे नयदि कोट्टर् पेलारुमेंबुदुभागला ॥
जनपतनयंकीर्ति श्रीवल्लभगे जिनांघ्रि लो।
कनदमधुपगेंद तन्नोंदुविद्येय मार्गमं)

निनगेनु वंदुदी में-
दिनिपूजितमप्प विद्य पेळेंबुदुमं ।
जनचोरनदर कथेयं-
विनयदिनंदरिपि बळिकमिरर्दितंदं ॥१५०॥

अर्थ—हे अंजनचोर ! मैं तुमको यहां देखकर बहुत आश्चर्य-चकित हूं, यह गगनगामिनी विद्या तुमको कैसे मिली ? यह सुनकर अंजनचोर ने अपनी सारी आप-बीती कथा आदि से अन्त तक कह सुनाई । वह इतना भाव-विभोर होगया था कि बार-बार जिनदत्त सेठको नमस्कार करता था और उसके नेत्रों से पश्चात्ताप से अथवा यहां पवित्र भूमिमें आ पहुंचने के कारण उसकी आंखों से अविरल अश्रु प्रवाहित हो रहे थे । इस तरह भावमुग्ध होकर वह ललितांग जिनदत्त सेठ को अपनी सारी कथा सुनाता रहा ।

जिनदत्त निन्न नुडियं
जिनवचनमे तिब्बमेंदु नंबिद फलमं-
मनवारे कंडेनदरिं
देनगे शरण्जिनर निम्मचरणयुगंगल् ॥१५१॥

अर्थ—अंजन चोर कहने लगा कि हे जिनदत्त सेठ ! मैंने आपके वचन को भगवान् जिनेश्वर का वचन माना और आप के चरणों को ही भगवान् के चरणारविन्द समझा, इसी का पुण्यप्रभाव हुआ कि मै यहां आप की सेवा में उपस्थित हो सका हूं ।

कर्मोदयदिं नंदय-
कृर्मेयुमं ताय मातुमं बगेयदे स-
द्धर्ममुमं बिसुटुकिं
दुर्मतियां खलर् गोष्ठियिदं केट्टें ॥१५२॥

अर्थ—वह अंजनचोर कहने लगा कि आप ही मेरे भगवान् हैं, क्योंकि आपके ही कारण से मैंने भगवान् को यहां देखा है । मेरे अशुभ कर्म का ऐसा तीव्र उदय था कि इस जन्म में उत्तम कुल, श्रेष्ठ माता-पिता और सम्पूर्ण वैभव पाकर भी मैं उनसे सदा वंचित रहा और अशुभ कार्यों में लगा रहा । मेरे माता-पिता ने मुझे असीम स्नेह और लाड़-

प्यार किया था। वे मेरी बुराइयों को देखकर भी मुझे कभी कठोर शब्द नहीं कहते थे। किन्तु कर्मदोष से किशोरावस्था में मेरी मति भ्रष्ट होगई और मै नीच मनुष्यों की कुसंगति में पड़ गया। मैंने धर्मको कभी पहचाना ही नहीं, न ही पहचानने का यत्न किया। केवल बुरे साथियों के साथ सप्तव्यसन में मग्न होकर प्रजा को दुखी करने के नये-नये उपाय सोचता रहता था। विना कारण सबको सताकर उनको भयभीत करता रहा और जनता का शत्रु बन गया हूँ। संसार मेरे नाम से घृणा करने लगा है। ऐसा कौन-सा निन्द्य काम है जिसे मैंने नहीं किया? माता-पिता को जब यह मालूम हुआ तो उन्होंने अच्छी भावना से मेरा सुधार करना चाहा, उन्होंने मुझे अपने पास बिठाकर बड़े दुलार और मीठे वचनों से मुझे समझाया कि 'जिस उच्च कुलमें मेरा जन्म हुआ है, उस कुल के पूर्वजों ने अपयश, बुराई और पापाचार के मार्ग में पैर नहीं रखा। उन्होंने कहा कि जितने पाप तुमसे बन गये हैं, एक या अनेक जन्म में भी कोई उन्हें करने की सामर्थ्य नहीं रखता किन्तु अब तुम बस करो। और सदाचार के मार्ग पर चलो, सद्गुरुओं के चरणों की उपासना करो और उनके वचनामृत पीकर अपने को कृतार्थ करने का प्रयत्न करो।' किन्तु मुझ पर उनके उपदेश का बुरा प्रभाव हुआ। सच है, अपात्र में रखने से अच्छा पदार्थ भी विकृत हो जाता है। दुष्टों की संगति में रात-दिन पड़े रहने से मैंने कभी देवदर्शन भी नहीं किया। गुरुजनों की संगति नहीं पाई और किसी शुभ काम को करने का अवसर नहीं प्राप्त कर सका। मैं तो सदा धर्मध्वंसी दुष्टों की संगति में रहा।

मोरेयरनेंबि वनेनें
दरियें मतिगेट्टु दुष्टसंगतियिं दं।
मरेदुगुणमेल्लमं मे-
य्यरियदें केट्टाडिदें महापातकनें ॥१५३॥

अर्थ—मैंने कभी किसी सभ्य, सज्जन साधु व्यक्ति के साथ सद्व्यवहार नहीं किया। उनको सदा दुष्टता से दुखी करता रहा। मैंने जाना तक नहीं कि सज्जनता किसको कहते हैं। मुझ में मेरे उज्ज्वल वंश का रंचमात्र भी गुण नहीं आया। मेरे सामने अमृत से भरी थाली रक्खी थी, मेरे हितचिन्तक मुझे उसे पी जाने का आग्रह कर रहे थे किन्तु हाय रे! मेरे दुर्भाग्य, मैंने उस ओर आंख उठाकर भी नहीं देखा। मेरे पूर्व-संचित दुर्भाग्य ने मुझे उसे छूने भी नहीं दिया। मैंने कभी शुभाचरण नहीं किया, मैं तो निरन्तर पापाचार में ही

मग्न रहा हूं । हे दयालु मित्र ! आपने मुझे उस पापाचार से बचा लिया । अन्यथा मैं तो अधर्म के समुद्र में बहा जा रहा था । अब मुझे आशा हो चली है कि अब मेरा उद्धार हो जायगा ।

तडेयदे मुददिं दमृतं-
बडेदुमुणल्पडेयरेंब नाण्णुयेन्नोल् ।
दृढमादुदु सद्धर्मम्
वडेदुं मरुलागि कालमं वृथेगलेदें ॥१५४॥

अर्थ—मुझे बड़ी कठिनता से तो मनुष्य जन्म मिला, उसमें भी ऐसा उत्तम कुल, खाने-पीने-पहनने की तथा किसी प्रकार के वैभव की कोई कमी नहीं थी । किन्तु धर्मरूपी अमृत जिससे जन्म-मरण दूर होकर अमृतमय धर्ममार्ग मिलता, उसे तिलांजलि देकर मैं मूर्ख अधम पातकी प्रमत्त बनकर अपने समय को आज तक व्यर्थ गंवाता रहा ।

सोंबनंगडियंते पसरमिल्लदे, पुलुमुट्टिदससियंते नयमिल्लदे, विल्लं बिट्टनंते गुणमिल्लदे, सूलेयंते सज्जनिकेयिल्लदे, ब्रूतिनंते पेंपिल्लदे, तृणदंते बिण्पिल्लदे, पापियंतुत्तमदानमिल्लदे, न्यायमिल्लदरसिनूरंते मर्यादेयिल्लदे, कल्लरकोट्टदंते धर्ममिल्लदे, गह्वरदंते सन्मार्गमिल्लदे [पुट्टुगुरुडनंतनुमं कानदे] केट्टेनेंदु तन्नंताने निंदिसिकोंडु, जिनवचनदोलाद दृष्टान्तमुमं, सम्यक्त्वचूडामणियोलादमहागुणमुमं, पोगलदुबलिक्किंतेंदः-निमगे पंचनमस्कारमल्लदुलिदमंत्रमुं अर्हत्परमेश्वरनल्लदुलिददैवमुं कैकोलवुवल्ल, सम्यक्त्वचूडामणियेंदुप्रसिद्धरागिपं निगमीविद्ये तानेंतु बंदुदेने, वणिग्वंशललामनिंतेंदं ॥१५५॥

अर्थ—हे जिनदत्त सेठ ! मुझे अपनी गिरावट का वर्णन करने के लिए शब्द नहीं मिल रहे । मैं उस दूकान के समान हूँ जिसमें अच्छी वस्तुएं न हों, किन्तु ऊपर से देखने में अच्छी प्रतीत होती हो । मैंने उत्तम कुल में जन्म लिया और देखने में सुन्दर प्रतीत होता हूं किन्तु मेरे मन में कोई सुन्दरता नहीं है जिसको कि मैं अपने उत्तम कुल के अनुरूप बना सकूं । मैं तो उस पौदे के समान हूं जिसे अंकुर के समय ही कीड़े लग गये हों । कुसंगतिने

मेरा जीवन नष्ट-भ्रष्ट कर दिया, मेरे जीवनरूपी पौदे को पनपने नहीं दिया। जैसे किसी के पास धनुष हो किन्तु वाण न हो, तो फिर वह धनुष किस काम का ? मेरे पास यह उत्तम कुल का शरीर तो है किन्तु अच्छे संस्कारोंका तथा धार्मिक भावना का अभाव है, अत एव यह शरीर निष्फल है। जिस प्रकार वेश्या सज्जनता नहीं जानती, उसी प्रकार मुझे भी सज्जनता नहीं मिली। जैसे भूत-ग्रस्त मनुष्य पागलपन की चेष्टा करता है, वैसे मैं भी पाप-पिशाच के वश होकर कुकृत्य करता रहा। हे जिनदत्त श्रेष्ठी ! निस्सार घास के समान मेरा इतना जीवन व्यर्थ चला गया। मैं महापापी हूं। मेरे हाथ से किसी को दान देने का अवसर नहीं आया, सद्‌गुरु की सेवा करने का मुझे लाभ नहीं मिला, मैं तो अधम हूं। जैसे अन्यायी राजा के राज्य में किसी बात की मर्यादा नहीं रहती, उसी तरह मुझ में भी कोई व्रत, नियम, चारित्र, आचरण की शुद्धता नहीं रही। जैसे चोरों में धर्म नहीं रहता, वैसे ही मुझ में दुर्गुणों के अतिरिक्त किसी प्रकार का सद्‌गुण नहीं है। मैंने स्वप्न में भी धर्म के दर्शन नहीं किये। गंवार को जैसे सन्मार्ग नहीं मिलता, उसी प्रकार मैं भी हूं। जैसे जन्म से अन्धे पुरुष में किसी अच्छी या बुरी वस्तु को देखने की सामर्थ्य नहीं होती, वैसे मदान्ध हुए मैंने भी आज से पूर्व जिनेन्द्र भगवान्‌का दर्शन नहीं पाया। मेरे कुलमें सनातन जैनधर्म विद्यमान रहते हुए भी मैंने उसे नहीं जाना। मनुष्य पर्याय पाकर भी मैंने उसके योग्य आचरण नहीं किया। किन्तु आज मुझे प्रतीत हुआ है कि मेरे कुछ शुभ कर्म भी शेष हैं, जिससे मैं भगवान् जिनेन्द्र के वचनों पर श्रद्धान करके इस देव दुर्लभ स्थान को देख सका। हे गुणनिधे ! आपके निमित्त से मुझे कल्याण मार्ग मिला है। आप के वचनों पर अटल श्रद्धा करके मुझे आकाशगामिनी विद्या सिद्ध हुई है उसी के प्रभाव से पापात्मा होते हुए भी मैं यहां आप के पास आया हूँ। आप मेरे तारण-तारण है। आज आप के दर्शन से मुझे भगवान् का दर्शन मिला। आज मेरे पाप दूर हो गये।

प्रकरण-वश यहां णमोकार मन्त्र का माहात्म्य रखते हैं—

क्षोणियनब्धिसीमे वरमालिसुगुं बलिकिंद्रलोकमं
काणिसि तद्विभूतिय विरामदोलिल्लिगेदंदु पंचक-
ल्याणविभूतिगल्गर्हनागिसलुं नेरवीणमोरहं-
ताणपदादिपंचकमे वाचकमक्केमगागलुं जिना ॥१॥

अर्थ—णमो अरहंताणं आदि यह पंच गुरु मन्त्र समुद्र पर्यन्त पृथिवी का राज्य, स्वर्ग की सम्पत्ति, वहां के सुख-विलास, आयु के अवसान कालमें उत्तम-मनुष्य जन्म प्राप्त करके

उस मनुष्य पर्याय से पंच कल्याणक विभूति को प्राप्त हो, ऐसी सहायता करके सदा सुख का देने वाला है। यह पंचगुरु-मन्त्र मुझे उच्चारण करने योग्य हो। इस मन्त्रराज के प्रभाव से राज्यपद, चक्रवर्ती-पद, देवेन्द्रपद, तीर्थंकरत्व आदि अतिशयित विभूतियों को मनुष्य प्राप्त करता है। वह महाप्रभावशाली पंच परमेष्ठी मन्त्र मेरे हृदय में सदा विराजमान हो, वाणी पर (जिह्वा पर) स्थित हो।

जाणदि नोंतु सिद्धरसमोय्कने पंचविधानलोहमं-
माणदे मुट्टे कांचनमनागिसलार्पबोलजीवमं।
प्राणवियोगदोल्समये मोक्षमनेंदिसुवी णमोरहं-
ताणपदादिपंचकमे वाचकमक्केमगागलु जिना ॥२॥

नर्थ—हे जिनेश्वर! सावधानी से सिद्ध किये हुए रस को छूने से पंच प्रकार का लोहा जिस प्रकार तत्क्षण सुवर्ण बन जाता है, उसी प्रकार यदि कोई जीव अपने मरण-समय में णमो अरहंताणं आदि पंच नमस्कार मन्त्र का श्रद्धानपूर्वक स्मरण करता है, उच्चारण करता है तो उसको कल्याण प्राप्त होता है। क्योंकि, यह मन्त्र मोक्ष प्राप्ति का कराने वाला है, संसार से ऊपर निराबाध सुख देने में समर्थ है। यह पंचपरमेष्ठी-मन्त्र सदैव मेरी जिह्वा पर विराजमान रहे और हृदय में प्रतिष्ठित हो।

क्षोणिगधीशनादसगरं निजबाणसिगंगे रागदिं-
माणदेपेले पंचगुरुमंत्रमनंतदरिंदवातन।
प्राणवियोगदोल्दि विजलोकमनेंविसुवी णमोरहं
ताणपदाविपंचकमे वाचकमक्केमगागलु जिना ॥३॥

अर्थ—हे जिनेन्द्रदेव! सगरचक्रवर्ती ने अपने रसोइये को प्राण-वियोग के समय कानों में बड़े प्रेम से इसी ओम् णमो अरहंताणं आदि णमोकार मन्त्र का उपदेश दिया था जिसके प्रभाव से वह देवलोक को प्राप्त हुआ। इस प्रकार यह णमोकार मन्त्र देवलोक प्राप्ति कराने वाला है। जो भव्य जीव प्रातःकाल प्रतिदिन हृदय से इसका उच्चारण करता है, अथवा रोगोपद्रव के समय में विश्वास-पूर्वक इसका उच्चारण या श्रवण करता है, वह नियम से देवगति को प्राप्त करता है।

पूणिगरट्टे पोक्कुवनमं वडुकंनिललालणंबिनो-
लपूणिसिकोंडु बलूनेलपनंचोरनु विध्यशस्त्रदिं।

कागुतलेरि कोय्यलोडनाखगमागिसुवि णमोरहं-
ताणपदादिपंचकमे वाचकमक्केमगागलु' जिना, ॥४॥

अर्थ—कवि कहता है कि जिनेन्द्र भगवन् ! मैं आपकी ही स्तुति करते हुए कहता हूँ कि जिस समय कोतवाल अंजन चोरके पीछे पड़ा, उस समय वह भयभीत होकर भाग करके नगर के बाहर श्मशान में पहुँचा। वहां उसने वरसेन को आकाशगामिनी विद्या की सिद्धि करते देखा। उस विद्या साधने की विधि उसे जिनदत्त सेठ से प्राप्त हुई थी। उस विद्या के सिद्ध हो जाने पर आकाश में गमन किया जा सकता था किन्तु वरसेन को यह विश्वास नहीं था कि वास्तवमें यह विद्या सिद्ध हो सकेगी और इसके द्वारा आकाशमें गमन किया जा सकता है ? इसीलिए वह बार-बार उस वटके वृक्ष पर चढ़ता और एकसौ आठ डोरियों के बने छींके में से रस्सी काट कर देखता कि यह कहीं टूट तो नहीं जायगा उसी समय कोतवाल के भय से तथा अपने कर्म के शुभ उदय से अंजनचोर वहां जा पहुँचा। उसको भय था कि अभी कोतवाल आ पहुँचेगा और मुझे पकड़ लेगा तथा रानी के हार चुराने के अपराध में मुझे प्राण-दण्ड मिलेगा। उस भय से उसने निःशंक होकर वरसेन की बताई हुई विद्या छींके पर बैठ कर सिद्ध कर ली। यह धर्म पर अटल विश्वास करने का फल है। नित्य पंच नमस्कार मन्त्र का जाप करने वाले जिनदत्त सेठ कभी मिथ्या नहीं बोल सकते, यह उसे दृढ़ श्रद्धा थी, उसके प्रभाव से उसे तुरन्त दुर्लभ सिद्धि की प्राप्ति हुई। हे भगवन् ! इस णमो अरहंताणं आदि पंच परमेष्ठी मन्त्र का ही यह प्रभाव है कि अंजनचोर जैसे पातकी को भी आकाशगामिनी विद्या सिद्धि हो गई।

माणदे तापसं मणदोळ्ज्ञतेयिं नेगळ्दिदु मत्तेतां-
प्राणिगळल्लि निर्दयदि पुल्लिनोळट्टलु बेव नागनं।
प्राणवियोगदल्लि पणिनायकनागिसुवो णमोरहं-
ताणपदादिपंचकमे वाचकमक्कमगागलु' जिना ॥५॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र भगवन् ! एक तपस्वी अपने प्रमाद को न छोड़ कर और प्राणि-दया का पाठ भूल कर पंचाग्नि तप कर रहा था। उसने तप करने के लिए जो लकड़ियों का समूह एकत्र किया था, उसमेंसे एक लकड़ी की खोडरमें एक सर्प और सर्पिणी बैठे थे। जब आग की ज्वाला से उन्हें बाहर निकलने को कोई मार्ग नहीं मिला तो वे नाग-नागिनी जलने लगे। उसी समय अवधिज्ञानी २३ वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ उधरसे जा रहे थे। उन्होंने जान लिया कि इसमें नाग का जोड़ा जल रहा है, तो उन्होंने उस तपस्वी को कह कर उस

जोड़े को निकलवाया। तब भगवान पार्श्वनाथ ने उन मरणासन्न नाग-नागिनी को पंच-परमेष्ठी मन्त्र सुनाया। मन्त्र के प्रभाव से मर कर वे नाग और नागिनी धरणेन्द्र-पद्मावती देव-देवी हुए। इस प्रकार का यह णमो अरहंताणं आदि मन्त्र हमारी जीभ पर सदा विराजमान रहे।

प्राणवहानियोल् पोरळुतिर्दु व कंडु मनोनुरागवि-
क्षोणीगधीश्वरं गुणिगणाग्रणी जीवमण्डलेश्वरं।
काणुत पेल्दोडा शुनकनं सुरनागिसुवीणमोरहं-
ताणपदादिपंचकमे वाचकमक्केमगागळुं जिना ॥६॥

अर्थ—कुछ ब्राह्मणों ने एक कुत्ते को यज्ञ मण्डप में घुसकर हवन सामग्री में मुंह लगाने के अपराध में लकड़ियों से मारा जिससे उसका शिर फट गया, और वह रास्ते में पड़ा हुआ कराहने लगा। उसका बचना असम्भव था। उसी समय एक दयालु पुरुष जीवन्धर स्वामी उधर आ निकले। उन्होंने कुत्तेका मरण निश्चित जानकर उसे णमोकार मन्त्र सुनाया। शान्तिसे णमोकारमन्त्र सुनते हुए कुत्ता मर गया। जिससे वह कुत्ता सुदर्शननामक यक्ष हुआ। यह णमो अरिहंताणं आदि महामन्त्र सदा हमारी जिह्वा तथा हृदय देशमें विराजमान रहे।

व्रुणिसिकोंडु पंचमिय नोंपिय पारणेयल्लि सर्पनि-
प्राणवियोमागे रजकात्मजे रेवति निर्मलत्वदिं।
क्षोणिपपुत्रियागिगतजन्मवनालिसुवी णमोरहं-
ताणपदादिपंचकमे वाचकमक्केमगगळुं जिना ॥७॥

अर्थ—हे जिनेन्द्रदेव! एक धोबी की लड़की रेवती पंचमी व्रत का उपवास करके पारणा के दिन बगीचे में पुष्प चुनने के लिये गई थी। उस समय उसे सर्प ने काट लिया। व्रत के प्रभाव से और मरणवेला में पंचणमोकार मन्त्र का स्मरण करने के प्रभाव से वह मृत्यु के अनन्तर राजपुत्री उत्पन्न हुई। इस प्रकार तत्काल फलदायी यह णमो अरहंताणं आदि मन्त्र हमारे हृदय में और जिह्वा पर विराजमान रहे।

आणतितप्पि पालनेयेयल् मरबिर्दोडे बेक्कुविक्कुतं
प्राणवियोगमागलनुकंपमना जिनदत्तसेट्ठितां-
माणदे पेळे दिव्यमुनिनाथकनागिसुवी णमोरहं-
ताणपदादिपंचकमे वाचकमक्केमगागळुं जिना ॥८॥

अर्थ—हे जिनेन्द्रदेव! एक बिलाव जब मरने के सम्मुख हुआ तब जिनदत्त सेठ ने

पंचपरमेष्ठी का मन्त्र (णमोकार मंत्र) उसके कान में सुनाया। उसके प्रभाव से मर कर उस बिल्ली ने देवगति प्राप्त की। स्वर्ग से आकर मनुष्य भवमें उसने मुनिवेष धारण करके आचार्य पद प्राप्त किया। ऐसा प्रभावशाली णमो अरहंताणं आदि णमोकार मन्त्र सर्वथ हमारे हृदय और जिह्वा पर विराजमान रहे।

माणदे काडुतिर्द खगमं शबरशरींलदमेच्चोडं
प्राणवियोगमागे जिनमन्दिरदल्लिये बिर्दुदंतदं।
काणुतरत्नमालेय पदातिकेयागिसुवी णमोरहं-
ताणपदादिपंचकमे वाचकमक्केमगागळु जिना ॥९॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र देव! किसी किसान के खेत में धान्य की बालियां पक गई थीं। एक तोता प्रतिदिन आता और एक कोने से नियमित रूप से धान्य की कुछ बालियां ले जाता था। ऐसा करने से धीरे-धीरे उस खेत का जब एक कोना खाली हो गया। यह देख कर किसान को बड़ी चिन्ता हुई। उसने जब पता लगाया तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि एक छोटा-सा तोता ही उसके खेतका कोना खाली कर देने का अपराधी है। उसने एक व्याध को लालच देकर उसको मारने के लिए नियुक्त कर दिया। उस व्याध ने एक दिन अवसर पाकर तोते को बाण से घायल कर दिया। वह तोता प्रतिदिन जो खेत से धान्य की बाली ले जाता था उसे एक जिन-मन्दिर में ले जाकर भगवान् के चरणों में चढ़ा देता था। आज जब उसे तीर लगा तो वह जैसे तैसे उड़कर उसी जिन मन्दिर में जा पहुँचा और वेदना से व्याकुल होकर मन्दिर के आंगन में जा गिरा। उसी समय भाग्य से राज घराने की एक महिला रत्नमाला दर्शन करने आई थी। उसने तोते को मरते देखा तो दया करके उसने तोते के कान में णमो अरहंताणं आदि पंचपरमेष्ठी मन्त्र सुनाया। इससे मरण के पश्चात् तोता रत्नमाला की दासी के रूप में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार एक बार ही सुनने मात्र से सद्गति देने वाला यह णमोकार मन्त्र हमारे हृदय में विराजमान रहे और जिह्वा पर बना रहे।

प्राणिगणंगळं नयदिनोवुवेनेंब निजप्रयत्नदिं-
माणदे तन्ननेरिसि ब्लुतणियादनु चारुदत्त तां-
प्राणवियोगे सुरनायकनागिसुवी णमोरहं-
ताणपदादिपंचकमे वाचकमक्केमगागळु जिना ॥१०॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र भगवन्! यह मन्त्र सदा प्राणी मात्र का कल्याण करने वाला है।

रस-कूप में पड़े हुए एक व्यक्ति को मरण समय दयालु चारुदत्त सेठ ने पंच नमस्कार मन्त्र सुनाया तो वह एक बार सुनने के प्रभाव से ही देवयोनि में उत्पन्न हुआ। ऐसा महत्वशाली णमोकार मन्त्र हमारे हृदय में तथा जीभ पर सदा बना रहे।

प्राणिहितप्रभावपरनावबनं परमात्मनेन्नेनो
क्षोणिगे तद्दुकामिहक्के परक्के नमगी णमोरहं-
ताणहूं ताणनेंबबने आगणवधोगतिगाणनेत्तिगी-
र्वाणपरिप्रमाणगति माणदे माणदिदोंदु सालवे ? ॥११॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र देव ! यह णमोकार मन्त्र समस्त प्राणियों के हित करने वाले भगवान् जिनेन्द्र का नाम रूप है, अरहंत की वाणी है, जो इस लोक और परलोक में इस सुमन्त्र का उच्चारण करते हैं, वे कभी भी मरने के उपरान्त अधोगति को प्राप्त नहीं हो सकते। उनके लिए देवगति पाना साधारण बात है। इस मन्त्र का निरन्तर ध्यान करने से ध्यानी मनुष्य सांसारिक सुख भोग कर अन्त में मोक्षगामी हो सकते हैं। इसलिए जो भव्यजीव अपना मनुष्य जीवन फलीभूत करना चाहता है, वह अनन्य निष्ठा से एक चित्त होकर इस मन्त्रराज का जप करे।

णमो अरहंताणं मन्त्र

णमो अरहंताणं भावीसु जीवे,
णमो अरहंताणं कैवल्य-पदवी ॥ पल्ल ॥

अर्थ—हे भव्यजीवो ! णमो अरहंताणं इस मन्त्र की भावना करो। यह मन्त्र कैवल्य प्रदान करने वाला है।

सन्मार्गक्किदु साधनमन्त्रं, निर्मलपदवीयनीवुदु मन्त्रं।
धर्माधर्मवनरिवुदु मन्त्रं, कर्मारण्यदवानल-मन्त्रं ॥१॥

अर्थ—यह णमोकार मन्त्र सन्मार्ग की साधना का मन्त्र है, निर्मल पदवी का प्रदान करने वाला है, धर्म और अधर्म का विवेचन करने वाला यह मन्त्र है और कर्म वन को जलाने के लिए दावानल के समान है।

शीलव्रतंगळपालिप मन्त्रं, मूलगुणंगळरक्षिप मन्त्रं।
कालनगेलिदरेताविव्यमन्त्रं, कालकूटविषपरिहारमन्त्रं ॥२॥

अर्थ—यह मन्त्र शील व्रतों का पालन कराने वाला है, कालको जीतने वाला मृत्युञ्जय मन्त्र है, तथा कालकूट विष का परिहार करने वाला मन्त्र है।

सारसुखंगव नीवुदु मन्त्रं, घोरदुःखंगळपरिहारमन्त्रं ।
मारमदंकरिगंकुशमन्त्रं, चारुचरित्राभरणसुमन्त्रं ।।३।।

अर्थ—यह मन्त्रराज समस्त सार सुखों का देने वाला है, घोर दुःखों का परिहार करने वाला है, मदनरूपी मदोन्मत्त हाथीके लिए अंकुशके समान है और सम्यक्चारित्रका अलंकार समान है ।

भूतप्रेतंगळ वेंचिपमन्त्रं, वेताळमरुळ्गळोडिपमन्त्रं ।
पातकफलगलकळोवुदु मन्त्रं, घातकरिपुगळगेलुवुवमन्त्रं ।।४।।

अर्थ—यह मन्त्र भूत प्रेतों की बाधा को दूर करने वाला है, वेताल और व्याधियों का क्षय करने वाला है, पातक को नष्ट करने वाला है, घातक शत्रुओं पर विजय दिलाने वाला है ।

हलवुबंधगळनु तोलगिपमन्त्रं, सुलभसौभाग्यवनीवुदु मन्त्रं ।
नेनेदरे मन्मथरूपीव मन्त्रं, कुलबलसत्यसदाचारमन्त्रं ।।५।।

अर्थ—यह मन्त्र नाना प्रकार के बन्धनों को काटने वाला है, सुलभ सौभाग्यों को बढ़ाने वाला है, कामदेव के समान मनोहर रूप को देने वाला है, कुल-बल-सत्य और सदाचार का दाता है ।

घोरोपसर्गव नोगुवु मन्त्रं, वीरपराक्रम वितरणमन्त्रं ।
कारुण्यमुनिगळ्ध्यानिपमन्त्रं, मरणकालक्किवुतामुख्यमन्त्रं ।।६।।

अर्थ—यह मन्त्र घोर उपसर्गों का निराकरण करने वाला है, वीर-पराक्रम का वितरण करने वाला है, करुणामय मुनियों के द्वारा ध्यान करने योग्य है, और मरण समय में स्मरण करने योग्य सुमन्त्र है ।

श्रीजैनआगमकिदुमुख्यमन्त्रं, श्री जैनमुनिगळ्ध्यानिप मन्त्रं ।
त्रैजगवेल्लव वेळगुव मन्त्रं, मूजगचक्रिगळोदुव मन्त्रं ।।७।।

अर्थ—यह मन्त्रराज श्री जैनागम का मुख्य मन्त्र है, श्री जैन मुनिवरों के द्वारा ध्यान करने योग्य मन्त्र है, त्रिभुवन को सम्यक् रूप से प्रकाशित करने वाला है और चक्रवर्ती सम्राटों से संस्तुत है ।

इप्पत्तनाल्वरु नेनेवुदु मन्त्रं, तप्पदे द्वादशचक्रिगे मन्त्रं ।
वप्पुदु नववासुदेवर्गे मन्त्रं, वप्पुदुवलकेशवरिगे मन्त्रं ।।८।।

अर्थ—यह णमोकार मन्त्र तीर्थङ्करोंका मन्त्र है, बारह चक्रवर्तियोंका आराध्य है, तथा बलभद्र, नारायण आदि के द्वारा स्तुति किया गया मन्त्र है।

अरहंतसिद्धर, धरिसिद्धमन्त्रं, सुरखिराचार्यरराधिप मन्त्रं।
उरुउपाध्यायर उपदेशमन्त्रं, वरसर्वसाधुवगळोवुव मन्त्रं ॥९॥

अर्थ—यह मन्त्र अरहंत, सिद्ध परमेष्ठी का है, आचार्य परमेष्ठी का मन्त्र है, उपाध्याय परमेष्ठी का उपदेश रूप है, सर्व साधु परमेष्ठी का यह मन्त्र है। इस मन्त्र में अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधु, इन पांचों परमेष्ठियों का नाम गर्भित है।

उत्तमसद्धर्मक्किदु मूलमन्त्रं, मिथ्यात्वगळेळ्ळवनाशिपमन्त्रं।
भुक्तिमुक्तिसुखदायक मन्त्रं, चित्तकलंकनिवारण मन्त्रं ॥१०॥

अर्थ—यह मन्त्र उत्तम सद्धर्म का मूल है, मिथ्यात्व का नाश करने वाला है, भुक्ति और मुक्ति सुख का दाता है। मिथ्यात्व को मिटाने वाला है।

जिनमुनिहृदयविराजितमन्त्रं, घनसंस्कृतिदिनतरणिगेमन्त्रं।
कुनयारण्यकुठारक मन्त्रं नेनेयुवभव्यर्गे चिन्तामणिमन्त्रं ॥११॥

अर्थ—यह मन्त्रराज जैन मुनियों के हृदय में विराजमान है, संस्कृति को आच्छादित करने वाले मेघों के लिए सूर्य के समान यह मन्त्र है। यह कुनय रूप वन के नाश करने में कुठार के समान है, स्मरण करने में भव्यजीवों को चिन्तामणि के समान है।

वासुपूज्यकुन्थुळरगिदमन्त्रं, देशभूषणरिगे केवलमन्त्रं।
सासिरनामव नेनेवुदु मन्त्रं, भासुरभव्यरुध्यानिपमन्त्रं ॥१२॥

अर्थ—यह मन्त्र वासुपूज्य और कुन्थुनाथ आचार्यों के कण्ठ में विराजमान मन्त्र है, आचार्य देशभूषण मुनि महाराज को कैवल्यपद देने वाला मन्त्र है, सहस्र नामों के समान स्मरण करने योग्य मन्त्र है और भव्यजनों को ध्यान करने योग्य महत्वशाली मन्त्र है।

राक्षसव्याघ्रोरगाभयमन्त्रं, रामलक्ष्मणरिगे अभिनवमन्त्रं।
यक्षोपसर्गनिवारकमन्त्रं, मोक्षांगनेगिवु अधिपतिमन्त्रं ॥१२॥

अर्थ—यह महामन्त्र राक्षस-सिंह और सर्पों से अभय देने वाला है, राम और लक्ष्मण के लिये अभिनव मन्त्र है, यक्षों के द्वारा किये जाने वाले उपसर्ग का निवारक है और मोक्ष सुन्दरी का अधिपति बनाने वाला है।

णमो अरहंताणं भावीसु जीवे, णमो अरहंताणं कैवल्यपदवी ॥

अर्थ—हे जीवो! इस मन्त्र की भावना करो, यह कैवल्य प्रदान करने वाला मन्त्र है।

निपोळ्दन्तुरे जिनर्नि-
दं पेरतेनगिष्टदैवमिल्लनुनयदिं ।
पेंपिन पंचनमस्कृ-
तियिं पेरतेनगोंदुमिल्ल वरमंत्रगळ् ॥१५६॥

अर्थ—इस प्रकार जिनदत्त श्रेष्ठी के मुख से नमस्कार मन्त्र के प्रभाव को सुनकर वह अंजनचोर अधिक जिज्ञासु (जानने का इच्छुक) होकर विनयपूर्वक उनसे पूछने लगा कि हे सम्यक्त्व चूडामणि, हे दयानिधे ! यदि आप कृपा करके इस णमोकार महामन्त्र के विषय में यह बताने की कृपा करें कि आपको किस प्रकार की साधना से यह सिद्धि प्राप्त हुई और गगनगामिनी विद्या को आपने किससे कैसे प्राप्त किया, तो आपकी यह मुझ पर असाधारण अनुकम्पा होगी।

इस प्रकार के विनय भरे वचन सुनकर दयामय श्री जिनदत्त श्रेष्ठी ने ललितांग को कहना आरम्भ किया।

कि मैं पंचपरमेष्ठी के णमोकार मंत्र के सिवाय अन्य किसी मंत्र का जाप नहीं करता हूं और न ही अन्य किसी मन्त्र पर विश्वास रखता हूं। वास्तव में मुझे भगवान वीतराग की वाणी और पंच परमेष्ठी के मन्त्र पर ही विश्वास है। अरहंत देव, निर्ग्रन्थ गुरु और जिनवाणी (सच्चे शास्त्र) के अतिरिक्त किसी और को मैं कल्याणकारी नहीं मानता। मेरे हृदय में ऐसा दृढ़ श्रद्धान है।

ई गगणगामिनी येंब विद्येयेनगे बदं वृत्तान्तमं किरिदिनोंळेपेळ्वेनदेंतेने ।१५७।

अर्थ—अब मैं आपको गगनगामिनी विद्या कैसे प्राप्त हुई इससे विषय में संक्षेप में वर्णन करता हूँ—

मुंदर्दिदं जिनपदमें-
बुदु नाडानाडिकोळगेनाडेनेडंगि ।
पुदिदोर्पिदुंट्ट बहुजन-
दोदविंदं भूमितिलकमेंबुदु नगरं ॥१५८॥

अर्थ—इस भूमि पर अत्यन्त सुन्दर, भव्यभवनोंका आगार, जिनपद नामका एक देश है

वहाँ कुबेर के समान कोषवाले धनिक निवास करते हैं। वहाँ धर्म की निरन्तर वर्षा होती रहती है और शील-संयम को धारण करने वाले भव्य जन वहाँ विपुल संख्या में निवास करते हैं। वह देश अनेक प्रकार के धन-धान्यादि सम्पत्ति से भरा हुआ है। उस विशाल देश में एक 'भूमितिलक' नाम का सार्थक नगर है। जिसमें अनेक भव्यजन रहा करते हैं।

अद्नाळ्वं नरपालनेंबरसनातन राजश्रेष्ठिसौंदरनेंबातनभार्ये सुनंदेयेंब-ळतंवरिर्वर्ग श्रीवर्म, जयवर्म, जिनवर्म, जिनदत्तं, जिनदासं, धन्वन्तरियेंबेरवर् मक्कळागि बळेयुत्तिरे आ नरनाथन पुरोहितं सोमशर्मनेंब ब्राह्मणंगमातन पेंडतियग्गिलेगं विश्वानुलोमनेंब मगनागिबळेये ॥१५९॥ +

अर्थ—उस नगर में नरपाल नामक राजा राज्य करता था। उसके नगर के राज-सेठ का नाम सौन्दर था। उसकी स्त्री का नाम सुनन्दा था। नगर-सेठ के श्रीवर्मा, जयवर्मा, जिनवर्मा, जिनदत्त, जिनदास और धन्वन्तरि छह पुत्र थे। तेजस्वितामें और रूपमें सूर्य और चन्द्र के समान थे। क्योंकि जिस प्रकार की खान होती है, उसी प्रकार का उसमें से रत्न निकलता है। हीरे की खान में हीरा और लोहे की खान में लोहा तथा ताम्बे की खान में से तांबा धातु आदि की उत्पत्ति होती है। उत्तम वंश में उत्तम मनुष्य ही उत्पन्न होते हैं। किन्तु यदि उत्तम गुणी पुत्र को नीच लोगोंकी संगति मिल जावे तो उसकी श्रेष्ठता लुप्त हो जाती है। दरिद्र व्यक्तिके हाथमें आया हुआ सुवर्ण भी पीतल समझा जाता है, यदि उसके हाथमें हीरा हो तो उसे कांच का टुकड़ा समझा जाता है। उस राजा का पुरोहित जिसका नाम सोमशर्मा था, उसके भी एक पुत्र था जिसका नाम विश्वानुलोम था। उस पुरोहितकी पत्नी का नाम यज्ञिला था। वह पुरोहित का पुत्र चन्द्रमा के समान दिन-दिन बढ़ता हुआ अपने माता-पिता को हर्षित करने लगा।

करमादरर्दि धन्वं-
तरिगं विश्वानुलोमद्विजगं स्नेहं।
पिरिदागे कूर्मेयिं दि-
र्वरुमिर्पपाल नीरकूटद तेरदिं ॥१६०॥

+ जिनपदम्यम्ब देशदोल् भूतितिलकमेम्बुदु पुरमदनालवं नरपालम्यम्बर सनातनराजश्रेष्ठी सुन्दर-जिनभक्तन्यम्बनातनमगं धन्वन्तरियंवं मतमानरपालनपुरोहितं सोमशर्मनेम्बनातनमगं विश्वानुलोमं। (ग)

अर्थ—अपने-अपने शुभ और अशुभ कर्म के उदय से नगर-सेठ और राज-पुरोहित के दोनों बालक धन्वन्तरि और विश्वानुलोम की बचपन से परस्पर मित्रता हो गई। दोनों एक साथ खेलने कूदने और बड़े होने लगे। उस सोमशर्माने अपने पुत्र को पढ़ाया नहीं और उस नगर सेठ का पुत्र धन्वन्तरि भी अत्यधिक लाड-प्यार से पाला पोषा गया, इससे पढ़ने के लिए न जा सका। दोनों लड़के केवल खेल-कूद में ही मस्त रहते थे। दोनोंका आपस में इतना पारस्परिक प्रेम था कि जैसे पानी में पानी मिला हुआ हो।

अंतिर्वरु नखमांसगळंते सम्प्रीतियं कूडिबळेयुत्तु, दुर्जन-
संसर्गदि सप्तव्यसनपररु दुश्चरितरुमागे सौंदरसेट्ठियु
सोमशर्मनुमेगेयूदु दुष्टतनमं निवारिसलारवेयरसन मुंदे-
तोरेदु कळवुदुमवरिर्वरु तंदतायूगळनगळूदल्लिदु ॥१६१॥

अर्थ—धीरे-धीरे वे दोनों बचपन से युवावस्था में आये। तब वे कुसंगति में पड़ कर दुर्व्यसनी बन गये। वे चोरी, परस्त्री-सेवन, वेश्यागमन, मद्य-मांस-भक्षण आदि सातों व्यसन सेवन करने लगे। क्योंकि, उस नगर-सेठ ने तथा राज-पुरोहित ने अपने-अपने लाडलों के दुराचरण पर नियन्त्रण नहीं किया था, इसलिए वे-गुप्त रूपसे चोरी करने के मार्ग पर भी प्रवृत्त हो गये। किन्तु जब उन दोनों के माता-पिताको पता चला तो वे उन्हें आगे कुमार्गसे रोकने के अभिप्राय से भयभीत करने के लिए राजा के पास दण्ड दिलाने के लिये ले गए। राजाने यह सोचकर कि दोनों ही बड़े कुलके बालक हैं, उनको साधारण तौरसे धमका कर छोड़ दिया। सामान्य डांटसे उनका सुधार क्या होने वाला था। तब वे दोनों माता-पितासे कतरा कर उनसे दूर-दूर रहने लगे। माता-पिता का सामना वे कभी-कभी करते थे। चोरी का संचित धन दोनों के पास आता रहता था और इस प्रकार से दोनों स्वच्छन्द और कुमार्गसेवी हो गए। किसी प्रकार का भय उनको नहीं था।

अरमनेयं पोक्कवरि-
र्वरुमोयूयने कलदु दिव्यरत्नंगलनों-
प्पिरे पोरमडलवरं नि-
ष्ठुरकोपं कंडु जडिदु कोंडु तळारं ॥१६२॥

अर्थ—एक दिन वे दोनों (विश्वानुलोचन और धन्वन्तरि) राजा के महल में ही लुक

छिप करके पहुँच गए और वहां से बहुमूल्य रत्नों की चोरी करके बाहर निकलने लगे। उसी समय रक्षाधिकारीने उन्हें रंगे हाथों पकड़ लिया और दोनोंकी पहले तो खूब मरम्मत की, इसके साथ ही उन्हें बांध कर वहीं रोक लिया। राजाके महल में चोरी करनेके उनके दुस्साहस पर उसे बहुत क्रोध आ रहा था।

अरसंगोप्पिसे भूपं
करमल्ळदे मुनिदु कोलेयनोमोगे माण्दें ।
निरुतं नीविर्वरुमी-
पुरदिं पोरमोट्टु पोगिमिर्दोडेकोल्वें ॥१६३॥

अर्थ—तदनन्तर कोटपाल ने उन चोरों को राजा के सामने उपस्थित किया। तब राजा ने उनके वास्तविक रूप को जान कर उन्हें प्राण-दण्ड देना उचित समझा किन्तु फिर यह विचार किया, कि इससे उनके माता-पिता को बहुत मार्मिक चोट पहुँचेगी। तब राजा ने कठोर स्वरमें कहा कि यदि तुम मेरे राज्य की सीमामें फिर कभी देखे गए तो तुम दोनोंको प्राण-दण्ड मिलेगा।

एंबुदु भवरिर्वरुं तम्मजनियर पेंडिर मोहदिं तंदेयुं बन्धुगळुयरियदंताग कळदु वंदु तम्मदेशत्यागमनवर्गीरिवे ॥१६४॥*

अर्थ—वे दोनों अपने परिवार और कुटुम्बियोंसे छिपकर इस चौर्यकर्म (चोरी) में प्रवृत्त होते थे। उसकी जानकारी उनके माता पिता को न थी। किन्तु आज राजदण्ड मिलने से उनके माता-पिता को स्पष्ट रूप से यह मालूम हो गया कि इन लड़कों में सभी प्रकार के दुर्गुणों ने घर कर लिया है। आज उन्हें ज्ञात हुआ कि राजाने इन दोनोंको देश-त्याग का दण्ड दे दिया है। सुनकर—

कडुमोहदिनात्मजरं-
बिडलादरदे नेरेये तोरेदु नंटिरुमं ने-
र्पडे गंडुरुमं तामघ-
रोडवदंमोहदिंदे किडिदवरोळरे ॥१६५॥

---

* यम्बुदुमवर् पोरमट्टु पोगे जणणियर् केलदु। (ग)

इनियर मेगनमोहदि-
ननुजर बंधुगळताय तंदेयमातं ।
मनदोळ् भाविसलोल्लदे-
वनितेयरुं गंडरोडने केट्टोडवंदर् ॥१६६॥

अर्थ–(जिन माता-पिताओं का अपनी दुर्गुणी सन्तान के प्रति भी मोहभाव बना रहता है, वे कालान्तर में दुःख तो उठाते ही हैं, किन्तु उनकी अपकीर्ति भी लोक में होती है। परन्तु निरन्तर अनुचित लाड़-प्यार करते रहनेसे उनमें इतनी दुर्बलता भी आ जाती है कि वे उस अवस्थामें भी उनका त्याग नहीं कर सकते।) धन्वन्तरि और विश्वानुलोचनके माता-पिता भी उनके साथ ही देशान्तर जाने के लिए नगर छोड़ गए। अब वे सब किसी दूसरे नगर में अपनी जाति-विरादरी के लोगोंके साथ रहने लगे। दण्ड मिलने पर भी दोनों को समझ नहीं आई थी और वहां भी वे चोरी करने लगे। उनके सम्पर्कसे पास-पड़ौसके रहने वाले भाई-विरादरी के बालक भी बिगड़ने लगे। यदि कभी धन्वन्तरि और विश्वलोचन के माता-पिताओं को विरादरी के लोग आकर कुछ कहते तो उनकी बात हित-कर होने पर भी वे बातें उन्हें अच्छी नहीं लगती थीं। उनकी स्त्रियोंमें भी कुछ दोष आने लगे और अपने खटपटी स्वभाव के कारण वहां भी अधिक दिनों तक वे नहीं निभ सके, अतः वह स्थान भी उनको त्याग देना पड़ा।

अंतागळिर्वरुं तम्म पेंडिरुं तायूगलुं वेरसु गजपुरक्के पोगि, यमदंडनेंब तळारनं सार्दोरोर्वरयूनूर्वर्ग नायकरागिपर देशंगळोळ् कळ्दुतंदु विषयसुखंगळं सलिसुत्तुमिर्दोमें विश्वानुलोमं धन्वन्तरिगिंतेंदं ॥१६७॥

अर्थ–इस प्रकार अपने जातीय बन्धु बान्धवों का कहा-सुना सहन न कर सकने से धन्वन्तरि और विश्वानुलोचन अपने-अपने माता-पिता और स्त्रियों को लेकर हस्तिनापुर में जा पहुँचे। वहां के कोतवाल का नाम यमदण्ड था। किसी प्रकार जोड़-तोड़ कर वे दोनों रक्षाविभाग के नायक बन गये। उसके बाद वे अपने अधिकार का दुरुपयोग करके इधर-उधर गांवों में जाते और वहां लूट-खसोट कर लौट आते। प्रतिदिन किसी न किसी नये गांव में पहुँच जाते और राज्याधिकारी (पुलिस) के वेष में अन्याय अत्याचार करके लूट-पाट करते। फिर आपस में बंटवारा कर लेते। विश्वानुलोम और धन्वन्तरि प्रतिदिन ऐसा करने लगे।

आर्नोदं बेडिदर्पे-
नीनद्नेनगी वुद्णण मार्कळ्ळदे पो-
नीनेन्नदे मुनिसिल्लदे
मोनंगोंडिरदे बिच्चतिक्केयेळिनिसं ॥१६८॥

अर्थ—एक दिन विश्वानुलोम धन्वन्तरि से कहने लगा, कि देखो मित्र ! मुझे तुमसे एक प्रतिज्ञा करानी है। यदि तुम मेरे कहे अनुसार प्रतिज्ञा नहीं करोगे तो मुझको तुम पर बड़ा क्रोध आ जायगा। बात यह है कि तुम कभी-कभी मौन धारण करके आंखें बन्द कर लेते हो, कभी उपवास करके उत्तम भक्ष्य पदार्थोंका भी त्याग कर देते हो और फिर उधर आंख उठाकर भी नहीं देखते। कभी-कभी तुम माला लेकर बैठ जाते हो। मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता। अतः तुम प्रतिज्ञा करो कि इस प्रकार के फालतू काम करने में फिर कभी अपना समय व्यर्थ नहीं लगाओगे।

अदावुदेंयोडे नीं मुन्निनंते मरुळागि बसदिगेपोपुदुमं ऋषिय रोडने मातााडुवुदुमं माणबुदेकेंदोडे [एम्मपिरिद्प्प भोगक्कंतरायमक्कुमदरिमदरिं मुन्नमे पेलवेनेंदु केयं मुगिदु] सूरुळ्गोंडों डंबडिसिसंतसदिंदिरे केलवु दिवसं कलेयलोंदुदिवसं ॥१६९॥

अर्थ—विश्वानुलोचन ने पुनः कहा कि दूसरी बात यह है कि आप जब-तब मन्दिर में चले जाते हो, वहां पर देवप्रतिमाको नमस्कार करते हो और साधुओंके पास बैठकर न जाने कहां-कहां की गप हांकते रहते हो। तथा जैन श्रावकोंके साथ भी वार्तालाप करने लगते हो। किन्तु आज दिन आपको प्रतिज्ञा करनी होगी कि इनके साथ किसी प्रकारका समागम नहीं करोगे और जैसा मैंने कहा है उसका पालन करोगे। क्यों कि, ऐसा करने से हमारा बहुत-सा समय व्यर्थमें चला जाता है और हम जितनी भोग-सामग्री संचित करना चाहते हैं, उतनी नहीं कर पाते। यह मैं तुमसे हाथ जोड़ कर कह रहा हूं। इस प्रकार धन्वन्तरि से विश्वानुलोचनने कहा। विश्वानुलोचन भी सप्त व्यसन का अभ्यासी था, इसलिए उसने भी 'हां' कह दी। इस प्रकार प्रतिज्ञा-बद्ध होकर वे दोनों पुनः अधिक उत्साहके साथ पापाचरण में मग्न हो गये।

एक दिन की बात—

पुरदिं पोरमट्टिर्वरु-
मरुमुद्दिं केरेगे पोगुतिरे मदर्दिदं-
करियोदु सोर्कि पलरं-
निरंकुशं मसगि कोलुते बर्पवसरदोळ् ॥१७०॥

अर्थ—एक दिन वे दोनों नगरसे निकल कर स्नान के लिए तालाब जा रहे थे। मार्ग में एक मदोन्मत्त हाथी निरंकुश होकर अनेक प्रकारके उपद्रव कर रहा था। वह नगरके लोगों में बहुतों को घायल कर रहा था और बहुतोंको उसने मार डाला था। उसकी विकराल सूंड ऊंची उठकर भयका संचार कर रही थी (जैसे कि कोई महासर्प ही फण उठाकर फुंसकार रहा हो) एक तूफान सा मचा हुआ था। जब ये दोनों नगर से बाहर निकले और तालाब के मार्ग पर जाने लगे, तभी वह हाथी भी उस ओर आ निकला। उन दोनों ने हाथी को अपनी ओर आते देखा।

कंडिर्वरुमेयूदेभयं
गोंडोडलुमत्तलित्तलेडेयिल्लदे वे-
तंडं परितरे भोंकने-
बेंडागि महाप्रतिज्ञरिर्वरुमागल् ॥१७१॥

अर्थ—अति भयाकुल होकर उन्होंने शरण पाने के लिए इधर-उधर देखा। किन्तु उस वन में दूर-दूर तक उन्हें कोई बचने योग्य स्थान दिखाई नहीं दिया। भाग्य से उनको एक सहस्त्रकूट मन्दिर दिखाई दिया। (मानो, भाग्य ने उनकी जिनमन्दिरमें न घुसने की प्रतिज्ञा को परखने को ही उसे प्रकट कर दिया हो।) उन्होंने देखा कि एक भव्य विशाल जिन-मन्दिर पास ही शोभायमान है, किन्तु अपनी प्रतिज्ञा को स्मरण करके वे दोनों ही उसमें प्रवेश करते सकुचा रहे थे। तथापि वहाँ पर अन्य कोई उपाय रक्षाका था भी नहीं। और महाकाल का साक्षात् रूप वह कुपित हुआ हाथी प्रतिक्षण उनकी ही ओर आता जा रहा था। तब वे दोनों किंकर्तव्यविमूढ हो गए।

केळदोळिर्द सहस्त्रकूटमंडितमेंब जिनालयमनोडिपोगिपोक्कानेय भयं पिंगुविनमिदु पोगलोंदर्पुदु मळे पिरि दागि बरे। मळेयं पोदबळिक्कं पोपे-

वेंदिर्पुदु नेसरपडुवुदु पुरद्बागिल पडि कोल्वुदु, पोगलूकूडदे, बसदियोळ् धन्वन्तरि विश्वानुलोममन मुनिनसूरुळु नेनेदु किवियोळ् तूं तनिद्दु पाद्दिर्दनन्नेगं पर्वोपवांसमिर्द भव्यजनक्के, ॥१७२॥

अर्थ—तब निरुपाय होकर वे उस सहस्रकूट मण्डित जिनालयमें घुस गए। और जब तक हाथी वहांसे चला न जावे, तब तक उन्होंने वहीं रहना उचित समझा। अतः वे दोनों मन्दिर में ही बैठे रहे। जब हाथी वहांसे चला गया तब वहां पर पानी बरसने लगा। जल वर्षा देर तक होती रही तब तक नगरके कोटके द्वार बन्द होगये, इसलिए वहांसे लौट कर वे नगर में भी न जा सके। वहां मन्दिरमें एक वरधर्म नामक अवधिज्ञानी मुनि महाराज विराजमान थे, उस दिन अष्टमी का दिवस था, अतः बहुत-से भव्यजन उपवास आदि व्रत रखे हुए थे, वे वहां उपदेश सुननेकी अभिलाषासे एकत्र हुए थे। दोनों मित्र तो अपनी प्रतिज्ञाको स्मरण कर कान में रुई लगा करके सो गये। क्योंकि वे दोनों चोरी आदि पापों के विरुद्ध कोई उपदेश सुनना नहीं चाहते थे।

वरधर्मरें ब मुनिवर-
दुरितहरर् धर्ममंमनंबिडे पेळ्-
त्तिरे मेल्लनें धन्वन्तरि-
पद्पिदेच्चत्तुमिर्द निर्पन्नेवरं ॥१७३॥

अर्थ—वरधर्म मुनि आये हुए श्रावक-समूहको धर्म का उपदेश देने लगे। मुनि महाराज के शब्द उन दोनों को भी सुनाई पड़ने लगे। क्योंकि, निद्रा से उनके कानों से लगी हुई रुई निकल कर अलग हो गई थी। पहले धन्वन्तरि की आंख खुली और—

नेलदोळ् पट्टिर्द विश्वानुलोममं तडवरिसिनोडि मरवट्टिर्देंबुद्नरिदु किवियतूं तं कळेदुमेल्लनेळ्दु कुळ्ळिलदु केळ्वप्रस्तावदोळ् ॥१७४॥

अर्थ—उसी समय विश्वानुलोम की आंखें भी खुल गईं। जब उसके कानों में मुनिवचन सुनाई पड़ने लगे तो वह अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार फिर कानों को रुई से बन्द करके सो गया। किन्तु धन्वन्तरि नहीं सो सका। उसे उनके वे वचन मधुर प्रतीत होने लगे और जिस प्रकार कोई वशीकरण करता हो इस ही प्रकार उसका मन उनकी ओर आकर्षित होने लगा। वह चुपके से उठा और उन श्रोताओं के समूह में जाकर पीछे की ओर बैठ गया।

वरधर्मं मनुत्सवदि-
स्थिरमनदि केळलोल्लदातने किरियं ।
वरधर्ममनरिविंद
स्थिरमननागरियलोल्लदातने बरियं ॥१७५॥

अर्थ—धन्वन्तरि मनोयोगसे मुनि महाराजके उपदेश को सुनने लगा। मुनि महाराज कह रहे थे कि जो श्रेष्ठ धर्म को अनमना होकर सुनता है, मन लगाकर नहीं सुनता है, वह लघु (नीच) कहलाता है, सद्धर्म की वाणी को सुनकर जिसका चित्त प्रफुल्लित नहीं होता है वह दोनों लोक में उन्नति नहीं कर पाता।

एंबुद केळदुकर्मोपशमदिंदवरं सादेनगोंदु व्रतमं दयेगेयियमेंबुदु वरधर्मभट्टारकर् दिव्यज्ञानगळप्पुदरिं दासन्नभव्यनेंदरिदु, वात्सल्यदिं निच्चलु तरंदुदलेयं कंडल्लदुणबेडेंबुदु अंतेगेय्वेनेदु व्रतमं कैकोंडु मनेगेपोगि, केलवुदिवसमदेरीतियोळिर्दोदु दिवसमुणलुबंधु ॥१७६॥ ÷

तोट्टने नेनेद व्रतमं-
केट्टनेनुतंते तन्नमनदोळ् हेबं-
पुट्टे मुनि पेळ्दिमातं
बिट्टोडे पिरिदप्प दोषमेंदादरदिं ॥१७७॥

अर्थ—इस प्रकार मुनि महाराज के मुख से निकले हुए वचन सुनकर उस धन्वन्तरि को आनन्द आया और वह मुनि श्री के पास जा बैठा। वह कहने लगा कि महाराज ! मुझे कोई व्रत दीजिए। मुनि महाराज ने पूछा कि तुम कौनसा व्रत लोगे ? उसने कहा कि जो मुझसे निभ सके, वह व्रत दीजिए। मुनि पूछने लगे कि—क्या मांस भक्षण करते हो ?

÷ टिप्पणी—निम्मय्यनंते बसदिगे पोपुदुगं ऋषियुर् श्रावकरोडने नुडिवुदु मानेंदु वेळ्कोंडु सूरुल्गोंडबडिसि सुखमिर्दोंदु दिवसं तोरेगेपोगि बरुत्तुमानेयभयदिं पुरद पोरगण सहस्रमंडितमेंब बसदियं नोडि पोक्कानेयु पोदबलिक्कं पोपेनेंबुदु मरे पिरिदागे पोगलरियदे अल्लिदुं पर्वोपवासंगे य्वश्रावकर्गे धर्माचार्यधर्मश्रवणं गेय्युत्तुमिरे धन्वंतरि विश्वानुलोमनं निद्रे गेय्सिमेल्लनेदु तां केल्देनगोंदु व्रतमं दयगेयियमेंबुदु अवरासन्नभव्यनेंदरिदु, तरंदुदलेयं कंडल्लदुणल्वेडेंदु कुडे, कैकोंडु बंदु दिवसमुणल्बंदवधरिसि नेरमनेयकुंबारं तरंडुनप्पुदनरिदु मणकुलिगे परितंदुकंडनेंदु बरेयातं कडंपोण्णं कडनेंदु तंदोप्पिसि अणिपोन्नं। (ग)

धन्वन्तरि बोला 'हां'। फिर पूछा क्या मद्य पीते हो? उत्तर मिला 'हां'। क्या जुआ, वेश्या-गमन, चोरी, शिकार और परस्त्री-गमन करते हो? उत्तर वही मिला 'हां'। मुनि श्री ने कहा तो इनमें से किसी एक को छोड़ दो? धन्वन्तरि ने उत्तर दिया कि 'नहीं महाराज! मैं शिकार; परस्त्री सेवन, वेश्यागमन और चोरी नहीं छोड़ सकता। मुझे तो कोई और ऐसा व्रत दीजिए, जो कि मुझसे निभ सके। मुनि महाराज अवधिज्ञानी थे, सो पहचान गये थे कि यह कोई आसन्नभव्य जीव है। तब उन्होंने धन्वन्तरिसे पूछा कि तुम प्रतिदिन मन्दिर जी नहीं जा सकते? उत्तर वही मिला 'नहीं'। अन्तमें मुनि महाराज बोले कि अच्छा, तुम यह व्रत लो कि किसी गंजे आदमीका मुख देखने से पहले भोजन नहीं करोगे। उसने सोचा कि यह व्रत तो सरल है, यह मुझसे निभ जायगा। गंजे आदमी बहुत-से मिलेंगे इसमें किसी प्रकार की दिक्कत नहीं होगी, अतः उसने यह व्रत बड़ी श्रद्धा से स्वीकार कर लिया। इसके बाद वह घर चला आया। उसने बड़े श्रद्धान और नियम से उस व्रत को निभाया। किन्तु एक दिन भूल कर वह बिना किसी गंजे को देखे भोजन करने बैठ गया। जब कौर उठाने लगा तभी उसे स्मरण हो आया कि आज तो उसने किसी गंजे का दर्शन नहीं किया, यह सोचते ही उसको बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि अहो, आज मेरा व्रत टूट रहा है। तब वह कौर को थालीमें रख कर उठ खड़ा हुआ और किसी गंजे का दर्शन करने को निकल गया।

नेरेमनेयकुंबारं तरंटुदलेयनप्पुदरिं मनेयोळरसि कानदे मण्णकुळिगे पोगि दूरदोळातनबोळ मंडेयं कंडु कंडेनेंदु संतसदिं कूडिबरे, काकतालीय-न्यायदिंदातं नन्नकंड निधिपमं कंडनक्कुमेंदिगिदुनड्डुविरुळप्पुदुमातं कंडपोन्नं तंदोप्पिसिकैमुगिदु ॥१७८॥

अर्थ—उसे घर के सामने रहने वाले गंजे कुम्हार की याद आई कि उसका दर्शन करने के पश्चात् भोजन करना उचित होगा। यह विचार करके वह उसके घर में घुसा और उसको आवाज दी। किन्तु उसे पता लगा कि वह तो मिट्टी की खान पर गया हुआ है। तुरन्त बिना विलम्ब किये धन्वन्तरि उसी ओर चल पड़ा।

जिस समय धन्वन्तरि वहां पहुंचा और उस कुम्हार का मुख देखनेके लिये झुका, उसी समय दैव योग से काकतालीय न्याय के समान उस कुम्हार को खान में एक सुवर्णकलश मिला जिसको पाकर वह हर्षसे चिल्ला उठा कि मुझे 'मिल गया मिल गया।' उस ही समय

धन्वन्तरिने भी उसका मुख देखकर भोजनकी चिन्ताकी जल्दी में कहा कि मैंने 'देख लिया देख लिया।' कुम्हार ने मुड़कर देखा तो धन्वन्तरि को वापस दौड़ते हुए जाते देखा। वह समझ गया कि अवश्य ही इसने भी इस सुवर्ण कुम्भ को देख लिया है और अब यह किसी को जाकर कह देगा। यदि राजाको यह समाचार मिल गया तो वह सारा धन तो छिन ही जायगा, साथ ही किसी प्रकार का दण्ड या लाँछन भी मिल सकता है। यह सोचते ही वह भी उस धन्वन्तरि के पीछे भागा। जैसे ही धन्वन्तरि अपने घर पहुँचा और भोजन करने बैठा, वैसे ही वह गंजा कुम्हार भी आ गया और कहने लगा कि–

आनी पन्नं कण्वुदु
मी नीनोडनडिसि कंडेनंदोडे भयदिं- -
दानंजि तंदु कोट्टें-
नीनरिवै मुनिदुकोल्वंडं रक्षिपोडं ॥१७६॥

अर्थ–जो आपने देखा वह 'यह सोने का घड़ा है।' इसको ही मैं आपको देने के लिए लाया हूँ। आप किसीको कहना मत। वह कुम्हार भयभीत होकर कहने लगा। आप प्रसन्न होकर जो मुझको दे देंगे, वही मैं प्रसन्न होकर ले लूंगा। आप मेरी प्राण-रक्षा करो। मुझ पर क्रोध न करो। इसी लिए मैंने यह सब आपके चरणों में लाकर रख दिया है।

एने धन्वन्तरि मुनियं-
नेनेदु महामहर्षचित्तदिंदा व्रतमं-।
नेनेदु मुनिपतिय वचनदि-
निनितादुदु पडपु सुव्रतं केत्ळमे ॥२८०॥

अर्थ–उस गंजे कुम्हार की यह बात सुनकर धन्वन्तरि को बड़ा आश्चर्य हुआ और तत्काल उसका मन उन मुनिराज के लिये अपार श्रद्धा से भर गया जिन्होंने कि मुझ अधम को कोई उचित व्रत पालन न कर सकनेसे गंजेका मुख देखनेका सरल व्रत दिया था, वह मन में सोचने लगा कि ऐसा चमत्कारी वचन मैंने आज तक किसीका नहीं देखा। एक मामूली व्रत लिया, जिसके लिए व्रत शब्द का उपयोग सुनकर किसी को भी हंसी आ सकती है। फिर भी मैंने उस पर जो श्रद्धान रक्खा उसी का यह फल मिला है। ऐसे मुनिराज का वचन पालन करने से अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति होती है।

धृदात्तंगे सात्वनितु पोन्न कोट्टु कळिपिमरुदिवसं बसदिगे बंदुवरधर्म-भट्टारकरं वंदिसि तन्नलाभमं पेळ्देनगिन्नोंदु व्रतमं दयेगेयियमेंदु ॥१८१॥ *

अर्थ—इस प्रकार आनन्वित होकर उसने उस कुम्हार को भी उस सुवर्ण के घड़े में से अच्छा भाग (हिस्सा) देकर, सन्तुष्ट किया। अब धन्वन्तरि के हृदयमें यह भावना उठी, कि शीघ्र ही उन मुनि महाराजके दर्शन करूं और उनके पवित्र चरणोंकी धूलिको मस्तक पर लगाऊं। ऐसा विचार करके वह दूसरे दिन प्रातःकाल ही उन मुनिराजके पास मंदिरमें जा पहुँचा और गद्गद कण्ठ से उनको नमोस्तु किया, फिर जैसा भी उस व्रत का फल हुआ था उसने कह सुनाया और उनसे आग्रह किया कि आप मुझे और कोई व्रत भी देने की अवश्य कृपा करें। ऐसा कहकर—

करमुगिदु बेळपुदुं मुनि-
वरनेंदं बेड मगने पेसररियदमू-
मिरुहंगळ पणगलना-
दरदिं मेललेल्लियादोडं पसिविं दं ॥१८२॥

अर्थ—वह धन्वन्तरि हाथ जोड़ मस्तक पर लगा कर विनय सहित व्रत मांगने लगा। मुनिराज ने देखा कि इसका आग्रह सच्चा है और परिणाम शुभ है, तब वे कहने लगे कि हे भद्र! तुम्हें एक व्रत और देता हूं। तुम कभी भी ऐसा फल नहीं खाना, जिसको कि तुम न जानते हो, जिसका गुण तुम को मालूम न हो। तुम्हें चाहे कितनी ही भूख क्यों न लगी हो, किन्तु उस फल को न खाना।

एंबुदुं महाप्रसादमंते गेय्वेनेन्दु पोडेमट्टु मनेगे बंदुकेलवु दिवसदमेले बिश्वानुलोमनुं तानु तंतम्मगलंबेरसु परदेशक्के पोगि कळ्दुबहुद्रव्यं बसमादुदरिं पेर्चिमगुळ्दु बरुत्तमोंदडवियोळ् बीडं बिट्टु कैयोळ् संबळमिल्लदेंमरुगि सैरिसलारदे पसविं तंतम्म भृत्यर्गे पेरडवियोळ् पण्फलंगळनरसि तन्निमेंदु पेळ्वुदुमवर्पोगि ॥१८३॥ +

---

* मंदबरल्लिमे पोगि मत्वंदुव्रतमं, करमगिदु (ग)

+ एंबुदुं कैक्कंडु पोगि पलकालक्कमं कस्दुबरुत्तं संबलमिल्लदे बंटरेल्यरं करिदु पण्णलं तन्निमेंदु पेळ्वुदुमपर्परिदु पण्णनेल्लियुं पडियदे मगळ्दु बरुत्तं सारंकपिनोलिवु। (ग)

अर्थ—मुनिराज के दिये गए इस बल को भी उसने श्रद्धा और विनय-पूर्वक स्वीकार किया। आज 'मुझे महाप्रसाद मिला', ऐसा समझ कर उसे अत्यन्त आनन्द अनुभव हुआ। इसके बाद विश्वानुलोम और धन्वन्तरि अपने साथियों के साथ धनसंचय करने के लिए देशान्तर को चले गए और वहां बहुत-सा धन चोरीसे एकत्र किया। बहुत दिनोंके बाद वे घर के लिये लौटे। मार्ग में रात हो जाने से एक जंगल में पड़ाव डाल दिया। वह जंगल था इसलिए वहाँ पर कोई खाने पीनेकी चीज खरीद कर भी नहीं मिल सकती थी। अत एव उन्होंने भूख से व्याकुल होकर कुछ खाने-पीने योग्य पदार्थों की तलाश करने के लिए अपने सेवकों को भेजा। वे सेवक भी भूखे थे, अतः आज्ञा पाकर वे वनमें जाकर इधर-उधर फल तोड़ने लगे। वहाँ पर दीखनेमें सुन्दर अनेक फल पेड़ों पर लगे हुये थे। वे उन्हें तोड़ लाये और ढेर लगाकर उन दोनों मालिकों के सामने रख दिया।

सारंकंपिनोळिवु क-
पूरमुमं गेल्ववेनिसि कुंकुमरुचियिं-
दोरंतोप्पुवनं का-
चीरमहीरुहदफलगळं कंडागळू ॥१८४॥

अर्थ—सेवक जिन फलोंको चुनकर वहां लाये, थे वे देखनेमें तो बहुत सुंदर थे, उनका लाल-पीला रंग देखने वाले का मन अपनी ओर आकर्षित करता था। ऐसे वे कुंकुम वर्ण के फल थे। ऐसा लगता था कि वे फल स्वादिष्ट होंगे। क्योंकि कहते हैं कि 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति'—यानी—जहाँ सुन्दर आकृति होती है वहाँ कुछ उत्तम गुण भी होते हैं। किंतु वास्तव में उन फलों में यह बात नहीं थी। वे फल चीर-वृक्ष के थे, जो कि ऊपरसे देखनेमें ही सुहावने प्रतीत होते थे।

संतसदिं तिरिदुतंदु धन्वन्तरि विश्वानुलोमरमुंदे राशिगेयवुदुं अवर पेस-रनरियदवनप्पुदरिं धन्वन्तरि मेललोल्ल दुसिरदिर्पुदुं विश्वानुलोमनिंतेदं ।१८५।

अर्थ—विश्वानुलोम और धन्वन्तरि दोनोंका तथा उन चाकरोंका मन उन फलोंको खाने के लिए लालायित हो रहा था। जब कि वे फल खानेको तयार हुए, उसी समय धन्वन्तरिने नौकरोंसे पूछा कि जो फल लाये हो उनका नाम और गुण आदि भी तुम्हें मालूम है? नौकरोंने कहा कि हम कुछ नहीं जानते हैं। तब धन्वन्तरि ने कहा कि जिनका तुम्हें नाम तक मालूम

नहीं, जिनके रस आदि गुणको भी तुम नहीं जानते तो इनको कैसे खायाजावे ? मैं तो अपने व्रतके अनुसार इनको नहीं लूंगा। विश्वानुलोचन यह सुनकर बहुत कुपित हो उठा। उसको बहुतभूख लग रही थी। उन सेवकोंका भी यही हाल था। भूखा तो धन्वन्तरि भी था परन्तु वह अपने व्रत के अनुसार उन अज्ञात फलोंको नहीं खाना चाहता था। तब विश्वानुलोचन ने उसका दुराग्रह देखकर कहा कि तुम्हें आम खाने से प्रयोजन है या पेड़ गिनने से ? परन्तु धन्वन्तरि यह कहता रहा कि तुम सब खा सकते हो किन्तु मैं तो विना इनके विषय में जानकारी प्राप्त किये नहीं खा सकता।

आवावुपायदिंदं-
तावुगणदे पोपुदल्लदुळिदरूमं ना-
नाविधकल्पनेयिंदं
भाविसे तम्मंतु दुःखितं माडुवुदे ॥१८६॥

अर्थ–आचार्य कहते हैं कि मनुष्य अपने आपको सुखी करने का निरन्तर प्रयत्न करता है और अधिक से अधिक लाभ पाने तथा निरापद व सम्पन्न होने के उद्यम में लगा रहता है। किन्तु किसी नीतिकार ने कहा है कि–

करोतु नाम नीतिज्ञो व्यवसायमितस्ततः।
फलं पुनस्तदेवास्य यद् विधेर्मनसि स्थितम् ॥

अर्थ—मनुष्य इधर उधर चाहे जितना परिश्रम करे किन्तु फल उसको वही मिलता है जो उसके भाग्य में है।

और भी कहा है–

यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं स्तोकं महद् वा धनं,
तत् प्राप्नोति मरुस्थलेपि नितरां मेरौ ततो नाधिकम्।

अर्थ–विधाता (कर्म) ने जो कुछ थोड़ा या बहुत धन निश्चित कर दिया है। उतना ही मनुष्य को मरुभूमि (रेगिस्तान)में अथवा पर्वत पर भी मिल जाता है, उससे अधिक नहीं मिलता। कहते हैं कि–

'प्राप्तव्यमर्थं लभते मनुष्यो, देवोऽपि तं लंघयितुं न शक्तः'

मनुष्य अपने कर्मानुसार फल को प्राप्त करता है, देव भी उसका उल्लंघन नहीं कर

सकता। इस लिये जिसका अशुभ कर्म उदय आता है तो वह स्वयं तो दुखी होता ही है किन्तु उसके साथ उसके परिवार वाले, मित्र आदि भी दुखी होते हैं। विश्वानुलोचन को धन्वन्तरि की वह बात ठीक प्रतीत न हुई कि अज्ञात (अजाने) फल नहीं खाना चाहिए। मुनि महाराजसे धन्वन्तरिने जो अज्ञात फल न खाने का व्रत लिया था, वह विश्वानुलोचन को उचित प्रतीत न हुआ।

सवणरंतप्प धूर्तरनीलोकदोळ् काणेनाकाकुगळप्परमातंतानावनिश्चयमेंदु नुडिदोडं, पण्णं मेल्लदिर्पुदूरिं तानुमोल्लदिरे, भृत्यरेल्लं नीविर्वरं सवरमरु-ळ्गोंडु सायि मेंदु, १८७॥

अर्थ—विश्वानुलोचन कहने लगा कि वे साधु तो महान् धूर्त होते हैं। न स्वयं कुछ खाते हैं और न किसी अन्य को कुछ मनचाहा खाने देते हैं। इनकी बातका आदर करना उचित नहीं है। उन्होंने तुम से यह कह दिया कि बिना जाने बूझे किसी फल को खाओगे तो अहित होगा और तुमने भी उसे मान लिया, यह तुम्हारे विवेक की निशानी नहीं है।

पसिदिर्दरारदे पण्णं-
मसागि जडर्तिदु साये कंडागळ् सं-
किसी बळ्दमेंदु मिगे सं-
तसदिं तंतम्मं भृत्यनिकरद पोन्नं ॥१८८॥

अर्थ—उस समय सब को भूख सता रही थी। खाना किसी ने खाया नहीं था। इसलिए उन्होंने धन्वन्तरिके निषेध (मनाही) करने पर भी उन फलों को खा ही लिया। परिणाम यह हुआ कि कुछ तो फल खानेसे मर गये और कुछ मूर्च्छित हो गए। किन्तु विश्वानुलोचन ने धन्वन्तरि के बिना कुछ नहीं खाया इसलिए वह और धन्वन्तरि दोनों बच गए। इस तरह उन दोनों ने व्रत का लाभ प्रत्यक्ष देख लिया और वह धन जो कि सभी के हिस्से में आने से थोड़ा आता, अब इन दोनों के भाग में ही आया। इस प्रकार वे सब धन बटोर कर प्रसन्नता से अपने घर चले आये।

तामिर्वरुं पडिचकोंडु पोळलगेवंदु लाभद पेर्चिं बसदिगं वंदु वरधर्म-भट्टारकरं कंडु तन्न पडमुमं सुव्रतद फलदिं बदुंकिदुदुमं पेळ्दिर्न्नोदु व्रतमं पालिसिमेंबुदुं पिरिदनेत्तुमं बंडिसुमं तिनवेडेंब व्रतमं कुडे कैक्कोंडु मनगे पोगि

केलवु दिवसमिदंतुदिवसं ॥१८९॥

अर्थ—इस प्रकार इस दूसरे व्रत की महिमा देखकर धन्वन्तरि को मुनिराज के ऊपर पक्का श्रद्धान हो गया और वह घर आकर सामान रखनेके पश्चात् फिर उन्हीं श्री वरधर्म मुनि के पास मन्दिर में पहुंचा। वहां आकर मुनिवर को प्रणाम करके उसने गद्गद् होकर कहा कि महाराज! आप के व्रत पालन करने से मैं आज अपनी प्राण-रक्षा कर सका हूं। मैंने बहुत धन पाया और मेरा जीवन तो केवल आपके द्वारा दिये गये व्रत को पालनेसे ही बच सका। अतः आप अब फिर मुझपर कुछ कृपा कीजिए, मुझे और कोई व्रत दीजिए। मुनिराजने उसके भक्ति भावको देखा तो कहा कि तुम उस भोजन अन्नको कभी नहीं खाना जो किसी देवताको बलिरूपमें चढ़ाया गया हो। चाहे वह अन्न कितना ही स्वादिष्ट क्यों न हो। उसने कई दिन तक मुनिवर के उस व्रतका घर पर पालन किया। अपने श्रद्धान को उसने पहले से भी अधिक दृढ़ कर लिया।

तानुं तत्सरवनुं भृ-
त्यानीकं बेरसु पोगिनळ्मळविंदं।
तानधिकलाभमादोड-
नूनगुणर् मगुळदु लाञ्नभदिंदं बल्तं ॥१९०॥

अर्थ—कुछ दिनके पश्चात् धन्वन्तरि और विश्वानुलोचन फिर अपने मित्रोंके साथ परदेश चोरी के लिए गए। चोरी करने के बाद वे किसी घनघोर जंगल में ठहरे। वहां उन्हें बड़ी भूख लगी। वहां पर एक नाग-मन्दिर था। उसकी पूजाके लिए पिछली रात कुछ लोग वहां आये थे। उन्होंने बहुत-सा माल-पूआ और चावल, दाल आदि नैवेद्य बनाकर देवता को चढ़ाया था। धन्वन्तरि और विश्वानुलोमके सेवकोंने आकर जब उसे देखा तो उनके मुखसे लार टपकने लगी। आज उनको बहुत-सा धन भी मिला था और अब वह अच्छा खाने-पीने का सामान भी मिल गया। यह देखकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए।

नट्टडविय नडुवे पसिवुं नीरळ्केयुं तिण्णमागे बंद्वर समीपदोळिर्द नागालयद मुंदण्तावरेगोळक्केनीर्गुडियलेंदुपोगि मुन्निनदिवसं नाडवरेल्लं पूजिसिपोद पिट्टिनेत्तुमं बंडिगुमं तंदुतोरे धन्वन्तरिमेल्लोदिरे, विश्वानुलोम-मुमोसदिर्पन्नेगं, भृत्यरनिवरुं सैरणेगट्टु ॥१९१॥

अर्थ—वे पानी की प्यास से और पेट की भूख से व्याकुल थे इसलिये बिना कुछ विचार किये खाने पीने को तयार हो गये। वहां कमलों से सुशोभित एक सुन्दर स्वच्छ जल का तालाब था और खानेके लिए उस नाग-मंदिरमें पिछली रात जो पदार्थ चढ़ाये गये थे, उन्हें देखकर सभी का चित्त खाने को मचल उठा। जब उन दोनोंके साथियों ने वे पदार्थ लाकर विश्वानुलोचन तथा धन्वन्तरि के सामने रखे तो धन्वन्तरि ने बतलाया कि मैं तो इसे नहीं खाऊंगा। क्योंकि मैंने तो मुनि महाराजसे देवता को चढ़ाये गए भोजन को न खाने का व्रत लिया है। यद्यपि विश्वानुलोचनको भूखके कारण उसकी यह बात अच्छी नहीं लगी किन्तु वह मुनि के दिये हुए व्रत को पालन करनेका लाभ पहले देख चुका था, इस लिए धन्वन्तरि के न खाने पर उसने भी वह भोजन नहीं खाया, और सब ने भोजन किया।

इरुळुरगं पुत्तिदं
त्वरितदे परमोट्टुकारि विषमं पिट्टं।
परिदेंजलि सल्विषदु-
ब्बरिदिं नंजुरुळियेनिसि मेरेवापिट्टं ॥१६२॥

अर्थ—वह खाद्यान्न जिसे भृत्यों ने खाया, विषैला था। क्योंकि एक दिन का बासी था उसे रातमें एक काले नागने विषैला भी कर दिया था। देखनेमें तो वह सुन्दर तथा चित्ताकर्षक लगता था किन्तु उसमें भयंकर मारक विष मिल गया था। इसका परिणाम यह हुआ कि उसे खाकर वे सब मर गये।

मेल्दु गतप्राणरादुदं कंडच्चरि वट्टेदेयं नीविकोंडुतंतम्म भंटरर्थमं तेरळ्चि कट्टिकोंडु पोळिळ्गेबंदु पडपिनपेर्चुगे गच्चरिवडुत बसदिगे पोगि वरधर्मभट्टारकरं वंदिसि प्रपंचमेल्लमं बिन्नपंगेयदु निम्मय प्रसाददिं दनूनमप्पलाभमादिन्वदु व्रतमं दयेगेयविर्मेबुदुं ॥१६३॥

अर्थ—उस समय सभी क्षुधातुर (भूखे) थे और इसी कारण उन्होंने धन्वन्तरिकी बात पर कोई ध्यान नहीं दिया था सब एक साथ खाने पर टूट पड़े, जिसका परिणाम यह हुआ कि उन सब को उस प्राण-घातक विषका शिकार होना पड़ा और वे सब भोजन करते ही मर गये। यह देखकर विश्वानुलोचन और धन्वन्तरि दोनों को आश्चर्य हुआ धन्वन्तरि ने सोचा कि इस बार भी मुनिराज के व्रत ने ही मेरी रक्षा की है, इस लिये वह मुनि के प्रति और

अन्तर्धान हो गया। फिर वे दोनों उस धन को परस्परमें बांटकरके अपने-अपने घरको चले गए। धन्वन्तरि पुनः दूसरे दिन मुनि श्री वरधर्म की सेवा में जा पहुंचा और अपना वह समस्त इतिहास उनको कह सुनाया। तदनन्तर उसने विनय से कहा कि हे भगवन्, मैं तो आपसे व्रत लेने के कारण ही जीवित रहा, अन्यथा तो मृत्यु आ ही पहुँची थी। कृपया मुझे और कोई व्रत दे दीजिए।

यरडुं पर्वंगळोळं-
स्थिरमप्पष्टमियोळं चतुर्दशीयोळं मो-
सरिसदे करमळिपिल्लदे-
परिहरिपुदुमगने कळ्ळुमं मांसमुमं ॥१६४॥

अर्थ—यह सुनकर मुनिराज ने कहा कि हे भव्य ! यदि तुम्हें अपना कल्याण करना है तो अष्टमी और चतुर्दशी के दिन तुम कभी न तो मद्य पीना और न माँस खाना। मांस का तथा मद्य का इन दो दिनों के लिए त्याग कर दो।

एंबुदुमाव्रतमंपेरतोंदुमं बगियदे मुनिवचनमं निश्चयदिं नंबि करमति-
शयदिनोसेदु कैकोंडु सुकदि निर्दान्दुदिवसं ॥१६५॥

अर्थ—श्री मुनि महाराज के वचन सुन करके बड़ी विनयके साथ रुचिपूर्वक अष्टमी तथा चतुर्दशीके दोनों पर्व दिनोंके लिए धन्वन्तरिने मांस मद्य का त्याग कर दिया, और प्रतिज्ञा-पूर्वक यह व्रत लिया। व्रत को लेकर अपने मनमें किसी प्रकार की रंच मात्र भी शंका न रखते हुए 'मुनिराज का वचन ही मेरे लिए कल्याण कारक है,' ऐसा दृढ़ निश्चय करके धन्वन्तरि आनन्द से अपना जीवन बिताने लगा।

वरवेळ्दोयूयने तन्नकार्यभरमं विश्वानुलोमंगे वि-
स्तरदिंदेल्लमनोंदुगुंददरि पिदोरंते तां रागदिं
करदागळ् निजतन्त्रमंकनकदिं ताम्बूलदिं वस्त्रदिं
पिरिदुं मण्णिसि पोपदोंदु समकटिं चौरसैन्याधिपं ॥१६६॥

अर्थ—कालान्तर में फिर चोरी करने के लिए धन्वन्तरि ने विश्वानुलोचन को आदर-पूर्वक बुलाया और प्रसन्नताके साथ उसे पान खिलाया और उसका अनेक तरह आदर सत्कार

करके चोरी करनेके लिए फिर चलनेको कहा, विश्वानुलोचन ने भी धन्वन्तरिकी बात मान ली। वे दोनों मित्र अपने अन्य नौकरों को साथ लेकर सम्पत्ति अर्जित करने के विचार से चोरी करने के लिए घर से चल पड़े। वे दूर देश को निकल गए।

पोगि परदेशमं पोक्कु कळ्दु कळविनोळादलाभदिं मगुळ्दुं बरुत्तु मोंदुगिरितटदोळ्बीडंबिट्टु ॥१६७॥

अर्थ—परदेश में उन्होंने बहुत-सा धन चुराया और अपनी योजना की सफलता पर वे बहुत प्रसन्न और सन्तुष्ट हुए। लौट कर आते समय उन्हें एक पर्वत जो बहुत विशाल था, मिला, वहीं उन्होंने अपना डेरा लगाया। (चोर डाकू ऐसी ही एकांत निर्जन जगह पर ठहरा करते हैं।)

पलवुं दिवसं कळ्ळुं
पलसुं दोरे कोंडुदिल्ल पयनदकतदिं
देले नोळ्पोडे संसारद
फलमावुदो विसुटुं कळ्ळमं मांसमुमं ॥१६८॥

अर्थ—तब नौकर कहने लगे कि हमें बहुत दिन हो गए, हमने न तो शराब पी है और न मांस का स्वाद लिया है। आज तो मद्य पीकर और मांस खाकर आनन्द करना चाहिये। संसार में खाना-पीना और मौज करना, इसके सिवाय और कौन-सा सुख है। मनुष्य-जन्म लेकर भी यदि संसार में मन-वांछित वस्तुओं का भोग नहीं किया तो जन्म लेना व्यर्थ है।

एंदु विश्वानुलोमं तन्नेनुवर् बंटरोळ् नाल्वरं करेदु नीवीपर्वतदतटदोळिर्द बेडवळ्ळिगे पोगि कळ्ळं कोंडु बन्नि न्मेंदट्टुदुं, धन्वन्तरियुमंते नाल्वरं करिदु नीवीबेड काट्टदोळ् मांसमं तणिण-मेंदट्टवुदं विश्वानुलोमन माणिसर पोगि कळ्ळं कोंडु बरुत्ते तम्मेळिंत्तेंदर् ॥१६९॥

अर्थ—इस प्रकार उन्होंने मांस खाने और मदिरा पीने का निश्चय करने के उपरान्त विश्वानुलोचन ने अपने चार बलवान नौकरों को बुलाकर कहा कि इस पर्वत के किनारे भीलों का एक गांव है, तुम वहां जाओ और वहां से मदिरा लेकर आओ। धन्वन्तरि ने भी अपने चार नौकर बुलाकर कहा कि तुम भीलों के दूसरे गांव में जाओ और वहां से

ताजा मांस लेकर आओ। दोनों के नौकर पृथक्-पृथक् गांवों को चले गये, वे नौकर मनमें विचार करने लगे कि हम लोगों को चोरी करते-करते एक युग बीत गया किन्तु अभी तक हमारे घर की दशा वैसी ही बनी हुई है। उसमें कुछ सन्तोषजनक बढ़वारी नहीं हुई है। चोरी तो पाप है फिर आज एक पापाचार और करलें कि इस मांसमें विष मिलाकर ले चलें, जिससे सारा धन हमको ही मिल जावे। इसी प्रकार दूसरे चारों चोरों ने भी सोचा कि मदिरा में विष मिलाकर सभी को पिला दें और फिर सभी धन को लेकर आपस में बांट लेंगे। सभीको बंटवारा करने पर हमें बहुत थोड़ा हिस्सा मिलेगा, इस प्रकार विश्वानुलोचन और धन्वन्तरि के साथियों ने सोचा और परस्पर वे एक दूसरे की योजना को न जानते हुए उन्होंने मांस में और मदिरा में विष मिला दिया।

इरदी कळ्ळोळ्विषमं
बेरसिदिटे कूर्परंते नामेरेद्वरे।
ल्लरूपं कोंदिक्कि बळि
क्कुरु मुदर्दिद्वर पोंगळं कैगोळ्वं ॥२००॥

अर्थ—दोनों के नौकर मदिरा और मांस लेकर और उसमें विष मिला करके ले आये और मन में निश्चय किया कि हम जाकर चुपचाप यह उनके सामने रख देंगे।

एंदु तम्मोळ् चर्चिसि कळ्ळोळ् विषमं व्येरेइसि कोंडु बंदरंन्नेगमत्तल् 'परचिन्ता गरीयसी, एंब नान्नुडियंते धन्वन्तरिय मानिसरु पोगि मांसमं कोंडु बरुतुं तम्मोळ् ळितेंदर् ॥२०१॥

अर्थ—उन्होंने अपने सोचे हुए कार्य-क्रमके अनुसार धनकी लोलुपतासे उस मांस मदिरा में हालाहल मिला दिया और आ गये। फिर भी कहा कि 'परचिन्ता गरीयसी' अर्थात् परविषयक चिन्ता बड़ी मंहगी पड़ती है। अन्य किसी की हानि चाहने वाले व्यक्ति की ही हानि (नुकसान) होती देखी गई है। ठीक ही है, जो अन्य किसी के लिए गड्ढा खोदता है उसके लिये कुआं तयार मिलता है।

अडगिनोळु बेरेसि विषमं
कडुगूर्पिन्दिक्कि बंटरं नायकरं।

मडपि पेरतेनो नामव
रोडवेगळं पच्चिकोंडु सुखर्दि पोपं ॥२०२॥

अर्थ—उन नौकरों ने मांस पकाया और विश्वानुलोचन तथा धन्वन्तरि दोनों पक्षों के साथी इकट्ठे खाने पीनेके लिए आ बैठे। क्योंकि उन्हें भूख सता रही थी। धन्वन्तरि और विश्वानुलोचन के मुख्य शूरवीर जो अलग-अलग मांस को और मद्य को लाये थे, सोच रहे थे कि अब ये सभी मांस और मद्य खाकर मर जावेंगे और तब हम इनके धन का पूरा बंटवारा कर धनवान हो जावेंगे और खूब आनंद करेंगे।

एंदु समकट्टिनिं विषमं मांसदोळिक्किकोंडु बंदोप्पिसुउदुं अंदिन दिवसं चतुर्दशीयप्पुदरिं कळ्ळमं मांसमुमं धन्वन्तरियोल्लदिर्पुदुं, विश्वानुलोमनु मोल्लदे विड्डुवुदुं ॥२०३॥

अर्थ—उस दिन सौभाग्य से चतुर्दशी का दिवस था। धन्वन्तरि ने चतुर्दशी को मांस, मद्य का त्याग किया हुआ था। अतः उसने कहा कि मैं तो आज यह नहीं लूंगा। क्योंकि मैंने तो मुनि महाराज से चतुर्दशी तथा अष्टमी को मांस-मद्य सेवन न करने का व्रत लिया है। विश्वानुलोचन भी मित्र होने के कारण उसमें सम्मिलित नहीं हुआ और इस प्रकार दोनों ने मद्य मांस को नहीं छुआ।

इवर्वर्गे कपटर्दिं
सविनय दिंतेरिंये कळ्ळ नादरदिं म-
त्तवरिवर्गे तंदु पलसं
सविनयर्दि दिक्के कुडिदुत्तिंदत्तागळ् ॥२०४॥

अर्थ—उन दोनों के जितने अनुचर थे उन्होंने उल्लास के साथ एक साथ बैठकर खूब खाया और पिया। किन्तु मांस में विष मिलाने वालों ने यह सोचकर कि हम शराब ही पीवेंगे क्योंकि उसमें विष नहीं है, और शराब में विष मिलाने वालों ने यह सोच कर कि हम मांस ही खावेंगे क्योंकि उसमें विष नहीं है, एक वस्तु को त्याग कर दूसरी वस्तुओं का सेवन किया। अर्थात् चार मनुष्यों ने केवल मदिरा-पान किया और दूसरे चारों ने केवल मांस खाया। दोनों में विष मिला हुआ है, यह बात एक दूसरे को मालूम नहीं थी। परस्पर कपट करने वाले वे दोनों पक्ष के चोर भी तथा सभी अन्य चोर मृत्यु की गहरी

निद्रा में सो गये। यह देखकर धन्वन्तरि को तथा विश्वानुलोचन को महान् आश्चर्य हुआ कि अहो! व्रत ग्रहण करने का कितना माहात्म्य है?

सावुदु मवरपेणंगळ
नोवद्भुतमेंदु नोडि सुव्रतदोळ्पं-
भाविसि नगुतेंदं मुनि-
सेवनेयं बिट्टु पेरतु लाभमुमोळवे ॥२०५॥

एंदवर द्रव्यंगळं कोंडु पोगलामरुदिवसं चैत्यालयक्के बंदु भक्तियं वर-धर्मभट्टारकरं वंदिसि, तन्नवृत्तान्तमेल्लमंपेळ्देनगिन्नोंदुव्रतमं करुणं गेय्विमेंदु प्रार्थिसूवुदं, नीबाब प्राणिगादोडं मुनिवल्लिपेरगेडियं पिंगि बळिक्किं निन्न-मेच्चिदंते माडेंबुदुमंते गेय्वेनेंदु कळिंगदेशक्केपोगि कळ्दारुतिंगळवरमिदु बरुत्तुं, पेररपेंडरिर्गमर्थक्कमलपिकालं पोंदुदेनगे, एन्नपेंडिर्गमर्थक्कल्पेळसुव-रारानुमोळवो, मेणिल्लवो चोद्यमणीदनारयल्वेल्कुमेंदु नाल्केंट्टु दिनमं मन्निसि गजपुरमं पोक्कु विलासदिनिदोन्दुदिनं पयणं वोपेनेंदुसिदु पोरमोट्टु पोगि जिनमंदिरदोळ् नडुविरुळप्पिनं पूजावैभवमं नोडेतिदु तन्नमनेगेबंदु कवाटोद्-घाटनविद्येयं पडियं तेगेदु मेल्लनोळपोक्कु नोळ्पागळ् पाशिनमेले पटिर्दता-थमंपेंडतियुमं बंदु पादरिगणोंदिरियबंदुव्रतमं नेनेदेळडियंपिंगुविं मेच्चर्तुब्ब-सम्मप्पुदत्तेयत्तस उब्बसमप्पुदत्तेयत्तस सारिपेंदु गर्भिनियप्प तन्न पेंडिति-पोदेदशीरेयं कळेवुदु मिर्वरुमं कंडु बेरगागि, ॥२०६॥

अर्थ—इस प्रकार सभी नौकरों को मरा हुआ देखकर विश्वानुलोचन और धन्वन्तरि ने आश्चर्य किया। धन्वन्तरि ने विचार किया कि यदि गुरु से आज के दिन के लिए मद्य-मांस त्याग का व्रत न लिया होता तो इनके साथ ही मेरी मृत्यु भी निश्चित थी। श्री गुरु महाराजकी कृपासे आज मेरे प्राण बच गये तथा मेरे मित्रके प्राणोंकी भी रक्षा होगई। इस प्रकार मुनिराजके प्रति उसकी श्रद्धा और भी बढ़ गई। वह मन में कहने लगा कि धन्य हैं मेरे गुरु, जिनके द्वारा दिये गए व्रत का पालन करने से प्राणियों में सुख और शान्ति का संचार होता है। इसलिये गुरु की सेवा से बढ़कर और कोई सेवा नहीं है। इस प्रकार

आनन्दित होकर और परस्पर धनका बंटवारा करके वे दोनों अपने-अपने स्थानको चले गए।

घर पहुँच कर धन्वन्तरि के मन में रात भर शान्ति नहीं रही। वह सोचता था कि कब दिन निकले और कब मैं मुनि महाराज का दर्शन करूं। दिन निकलते ही नित्य कर्मसे निवृत्त होकर वह मुनि महाराज के दर्शन को जा पहुँचा। भगवान् की प्रतिमा का बड़ी विनय-भक्ति के साथ दर्शन किया फिर मुनिराज को बड़ी विनय के साथ नमस्कार किया। इस बार की बीती घटना मुनीश्वर को सुनाई। फिर कहने लगा कि हे गुरुदेव ! आप कृपा करके मुझे एक व्रत और दीजिए। आपके व्रतों से मेरा कल्याण होता है।

मुनिवर ने उसका सच्चा आग्रह देखकर कहा कि 'हे वत्स ! तुम्हें जिस किसी व्यक्ति पर सन्देह हो और कोई अनुचित काम तुम प्रत्यक्ष भी देख लो, तो भी कुछ काम करने से पहले सात कदम पीछे हटना और फिर सात कदम आगे बढ़कर सोचना, कि मुझे क्या करना चाहिए। आवेश में आकर किसी भी कार्य को तत्काल नहीं करना'। धन्वन्तरिने गुरु की अपार करुणा अपने ऊपर देखी, तो वह गद्‌गद् हो गया और वह विनय सहित बोला कि हे गुरुदेव ! मैं इसका पालन करूंगा। और भक्तिपूर्वक वहांसे विदा होकर अपने घर आया। कई दिनों के पश्चात् पुनः उनको चोरी करने की इच्छा हुई। फिर वे दोनों मित्र बहुत-से साथियोंको साथ लेकर कलिंग देशको चल पड़े। कलिंग देशके राजाके यहां उन्होंने चोरी की और बहुत-सा धन लेकर लौटे। वापिस आते हुए उन्हें छह महीने हो गये, धन्वन्तरि मन में सोचने लगा कि न जाने बाल-बच्चे कैसे होंगे, स्त्री कैसी होगी और मेरी वृद्धा माता कैसी होगी, आदि। ऐसा सोचते-सोचते वे लोग हस्तिनापुर पहुँचे। वहाँ एक दिन ठहरे और भगवान् के मन्दिर का दर्शन किया। वहां मणियों और रत्नों की बनी प्रतिमा थी, बड़ा भारी पूजा महोत्सव चल रहा था। उसे देखकर धन्वन्तरि रातको घर पहुँचा। रातके समय में घर के किवाड़ बन्द थे। अतः धन्वन्तरि द्वार खोलने की कला के प्रभावसे द्वार खोलकर अन्दर पहुँचा। वहाँ उसकी मां और पत्नी एक ही शैया पर सो रही थीं। किन्तु पत्नी ने पुरुष का वेष धारण किया हुआ था।

धन्वन्तरि ने पुरुष और स्त्री को एक खाट पर सोया देखकर विचार किया कि यह कोई पुरुष मेरी भार्या के साथ सो रहा है। यह देख कर उसको क्रोध आया और आवेशमें आकर उसने तुरन्त तलवार म्यान से बाहर निकाल ली और झट उन दोनों को मारने के लिए उद्यत हो गया। किन्तु उसी समय उसको मुनि महाराज से लिये हुए व्रत का स्मरण हुआ और वह सात कदम पीछे हट गया। तभी उसकी पत्नीने नींदमें ही कहा कि हे मां !

थोड़ा सरक कर सोओ जिससे मैं भी आराम से सो सकूं। उसकी पत्नी गर्भवती थी, इसलिए उसे एक शैया पर सोते हुए कष्ट होता था। धन्वन्तरि ने पत्नी के वचन सुनकर सारी स्थिति समझ ली। और मुनि के व्रत का स्मरण किया कि यदि मैं सात कदम पीछे हटने का व्रत न पालता तो अब तक मैंने इनकी हत्या कर डाली होती। इस तरह मेरे परिवार का नाश हो जाता और तीन प्राणियों की हत्या मेरे गले पड़ती।

उसने पत्नीको जगाया और उससे पुरुष-वेष बनाने का कारण पूछा। उसने बताया कि पड़ोस की स्त्री और मैं किसी उत्तम नाटक को देखने के लिए जाना चाहती थी और इसी लिए मैंने पुरुष वेष धारण किया था किन्तु प्रतीक्षा करने के बाद भी वह नहीं आई और मैं माताजी की शैया पर ही सो गई।

धन्वन्तरि को अपनी पत्नी की बात को सुनकर सन्तोष हुआ और अपने हाथों अपनी ही पत्नी की हत्या न होने का अपार हर्ष हुआ। तथा मुनि महाराजसे ग्रहण किये हुए इस तीसरे व्रत का शुभ परिणाम देखकर उसको मुनिवेष पर श्रद्धा और अधिक हो गई।

यतिवंद्यं कोट्टैदुं
व्रतदोळमेनगेय्दे लाभमादुदु पिरिदु।
न्नतियिं दगेंदु तन्मोळ
गतुळबळं पेर्चि नच्चि पोगळदं मुनियं ॥२०७॥

अर्थ—मुनियों में वंदनीय मुनिराज ने जितने मुझे व्रत दिये हैं, उनमें से कोई भी व्रत व्यर्थ नहीं गया, सभी व्रत मेरे लिये लाभदायक रहे हैं, यह विचार करके वह अपने मन में अत्यन्त उत्साहित हुआ, उसका आत्म-बल बढ़ गया।

जैन धर्म में और उन मुनिराज में श्रद्धा भाव बढ़ने से धन्वन्तरि ने उन मुनिराज का मुक्त-कंठ से खूब गुणगान किया ॥२०७॥

मुनिपति कोटाव्रतमं
नेनेयदे कडुगोपदिं दमिरिदोडे पेरतें।
जननियु गर्भिणियप्पी
वनितेयुमोडनलिवरें महापातकमो ॥२०८॥

अर्थ—यदि मैं मुनिराज के दिये हुए व्रत का स्मरण न रखता, तो आज मुझ से कितना

अनर्थ हो जाता। एक तो निरपराध माता का अकारण घात होता। इससे मातृहंता (माता का घातक) के रूप में मेरा अपयश संसार में होता और जन्म जन्मान्तर तक, मैं पाप का भागी बना रहता। यदि मैं अपनी स्त्री की हत्या कर बैठता तो गर्भवती होने के कारण एक साथ दो जीवों का घात हो जाता। अतः मुनिराज ने मुझे जो व्रत दिया था उसके कारण तीन जीव बच गए और मैं उनकी हत्या के पाप से बच गया। अतः मुनिराज का उपकार मेरे ऊपर कितना है, यह मैं वचन द्वारा नहीं कह सकता ॥२०८॥

एंदु मुन्नि नाल्कुव्रतदिं दमुमीव्रतद पडवे मिगिलडेंतेंदोडे- ॥२०९॥

अर्थ–पहले के व्रतों से भी अधिक महत्वपूर्ण यह व्रत है। इस व्रत के कारण मैं आज महान पापों से बच गया हूं। यदि मैं इससे भी अधिक व्रत ग्रहण करूं तो निश्चय ही मैं इस भयंकर संसार समुद्र को पार कर सकता हूं ॥२०९॥

मुंदण सुगतियुमीगळि
नोंदुज्ज्यलमप्प जसमुमीव्रतदिंदं।
निंदुदु मिक्कंदीवद्ये
यिंदिहपरवेरडुमेनगे केडुवुदु पुसिये ॥२१०॥

अर्थ—यदि मैं इस लोक और परलोक को सुधारने के लिये इस यशस्वी महाव्रत को धारण कर लूं तो अब तक मैंने जो जीव-हत्या करके पाप संचय किये हैं, वे पाप नष्ट हो जायेंगे, तब मेरा आत्मा शुद्ध होकर निज स्वरूप को प्राप्त कर लेगा। अतः श्रद्धान-पूर्वक महाव्रत को ग्रहण करने से निन्द्यगति का नाश हो जावेगा, इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं है।

एंदु मनदोळाद हेवदिं निच्चटगतियप्पुदुं परिच्छेदिसि तंदर्थमेल्लमुमं तायंगं पेंडतिगं तक्कनितं कोट्टु ळिदुदं बडश्रावकगं जिनपूजेगं कोट्टु वरधर्म-भट्टारकरल्लिगे बंदु पोडेमट्टु निम्मडिय प्रसाददिंदेनगे महापातकं पिंगि पोदुदेंदु पेरगण वार्तियेल्लमं पेळदु दीक्षेयं प्रसादंगेय्यिमेंदोडा मुनींद्रोत्तमरिंतें दरः—भगनें, "केट्ट नूरुं तपंबट्टु नूरु" एंब नाणुडियुंटु, "पुट्टिदेडेय पोन्नु रुवुदु, पोददेय तपमुरुवुदु" एंबुदरिं नीनिन्नि तपंबडवेड, केळे कांत विषयद धरणीभूषणपर्वतदोळेम्म सधर्मिगळ् श्रीवर्मभट्टारकरिर्परवरल्लिगे

पोगि दीक्षेयं कोल्लेंबु दुमंतेगेय्येनेंदु, विश्वानुलोमननेन्नल्लिगट्टुस्देंदु ता

र्गपेळि बंदु, ॥२११॥

अर्थ—मन में इस प्रकार निश्चय करके अपने मनुष्य-जन्म को सार्थक करने के लिये और अपने पापों को धो डालने के उद्देश्य से उसने चोरी के द्रव्य में से आवश्यकतानुसार अपनी माता और स्त्री को देकर शेष धन गांव के निर्धन व्यक्तियों को बांट दिया और कुछ दान पूजादि में लगा दिया। इस प्रकार धन का समुचित विनिमय करके वह वरधर्म मुनीश्वर के पास पहुँचा और अत्यन्त विनम्र भाव से नमस्कार करके उसने निवेदन किया कि हे भगवन् ! मैं अधम पातकी हूँ। मैं पापों से और संसार से भयभीत हो गया हूं। मेरी आत्मा पवित्र बन सके, इसके लिये आप मुझको दिगम्बर मुनि-दीक्षा देने की कृपा कीजिये और अपने पावन चरणों में मुझे स्थान दीजिये।

धन्वन्तरि की प्रार्थना सुनकर मुनिराज बोले—वत्स ! तुमने उचित विचार किया है। किन्तु जब तक दिगम्बर दीक्षा का महत्व न समझ लिया जाये, तब तक स्वेच्छाचार की संभावना रहती है। यदि स्वेच्छाचार की प्रवृत्ति हुई तो उससे इन्द्रियों के विषय-सेवन की चेष्टा होगी और उससे सर्वसाधारण में शिथिलाचार का तथा मिथ्यामार्ग का प्रचार हो सकता है। इससे स्व और पर का कितना अहित हो सकता है, तथा कितना अनर्थ हो सकता है, इसका तुम विचार करो। संसार-परिभ्रमण से बचने के लिए जो मुनि-पद धारण किया जाता है, वही मुनि-पद शिथिलाचार के कारण संसार-परिभ्रमण का कारण बन सकता है। अतः तुम्हारे लिये यही उचित है कि तुम गृहस्थाश्रम में रहकर अपनी शक्ति के अनुसार व्रत ग्रहण करो और सम्पूर्ण इन्द्रिय-वासनाओं को त्याग करके अन्त में संन्यास-मरण साधो। तुम अभी महाव्रत ग्रहण करने की जल्दी न करो।

मुनिराज के वचन सुनकर धन्वन्तरि विनयपूर्वक बोला, भगवन् ! मैंने संसार का खूब अनुभव कर लिया है। आप मेरा उद्धार कीजिए।

मुनिराज बोले—यदि तुम्हारी यही इच्छा है, तो ठीक है। किन्तु दीक्षा के उपयुक्त यह क्षेत्र नहीं है। यहां तुम्हारे लिए आत्म-कल्याणका उचित साधन भी नहीं है। धरणीभूषण पर्वत पर नितान्त एकान्त है, जो कि आत्म-साधना के लिये बहुत उपयुक्त है वहां पर मेरे साधर्मी श्रीधर्म मुनिराज हैं, तुम उनके पास जाकर दीक्षा लो।

धन्वन्तरि लौट कर घर आया और अपनी माता से बोला कि मेरा मित्र विश्वानुलोम है। उसे तुम धरणीभूषण पर्वत पर भेज देना। इतना कह करके वह धरणीभूषण पर्वत

पर गया, जहां पर श्रीवर्म मुनिवर विराजमान थे।

आ गिरियनेय्दि चेगं
योगींद्रंगेरगि कार्यमं पेळे महो ।
श्योगिगे जिनदीक्षेयनं
तागळे दयेगेय्ये कोंडु तपदोळिनंदं ॥२१२॥

अर्थ—वहां पहुँच कर उसने विनयपूर्वक उन योगीश्वर को नमस्कार किया और उनके चरणों में अपना आशय निवेदन कर दिया। मुनि ने उसकी उच्च भावना जान कर उसको मुनि-दीक्षा दे दी। तदनन्तर वह धन्वन्तरि मुनि निरन्तर कठोर तपस्या में लगे रह कर कर्मों की निर्जरा करने लगे ॥२१२॥

इत्तल्यिश्यानुलोमं धन्वंतरिय पोगनारय्दरि—येपेळे केळ्दु मरुगि निललारदे एनगेन्न केळूयन गतिये गतियेंदु बंदु सहस्त्रजटियेंब तापसं तोरे, सूर्य प्रतिमेनिंद धन्वंतरिमनियं मार्गमनरियदे नुडिसु वुदु नुडियदिरे, एन्नोडने नुडियनेंदु बुनिदु मगळ्दु बंदा तापसंगे शिष्यनागरे मरुदिवसं धन्वंतरि मुनि विश्वानुलोमनल्लिगे बंदु संभाषणेयं माडे मिथ्यात्वकर्म दुदयदिं मुन्नमेन्नोडने नुडियदिर्दनेंब कोपदिं मोनंगोंडिरे वात्सल्यरत्नाकरनिंतेंदं २१३

अर्थ—इधर धन्वन्तरिके मित्र विश्वानुलोमको जब यह मालूम हुआ कि मेरा प्रिय मित्र धन्वन्तरि मुझसे बिना कुछ कहे मुनि बन गया है तो उसको हार्दिक दुःख हुआ। उसने निश्चय किया कि जो गति मेरे मित्रकी है, वही गति मेरी भी है, यह विचार कर वह धरणीभूषण पर्वत पर जा पहुँचा। वह नहीं जानता था कि सच्ची तपस्याका मार्ग कौन-सा है। उसे पर्वत पर सहस्र जटाधारी नामक एक तपस्वी मिला। उसने अपने मनमें विचार किया कि वास्तविक तपस्वी यही है। इनसे दीक्षा लेकर मैं भी तपस्वी बनूं। किन्तु तभी उसे सूर्य-प्रतिमा धारण करके कायोत्सर्ग करने वाले धन्वन्तरि मुनि दिखाई दिये। उनको देखकर वह भी उसी प्रकार मौन धारण कर कड़ी धूप में बाल-तप करने लगा।

दूसरे दिन धन्वन्तरि को ज्ञात हुआ कि मेरा संसारका पूर्व मित्र विश्वानुलोम भी इस पर्वत पर आया है और सहस्र जटाधारी से दीक्षित होकर मिथ्या तप कर रहा है। इसको

सच्चे तपका स्वरूप समझा कर मिथ्यातपसे हटाना चाहिये, यह सोच कर वे विश्वानुलोम के निकट पहुँचे।

विश्वानुलोम अपने मित्र से पहले ही अप्रसन्न था कि मेरा मित्र विना मुझे बताये दूर जाकर मुनि बन गया है। अतः क्रोध और अभिमानके कारण वह धन्वन्तरि से बोला तक नहीं। वह मनमें विचारने लगा कि अब मैं इससे क्यों बोलूं। जब मैं इसके निकट गया था और मैंने बातचीत करनी चाही थी, तब यह भी तो मुझसे कुछ नहीं बोला था, अतः मैं भी इससे बात नही करूंगा।

मन में ऐसी शल्य लेकर वह मौन खड़ा रहा। किन्तु वास्तविक कारण कुछ और ही था, जिसे वह स्वयं भी नहीं जान पाया। वह था उसके तीव्र मिथ्यात्व कर्म का उदय। किन्तु वात्सल्य-रत्नाकर मुनि धन्वन्तरि उससे यों बोले ॥२१३॥

सलेनिन्न तपद् फलमुम
नेले सख केळ न्न तपद् फलमुमनुर्वी।
नलयं बणिग्गसे कडेयोळ्
फलदल्लिये काणलक्कुमेंदल्लिंदं ॥२१४॥

अर्थ—विश्वानुलोम! तुमने तपका जो मार्ग अंगीकार किया है, वह तो मिथ्या तप का मार्ग है। वह सच्चा तप नहीं है, इसमें तो निरुद्देश्य काय-क्लेश है। तुम अपनी हठको छोड़ कर इस मिथ्या तप को त्याग दो। इस तपसे तो इह लोक और परलोक दोनों ही नहीं बन सकेंगे। यह संसार-परिभ्रमणका ही कारण होगा। तुम्हारा सारा परिश्रम व्यर्थ जायगा। अतः तुम मेरा कहना मानो और सम्यक्त्वके मार्गको ग्रहण करके अपना कल्याण करो। जो हठ योग तुमने धारण किया है, वह भले ही दुनिया के लिए आश्चर्यकारक हो, भले ही इस अद्भुत आयोजन के कारण संसार में तुम्हारा यश फैल जाये, किन्तु इससे आत्मा का कल्याण नहीं होगा, अतः तुम इस मिथ्या तप को छोड़ कर सच्चा तप धारण करो।

इस प्रकार धन्वन्तरि मुनि ने विश्वानुलोचन को समझाया, किन्तु उस पर उनके वचनों का तनिक भी प्रभाव न पड़ा ॥२१४॥

बंदुग्रोग्रतपमं माडि समाधिमरणदिं मुडिपि धन्वंतरिमुनिनाथनच्युत-कल्पदोळमितप्रभनेंबहमिंद्रदेव नागि पुट्टिदं, विश्वानुलोमनु सत्तु व्यन्तरलोक-

दोळ् विद्युत्प्रभनेंब वाहनदेवनागिर्पुदुमोमें, नंदीश्वरद्वीपदोळच्युतेंद्रं (विश्वानु-लोमचरनप्प विद्युत्प्रभवाहनदेवनं) कंडु ॥२१५॥

अर्थ–धन्वन्तरि मुनि उसे समझा कर वहांसे चले गये और अपनी तपश्चर्यामें लीन हो गये। उन्होंने घोर तपस्या की, और अन्त में समाधिमरण करके अच्युत कल्प में अमितप्रभ नामक इन्द्र हुए। इधर विश्वानुलोम मिथ्यातपके प्रभावसे मरकर व्यन्तर योनिमें विद्युत्प्रभ-नामक वाहन देव हुआ। अच्युतेन्द्र एक दिन नन्दीश्वर द्वीप में भगवान के दर्शन को गया। वहां उसने विश्वानुलोम के जीव विद्युत्प्रभ वाहन देव को देखकर ॥२१५॥

करेवुदुमातं मयदिं
परितंदत्यंतभक्तियिंदं मेय्यि ।
क्किरे नक्कु देवराजं
चरणदिनंदवननेत्ति बळिकिंतेंदं ॥२१६॥

बुलाया। वह वाहन देव अति भयभीत होकर उसके पास आया और उसको नमस्कार किया। अच्युतेन्द्रने हंसते हुए बड़े प्रेमसे उसका हाथ पकड़कर उठाया और कहने लगा कि–

विश्वानुलोमनागिर्द नीमिम्मनरिविरे पेळ्मेने, वाहनदेवनरिदु बेरगागिरे, मत्तमिंद्रं सैरसदे निम्मेम्म नेगळ्तेय फलमनवधारिसिमेंदेळिसि नुडियं, निम्मळिये ओळ्ळिद रोळरेंबुदल्लेम्मल्लियुमोळ्ळिदरोळरेन्नं नोडवेडेने, निम्मल्लियोळ्ळिदरुं टप्पोडेमगे तोरिमेंबुदुं करहाटदेशद पश्चिमभागदोळिर्प चंद्रिकारण्यदोळिर्द जमदग्नि [येंब जटाधारि] यं तोरि. ॥२१७॥

हे मित्र ! मैं कौन हूँ, तुम्हें पता है ? मैं पूर्व भव में धन्वन्तरि था और तुम विश्वानु-लोम थे। हम दोनों गहरे मित्र थे। हम दोनोंने ही तप किया था। मैंने सम्यक् तप किया था और तुमने मिथ्या तप किया था। अतः दोनोंको अपने-अपने तपका जो कुछ फल मिला है यह तुम देख रहे हो। मैंने तुमको पूर्व भवमें खूब समझाया था कि तुम इस मिथ्या मार्ग का त्याग कर दो, इसका अच्छा फल नहीं मिलेगा। परन्तु तुम नहीं माने थे। उस मिथ्या तप का ही यह फल मिला है कि तुम वाहनदेव बने हो।

तब वाहन देव बोला–आपको सुतप का क्या फल मिला, मुझे यह बताइये। अच्युतेन्द्र

ने कहा मुझे सुतप के प्रभाव से अच्युत स्वर्ग में इन्द्र पद मिला है। किन्तु तुमने मिथ्या अभिमान और क्रोध में आकर मिथ्या तप किया। वह तप दया क्षमा आदि से रहित था। जैन तपस्या करने वालोंके हृदयमें समस्त जीवोंके लिये क्षमा भाव और मैत्रीका भाव रहता हैं। यदि जैन तपस्वीके ऊपर कभी घोर उपसर्ग भी आ जाय, तब भी वह उपसर्ग करने वाले पर क्रोध नहीं करता और न वह अपने तपसे कभी विचलित होता है। क्योंकि वह तप सम्यक्त्व और विवेकसे युक्त होता है। किन्तु कुतपमें मिथ्यात्व और अविचार रहता है। दोनोंमें यह महाअन्तर है। यदि तुम्हें यह परीक्षा करनी हो कि दोनों प्रकारके तपोंमें क्या अन्तर है, तो चलो मेरे साथ।

फलतः दोनों देव वहां से चले। अच्युतेन्द्र बोला कि चलो, पहले तुम्हारे तपमार्ग की परीक्षा की जाय। विद्युत्प्रभ देव की सहमति मिलने पर वे दोनों देव करहाटक देश के पश्चिम भाग में चन्द्रिक नामक वन में जमदग्नि नामक तपस्वी के निकट पहुँचे। वाहन-देव बोला कि ये ही मेरे गुरु हैं, ये घोर तपस्वी हैं ॥२१७॥

आपादमस्तकंबर
में पडिमातेय्दे वळ्ळियुं पुत्तुगळुं ।
व्यापिसिदुवु लोकदोळि
न्नी पांगिं तपदोळसगुवन्न रुमोळरे ॥२१८॥

अर्थ–ये इतने महान तपस्वी हैं कि इनके ऊपर बेलें चढ़ गई हैं। सर्पों ने इधर उधर वामी बना ली हैं। ऐसा लगता है, मानो ये कोई वृक्ष हो, जिस पर लतायें चढ़ गई हों। संसार में इनके समान कोई तपस्वी नहीं है। आप चाहें तो इनकी परीक्षा करके देख लें।

एंबुदुं कडुपेर्चिनिंदि द्रनिंतेंद ॥२१९॥

अर्थ–इस प्रकार विद्युत्प्रभ के वचन सुनकर अच्युत-इन्द्र (धन्वन्तरि का जीव) अपने मन में कहने लगा ॥२१९॥

बडवन सुखमुं पडेय
कडुनुडियुं मुगिल नेळलुमोपर मुनिसुं ।
कडुमूर्खन तपमुं नो
ळ्पोडे शाश्वतमोळपुवेरसु निललरिदप्पुवे ॥२२०॥

अर्थ—गरीब का सुख, मूर्ख की बातें, बादलों की छाया, मूर्खजन का तप, और क्रोधी जन का विश्वास करना मूर्ख व्यक्ति का काम है। बुद्धिमान इन पर विश्वास नहीं करते।

एंदु नक्कु तम्म विद्येगळिं निन्न तपस्विय नच्चिन तपमं नोड्डु नोडें-देरडु धीजगवक्किगळं विगुर्विसेया तपसिय गड्डदोळवु गूडनिट्टिर्पुदुं, मत्तोंदु गीजगनव रल्लिगे बंदु मेरुगिरियोळ् वैनतेयन मदुवेगे बन्निमेने, गर्भिणियप्प गीजगं नानुं बंदपेनेने, नीं गर्भिणि बरवेडेनेयापेणगीजगं एन्ननिल्लिरिसि पेरतोंदु द्विजांगनेयोळ् नेरेदु सुखदिनिर्पिरे ? बेडेम्मोळळितनमेने, निन्नमेच्चिन सूरुळं कोट्टपेनेने, पेण्गीजगमिंतेंदुदु ॥२२१॥

अर्थ—अच्युतेन्द्र यह सोचकर हंसते हुए व्यन्तर देवसे बोला, कि अब मैं आपके तपस्वी की परीक्षा करता हूँ। यह कह कर उसने अपनी विद्या के बल से दो चकवी चकवा पक्षी बनाये। उन्होंने उस तपस्वीकी बड़ी दाढ़ीमें एक घोंसला बना लिया और वे दोनों उसमें बैठ गये। अब उस देव ने एक तीसरा चकवा पक्षी और बनाया। वह पक्षी घोंसले वाले नर पक्षीसे कहने लगा कि मित्र ! मैं मेरु पर्वतसे आया हूं। वहां मेरी बहिनकी शादी है। तुम उसमें चलो, वह नर-पक्षी बोला मित्र ! मै शादीमें सम्मिलित होने कैसे चल सकता हूँ मेरी स्त्री गर्भवती है, उसे कैसे ले जाऊंगा। तब मेरुवासी चकवा बोला उसे ले चलने की आवश्यकता नहीं है, तुम अकेले ही चलो।

यह सुनते ही मादा चकवी रुआंसी होकर बोली कि तुम्हारे बिना मैं यहां अकेली कैसे रहूंगी और फिर तुम्हारा यह भी क्या विश्वास है कि तुम यहां पर वापिस लौट आओगे। कहीं किसी स्त्री के प्रेम में पड़कर वहीं रह गए, तब मैं कहीं की भी नहीं रहूंगी।

वह नर-पक्षी उसे विश्वास दिलाने के लिये कहने लगा कि मैं शपथ खाकर कहता हूँ, कि मैं तुम्हारे पास वापिस आ जाऊंगा ॥२२१॥

आनल्लदे पेरपेररं
नीनाळिपिं मदनतापदिं नेरेदोडे म।
त्तीनुं सूरुळनोल्लिं
नीनी तापसन पडेद गतियं पडेवैं ॥२२२॥

अर्थ—यह सुनकर वह चकवी बोली मैं और कोई शपथ तुम्हें नहीं दिलाती। मैं एक ही शपथ दिलाती हूँ। यदि तुम मेरे अतिरिक्त किसी स्त्री से विवाह करोगे या विषय-भोग करोगे तो जिस तपस्वी की दाढ़ी में घोसला बनाकर मैं बैठी हूँ, उस तपस्वी को जो गति प्राप्त होगी, वही गति तुम्हें भी प्राप्त हो ।।२२२।।

एंबुदु, कृतकगीजगनेरडेरंकेयिंदेरडु किविगळं मुच्चिकोंडु पोल्लदं नुडिदे, तडेयदे ई तपस्विय गतिगे नीनु निन्नुळ्ळरु पोगिमेने, जमदग्नि-मुनि मुनिदु पक्कि गळं करतळदोळ्पोसेदु कोललुद्योगिसुवुदु, अदृश्यरू-पदिं नेलक्के पय्दिरे ।।२२३।।

अर्थ—चकवी आगे कहने लगी कि यदि तुमने विश्वास दिला कर मुझ को धोखा दिया या झूठ बोलकर मुझे छोड़ कर गये तो इस तपस्वी को जो गति होगी, वही तुम्हें होगी।

चकवी की इन बातों को सुनकर जगदग्नि तपस्वी क्रुद्ध होकर उन दोनों पक्षियों को पकड़ करके मारने को तैयार हुआ। तब वे दोनों पक्षी तपस्वी के हाथों से अदृश्य रूप से फिसल कर जमीन पर गिर पड़े ।।२२३।।

पक्किगळल्लिवु दैवं
निक्कुवमेंदिदु भक्तिपूर्वकमागळ् ।
पक्किगळेरडर पादयु
गक्केरगि पतंग नुडिदेयां पातकनें ।।२२४।।

कोलल्बगेदें, क्षमेयिंदुळिदें, केळ्पूर्वदोळां राजर्षि यगिळप्पोडे महा-तपस्वियां पोप गतिगे नीवेतक्के पोग लोल्लिरेंबुदु, मायाद्विजंगळिंतेंदर्ः— नीनप्पोडे पुत्र मुखमं काणदे तपमं कैकोंडे; "अपुत्रस्य गति नास्ति" येंबु-दरिं निन्न पोप गतियनोल्लेवेने, निश्चयमेंदु तन्नं ताने बय्दुकोंडु पक्किगळं बलगोंडु निम्म धर्मदिं गतिगंडेनेंदु तम्म मावनप्पपूतिमहाराज नल्लिगे बंदु, कूसं बेडुतुं मदुवेनिंदनत्तलच्युतेंद्रं वाहनदेवन मोगमं नोडि मुगुळनगेन-गुतिंतेंदु ।।२२५।।

अर्थ—जमदग्नि तपस्वी समझ गया कि ये सामान्य पक्षी नहीं हैं- अपितु कोई देव हैं। तभी ये मेरे हाथों से निकल कर नीचे गिर पड़े हैं। यह समझ कर वह मन में पश्चात्ताप करने लगा—अरे ! मैं क्रोध में निर्दयतापूर्वक उन्हें मारना चाहता था। मैं बड़ा पाप करने वाला था। ऐसा पश्चात्ताप करता हुआ वह उन दोनों पक्षी रूपधारी देवों से पूछने लगा कि मैंने ऐसा कौन-सा पाप किया है जो तुम यह कह रहे थे कि जो "गति इस तपस्वी की होगी, वही गति तुम्हारी (इस चकवे की) होगी"। तब उन देवों ने कहा कि तूने पुत्र का मुख देखे विना तप धारण किया है। इतना विद्वान् होने पर भी तूने स्मृति ग्रन्थों के इस आदेश की कैसे अवहेलना कर दी कि 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' अर्थात् विना पुत्र के गति नहीं होती। तब तुझ अपुत्र को सद्गति कैसे हो सकती है ?

मायामयी देवों की यह बात सुनकर वह तपस्वी बहुत सोच विचार में पड़ गया, वह पश्चात्ताप करने लगा कि अरे ! मैंने बड़ा पाप किया है, पुत्रका मुख देखे विना संन्यासी को भी सद्गति नहीं मिलती। इन देवों ने मुझे सत्य के दर्शन करा दिये हैं। इस तरह विचार करता हुआ वह उन देवोंके चरणों में गिर पड़ा और कहने लगा—तुमने मुझे अधर्मसे बचा लिया, निन्द्य गति से बचा लिया।

इस प्रकार कह कर वह तपको छोड़ कर घर लौट आया और उसने अपने मामा पूति-वाहन राजा की कन्या से विवाह कर लिया।

यह देखकर अच्युत-इन्द्र उस व्यन्तर विद्युत्प्रभ से हंसकर कहने लगा ॥२२४-२२५॥

पलकालं तपदिंदं
चलदिं संदिर्द निन्न नच्चिन मुनियं।
तोलगिसिदेनोंदु वचनदि
नेले केळमिथ्यात्वदल्लि पुरुळेनुंटे ॥२२६॥

अर्थ—विद्युत्प्रभ ! देखा तुमने ? तुम्हारे तपस्वी गुरु कई वर्षसे साधु बने थे। किन्तु एक क्षण में वर्षों के तप मार्ग को छोड़कर गृहस्थी बन करके बैठ गये। अपने घोर तपसे केवल 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' इस वचन को सुनकर ही विचलित हो गये। अब तुम्हीं बताओ कि ऐसे मिथ्या तप से क्या लाभ हो सकता है और इसमें क्या सार है ? ॥२२६॥

एरगलनापेलिर्दोड
मेरगुगुमरियल्के मेले मत्तरगदु सं।

दरिकेय कर्पुरमिर्दोव
मरिविस्वद् जडरुमद्‌रस्मनामिर्पर् ॥२२७॥

अर्थ—जैसे मक्खियां केवल मलकी पर ही बैठती हैं, वे उसी को अपना इष्ट मानती हैं। किन्तु वे कभी सुगन्धित चन्दन के पेड़ पर नहीं बैठतीं। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि मूर्ख लोग पाप-मार्ग को ग्रहण करते हैं, उसी को अपना इष्ट मानते हैं। उससे वे मिथ्यात्व के अन्धकारमें भटक कर अनन्त संसारी बनते हैं। उनकी रुचि कभी सद्धर्मके प्रति नहीं होती।

अदरिंदज्ञानिगळप्पर तपदोळ् फलमिल्लिदु बसिरं पोसेदु नक्किन्ना-गमाभ्यसिगरप्प महर्षियरंतिर्के, एम्माडि गृहस्थनप्पातनं केडिसिदेयप्पोडे एम्मि बिट्टज्ञानिगळिल्लिदु नुडिदु रात्रिप्रतिमायोगदोळिनंदेन्न तोरिद गृहस्थन प्पीतनं केडिसिदेयप्पोडे नीने सिरियनेंदेने वाहनदेवं मुनिदु, ॥२२८॥

अर्थ—अज्ञानी जनों द्वारा किये हुए तप में रंचमात्र भी सार नहीं है। किन्तु जिनेन्द्र वीतराग देव ने जिस सत्य मार्ग का प्रकाश किया है और जिसका अनुसरण दिगम्बर मुनि करते आ रहे हैं, वह सारभूत कहलाये है। उन मुनियों की परीक्षा तो क्या करनी, उनके अनुगामी गृहस्थ जनों में भी आगम-ज्ञान के कारण इतनी दृढ़ता होती है कि वे अपने स्वीकृत तप-मार्ग से कभी विचलित नहीं होते। यदि तुम्हें इस बात की परीक्षा करनी हो तो स्मशान में चलो। जहाँ रात्रि-प्रतिमा धारण कर खड़े हुए जिनदत्त श्रेष्ठी तप कर रहे हैं। वे गृहस्थ हैं, किन्तु दृढ़व्रती हैं।

अच्युतेन्द्र की इस बात को सुनकर विद्युत्प्रभ स्मशान में पहुँचा और वहां जिनदत्त सेठ पर बड़े क्रोध में भर कर घोर उपसर्ग करने लगा ॥२२८॥

पोडेव सिडिलिं मिंचिं भोरेंदु बीसुव गाळियिं
केडेव मरदिं पाविं तेळेंदिरु पेगळिं मनं
गेडिप पुलियिं रौद्राकारंगळिं बिडे पायव व
लड्दिगमलळिं किर्चिं काडामेयिंदळिवि डिनिं ॥२२९॥

अर्थ—आकाश में भयंकर आवाज करने वाली बिजली की कड़कड़ाहट होने लगी, भीषण नाद करती हुई वायु प्रबल वेग से बहने लगी, जिसमें बड़े-बड़े पेड़ उखड़ने लगे।

धूल से सारा आकाश आच्छादित हो गया। चारों ओर अग्नि-वर्षा होने लगी। भयंकर गर्जना करने वाले हाथी, दहाड़ते हुए सिंह चारों ओर से झुण्ड बांध-बांध कर आने लगे। जिनदत्त श्रेष्ठी पर वह वाहनदेव अपने विद्या-बल से घोर उपसर्ग करने लगा ।।२२९।।

जडिदु करदिं पो पोड पोगेंदु नूंकुव बेडरिं
बडियलिरियल् पोय्यल् मेल्वीळव राक्षसतंडदिं
दृडदुं तनुवं मत्तं नग्गगे तिंब कडंदुरिं
केडेव मरदिं नूंकुत्तोत्तुत्ति बर्प पोनल्गळिं ।।२३०।।

अर्थ—चारों ओर प्रलय का-सा दृश्य दिखाई पड़ रहा है। चारों ओर घोर शोर हो रहा है—काटो, मारो। अरे भागो। शेर आया। अरे बचाओ, गुस्से में भरे हाथी आ रहे हैं। देखो यह भयानक राक्षस मुंह फाड़े खाने को चले आ रहे हैं। देखो, राक्षसों ने जिनदत्त श्रेष्ठी को चारों ओर से घेर लिया। अरे! ये कितनी पीड़ा दे रहे हैं उसे, शरीर में चारों ओर घाव हो गये हैं। अरे रे! बेचारे को उन निर्दयों ने धकेल कर गिरा दिया।

इवु मोदलादनेकोपसर्गगळं माडियुं, तोलगि सलारदे धर्ममुमं देवरुमं तिरस्करिसियुं, बंधुगळ रूपुमं कैकोंडु बंदु मनेयनरसं कत्तदं पिरिय मगं सत्तनेंदुमेगेय्दुं तोलगिसलारदे श्रावकर गुणमिंतुटेनल् ज्ञानिगळप्प महर्षियर गुणमनंतिंतेंदु बरिणसल्बारदेंदु मेच्चि मिथ्यात्वमं बिट्टुसद्दृष्टियादन च्युतेंद्रनी गगनगामिनीविद्येयं संतसदिं देनगे, ।।२३१।।

अर्थ—इतने उपसर्ग करने पर भी जब वाहनदेव जिनदत्त श्रेष्ठी को तप से विचलित नहीं कर सका, तब वह उस श्रेष्ठी के आराध्य श्री जिनेन्द्र देव का, उसके गुरुओं का, धर्मका, उसके कुटुम्बी जनों का (बनावटी) तिरस्कार और अपमान करने लगा। जब यह अस्त्र भी व्यर्थ गया, तब वह वाहनदेव जिनदत्त श्रेष्ठी की स्त्री का रूप धारण कर श्मशान में हृदयदायक रुदन करने लगा—अरे तुम खड़े-खड़े तपस्या कर रहे हो। इधर तुम्हारा प्यारा बेटा मरा पड़ा है। तुम्हें तो अपने बेटे से बड़ा प्रेम था। अब तुम इतने निठुर कैसे हो गये, जो अब भी तप कर रहे हो। अरे! अपने लाड़ले का एक बार मुंह तो देख लो, नहीं तो जीवन भर पछताना पड़ेगा। तप तो फिर भी हो जायगा। लेकिन यह गया हुआ पुत्र तुम्हें फिर नहीं मिलेगा।

इतना करुण रुदन था कि सुनने वालों की आँखों से आँसुओं की धार बह निकले, किन्तु जिनदत्त श्रेष्ठी ध्यान में लीन थे। वे अपने व्रत से तनिक भी विचलित नहीं हुए।

यह देखकर वाहन देव बड़ा चकित और प्रभावित हुआ और मन में विचारने लगा— यह तो गृहस्थ है। इतने उपसर्ग और कष्ट होने पर भी यह ध्यान से विचलित नहीं हुआ तो इसके गुरुओं की दृढ़ता का तो कहना ही क्या है। उनकी व्रत-निष्ठा और गुण तो अकथनीय होंगे। इस प्रकार विचार आने पर उसके हृदय में जो मिथ्यात्व समाया हुआ था, वह अविलम्ब दूर हो गया और वह सम्यग्दृष्टि बन गया।

तब अच्युतेन्द्र ने प्रसन्न होकर जिनदत्त श्रेष्ठी को आकाशगामिनी विद्या दी ।।२३१।।

शिवद शाश्वतमप्प सौख्यमनीयलार्प जिनेश्वर,
प्रवरपाददोळल्लदर्तियुमेय्दे पत्तिद मोहमुं।
निभगिहत्रद सौख्यहेतुगळप्प मंत्र कुविद्येयें,
बिवरोळिल्लणवेंबुदं नेरे बल्लेनादोडम ळ्करिं ।।२३२।।

अर्थ—उस विद्युत्प्रभवाहनदेव का मन निर्मल हो गया, हृदय पवित्र हो गया। उसे दृढ़ विश्वास हो गया कि भगवान जिनेन्द्रदेव के चरणों और उनके मार्ग के आश्रय के अतिरिक्त इस विशाल संसार से अनन्त, अव्याबाध मोक्ष-सुख देने वाला अन्य कोई नहीं है। मैंने आज अपने नेत्रों से जिनेन्द्र सेवा के जो अनुपम आदर्श को देखा है, वह मुझे आज तक किसी धर्म में देखने को नहीं मिला ।।२३२।।

अकृत्रिमचैत्यालयमं पर्वदिनंगळोळ् पोगि,
वंदिसलक्कुमेंदु पोडेमट्टु प्रार्थिसि कोट्टु तां बंद।
वृत्तांतमनरिसि पूजिसि देवलोकक्के पोद्ननगे गगन-,
गामिनीविद्ये बंदुदिंती विद्येयनेम्म देहारद मािणवरसे।
नंगे वात्सल्यदिं कोट्टेनेंबुदु, ललितांगं बेरगागि ।।२३३।।

अर्थ—अच्युतेन्द्र जिस समय जिनदत्त श्रेष्ठी को आकाशगामिनी विद्या देने लगा, तब श्रेष्ठी बड़ी विनय से बोला, मुझे इस मन्त्र से क्या लेना है। तथा च आकाशगामिनी विद्या से क्या करना है? मुझे संसार में कोई सांसारिक कामना नहीं है, न किसी देवता को ही प्रसन्न करना है। मुझे तो केवल आत्म-शान्ति की कामना है और वह जिनेन्द्रदेव के

चरणों के अतिरिक्त और कहीं नहीं मिल सकती। श्रेष्ठी की इस बात को सुनकर अच्युतेन्द्र ने कहा मैंने यह विद्या इसलिए दी है। जिससे कि आप अष्टमी और चतुर्दशी को अकृत्रिम चैत्यालयों में जाकर और दर्शन और पूजन कर सकें। इसलिए मेरी यह प्रार्थना स्वीकार करके यह विद्या ग्रहण कीजिये।

अच्युतेन्द्र की इस प्रार्थना पर मैंने वह विद्या ग्रहण कर ली। इस विद्या को देकर वे देव वहां से चले गए। यह आकाशगामिनी विद्या सिद्ध करने की विधि मैंने वात्सल्यपूर्वक अपने पड़ोसी वरसेन को भी बता दी।

इस बात को सुनकर ललितांग आश्चर्य से भर गया और सोचने लगा ॥२३३॥

आतं देवाधीश्वर
नीतं किरुकुळमनुष्यनीतंगातं।
प्रीतियोळेरगिद्नेंदोडे
भूतळदोळ्धर्मदिंदमग्गळमुंटे ॥२३४॥

अर्थ—वास्तव में यह जिनदत्त श्रेष्ठी असाधारण मनुष्य है। वह देवाधिदेव जिनेन्द्र भगवान का अनन्य भक्त है। जिनेन्द्र का भक्त भी देव होता है। अतः यह भी देव ही है। इसीलिये स्वर्ग के देवों ने भी इसे नमस्कार करके आकाशगामिनी विद्या दी है। वास्तव में जिनेन्द्रदेव के धर्म से संसार में क्या वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती। इस सद्धर्म में संसार के जीवों को पार करने की अद्भुत शक्ति है ॥२३४॥

जिनदत्तं गुणवार्धि तप्पलरियं जीवादिगळ्गेंव भा-
वनेयिंदानिनितोंदु पेंपुवडेदं देवाधिदेवं जग-।
ज्जनपूज्यं जिननं जिनागममुमं निश्शंकेयिं नंबुवा
तन सौख्योन्नतियं महामहिमेयं पेळ्वण्णिसल्वर्कुमे ॥२३५॥

अर्थ–यह जिनदत्त श्रेष्ठी सम्पूर्ण गुणों का सागर है। इसका वचन कभी असत्य नहीं हो सकता। यह जिनेन्द्र देव का अनन्य भक्त है। जिनेन्द्र भगवान के वचन ही संसार सागरसे पार करने वाले हैं। जिनेन्द्रदेव तथा उनके मुख कमलसे निकले हुए आगम और निर्ग्रन्थ गुरु पर जो निश्शंक भाव से श्रद्धान करता है, उसे इहलोक और परलोक में सभी महामहिमामय सुख और उन्नति की प्राप्ति होती है ॥२३५॥

एंदु दर्शनदोळ् निश्शंकनागि ॥२३६॥

अर्थ—इस प्रकार ललिताङ्ग का श्रद्धान निःशंक हो गया ॥२३६॥

कडुदूर्तिं मुं दुष्टर
गडणंगोंडळिवे साल्दु मिन्नळिपिंदं ।
पिडियें खळसंस्तृतियं
बिडुवें पिडिवें जिनेंद्रपदसरसिजमं ॥२३७॥

अर्थ–मैंने जीवन में अनेक सज्जनों और धर्मात्मा जीवों के साथ अत्यन्त दुष्टता का व्यवहार किया। भगवान् जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित मार्ग का परिचय न होने के कारण मैं दुराचारी व्यक्तियों की संगति में पड़ गया। इसलिए मैंने अनेक पापों का संचय किया। मैं महा अधम और पापी हूँ। निश्चय ही इन पापों के कारण मुझे न जाने कितने काल तक संसार में परिभ्रमण करना होगा। अब मैं पापों का नाश करने वाले जिनेन्द्र प्रभु के चरण कमलों का आश्रय लूंगा, जिससे मेरा भव-भ्रमण मिट सके।

इस प्रकार ललितांग अपने पापों के प्रति अत्यन्त शुद्ध मन से बार-बार आलोचना तथा प्रायश्चित्त की भावना करता हुआ संसार से विरागी होगया ॥२३७॥

एंदु [तन्न वैराग्यं धन्वंतरिय कथेयिंदिमडि यागे संसारभोगक्के पेसि] देवर्षियरेंब चारणर्षि यरल्लि जिनदीक्षेयं कैकोंडु तत णदोळे चारणर्धिय नेय्दि पन्नितेरद तपदोळुत्तरोत्तरं नेगळ्दु, अष्टापद गिरियोळष्टविध कर्मगळं निर्मूलमागेकेडिसित्रिलोकशिखरिशेखरनादनितु ॥२३८॥

अर्थ–ललितांग (अंजन चोर) को धन्वन्तरि की कथा सुनकर अत्यन्त वैराग्य हो आया। वह संसार, भोग और देह से विरक्त हो गया और उदासीन होकर उसने देवर्षि नामक चारण ऋद्धिधारी मुनिराज से निर्ग्रन्थ दीक्षा ले ली। दीक्षा लेकर वह कठोर तपश्चर्या में लीन हो गया और शीघ्र ही उसे चारणऋद्धि प्राप्त हो गई। वह निरन्तर बारह प्रकार के तपों का आचरण करता रहा और चारित्र-विशुद्धि के द्वारा कैलाश पर्वत पर सम्पूर्ण कर्मों का नाश करके त्रिलोकेश्वर सिद्ध परमात्मा बन गया ॥२३८॥

केडिल्लदोंदु सुखमं
माडुवोडर्हत्पदांबुजातमे माळ्कुं ।

माडवु पेरर्वेबी बगे
कूडिदोडातं कृतार्थनातने धन्यं ॥२३९॥

अर्थ—इस संसार में जीव को श्री जिनेन्द्र देव की वाणी तथा उनके पवित्र चरण कमलों पर अटल श्रद्धान रखने से निराबाध अक्षय सुख प्राप्त होता है। अक्षय सुख की प्राप्ति का मार्ग इसके अतिरिक्त दूसरा नहीं है। जिनके हृदय में ऐसा प्रगाढ़ श्रद्धान है और जो सदा पंचपरमेष्ठी का ही शरण ग्रहण करते हैं, वास्तव में उन्हीं का नर-जन्म सार्थक है। ऐसे पुरुष ही धन्य हैं॥ २३९॥

एंदु गौतमस्वामिगळ् निश्शंकेय कथेयं पेळ्वुदुं, पिरिदोंदुत्साहदिं नंबुगे मनदोळगुर्वागे कैंगणिम पोण्मु त्तिरे मिथ्यात्वं सडिल्दोमेंये परिपडे निर्वाणसाम्राज्य मागळ् दोरेकोंडतागे रागंबेरसु नलिदनंदेय्दे त्रैविद्यलक्ष्मा-श्वरपादांभोजभृङ्गं सुकविजनमनःपद्मिनीराजहंसं ॥२४०॥

अर्थ—इस प्रकार श्री गौतम गणधर ने राजा श्रेणिक को निःशंकित अंग के महत्व की कथा सुनाई और कहा कि इस अंग का पालन करने से अनादिकाल से लगा हुआ मिथ्यात्व छिन्न-भिन्न होकर शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। मोक्ष प्राप्ति का उपाय श्री जिनेन्द्र देव द्वारा प्ररूपित तत्व और जिनेन्द्र भगवान् के प्रति श्रद्धान और तदनुसार चारित्र धारण करना ही है। अतः भव्य जीवों को जिनेन्द्र-कथित आगम, जिनेन्द्र देव और गुरु पर श्रद्धान रखना चाहिए॥२४०॥

इदु निखिलदिविजपरिवृढमकुटतटघटितमणिनिकरविलुळित-
किरणचुंबनीयपरमजिनचरणयुगळसरसिरुह-
मत्तमधुकर निरुपमसहजकविजनपयः-
पयोधिहिमकरनुतभावयुत दिगंबर-
दास नूत्न कविताविळास
श्रीमन्नयसेनदेवविरचितमप्प
धर्मामृतदोळ्

दर्शनप्रथमांगव्यावर्णनं
द्वितीयाश्वासं ।

अर्थ—नयसेन आचार्य कहते हैं कि जिन स्त्री पुरुषों ने सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का पालन करने में प्रसिद्धि प्राप्त की है, उनके गुणगान और यशवर्णन के रूप में मैंने थोड़ी सी काव्य रचना की है, वह सभ्यजनों के हृदय कमल में सुगन्धि की तरह सदा रहे, उन प्रसिद्ध पुरुषों की तरह मेरी आत्मा विशुद्ध होकर संसार का अन्त करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हो और जो भव्यजन इस काव्य को सुनें, उन्हें भी संसार का अन्त करने का अवसर मिले, मेरी जिनेन्द्रदेव से यही प्रार्थना है ।

इस प्रकार सम्पूर्ण देवताओं के समूह के मुकुटों से निकलने वाली किरणें जिन जिनेन्द्र देव के चरणों पर पड़ती हैं उन चरण कमलों के मत्त मधुकर निरुपम सहज कविजन रूपी समुद्र के लिये चन्द्रमा के समान विनीत दिगम्बरदास नूतन कविता विलास का नयसेन देव विरचित धर्मामृत ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन के प्रथम अंग का वर्णन करने वाला द्वितीयाश्वास सम्पूर्ण हुआ ।



तृतीयाश्वासः

श्रीकान्तेयनोलिप गुण-
क्की कमनीयप्रणूतनिःशंके लस-
त्प्राकारमेंदु पेर्चि-
केकोंडु सुकविपिकमाकन्दं ॥१॥

अर्थ—आचार्य नयसेन अपने भावों को व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि यह निःशंक नामक अंग मोक्ष लक्ष्मी के लिये अनेक विध रूप से अत्यन्त शोभायमान है, सम्पूर्ण गुणावली के भण्डार को प्राप्त करा देने में अति समर्थ है, संसारी भव्यजनों के इच्छित फलों को प्रदान करने वाला है, संसार गर्त से उद्धार करने में समर्थ है और अन्त में मोक्ष लक्ष्मी को प्रदान करने वाला है। इस प्रकार इस निःशंक नामक अंग को जो भी भव्य प्राणी धारण करता है, वह शीघ्र ही संसार के समस्त बन्धनों से मुक्त हो करके सदा के लिए अनन्त सुख सागर में मग्न हो जाता है, ऐसा समझना चाहिए।

विशेषार्थ—आचार्य नयसेन कहते हैं कि निःशंकित अंग का काव्यरूप में जो वर्णन मैंने किया है वह भव्य मानवों के हृदय कमल में सदा बिराजमान रहे। आचार्य इसकी विशेषताओं का वर्णन करते हुए कहते हैं कि निःशंकित अंग मोक्ष श्री को शोभायमान करता है तथा अन्य गुणावली को सुरक्षित रखने के लिये वज्रकोट के समान है। उभयलोकों में सत्कीर्ति का विस्तार करने वाला है। अन्त में मोक्षप्रदायी है। इस प्रकार विचारधारा हृदय में धारण करने वाला ही सुकवि-पिक-माकन्द हैं। जिस प्रकार कोयल अपनी सुमधुर कुहू-कुहू ध्वनि से सभी का हृदय आनन्दित कर देती है, उसी प्रकार वीतरागदेव द्वारा प्ररूपित निःशंकित अंग को काव्यमय वर्णन से उपस्थित करके कवि भी भव्यजनों के हृदय की मलिनता को दूर करके प्रफुल्लित बना देता है।

विशेष स्पष्टीकरण—धर्मसाधन का लक्ष्य आत्मशुद्धि है और आत्मशुद्धि से आ गुणों का विकास होता है। जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में पदार्थों की छाया स्पष्ट झलकती है, उसी प्रकार शुद्ध आत्मा में ही उसका ज्ञानदर्शनात्मक गुण प्रतिभासित होता है। अन्यथा जिस प्रकार तुषार से आच्छन्न चन्द्रमा प्रकाशित नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा भी कर्मों से विमल-विरज नहीं होता। फलतः उसका वास्तविक रूप व्यक्त नहीं हो पाता। आत्मगुणों के विकास से धर्म-साधना की ओर प्रवृत्ति होती है और धर्मसाधना से ही सांसारिक सुख, धन, पुत्र, विषयभोगादि से विरक्ति का उदय होता है। इस प्रकार की स्वज्ञानात्मिका इच्छा ही सम्यक्त्व का निःकांक्षित अंग है।

संसार का यह नियम है कि यहां सभी कार्य किसी न किसी उद्देश्य को लेकर ही किये जाते हैं। कोई भी जीव बिना किसी प्रयोजन के कोई काम नहीं करता। संसार की बातों से अनभिज्ञ तत्काल पैदा हुआ बच्चा भी जब रोता है तो किसी उद्देश्यको लेकर ही रोता है। उसका रोना सुनकर अनुमान हो जाता है कि वह बालक भूखा है। यद्यपि उसे अभी भूख के विषय में भी पूरा ज्ञान नहीं होता, न ही वह किसी पदार्थ को पहचानता है न ही उसे यह पता है कि पेट क्या है? दूध क्या है? किन्तु जैसे ही उसके मुख में माता का स्तन पहुँच जाता है, वह चुप हो जाता है इससे पता चलता है कि उसका रोना किसी कारण को लिए हुए था, इससे यह सिद्ध हुआ कि 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते'—अर्थात् बिना प्रयोजन के मूर्ख भी किसी कार्य में नहीं लगता। जैसे ही बालक की भूख शान्त हो जाती है, वह स्तन से मुंह को हटा लेता है। कभी कभी भूख न होने पर भी उसके पेट में दर्द आदि होता है तब रोता है, यानी बिना कारण वह कभी नहीं रोता।

जब विद्यार्थी तन्मय होकर पढ़ने लगता है, खेल कूद बन्द भी कर देता है, विश्राम-दायिनी निद्रा का भी परित्याग कर देता है, तो मानना पड़ेगा कि उसका भी कुछ उद्देश्य है जो आहार, निद्रा और क्रीड़ाओं की इच्छाओं से भी ऊपर है। उसी प्रकार जब ज्येष्ठ के महीने में कड़कड़ाती धूपमें हम किसी व्यक्ति को पत्थरों को तोड़ते हुए देखते हैं तो उससे यही प्रतीत होता है कि यद्यपि उसे धूप सहन नहीं हो रही है किन्तु कुछ उद्देश्य है जिसके लिए यह कठिन श्रम करने में लगा है। धन-सम्पन्न व्यक्ति भी कभी-कभी रोकड़ में फर्क आ जाने पर रात-रात भर जागते रहकर कार्य-मग्न रहता है, उसकी जो तन्मयता है, उसका भी कुछ प्रयोजन होता है। सारांश यह है कि किसी को भी, किसी भी क्षेत्र में देखें, निश्चय ही वह किसी न किसी उद्देश्य (मतलब) से काम में लगा होता है। पाप

करने में निमग्न व्यक्ति को देखकर भी यही निष्कर्ष निकलता है कि उसे उस पाप करनेमें किसी मन-वांछित कार्य की सिद्धि होती है, तभी वह पाप में प्रवृत्त होता है ,

धार्मिक व्यक्ति भी जो व्रत, उपवास, कठिन तपश्चर्या आदि करता हुआ देखा जाता है, उसके मूल में भी किसी अच्छे उद्देश्य की पूर्ति की भावना ही मानना चाहिए ।

प्रश्न यह है कि समस्त जीवों का वह प्रयोजन क्या है ? इसका उत्तर यह है कि वह प्रयोजन 'सुख की प्राप्ति' है । जिससे सुख मिले उसी में प्राणी अपनी योग्यता के अनुसार लगा रहता है ।

जिस सुख को पाने के उद्देश्य से संसार का प्रत्येक प्राणी अच्छा या बुरा प्रयास कर रहा है, वह सुख आत्मा का गुण है, अतः वह आत्मा के सिवाय अन्य किसी भी पदार्थ में नहीं पाया जाता । संसारी जीव जो इन्द्रियों के विषय भोगों में सुख मानता है, वह तो भ्रम है । क्योंकि जिस तरह किसी को खुजली का रोग होता है, वह अपने शरीर को खुजा कर लोहू-लुहान कर लेता है । उस खुजाते समय तो उसको अच्छा आनन्द प्रतीत होता है किन्तु उसके बाद जब उस लोहू लुहान शरीर में पीड़ा होती है, तब उसका वह क्षणिक सुख तत्काल मिट कर दुख उभर आता है । ऐसी ही दशा इन्द्रियोंके विषय-भोगोंकी है । वे भोगते समय तो कुछ अच्छे सुखकारी प्रतीत होते हैं किन्तु थोड़ी देर पीछे ही वे नीरस, दुखदायक प्रतीत होते हैं । इससे सिद्ध होता है कि विषय भोगों में सुख नहीं है वह तो खुजाते समय खुजली में सुख की मान्यता के समान आत्मा की क्षणिक मान्यता में सुख की झलक मात्र है ।

उधर विद्यार्थी जो शारीरिक सुखों का त्याग करके पढ़ने में परिश्रम करता है, उसके परिणाम-स्वरूप जो उसे ज्ञान प्राप्त होता है, उस ज्ञान का सुख ऐसा होता है कि वह उसके पास सदा बना रहता है, विषय भोगों के सुख की तरह कुछ क्षणों तक रह कर ही नष्ट नहीं होता ।

इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान आत्मा का गुण है, इसी कारण ज्ञान का सुख आत्मा को सदा मिलता रहता है । तपस्या करके जो सन्तोष, ज्ञान प्राप्त होता है, वह भी उनके पास सदा बना रहता हैं, इस कारण सन्तोष और ज्ञान आत्मा के गुण हैं ।

सांसारिक विषय-भोगों के सुख को मुनि योगी क्यों नहीं चाहते, इस बात पर प्रकाश डालते हुए श्री समन्तभद्र आचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है ।

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये ।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ॥

अर्थ—सांसारिक सुख शुभकर्म के अधीन है, जब तक शुभ कर्म का उदय रहता है तब तक धन वैभव आदि से वह सुख मिलता है, जब शुभ कर्म का उदय नहीं रहता, अशुभ कर्म का उदय आ जाता है तभी वह सुख भी तत्काल समाप्त हो जाता है और वह भी निरन्तर नहीं बना रहता इसके बीच बीच में रोग शोक आदि के दुख भी आते रहते हैं। इसके सिवाय वह सांसारिक सुख (इन्द्रियों के विषय भोग, धन आदि) पाप का कारण है। इसलिये आत्म-श्रद्धालु उस सांसारिक सुख की कभी इच्छा नहीं करता।

वह तो अपने आत्मा का वह स्वाधीन-सुख चाहता है जो न तो कभी बीच में टूटता है और न कभी कम होता है सदा एक सा बना रहता है, जिससे भूख-प्यास, आधि, व्याधि, जन्म मरण आदि के कष्ट कभी नहीं आते। इसी भावना का नाम 'निःकांक्षित' अंग है।

निम्नलिखित कथा से निःकांक्षित गुण का महत्व सिद्ध होता है—

सनत्कुमार चक्रवर्ती इतने अधिक सुन्दर थे कि उनकी सुन्दरता को देखने के लिए स्वर्ग के देव भी पृथ्वी पर आये थे। जब वे महाव्रती मुनि बने और तपश्चरण करने लगे तब एक ओर तो उन्हें अनेक ऋद्धियां सिद्धियां प्राप्त हो गईं किन्तु दूसरी ओर उनके अशुभ कर्म के परिणाम स्वरूप उन्हें कुष्ठ रोग भी हो गया; परन्तु न तो उनका ध्यान अपनी सिद्धियों की ओर गया और न ही कुष्ठ (कोढ़) रोगकी ओर। वह तो आत्म-निमग्न होकर तपस्या में ही दत्तचित्त रहे।

उस समय उनकी परीक्षा करने के लिए स्वर्ग का एक देव आया और उनके आसपास चक्कर लगाने लगा। उसने ऊंचे स्वरसे यह घोषणा की कि मैं एक महान् सिद्धहस्त, पीयूष-पाणि वैद्य हूं और कठिन से कठिन रोगों को सरलता से ठीक करने की योग्यता रखता हूं। मैं चिकित्सा भी निःशुल्क (मुफ्त) ही करता हूं। इत्यादिक प्रलोभन वाक्यों से वह अपना प्रचार कर यह वांछा करने लगा कि 'मुनि सनत्कुमार मुझे कहें कि मेरी चिकित्सा करो।' किन्तु उसका यह सभी प्रयास व्यर्थ गया। तब वह उनके निकट जाकर स्वयं कहने लगा कि 'मैं आपको स्वस्थ कर सकता हूं'।

देव की बात सुनकर मुनि कहने लगे कि मुझको जन्म और मरण नामक दो महारोग हैं, जिनसे मैं परेशान हूँ यदि तुम एक उत्तम वैद्य हो तो मुझे इन रोगों से मुक्त करो।

वैद्य वेषधारी देव ने कहा कि मुनिराज ! मैं जन्ममरण-बन्धन के विमोचन की औषध तो नहीं जानता। तब मुनि सनत्कुमार ने कहा कि मुझे अन्य किसी प्रकार की औषधि की आवश्यकता नहीं, यदि तुम ऐसा समझते हो कि यह कुष्ठ दूर नहीं किया जा सकता तो मैं

तुम्हें बताना चाहता हूँ कि इसे तो मैं अभी मिटा सकता हूं और उन्होंने अपने कोढ़ पर अपना थूक डाला जिससे शरीर का वह स्थान कोढ़ से रहित साफ हो गया यह देख कर वह देव चुपचाप स्वर्ग को लौट गया।

सांसारिक सुखों को प्राप्त करने के प्रति इसी प्रकार की अनिच्छा प्रत्येक धार्मिक को धारण करनी चाहिए क्योंकि धर्म एक फल पुष्प-युक्त सघन छायावान् वृक्ष के समान है जिसकी समीपता में बैठने वाले को विना मांगे ही छाया का लाभ हो जाता है। धार्मिक कभी भी कष्ट पा नहीं सकता। धर्म धारण से उसके कषाय मन्द होते हैं। अतः मनुष्य को शाश्वत सुख की ओर ही ध्यान लगाना चाहिए।

अंताप्तागमपदार्थं गलोल निःशंकमननागि मुंदणनिष्कांक्षयकथेयं बेसे-
सिमेंदु● गौतमगणधरर्गे पोडेमट्टु मुकलितकरकमलनागिपुदुं गौतमगणधर-
स्वामिगलिंतेंदु पेलदर् तंबूलदंते संगीतदंते दिवसदंते मुत्तुगदंते वज्रदंते
लोकदंते वीणेयंते गालियंते विप्ररंते× सिद्धरंते त्रिसरदंते दर्शनमुं निश्शंकेयुं
निष्कांक्षेयुमेंब मूररोलं कूडिमहोत्साहदिं नडेवुदु+इन्नाकथेय महियेयंतप्पुदेंदोडों २

अर्थ—इस प्रकार आप्त, आगम, पदार्थों (सप्त तत्व, नौ पदार्थ, षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय) में निःशंकित गुणधारक राजा श्रेणिक अपने दोनों हाथ जोड़कर गौतम गणधर से कहने लगा कि मुझे और भी सुनने की उत्कंठा है। यह सुनकर गौतम गणधर कहने लगे कि—

हे श्रेणिक ! तुम अब शुद्ध भाव से कान लगाकर कथा को सुनो। निष्कांक्षित अंग ताम्बूल के समान, संगीत के समान, दिन के समान, सूर्य के प्रकाश के समान, शुद्ध मोती के समान, वज्र के समान, लोक के समान, वीणा के समान, पवन के समान, शुद्ध ब्राह्मण के समान, सिद्धि के समान, सम्यग्दर्शन की शोभा बढ़ाने वाला है। सारांश यह है कि जैसे

● निःश्रेयसश्रीय मनदकांक्षेयकथेयं श्रेणिकंगे गौतमस्वामिगलितेंदु पेलल्तोडगिदर् (क), बेसंसिमेंबुदुमितेदुं पेलदर् (ग)

× लंकेयंते (ग)

\+ करमोप्पुव निष्कांक्षेयोलेरडिल्लदे नेरेदुशुभदोलेरगुवमनुज्रं।
गरिदुंटे जगत्त्रयदोल्परमार्थम् मुक्तिगदुतवर्मनेयल्ते ॥

इन्नदरैश्वर्यमेंतेंदोड, अंगविषयद चम्पापुरदोल् प्रियदत्तनेंबवनिर्बनातन मनोहरियनंगमतियें-बलन्नरिर्वर्गम् प्रियनंदनें गुणरत्नाभरणे येनिपनवंमतियेंबल् मतिवंते वगेगेवोंदु (ग)

पान से मुख की शोभा होती है, संगीत से कान तृप्त होते हैं, दिन से जनता जाग्रत होती है, सूर्य से प्रकाश होता है, मोती से कण्ठ की शोभा होती है आदि । उसी तरह निःकांक्षित (सांसारिक सुखों की अनिच्छा) से सम्यक्त्व की शोभा होती है । इसका आचरण करनेवाले सम्यग्दृष्टि जीव शाश्वत सुख को प्राप्त करते हैं ।

इस निःकांक्षित अंग की महिमा-सूचक कथा कहते हैं—

अगणितमप्पपेर्गेरेगळिं नेरे वारिजषंडदोळियिं
सोगयिसुतिर्प केयूवोलदिनाडुव गोकुलदिं कुबेरनिं-
मिगिलेनियोक्कलिं विभुदसंकुळदिं तुरुगिर्दनंदना-
ळिगळिनलुंब मुन्नतियिनगं महीवलयं धरित्रियोळ् ॥३॥

अर्थ—अगणित गांवों और नगरों से युक्त, जलपूर्ण सरोवरों से शोभायमान, कमलों से सुशोभित, मानो, किसी देवशिल्पीने ही बनाया हो, ऐसा बहुत सुन्दर एक देश था । उसमें अनेक कुबेरके समान सम्पत्तिशाली श्रेष्ठीजन (सेठ) रहते थे । तथा उस देशमें बहुत बुद्धिमान् विद्वान् निवास करते थे । उपवन इतने पुष्पोंसे विकसित थे कि जिनकी उपमा नन्दनवन से दी जा सकती है । इस प्रकार अत्यन्त उन्नतिशील वह देश था । उस देश में -

अंतोप्पु वंगविषयदोळ् धरांगनेंब कैयमणिदर्पणदंते ॥४॥

अर्थ—वहांकी पृथ्वी स्वर्ण उगलती थी, उस देशका नाम वंग देश था । अपनी सुन्दरता और समृद्धि से वह ऐसा प्रतीत होता था मानो, पृथ्वी के हाथों में मणिदर्पण शोभायमान हो । उस भूमि की सुन्दरता अनुपम थी ।

सुत्तिद् नंदनवनदिं-
मुत्तिद् केयवोळदिनेसेव पद्माकरदिं ।
दुत्तुंगजिनालयदिं-
दुत्तमपुमेनिसिनेगळ्द चम्पापुरदोळ् ॥५॥

अर्थ—उस देशमें नन्दनवनोंसे घिरा हुआ, सुन्दर कमलोंसे पूर्ण जलाशयों से सुशोभित, अनेक प्रकार के ऊंचे-ऊंचे गगनांकित जिनमन्दिरों से पवित्र, अत्यन्त सुन्दर तथा धार्मिक उत्तमजनों से भरपूर चम्पापुर नाम का नगर था । उस चम्पापुर नगर में—

जिनसमयवार्धिसोमनु वैश्यवंशललामनुमप्पप्रियदत्त नेंब वणिग्वंश-कुलतिलकनप्पनातन मनोहरेयंगमतियेंब लंतवरिर्वगम् प्रियनन्दने गुणाभर-णेयनंतमतियेंबळ् ॥६॥

अर्थ—जिन-समय अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् के शासन की वृद्धि करने में पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान, वणिग्वंश-तिलकललाम अर्थात् सभी वैश्योंमें श्रेष्ठ, सज्जनों द्वारा गौरव-प्राप्त प्रियदत्त नाम का श्रेष्ठी (सेठ) था। उस गुण-सम्पन्न श्रेष्ठी की रूप-लावण्ययुक्त, शीलगुणों की खान अंगवती नामकी धर्मपत्नी थी। ये दोनों पूर्वउपार्जित शुभ कर्मके उदयसे अपना समय आनन्दपूर्वक बिताते थे। उनके अनन्तमती नाम की एक अति सुन्दर तथा गुणवती कन्या थी।

अतिचल्वे बगेगेवंदुद-
नतिशयदिं पलवुमक्कळु तानुं सं-
ततमुं महिमेवेरसुता-
डुतुमीतेरदिं दे पोगे पलवुं दिवसं ॥७॥

अर्थ—अनन्तमती अत्यन्त रूपवती थी और बाल-सुलभ अनेक मनपसन्द खेल खेलने में निमग्न रहती थी। उस के साथ उसी के समानवय की अनेक कन्याएं भी मिलकर क्रीड़ा कौतुक करती रहती थीं। इस प्रकार से उसका शैशव काल एक सम्पन्न परिवार की कन्या के उचित आनन्द से व्यतीत हो रहा था।

अनन्तमती द्वारा गुड्डा-गुड़िया विवाह की रचना

वंदुदिवसमनंतमतीयोडनाडुव मक्ककळेल्लं रागदिं
मदुवेमाडुवेवेंबुद्योगदिं तरसि बोंबेनोंदुं ॥८॥

अर्थ—एक दिन की बात है कि अनन्तमती और उसके साथ क्रीड़ा करने वाली सभी छोटी-छोटी बालिकाओं ने अत्यन्त हर्ष तथा प्रेम के साथ एक विवाह-कौतुक करने के अभिप्राय से गुड्डा-गुड़िया को मंगवा कर—

लीलेयिं दुडिसि दिव्यवस्त्रमं-
सोले कत्तुरिय बोट्टनिट्टु पो-।

मोलेयं तोडिसि मेल्वनप्प पू-

मालेयं मुडियिसुत्तुमर्तिथि ॥९॥

अर्थ—अत्यन्त आनन्द-विलास पूर्वक, लीलासे उन्हें दिव्य अनेक प्रकारके वस्त्र पहनाये, मोतियों के आभूषण, सुवर्ण के अलंकार, कस्तूरी का तिलक, सोने का भुजबन्धन इत्यादि अनेक प्रकार की साज-सज्जा से उन्हें सुशोभित किया।

इंतु नेरेये पसदनंगोळिसि ॥१०॥

अर्थ—इस प्रकार सर्वाङ्ग अलंकारों से सुसज्जित करके—

मदवणिगनंदु पंकज-

वदनेय सीररिसि रागमोदविरे मनदोळ्।

मुददिं कैपरेगुट्टु-

तोदविंदं मक्कळाडुतिर्पन्नेयरं ॥११॥

अर्थ—एक सखी को उसने दूल्हा के वेश में सज्जित कर दिया और सभी शेष सखियों के साथ उसके सम्मुख उत्सवके साथ ताली पीट-पीट कर वह नृत्य करने लगी। इसी प्रकार सभी बालिकाएं बालक्रीडा का सुख अनुभव कर रही थीं। उसी अवसर में—

प्रियदत्तसेट्ठि वसदिगे देवरं काणळ्पोगुत्ते कंडु समीपक्के बंदु बोंबेय केळदोलिर्द मगळनेत्तिकोंडु मुंडाडिकदपं कर्चि बळिकमिंतेंद्रं* ॥१२॥

अर्थ—प्रियदत्त श्रेष्ठी भगवान् की पूजा के निमित्त जाते हुए उधर से निकले। उन्होंने अपनी प्रिय कन्या अनन्तसती को सखियों के समूह के साथ गुड्डा गुड़िया के विवाह का कौतुक करते हुए देखा। यह देखकर वह आनन्दित हुए और बड़े प्यार से, लाड़ से अपनी कन्या को उन्होंने गोद में उठा लिया तथा विनोद से कहने लगे कि—

स्नेहदिं गुडिगट्टदेपारमंगळ तूर्यस्वगलु-

त्साहदिंदमर्दोप्पदे नंटर् बारदे पावनरत्नसं-

* मक्कलेललमोंदुदिवसमनन्तमतिकुमारिय केलदोलोंदुबोंबेयनिरिसि मदवणिगनुं मदवणिगेयुमेंदु कैपरेगट्टुत्ते नेरेदाडुत्तुमिरे प्रियदत्तसेट्ठियुं कंडु बंदेत्तिकोंडु कदपं कर्चि मुद्दाडिसिमगल्गिंतेंदं। (ग)

दोह्दि देसेवंतु विवाहमं करमोप्पिरे माडदां
मोह्दि नेरे नोडदे नीनात्मेशननळकरोळर्तिर्यि ॥१३॥

अर्थ—हे पुत्री, अभी मैंने तुम्हारे विवाह के लिए मण्डप तैयार नहीं किया। अभी मैंने रत्न, मोती तथा जरी के कपड़ों से सजावट भी नहीं की, उत्तम गाने-बजाने वालों को भी नहीं बुलाया, जाति के बन्धु-बान्धवों को भी सम्मिलित होनेका अभी निमन्त्रण नहीं भेजा, अभी तो मैंने अपने बहिन तथा बहनोई को एवं अन्य सम्बन्धियों को कुंकुमपत्र भी नहीं भेजा, याचकों को दान में वस्त्र एवं आभूषण नहीं दिये। मैं तो अपनी कल्याणी पुत्री को सब प्रकार से सज्जित कर सबके समक्ष हर्ष, राग-रंग, गाने बजाने के साथ किसी सम्भ्रान्त कुलीन, सुन्दर सुकुमार दूल्हे के साथ आनन्द मंगल से विवाह करके विदा करूंगा। ऐसा मैंने बहुत दिनों से सोचा हुआ है। किन्तु पगली! तू तो मुझे बिना बताये ही इस प्रकार गुड्डे-गुड़ियों के विवाह का क्रीड़ा कौतुक करने लगी है।

इंदु कद्दु मदुवे मप्पुदुचितमल्तेंदु त्रस्तरियाडुत्तु मुद्दाडिजिनालयक्के बंदु स्वामियं कंडु भट्टारकरं बंदिसि शीलव्रतमं कैकोंडु किरिदुबेगं धर्मश्रवणं गेय्दु बळिक्कमितेंदं× ॥१४॥

अर्थ—ऐसा कहते हुए उसने अत्यन्त स्नेह से उसको गोद में लेकर पुचकारा और उसे भगवान् जिनेन्द्रदेव के मन्दिर में ले गया। वहां उसने अत्यन्त भक्ति के साथ भगवान् का पूजा-प्रक्षाल किया तदनन्तर कन्या को गोद में लेकर सभामण्डपमें आया। वहां एक मुनि-महाराज विराजमान थे। उसने उन्हें नमोस्तु किया और कहने लगा कि हे महाराज, मैं अनादिकाल से संसार के जन्म-मरण-चक्र में भ्रमण करते हुए आया हूं मुझे आत्म-साधना का कोई उपाय बताइए। आपके मुखकमल से सदुपदेश सुनने की तीव्र इच्छा है। यह सुन कर मुनिराज ने उस प्रियदत्त श्रेष्ठी को धर्म का संक्षेप में व्याख्यान किया। सेठ उपदेश को सुनकर बहुत प्रभावित हुआ, मुनि महाराज से निवेदन किया कि हे गुरुदेव, आप मुझे नित्य-नियमित+ व्रत दीजिए। मुनिराज ने उसे भव्य जान कर व्रत दिया।

× वरदत्तभट्टारकं (ब) सिदशेषयं कोंडु किरिदु (क)

+ नित्यव्रत का अभिप्राय यह है कि प्रतिदिन भगवान् का दर्शन, पूजा-प्रक्षाल करके घर लौटने पर कोई न कोई व्रत चौबीस घण्टे के लिए लिया जाता है और उस काल में विशेष रूप से उस व्रत का पालन किया जाता है।

नोडिरे चोद्यमनक्कन-
माडिदुदं नंटररियदानरियदेमुं-
माडदे जिनपूजेय नोड-
नाडुव कूसुगळुमेयूदे तानुं कळविं ॥१५॥

अर्थ—सेठ प्रियदत्त ने फिर अपनी कन्या को विनोदपूर्वक गोद में उठाते समय मुनीश्वर से कहा कि हे मुनिराज ! यह मेरी कन्या अनन्तमती है । मैं इसका विवाह बड़ी भारी धूम-धामसे करना चाहता हूँ किन्तु आज यह मुझ से छिपकर अपने गुड्डा-गुड़ियों का विवाह कर रही थी । क्या मुझ से छिपकर इसको ऐसा करना उचित है ? मैं तो बहुत समय से यह प्रतीक्षा कर रहा हूं कि मुझे इसके विवाह करने का अवसर मिले और मैं देवपूजा, मुनियों को आहारदान करूं, बाजा, संगीत, उत्सव, इष्टमित्रों तथा बन्धु-बान्धवों का समागम देखूं, उनका सत्कार करूं । किन्तु यह तो मुझे ऐसा अवसर दिये बिना ही छिप कर विवाह का आयोजन करती है क्या इसके लिए ऐसा करना उचित है ? इस प्रकार विनोद-वाणी में उस सेठ ने मुनि महाराज के समक्ष अपना अभिप्राय प्रकट किया ।

समकट्टिं मदुवेयादळ्, निम्मगुड्डिगे ब्रह्मचर्यव्रतमं कुडिमेंबुदुं, वर-दत्तभट्टारकर् नगुत्तुं निनगिंदु मोपलागे ब्रह्मचर्यव्रतमं कोट्टेवेंबुदुं महा-प्रसादमेंदु कैकोंडु तन्न मनदोळितेंदळ् ॥१६॥

अर्थ—सेठ ने पुनः विनोद में कहा कि महाराज ! इसे विवाह होने तक ब्रह्मचर्य व्रत दीजिए । तब उन वरदत्त मुनिराज ने हंसते हुए उस छोटी बालिका को विनोद से कहा कि विवाह तक ब्रह्मचर्य का व्रत ग्रहण करो । तब उस छोटी बालिका ने 'पिताजी ने मेरे लिए जो व्रत लिया है, वह मैं ग्रहण करती हूँ' इस प्रकार मुख से कहते हुए मन में विचार किया कि श्री गुरुदेव के मुख से निकला हुआ यह व्रत मैंने लिया है, यह मेरा सौभाग्य है । जिस प्रकार रत्न को तिजोड़ी में रखकर उसकी सब तरह रक्षा की जाती है, उसी प्रकार मैं भी इस पवित्र व्रत की रक्षा करने में सदा सावधान रहूंगी । किसी प्रकार का अतिचार लगाये बिना इसको पालन करूंगी । इस प्रकार मन में आनन्दित होते हुए उस कन्या ने बड़े आनन्द और श्रद्धानपूर्वक उस व्रत को ग्रहण किया ।

बडवं गोप्पुवे राज्यलक्ष्मी कुरुडंगचिद्वयं कूपदोळ्
केडेवंगड्डेयिपक्कुगोंबुरुजेयोळ्बेवंगे दिव्योषधं ।
बिडदीसंसृतियोळ् दुरौघवशदिं बेवर्गे तत् सुव्रतं
गडकेंसाद्डिभाविपंद्वने धन्यं भूरि भूचक्रदोळ् ॥१७॥

अर्थ- इसके पश्चात् वह अनन्तमती विचार करने लगी कि जिस प्रकार किसी दरिद्र को राज्यलक्ष्मी की प्राप्ति हो जावे, जिस प्रकार किसी अन्धे को आंखें मिल जावें अथवा जिस प्रकार गहन कूपमें गिरे हुए को निकलनेके लिए कोई आलम्बन मिल जावे, जैसे विना औषधि के किसी असाध्य रोगी को रोग से मुक्ति मिल जावे, इत्यादि अचिन्त्य प्राप्ति से जिस प्रकार उनको आनन्द होता है, उसी प्रकार आज मुझे यह व्रत प्राप्त करके आनन्द हुआ है। अनादिकाल से मेरा आत्मा इस संसार में भटक रहा था और किसी उत्तम व्रत के लिए तरसता था आज शुभ कर्म के उदय से अनायास ही यह व्रत मुझे मिल गया है। संसार के समुद्र को सन्तरण करने के लिए यह पोत के समान है। आज मैं धन्य हूं। संसार में उपलब्ध होने वाला चक्रवर्ती पद भी आज मेरे पद से नीचा है।

तरुनिकरंगळोळ्मलयजं भगणंगळोळब्जवैरि भू-
धरनिचयंगळोळ्सुरनगं दृषदावळियोळ्सुरत्नमु
र्वरेगधिनाथरोळनेगळ्दचक्रिगळेय्देनिळि परोळ्सुरे-
श्वरनिरवेंतुटंतुटेधरत्रियदेवरोळं जिनेश्वरं ॥१८॥

अर्थ—मलयगिरि पर उत्पन्न होने वाला चन्दनका पेड़ समस्त वृक्षों (वनस्पतियों) में श्रेष्ठ है, कमल का पुष्प सभी पुष्पों में उत्तम माना जाता है, समस्त पर्वतों में सुमेरु पर्वत श्रेष्ठ है, समस्त पाषाणों में रत्न श्रेष्ठ होता है, समस्त राजाओं में चक्रवर्ती श्रेष्ठ होता है, समस्त देवों में इन्द्र श्रेष्ठ है। समस्त इन्द्रों से भगवान् जिनेन्द्रदेव सर्व-श्रेष्ठ होते हैं। क्योंकि उन्होंने समस्त आत्म-शत्रुओं को परास्त करके सर्वज्ञ वीतराग परमात्म-पद प्राप्त कर लिया है।

इन्तागमपूर्वमेनिसिद जिनेश्वरं मुनिन पुण्योदयदिंदेनगे कुलस्वामियादं, मत्तं] रूपुं स्नेहमुळ्ळस्त्रीयुं कारुण्यमुं, कोडुमुळ्ळाळ्दनुं बेलसुमाज्ञेयु-

मुळ्ळदेशमु ं, पालु ं शीलमुमुळ्ळावु ं, निर्वेगमु ं व्रतमुमुळ्ळतपमु ं श्रीयुमा-युभुळुळबाळु ं शक्तियु ं, भक्तियु ंमुळ्ळ दानमु ं चेन्नु ं पोन्नुमुळळसौबगु ं, गेल्लमुमुदट्ठु मुळळ्तेजमु ं, तीर्चुवबुद्धियु ं सत्वमं, सम्यग्दर्शनमु ं व्रतमुळ्ळ पुण्यमु ं पडेयलरिद्दुकारणर्दि ॥१६॥

अर्थ—वह पुनः अपने मन में विचार करने लगी कि यह व्रत और इस प्रकार का अमृतमय उपदेश सभी को प्राप्त नहीं होता, इसकी प्राप्ति में पूर्वजन्म का पुण्य ही कारण है। जो पुण्यात्मा नहीं होते उनको ऐसा अवसर नहीं मिलता। मनुष्य पर्याय को श्रेष्ठ माना गया है, उसमें भी सद्वंश को, उत्तम जाति को श्रेष्ठतर माना गया है, किन्तु इतना सब मिलने पर भी यदि उसे सम्यक्त्व की उपलब्धि न हो तो वह सब व्यर्थ है। मनुष्य को सुन्दर रूप मिल सकता है, धन-वैभव मिल सकता है, उत्तम कुल, सत्कलत्र, विनयी, आज्ञापरायण पुत्र मिल सकते हैं। राज्यसुख भी प्राप्त होना कोई कठिन बात नहीं है, किन्तु शीलव्रत मिलना बहुत कठिन है। मनुष्य का सच्चा आभूषण तो शीलव्रत ही है। ब्रह्मचर्य का पालन मनुष्य के लिए शोभा है और स्त्रियों के लिए आभूषण है। स्वर्ण के जो रत्नजड़ित आभूषण बनते हैं, उनमें भी शोभा कुछ समय तक रहती है किन्तु जिस रत्न की आभा कभी फीकी नहीं होती और जिसको धारण करने के पश्चात् अन्य किसी रत्न को धारण करनेकी आवश्यकता नहीं होती, वह तो शीलरत्न ही है। इस पृथ्वी पर जितने विख्यात स्त्री पुरुष हुए हैं, उनके पास शील ही था जिससे आज भी उनका निर्मल यश गाया जाता है। उन सती महिलाओं की ख्याति आज भी कम नहीं हुई है, वे अपने रूप और ऐश्वर्य से प्रसिद्धि को तथा सम्मान को प्राप्त नहीं हुई, अपितु उत्तम शील रत्न के कारण ही उनका सन्मान और यश है। उनका शील आचरण ही हमारे लिए आदर्श है, न कि उनकाधन-वैभव। इस संसारमें अनेक असंगतियां हैं। किसीमें गुण हैं किन्तु रूप नहीं। किसी में रूप तो है किन्तु गुण नहीं। किसी के पास ऐश्वर्य तो है किन्तु विनय नहीं; इस प्रकार विसंवाद पद-पद पर मिलते हैं। किन्तु जो पुण्यात्मा होता है उसे एक साथ ही रूप, गुण, ऐश्वर्य, विनयादि सभी गुण प्राप्त होते हैं। शीलव्रत के विषय में कहा गया है—

'क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं शीलं परं भूषणम्'

जिस प्रकार पतझर आने पर वृक्ष के पत्ते वृक्षसे टूट-टूट कर अपने आप गिर जाते हैं, उसी प्रकार सभी ऐश्वर्य आदि पदार्थ काल आनेपर नष्ट होजाते हैं। परन्तु शील(ब्रह्मचर्य)

ऐसा सुन्दर आभूषण है जो कभी नष्ट नहीं होता है, सदा साथ देता है।

एक नीतिकार ने कहा है कि–

अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्त हतो हतः ।

अर्थात्–जो धन-वैभवसे रहित है, वह क्षीण है, किन्तु उसकी निंदा नहीं की जा सकती। क्योंकि संसारमें कोई धनवान् और कोई निर्धन है, यह बात सदा से चली आयी है। परन्तु जो व्यक्ति सदाचार से पतित हो जाता है, उसकी निन्दा करना यह संसार कभी नहीं भूलता। चारित्र का पालन करना ही सर्वोत्तम धन है।

बालते योळ्दर्शमुं-
मेलेनिपीव्रतमुमोडने संभविसिदुवा-
नालस्यदिवनुळिदोडे-
मेलेनगिंतप्पपुण्यदोदवादपुदे ॥२०॥

अर्थ—वह अनन्तमती मन में विचार करती है कि इस बाल-अवस्था में ही भगवान् जिनेन्द्र के प्रति श्रद्धा होना, उनके उपदिष्ट ब्रह्मचर्यरत्न की प्राप्ति होना, यह कोई सामान्य बात नहीं है। किसी को ऐसा सुयोग विना पुण्योदय के मिलना असम्भव है। कदाचित् प्राप्त भी हो जाए तो उसकी प्रमादरहित रक्षा करना और भी कठिन है। पूर्व-पुण्य के बिना ऐसा सुयोग मिलना बहुत कठिन है। कवि ने कहा है कि–

मानुष्यं वरवंशजन्मविभवो दीर्घायुरारोग्यता,
सन्मित्रं सुसुता सती प्रियतमा भक्तिश्च तीर्थंकरे।
विद्वत्वं सुजनत्वमिन्द्रियजयः सत्पात्रदानस्थितिः,
सत्पुण्येन विना त्रयोदश गुणाः संसारिणां दुर्लभाः ॥

अर्थ—मनुष्य जन्म, उत्तम वंशकी प्राप्ति, धन-सम्पन्न होना, दीर्घ आयु, नीरोग शरीर मिलना, अच्छे मित्रों की प्राप्ति, अच्छी कन्या, सती पत्नी, भगवान् तीर्थंकर में भक्ति होना, विद्वत्ता, सुजनता, इन्द्रियों पर विजय, योगपात्र को दान दे सकने की सामथ्य, ये तेरह गुण सत्पुण्य के बिना संसारियों को मिलने दुर्लभ हैं।

केरेयनोडेदु तोरेयं तीवुव, मनेपनळिदु वेलिय निक्कुव, हासनळिदु कंथेयं पोलिसुव, मेदेयं सुट्टरळवकुरुकुव, तुप्पमनोक्कु सगणमं कोळ्ळुव. कस्तू-

रियं विसुट्टु केसरं कोळर बंडारं इडाडि काचं संवरिसुव, बट्टेयं विट्टु काडं पुगुव, केय्वं बिट्टु पुळ्ळं कोळव पोन्नं विट्टु मसियं कट्टुवेग्गनं पोळ्वे नीदर्शनमं व्रतमुमं विट्टे नप्पोंडेदु मनमं तिब्बं माडि ॥२१॥

अर्थ—संसार में इस प्रकार की विचारधारा का कोई ही व्यक्ति होगा जो बने हुए तालाब को तोड़ कर उसके बहते हुए पानी पर बालू से बाँध लगावे, अथवा उसको किसी क्षुद्र नाले के रूप में परिवर्तित करने का कुप्रयास करे अथवा अच्छे बने हुए मकान को तोड़ कर किसी वृक्ष के नीचे आश्रय ग्रहण करे, अथवा अच्छी कोमल शैया को त्याग करके घास पर शय्या करे, अथवा घास को भी छोड़ कर उसके ठंठलों का बिछौना बनावे, घी को फेंक कर गोबर को ग्रहण करे, कस्तूरी को छोड़ कर कीचड़ को धारण करे, रत्न फेंक-कर कांच को लेवे, मार्ग को छोड़ कर ऊबड़खाबड़ कुमार्ग पर चले, हाथ को काट कर बनावटी लकड़ी का हाथ लगाने की कुचेष्टा करे, सुवर्ण का परित्याग कर लोहे आदि कुधातु को ग्रहण करे, सम्यक्त्व सहित उत्तम व्रतों को छोड़कर पाप के द्वारा सुखकी इच्छा करे। यद्यपि इस प्रकार की असंगत चेष्टा करने वालों को वास्तव में सुख शान्ति की उपलब्धि कभी नहीं होती, यदि कदाचित् किसी को कुछ सुख मिल भी जावे तो वह पापानुबन्धी ही हो सकता है। वैसा सुख पापानुबन्धी होने के कारण संसार के भोगों की वृद्धि करके पापों की ओर ही प्रवृत्त करता है। क्योंकि संसार के लोग सुख तो चाहते हैं किन्तु उसके लिए जो अपेक्षित प्रयत्न हैं उसकी ओर इनका ध्यान नहीं होता। वे विना सत् प्रयत्न के सुख-सुविधा को चाहते हैं। सन्मार्ग की ओर प्रवृत्ति नहीं रखते। अपने लिए सुन्दर शरीर, रूप, गुण, विद्या और नाना प्रकार की भोग-सामग्री की इच्छा करने वालों की इस संसार में न्यूनता (कमी) नहीं है किन्तु धर्म-अधर्म की परीक्षा किये विना तथा अहिंसा को जाने विना, व्रत-संयम पालन किये विना, स्व-पर का विवेक किये विना, धर्म के प्रति सच्चा श्रद्धान किये विना, उसकी प्राप्ति होना कठिन है। इसलिए पुण्यसंचयी को सम्यग्दर्शन-सहित दान, पूजा, शील-संयम आदि की अनिवार्य आवश्यकता है। वही विवेकपूर्ण पुण्याचरण इहलोक तथा परलोक सुधारने वाला तथा सुख शान्ति को प्रदान करने वाला है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है। जिस जीव को वह समस्त धर्माधर्म विवेक मिल गया हो उसी का जन्म सफल समझना चाहिए अन्यथा विषय-भोगों में लीन स्त्री-पुरुष प्रतिदिन जन्मते और मरते ही रहते हैं।

एंदु मनदोळ् महोत्सव-
दिदं मुनिपतिगे भक्तियिं वंदिसि पे- ।
र्चिदं गृहक्के बेगं
वंदु मनोमुददिंनंबुजाननेयिर्दळ् ॥२२॥

अर्थ—श्रीमुनि महाराज से प्राप्त हुए ब्रत से अत्यन्त हर्षित होती हुई वह अनन्तमती उन्हें मन-वचन-कायसे नमस्कार करके अपनी स्त्री-पर्यायको धन्य समझती हुई अपने घर लौटी । इस प्रकार के उत्तम ब्रत को पाकर वह अपने जीवन को सुखपूर्वक बिताने लगी ।

इर्पुदु मनेयवरेल्लरप्रहसनदिंदं ब्रह्मचारीयेंबंपेसरे प्रसिद्धमागे × ॥२३॥

अर्थ—उस अनन्तमती को इस प्रकार अपने व्रताचरण में लीन देखकर उसके सभी कौटुम्बिक जन प्रसन्न भाव से उसे ब्रह्मचारिणी कहकर बुलाने लगे ।

सिसुवं तायोक्कलिगं
समियं नेलनं महीभुजं कडुलोभं ।
कसवरमं भीतं त-
न्नसुवं नेरे शीलमं महासतियप्पळ् ॥२४॥
रक्षिसुवंददिं. + ॥२५॥

अर्थ—अनन्तमती निरन्तर उस ब्रत की रक्षा करने में उसी प्रकार सावधान रहने लगी जिस प्रकार कोई माता अपने छोटे शिशु की रक्षा में सावधान रहती है, अथवा जिस प्रकार अपनी फसल को किसान रक्षा करता है । जिस प्रकार लोभी अपने धनको निरन्तर चौकसी करता रहता है । उसी प्रकार वह भी अपने शील की रक्षा करनेमें सावधानी करने लगी । इस ब्रत के लिये उसकी इतनी निष्ठा थी कि स्वप्न में भी वह अपने इस ब्रत पर अतिचार न लगने देती थी ।

सन्नुत गुणगणनिळये म-
होन्नते बिडदेंदुवर्पदिं दोडगि करं ।

× मनेगेपोगिवोगि ब्रह्मचारिणियेंदुबपेसरेसिये । (ग)
+ तन्नसुवं रक्षिसुव तेरदिनीसुब्रतमं, सन्नुत । (ग)

पेन्नेरडदं वरेगं-
भिन्नाम्बुजवदने रक्षिसुत्तु व्रतमं ॥२६॥

अर्थ – वह गुणवती ब्रह्मचारिणी अनन्तमती उस व्रत को बड़ी दृढ़ता से पालन करने लगी। इस प्रकार पांच वर्षकी आयुमें ग्रहण किया हुआ यह व्रत बिना किसी विघ्न वाधा के वह अपने १२ वें वर्ष तक पालन करती रही। तथा उस व्रत के पालन में वह अपने सद्भावों की भी वृद्धि करने लगी।

एक दिन की बात

इर्दोन्दुदिनं पेरगण नन्दनवनदोळ् [पोळतु पोगिंगे परिचारकियरं तन्नोडनाडुव कुवरियरुं वेरसु पोगि, मनक्केवंद पूविनाभरणमं तोट्टु चूत-महीजद केळगण पोन्नु] यवलनेरि ॥२७॥

अर्थ—एक दिन वह अनन्तमतो बहुत सी सखियों को साथ लेकर नगर से बाहर आम के बाग में क्रीड़ा-विहार करने गई। उसके साथमें उसीकी आयुकी उसकी बहुत-सी सखियां और परिचारिकाएं थीं वे सभी सुगन्धित पुष्पहारों से सुशोभित थीं और अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं में निमग्न थीं। वहां उपवन में बड़े बड़े आम के वृक्षों पर रेशमके भूले लटक रहे थे जिन पर बैठकर वे सभी भूलने का आनन्द लेने लगीं।

अळिनिनादमुमुयल्ल ध्वनियं मनोहरमप्पिनं
जळजनेत्रेपरोय्यनोय्यने तूगुतं नेरेदोंदि को-
मळनिनाददिदेवर वस्तुरूपगुणस्तवं
गळनेपाडे बनोददिं तरळाक्षि पाडुतुमिर्पनं ॥२८॥

अर्थ—भूले पर भूलती हुई वे कमल के समान सुन्दर नेत्रों वाली अनन्तमती तथा उसकी सखियां भौंरोंकी गूंजसे गुंजायमान उस आमके बागमें अपने कोमल स्वरसे मनोहर रागिनी गाने लगीं। उस राग रागिनी में वे भगवान् के महिमामय गुणस्तवन गा रही थीं। इस तरह उन चञ्चल नेत्रों वाली कन्याओं ने अपनी विनोद क्रीड़ा से वह आम्रवन सुन्दर नन्दन वन-सा बना दिया।

[विजयार्धं पर्वतद दक्षिणश्रेणीय किन्नरगीतबेंबं पोळलनाळ्व] कुण्डल-मण्डितनेंबविद्याधरं तन्नग्रमहिषीसुकेशिवेरसु आकाशमार्गदोळ् कामविहारार्थम् बरुत्तु (उय्यलाडुत्तुमिर्पनंतमतिकुमारियं तोट्टने) काणबुदु ॥२६॥ ×

ओडनोडने कामबाणं
बडुकोल्वरमूर्छे बेडगुगोंडितित्तल् ।
मिडुकदे निलिसि विमानम-
नडिगडिगळ्कर्तुनोडिवारिजमुखियं ॥३०॥
तनोलितेंदं [ओ, क] ॥३१॥

अर्थ–उसी समय विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी के किन्नरगीत नामक प्रदेश का राजा कुण्डलमण्डित नामक विद्याधर अपनी पट्टरानी सुकेशी के साथ अपने विमानमें आरूढ़ होकर आकाश मार्ग से विहार करता हुआ आ रहा था। तब उसने मार्ग में वह आम्रवन देखा, जिसमें कि वे कन्याएँ झूला झूल रही थीं। उनके मधुर गीतों की मीठी ध्वनि उसके कानों में पड़ी। उसने विमान को रोक लिया और तन्मयतासे उन कन्याओं के रूप, क्रीड़ा विलास को देखने लगा। उसी समय उसकी दृष्टि अनन्तमती पर पड़ी और वह उसे देखकर चित्र-लिखित-सा रह गया। उसने तुरन्त विमान को नीचे उतारा और उसी ओर देखने लगा। अनन्तमती की सुन्दरता से आकर्षित होकर उसकी चेतना लुप्त होने लगी और वह अनन्तमती के सौन्दर्य को टकटकी बांध कर देखने लगा।

विरहानलनळुरे विय-
च्चरराजंनिलिसलारदोडलं दाह-
ज्वरमादरंते कायूर्पि-
दुरियुत्तुं बेयूव शैलमिर्पंतिर्दम् ॥३२॥

अर्थ–जिस प्रकार दाह-ज्वर होने पर शरीर तपने लगता है, उसी प्रकार उस कुण्डल-मण्डित विद्याधर का शरीर काम-अग्नि से तपने लगा। उसके सारे अंग में जैसे दाहज्वर हो गया हो। जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु से पहाड़ तप्त हो जाता है, उसी प्रकार उसका शरीर

× निनाददे देवबन्दन (ओ। क)

भी तपने लगा। उस समय उसकी बुद्धि का लोप हो गया। नीतिकारों ने तथा आचार्यों ने कामाभिभूत जन की मनोदशा का चित्रण करते हुए सत्य लिखा है कि—कामातुराणां न भयं न लज्जा—अर्थात् जिसको कामज्वर ने सता रक्खा हो उस मनुष्य को किसी भी अन्य व्यक्ति को देखकर न तो भय होता है, न ही लज्जा का संचार होता है। वह तो पशु से भी गया बीता हो जाता है।

अरलसरलेंदेंबर्कीमंगे लोकद् मानिसर्
तोलगदरंबातंगेंदर्पोडेन्नने पोगद्-
ग्गलिसि नडुवंबोवोवत्यद्भुतं शतकोटिगं
पल्वुपल्वेंदागळ् विद्याधरं मनमिक्किदं ॥३३॥

अर्थ—उस विद्याधरका मन बेकाबू हो गया। उसने सोचा कि संसारमें असंख्य स्त्रियोंको देखा है किन्तु ऐसी सर्वाङ्ग-सुन्दरी कन्या आज तक नहीं देखी। इस प्रकार विचार करता हुआ वह विद्याधर वहां उसी प्रकार स्तंभित होकर खड़ा रहा, मानो किसी ने एक स्थाणु (सूखे पेड़ का ठूंठ) ही लाकर वहां गाड़ दिया हो। उसे अपने पास में उपस्थित अपनी ही स्त्री का भी ध्यान नहीं रहा।

इवळकडेगणर्णेवी लेसप्प कूर्पिन वाणदिं
दिवळ मुखमेंबग्गंबेत्तिर्द पेंपिन चक्रदिं।
दिवळ नलितोळेंवी तीव्रासियिं स्मरनंजिपं
कुविटनदृष्टि देन्नं नानेर्वनंजिसल्पने ॥३४॥

अर्थ-मन में कहने लगा कि इसकी भौंहें धनुष की सी टेढ़ी नुकीली हैं, मुख कमल के समान सुन्दर है, इसकी कोमल गोल सुन्दर भुजाएँ कामदेव के शस्त्र के समान हैं। जिनके पाश में आकर कोई मुक्त नहीं हो सकता। इसके केश ऐसे हैं मानो, ब्रह्माने भुवनके मनको बांधने के लिए सहस्र-सूत्र ही बना दिये हों। इसके प्रत्येक अवयव में इतना आकर्षण है कि वर्णन नहीं किया जा सकता। विटों को अपने चरणों में गिराने के लिए इसका एक कटाक्ष ही पर्याप्त है। त्रिभुवन में इसके समान सुन्दर और कोई स्त्री देखने में नहीं आई।

ज्ञानार्णव में लिखा है—

स्मरव्यालविषोद्गारैर्वीक्ष्य विश्वं कदर्थितम्।
यमिनः शरणं जग्मुर्विवेक-विनता-सुतम् ॥१७॥ अ० ११

एक एव स्मरो वीरः स चैकोऽचिन्त्यविक्रमः ।
अवज्ञयैव येनेदं पादपीठीकृतं जगत् ॥१८॥
एकाक्यपि नयत्येष जीवलोकं चराचरम् ।
मनोभूर्भंगमानीय स्वशक्त्याव्याहत-क्रमः ॥१९॥
पीडयत्येव निःशंको मनोभूर्भुवनत्रयम् ।
प्रतीकारशतेनापि यस्य भंगो न भूतले ॥२०॥
कालकूटादहं मन्ये स्मरसंज्ञं महाविषम् ।
स्यात्पूर्वं सप्रतीकारं निष्प्रतीकारमुत्तरम् ॥२१॥
जन्तुजातमिदं मन्ये स्मरवह्निप्रदीपितम् ।
मज्जत्यगाधमध्यास्य पुरन्ध्रिकायकर्दमम् ॥२२॥
अनन्तव्यसनासारदुर्गे भवमरुस्थले ।
स्मरज्वरपिपासार्ता विपद्यन्ते शरीरिणः ॥२३॥
घृणास्पदमतिक्रूरं पापाढ्यं योगिदूषितम् ।
जनो यं कुरुते कर्म स्मरशार्दूलचर्वितः ॥२४॥
दिग्मूढमथ विभ्रान्तमुन्मत्तं शंकिताशयम् ।
विलक्ष्यं कुरुते लोकं स्मरवैरिविजृम्भितः ॥२५॥
न हि क्षणमपि स्वस्थं चेतः स्वप्नेऽपि जायते ।
मनोभवशरव्रातैर्भिद्यमानं शरीरिणाम् ॥२६॥
जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ।
लोकः कामानलज्वालाकलाप–कवलीकृतः ॥२७॥
भोगिदष्टस्य जायन्ते वेगाः सप्तैव देहिनः ।
स्मरभोगीन्द्रदष्टानां दश स्युस्ते भयानकाः ॥२८॥

अर्थ–संसारको कामदेवरूपी महान् विषधर (सर्प) के विषसे पीड़ित देखकर योगी और संयमी जन विवेक ज्ञानरूप गरुड़ की शरण में जाते हैं। यह कामदेव महान् प्रबल है, उसके पराक्रम की तुलना नहीं की जा सकती। उसने अपने बड़े तुच्छभावसे सारे संसार को अपने पैरों के नीचे आक्रान्त कर रखा है। अहो, यह बड़े आश्चर्य की बात है कि सारा संसार तो एक ओर है और यह काम एक ओर है, किन्तु फिर भी निडर होकर यह सारे विश्व को अपने पराक्रम से चाहे जैसे तोड़ मरोड़ डालता है। यह कामदेव तीनों लोकों को पीड़ित

करता है, यह इसका स्वभाव है। किन्तु कोई कितना ही प्रतिकार करे इसका भंग नहीं किया जा सकता। संसार में कालकूट जिसकी 'विष' संज्ञा है, उससे भी बलवान् विष तो कामदेवका विष है क्योंकि पहले विष का अर्थात् कालकूट का तो किसी प्रकार से प्रतिकार किया जा सकता है किन्तु मदन के बाणों से विद्ध का तो कोई प्रतीकार ही नहीं है। यह सारा जन्तु-समूह कामदेव की अग्नि से जल रहा है, मानो इसी लिए शीतलता की कामना से वह स्त्रियों के शरीर से लगकर उस ताप को मिटाना चाहता है। यह संसार एक ऐसा महान् दुर्गम दुखदायी मरुस्थल है जिसमें काम-ज्वरकी पिपासा से आकुल होकर प्राणी मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। कामदेवरूपी बाघ से घायल हुआ मनुष्य घृणित, अत्यन्त क्रूर, पाप-मय, योगिजनों द्वारा दूषित कुकर्म करता है। जब काम आक्रमण करता है तो मनुष्य सभी कुछ भूल जाता है, वह भ्रान्त हो जाता है, दिग्मूढ़ बन जाता है, उन्मत्त के समान आचरण करने लगता है, उसे शंकाएं घेर लेती हैं, और वह अपने मार्ग से च्युत हो जाता है। ऐसे कामातुर का मन क्षण मात्रके लिए भी स्वस्थ नहीं होता, स्वप्नमें भी उसे सुख-शान्ति प्राप्त नहीं होती। जब कि मनोभव (काम) आकर उसके रोम-रोम को बेध डालता है। वही व्यक्ति जो सोच-विचार कर कार्य करने वाला था, ऐसे समय जानते हुए भी कुछ नहीं जानता और देखते हुए भी कुछ नहीं देख पाता, क्योंकि उसे तो उस समय कामदेवकी प्रचण्ड ज्वालाओं ने ग्रास बनाया हुआ होता है। जब किसी को सांप काट लेता है तो उसकी सात अवस्थाएँ होती हैं किन्तु जब कामदेव डंसता है तो उसमें अति भयानक दश अवस्थाएं उत्पन्न होती हैं।

एंदु कामसन्तापदिं पलुंबु पंबलिसुत्तुं पंडतियप्प सुकेशिनि तन्नोड-निर्दल्पुदरिं नेलक्किलिदुकुमारियल्लिगे पोगणमदं कुदिव कूलंते कुदिदु दगे-येरिद् कोडगदंते बेरगागि बाणातिसूलेयंते सिडिमिडिगोंडु तलारनं कंडकल्ल-नंते कुसिदु पेलिगेयोलगल पाविनंतुम्मलिसि वेसेगेय सूर्यनंते कायदु पिरि-दागि तेरुव ओक्कलंते नेलननोडि नीवडेयद गिडुविनंते मुखंबाडि एरगो-मुट्टिद् कुंबलकायंते ओलगोलगे कोलेतु कुदिव नीरंते मरुगि दरियमरदंतल्लाडि आनेय परिकारनंते पलवं चिंतिसि कलननेरिदंकदवनंते बेरगं नोडि बकवेसितन-दिंदोडल सूडिंगिरलारदे पुसिगोमेंयिं दोपलनप्पिकोंडु [मेल्लनितेंदः—॥ ३५॥

अर्थ—इस प्रकार काम सन्तापसे उस विद्याधरका शरीर कांपता है। वह विचार करता है

कि इस कुमारी को हरण कर ले जाऊँ। किन्तु उसी समय उसे अपनी भार्या का, जिसका नाम सुकेशी है, जो कि उसी के साथ विमान में विद्यमान है, उसका विचार आता है, तो भय से अपने चिन्तित कार्य को करने में असमर्थ होकर कहने लगता है कि मैं क्या करूं ? मेरे साथ यह एक राक्षसी भी तो है, (उसका आशय अपनी सुशीला पत्नी सुकेशी की ओर है) इस विवशतासे वह अनन्तमतीके पास नहीं जा पाता है और जिस प्रकार चावल पकते हैं उसी प्रकार अपने भीतर ही भीतर उबालका अनुभव करता है। वह उस आत्मविकलता से वानरके समान चंचल होकर इधर उधर देखने लगता है। उसके मनमें भिन्न-भिन्न विचार उठते हैं, किन्तु भार्या से वह उसी प्रकार भयभीत है जिस प्रकार कि चोर चोरी करने की इच्छा करता हुआ अपने पास किसी कोटपाल को देखकर अपनी चोरी करने की भावना को विवश (लाचार) होकर दबा लेता है। जिस प्रकार बांबी से बैठा हुआ सर्प अन्दर ही अन्दर फुंकारता है, उसी प्रकार वह कामवेग से सन्तप्त होकर अपने मन में ही फुंसकार रहा है, दीर्घश्वास छोड़ता है। जिस प्रकार धूप में खड़ा हुआ व्यक्ति तप उठता है उसी प्रकार वह काम के ताप से तप रहा है, जिस प्रकार पानी न बरसने पर पौधे को कुम्हलाता हुआ देखकर माली दुःखित होता है, उसी प्रकार वह भी अपनी काम-दुर्वासनाको फलीभूत होता हुआ न देख कर सन्ताप का अनुभव कर रहा है। वह सोचता है कि अहो, मैं इसके इतना पास होकर भी इसको प्राप्त करने में असमर्थ हूं। यह कैसी विडम्बना है ? इस प्रकार वह मलिन, खिन्न, निस्तेज हो रहा है। तैल लगने पर काशीफलके समान भीतर ही भीतर अपनी कुभावनाओं के कारण सड़ रहा है। उबलते हुए पानी के समान हो रहा है। जिस प्रकार आंधी में वृक्षावली कांपने लगती है, उसी प्रकार वह भी काम के वेग से कम्पित हो उठा है। इस अवस्था में वह जिस प्रकार कोई हाथी को पकड़ने के लिए जाल रचना करता है, जिस प्रकार चोर चोरी का अवसर प्राप्त करने के लिए सब दिशाओं को को देखता है, उसी प्रकार वह नाना उपाय चिन्तन करता है। कुटिल चिन्तनमें मग्न हो रहा है। ऐसी स्थिति में उसे उपाय सूझता है और वह अपनी पत्नी को ऊपरी प्रेम से आलिंगन करता है, उसको प्यार करने लगता है और चापलूसी तथा मायाचार से उसके मन में यह विश्वास उत्पन्न करने की चेष्टा करता है कि संसार में वह उसी को सबसे अधिक प्रेम करता है, अन्य किसीसे नहीं। इसी बातको दर्शानेके लिए वह अपनी स्त्री सुकेशी से कहता है कि चलो, घर वापिस लौट चलें। क्योंकि इस प्रदेश को तो पहले भी कई बार देख चुके हैं, इत्यादि। किन्तु मन में सोचता है कि अपनी स्त्री को घर छोड़कर मैं फिर यहां

ओला आऊंगा ।

नीतिकार कहते हैं कि—

विषयासक्तचित्तानां, गुणः को वा न नश्यति ।
न वैदुष्यं न मानुष्यं, नाभिजात्यं न सत्यवाक् ।।

—क्षत्र चूड़ामणि

अर्थ—जिसके हृदय में काम का वेग उदय हुआ है, वह मनुष्य समस्त गुणों से पतित हो जाता है । उसमें न विद्वत्ता रह जाती है और न मनुष्यता रहती है, न वह अपने विमल कुल का स्मरण करता है और न उसकी वाणीमें सत्य रहता है । ऐसा कौन सा गुण है जो कि नष्ट नहीं हो जाता ?

पराराधनजाद् दैन्यात्, पैशुन्यात् परिवादतः ।
पराभवात् किमन्येभ्यो, न बिभेति हि कामुकः ।।

जो मनुष्य कामातुर होता है, वह स्त्री आदि अन्य व्यक्तियों की सेवा-जन्य दीनता से, चुगलखोरीसे अपयशसे तथा अन्य किसी भी विडम्बना से नहीं डरता । किम् बहुना, कामुक व्यक्ति किसी भी प्रकार के भय को नहीं मानता ।

पाकं त्यागं विवेकं च वैभवं मानितापपि ।
कामार्ताः खलु मुंचन्ति किमन्यैः स्वं च जीवितम् ।।

अर्थ—कामपीड़ित व्यक्ति अपनी पवित्रता को, त्यागवृत्ति को, विवेक को, वैभव (धन-सम्पदा) को, स्वाभिमान को, और बातों से क्या अपने जीवन तक को भी छोड़ देता है । यानी-कामवासना से पीड़ित मनुष्य मृत्यु का भी आलिङ्गन कर लेता है ।

इत्तलप्पोडे नम्म काणद् नाडुगळ्पलविल्ल के-
ळित्तलेवुदो पोक्कु नाळे विनोददिं दोडनिर्वरुं ।
मुत्तिनाभारणंगळं नेरे तोट्टु चीनमनुट्टु के-
कुत्त रारोगे पोगि भोगिसुवं सुरेन्द्रगिरीन्द्रदोळ् ॥३६॥

एंदु कृतकवचनदिं नंबे नुडिदु पोळ्लगे पोगि मंदिरमं पोक्कु नल्लळं वंचिसि पोप पगेपं नेनेदु सुकेशनिगे मणिकुंडलमंडन निंतेंदं ॥३७॥

अथ—वह विद्याधर अपनी पत्नी से कहने लगा कि देखो, देवी ! इधर का प्रदेश तो

देखा हुआ है, मेरा विचार है कि जिस प्रदेश को न देखा हो, उसे देखें। अतः अभी घर को चलें। कल फिर किसी नवीन प्रदेश को देखेंगे। आज तुम घर चलकर मुक्ताभरण, जरी की साड़ी, रेशम का वस्त्र, शृङ्गार की सामग्री को इकट्ठा करो। कल को सुरेन्द्रगिरि पर जिस प्रकार इन्द्र आनन्दक्रीड़ा करता है उसी प्रकार हम दोनों भी किसी विशिष्ट स्थान पर क्रीड़ा करेंगे। अभी तो घर चलें। इस प्रकार उसे आश्वासन देकर मणिकुण्डल मंडित घर लौट गया।

नीनिल्लर् मेरुलिग-
क्कानोर्वने पोगि बंदपें रमणीय-
स्थानं गलेडेयनरिदें
दानी रेगे कूर्पनंते नुडिदा खचरं ॥३८॥

अर्थ—वह कहने लगा कि परम प्रिये ! तुम यहीं पर विश्राम करो। मैं मेरुगिरि पर जाकर आता हूँ। वहां अतिरमणीय स्थानकी तथा विहार करनेकी व्यवस्था कर आऊँगा। जिससे हम दोनों को अत्यन्त आनन्द मिले इस प्रकार के स्थान की व्यवस्था करके आऊँगा।

विमानमनेरि पुरमं पोरमट्टु बडगणदेसेगे तन्नपोगं
तोरिकिरिदेडेयं पोगि मगुळ्दुतेंकमुखनागि मरुज्जवदिं
] चम्पापूरक्के बंदुयूयलनेरिदनंतमतियं तन्न विमान-
दोळेरिसिकोंडु आकाशक्के नेगेदु कन्येयरूपं नोडि ॥३९॥

अर्थ—तदनन्तर वह विमान में उड़ा। उसकी पत्नी भी मन में शंकित थी और चतुर भी थी। इसलिए तुरन्त उसके गन्तव्यमार्ग को देखने के लिए छत पर चढ़ी और उसे देखने लगी। कुण्डल-मंडित ने यह बात जान ली, इसलिए वह भी अपनी पत्नी को चकमा देने के लिए विपरीत दिशा की ओर चला। किन्तु जब उसने समझ लिया कि अब उसकी पत्नी नहीं देख रही है, तब उसने अपने विमानको उसी दिशा की ओर मोड़ लिया। जिस ओर चम्पापुर के बाहर बाग में जहां अनन्तमती झूला झूल रही थी, वहां पहुंचा और वहां तत्काल अनन्तमती को उठाकर उसने विमान में बैठा लिया।

एळलनेयिने बिदि लोकम-
नळलिसलेंदर्तिवट्टु वनितारूपं।

गळियिसिद् नरिदे नल्लदो
डुळिदंतंगनेयरिंतु चल्वेय रोळरे ॥४०॥

अर्थ—कुण्डलमण्डित विचारने लगा कि जिस प्रकार कोमल किसलय (कली) में लालिमा रहती है, जिसको देखनेसे सुन्दरता का बोध होता है, तथा जिसके प्रति अनुराग भो उत्पन्न होता है, उसी प्रकारका अंगलावण्य इस अनन्तमतीका है । इसका शरीर बहुत कोमल है । यह स्त्रीरत्न जिसके पास हो वह धन्य है । जिसके पास ऐसा रत्न नहीं, उसका जन्म लेना व्यर्थ ही है । यह सुन्दरी त्रिभुवन में एक ही है । इस प्रकार वह अनन्तमती का अपहरण करके मन में अत्यन्त प्रसन्न होता है, किन्तु साथ ही भयाकुल भी है ।

विशेष—मनुष्य का जब पुण्य क्षय हो जाता है तब उसे पाप कर्म दबोच लेते हैं और उसकी बुद्धि तथा प्रवृत्ति को पाप की ओर कर देते हैं ।

कंतुविनाराधिपदै-
वं तडेयदे कामनिसुव सरलेनिसिर्दा-
कांते दोरेकोंडळेनगे
न्नंतावं स्त्रीगे नोंतवं खेचररोळ् ॥४१॥

अर्थ—वह विचारने लगा कि यह कन्या इतनी सुन्दरी है कि कामदेव भी इस पर मुग्ध हो जावे । सौभाग्य से ही मैंने इसे पाया है । मेरा विद्याधर वंश में जन्म लेना आज इसको पाकर ही सफल हुआ है । आज खेचर विद्याधरोंमें मैं अपने आपको सर्वश्रेष्ठ मानता हूं । मेरे समान आज पुण्यशाली और कोई नहीं है ।

मत्तं लोकदोळ् नोडद पेंडरिल्ल आडु मुट्टद गिडविल्ल,
ई कांतेयंते चल्वेयं कनसिनोळ्प्पोडं कंडरियं ॥४२॥

अर्थ—मैंने लोक में बहुत-सी सुन्दर स्त्रियों का अवलोकन किया है किन्तु ऐसी अनुपम सुन्दरी स्त्री मैंने अभी तक नहीं देखी ।

× दक्षिणदेशे गनीवने । (ग)

+ आ नारिगे नंबि नुडिदु खचराधीशं । (क)

सिरियोळोप्पुव रूपनींद्रकांतेयोळ् कडुचल्वनं
वरुहदोळ् मुखबिंबमं शिलुचन्द्रनाळ् नोसलं मृगे-
श्वरनोळूनडुवं मनोजन बाणदोळ्बेरलं मनो-
हरियिवळूसेरे गोंडळोनेरेमूरे गोंडको पेळिंद ॥४३॥

एंदु कुमारिय हावभावविभ्रमंगळं नोडि तन्नोळ्पोगळुत्तुं मनदोळ् संतसदंतमनेयूदींनोडुत्तुमिर्पन्नेगमनंतमतिकुमारि ॥४४॥

अर्थ–यह कन्या ऐश्वर्यमें इन्द्र की भार्या शची के समान है, अथवा उसकी उपमा देना भी इसके रूप का तिरस्कार करना है, यह तो उससे भी अधिक रूपवती है। इसके मुख-बिम्ब की शोभा चन्द्रमा का तिरस्कार करती है, इसकी कमर सिंह के समान पतली है, इसके सभी हाव-भाव, विलास विभ्रम मन को आकर्षित करने वाले हैं।

उधर कुमारी अनन्तमती—

नयदिं जिनेन्द्रचरण-
द्वयमं चित्तदोले निलिसि शौचक्के नगिं।
नियतं वेलेयनुत्तुं ×
भयदिंदं नोडि नाडे नडुगुत्तिर्दल् ॥४५॥

अंतु] + पेणनं कंड पंदेयनेयंजुत्तं गौद्रनं कंड साधुविनंते मिडुकलरामदे नेलनं नोडत्तुं, बेट्टिद नप्परमिन नाडंते बेवळिसुत्तुं, येरेयकेरेयनें- मोगं निरोडुत्तुं मक्कळंते❀ विमानमं बिडदे पत्तुतुं महामन्त्रियंते व्रतरक्षणोपायमं चिंतिसुत्तुं बोजंगंगे बेसत्त मूळेयंते विमानदोदेसेयं नेम्मुत्तुं मुलमरद केळगिर्द् लतेयं तोसरिसित्तुं सुंकिगनं कंड भंड मुळ्ळनंते संकिसुत्तुं,

× चित्तदोलु निलिसि शौचकानिनि नियतं बेले (क. ओ.)
+ एंदु मनदोल् रागि सुतिर्पनेगम अनतमति (ग)
* सन्यासियंते (क)

आज्ञापरनप्परसिर्नंते* मनमं संतैसुत्तु× कूर्परं नेनेवंते, जिनागममं भाविसुत्तु भयमुळळ्ळबट्टेयं पोपरंते इकेलनं नोडुत्तु क्षमान्वितेयुं, सागरदंते गंभीरेयु मागिर्पुवु मत्तलु ॥४६॥

शतपत्रानने खचरन
सतिकूर्पुदरिंदे खेचरेन्द्रनोळादा ।
कृतकमनरियदे तडेगं
पतियिदनाग्वेनेन्दु मनदादरदिं ॥४७॥

अर्थ—उस विपत्ति के क्षण में अविचल होकर भगवान् जिनेन्द्रदेव के चरण कमलों का चित्त में स्मरण करने लगी और विचारने लगी कि मेरे ऐसा कौन-सा अशुभ कर्म का उदय हुआ कि मैं इस कष्ट में आ पड़ी हूं ? वह इधर उधर देखती है, सोचती है कि मैं यहां किस क्षेत्रमें हूं ? यह कौन देश है ? मैं कहांसे कहां आगई हूं ? इत्यादि चिन्ता करती है । (जिस समय कुण्डलमण्डित विद्याधर उसका हरण कर रहा है तब वह भयसे मूर्च्छित होजाती है । सावधान होने पर देखती है कि मुझ पर भारी आपत्ति आ गई है । ऐसा जान कर वह भगवान् की शरण लेती है ।) वह देखती है कि चारों ओर जंगल ही जंगल है । न जाने यह कौन-सा देश है, इस बातको विचार कर वह भयाकुल भी हो जाती है । किन्तु उसका स्वाभाविक धैर्य उसकी रक्षा करता है और वह णमोकार मंत्र का स्मरण करती है । वह सोचती है कि पूर्व जन्म के दुर्भाग्य से ऐसा कुसंयोग उपस्थित हुआ है, मैंने जो व्रत लिया है उसका पालन करना मेरा धर्म है । उससे किसी प्रकार भी विचलित नहीं होना चाहिए । भगवान् का नाम स्मरण क्या नहीं कर सकता ! सभी आपत्ति को दूर करता है । भगवान् के चरणों की शरण ग्रहण करने वाले को तीनों लोक में कहीं भी भय नहीं है । णमोकार मंत्र से क्या कुछ सिद्ध नहीं हो जाता ? कहते हैं कि—

संग्रामसागरकरीन्द्रभुजंगसिंहदुर्व्याधिवह्निरिपुबन्धनसम्भवानि ।
चौरग्रहभ्रमनिशाचरशाकिनीनां, नश्यन्ति पंचपरमेष्ठिपदैर्भयानि ॥

---

* भन्यायविदनूरंते (ग)

× महर्षियंते शुभभावनेयं भाविसुत्तु, कूर्परखरवं पार्वरंते
विमानदोंदेसेच्यं नेम्मुत्तु जिनागममं नेनेयुत्तु भयमुल्ल (क. ओ.)

उत्तिष्ठन् निपतन् चलन्नपि वसन् पीठे सुखं वा स्मरेत्,
जाग्रद् वा प्रहसन् स्वपन्नपि वने बिभ्यन् विषीदन्नपि ।
गच्छन् वर्त्मनि वेश्मनि प्रतिपदं कर्म प्रकुर्वन्नमुं,
यः पंचप्रभुमन्त्रमेकमनिशं किं तस्य नो वांछितम् ।।

अर्थ—पंच परमेष्ठी के स्मरण मात्र से संग्राम, समुद्र, मदोन्मत्त हाथी, सर्प, सिंह, दुर्व्याधियां, अग्नि, शत्रु और किसी प्रकार का बन्धन तथा चोर, ग्रह, भ्रम, राक्षस और शाकिनी-डाकिनी आदि का भय जाता रहता है।

उठते हुए, गिरते हुए, चलते हुए, किसी स्थान पर निवास करते हुए, विश्राम करते हुए, जागते हुए, हंसते हुए, सोते हुए, वनमें भयभीत होते हुए अथवा विषादपूर्ण स्थिति में, मार्ग में चलते हुए, प्रत्येक चरण में किसी भी प्रकार का कार्य करते हुए जो भगवान् पंच परमेष्ठी का मन्त्र जाप करता है उसको कौन-सी ऐसी वांछित सिद्धि है जो नहीं मिलती ? अर्थात् उसे सभी इष्ट प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार वह अनन्तमती उस विपदामें भी भगवान् का स्मरण करती है जिस प्रकार मृतक को देखकर दुर्बल-हृदय व्यक्ति घबरा उठता है, किसी रौद्र रूपको देखकर साधुचित्त घबरा उठता है, जिस प्रकार किले रहित राज्यवाला राजा शत्रु के आक्रमण को जान कर सन्तप्त हो उठता है, उसी प्रकार अनन्तमती इस घोर विपदा में पड़कर अपने शील की रक्षा के लिए चिन्तित हो उठी। दुराचारी विद्याधर से पीड़ित वह विमान को पकड़ कर एक ओर भयभीत बैठी है। जिस प्रकार कोई कोमल लता वायु से विकम्पित होती है, उसी प्रकार वह भय से कांप रही है। उसे कुछ मार्ग नहीं सूझता।

उधर विद्याधर की स्त्री सुकेशी सोचने लगी कि अभी तक उसका पति यहां क्यों नहीं लौटा ? वह तो उसके उस बनावटी आश्वासन से ही प्रसन्न हो रही थी और सचमुच पति को अपने में अनुरक्त मान रही थी। उसकी मानसिक दुरभिसन्धि का उसे तनिक भी भान नहीं था। इसी लिए वह अधीर हो रही थी।

अवलोकिनिविद्येयं [नेनेदुवरिसि मद्वल्लभनें कारणं तडेदनो बेगमारयुदु वर्पुदेंदु पेळवुदु, पोगि खचर निर्देय नरिदु बंदु तदु वृत्तान्त मनोंदु गुंददंते पेळवुंदु) सुकेशिनि केळ्दु तुंबरुगोळ्ळियं कंबदोळ् पोयिदने सिडिल्दु [किडिकिडिवोगि] ॥४८॥

अर्थ—सुकेशी ने अपनी अवलोकिनी विद्या को अपने पति को खोजने के लिए तथा अभी तक घर न लौटने का पता लगाने के लिए भेजा। अवलोकिनी विद्या सुकेशी के आदेश-अनुसार कुण्डलमण्डित विद्याधरका पता लगानेके लिये गई और थोड़ी देरमें ही उसने सुकेशी को सूचना दी कि तेरा पति एक किसी सुन्दरी स्त्रीको अपने साथ विमानमें बैठाकर ला रहा है। सुकेशी अपने पति के इस प्रकार के छिपकर किये हुए दुराचरण पर क्रोधाकुल हो उठी और वह उसी प्रकार गर्जन-तर्जन करने लगी जिस प्रकार वर्षा में घिरे हुए बादलों को चीर कर बिजली कड़कड़ाने लगती है।

करमेन्न नुरदे पोदं
बस्चरनु मनवन कूर्प वनितेयुमं चे।
न्वरदिं कोल्लदे कारदोडे
धरेयोळ् खेचरियें यल्ल नां गोचरियें ॥४६॥

अर्थ—वह मन ही मन विचारने लगी कि देखो, मेरा पति मुझसे बनावटी प्रेम करके वह अन्य स्त्रियों के साथ रमण करने की इच्छा रखता है। वह मुझे किस प्रकार ठगना चाहता है। मुझे फुसलाता है। वह मुझे तो कह गया था कि मैं किसी सुन्दर विहार योग्य स्थानका प्रबन्ध करके शीघ्र लौट रहा हूं और वह यहांसे गया किसी अन्य स्त्रीके साथ रमण करने की अभिलाषा से। वह जिस दूसरी स्त्री को लाया है, देखूं तो कौन है वह, यदि मैं उसके टुकड़े-टुकड़े न कर दूं तो मैं विद्याधरी नहीं, मुझे गोचरी (पृथ्वी पर चलने फिरने वाली स्त्री) ही समझना।

[एंदु रौद्ररूपेयुं पापियुमप्पुदिरि वज्रदण्डमनुरदोलमर्चिकोडु किळ्त बाळ्वेरसु बर्पाकेयं दूरदोळे कंडु बेगडु गोंडु कुंडलमण्डितंबेंगदिं पर्ण लघुविद्येयं बरिसि नीनीकन्येयं नेल्लक्किळिपि बर्पुदेंबुदुं तद्विद्यादेवते ॥५०॥

अर्थ—इस प्रकार रौद्र (भयानक) रूप धारण करके वह सुकेशी वज्रदण्डको उठा करके खड़ी होगई। जैसे ही उसने विद्याधरको आते देखा तो वह उस ओर लपकी। कुण्डलमण्डित विद्याधरनेभी उसे देख लिया था इसलिये वह भयसे कांपने लगा। विचारने लगाकि अब मेरे प्राण संकट में हैं। यह मुझको विना मारे नहीं छोड़ेगी। ऐसा विचार कर उसने पर्णलघुविद्या को बुलाया और उसको आज्ञा दी कि इस स्त्री को शीघ्र पृथ्वीपर छोड़ आ।

वनजानेयं पिडिदो
यूयने वसुमतीगिळिपि भीमवनमेंब महा- ।
वनदोळगे सोगयिसुव मा-
विन वनदोळगिरिसि मरळि पोपुदुमागळ् ॥५१॥

अर्थ—उस कमल के समान मुखवाली अनन्तमतीको लेकर वह विद्या शीघ्र नीचे पृथ्वी की ओर उतर चली और एक महाभीम आम्रवन में उसे छोड़ करके उड़ गई ।

अहो, कर्म की गति विचित्र है । इसे कोई नहीं जान सकता । कब किसके किस कर्म का उदय हो और किस प्रकार संकट में किसे फंसना पड़े, इसको कौन जान पाया है ?

पापियमुखदंते कत्तलिप कोळंगळिं कोपीय हृदयदन्तुरिव काळ्गिच्चिनिं, कोंडेयनंते पत्तुवचिक्कडिनिं, कडुघातकनंते नोइसुव पेर्नोणंगळिं, लज्जेगेह पेण्मळंते मेल्वायूव पेर्बुलिविंडिं [धीरन पेंडिरंते वायूविडुव सीनयिगळिं) वडसूळेयंते विळियदंतंगळिं दोप्पु बानेगळिं, महादानीय कोडिनंते पलवुकोडिनिंदोप्पुव सारंगविंडिनिं वल्लिदरोडुडिनंते मार्मलेव काडेम्मगळिं जिनद्रोहर नरकगमनमं तोर्पंते गिरिशिखरदिंदिळिव नीर धारेगळिं कूरन मनदंते पगेव देसेगळिं बिंबिम्मेंब पेरडवियं नोडि ॥५२॥

अर्थ—उस समय अनन्तमती ने चारों ओर अपनी दृष्टि दौड़ा कर देखा तो उसे गहन वन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दीख पड़ा । वह भयानक वन अन्धकार से आच्छन्न होकर इस प्रकार प्रतीत हो रहा था जिस प्रकार किसी पापी मनुष्यका काला और भयंकर मुख । सूर्य की किरणों का भी वहां प्रवेश नहीं था । चारों ओर किर-किर ध्वनि करते हुए पर्वतीय झरने प्रवाहित हो रहे थे । कहीं दूर जंगल में दावाग्नि लगी हुई थी, जिस प्रकार कि किसी क्रोधी के हृदय में कोपाग्नि सुलग रही हो । वहां पर मच्छर और काटने वाली मक्खियां अगणित थीं । वे निरन्तर काट रही थीं । सिंह, शार्दूल और व्याघ्र विचरण कर रहे थे । अनन्तमती को पल-पल में भय हो रहा था, कि मानो वे उसे खा जाएंगे । सफेद दांतों वाले (दन्तैल) हाथी इस प्रकार प्रतीत हो रहे थे, मानो किसी वेश्या ने श्वेत परिधान धारण कर लिया हो । तीक्ष्ण सींग वाले सारंग और जंगली सुअर, भैंसे इस प्रकार

विचरण कर रहे थे मानो उन्हें किसीका भी भय नहीं है। क्रूर हृदयके समान सभी दिशाएं ममता से शून्य हो रही थीं। वहां पर किसी भी मनुष्य की परछाईं तक दिखाई नहीं देती थी। केवल शून्य वन ही सांय-सांय कर रहा था। अनन्तमती उस वन में अकेली ही घूमने लगी और उस भीषणता पर अनुभव कर कहने लगी।

विशेष विवेचन—यह जीव अनेक प्रकार के पापकर्म के उदय से अनेक योनियों में जन्म लेकर परिभ्रमण करता रहता है। जन्म मरण की यह परम्परा निगोद से आरम्भ होती है। एक अंगुल के असंख्यातवें भाग क्षेत्र में जो अनन्त जीवों को स्थान देता है, उसे निगोद कहते हैं। निगोदिया जीवोंको साधारण जीव भी कहते हैं। क्योंकि, एक निगोदिया शरीर में बसने वाले अनन्त जीवों का आहार, श्वासोच्छ्वास वगैरह साधारण होता है। अर्थात् उन सब जीवों का एक शरीर होता है, सब एक साथ आहार ग्रहण करते हैं। एक साथ ही सब श्वास लेते हैं। तथा एक साथ ही मरते और जन्मते हैं। निगोद के दो भेद हैं—'नित्य निगोद' और 'चतुर्गतिनिगोद' (इतर निगोद)। जो जीव अनादिकाल से निगोद में पड़े हुए हैं, वे नित्य निगोदिया कहे जाते हैं तथा जो त्रसपर्याय को प्राप्त करके फिर निगोद में जाते हैं उनको चतुर्गतिक निगोदिया कहते हैं। अनन्तजीव नित्य निगोद में अनादि कालसे अनन्तकाल तक भी रहते हैं। गोम्मटसार में कहा है कि—'ऐसे अनन्तजीव हैं जिन्होंने अब तक त्रसपर्याय प्राप्त नहीं की। उनके भावकर्म बहुत निविड होते हैं इसलिए वे निगोदको नहीं छोड़ते। भाव कर्मके कुछ मन्द होने पर ही जीव निगोदसे निकल आता है।

वहां से निकल कर वह पृथ्वीकाय वगैरह में जन्म लेता है। वहां भी अनन्त काल तक बादर और सूक्ष्म काय में परिभ्रमण करता रहता है फिर चिन्तामणि रत्न के समान बड़ी कठिनता से दुर्लभ त्रस पर्याय को प्राप्त करता है। एकेन्द्रिय पर्याय से निकल कर विकलेन्द्रियों—दोइन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय जीवों में दीर्घ काल तक जन्म मरण करता रहता है। वहां से निकल कर जिस किसी तरह पंचेन्द्रिय होता है। पंचेन्द्रिय पशुओं में मन रहित असैनी भी होते हैं। जिनको स्व-पर का भेद-ज्ञान नहीं होता।

सौभाग्य से कदाचित् मनसहित सैनी भी होता है, तो रौद्रपरिणामी तिर्यंच होता है। अर्थात् यदि पंचेन्द्रिय पर्यायको भी प्राप्त कर लेता है तो वह असंज्ञी होनेके कारण बातचीत, उपदेश वगैरह को नहीं समझ सकता। अतः न तो वह स्वयं अपने को जानता है और न अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, आगम, धर्म इत्यादि को ही जान पाता है। कदाचित् जिस किसी तरह संज्ञी पंचेन्द्रिय भी होता है तो बिलाव, भेड़िया, कुत्ता; गिद्ध,

सर्प, नेवला, व्याघ्र, सिंह, मगर, आदि क्रूर तिर्यञ्च हो जाता है। या कभी, कबूतर, बकरी, चूहा, हिरण आदि निर्बल पशु होता है, अन्य पशु उसे मारते सताते रहते हैं। वहां उसके अति (दुखी) परिणाम बने रहते हैं। अतः उसके सदा ही पापरूप परिणाम रहते हैं। इस लिये अशुभ भावों के कारण वह नरक में चला जाता है।

वहां वर्षों तक भयानक असह्य दुःखों को भोगता है। वहां भूख, प्यास, शीत, उष्ण के कष्ट के साथ ही साथ छेदना, भेदना, चीरना, फाड़ना आदि के कष्टों को भोगता है। नारकी जीव परस्पर में भी एक दूसरे को अनेक प्रकार से कष्ट देते हैं। कोल्हू में पेरना, भाड़ में भूंजना, शूलों पर फेंक देना, तलवार की धार के समान नुकीले पत्तों व घास की जमीन पर डाल कर खींचना, वैतरणी नदी में डालना, तथा अपनी विक्रिया से निर्मित अस्त्र शस्त्रों से परस्पर घात-प्रतिघात करना आदि से बड़ा कष्ट पाते हैं। इसके अतिरिक्त तीसरे नरक तक असुरकुमार जाति के देव भी कष्ट पहुँचाते हैं। इस प्रकार नरक में जाकर यह जीव बड़ा कष्ट भोगता है।

जिस प्रकार चौराहे पर पड़े हुए रत्न का हाथ आना कठिन है, उसी प्रकार मनुष्य भव भी प्राप्त करना कठिन है। तिर्यंच पर्याय से निकल कर मनुष्यका भव पाकर भी यदि मिथ्यादृष्टि हुआ म्लेच्छ खण्डों में जन्म लिया तो उसे धर्माचरण का अवसर नहीं मिलता। यदि कदाचित् आर्य खण्ड में जन्म लेता है तो वहां उत्तम कुल पाना दुर्लभ है। जो गुणों से अथवा गुणवानों से सेवित होते हैं उन्हें 'आर्य' कहते हैं। आर्य अर्थात् तीर्थङ्कर चक्रवर्ती आदि उत्तम पुरुष जिस भूमि में जन्म लेते हैं वह भूमि 'आर्यखण्ड' कहलाती हैं, जहां धर्म की प्रवृत्ति होती है। यदि मनुष्य-भव पाकर यह जीव आर्यखण्ड का मनुष्य हुआ तो भी महाव्रत की प्राप्ति के योग्य अथवा मोक्ष साधन के योग्य उत्तम कुल नहीं पाया तो भी उसका मनुष्य भव पाना निरर्थक हो जाता है। द्विजकुल में जन्म लेकर भी दरिद्र हो तो दरिद्रावस्था में कष्टमय ही जीवन बीतता है। यदि धन-सम्पन्न भी होता है तो यदि शरीर रोगी है तो सब व्यर्थ हुआ। यदि दीर्घ स्वस्थ आयु को भी प्राप्त कर ले और शील तथा स्व-पर विवेक प्राप्त न कर सके तो भी उसका जन्म व्यर्थ चला जाता है।

यदि यह जीव कभी देव भी हो जाता है तो यदि वहां सम्यक्त्व न हो तो आत्म-उन्नति नहीं कर पाता। यदि सम्यक्त्वी देव होता है तो वहां योग्यता न होने से चारित्र को नहीं पाल सकता। अतः मनुष्यगति सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि उसी में तपश्चरण होता है, महाव्रतों का पालन होना सम्भव है, ध्यान होता है, तथा च मोक्षकी प्राप्ति मनुष्यगतिसे हो सकती है।

इस प्रकार कर्म के फलों को जान करके अनन्तमती अपने ऊपर आये हुए संकट को धैर्य के साथ सहन करने को उद्यत होती है ।

जलजमुखि नाडेयुं त-
ल्लळदिं भोरेंबु सुदट्टु तन्नं दुःखा-
नलनलुरे तन्नोळेंदळ्
फलमादुदु मुन्न मेन्न माडिदकर्मम् ॥५३॥

अर्थ—वह कमलमुखी कुमारी अनन्तमती मन में चिन्ताग्रस्त होकर विचार करती है कि कर्मबन्ध से ग्रस्त प्राणियों को उसका कर्मफल भोगना ही पड़ता है । कर्म तो तीर्थङ्करों को भी नहीं छोड़ता । सभी को कर्म का उदय आने पर उसका फल भोगना अनिवार्य है । वह विचार करती है—

जैसा कि नीतिकार ने कहा है—

यस्माच्च येन च यदा च यथा च यच्च,
यावच्च यत्र च शुभाशुभमात्मकर्म ।
तस्माच्च तेन च तदा च तथा च तच्च,
तावच्च तत्र च कृतान्तवशादुपैति ॥

अर्थ—जिस कारण से, जिसके द्वारा, जब, जिस प्रकार और जो, जितना जहां-जहां शुभ अथवा अशुभ कर्म किया जाता है, उसका परिणाम या फल उस कारण से, उसके ही द्वारा, तब, उसी प्रकार से वहीं-वहीं पर कर्म के वश से उसे भोगना पड़ता है । अर्थात् जीव जैसा सुकर्म-कुकर्म करता है, उसका फल भी उसको वैसा ही भोगना पड़ता है ।

नडेदोडे कल्नोंदपुदें
दडि गडि गाय्युदु तडेयि मेंदाळियरं ।
जडिवा जननीयु मय्यनु-
कडुमोहोदयदिनीगळेल्लिर्द-परो ॥५४॥

परिचारकियर नोप्पिरे
करमक्कन मनमनरिदु बेसगेयूवुदु
च्चरमेंदु पेळूव मत्सो-
द्दरानिरलित्त लत्त मत्तलागेंद्परो ॥५५॥
तनयर्तायूतां दे सुहृ-
ज्जनमिष्टबन्धुवर्गमज्जं पज्जं ।
तनुजर्कान्तेयरोडवु-
ट्टिनवर् बेरेंब जिनमतं तप्पुगुमे ॥५६॥

अर्थ—वह अनन्तमती अपनी परिस्थिति पर विचार करती हुई सोच रही है कि मैंने जो पूर्व भवमें कर्म किया है उसको तो भोगना ही पड़ेगा। चाहे उसको ज्ञान-पूर्वक हँसकर भोगूं या अज्ञानी के समान रो-धोकर। 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'—अर्थात् किया हुआ शुभ अथवा अशुभ कर्म का फल तो अवश्य ही भोगना पड़ेगा। वह सोचती है कि मेरे पिता मुझे एक पद भी पैदल नहीं चलने देते थे, कोमल पुष्प के समान मेरी देख-भाल करते थे किन्तु इस समय वे कहां हैं? वे मेरा यहां क्या उपकार कर सकते हैं? केवल मेरा कर्म ही है जो मेरा उपकार या अपकार कर सकता है, और कर रहा है। कर्म ही जीव का भला बुरा कर सकता है, अन्य कोई नहीं। क्या माता-पिता का लाड़-प्यार और मोह मुझे इस दुःख से मुक्त कर सकता है? कहां हैं मेरी पास रहने वाली सखियां? कहां हैं वे परिचारिकाएं जो तनिक कष्ट होने पर दौड़कर उसका निवारण करती थीं। जिनकी आंखें निरन्तर मेरे ऊपर लगी रहती थीं, मेरे शयन करने पर सोती थीं और मेरे उठने से पहले उठकर मेरी चेष्टाओं को सावधानी से देख कर आज्ञा—तत्पर रहती थीं। क्षण भरके लिए भी मुझे नहीं छोड़ती थीं, अब उनसे मुझे किसी प्रकार का सहारा नहीं मिल सकता। भगवान् जिनेन्द्र का वचन कभी मिथ्या नहीं हो सकता। वे कहते हैं कि हे आत्मन्, तुमने अपने स्वभाव को भुलाकर जिन माता-पिता, कुटुम्ब, स्त्री, पुत्र इत्यादि पर मोह किया है वे तुम्हारा किसी प्रकार का हित-साधन नहीं कर सकते। वे स्वार्थवश तुमसे अभिन्न प्रतीत होते हैं, किन्तु जब उनका स्वार्थ पूरा हो जाता है, तो उनमें से कोई भी तुम्हारा हित करने वाला नहीं है। वह विचारती है कि एकमात्र भगवान् जिनेन्द्र देव ही मेरी रक्षा कर सकते हैं।

तंत्रं बहुविधमप्पळि-
मन्त्रं नानाप्रकारदिं दिर्प महा ।
यन्त्रं केडडसिदोडवु
जंत्रद्कीलूकळचिदंने कळकुळमक्कुं ।।५७।।

अर्थ–उसी समय तक अनेक प्रकारके मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र सहायता करते हैं, जब तक प्राणी का पुण्य प्रबल है । जिस प्रकार गाड़ी के चक्रों की कील निकल जाने पर गाड़ी नहीं चल सकती, और गिर पड़ती है, उसी प्रकार पुण्य का समय निकल जाने पर प्राणी की गति पंगु (लंगड़ी) हो जाती है । उसके सभी उपाय, सभी साधन उस समय व्यर्थ हो जाते हैं ।

विशेषार्थ–जिनेन्द्र भगवान्का वचन है कि यह संसार अनादिकाल से परिवर्तनशील चला आया है । इसमें किसीका भी समय एक समान नहीं रहता । सूर्य जो सारे संसारको प्रकाशित करता है उसको भी दिन में तीन दिशाएं बदलनी पड़ती हैं। चन्द्रमा जो संसार को शान्त प्रकाश देता है उसे भी समय आने पर राहु से आच्छादित होना पड़ता है । इस तरह सदा किसी का समय एक समान नहीं देखा जाता । जो आज उदय के शिखर पर आरूढ़ है, कल वही अस्ताचल पर देखा जाता है । इस प्रकार से वह अनन्तमती अपने ऊपर आये हुए कष्ट को ज्ञान-अवधारण से सम्भालती है ।

अन्य ग्रन्थकार कहते हैं–(प्राकृत भाषा की संस्कृत छाया)

यत् किंचिदपि उत्पन्नं तस्य विनाशो भवति नियमेन ।
परिणामस्वरूपेणापि, न च किंचिदपि शाश्वतमस्ति ।।

अर्थ–जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है उसका विनाश निश्चित है। अतः परिणामके स्वरूपसे भी विचार किया जावे तो जगत् में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो शाश्वत हो । अर्थात् सभी क्षणभंगुर है ।

जन्म मरणेन समं सम्पद्यते यौवनं जरासहितम् ।
लक्ष्मीः विनाशसहिता इति सर्वं भंगुरं जानीहि ।।

अर्थ–जन्म और मरण का साथ है । यौवन का आगमन जरा (वृद्ध अवस्था) से सहित होता है । लक्ष्मी अपना विनाश अपने साथ लेकर ही आती है । इस प्रकार से संसार में सभी कुछ क्षणभंगुर है ।

अस्थिरं परिजनस्वजनं पुत्रकलत्रं सुमित्रलावण्यम् ।
गृहगोधनादि सर्वं नवघनवृन्देन सदृशम् ।।

अर्थ–परिजन और स्वजन का सम्बन्ध अस्थिर है, पुत्र-कलत्र [स्त्री] मित्र, शरीर की सुन्दरता, घर, गोधन आदि सभी पदार्थ नवीन बादलों के समान क्षणभर में नष्ट होने वाले हैं ।

सुरधनुस्तडिद्वत् चपलाः इन्द्रियविषयाः सुभृत्यवर्गश्च ।
दृष्टप्रणष्टाः सर्वे तुरगगजाः रथवरादयश्च ।।

अर्थ–इन्द्रियों के समस्त विषय और दास-दासी तथा घोड़े, हाथी, रथ आदिक सभी कुछ इन्द्र-धनुष और विद्युत् के समान चंचल हैं। इनमें स्थिरता नहीं है । सभी कुछ देखते-देखते नष्ट हो जाते हैं ।

पथि पथिकजनानां यथा संयोगो भवति क्षणमात्रम् ।
बन्धुजनानां च तथा संयोगः अध्रुवो भवति ।।

अर्थ–जिस प्रकार मार्ग चलते हुए भिन्न-भिन्न स्थानों के यात्री संयोग से कहीं पर कुछ देर को मिल जाते हैं और फिर अपनी-अपनी दिशाओं में चलते हुए बिछुड़ जाते हैं, उसी प्रकार नाना सम्बन्धों के निमित्त से संसार में बन्धु बान्धवों का मिलन तथा वियोग होता है । वह संयोग अस्थिर होता है । इसलिए इस पर किसीको हर्ष अथवा विषाद नहीं करना चाहिए ।

अतिलालितोऽपि देहः स्नानसुगन्धैः विविधभक्ष्यैः ।
क्षणमात्रेणापि विघटते जलभृत आमघट इव ।।

अर्थ–यह शरीर जिसे नित्य निरन्तर नाना स्वादिष्ट पदार्थोंसे पुष्ट किया जाता है तथा सुगन्धित उपलेपन द्रव्यों से संवारा जाता है, वह भी क्षणभर में अपने से पराया हो जाता है और किसी प्रकार का आग्रह नहीं मानता । जिस प्रकार किसी मिट्टी के कच्चे घड़े में पानी रखने पर वह गल कर टूट जाता है, उसी प्रकार यह शरीर भी नाना प्रकार से लालन करने पर भी एक समय में नष्ट हो जाता है । इस प्रकार के क्षण-भंगुर शरीर में किसी प्रकार का स्नेह अथवा ममता, अभिमान करना मूर्खता है ।

या शाश्वता न लक्ष्मीः चक्रधराणामपि पुण्यवताम् ।
सा किं बध्नाति रतिं इतरजनानामपुण्यानाम् ।।

अर्थ–जो लक्ष्मी चक्रवर्तियों के पास भी शाश्वत होकर निवास नहीं करती क्या वह

सामान्य जनों के पास निरन्तर रहेगी ? क्या चक्रवर्ती के समान विशिष्ट जनों में रति को स्थायिनी न रख पाने वाली लक्ष्मी पुण्य-विकल दरिद्र तुच्छ जनों से निरन्तर प्रेम-अनुबन्ध रख सकेगी ? कदापि नहीं।

कुत्रापि न रमते लक्ष्मीः कुलीनधीरे अपि पण्डिते शूरे।
पूज्ये धर्मिष्ठेऽपि च सुवृत्त-सुजने महासत्वे ॥

अर्थ—लक्ष्मी (संसार के वैभवों) की प्रकृति ही चंचल है। वह कभी किसी के पास भी स्थिर भाव से नहीं रहती। चाहे कोई कुलीन हो, शूर हो, पण्डित हो, पूज्य हो, धार्मिक हो, सज्जन और चारित्रवान् हो और चाहे महासत्व (महापराक्रमी) क्यों न हो।

तावद् भुज्यतां लक्ष्मीः दीयतां दानं दयाप्रधानेन।
या जलतरंगचपला द्वित्रिदिनानि तिष्ठति लक्ष्मीः ॥

अर्थ—तब तक दान कर लो, लक्ष्मी का भोग कर लो, जब तक जल की तरंगों के समान चंचल यह लक्ष्मी दो या तीन दिन तक तुम्हारे पास है। जब यह चली जावेगी तो न तो इसका भोग उपभोग हो सकेगा, न दान ही किया जा सकेगा।

यः पुनर्लक्ष्मीं संचिनोति न च भुंक्ते नैव ददाति पात्रेषु।
स आत्मानं वंचयति मनुजत्वं निष्फलं तस्य ॥

अर्थ—जो व्यक्ति लक्ष्मी का संचय तो करता है किन्तु न तो स्वयं उसका भोग करता है और न किसी सत्पात्र में दान करता है, वह मानो, अपनी आत्मा की ही वंचना करता (ठगता) है और उसका जीवन निष्फल ही समझना चाहिए। क्योंकि लक्ष्मी तो काल प्राप्त होने पर नष्ट हो ही जाएगी। तो उस मूढ ने उसके संचय करनेमें परिश्रम तो किया किन्तु उसका सदुपयोग न कर पाया तब इससे बढ़कर उसके लिए पछताने की अन्य कौनसी, बात हो सकती है ?

यः संचित्य लक्ष्मीं धरणितले संस्थापयति अतिदूरे।
स पुरुषः तां लक्ष्मीं पाषाणसमानिकां करोति ॥

अर्थ—जो पुरुष लक्ष्मी को, (धन को) धरती में गहरा गाड़ देता है और मानता है कि इस प्रकार मैंने अपने द्रव्य को सुरक्षित रख दिया है, वह लक्ष्मी समय आने पर उसके किसी काम नहीं आती है और गढ़ी हुई ही रह जाती है। मानो वह अपने धन को पाषाण समान बनाता है। जिस प्रकार पत्थर पृथ्वी में गढ़ा रहता है, उसी प्रकार उसका धन भी गढ़ा रह जाता है, किसी के काम नहीं आता।

अनवरतं यः संचिनोति लक्ष्मीं न च ददाति नैव भुंक्ते ।
आत्मीयापि च लक्ष्मीः परलक्ष्मीसमानिका तस्य ।।

अर्थ—जो पुरुष निरन्तर लक्ष्मी का संचय करता है, किन्तु न किसी को देता है, न भोगता ही है, उसके लिए वह लक्ष्मी अपनी होकर भी परायी के समान ही है। अर्थात् जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी परायी वस्तु का भोग नहीं कर सकता, उसी प्रकार वह कृपण भी अपने द्वारा अर्जित लक्ष्मी का भी परवस्तु के समान भोग नहीं कर सकता।

लक्ष्मीसंसक्तमना य आत्मानं धरति कष्टेन ।
स राजदायादीनां कार्यं साधयति मूढात्मा ।।

अर्थ—जो व्यक्ति लक्ष्मी-अर्जित करने में निरन्तर लगा रहकर अपने आप का कष्ट से पालन करता है। अर्थात् लक्ष्मी के होते हुए भी किसी प्रकार अपना भरण-पोषण सम्यक् प्रकार से नहीं करता, वह मूढ़ है और उसकी लक्ष्मी का उपयोग राजदायादि में होता है। अर्थात् उसके मरने पर वह लक्ष्मी जिसे वह स्वयं नहीं भोग सका और न किसी को दान दे सका वह राजकोषमें चली जाती है या उसके उत्तराधिकारी उस धनका उपभोग करते हैं।

यो वर्द्धापयति लक्ष्मीं बहुविधबुद्धिभिर्नैव तृप्यति ।
सर्वारम्भं कुरुते रात्रिन्दिवं तमपि चिन्तयति ।।
न च भुंक्ते वेलायां चिन्तावस्थः न स्वपिति रजन्याम् ।
स दासत्वं कुरुते विमोहितो लक्ष्मी-तरुण्याः ।।

अर्थ—जो व्यक्ति अनेक प्रकार के बुद्धि-बल से लक्ष्मी संचय में तो लगा रहता है और उससे तृप्त नहीं होता अर्थात् उसके बढ़ाने में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं लाता, थकता नहीं। सभी प्रकार के आरम्भ उसके निमित्त करता है और रात-दिन उसी की चिन्ता में लगा रहता है। उसकी चिन्ता में समय पर खाता भी नहीं, चिन्तित होने से रात में सोता भी नहीं। वह मानो लक्ष्मी-रूपिणी तरुणी से मोहित होकर उसका दासत्व (गुलामी) ही करता है। उसको भोगने का पुण्य उसे प्राप्त नहीं है।

यः वर्द्धमानलक्ष्मीमनारतं ददाति धर्मकार्येषु ।
स पण्डितैः स्तूयते तस्यापि सफला भवेत् लक्ष्मीः ।।

अर्थ—जो व्यक्ति निरन्तर अपने संचित धन को धर्म के कार्यों में लगाता है उसकी बुद्धिमान् लोग प्रशंसा करते हैं और उसी की लक्ष्मी-प्राप्ति सफल होती है। क्योंकि वह अपने पुरुषार्थ से उत्पादित धन का सदुपयोग कर लेता है।

एवं यो ज्ञात्वा विकलितलोकेभ्यो धर्मयुक्तेभ्यः।
निरपेक्षस्तां ददाति खलु तस्य भवेज्जीवितं सफलम् ॥

अर्थ—इस प्रकार जानकर जो व्यक्ति निरपेक्ष भावसे दीन दुखी तथा धर्मात्मा जीवों को इस लक्ष्मी का दान करता है, उसी का जीवन सफल है।

कालसिंह ने चेतन मृग को घेरा भव-वन में,
नहीं बचावनहारा कोई यों समझो मन में।
मन्त्र यन्त्र सेना धन सम्पति राज-पाट छूटे,
वश नहिं चलता काल-लुटेरा काया नगरी लूटे।
चक्ररत्न हलधर-सा भाई काम नहीं आया,
एक तीर के लगत कृष्ण की विनश गई काया।
एक धर्म गुरु शरण जगत में और नहीं कोई,
भ्रम से फिरा भटकता चेतन यूं ही उमरा खोई॥

इस प्रकार विचार करती हुई वह अनन्तमती पुनः सोचती है कि—

करिसन्दोहंगळ श्वप्रततिगळदटिं दिर्द बल्लाळ्गलुर्वी धरमंपोक्किर्दब-लगोंटेगळ कटकटा तम्म रक्षिप्पुवें निष्ठुरकोपं कालराजं मसगिकोलेदिटं धर्म-मोंदल्ल दन्यर् शरणिल्लेंबी जिनेन्द्रोदितवचनमनां निश्चयं कंडेनीगळ् ॥५८॥

अर्थ—जब वर्तमान आयु कर्म समाप्त होकर अग्रिम आयु कर्मका उदय आता है तो हाथियों का समूह, घोड़ों की पंक्ति, रथ और बड़े-बड़े योद्धा, वीर और बने हुए परकोटे की ऊँची-ऊँची बाड़; सभी व्यर्थ हो जाते हैं। क्योंकि, काल किसी की आन नहीं मानता है, अपने नियमसे ही वह उत्पन्न और मारण करता है। इसलिए भगवान् जिनेन्द्रदेव ने जैसा कहा है, वही सत्य है। यह मैंने आज प्रत्यक्ष देख लिया। जिस बात की मुझे स्वप्न में भी आशंका नहीं थी, ऐसा दुर्योग खेलते-खेलते घटित हो गया। इससे अधिक कर्मविपाक की और अन्य क्या बात हो सकती है?

भावार्थ—संसार का प्राणी मोह में पड़कर जिस किसी को भी अपना रक्षक मान करके अपने को सुरक्षित समझ लेता है किन्तु राजा, राणा, छत्रपति कोई भी इसकी रक्षा नहीं कर सकता। क्योंकि, जो स्वयं कालकवलित होने वाला है वह दूसरे की रक्षा किस आधार पर कर सकता है? इसलिए संसार के नश्वर साधनों में रक्षा की खोजना और अपने को

सुरक्षित समझना भूल है। भगवान् जिनेन्द्रदेव के पवित्र चरणारविन्दों में ही मनुष्य का अक्षय कल्याण निहित है, अतः उन ही की शरण ग्रहण करना चाहिए।

ग्रन्थकार का कहना है कि-(प्राकृत गाथा की संस्कृत छाया)

भवे किं तत्र शरणं यत्र सुरेन्द्राणां दृश्यते विलयः।
हरिहरब्रह्मादिकाः कालेन च कवलिता यत्र ॥

अर्थ-उस संसार में कौन किस की शरण ग्रहण करे जहां सुरेन्द्रों का भी विलय होता देखा जाता है। जिसमें विष्णु-शंकर और ब्रह्मा आदि भी कालके कवल होते देखे जाते हैं।

सिंहस्य क्रमे पतितं सारंगं यथा न रक्षति कोपि।
तथा मृत्युना च गृहीतं जीवमपि न रक्षति कोपि ॥

अर्थ--जिस प्रकार सिंह के सम्मुख पड़े किसी मृग को कोई बचा नहीं सकता, उसी प्रकार मृत्यु के द्वारा ग्रहण किये हुए प्राणी को भी कोई नहीं बचा सकता।

यदि देवोऽपि च रक्षति मन्त्रस्तन्त्रः क्षेत्रपालश्च।
म्रियमाणमपि मनुष्यं तन्मनुजा अक्षया भवन्ति ॥

अर्थ-यदि मरने वाले मनुष्यकी देव, मन्त्र, यन्त्र,तन्त्र अथवा क्षेत्रपाल रक्षा कर सकते तो असंख्य मनुष्यों की भीड़ यहां लग जाती और मनुष्य अक्षय हो जाते।

अतिबलिष्ठोऽपि रौद्रो मरणविहीनो न दृश्यते कोपि।
रक्ष्यमाणोऽपि सदा रक्षाप्रकारैर्विविधैः ॥

अर्थ--जिस प्राणी की निरन्तर रक्षा की जा रही है और जो अत्यन्त बलवान् है, रौद्र (भयानक) है, वह भी मृत्यु से विमुक्त नहीं होता। उसका भी मरण निश्चित है।

एवं पश्यन्नपि खलु ग्रहभूतपिशाचयोगिनीयक्षान्।
शरणं मन्यते मूढः सुगाढमिथ्यात्वभावात् ॥

अर्थ-इस प्रकार जानते हुए भी, कि मृत्यु से कोई त्राण नहीं दिला सकता, यह मूढ़ संसारमें ग्रहों, भूतों, पिशाचों और योगिनियों या यक्षों की शरणमें जाता है। क्योंकि, इसके हृदय में मिथ्यात्व की भावना अत्यन्त गाढ रूप से विद्यमान है।

आयुःक्षयेण मरणं आयुर्दातुं न शक्नोति कोपि।
तस्माद् देवेन्द्रोऽपि च मरणात् न रक्षति कोऽपि ॥

अर्थ-आयु के क्षय होने पर मृत्यु अवश्यम्भावी है। मरते समय उसे आयु-प्रदान करने

वाला कोई नहीं होता। उस अवस्था में तो उसे देवेन्द्र भी नहीं बचा सकता। सच है, मृत्यु के मुख से किसी का कोई उद्धार नहीं कर सकता।

आत्मानमपि च्यवन्तं यदि शक्नोति रक्षितुं सुरेन्द्रोऽपि।
तत् किं त्यजति स्वर्गं, सर्वोत्तमभोगसंयुक्तम्॥

अर्थ—यदि कदाचित् सुरेन्द्र भी अपने आपको मरने से बचा पाता अथवा अपना स्वर्ग का साम्राज्य ही अक्षुण्ण रख पाता तो क्या वह कभी सभी प्रकार के भोगों से परिपूर्ण स्वर्ग को छोड़ता? कभी नहीं। अर्थात् इन्द्र को न चाहते हुए भी समय आने पर स्वर्ग छोड़ना पड़ता है। जब काल आकर दबोचता है, तब किसी का वश नहीं चलता।

दर्शनज्ञानचारित्रं शरणं सेवध्वं परमश्रद्धया।
अन्यत् किमपि न शरणं संसारे संसरताम्॥

अर्थ—इस संसारमें संसारी जीवोंको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीन ही शरण हैं। और कुछ भी शरण नहीं है। क्योंकि संसार के अन्य सभी पदार्थ संसरण करने वाले हैं, विनश्वर हैं।

आत्मा नन्वपि च शरणं क्षमादिभावैः परिणतो भवति।
तीव्रकषायाविष्ट आत्मानं हन्ति आत्मना॥

अर्थ—उत्तम क्षमादि भावों से परिणत आत्मा ही मनुष्य का शरण है। किन्तु तीव्र कषायों के आवेश में आकर यह आत्मा अपने द्वारा ही अपना अहित करता है। कोई अन्य उसका अहित करने वाला नहीं है।

कडुगूपेम्मळ्वे तानेल्लिदळोदविद मोहोदयं पेर्चेमुंद्दिं
नडसुत्तिर्पय्यनोवेळ्विदननुनयदिंदोंदि कूडिर्पनंट-
गेडे गोंडानददिंडाडुव परिजनमिन्नेल्लिदर्भोविपदें-
न्नोडनारुं बाररी पेरडविगे दुरिताटोपदिंदानेवंदें॥५६॥

अर्थ—अनन्तमती सोचती है कि यह मेरी दशा कर्मविपाक से ही हुई है। इस समय मुझे अत्यन्त प्रेम करने वाले मेरे दादा-दादी-पिता-माता और अन्यान्य स्वजनबन्धु कहां हैं? मैं जिन में नित्य खेलती थी, वे मेरी सखियां कहां है? सच है, इस समय मेरी रक्षा करने में अन्य कोई समर्थ नहीं है। वे सभी प्यार-दुलार करने वाले इस समय मुझे जानते तक नहीं कि मैं किस भूमि में किस अवस्था-दुरवस्था में पड़ी हूं। जब तक प्राणी का पुण्य होता है तब तक उसके अपने लोग उसके साथ रहते हैं। उसका परित्राण करते दिखाई

देते हैं किन्तु वास्तव में तो कर्म ही उसको सुख और दुख देता है। जब पुण्य समाप्त हो जाता है, तो कोई भी उसकी रक्षा नहीं कर सकता। मैं इस समय घोर भयानक विजन वन में अरक्षित दशा में पड़ी हुई हूं किन्तु कोई मेरे पास नहीं है। मैंने जो पुण्य पाप कर्म किये हैं उन्हें मुझको भोगना ही पड़ेगा, इसमें कोई ननु-न च नहीं चल सकती।

दिवदोळ् भोगिपोडं महानरकदोळ् दुःखाग्निियिं बेयोडं
नवेयुत्तिपोडपेन्न कूडि तिरिकव्रातंगलोळ् नाडेसं।
भवमागिर्पोडे मत्तमा मनुजरोल् पुट्टिर्पोडं जीवनु
रसत्वदिं दोर्वने बेय्गुमेंब जिनर श्रीवाक्यमं नंबिदें ॥६०॥

अर्थ——कमल की सुगन्धि से युक्त मुखों वाली देवांगनाओं का उपभोग करने वाला देव स्वर्ग में अकेला ही जाता है। जो जीव नरक में जाता है, वहां उन भयानक दुःखों का जो भोग करता है, वह भी अकेला ही होता है। पशुगति में भी अपने पूर्व संचित कर्म अनुसार सुख दुख अकेला ही भोगता है। तथा इस मनुष्य गति में अनेक विध सुखों को या दुखों को जो भोग करता है और भ्रमण करता रहता है, वह जीव भी एकाकी ही होता है, किसी किये कर्मके फल भोग में किसी अन्य का कोई साझा नहीं होता। इस प्रकार संसारके सुखों का प्रसंग हो या दुःखों का हो किन्तु भोगना स्वयं को ही पड़ता है। अन्य कोई इसे बंटाता नहीं है। इन कष्टों को भोगने का प्रसंग प्राणी अपने कर्म करके ही उपस्थित करता है। जिसने कभी आगम का वचन पालन नहीं किया और जो कभी भगवान् जिनेन्द्रदेव को शरण में नहीं गया उसे ही चतुर्गतिक परिभ्रमण करना पड़ता है तथा नाना दुःखों को उठाते हुए जीवन-यापन करना पड़ता है। अनन्तमती सोचने लगी कि जैसा कर्म का फल है उसको भोगना पड़ेगा। इसलिए विवेक-पूर्वक स्थिर-चित्त से उसका भोगना श्रेयस्कर है। किसी प्रकार का उद्वेग करने से भी कर्मफल तो भोगना ही है, तब क्यों न सिंह-वृत्ति से अभय होकर इसका मुकाबिला किया जावे। नीतिशास्त्र का वचन है कि——

एकः स्वर्गी भवति विबुधः श्रीमुखाम्भोजभृङ्गः,
एकः श्वभ्रे पिबति कलिलं छिद्यमानः कृपाणैः।
एकः क्रोधानलकलितः कर्म बध्नाति विद्वान्,
एकः सर्वावरणविगतो ज्ञानराज्यं भुनक्ति ॥

अर्थात् देवांगनाओं के मुख कमल को भंवरे के समान चूमने वाला कोई एक जीव अपने कर्म विपाक से स्वर्ग में देव-योनि प्राप्त करता है। इसी प्रकार दूसरा जीव अपने ही कर्म-परिणाम से नरक में गिरता है और नाना कष्टों को उठाता है। वह वहां तीक्ष्ण कृपाणों से छेदा जाता है, काटा जाता है। वह अपने ही पापों का फल-भोग करता है। इसी प्रकार अन्य कोई जीव विद्वत्तादि गुणोंके होते हुए भी क्रोध, मान, माया रूप कषाय-अग्नि से दग्ध होकर कर्म का बन्ध किया करता है। कोई एक सम्पूर्ण आवरणों का नाश करके ज्ञान के राज्य का भोग करता है। ये सभी अवस्थाएं जीव अपने कृत शुभअशुभ तथा शुद्ध परिणाम स्वरूप अकेला ही भोगता है।

धरे राज्यं रुपुवीरं महिमे तनुविलासं बलं जीवितत्वं-
सिरिसौभाग्यं धनं यौवनमळवुबळं सौख्यमेंदिंतिवेल्लं।
सुरचापाकारदंदं दरियमहिजदंदं करं कष्टमेंदु
स्थिरमल्लेबोंदु जैनोक्तिय महिमेयनिंदाने कण्णरेकंडे ॥६१॥

अर्थ—पृथ्वी, राज्य, रूप, धीरता, महिमा, शरीरबल और विलास ऐश्वर्य, जीवन, सौभाग्य, धन, यौवन इत्यादि सभी सांसारिक दृश्यमान भोग-विलास अस्थिर हैं। इन्द्र-धनुष के समान इनका उद्भव और प्रलय चंचल है। कर्म-फल के अनुसार एक नियत क्षण में इनको देखा जाता है और एक दूसरे क्षण में इनका ध्वंस भी देखने को मिलता है। जीव इन क्षणभंगुर पदार्थों से ही रति करता है, इनमें आसक्त होता है। क्योंकि स्व-पर का भेद ज्ञान उसको नहीं मिला है। इसीलिए यह जीव चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करता है। जिनागम में जो इसका निरूपण किया गया है इसका मैंने आज यहां प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया। इस प्रकार अनन्तमती चिन्ता-निमग्न होकर विचारती है कि संसार के इन सभी पदार्थों को देखकर पता चलता है कि वे सभी अनित्य हैं। इनकी स्थिरता की कल्पना करना बालू की दीवार उठाने के समान है। भर्तृहरि ने कहा है कि—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः,
कालो न यातो वयमेव याताः।

अर्थात् हम ऐसा समझने की भूल करते हैं कि हम भोगों को भोग रहे हैं किन्तु वास्तव में तो भोग ही हमारा भोग लगा रहे हैं। कभी हम यह भी समझते हैं कि समय बीत रहा है किन्तु वास्तव में तो हम ही बीतते जा रहे हैं।

[एंदु ध्रुवमं भाविसि] ॥६२॥
सिरिवंतनागियु सिरि-
परिहरिपुदुमोमें बडवनागियु मत्ता-
दरदिं कुमारनागियु
मिरदोमेंये वृद्धनागियु तिरितर्कु ॥६३॥
कडुसुखियागियुमोमोंये-
कडुदुःखियुमागि वोरनागियु मत्तं ।
कडुवंदेयागियु विड-
दोडनोडनघवशदिनिंतु सुळिवं जीवं ॥६४॥
[एंदु संसारदोळाद नानाप्रकारद दुःखंगळं भाविसि] ॥६५॥

अर्थ–यह जीव कभी अकेला ही अपने पुण्य के उदय से श्रीमन्त होता है, तो कभी अशुभ कर्म के उदय से दरिद्र होता है। वही जीव मर कर पुनः कुमार होता है, युवा होता है, बूढ़ा होता है और पुनः मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। कभी तिर्यंच गति में जाता है, तो कभी किसी अन्य गति में जाता है, इस प्रकार अपने किये हुए शुभ अशुभ कर्म के उदय से विभिन्न योनियों में विभिन्न वेष धारण करके उत्पन्न होता व मरता रहता है। यह संसार का परिभ्रमण कभी नहीं छूटता।

इस प्रकार वह अनन्तमती संसार में होने वाले सुखों-दुःखों का विचार करके भावना कर रही है।

ओडलिदरंदमं बगेदु नाळ्पोडे पेल पणंबे कुत्तमि
पडे नरदागरं मिदुळ पुत्तु कणायदराशि मूळेयों- ।
दडगिन पुंजदिं लोवलिनेल्विनिमग्गद नेत्तरिं मनं
विडे समेदिर्द पेर्मने शरीरमिदं पिडिवंदमावुदो ॥६६॥

अर्थ–यदि वास्तव में इस शरीर का विचार किया जावे, तो इसके अन्दर अनेक प्रकार के अशुचि द्रव्य भरे पड़े हैं। जिस प्रकार कोई व्यक्ति तार से किसी वस्तु को जकड़ देता है उसी प्रकार यह सारा शरीर नसों-नाड़ियों के पुंज से वेष्टित है। यदि इस शरीर के

ऊपर का चर्म दूर कर दिया जावे तो इसको देखना तथा इसकी दुर्गन्धि को सहना भी कठिन हो जावे।

इस प्रकार इस शरीर के प्रति वह अशुचित्व भावना का विचार करते हुए अपना उपयोग आत्मस्वरूप की ओर बढ़ा रही है।

एंदु शरीरादोळादशुचित्वमं नेने दु मेंदसेगेनांडेयु
पेसि नरकदोळ् जीवंगळप्पदुःखगळनिंतेंदु बगेदळ् ॥६७॥

अर्थ—यह शरीर नित्य ही अशुचि है, इसके द्वारा जो पाप कर्म किये जाते हैं उनसे नरक की प्राप्ति होती है और वहां अनन्त दुखों को उठाना पड़ता है।

किरि किरदागिरे मेय्यं
कोरे कोरेदु पुलियट्टु कदपं केयिं ।
दिरिदिरदु निष्टुमे
यमरुगुविनं पिडिदु बडिदु किच्चनोळिडुवर् ॥६८॥

अर्थ—अनन्तमती अपने आपको समझाती है कि आत्मन्! तुमने अनन्त वार स्त्री पर्याय को प्राप्त किया है और छोड़ा है। जो पाप होता है वह इस शरीर के द्वारा ही तो किया जाता है। पाप करने वाला शरीर से भिन्न कोई नहीं है। इसी प्रकार इसके द्वारा ही पुण्य भी किया जाता है। पाप पुण्य दोनों को करने वाला यह शरीर ही है। जब यह जीव पंचेन्द्रिय सम्बन्धी पाप करता है तो उसके परिणाम स्वरूप आत्मा को नरक में जाना पड़ता है। इन पापों को करने वाले नारकी जीवों को करोंत के द्वारा ही चीरा जाता है और उसके छोटे छोटे खण्ड किये जाते हैं, वे नारकी जीव इसका तीव्र अपमान करते हैं और पूर्व भव के किये हुए पापों का स्मरण दिला कर उसे अग्नि में फेंक देते हैं।

गरगसदिंदं मिगेनि-
ष्करुणिगळोडानिक्कि नेत्तियिंदं पादं ।
बरेगं सीळ्दा भागम-
नुरिवेण्णे योळिक्कि तेगेसुवर्मरुगुविनं ॥६९॥

अर्थ—इन पापी जीवों को नारकी जीव सिर से लेकर पेट के अंगूठे तक आरों से चीरते हैं, चिरे हुए एक एक भाग को गर्म कड़ाह के तेल में डाल देते हैं। उस समय की वेदना से जीव को पाप के प्रति तीव्र घृणा उत्पन्न होती है, क्योंकि उस समय की उस वेदना

का कोई पार ही नहीं है। अनन्तमती विचार करती है कि हे आत्मन्! तूने नरकों में जब अनन्त कष्ट सहे हैं तब उनके मुकाविले में तो यह कष्ट कुछ भी नहीं हैं। तू इस शरीर से अपना कल्याण कर सकती है।

उप्पिल्लणिंगु सासवे
तप्पिल्लद मेणसु सुंटि पोससुण्णमिवं।
चप्परिसि बडिदु मेयूयु
सोप्पागिरे मोदि पूसुवर् निर्दयेयिं ॥७०॥

अर्थ—हे आत्मन्! नरक में नारकी जीव इसके शरीर पर इस प्रकार के पदार्थों का लेप कर देते हैं जिनसे दाह (जलन) होती है। फिर उसे निर्दयता से मारते हैं। जिन जीवों ने जिह्वा की लोलुपता-वश भक्ष्य पदार्थों का स्वाद लिया है, हिंसा करते हुए जिन्होंने कोई विचार नहीं किया है, उन जीवों को नरक में इसी प्रकार के दण्ड भुगतने पड़ते हैं।

नारेत्तुव नेरदिं कै-
यारे कुकिलुदादु पोयूदु मेयुगळ् तोवलं।
कूरितनदिंद मेत्तुव
रोरंतोरलुविनमांजि बायूबिडुविनेगं ॥७१॥

अर्थ—नारकी जीव पापी जीवों को खड़ा करके उनके चमड़े को इस प्रकार से खींचते हैं जिस प्रकार किसी फूल का सत्व निकाला जाता है। वे इस प्रकार से कड़ा दण्ड देकर यह समझाते हैं कि तूने पिछले जन्म में जीवित पशुओं की खाल खींचकर निकाली थी, उसी का यह फल है। जिसे तू भोग। इस प्रकार के कठोर और कड़वे शब्द कहते हुए वे नारकी उसे पीड़ा देते हैं। जब उसका चमड़ा निकाला जाता है तब वह असह्य पीड़ा के होने से रोता है, कांपता है, ऐसा न करने का उन नारकी जीवों से अनुरोध करता है किन्तु वे उसकी कोई बात नहीं सुनते, न ही दण्ड देने में किसी प्रकार की कमी करते हैं। वह जीव रुदन करके मूर्च्छित हो जाता है।

मत्तं [वारि वारिगे गाणदोळिट्टु पिळिदु नोडे-नोडे गाण दोळिविक देगेदु, पुय्यलिडे सुडवोचिसियु संदुसंदुगळोळ् सूजियं पेट्टियु, बोडलोळुळि-

गळं सेरिसियु नालगेयं पेड तलेयोळुर्चियु, मेय्यं किरिकिरिदागि कत्तरिसि वायोळ्तुरूकियु देसेदेसेगे सीळदीडाडियु बायोळगे दसियं पेट्टियु, पेडगय्यं कट्टि किच्चिनोळ्पोरर्चियु बसिर निव्वगि मागि कुदिदेण्णेयं पोय्दु मिडियेरडुमं कुंटागे कोय्दु, ओळरुविनंगटलं मुरिदु पेळरुविनं जडिदु बाळोळपोयदु, पुण्योलोहरसमं पोयुदु, कणोल् केंडमनिट्टु, मुगु वायुमुसिर्मिन्टुकगुडदे पिडिदु बाचियिं तडंगडिदु, कोंतदिं तगुळ्दिरिदु, खड्गदिं पूणिसि पोयदु, बेट्टे रुगळिं परितंदिट्टु परसिनोळेदे यं सीळदु, गजंगळिंदिक्कि मेट्टिसियु, सैरिसलारदे, पुलिर्विडुगलं बिट्टु, सीनाय्गळिं-दंडिसियु, पेर्नागळिंतगळ्दूरसियु, कावलयोळिक्कि बाळिसियु, इंतनेक विध-दंडनेगळिं दंडिसियु, सैरिसलारदे] अरिसिनदंते मेय्वत्ति पिणिवर्, कारेयन्ते कोरलंपत्ति, ख्वर्, गरगंसदंते मेयं कोरेवर, पणिगेयंते तलेयं पत्ति तेगेवर्, मोनेयंतेदेयंपत्ति नेत्तरं कुडिवर् उगुरंते, वेरलं पत्ति कीळ्वर् निरियंते तोडेयं पत्तियुडिवर् पोग्यंते मोणकालं पत्ति मुग्विर, मीगेयंते नडुवंपत्ति नेलक्किक्कुवर, वाग्नियन्ते बसिरंपत्ति करुळमुणिवर्, कूसिनंते मोल्नेयंपत्तितिंवर्, तिलकदंते नोसलंपत्ति कडिवर्, ओलेयंते किवियंपत्ति परिवर्, केशदंते बेन्नंपत्ति वारमुर्चुवर्, मल्लरन्ते बरियंपत्ति कळलेगट्टु, तेणंतेतलयंपत्ति पल्कडिवर्, तेरणदन्ते नळमंपत्ति कत्तरिसुवर्, कंकणदंते मुंगैयंपत्ति कोरेवर्, काडिगेयंते कणंपत्ति बेरलोळिरिवर्, कंपिनंते मुंगपत्ति कोयवर, तम्बुलदन्ते ल्लंपत्ति-तिवर, सत्रियंते नालगेयंपत्ति मेलवर, केर्पिनंते कालंपत्ति कडिवर्, अंदुगेयंते मेगालं पत्ति सोप्पुगुट्टुवर, कुप्पसदन्ते बेन्नं पत्ति केत्तुवर, सिप्पिगनंते पोलि-वर्, कम्मारनंते कासि वडिवर्, मेदनंते सीळ्वर्, बडिगियंते केत्तुवर्, अगस-नंते बीसि पोय्वर्, ओक्कलिगनंतो मेट्टिं परगुवर्, अंकदंते कुत्तुवर्, मल्लरंते पोस्वर्, लेखकनंते कीसुवर्, मादिगनंते वारे-तुवर, नायन्ते कच्चितेगेवर, गूळि-

यन्तो तगळदीरिवर, गजदंतिक्कि मेट्टुवर, रक्कसरंतडसि नुंगुवर, काड-गदन्ते तळतिरिवर, बिरुदंकदन्ते पोगदे काडुवर, जिगुळेयन्ते नेत्तरं कूडिवर, मांसाहारि यंतडंगंतिंवर, नरियन्ते करुळं तगेवर, तगुणियंते मेय्यंतिंबर, पुलियंते गंटलतिंबर, जंतिनन्ते बसिरंतिबर, पंदियंतेत्तुवर, गुलमदन्तोत्तुवर, पोरेकारनंते विगिदुकट्टुवर, गुडियनेत्तुवरंते गूंटम पेट्टुवर, पर्दिनन्ते कीळवर, तेळिनन्ते नोयिसुवर, कोळियंते केदकुवर, सिडिलन्ते पोडेवरन्तु मल्लदे ॥७२॥

अर्थ–पुनः उस जीव को वार-वार घानी में डालकर पेरते हैं। फिर निकालते हैं, फिर पेरते हैं। पश्चात् उसे अग्नि में डालते हैं। फिर उसके शरीर के प्रत्येक सन्धि (जोड़) को सुई से छेदते है। शरीर में सूए भोंकते हैं, जीभ काट लेते हैं। इस प्रकार उसे अपार कष्ट देते हैं। शरीर के खण्ड-खण्ड कर देते हैं। मुख में बर्छी-भाला भोंक देते हैं। दशों दिशाओं में शरीर के खण्ड करके फेंक देते हैं। चिल्ला न सके इस लिए मुंह बांध देते हैं। हाथ-पांव बांधकर अग्निमें डाल देते हैं। फिर उसे पकवानकी तरह पकाते हैं, सिझाते हैं। दोनों पैर काट देते हैं। गला दबा देते हैं। पीटने लगते हैं। मुख में अनेक बार अनेक प्रकार के बर्छे-भाले डालकर निकालते हैं। पिघला हुआ तप्त लोहा मुंह में डालते हैं। आंखों में अग्नि की चिनगारी रख देते हैं। उनकी नाक खड़ा करके आरे से चीरने लगते हैं। भालों पर रखकर उसे ले जाते हैं। हाथी के पैरों में बांधकर कष्ट देते हैं। सिंह के समूह को उसके ऊपर छोड़ देते हैं। बड़ी-बड़ी मक्खियों से उसे कटवाते हैं। इस प्रकार अगणित, अकथनीय कष्ट उसे देते हैं। फिर भी उनका मन तृप्त नहीं होता। जिस प्रकार विवाह में हल्दी लगाते हैं उसी प्रकार दुःखदायी लेप लगाते हैं। जैसे कंघे से बाल निकाले जाते हैं उसी प्रकार कष्टदायक कंघों से उसका सिर फाड़ देते हैं। नाखूनों को पकड़ कर खींच कर निकाल देते हैं। उसी प्रकार उसकी जंघाको पकड़ कर निचोड़ते हैं। जैसे छोटी-छोटी लकड़ी को पकड़ कर तोड़ते हैं, उसी प्रकार नारकी जीवों को तोड़ते हैं। साड़ी के समान उनको निचोड़ते हैं। जिस प्रकार कपड़े को धोने के लिए पत्थर पर पछाड़ते हैं, उसी प्रकार उन्हें भी पत्थर पर पटक कर मारते हैं। जिस प्रकार किसी कोमल पत्ते को तोड़ा जाता है उसी प्रकार नारकी एक दूसरे का शरीर तोड़ कर रख देते हैं। कपाल का चमड़ा निकाल देते हैं। तप्त लोहेके कुण्डल पहना देते हैं, मल्लके समान उन्हें आपसमें लड़ा देते हैं। उन्हें चुटकियों से मसल कर मार देते हैं। काजल के समान आंख में दुखदायी

रस टपका कर पीड़ा पहुंचाते हैं। ताम्बूल ऐसा खिलाते हैं जिससे उसका गला कट जाता है। दर्जी के समान उसके शरीर की सिलाई करते हैं। लुहार की तरह देह को तपा कर पीटते हैं। बढ़ई के समान शरीर छीलते हैं। धोबी के समान पछीटते हैं। किसानके समान उन पर हल चलाया जाता है। पत्थर की खुदाई के समान करीर से शरीर की खुदाई करते हैं। लेखक के समान तीक्ष्ण धार वाली लेखनी से उसके ऊपर लिखते हैं। चाण्डाल के समान उनके शरीर का चर्म निकालते हैं। कुत्ते के समान मांस नोचते हैं। सांडों के समान परस्पर भिड़ाते हैं। राक्षस के समान एक-दूसरे को निगल जाते हैं। वे परस्पर युद्ध करते हैं। दिन-रात लड़ाते हैं। जोंक के समान परस्पर रक्त पी जाते हैं। मांसाहारी के समान परस्पर मांस खा जाते हैं। गीदड़ की तरह कलेजा निकाल लेते हैं। खटमल की तरह खून पीते हैं। शेर की तरह गले को फाड़ कर खा जाते हैं। सूअरों की तरह मार डालते हैं। गठरी समान उन्हें बांध कर रख देते हैं। खूंटे से बांधकर मारते हैं। बिच्छू की तरह काटते हैं। जिससे बड़ी वेदना होती है। मुर्गी के समान शरीर को कुरेदते हैं। बिजली के समान आवाज करके उन्हें डराते हैं।

अल्ललिगे तेळोळिग-
ळल्ललिगे कूरितप्प कंटकतति म-
नल्ललिगे तीव्रायुध-
मल्ललिगे परियुतिर्पिरु पेय नोंडल् ॥७३॥

अर्थ—जहां जहां वह जीव जाता है वहां वहां बिच्छू बना कर उसे काटते हैं। जहां दौड़ता है वहां नौकीले हथियार गाढ़ देते हैं। और चारों ओर कांटे बिछा देते हैं। जिस प्रकार सारे शरीर पर चीटियां काटती है उसी प्रकार उसे काटते हैं।

अल्लल्लिगे कोलगिच्चुग-
लल्लल्लिगे पत्तिकडित्त तुंबिगळु म-
त्तल्लल्लिगे मुल्वट्टेग
लल्लल्लिगे सुत्तिमुत्ति तिंबं कडंदुरि ॥७४॥

अर्थ—चारों ओर अग्नि लगा देते हैं। शरीर पर शहद की मक्खी काटने को छोड़

देते हैं, जिससे अपार वेदना होती है। नारकी उसके चारों ओर कांटोंकी बाढ़ लगा करके उसे खा डालते हैं।

अल्लल्लिग सुण्णद पोण-
लल्लल्लिगे राशिगेयूव केंडंगळं।
रात्तल्लिगे तीव्रायुध-
मल्लल्लिगे परिव लोहनरकदोळेल्लं ॥७५॥

अर्थ—वहां तीव्र चूने का पानी रहता है, चारों ओर अग्नि के अलाव जलते रहते हैं। जहां-तहां तीव्र आयुध पड़े रहते हैं, जिन पर इसे बलपूर्वक चलाते हैं।

मत्तं पातकजीवंगळ् एळ्ळिळनंते गाणक्के वंदु, कळ्ळरंते शूलक्केवंदु पुळ्ळिळयंते किच्चिंगे वन्दु, कबोन्नदंते, ईर्कुळिगेवंदु, कब्बिनंते, कडिहक्के-वन्दु, द्रोहियंते दंडनेगेवन्दु, लोभियंते निग्रहक्केवन्दु; कुसुरियन्ते कट्टिगेवन्दु; पुल्लंते सूडिगेवन्दु; कुंवारन मण्णिनंते मिदिहक्केवन्दु धान्यदंते हगेवक्केवंदु; नारंतो होसेक्केवंदु; मोलंनंतो वडिहक्केवन्दु; मुडियंतो मुरिहक्केवन्दु; एलेयंत-रिहक्केवन्दु; तप्तमांसदन्तो कुदिवेणगेवंदु; मडिसीरियन्तो गट्टणगेवन्दु; मैलगेयंतो गेहक्के वन्दु; हक्कलंतो बडिहक्के वंदु, मुयूविल्लदोक्कलंतो बडुगुलिगे वंदु; बेडनंतोडिगे वंदु। (बिलुगारनंतो बेट्टेरिगेंवंदु) तिर्रनेतिरिवुमिंतु ॥७६॥

अर्थ—वहां पातकी जीवों को घानी में तिल के समान पेरते हैं। चोरों के समान उन्हें शूलारोपित करते हैं। उनके शरीर पर अग्निकी चिनगारियां छोड़ते हैं, जिससे उन्हें अपार वेदना होती है। अग्नि से तपा करके लोहे की चद्दर उन्हें उढ़ा देते हैं, हाथ में तप्त लोहे के दस्ताने पहनाते हैं। पिछले जन्म में जो कुकर्म किए हैं, उनको याद दिलाते हैं और पीड़ा पहुँचाते हैं। लकड़ी के चित्रों की तरह तपे हुए लोह से उनके शरीर को चित्रित करते हैं। तप्त लोहे के कड़े हाथों में पहना देते हैं। घास को ढेरी के समान उनको बांधकर गट्ठर बना देते हैं। जिस प्रकार कुम्हार मिट्टीमें पानी डालकरके उसको मसलता है, उसी प्रकार उन्हें पैरों से रौंदते हैं। जिस प्रकार तलघर में धान्य को बन्द करके रख देते हैं उसी प्रकार

उन्हें मिट्टी में दबा देते हैं । सन की रस्सी के समान उन्हें बंटते हैं । जिस प्रकार बाज चिड़ियों पर झपट्टा मारता है, उसी प्रकार नरक में नारकी एक दूसरे पर झपट्टा मार कर बहुत दुःख पहुँचाते हैं । उन्हें कस कर बांधा जाता है, तप्त खौलते हुए तैल में डाल देते हैं ।उनको तपे हुए लोहे के स्तम्भों का आलिंगन करने पर विवश करते हैं । जिससे बड़ी वेदना होती है ।

केलकेलवु नाय्गळुर्कि-
तोलगदे पाय्दगिदु तेगेदु तिनेयु मत्तं
केलकेलवु नायगलोमेंये
मलेदिर्रने पोय्दु कच्चितिने बेर्गरुळं ॥७७॥

अर्थ—कहीं कहीं कुत्तों के समूह को इन पर छोड़ देते हैं और वे दौड़ते हुए उनको नोंच नोंच कर खाते हैं । वे उनको टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं ।

पिरिदप्पेरेयं कोरळोळ्
मरविन्द कट्टि कोलगसरोळ् नि- ।
प्टुरदिक्कि मेट्टि पुळगळ्
करमेल्लेडे परि वगिदुतिने मेय्यडगं ॥७८॥

अर्थ—गले में तप्त लोहे के आभूषण पहना देते हैं । उनके साथ साथ ही काटने वाली मक्खी आदि विषाक्त जन्तुओं को छोड़ देते हैं । जो उन्हें निरन्तर काटते रहते हैं । इसी प्रकार उनके हाथ-पैर बांधकर नानाविध कष्ट दिए जाते हैं ।

पोरमट्टु सुळियं पक्किग-
करेयट्टि मिगे तगुळ्दु वज्रतुंडदिनोरं ।
तिरियं बिडदल्लिगल्लिगे
मरुगुत्तुं बेंदु नोंदु पेळरुत्तिर्पर् ॥७९॥

अर्थ—जब इन दुःखोंसे कुछ छुटकारा मिलता है तब उसे चारों ओरसे पक्षी घेर लेते हैं उनकी चोंच वज्र के समान कठोर होती है । वे पक्षी अपनी वज्र चंचुओं से उसे काटते हैं, उनका विदारण करते हैं । तब वेदना के मारे वह इधर-उधर दौड़ता है । चिल्लाता

है। किन्तु वे पक्षी उसे फिर भी नहीं छोड़ते।

मत्तं ग्रहदन्ते पुय्यलिडुवर्, तुम्बीयन्तारडिगोळ्वर्, कोलपट्टरं ताळरु-वर्, न्यायमिल्लद नूरंते मोरेयिडुवर्, तुळुनाड सत्तमनेयंते पलयिसुवर्, कुत्तंबडेदरंते बीळ्वर्, वडगोंदेयंते दडदडिसुवर्, पाविनंते पोरळ्वर्, नोंद करडियंते मेल्वाय्वर्, पुणसुडिसिकोळ्वरंते मिडुमिडुमिडुकुवर्, बडिवेत्तरंते सुय्वर्, केट्टोक्कलंते निललारदे नडुगुवर्, कंपवातरोगिगळंते कंपिसुवर् तोव्वरंते रसिगेसुरिवर्, पेळवरंनेळ लारेवंवर्, इंतु नरकदोळावेडेयोळ् नोरपंड ॥८०॥

अर्थ—पुनः पिशाच के समान उनके पीछे लग जाते हैं। भ्रमर की तरह उनको काटते हैं। हमेशा उन्हें दुःख के कारण आंसू बहाने पड़ते हैं और उन्हें हिलकी आती रहती है। वह भी वेदना से कराहता रहता है। सर्प के समान वह रेंग रेंग कर चलता है। रीछ बन कर उसे दुःख देते हैं, कम्पवायु से पीडित के समान कांपता रहता है। शरीर से मवाद बहती है। नरकमें नारकी की वेदनाओं का सुनने वाला कोई नहीं होता। प्रत्येक जीव को वहां दुःख अकेले ही भोगना पड़ता है।

एंदवधितीर्गुमदुती
वंदुवरं माणदेल्लियुं पापिगळं।
कुंददे नारककरीविध-
दिंदं बाधिसुतुमिर्परिरुळुं पगलुं ॥८१॥
तोरेयंदु सारे मायद-
तोरगळ्कापूदेणेयागि पत्तिसुडाळ्मे।
यूयरियदे कर्बुनर्देतिरे नेरे-
बेयूयुत्तितु मरुगुवर, पलवुदिनं ॥८२॥

अर्थ—इस प्रकार अज्ञानी, मोहग्रस्त जीव संसार के विषय-कषायों में मोहित होकर संसार में पाप का संचय करते हैं। इन्हीं पापों के कारण नरक में जाकर तीव्र वेदना को सहन करना पड़ता है। वे नारकी तीव्र क्रोध कषायी होने के कारण इस जीव को बड़ा

दुःख देते हैं । वहां रात दिन का कोई भेद नहीं होता । वहां नदी में तरंगें उठती दीखती हैं, किन्तु वे मायामयी होती हैं और वास्तव में उनका अस्तित्व नहीं होता । पानी वहां का इतना उष्ण होता है कि छूने पर फफोले उभरते हैं । नरकों की पृथ्वी बहुत गर्म होती है जिस पर लोहे का गोला तत्काल पिघल जाता है । नीचे के नरकों में शीत बहुत भारी होता है ।

वन मेंदु पेर्दि मायद्
वनमेंदु पोगलीयदंबिन सरियं ।
घनमागि सुरिये दुःखदि-
नेनितांनुकालमिर्परोयोयेनु तु ॥८३॥

मरनेंदु पोगि सार्वुदु-
मुरिगळ नालगेगळंते मरदेलेयेल्लं ।
पिरिदप्प तेळरूर्पी
दरयट्टि मुट्टि कडिवुवु मुलिसिं ॥८४॥

अर्थ—नरक में छायादार पेड़ों के वन दिखाई देते हैं । किन्तु जब शीतल छाया की प्राप्तिके लिए वहां कोई नारकी जाता है तो उसके ऊपर पत्ता गिरते ही इतना कष्ट होता है कि मानो, उस पर अस्त्रों की वर्षा हो रही हो । वह मन में विचार करता है, कि इस वृक्ष के नीचे मुझे शान्ति और छाया मिलेगी किन्तु उसके पत्तों के स्पर्श मात्र से उसकी काया खण्ड-खण्ड हो जाती है ।

मत्तं इलिय बेक्किन, पुलिय पुल्लेय, तळारन कळ्ळन, नविलपाविन, सिंगदानेय, नायमोलद, कुदुरेय कोपन [मुळिसिं] नाय् नायोळ्, कोणं कोणनोळ् कोळि कोळियोळ्, आने आनेयोळ् मूर्ख, मूर्खनोळ्, तगर तगरोळ्, मल्लरमल्लरोळ्, तागुवंते किच्चु किडियुमागि, [तंतम्मोळ् तागि-दुःखं बडुवरेंदु नरकदोळद महादुःखमं भाविसि ॥८५॥

अर्थ—नरक में निरन्तर भयानक दृश्य देखने को मिलता है । जिससे उस जीव को

भयंकर त्रास होता है । वहां चूहा और बिल्ली, सिंह और हरिण, कोतवाल और चोर, मोर तथा सांप, हाथी और सिंह, कुत्ते और खरगोश तथा कुत्ते और कुत्ते, भैंसा और भैंसा, मुर्गा और मुर्गा, हाथी और हाथी, मूर्ख और मूर्ख; जाति-विरोधी जीवों के समान नारकी आपस में लड़ते रहते हैं । युद्ध के समय आपस में दांत किट-किट करते हैं ।

आदुःखदेडेगे भाविपो
डीदुःखं पिरिदे कर्मवशंदि दार्नि ।
तादें केळनगिं जिन-
पादमे शरणेंदु कन्ने निश्चियिसुत्तुं ॥८६॥

अर्थ—इस प्रकार विचार करती हुई अनन्तमती ने वन के उन भयानक कष्टों की कोई परवाह नहीं की । और विचार करने लगी कि यह सब मेरे पूर्वजन्म के किये हुए कर्मों का फल है । उन्हें सहना ही पड़ेगा । यदि मुझे इन कर्मों को काटना है तो मेरे लिए केवल जिनेन्द्र भगवान् के चरण ही शरण हैं । इस प्रकार वह जिनेन्द्र के चरणों का ध्यान करती है तथा अपने मन में निर्भयता अनुभव करती है ।

करि वनमं मदाळि वनजाकरमं शिशु तायनोळ्द गं-
डरनबलाजनं नेनेव मार्गदि निन्द्रनरेन्द्र वंद्यनं
परमजिनेन्द्रनं नेनेयुतुं जिनपुजेयनागळुं सवि-
स्तरदोळ् केळि भाविसिते माडुते जैनगुणास्तवंगळं ॥८७॥

अर्थ—जिस प्रकार मदोन्मत्त हाथी अपने समूह की रक्षा करता है, जिस प्रकार माता अपने शिशु की रक्षा करती है, जिस प्रकार बलवान् राजा अपनी प्रजा की रक्षा करता है, उसी प्रकार नरेन्द्र-इन्द्रों द्वारा वन्दनीय परमजिनेन्द्र देव का स्मरण करती हुई वह अनन्तमती अपने शील की रक्षा कर रही है ।

अंतिर्पन्नेगं ॥८८॥

करिघेटेयु मृगेन्द्रततियुं पुलिविंडुगळुं मृगुंगळुं
शरभसमूहमुं हरि विरोधिगलुं फणियुं नविळ्गळुं

पुरुडिपकागेयुं नलिव कोगिलेयुं तोरदेट्टु वैरमं
नेरेदोडनिर्दवंबुरुहलोचनेयिर्द वनान्तराळदोळ् ॥८९॥

अर्थ–जिस वनप्रान्त में अनन्तमती भगवान् जिनेन्द्रदेव का ध्यान करती हुई बैठी थी, उस स्थान में उसके चारों ओर हाथियों की घटाएं, सिंहों के झुण्ड, बाघों, हिरणों के समूह सर्प और मयूर, कोकिल और कौवा जो परस्पर विरोध रखने वाले जीव थे, सभी अपना विरोध भूलकर उसके चारों ओर घिर कर बैठ गये। वे वहां नाना प्रकार से अपना विनोद करने लगे, मानो वे इस प्रकार उस सती बाला को भी अपने आनन्द में सम्मिलित होने अथवा भयभीत न होने का संकेत करने लगे।

अंतु, पगेकेळेयिल्लदेल्ला मृगंगळु मित्रत्वदोळिरे, वनदोळ् शान्तिरस-मेसेये, कुमारिरियिर्पुदुं, शंखपुरदोलोर्व वनचरनुं बेडितियुं ॥९०॥

अर्थ–स्वभावसे परस्पर वैर रखने वाले ये जीव आपसकी शत्रुताको भूल करके मित्रता धारण कर अनन्तमतीको घेर कर बैठ गये। उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा कि मानो, यह कोई वनदेवता है। मानो, अनन्तमती का पवित्र हृदय ही प्रवाहित होकर उनमें तरंगित होने लगा हो। उसके हृदय का शान्तरस ही उन वन्य पशुओं को अभिभूत करने लगा हो। इस प्रकार वह अनन्तमती जहां ध्यानस्थ बैठी थी, वहां शंखपुर नगर का एक भील आकर—

पोलकागि वरुतुमोमेंये
ललितांगियनोर्वे कंडु देवते नम्मं।
तोलगिदोडे पिडिदु कोळ्गे
देले मिडुकदे निंदु पोर्दि बंदादरदिं ॥९१॥

अर्थ–अनन्तमती को देखने लगा। देखकर उसके मन में आया कि यह कोई वनदेवी है। अनन्तमती के रूप और उसके हाव-भाव को देखकर वह विस्मय से अभिभूत हो गया, पश्चात् उसके पास आकर–

तम्म पोत्तुतंदिप्पेय पुवुमुं बेलद पण्णुमं कन्नेयमुंदे,
पोयदु पोडेमट्टु पोगि तम्मालदनप्प बेडरसंगे।

देवते बंदु भीमवनदोळिर्दलल्लिगे पोगि निम्म-
बेम्म वरमं बेडिकोळ्ळिमेंदु बिन्नपंगेय्वुदुं ॥६२॥

अर्थ—वन में लगे हुए नाना प्रकार के स्वादिष्ट फलों को उसने विनय-पूर्वक अनन्तमती के चरणों के पास लाकर रख दिया। वहां से वह अपने भीलराज के पास गया और निवेदन किया कि महाराज! सौभाग्यसे वनमें आज एक वनदेवता पधारी हैं। यदि आप वहां जाकर विनम्र भाव से नमस्कार करेंगे तो वह आपकी सम्पूर्ण मनोकामना पूर्ण करेंगी।

बेडरसं केळ्दागळे
नीडिल्लदे तद्वनक्के बंदा सतियं।
नोडियेमेयिक्कुवुदरिं
नोडेयुमीवनिते देवकन्निकेयल्लं ॥६३॥

अर्थ—भीम नामक उस भील की यह बात सुन कर भीलराज शीघ्र ही वहां पर आया और उस अनिन्द्य सुन्दरी अनंतमती को देखकर मन में विचार करने लगा कि यह वनदेवता या देवकन्या नहीं है, यह तो कोई मानुषी है। इसी लोक की स्त्री है। वह भीलराजा पुत्री रूप से उसको अपने घर ले गया।

एंदेरेयुं मिळियेयुं नोडि तानाकेगासक्तनागिकन्नेयनरमने गोडगोंडु
पोगि तन्नमहिमेयं सिरियुमं तोरि मेल्लने ॥६४॥×

अर्थ—वह भीलराज अनन्तमती के सुन्दर रूप पर मोहित हो गया। उसने अपना विविध प्रकार का ऐश्वर्य खूब बढ़ा चढ़ा कर अनन्तमती को बतलाया। उसने अपनी प्रत्येक चेष्टा से अनन्तमती को अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया। वह उस कुत्ते के समान चेष्टा करने लगा जो किसी के पास भोजन देख कर अधीर होता हुआ कपड़ा फाड़ने लगे।

निन्नंते नोंत सतिया
रेन्नंतप्प प्रतापियं पडेदै रू-।

× अन्तुपशांतरसमेसेये कन्ने यिपिदुं भीमनेंब किरातनायकं
कंडु तन्न पुरक्क कोंडुपोगि तन्न महिमेयं तोरि (ग)

पोन्नतियिनेनुते माणदे-
तन्नल्लिगे करेवुदुं तळोदरि मनदोळ् ॥६५॥

अर्थ—वह भीलराज कहने लगा कि हे देवि, तुमने अपने पूर्व जन्म के पुण्ययोग से रूप, यौवन और अनुपम सौन्दर्य प्राप्त किया है। मेरे जैसा प्रतापशाली राजा भी तुम्हें किसी पूर्व जन्म के पुण्योदय से ही मिला है। मैं तुम्हें यहां अपनी पुत्री मानकर नहीं लाया और न तुम्हें अपनी किसी आपत्ति का निवारण करने के लिए ही लाया हूँ। मैं तो तुम्हें अपनी पट्टरानी बनाने के लिए ही लाया हूँ। मैं तुम्हें अपनी मुख्यरानी बनाना चाहता हूं।

वेरगागि चिंत्तेयिं बा-
यूवबर वत्तुत्तु मोत्रो कोंडी व्रतमं।
तोरेवुदरिं सावुदु कर-
मुरुवुदु चिःकष्टमेंदु निश्चलमतियिं ॥६६॥

अर्थ—(अनन्तमती ने भीलराज से जब ऐसी बातें सुनीं तो विचार करने लगी कि यह तो निरा स्त्री-लम्पट कामी अधम नर है। इस कामी से किस प्रकार अपने शील की रक्षा करूं। मैं इसके साथ इसी लिये आई थी कि यह पिता के समान मेरी रक्षा करेगा और मैं निर्भय होकर अपने शीलव्रत का पालन कर सकूंगी। किन्तु मेरा विचार असत्य निकला। विषयान्ध मनुष्य को कुछ विवेक नहीं रहता। वह उचित-अनुचित को नहीं पहचानता। धर्म अधर्म का भान उसे नहीं होता। वह अपने रूप यौवन धन-सम्पदा का ही बखान कर रहा है और मुझे उसी प्रलोभन में फंसा कर धर्मच्युत करना चाहता है। अतः मुझे सावधान रहकर अपने शीलधर्म की रक्षा करनी है।)

वह सोचती है कि यह बलवान् है, राजा है, पुरुष होने से शारीरिक बलमें भी मुझ से अधिक है। किन्तु मैं भी दुर्बल नहीं हूं। मेरे पास भी अपने शीलव्रत का बल है। मैं ने गुरु से जो व्रत लिया है। उसका पालन मैं प्राण देकर भी करूंगी। किसी प्रकार भी अपने व्रत को आंच नहीं आने दूंगी। क्योंकि व्रत लेकर तोड़ना अत्यन्त निन्दनीय है। यह शरीर तो फिर भी मिल सकता है किन्तु व्रत का फिर मिलना दुर्लभ है। इसके लिए व्रत सहित यदि प्राण भी देने पड़ें, तो उत्तम है। किन्तु व्रत भंग करके क्षण भर भी जीना श्रेष्ठ नहीं। क्योंकि व्रतभंग मे तो कल्याण का मार्ग बन्द हो जावेगा।

यह विचार कर उसने मौन धारण कर लिया और राजा के अनेक प्रश्न करने पर भी न उसने कोई उत्तर दिया, न कोई और बातचीत की।

मौनंगोंडु [पंचनमस्कारमं जपिसुत्तु मुसिरदिर्पुदुं, किरातराजनेनि-तानुं तेरदिंदोडं बडिसलारदे मुनिदु किडिकिडियागि मीसेयं कडिदु×॥६७॥+

अर्थ- अनन्तमती मौनपूर्वक एकाग्रचित्त से पंचनमस्कार मन्त्र का ध्यान करने लगी। वह चिन्तन करने लगी कि यह पंच-नमस्कार मन्त्र ही संसार के कष्टों से मुक्ति दिलाने वाला है। इसी मन्त्र की शरण ग्रहण करने से अनन्त महापुरुषों ने मुक्ति प्राप्त की है, यह मन्त्र अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और लोक के सर्व साधु, इन पंच परमेष्ठियों के नमस्कार रूप है। इसकी महिमा अपार है।

एसो पंच णमोयारो सर्वपापप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं होइ मंगलं॥

अर्थात् यह पंच नमस्कार मन्त्र सम्पूर्ण पापों का नाश करने वाला है और सब मंगलों में श्रेष्ठ मंगल है।

यह मन्त्र स्वयं भी मंगलरूप है और संसार को मंगल प्रदान करने वाला है। इसके स्मरणमात्र से अनेकों का मंगल होता है। इसने अनेकों का कल्याण किया है, अतः यह मेरा भी कल्याण करेगा और मुझे अपने धर्म पालन की शक्ति प्रदान करेगा, ऐसा विचार कर वह अत्यन्त श्रद्धानपूर्वक इस मन्त्र का ध्यान करने लगी।

कुसेम्बुदु तप्पदुनि-
न्ना सेयोळां निनगे सकलराज्यश्रीयं।
लेसागि माडदिर्दोडे
देसिगतनदिं दे नमेवुदोंदने बगेत्रो ॥६८॥

एंदु मसगि बडे दोर्मेये निनगे मुनिवनल्लिदिनिरुळिनि, लगे निन्नमनमं सैंतुमाडु माडदोडरंटु तममं माडिदे। यप्पोडे निनगे तक्क त्रिधियं नाळे माळ्पेनेंदु वळ्गापं, पेळ्दु पोदनन्ने गमित्तल् कुवरि ॥६९॥

× इर्दलिपुंदु (ग)

+ एंदु पलवुदिवसमोडं बडिसलारदे किर्निसिमीसयं कडिदु नाले निन्नं देसेवलिगेय्दल्लदे माणेनेंदु बल्गापं पेलदु पोपुदुं ॥ (ग)

अर्थ—तत्पश्चात् भीलराज कहने लगा कि तुम मेरे अनुनय तथा आग्रह को स्वीकार नहीं कर रही हो ! अच्छी बात है, कल देखूंगा। तुमको मेरे पौरुष और प्रतापका अभी पता नहीं है । आज तक मेरी आज्ञाका उल्लंघन किसीने भी करनेका दुस्साहस नहीं किया । किन्तु तुमने मेरी प्रार्थनाको ठुकराया है । यह मेरे जीवन में पहली घटना है । जिसको सारे राजा नमस्कार करते हैं उसके पट्टरानी पद को तुमने अस्वीकार कर दिया है । अच्छा यदि तुमने मेरी आज्ञाका पालन नहीं किया तो तुम्हें जीवन पर्यन्त कष्ट भोगना पड़ेगा । मैंने जो तुम्हें समय दिया है इसमें तुम निश्चय कर लो कि तुम मेरी बात स्वीकार करती हो या नहीं। सब राजा मेरे पराक्रमसे कांपते हैं । यदि तुम सहमत नहीं हुई तो मैं देखूंगा कि तुम्हें मेरी इच्छापूर्ति करने से कौन बचाता है ? इस प्रकार कह कर वह किरातराज क्रोध के आवेग से अपनी मूछें चबाने लगा और पैर पटक कर वहां से चला गया ।

पिडिदी व्रतमं ना सा-
वोडे सावं विडुवेनल्लवेंदोडे मूर्खं ।
मडिपदे माणं बलपिं
पिडिवें जिनपदमनिदुवे कज्जं पेरतें ॥१००॥

अर्थ–इधर अनन्तमती इस बात को सुनकर मन में जरा भी शंकित या भयभीत नहीं हुई, वह विचारने लगी कि मैंने जो शीलव्रत लिया है उसे प्राण त्याग करने पर भी नहीं छोड़ूंगी । प्राण चले जाने पर दूसरे भवमें पुनः मिल जाएंगे किन्तु धर्म जाने पर अन्य भवमें नहीं मिलेगा यह दुष्ट मुझे जो कल की धमकी दे गया है, कल भी मेरा क्या बिगाड़ सकेगा। जब कि मैं भगवान् जिनेन्द्र देव की शरण में हूं । भगवान् ही मुझे संकटों से पार लगावेंगे ।

एंदालोचिसि कळयबारदुपसर्गमिदु पिंगुविनमाहारशरीरनिवृत्तियेंदु परिच्छेदिसिर्पुदु यक्षिगासनकम्पमागे बंदु कन्नेय मनमं नोडलेंदु किरातराजनरुपुगोंडु ॥१०१॥

अर्थ–अनन्तमतीने यह संकल्प कर लिया, कि जब तक यह उपसर्ग दूर नहीं होगा तब तक के लिए मेरे चारों प्रकार के आहार का त्याग है । इस प्रकार विचार कर उसने आहार त्याग कर दिया ।

उस ओर भीलराज ने अपने एक कर्मचारी को आदेश दिया कि जब तक यह लड़की

मेरी बात को स्वीकार न करे तब तक उसको नाना प्रकार के कष्ट दो। वह कर्मचारी भीलराज की आज्ञा पाकर उसके निकट आया और उसको समझाने लगा। किन्तु जब अनन्तमती ने उसकी बात नहीं मानी तो वह उस सती पर अनेक प्रकार के उपसर्ग करने लगा और अनेक तरह की यातनाएँ देने लगा।

जिस समय वह यातना दे रहा था, उस समय भी वह अनन्तमती भयभीत नहीं हुई। उसकी व्रत-निष्ठा तथा शीलरक्षा की अविचल भावना के कारण उस वन की यक्षिणी का आसन कम्पित हुआ। और वह भीलराज का रूप धारण करके उसके सामने प्रकट हुई। वह उसकी परीक्षा के लिए किरातराज का वेष धारण किये थी और उसके समक्ष अब किरातराज के बल विक्रम और वैभव का वर्णन करने लगी। बार-बार वह अनन्तमती से अपनी टेक (जिद) छोड़ने का आग्रह करने लगी। किन्तु किरातराज-वेषधारिणी यक्षिणी जैसे-जैसे उसे विचलित करने का प्रयत्न करने लगी अनन्तमती की श्रद्धा भगवान् जिनेन्द्रके चरणों में अधिक होने लगी। अपने व्रत पालन के लिए वह और अधिक दृढ़ होती गई।

वनरुहमुखियल्लिगे तो
ट्टने पिरिद्प्पोंदु लीलेयिं बंदोडनि।
र्देनिवरुमोडनेसेदिरे त-
न्नने पोगळुतिर्पनं किरातं नुडिदं ॥१०२॥

अर्थ—उस किरातवेषधारिणी यक्षिणी ने कहा—हे सुन्दरि! तुमने क्यों मौन धारण किया है? मौन भंग करो और आंखें खोलो, अपना हठ छोड़ो। मुझसे आनन्दपूर्वक बात करो। किसी प्रकार का भय मत करो।

रतिरम्भे तिलोत्तमे भा-
रतियंबिवर दोरेगे मिगिलेनिसिदेम।
रसतियर्प लरिर्द्परु-
न्नतियिंदं नंबेयपोडं नीनिवरं ॥१०३॥

अर्थ—हे रति, हे रम्भे, हे तिलोत्तमे, हे भारती! मेरा मनहरण करने वाली, मेरे अनेक स्त्रियां हैं किन्तु तुम्हारे समान एक भी नहीं है। तुम मेरी पट्टरानी बन कर मेरे साथ आनन्द के साथ रहो। विहार करो और मेरे साथ सुखपूर्वक भोग-विलास करो।

[नोडेंदु तन्न कृतकदिं पडेदोळ्पँडिरं तोरि मत्तं] ॥१०४॥

अर्थ—इस प्रकार बहुत अनुनय-विनय करने पर भी उसने अपनी आंखें नहीं खोलीं। तब किरातवेषिणी यक्षी ने अनेक उत्तम स्त्रियों को बना कर उसे दिखाया और कहा कि हे सुमुखि ! ये सभी उत्तम स्त्रियां तुम्हारी सेवा करेंगी। तू इनके ऊपर शासन करेगी। अब तू संकोच त्याग दे। यह यौवन और सौन्दर्य वार-वार प्राप्त नहीं होता। इसका सदुपयोग कर और मेरे साथ मनमाने भोगों का भोग कर।

रूपिल्ले नगिन्नें बोडे
रूपिं प्रत्यक्ष कामदेवने नानिं ।
चापलनयने मनोहर
रूपे मनोमुददिनेन्न रूपं नोडा ॥१०५॥

अर्थ—हे मामिनि, हे सुन्दरि ! तू समझती होगी कि मैं रूपमें तुमसे हीन हूं। किन्तु ऐसी बात नहीं है, तू आंख खोलकर देख, कामदेव को तिरस्कार करने वाला मेरा रूप है। तू अपने रूप और यौवन को सार्थक कर। संकोच और चिन्ता में इसका नाश न कर। हे सुन्दरि ! नीति कहती है कि—

जानासि हि यथा भीरु स्त्रीणां यौवनमध्रुवम् ।
यदतीतं पुनर्नेति स्रोतः स्रोतस्विनामिव ॥

अर्थ—हे भीरु, तुम तो जानती हो कि स्त्रियों का यह यौवन स्थिर नहीं होता। जिस प्रकार नदी का बहा हुआ पानी लौटकर नहीं आता, उसी प्रकार एक बार चले जाने पर यह यौवन भी फिर वापस नहीं आता।

एंदु तन्न विगुर्विसिद कामरूपं तोरि, सिरिवेरे मौनकाल नोट्टिदरें-वतेंलमरूळे भाविपोडेन्नोळाव]+कोरते यागिदु दंतिं तेन्न देनगोडं वड्डुवुदेंबुदु, मनंतमति तन्नोळ॥१०६॥

किन्तु अनन्तमती फिर भी विचलित नहीं हुई। वह अपने शील व्रत की रक्षा करने के

+ तुरगदलंगल नायगल नेरविय नाभरणनिकरमं करिघटेयं परवस्त्रनिचयमं पंकुरहानने निन्न कण्तणिविनेगं योविडुगलं मोले तोरे दावुगल पेल्केगेल्व तोल्तेर्कल सद्भाव मनेम्मेय पिंडं भाविसि नोडंबु जाक्षि चित्तोत्सवदि सिरियन्नोलाव कोरते ॥ (ग)

लिये दृढ़व्रत रहो। इस दृढ़ता से उस यक्षिणीने प्रसन्न होकर अपनी माया समेट ली और अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो गई। उधर सती अनन्तमती विचार करने लगी कि यह भीलराज जिस रूप, यौवन की बात कह रहा है, वह तो क्षणभंगुर है, इसके प्रलोभन में आकर अपने शील का त्याग करना कहां तक उचित है ? शील ही स्थायी है। मैं इसी की रक्षा करूँगी।

जिनपादभक्तियिंने-
ट्टने मोक्ष श्री लतांगि दोरे कोळूगेने-
मत्तिन सिरियुं गिरियुं ने-
ट्टने सुखमं गिरवमुमप्पु दावुदुगहनं ॥१०७॥

अर्थ–किन्तु अनन्तमती इस प्रकार के वचनों से भी विचलित नहीं हुई। वह अपने धर्म पर दृढ़ रही। इस प्रकार के उसके दृढ़ निश्चय को देखकर यक्षी प्रसन्न हुई और उसने अपनी माया-विक्रिया को समेट लिया। अनन्तमती की अटल श्रद्धा थी कि—

चला लक्ष्मीश्चलाः प्राणाश्चलं पर्वतमन्दिरम्।
चलाचले च संसारे धर्म एको हि निश्चलः॥

अर्थ—लक्ष्मी चंचल है, प्राण भी चंचल है। इस संसार में पर्वत तथा दृढ़ भवन भी अस्थिर हैं। किन्तु इस चलाचल संसार में एक धर्म ही ऐसा है, जो निश्चल है।

इस चंचल रूप यौवन के लिए, ऐश्वर्य के प्रलोभनके लिए अपने शाश्वत धर्म का नाश करना बुद्धिमानी नहीं है। ये वस्तुएं तो नष्ट हो जाने पर पुनः प्राप्त हो सकती हैं, किन्तु आत्मा के साथ रहने वाला आत्माका सखा धर्म यदि एक बार भी चला जाए तो फिर किसी प्रकार उसका पाना कठिन है। यदि ऐश्वर्य किसी को न मिले तो दीनस्थिति में होकर भी जिया जा सकता है किन्तु किसी को यदि धर्म न मिले तो उसका जीवन प्रशस्य नहीं माना जा सकता। धर्म तो मनुष्यमात्र का भूषण है, उसका धारण तो करना ही चाहिए। यह शील जो मुझे मिला है उसकी रक्षा करना ही मेरा धर्म है। कहा भी है कि—

हरति कुलकलंकं लुम्पते पापपंकं सुकृतमुपचिनोति श्लाघ्यतामातनोति।
नमयति सुरवर्गं हन्ति दुर्गोपसर्गं रचयति शुचिशीलं स्वर्गमोक्षं सलीलम्॥

अर्थात् धारण किया हुवा पवित्र शीलव्रत कुल के कलंक को मिटाता है, पापरूप पंक

(कीचड़) को धो देता है, पुण्य का संचय करता है। संसार में प्रशंसा कराता है, देवों को भी अपने चरणों झुका देता है, तथा स्वर्ग और मोक्ष में सरलता से पहुँचा देता है।

संसार में ब्रह्मचर्य की महिमा अपार है। इसके समान किसी अन्य व्रत की महिमा नहीं है। ब्रह्मचारी वज्र के समान कठोर और दीर्घजीवी होता है। उसको कभी विकार या रोग स्पर्श भी नहीं कर सकते। अनन्तमती इस तरह विचार करके अपने शीलव्रत की रक्षा करने में सावधान रही।

एंदु शुभभावनेयिंदवर मेलेल्लनिमप्पमनमिल्लदे पंचपदंगळं नेनेयुत्तुं
मरुमातुगुडदिर्पुदिं यक्षिं + मेच्चि तन्न दिव्यस्वरूपमं तोरु ॥१०८॥

अर्थ—इस प्रकार अनन्तमती निरन्तर अपने मन में धर्म की, शीलरक्षण की भावना करती रही, किसी प्रकार के उस प्रलोभन में उसने अपने को नहीं फंसने दिया। उसकी भावना क्षण-क्षण पर अधिक दृढ़ हो रही थी। उस यक्षी ने तब अनन्तमती की परीक्षा समाप्त कर दी, उसको विश्वास हो गया कि यह कन्या भगवान् जिनेन्द्रदेव के चरणों में लीन है तो उसने अपना वह बनावटी भीलराज का रूप छोड़ दिया और अपना दिव्य रूप धारण करके उसके सामने प्रकट हो गई।

उसने प्रसन्न होकर कहा कि हे कल्याणि! अपनी आंखें खोलो, तुम्हारा सारा संकट दूर हो गया। अब तुम किसी प्रकार की भी चिन्ता न करो। अब कोई भी उपसर्ग तुम्हारे ऊपर नहीं रहा।

जिननाथ निष्टदैवं-
निनगं मत्तेनगमेंव कडुमोहदि नी-
वनचर निंदुपसर्गं
निनगादुद नरिदु पिंगिसल्वेडिकरं ॥१०९॥

अर्थ—भगवान् जिनेन्द्र के चरणकमलों में अपना मन लगाकर अनन्तमती विचार करती है कि कोई भी उपसर्ग मेरा किसी प्रकार का नुकसान नहीं कर सकता। वह यक्षिणी बार-बार उसे प्रबोध देती है कि तुम अपनी आंखें खोलो, जो उपसर्ग तुम्हारे ऊपर आया था वह दूर हो चुका है। इस प्रकार वह अनेक प्रकार से उसको समझाने लगी और उसके धैर्य को बढ़ाने लगी।

+मनदोलेल्लनितुमप्पोडमवरमेले कांक्षेयिल्लेदुं मुसिरदिरे यक्षि (ग)

बेगं बंदेनिदक्कजंबेडेंदु संतेसि पोगि मरे डोरगिद किरातराजन तलेयं पोयिद् बननंजिसळूवेडि रौद्ररूपं विगुरविसि तोरु ॥११०॥

अर्थ–यक्षी ने इस प्रकार उसे आश्वासन दिया कि तुम किसी प्रकार का भय न करो। मैं अभी उस दुष्ट किरातराज को देखती हूँ। ऐसा कह कर वह उस किरातराज के पास पहुँची और अपना रौद्र (भयानक) रूप धारण करके उसे भयभीत करने लगी। यक्षी की भयानक आकृति देखकर वह भीलराज भयाकुल होकर वहां से भाग गया।

आनप्पोडे देवतेयं
नीनरियदे कोर्वि चपळतनदिंदेन्नं।
मानिसेये गेत्तु नुडिदे
नानाविधदिं द् मादोडे नायूतिन्नु ॥१११॥

अर्थ–और भयभीत होकर अपने राजप्रासाद में जा छिपा। वह भय से कांपता हुआ मन में विचारने लगा कि यह कोई साधारण स्त्री नहीं है। मैंने इसे साधारण स्त्री समझ करके ही इसके साथ दुर्व्यवहार किया था। इसको अपशब्द कहे और सताया। लेकिन यह तो कोई देवी जान पड़ती है। न जाने, अब मेरी क्या दशा होगी? किस प्रकारका अभिशाप मुझे मिलेगा? इत्यादि विचार कर वह बहुत डर गया।

निन्न पोल्लमेयं कैकोळ्ळेवेन्नं नाळे पुजिसि पोडमट्टु निनूं निन्न परिजनमुं कान्तारमुं पोरमडिसि बेगमयोध्याध्यापुरद वट्टेयं तोरि मगुळ्वदल्ल-दंदु निनगे नीनेयरिवेयेंदु देवीय दृश्यमप्पुदुं बेर्चिया गळेच्चर्तु ॥११२॥❀

अर्थ–वह यक्ष देवता अनन्तमती का उपसर्ग दूर करने के उपरान्त अनन्तमती से कहने लगी कि तू मन में अब किसी प्रकार की चिन्ता मत कर। हे पुत्रि, बता, तुम्हें जाना कहां है? कल पूजा के पश्चात् तुम्हें जहां जाना है वहीं पहुँचा दूंगी। यह सुन कर अनन्तमती आश्वस्त हुई और बोली कि मुझे अयोध्या जाना है। उसी समय भीलराज ने भी आकर उसके चरणों में नमस्कार किया और उससे अपने अपराध क्षमा कराने के लिए प्रार्थना करने लगा। उस यक्षिणी देवी ने भी अनन्तमती की पूजा की।

❀ अणिदु मारिसल्कां बंदे, अंजदिरेंदु संतेसि मरेद पट्टर्द भीमनल्लिगे पोगी रौद्ररूपं तोरी। (ग)

भयर्दि कनसिल्लिदु नि-
श्चय मद्ळ्कळ्की नोडि मनेयोळ्तां शं- ।
केयिनागळ् परिजनमं
नयदि बेरवेळदु पेळदु बेळगादागळ् ॥११३॥

अर्थ—दूसरे दिन अनन्तमती की इच्छानुसार उस यक्षिणी ने उसे अयोध्या के मार्ग में पड़ने वाले भयानक जंगल को पार करा दिया और कहा कि तू इसी मार्ग से निर्विघ्न अयोध्या पहुँच जाएगी । ऐसा कहकर वह देवी अन्तर्धान हो गई ।

वंदु किरातराजना कन्नेय पादंगळं पलतेरदिं दर्चिसि बिजयंगैयूवुदेंदु कैमुगिदु पुल्वट्टेयिं पेरडवियिं पोरमडिसि किरिदुं दूरंपोगिइदे तोर्पुदयोध्यय बट्टेयंदु तोरि मगुळ्दु पोदनित्तलनंतमति बंदोंदु बसदियोळ् देवरं बंदिसुत्ति-पें न्नथमयोध्यापुरदिं पुष्पकनेंबोर्वं ॥११४॥

अर्थ—किरातराज रात भर चिन्ताकुल होकर सो नहीं सका । वह यही सोचता रहा कि यह मानवी नहीं थी वास्तव में देवी थी । मैं ने पहचानने में भूल की । कहीं वह पुनः आकर मुझे कष्ट न देने लगे, इस प्रकार उसे रात भर नींद नहीं आई । सूर्योदय होते ही वह उठा और सीधे उसी मार्ग पर, जिस पर अनन्तमती गई थी, जाकर भक्तिपूर्वक उसके निकट पहुँचा और उसकी पूजा की । तथा बार बार अपने अपराधों के लिए उससे क्षमा-याचना करने लगा । अनेक प्रकार के फल-फूल उसे समर्पण किये । साथ में आये हुए सभी भीलों ने भी उसे प्रणाम किया और बहुत दूर तक उसे अयोध्या के मार्ग पर पहुँचाने वे सभी गये । पश्चात् वहां से वापस लौटे ।

वरवैश्यनन्दनं वि-
स्तरदिं दं परदुवोप समकट्टिं ।
माणिद्रदे पिरिद्प्पतन्त्रं
बेरसु मनोमुददिनल्लि निंदादरदिं ॥११५॥

अर्थ—अनन्तमती अपने मार्ग पर चलती रही । चलते-चलते वह एक जिन-मन्दिर में पहुँची । उस वन में भगवान् का मन्दिर देखकर उसे बहुत प्रसन्नता हुई और उसमें दर्शन

करने के लिये गई। तीव्र भक्ति से प्रदक्षिणा करती हुई वह अपनी करुण-दशा पर प्रकाश डालती हुई भावपूर्ण स्तुति करने लगी जैसी श्री बा० वृन्दावनजी ने निम्नलिखित स्तुति में भाव व्यक्त किया है।

श्रीपति जिनवर करुणायतनं, दुखहरण तुम्हारा बाना है।
मत मेरी वार अबार करो, मोहि देहु विमल कल्याणा है।।

त्रैकालिक वस्तु प्रत्यक्ष लखो, तुम सों कछु बात न छाना है,
मेरे उर आरत जो वरतं, निहचं सब सो तुम जाना है।
अवलोक विथा मत मौन गहो, नहिं मेरा कहीं ठिकाना है,
हो राजीवलोचन शोच-विमोचन, मैं तुम सो हित ठाना है।।
श्रीपति जिनवर करुणायतनं, दुखहरण तुम्हारा बाना है०
सब ग्रन्थनि में निरग्रन्थिनने निरधार यही गणधार कही,
जिननायक हो सब लायक हैं, सुखदायक छायक ज्ञानमही।
यह बात हमारे कान परी तब आन तुम्हारी शरण गही,
क्यों मेरी वार विलम्ब करो, जिननाथ कहो वह बात सही।।
श्रीपति जिनवर करुणायतनं, दुखहरण तुम्हारा बाना है०
काहूको भोग मनोग करो, काहू को स्वर्गविमाना है,
काहूको नाग-नरेशपती, काहूको ऋद्धि-निधाना है।
जब मोपर क्यों न कृपा करते, यह क्या अन्धेर जमाना है,
इन्साफ करो मत देर करो, सुखवृन्द भरो भगवाना है।
श्रीपति जिनवर करुणायतनं दुखहरण तुम्हारा बाना है०।
खलकर्म मुझे हैरान किया, तब तुमको आन पुकारा है,
तुम ही समरत्थ न न्याय करो, तब बन्दे का क्या चारा है।
खल-घालक पालक बालक का, नृपनीति यही जग सारा है,
तुम नीतिनिपुन त्रैलोक्यपती, तुम ही लगि दौर हमारा है।।
श्रीपति जिनवर करुणायतनं, दुखहरण तुम्हारा बाना है।

जब से तुम से पहचान भई, तब से तुम को ही माना है,
तुमरे ही शासन का स्वामी, हमको सरना सरधाना है।

जिनको तुमरी शरनागत है, तिनसों यमराज डराना है,
यह सुजस तुम्हारे सांचे का, सब गावत वेद पुराना है ।।
श्रीपति जिनवर करुणायतनं दुखहरण तुम्हारा बाना है ।

जिसने तुम से दिलदर्द कहा, तिसका तुमने दुख हाना है,
अघ छोटा-मोटा नासि तुरत, सुख दिया तिन्हें मनमाना है ।
पावकसों शीतल नीर किया, और चीर बढ़ा असमाना है,
भोजन था जिसके पास नहीं, सो किया कुबेर समाना है ।।
श्रीपति जिनवर करुणायतनं दुखहरण तुम्हारा बाना है ।

चिन्तामन पारस कल्पतरू, सुखदायक ये परधाना है,
तव दासन के सब दास यही, हमने मन में ठहराना है ।
तुम भक्तन को सुरइन्द्रपती, फिर चक्रपती पद पाना है,
क्या बात कहो विस्तार बड़ी, वे पावें मुक्ति ठिकाना है ।।
श्रीपति जिनवर करुणायतनं दुखहरण तुम्हारा बाना है ।

गति चार चुरासी लाख विषैं, चिन्मूरत मेरा भटका है,
हो दीनबन्धु करुणानिधान, अबलौं न मिटा वह खटका है ।
जब जोग मिला शिव-साधन का, तब विघन-कर्मने हटका है,
तुम विघन हमारे दूर करो, सुख देहु निराकुल घटका है ।।
श्रीपति जिनवर करुणायतनं, दुखहरण तुम्हारा बाना है ।

गज ग्राहग्रसित उद्धार किया, ज्यो अंजन तस्कर तारा है,
ज्यों सागर गोपदरूप किया, मैना का संकट टारा है ।
ज्यों सूली ते सिंहासन ओ, बेड़ी को काट बिडारा है,
त्यों मेरा संकट दूर करो, प्रभु मोकूं आस तुम्हारा है ।।
श्रीपति जिनवर करुणायतनं, दुखहरण तुम्हारा बाना है ।

ज्यों फाटक टेकत पांव खुला, औ सांप सुमन कर डारा है,
ज्यों खड्ग कुसुमका माल किया, बालक का जहर उतारा है ।

ज्यों सेठ विपत चकचूर पूर घर, लक्ष्मी सुख विस्तारा है,
त्यों मेरा संकट दूर करो, प्रभु मोकूं आस तुम्हारा है ।।
श्रीपति जिनवर करुणायतनं, दुखहरण तुम्हारा बाना है ।

यद्यपि तुमको रागादि नहीं, यह सत्य सर्वथा जाना है,
चिन्मूरति आप अनन्तगुनी, नित शुद्धदशा शिवथाना है ।
तद्दपि भक्तन की भीड हरो, सुख देत तिन्हें जु सुहाना है,
यह शक्ति अचिन्त तुम्हारी है, क्या पावे पार सयाना है ।
श्रीपति जिनवर करुणायतनं, दुखहरण तुम्हारा बाना है ।

दुखखण्डन श्रीमुखमण्डन का, तुमरा प्रण परम प्रमाना है,
वरदान दया जस कीरति का, तिहुंलोक धुजा फहराना है ।
कमलाधरजी, कमलाकरजी, करिये कमला अमलाना है,
अब मेरि विथा अवलोकि रमापति, रंच न बार लगाना है ।।
श्रीपति जिनवर करुणायतनं दुखहरण तुम्हारा बाना है ।

हो दीनानाथ अनाथहितू, जन दीन अनाथ पुकारी है,
उदयागतकर्मविपाक हलाहल मोह-विथा विस्तारी है ।
ज्यों आप और भवि जीवन की, तत्काल विथा निरवारी है,
त्यों वृन्दावन यह अर्ज करे प्रभु, आज हमारी वारी है ।।
श्रीपति जिनवर करुणायतनं दुखहरण तुम्हारा बाना है ।

जिस समय वह भगवान् की भावभीनी स्तुति कर रही थी तभी अयोध्या का पुष्पक नामक एक वणिक् वहां दर्शन करने के लिए आया । वह उच्च कुलीन व्यापारी था और अपने व्यापार के निमित्त सामान लेकर परदेश जा रहा था । मन्दिर को देखकर वह भी भगवान् के दर्शन के लिए वहां जा पहुँचा ।

देवरं बंदिसुतिर्दनंतमतियं कंडु धर्मवात्सल्यदिं बीडिंगोडगोंडु पोगि युचित प्रतिपत्तियं माडि तदनन्तरं निम्म देशमावुदु ऊरावुदु तंदेयारेंदु बेसगोलू वुदुं ॥११६॥

अर्थ—उसने जैसे ही मन्दिर में प्रवेश किया वैसे ही विनीत भाव से प्रसन्नवदन भगवान्

की स्तुति-वन्दन करते हुए अनन्तमती को देखा । उसे धर्मवात्सल्यवश वहां अकेली देखकर अपने साथ पड़ाव में ले गया । वहां जाकर उसका यथोचित सत्कार किया और उसकी सारी व्यवस्था कर दी ।

क्षमेये केळयं शीलं पुत्रं सदाचरित धनं
विमळदये तायूसुत्यं पज्जं गुणंगळ सोदरर् ।
क्रमदे तनयळ् तत्वं सम्यक्त्व मोप्पुत्र तंदे सं-
यममे भवनं देशं मोच्चं जिनोक्तिये पट्टणं ॥११७॥

अर्थ–पुष्पक ने अनन्तमती से पूछा हे पुत्रि ! तुम इस वन में अकेली क्यों हो ? तुम्हारे साथ कौन है ? कहां से आ रही हो ? कहां जाओगी ?

अनन्तमती ने कहा कि मेरे साथ क्षमारूप नौकर है, शीलरूपी पुत्र है, सदाचार मेरा धन है, दया मेरी माता है, सत्य मेरा पितामह है । गुण मेरे सहोदर (भाई) हैं, तत्व मेरी पुत्री है, सम्यक्त्व मेरा पिता है । संयम मेरा भवन है, मेरा देश मोक्ष है । भगवान् जिनेन्द्र का आगम मेरा नगर है । इस प्रकार मैं अकेली नहीं हूं ।

एंबी नुडियिं दीकन्ने दर्शनविशुद्धेयेंदु मेच्चि मनेगोडगोंडु वंदु तन्न भार्यें गुणवतिगी बालेयं निन्न मगळंदु भाविसियांमगुळ्दु वर्पिनं प्रयत्नदिं नडेपुवुदेंदोपैसिपुष्पकं मगुळदु पोपुदुं गुणवति कन्नेयं नोडि ॥११८॥

अर्थ–अनन्तमती की वार्ता सुनकर पुष्पक वणिक ने जान लिया कि "यह सम्यग्दृष्टि (धर्मात्मा) है और इस पर कोई संकट आया हुआ है ।" तब वह उसको अपनी धर्म-पुत्री मानकर अपने साथ घर ले गया और अपनी पत्नी गुणवती से कहने लगा कि इसे अपनी पुत्री समझ कर अपने पास रखो । मैं जब तक व्यापार करके परदेश से लौटूं तब तक तुम इसकी रक्षा करना । यह कहकर उसने अनन्तमती अपने घर अपनी पत्नी के पास छोड़ दी और वह व्यापार के लिए चल दिया । उसकी पत्नी गुणवती अनन्तमती के रूप को देखकर मन में शंकित हो उठी और विचारने लगी कि–

सुरवनिते या नु मंबर-
चरियानुं कुतकदिं द मीरूपिं मे- ।

यूगरे दि्र्ळल्लदिं दिन-
नरवनितेयरिन्न रोळरे रूपिं चलुविं ॥११६॥

अर्थ—यह कोई मानवी स्त्री नहीं है अपितु कोई देवी है, या कोई विद्याधरी है, कोई विद्याधर ही इसे पृथ्वी पर छोड़ गया है। या कोई देवी मानवी का रूप धारण करके आई है। मनुष्य लोक में इस प्रकार की रूपवती स्त्री का मिलना कठिन है।

[एंदु, अलिगण्ण वरादित्यनं नोळ्पंते कन्नेयरूप नगिदु नोडि मनदोळंजि]।१२०।

अर्थ—वह बड़ी उत्सुकता से बार-बार अनन्तमती के रूप को देखने लगी, जिस प्रकार कोई व्यक्ति एक आंख बन्द करके सूर्य को देखता है। वह अनन्तमती के रूप को देखकर आशंका करने लगी।

एनगप्पोटे मुन्निन ज-
व्वनमुं लावण्यमुं विलासमुमिल्ली-
वनितेयिरलोवो पेर्गन-
मनिर्कि मनेमाडु वंद्मक्कुं कडेयोळ् ॥१२१॥

अर्थ—वह मन में विचार करने लगी कि मनुष्य की मनोभावना सदा एक समान नहीं रहती। मेरे पति यद्यपि मुझसे अत्यन्त प्रेम करते हैं किन्तु वे मेरे रूपके कारण उतने प्रसन्न नहीं हैं। मेरा रूप जैसा आज है, वैसा आगे नहीं रहेगा क्योंकि शरीर की सुन्दरता कम होते देर नहीं लगती। तब मेरे पति इस परम सुन्दरी कन्या के रहते हुए मुझ से विरक्त हो जाएंगे। उस समय मुझ पर घोर आपत्ति आ पड़ेगी। इस कन्या का रूप मुझ से बहुत सुन्दर है। यदि यह मेरे घर में ही रहे तो कदाचित् मेरे पति की मति भी समय के साथ बदल जावे और वे इस पर अनुरक्त हो उठें, तब वे मुझे पूछेंगे भी नहीं। इस प्रकार वह अनेक आशंका करने लगी,

[एंदु तन्न पुलुकुमनदिं] दिरिसिकोळलरमदे व्यालियेंब कुंटनिगे मारु-
वुदुमाके (सहस्रपोन्नं कोट्टु मनेगोडगोंडु पोपुदुं. कुमारि तन्नोळ् ॥१२२॥

अर्थ—ऐसा विचार करके उसने निश्चय किया कि इसका इस घर में रहना उचित नहीं है। इसे जितना शीघ्र बने इस घरसे अलग कर देना चाहिए। यह सोचविचार करके

उसने व्याली नाम की एक कुट्टिनी (वेश्या) को बुलाकर कहा कि देख, यह कन्या कितनी सुन्दरी है ? यदि तू इसे मोल ले ले तो तुझे बहुत लाभ होगा ।

कुट्टिनी अनन्तमती का सुन्दर रूप देख करके बहुत ही प्रसन्न हुई और उसने तत्काल १००० मोहरोंसे उसको खरीद लिया तथा अपने साथ घर ले गई । अनन्तमती अपने मनमें विचार करने लगी कि–

खळकर्मोदयदिं दं
गळियिसुवुदुःखमेन्ननेनितोंददोडं ।
चळपागेनेन्न पिडिदु
उज्वल मुव्रतकोवो भंगमं माडुवेनो ॥१२३॥

अर्थ–मैंने पूर्वजन्म में जो कर्म उपार्जित किये हैं, उनका फल मुझे भोगना पड़ रहा है किन्तु मुझे इसे शान्ति के साथ भोगना है । मैंने जो शीलव्रत ग्रहण किया है, उसकी रक्षा में प्राण देकर भी करूंगी । अपने व्रत का भंग नहीं होने दूंगी ।

'शीलं परं भूषणम्'' यानी–शील परम भूषण है । यह भूषण जब हाथ से चला जावे तो फिर नहीं मिलता । मुझे इसे खोना नहीं है । मैंने किसी का कभी शील भंग नहीं किया तो लाखों उपसर्ग आने पर भी मेरा शील भी सुरक्षित रहेगा ।

एनुतुं व्रतदोळ् दृढेयागिपुदुं. व्यालिपत्तदुं दिवसं
पोर्दि वळियं मेल्लने कन्नेगिंदत्तंदळ् ॥ १२४ ॥

अर्थ–उस कुट्टिनी के चंगुल में पड़ी हुई अनन्तमती अपना मन भगवान् जिनेन्द्र देव के ध्यान में लगा कर रहने लगी । इस प्रकार कुछ दिन निकल गए । कुट्टिनी ने देखा कि यह तो अपने ही ध्यान में लगी रहती है और किसी प्रकार का अन्तर इसके व्यवहार में नहीं आया है, तो वह अधीर हो उठी और कहने लगी कि–

मरुळंते मरुळे तलेयं
परपिरदे मनोनुरागदिं मुडिमुडियं ।
परवशमादर तेरदिं
दिरदे सरोजाक्षि नल्मेयिं नुडिपेररोळ् ॥१२५॥

अर्थ–हे कमल के समान सुन्दर आंखों वाली ! तुम इस प्रकार (चुप) बैठी रहती हो, इससे तुम्हें क्या लाभ है ? तुम रूपवती हो और यौवनवती भी हो, ऐसी स्थिति में यदि तुम चाहो तो स्वर्ग की सम्पदा भी तुम्हारे चरणों में लोटने लगे । किन्तु तुम मौन रहकर, यथेष्ट खान पान छोड़ कर अपना सुन्दर शरीर सुखा रही हो । इसमें क्या सार है ? मीठी बातें करो, हंसकर बोलो, किसी का हितकर वचन सुनो । अपने सुन्दर बालों में सुगन्धित तेल लगाकर कंघी दो । कान, नाक, गले और केश के आभूषण धारण करो । मनुष्यों को देखकर मुसकराना सीखो । इस प्रकार उदास रहने से तुम्हें क्या लाभ होगा ? स्त्रियों के लिए यह सब क्रियाएं लाभदायक हैं ।

वल्लदिदोंडमोल्वरंतिरे नोळपुदन्यरचित्तमं
मेल्लमेल्लने नोटदिं नगेयिंदमिर्कुळिगोळवुदं ।
तल्लिगल्लिगे तप्पुदं नेरे माडि मेल्वघनंगळिं
चल्लवाडुवुदारोळादोडमल्वळिवद्युविवेनं ॥१२६॥

अर्थ–वह कुट्टिनी कहने लगी कि स्त्रियों को अपने रूप और यौवन का पूर्ण उपभोग करना चाहिए। जो स्त्री रूपवती होकर भी इसका उपभोग नहीं करती वह रूप निकल जाने पर पीछे पछताती है जब कि उस समय पछताने से उसे कोई लाभ नहीं होता । तुम भी अन्य स्त्रियों के समान, जो संसार में सुख चाहती हैं, पुरुषों से रति करो । उनको तिरछी दृष्टि से देखकर थोड़ा मुसकराओ और जब वे तुम्हारी ओर देखने लगें तो तुम अपना मुख नीचा कर लो । इस प्रकार करने से उनका मन तुम्हारे अधीन हो जाएगा । स्त्रियों को तो इस अवस्था में ऐसे हावभाव करना स्वभावतः आ जाते हैं। किन्तु तुमको मैं इन बातों से विरक्त देखती हूं ।

तरललोचने मुंगु चंगळोळाद चल्वुगलं मुखां-
बुरुहदोंदु विलासमं नळितोळभंगिगळं पदां-
बुरुहपल्लवमुं कुरुळगळोळाददोंदु बेंडगनो-
प्पिरे विटर्गनुरागमागि सरोरुहानने तोरुनीं ॥१२७॥

अर्थ–हे चंचल नेत्रे ! तुम्हें मैं क्या शिक्षा दूं ? तुम तो स्वयं ही बहुत शिक्षित हो ।

तथापि तुम्हें अपनी ओर से असावधान (लापर्वाह) देखकर कहती हूं कि अपने मुखमण्डल को सुन्दर आकर्षक बनाना चाहिये। इसी प्रकार पैरों को कमल के समान लाल रखना चाहिये और उनमें स्वर्ण की पेंजनी (पायजेब) पहननी चाहिए। उससे चलते समय में जो शिंजान होता है, उससे कामियों का मन अधीर हो जाता है। केशों का सुन्दरता से विन्यास करते हुए उसमें नाना सुगन्धित चूर्ण अथवा तेल डालने चाहिए, जिस केशविन्यास को देखते देखते ही विट पुरुषों का मन पिघल उठे। कामी विट पुरुषोंको फँसानेके लिये यह भी एक सुन्दर उपाय है।

कुरुळपत्तिगळं मनंबिडेतिदु चंदनपंकमं
सरसिजानने पुसु मेच्चुव पोन्न मुत्तिन नोकवा।
भरणमं तुडु दिव्यवस्त्रमनर्ति यिंदुडुरागदिं
सुरगियं मुडिरूपनोतके कुंदिपो मरुळंदिदं ॥१२८॥

अर्थ—इसलिए हे कमलमुखि! तुम्हें अपना शृङ्गार करना चाहिए। स्नान तथा चन्दन विलेपन से अपना शरीर सुन्दर सुगन्धित बनाना चाहिए। स्त्रियों को तो सदा अच्छे मनोहर और प्रियवेष में रहना आवश्यक है। तुम भी स्वर्णी-मोती-रत्नावली के आभूषण पहनो, दिव्य वस्त्रों को पसन्द करो। कान, नाक, कंठ, भुजा और पैरों में रमणीय अलंकार धारण करो। इस प्रकार के पागलपन से अपने रूप और यौवन को नष्ट न करो।

रुहिल्लदोडं केलवर
सहायदिं बरिदे तोनेदु केम्मने विटसें-
दोहमनोलिसुवरेंदोडे
रूहं पडेदेके मवुळेनीं वृथे गळे वे ॥१२९॥

अर्थ—कुट्टिनी कहती है कि जिन स्त्रियों को वास्तविक सुन्दर रूप नहीं मिलता किन्तु वे भी सजावटसे अपने को अत्यन्त सुन्दर और आकर्षक बनाये रखती हैं। अतः वे भी बनावटी शृङ्गार करती हैं। किन्तु तुमको तो ऐसा सुन्दर रूप मिला है जिसे पाकर कोई भी स्त्री स्वर्ग की अप्सराओं को भी मात कर सकती है। फिर तुम अपना समय इस तरह व्यर्थ क्यों बिता रही हो?

करेवुदु बेलकेलबरनोरे
नेरेवुदु भाविप्पोडदे नरोळ्भाग्यं ।
मरुळे सुरसूळे धरेयोळ्
परगुंटे मनक्केबंद भोगमदार्ग ॥१३०॥

अर्थ–कई स्त्रियां इतनी चतुर होती हैं कि स्वयं पुरुषों को अपने हाव भावों से अपनी ओर आकर्षित करती हैं। अपनी चतुराई से उन्हें बुलाती हैं परन्तु तुमको देखकर तो मुझे आश्चर्य होता है। तुम इतनी स्वर्गीय रूपशालिनी होकर भी, इतना अच्छा भाग्य प्राप्त करके भी अपना तिरस्कार कर रही हो तथा इस यौवन का उपयोग नहीं करतीं। पृथ्वी पर तुम्हारे जैसा रूपलावण्य किसी का नहीं है। तुम इतनी भाग्यशालिनी होकर भी क्यों इस प्रकार हीन जीवन विताने को उत्सुक हो ?

पोसदुडुगे निच्चनिच्चं
पोसगण्डर् चल्वरप्पमोंम्बवस्त्रं भा-
विसुवंदु मेयूसुवं र-
जिसे बेलेवेणगक्क मुळिदसनियरगुंटे ॥१३१॥

अर्थ–तुम्हें अपने बनाव शृङ्गार में ही लगा रहना चाहिए। समय समय पर शृङ्गार बदलते रहना चाहिए। नये नये सुन्दर वस्त्र पहनने चाहिए। तथा नये नये रूपवान् और धनवान् कामुक-पुरुषों को अपनी ओर आकर्षित करना चाहिए। यह कीमती शरीर जो कि तुम्हें मिला है, इसका भरपूर उपभोग करना चाहिए। इसी के लिए तो तुमको यह सुन्दर शरीर प्राप्त हुवा है।

अदु कारणदिं मीवुदुणबुदुडुवुदु मोनदिं दिरवेंदेंदु
बुद्धि वेळकन्ने नन्नोळनक्कु ॥१३२॥

अर्थ–तुम उपवास करती हो, मौन (चुप) बैठी रहती हो तथा अपना शृङ्गार तक नहीं करतीं, यह सब तुम्हारे शरीर और अवस्था के अनुकूल आचरण नहीं है।

धरणीचक्रमुमं वियत्तळमुमं गंट्टिक्कु वर्मिचन
च्चरियप्पंतिरदुोंदु माडि समेवर् कल्ललिनारत्तुवर्

त्वरितं बिन्ननदिं विसिल्गुदरेयं तंदेरुवर् मेरुवं
भरदिं दं पिडिदेत्तुवर् मळलोळ निर्माडुवर् जोडेयर् ॥१३३॥

अर्थ—इस प्रकार वह कुट्टिनी अनन्तमती को सामान्य स्त्री समझ कर भोग विलास के लिये उत्सुक करने लगी। उसकी बात को सुनकर अनन्तमती सोचती है कि ये इन्द्रियों के सुख चंचल हैं, जैसे किसी पदार्थ के ऊपर कोई बनावटी चमक लगा दी जावे और उससे वह अपनी वास्तविक स्थिति में न दिखाई देकर कुछ आकर्षक प्रतीत हो। उसी प्रकार यह पृथ्वी मंडल है, यह वास्तव में कुछ है और यह दिखाई कुछ और देता है। यह बिजली की चमक के समान क्षणिक है। मूर्ख लोग पत्थर में से सन निकालना चाहते हैं मृगमरीचिका में से जल लेना चाहते हैं। रेतकी ढेरीमें मेरु की कल्पना करते हैं। मोक्षसुख और इन्द्रिय-सुखों को एक समान समझते हैं। कृत्रिम सुख में वास्तविक सुख की भावना करते हैं। किन्तु क्या किसी गलत स्थान में किसी वस्तु की भावना करने से वह वहां प्राप्त हो सकती है ?

कुट्टणियेंबल् सामान्ययल्लरुदिं दिवळेन्न नेनेंदोड मेनगे मोनदिं दि-
र्पुदे बुद्धियंदुसिरदिरे, केलवुदिनमागेयिं वायं बडिदोडं बडिसलारदे ॥१३४॥

हरिणाक्षि, नुडियलेंतु
मरुळागदे बेगमेय्दु कुडुवें भूपं।
गुरुमुददिनर्थ लाभं
पिरिदक्कुं भूमिपालनुं करमोसेगुं ॥१३५॥

अर्थ—वह वेश्या कई दिनों तक अनन्तमती को अपने पापमय व्यभिचार कर्म के लिए प्रेरित करती रही। किन्तु अनन्तमतीने उसको कुछ उत्तर नहीं दिया, मौन बनी रही। वेश्या के समझाने बुझाने का उस पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। तब उस वेश्या ने निश्चय किया कि इसे राजा को सौंप दिया जावे, इससे मुझको अच्छा आर्थिक लाभ होगा और यह भी मुझ से प्रसन्न होगी। तथा राजा भी जिसको मैं यह परम सुन्दरी उपहार में दूंगी, मुझ पर बहुत प्रसन्न होगा। ऐसा विचार कर वह राजा के हाथ उसे बेचने की तैयारी करने लगी।

गद्य—एंदा पुरमनालव सिंहरथनें वरसनल्लि गोयूदु स्त्रीरत्नमं देवरिगे पागुडंतदेनेंदोप्पि सुवदुमरसं व्यालिगे साल्वनितु पोन्नं कोट्टु कन्येयरूपं भाविसि नोलमुदु× ॥ १३६ ॥

[मिडुकदे मेय्यिक्कदे वनितारत्नमं वज्रलेपदोळपत्तिदंते नट्टदिट्टियं तेगेयलारदे नोडि नोडि तन्नोंलितेंदु भाविसिदं ॥१३८॥

इवळपदपल्लवंगळ नवयवदिं पोळ्तिरेंदशोकेगे विदिशा
पवनीये केळ फलमाळगवु भयदिं बेगडु गोंड शोकेगळिन्नुं ॥१३६॥
सोगयिसुवी सतियुं गुटदुगुर्गंगजनितनंगकिरणद चेलवं
बगेयदिनिसिंदे मुळिसिं पगेयं कंडंते कारवनिन्नुं सूर्यम् ॥१४०॥
ई वनितेय मेगाल जनावेय चल्वुगळनीये भयदिं वनमं ।
तावंजिपक्कुवेन्ने मुं कालिं पोरगावेयंबवडवियोळेळवे ॥१४१॥
रम्भेय मडविनशोभेय नंबुज मवनीकेगीये साविर कणिंग ।
दंविडेदे नोळ्पनब्जजनेंबुदु पुसियेल्लविनितु कणुसुरगोळवे ॥१४२॥
ई वनितेव गुल्फं परिमाविसुवन्देन्न सतियगुल्फक्कं के ।
ळूतावधिकमेंदु मनदोळ् गोविन्दं मरुगिकरियनादं नोविं ॥१४३॥
यन्न दोरेयोळ्पनजनि कन्नेयकिरुदोडेगे कोट्टनेम्बिसिगिं ।
तन्नं परगं तोरं मुन्नं कामंगे देह मिदुदु पुसिये ॥१४४॥
कंडरियदंतु परितंदरडलेदजनिवळ तोडेगे मद्रवल्लभेयं ।
कोंडित्तनेम्ब नोविं वेंडादुदुं बारेबारेगुं बेंडोळवे ॥१४५॥
ई कमलमुखियजघनक्का कमलजनित्तनेम्म मस्तकदेशेयों ।
दाकारमनेंदिरदितिभीकरदिं वनमनिभसमूहं पोक्कुवु ॥१४६॥

× आके कोंडु तन्न मातं केलदोत्त गोललोल्लदेमोनंगोंडिरे बेसत्ता पुरमनाल्व सिंहरथनेंबरसंगे कुडुवुदुमरसं नोडि (ग) ॥१३७॥

ईकेय पोक्कुळचल्वे लोकदोळतिसेव्यमिदर पोरेयोळ् नावि-
न्नकिर्पमेंदु नेरे निराकरमं पोक्कुवेवदिं शंखंगळ् ॥१४७॥
ई नारीय वासेगे चतुरानन नेरेदिये तन्न शोभेय नार्त-
ध्वानदिनेले मरुळादुवनूनं मरुळिरुपे येंबुवुं मुन्नोळवे ॥१४८॥
ई वनितेय नडुविंगजनावग मेरेदिये तन्नमध्यद सोबगं
तावंजि बळिळवोदरं नोविंदं पोक्कुवंदु वारणरिपुगळ् ॥१४९॥
ई ससिवदनेय तेळ्वसिर्गी सरसिजगर्भनियें तम्मोळुमुमनिं
बेसत्तु पुवूयलिड्डुवुवु देसिगरंतिगळुं सुरम्भादळ्गळ् ॥१५०॥
एले पोल्तिर्निर्वीकेय मोळे यंदमनेंदु जक्कवक्किगे मुळिसिं
जलजभवनियें शापमनोलविल्लदगल्दुपोपुविरुळोळ्मिथुनं ॥१५१॥
करमोप्पुवुदी कन्नेय कोरतेन्नेदेगेंदु नोडि बेरगागि बसुं
घेरेयोळ् मेय्यरियदे विस्तरदिं मतिगेट्टु बळेदवडकेय ससिगळ् ॥१५२॥
देसिगर तिन्तु पुरुळिगळ् भयवशदिं [क]
एरेदिवुदु मजनीकेयनळितोळिं गोल्दु तम्म चल्विकेयं कं
डेळलते गळ्पोवु गळं तळेदिदुं तळेयदिर्पुवा फलिनतेयं ॥१५३॥
जळजभवनोलिदु कन्नेय तळकं तंदीये वारिजंगळकेंपं
विळियसरसिरुहमादुवुविलिय सरोजात मोळवे मुन्निन युगदोळ् ।१५४।
जवनेन्न सतिय बेरलोप्पमनीवधू कोंडळेंदु करिवाजिगळें ।
बिवनेरदे मुळिसिंदेरुव निन्नुं कोणानं महाव्रतदिंदं ॥१५५॥
ओळ्ळिदळोंदजनीकेयसेळ्लुगुरिंगिये तन्न चेल्वं पिरिदुं ।
तल्लणदिं केदगेगळ मुळ् लोळ् पोक्किर्प विन्नु मतिभयदिंदं ॥१५६॥

जरिरुहगर्भनीकेयघरक्के मनोहरमप्प तम्मप-
ग्गल चलुवं करुत्तेलदु पोट्टोडे बेचि वर्टविजंगलु ।

बिदी तम्म बेन्न चल्वं पदपिं दीवनजमुखिय बेंगीवुदुम-
ग्गद् नागकन्नेयसर्पम् पदमं विसुटोडि रसेयोळिर्दपरिन्नुं ॥१५७॥
गळमोडगूडि कर्पुवेरसिर्पुवुपेर्वलदिंदमल्लदं
दुळिदमरक्के बीळलिनिकेतनमागवु नोडे लोकदोळं ॥१५८॥
ई सतिय दन्तपंक्तिगे भासुरतरमप्प तम्म चल्वुगळं सं-
तोषदिनित्तुदरिंदं लेसागिरे मुत्तु पूज्य मादुवु धरेयोळ् ॥१५९॥
वरुणानिय बाय्देरे गी तरुणीय बाय्देरेय चल्वनेंबी चल्वं
नेरेदीशनुडुपनादं परिकिसुवंद् मररोळगे कुंटरु मोळरे ॥१६०॥
ईकेय कदपिन शोभेयनेकंजदे पोल्तिरेन्दु शापमनीयल् ।
कोकनदसुतं पलरुं पोचेंमन्ने चलदि न्नरिविरेनेगळ् भूगं ॥१६१॥
वारिजोद्भवनी सरोजदळायताक्षिय मृगिना
कारमं नेरे पोल्तिरेंदुरे नोडि संपगेगळगे नि-
ष्कारणं मुनिसिर्द नप्पुदरिंदेदें मनदळिकरिं
सारलणमदे भाविपंदवनोंदु पोदुंतु तुंबिगळ् ॥१६२॥
यम्म कण्गळ चत्वनीकेय कण्णिगे पद्मजनित्तनें
बुम्मळं पिरिदागे पुल्लेय विंडुगळ् कडुचिंनेयिं
सुम्मनागि जडत्वदिंद् कटोवो चित्तद वल्पुगे
ट्टोमेयुं कडुवीरमिल्लदे पंदेयादुदु धात्रियोळ् ॥१६३॥
जळजजनिकेय तुरुगे वेगळनु........
म्मळिसि पेरगागि पिरिदुम्मलिसिंदे मेयिक्करमरक्कन्नेयरिन्नुं ॥१६४॥
वनरुहगर्भनिर्मिसि मृगाक्षिय कर्णयुगक्के कूर्तमे
ल्लने बडिदिये नम्म चलुवं मरदिंदरळणमदोयूयनिं

तनवरतं करं मुगिदु नीरोळ गिर्दिरूरेल्लमञ्जग
भंनने महोत्सवंबे सुभाविसुतिर्पुवु नोयूदि लागळु ॥१६५॥

ईवनितेय पुर्वुगळं नीवंजदे पोलूतिरॅदु सरसिजगर्भम् ।
बविनमरक्के शापनीवुदुमदु कैपेयादुदवनितळदोळ् ॥१६६॥

नयर्दिदीकेय चल्वनप्प नोसलं पद्मोद्भवं तन्नकू-
मेंयिं नोरंतिरे नोडिनोडिदनेले लोकक्किदाश्चर्यं म-
द्व्रिय मल्लानिद्रंदवं घरियिसल्वेळकॅदु नीलोत्पल-
प्रियनिन्नुं नरे पेर्चुतुं कुशियुतुं तानिर्पनभ्यासदिं ॥१६७॥

सरसिजभवनीकान्तेय कुरुळोळिगे तम्म चल्वनित्तुदरिं प-
लमोरेवु नळिनिकरमिन्नुं सरसिज संभवननरसि कडु मुळिसिंदं ।१६८।

आसरसिजभवनीकेय केशक्कोलिदीये तम्मचल्वमुनिदि
देशदोलिरलल्लदे मलेदेशदोळिं तप्पु वंजिसीरेय तरुगळ् ॥१६९॥

मददिं बगेयदे नीवि सुदतिय बणणमने पोल्लिरॅदति मुददिं
विदिशापमनित्तुदरिं विदिर्गळफलमाग लोडने मावुवुघरेयोळ् ॥१७०॥

अतिशयमीकेय मेयूगंददिर्केयं पोलूतिरॅदु मलयरुहक्कु
धतियिं सापमनित्तोडे चतुरास्यं तेयूदु बेट्टनिडुवर्पललं ॥१७१॥

गद्य—एंदनंतमति कुमारिय रूपनाश्चर्यम् बट्टापादमस्तकं बरेगं नोडि
नानाविधाद्रिं पोगळूद [व० ओ० क०] ॥१७२॥

अर्थ—वेश्या ने ऐसा निश्चय किया और वह अनन्तमती को राजा सिंहरथ के पास ले गई। राजा अनन्तमती के रूप को देख कर अत्यन्त प्रसन्न हुवा और उसने उस कुट्टिनी को अनेक वस्त्राभरण और बहुत धन दिया तथा वेश्या से अनन्तमती को मोल ले लिया। वह अनन्तमती का सुन्दर रूप देख कर विचारने लगा कि ऐसा उत्तम स्त्री-रत्न मैंने आज तक नहीं देखा, न मुझे कहीं पर मिला।

राजा सचमुच में कन्या के रूप और उसके अंग-विन्यास को देखकर मुग्ध हो गया, जिस प्रकार भ्रमर कमल के रूप पर मुग्ध हो जाता है ।

वास्तव में स्पर्शनेन्द्रिय के विषय में फंसा हुवा प्राणी अपने आपको भूल जाता है और उसे अपने हित अहित की भी सुधि नहीं रहती। एक-एक इन्द्रियका विषय भी बहुत प्रबल है जिसके अधीन हुवा प्राणी अपने प्राणों को भी गंवा बैठता है । जिस प्रकार केवल सुगन्धि के लोभ से भंवरा कमल में बन्द हो जाता है । सुरीले राग के सुनने के वशीभूत होकर हरिण अपने प्राण गंवा देता है, उसी प्रकार रागान्ध या विषयान्ध व्यक्ति भी अपनी सम्हाल नहीं कर पाता और कामके वशीभूत होकर अपने प्राणों को भी संकट में डाल देता है । जीव जब एक भी इन्द्रिय से पराधीन होकर महान् कष्टों में पड़ जाता है, तो जो व्यक्ति पांचों इन्द्रियों के वशीभूत हो, उसकी तो बात ही क्या ? नीतिकार कहते हैं कि—

पंचेन्द्रियस्य मर्त्यस्य छिद्रं चेदेकमिन्द्रियम् ।
यतोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ।।

अर्थ—जिस पंचेन्द्रिय मनुष्य की एक भी इन्द्रिय विषयभोगासक्त हो जाती है, तो उसकी बुद्धि उसी प्रकार नाश को प्राप्त होती जाती है जैसे किसी मशक (चर्मसे बना जल-पात्र) में एक भी छिद्र हो जाने से उसका पानी रिस-रिस कर सारा निकल जाता है ।

सर्प वीणा की आवाज सुनने में मग्न होकर अपने को बन्धन में डाल लेता है, पतंगा भी अग्नि में कूद कर अपनी जान गंवा देता है । इसी प्रकार किसी भी एक इन्द्रिय से रागानुबन्ध रखने वाला व्यक्ति भी अपना नाश स्वयं कर लेता है ।

संसार की दशा महा विचित्र है । 'विचित्र' शब्द का प्रयोग इसलिए किया जाता है कि संसारी जीव जान बूझ कर अपने को संकट में डालता है । ऐसा वह अनादिकाल से करता आया है । हम संसार की गति को एक ही रूप में सनातन काल से देखते आये हैं । जन्म, यौवन, जरा और मृत्यु तथा इनके अन्तराल में नाना प्रकार कष्टों की लम्बी गाथा; यही प्राणी का जीवन है । सभी यह देखते हैं, अनुभव करते हैं किन्तु स्वयं उसी स्थिति को भुगतते हुए भी वे अपने को उससे भिन्न भी समझते हैं और ऐसा अनुभव करते हैं कि जैसे यह संसारका जो जन्म मरण है, उनको मैं प्राप्त नहीं करूँगा । किन्तु क्या कभी ऐसा सम्भव हुआ है ? तथापि मनुष्य सचेत नहीं होता और समझ बूझ कर कष्टों की लम्बी परम्परा को ओढ़कर चलता है । एक दिन मृत्यु उसे अपने साथ ले जाती है और उसे अनिच्छा से भी उसके साथ जाना ही पड़ता है ।

एक भौंरा दिन के समय खिले हुए कमल की सुगन्धि को सूंघने के लिये कमल में जा बैठा। शाम को जब सूर्य अस्त हुआ तब उस कमल की पंखुड़ियां बन्द हो गईं। सुगन्धि का लोभी भौंरा भी उन पंखुड़ियों में बन्द हो गया। वहां से वह उड़ा नहीं। तब उस भौंरे के विचारों का चित्रण करते हुए भर्तृहरि ने लिखा है—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे
हा ! हन्त, हन्त नलिनीं गज उज्जहार ॥

अर्थ—वह भौंरा सोचता है कि जब यह रात्रि बीत जायगी और प्रभात होगा, उस समय सूर्य का उदय होगा। तब कमल जो इस समय संकुचित हो रहा है, खिल जाएगा और तब मैं सुख से इस में से निकल कर उड़ जाऊंगा। किन्तु उसकी वह कल्पना कोरी कल्पना ही रह गई। क्योंकि सूर्य अभी उदय भी नहीं हुआ था कि एक मदोन्मत्त गजराज (हाथी) उधर आ निकला और उसने उस कमल को देखते-देखते उखाड़ कर अपने मुख में रख लिया और उसे खा गया।

काल का यही चक्र है। प्राणी भी यही सोचता है कि अभी तो बहुत सा समय पड़ा है, मैं अपने परिवार का प्रबन्ध कर लूं, कुछ बच्चों को पढ़ा-लिखा लूं। फिर सुख से वैराग्य धारण करूंगा और धर्म की साधना कर लूंगा।

'करिष्यामि करिष्यामि करिष्यामीति चिन्तया।
मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामीति विस्मृतम् ॥

अर्थ—'मैं यह करूंगा, मैं वह काम करूंगा' ऐसी चिन्ता करते-करते मनुष्य इस बातको बिल्कुल भूल जाता है कि 'मैं कभी मरूंगा भी।'

ऐसे ही वह राजा सिंहरथ भी अनन्तमती के परम सुन्दर रूप को देखकर अपने आप को भूल गया। वह राजा जब अनन्तमती को मुग्धभाव से देख रहा था तो वह इस प्रकार स्तब्ध हो गया कि जैसे किसी ने दण्ड को वज्रलेप करके स्थिर कर दिया हो। वह बार-बार मन में विचार करने लगा कि अहा, इसके नयन, दन्तपंक्ति, भौंह और अन्य अंग इस प्रकार लग रहे हैं मानो, कोई शापित सुन्दर अशोक वृक्ष हो, जिसमें फल न लगे हों।

अत्यन्त सुन्दर लगने वाली इस युवती को पैर के अंगूठे से लेकर मस्तक तक देखते देखते

उसके मन में काम-वासना का दाह व्याप्त हो गया जैसे सूर्य को देखते रहने से दाह (ताप) व्याप्त हो जाता है ।

जैसे किसी मन्त्र के द्वारा पशु-पक्षी कीलित कर लिये जाते हैं, इस तरह वह अनन्तमती के सौन्दर्य से मन्त्रमुग्ध-सा हो गया ।

वह सोचने लगा कि यह तो कोई देवांगना है । इसकी सुन्दरता को मैं अपनी इन दो आंखों से नहीं आंक सकता । इसकी सुन्दरता को आंकने के लिए तो एक से कम हजार नेत्र होने चाहिये । तब इसके रूप को देखकर तृप्ति प्राप्त हो सकती है । इस प्रकार अनन्तमती के रूप ने राजा के मन को अपनी ओर आकर्षित कर लिया ।

सचमुच मेरे राज्य में सहस्रों रूपवती स्त्रियां हैं, कन्याएँ हैं । स्वयं मेरा अपना रूप कामदेव से कम सुन्दर नहीं है । मुझ से सुन्दर कोई स्त्री नहीं है । किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि मेरे रूप का भी तिरस्कार करने के लिए ही विधाता ने इस रूपसी को भेजा है ।

स्त्रियों की जंघाओं की उपमा केले के स्तम्भ से दी जाती है किन्तु कदली-स्तम्भ का भी तिरस्कार करने वाली इसकी जंघा हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि संसार की समस्त सुन्दरता ने अनन्तमती का रूप धारण कर लिया हो । इसकी नाभिकी सुन्दरताको देखकर ऐसा लगता है कि मानो, शंख लज्जित होकर यहीं लुप्त हो गया हो । इसीलिए इसके यह गड्ढा पड़ गया है । इत्यादि प्रकार से वह उसके रूप की प्रशंसा करने लगा ।

ब्रह्मा ने भी तिलोत्तमा के हाव भाव और उसकी अंग शोभा को देखने के लिये अपने चार मुख बनाकर देखनेका प्रयास किया था । मानो, उसे भी मात्र तिलोत्तमा को देखने से आर्तध्यान हो गया हो । एक मुख द्वारा देखकर तृप्ति न मिलनेसे उसने (चारों ओर) चार मुख बना डाले । फिर भी उसे तृप्ति नहीं मिली । ऐसा अद्‌भुत नारी का रूप है । राजा सिंहव्रत भी अनन्तमती को देखकर कामविह्वल हो गया और उससे अनेक प्रकार चाटुकारी के शब्द कहने लगा । (१७२ श्लोक तक)

(कवि ने यहां पर इन श्लोकों में नारीके समस्त अंगोंका वर्णन किया है, किन्तु उसका हिन्दी अनुवाद उचित न समझ कर छोड़ दिया है ।)

राजा सिंहव्रत विह्वल होकर बोला हे देवि ! तुम यों मौन से क्यों बैठी हो ? मेरी बात मानो, मुझे आज्ञा दो, कि मैं तुम्हारे लिए क्या करूं ? तुम किसी बात को मन में शंका न करो । यह पृथ्वी, यह कोष, (खजाना) और दास दासियां. परिजन और नारियों की अधीश्वरी बन कर तुम यथेच्छ भोग विलास करो । तुम्हारी आज्ञा सब के ऊपर होगी,

में भी तुम्हारा किंकर (नौकर) होकर रहूंगा। तुम पट्टरानी बन कर रहो। इत्यादि चाटुकार वचनों से वह उसको अपने अनुकूल करने लगा।

संसार में काम को वश में करना अत्यन्त कठिन है। मनुष्य के हृदय में धन प्राप्त करने की, सन्मान पानेकी, यशस्वी बननेकी, विजय प्राप्त करने आदिकी जितनी बड़ी-बड़ी अभिलाषाएँ हुआ करती हैं। उन सबसे बढ़कर कामवासना की इच्छा होती है। कामवासना में फंसा हुआ मनुष्य अपनी मृत्यु की भी चिन्ता नहीं करता।

रामचरित मानस (हिन्दी पद्यमयी रामायण) के रचयिता भक्त-कविवर गोस्वामी तुलसीदास भक्त-कवि बनने से पहले साधारण मनुष्यों के समान विषभोगाभिलाषी कामातुर मनुष्य थे। उनका अपनी पत्नी रत्नावली पर अगाध अनुराग था। तुलसीदास एक दिन के लिए भी उसे अपने से अलग नहीं होने देते थे। एक समय वह किसी आवश्यक कार्यवश अपने पितृगृह (पीहर) चली गयी। जिस समय वह पिता के घर गई, उस समय किसी कार्य से तुलसीदास अपने घर पर नहीं थे। जब वह घर पर आये और उन्हें यह ज्ञात हुआ कि रत्नावली पीहर चली गई है तो वह उसके वियोग में अधीर हो उठे।

उस समय वर्षाऋतु थी और नदियों में बाढ़ आई हुई थी। किन्तु तुलसीदास ने उस कठिनाई की कुछ भी चिन्ता नहीं की और अपनी पत्नी से मिलने के लिये वे चल पड़े। मार्ग में एक पानी से उफनती हुई नदी आई। उस नदी को उन्होंने बहते हुए एक मुर्दे पर बैठ कर पार किया।

जब नदी पार कर वे गीले वस्त्रों से श्वसुराल पहुँचे तो रात हो गई थी और श्वसुराल वाले सो गये थे। तुलसीदास ने देखा कि एक ऊपर वाले कमरे में दीपक जल रहा है, और एक काली रस्सी उसकी खिड़की में से लटक रही है। उन्होंने उसी रस्सी को पकड़ा और ऊपर चढ़ गये। वास्तव में जिसके सहारे वह ऊपर पहुँचे, वह रस्सी नहीं थी किन्तु एक काला विषधर सांप था परन्तु कामातुर पुरुष को कुछ भी नहीं दिखाई देता। उन्होंने उस कक्षमें जब प्रवेश किया, तो उनकी स्त्री वहां थी वह पूछ बैठी कि आप यहां किस प्रकार आये ?तुलसीदास ने सभी हाल कहा और रत्नावली को अनुराग पूर्ण नयनों से देखने लगे।

उस कमरे में उसकी पत्नी रत्नावली अकेली थी उसको देखते ही वे कृतकृत्य हो गये और अपनी सारी चिन्ता तथा वहां तक पहुँचने के समस्त कष्टों को भूल गये।

जब उनकी पत्नी ने अपने पति को भीगे हुए कपड़ों में रात के समय घोर मार्ग से

अपने कमरे में आया हुआ देखा तो वह बहुत विस्मित हुई। जिस को रस्सी समझ कर वे उसके सहारे ऊपर चढ़े थे वह काला सर्प था, यह जान करके और नदी को पार करते हुए मुर्दे वाली घटना सुनकर तो रत्नावलीको बहुत दुख हुआ कि मेरा पति कितना कामातुर है। जो मुझको एक दिन भी नहीं छोड़ सकता, और वह मृत्यु का भी भय न करके वर्षामें यहां मेरे पास आ पहुँचा है। उसके हृदय में बहुत आश्चर्य दुःख, घृणा और क्रोध भाव जाग्रत हुआ, विवेक जाग उठा। उसको अपने पिता दीनबन्धु पाठक से जो संस्कार तथा शिक्षा मिलो थी, वह उमड़ आई। उसने कहा कि स्वामिन्! यह शरीर तो नश्वर है और इसका निर्माण जिन पदार्थों से हुवा है वे भी यदि आप प्रत्यक्ष देख लें तो आपको घिन आयेगी। वह कहने लगी कि मैं दो दिन के लिये यहां आई तो आप इतने व्याकुल हो गये कि नदीको मुर्देसे पार करके तथा सर्पकी रस्सी बनाकर रातमें यहां आ गये। इस मोह और अज्ञानकी भी कोई सीमा है? मेरा मस्तक आपके इस आचरण पर नीचा हो गया है। हे नाथ! यहां के निवासी सहस्रों वर्ष पर्यन्त का ब्रह्मचर्य धारण करते थे, उस देश में आप जैसे इन्द्रियों के दास भी हैं, यह जानकर मेरा हृदय शोक से टूक-टूक हो रहा है। इस प्रकार सम्बोधन करते हुए रत्नावली ने एक दोहा कहा–

अस्थिचर्ममय देह मम, ता में ऐसी प्रीत।
यदि होती भगवान् में, होत न तो भवभीत॥

अर्थात्–जिस प्रसार आप का उन्मत्त प्रेम हड्डियों, मांस, चमड़े के बने मेरे इस शरीर पर है, वैसा प्रेम यदि भगवान् से होता तो तुम संसार से पार हो जाते।

जब अपनी पत्नी के मुख से यह बात सुनी तो उनकी विचारधारा विषय भोगों की ओर से विमुख होकर भगवान की भक्ति की ओर सन्मुख हो गई। उनके अच्छे संस्कार प्रबुद्ध हो गए। इसके पश्चात् तुलसीदास का जीवन बदल गया फिर उन्होंने राम की भक्ति में अपना जीवन लगा दिया और हिन्दी भाषा का प्रसिद्ध ग्रन्थ रामायण बना डाला।

मनुष्य में जब तक विवेक जाग्रत नहीं होता तभी तक वह विषय-वासना का कीड़ा बना रहता है।

अनन्तमती जैसी स्त्रियां ही संसार में आकर भ्रम, मोह और माया की तिरस्कारिणी (पर्दा) को हटाती हैं।

घरेगं भण्डारक्कं
परिजनकं भृत्यसंकुळक्कं मत्ते ।
न्नरसियर्गमीपुरक्कं
निरुत्तं नीनोडेयाळगि सुखमिर्नर्यदिं ॥१७३॥
[ललनेयरिक्के चामरमनंदनमं पदपिंदमेरि भू-
तळदोळगुर्वु पर्वि करमोप्पिरे पाडुवगेयदोंदु मे- ।
ल्लुलि किवियं पलंचलेये मन्त्रिगलु नृपरुं कुमार रुं
सले वेसगेय्ये निनिनगे वल्लभयागिरु राज्यलक्ष्मीवोल्] ॥१७४॥

अर्थ—वह राजा अनन्तमती को राजसुख का प्रलोभन देकर खुशामद करने लगा। कहने लगा कि अपना समस्त वैभव तुम्हारे चरणों में न्योछावर करूंगा। सारी रानियां तुम पर छत्र ढोरेंगी। राज्य के सभी व्यक्ति तुम्हें मस्तक नवावेंगे। तुम्हारा अधिकार सब से ऊपर होगा।

यंदु नुडिदु कैय्यं पिडिदु तलेयमेलिट्टुकोंडु, ॥१७५॥

अर्थ—इस प्रकार कह कर बड़ी मृदुता से राजा सिंहव्रत ने उसका हाथ अपने माथे से छुआया।

उसिरदिरवेड कामं
मसगि कनल्दादुं कुसुमसायिकदिं सै- ।
रिसदेक्च पन्नेन्नं सं-
किसदिनसिं नुडिदु किडिसु नीनवनेसं ॥१७६॥

अर्थ—राजा सिंहव्रत कहने लगा कि कामदेव के प्रकोप से मेरा शरीर जला जा रहा है, तुम यदि किसी प्रकार की दया मुझ पर नहीं करोगी तो मैं पागल हो जाऊँगा। इस लिए मन में किसी प्रकार की शंका न करते हुए मेरे साथ सहवास करके मेरे मन को तृप्त करो।

एंदनंतमतियं तन्निर्दासनक्केवरे तेगेदप्पिंकोंडु मोगमं नोडि
[कडुमोहदिं] ॥१७७॥ ।

अर्थ–इस प्रकार कह कर अनन्तमती को वह ऊंचे आसन पर ले गया और उसके मुख की शोभा देखकर मन में अत्यन्त आह्लाद अनुभव करने लगा।

आयंगिडे कामं कें-
गायदे निंदादुं मुक्ति कोंदपनेले नी-।
नीयवसरदोळ कायुते
बायोळ् तंबुलमनिक्कु मदगजगमने ॥१७८॥

अर्थ–राजा ने कहा कि यह दुर्वार कामदेव मेरे वश में नहीं है, इसने मुझे घेर लिया है, यह मेरे प्राण ले लेगा। यदि तुम मेरी रक्षा न करोगी ये मेरे तो प्राण निकल जायेंगे। हे गजगामिनी ! कृपा पूर्वक मेरे मुख में प्रणय ताम्बूल दो और मेरी रक्षा करो।

एंदनेक मेल्गुडिगळिंदोडं बडिसदारदे, ॥१७६॥

अर्थ–ऐसे अनेक प्रकार के चाटु वचनों से सिंहव्रत ने अनन्तमती को अपने वश में करने के उपाय किये। वह कहने लगा कि–

एळविदिरंदमं तनु सरोरुहदंदमनाननं महो-
ज्ज्वलल्लतेयंदमं निमिर्द तोळमिसुपाळद पणे नंदमं।
पोळवधरं करं नेरेये पोल्वुदरुंदरविन्दवक्त्रे को-
मळ कडुगाडिकार्ति मरवनिसेयंबुद नुंटुमाडिदो ॥१८०॥

अर्थ—कोमल लता के समान हे नतांगि ! तुम्हारा मुख कमल के समान है। हे मृगनयनी ! तुम्हारे बाहु कमल की मृणालके समान कोमल हैं। तुम्हारे अधर पल्लव रक्ताभ बिम्ब फल के तुल्य हैं। तुम्हारे करतल कमलके पत्रोंके समान कोमल हैं। हे सुन्दर नयनों वाली ! तुम मुझे उस प्रकार दिख रही हो, जिस प्रकार कोई स्वप्न में मिलती है, प्रत्यक्ष में तो मुझ से दूर हो रही हो। मेरी प्रार्थना नहीं मानती हो। इत्यादि–

विवेक-हीन विषय-भोगों के लम्पट एक मनुष्य को संकेत करके एक भावुक कवि ने कविता लिखी है–

तह में जब पहुँचे तब यह समझ में आया ।
सुन्दरताई ने छल करके जग में जाल बिछाया ।।
देखा जब रंग-रूप भौंरा ने कमल आय,
सुन्दरता में मुग्ध भयो बैठो वाके बीच जाय ।
बैठे-बैठे सांझ भई सूरज गयो विलाय,
तब ही कमल ने फूल पंखुड़ी लई दवाय ।
होते ही अन्धेरी रात हाथी वहां गयो आय,
पानी पियो ताल में किलोल हू रह्यो मचाय ।
धीरे-धीरे करतो खेल कमलन के ढिग लाय,
संग-साथ कमल के भौंरा हू लियो चबाय ।
पीस दांत में खाया, तह में जब पहुँचे ।।१।।
जाही दिन जन्म भयो वा पतंग को जहान,
तन, मन ,धन से दिया पै भयो कुरबान ।
देख लौ दिया की लिपट गयो झट आन,
पर दोनों जल गये पर न कढ़े हैं प्राण ।
कुछ तो दिया के बीच डूब-डाब मर गये,
कुछ विना पंख के धरती मांहि गिर गये ।
गिरे जो धरनि मांहि वे विना मौत मर गये,
शेष में जो बचे उन्हें मेंढक चट कर गये ।
नाम निशान मिटाया, तह में जब पहुँचे ।।२।।
एक रंगरूप में पतंग ने गंवाये प्राण,
एक रंगरूप में भौंरा हूं की गई जान ।
कागज की हथिनी गजेन्द्र हू फंसत आन,
पेट में महक और हिरनी फिरत जहान ।
मछली स्वाद जीभ कांटा जैसे खाय जाय,
पिद्दी को धोखा खाय जाल में फंसत आय ।

तैसे ही मनुष्य सब सुध-बुध विसराय,
रूप-रंग जाल में बिना ही बंधे बंध जाय ।
बंधा-बंधा चिल्लाया, तह में जब पहुँचे ॥३॥

शेर जाको पानी भरे हाथी जासो डकराय,
हवा में चिरइया बन बिना पंख उड़ जाय ।
धरती पै डोलवे को रेल हू लई बनाय,
पानी में जो गोता मारे तह तक धंस जाय ।
खायवे कू बैठे तो संखिया हू खाइ जाय,
सांप को पकड़ कर पिटारी माहि धर लाय ।
एते एते काम करे एक जगह भूल जाय,
नारी के मुकाबिले में पायन में पड़ि जाय ।
नसा काम जब छाया, तह में जब पहुंचे तब ॥४॥

कहनी कहनी सुनी शरम गमा दई,
छोड़ी मरयाद लोकलाज विसराय दई ।
पार जाती नाव सो तो बीच में डुबाय दई,
ईश्वर की भक्ति को छोड़ परनारी अपनाय लई ।
सोच ओ समझ तू अनाडी कहां जाय रह्यो,
जाने अपनो पति छोड़ो ताहि अपनाय रह्यो ।
सो न होगी तेरी काहे भूल में भुलाइ रह्यो,
बाज आओ लौट चलो कौन गैल जाय रह्यो ।
चकाचौंध में आया, तह में जब पहुँचे ॥५॥

तैंने जाइ तन-मन वार अपनाय लयो,
दुनिया से बिगाड़ी वाय अपनो बनाय लयो ।
हार फूल जानि वाय नारि में सजाय लयो,
हार नहीं, कालो है वो नाग बन खाय लयो ।

तोहि नहिं काटो है तो मेरी ओर धर ध्यान,
नारद मुनि वीणा वाले भूलि गये सब ज्ञान ।
रानी पिंगला ने कियो भरतरी अपमान,
देश से निकलवायो भाई विक्रम धर्मवान् ।
प्रेम सईस से भाया, तह में जब पहुँचे ।।६।।

मुरदा समझो नाव एक प्रेमी नारी तुलसीदास,
सांप को पकड़ लांघि पहुँचो अपनी नारी पास ।
देखि पति सामने तो बोली भरि के ठंडी सांस,
तुम्हें समझाऊं नाथ आओ बैठो मेरे पास ।
नाथ तुमने समझो जाय अपनो प्राण प्यारो है,
हाड मांस चाम को भरो जो एक पिटारो है ।
थूक–मल–मूत्र–लारको उदर मांहि गाढो है,
वाह रे समझदार, कहै चन्दा तारो है ।
राम को क्यों विसराया, तह में जब पहुँचे ।।७।।

रावण जैसो ज्ञानी परनारी ने मिटाय दयो,
शेर अफगान नूरजहां ने मरवाय दयो ।
नारी के ही पीछे बुरो नहुष को हाल भयो,
परनारी के पीछे बाली योद्धा मारो गयो ।
कौरव पाण्डवों का नाश नारी ने कराय दियो,
देखो, महाभारत शिशुपाल का क्या हाल हुओ ।
कैसे-कैसे युद्ध भये लेख यों बताय रहे,
खेद है तो यही तुम बाई गैल जाय रहे ।
क्यों नहीं समझ में आया, तह में जब पहुँचे ।।८।।

सूखी हड्डी कहीं कुत्ता को मिल जाय,
मारे जब दांत कस तालु सब फट जाय ।

चूस-चूस खून खुद अपनो ही आप खाय,
ऐसे ही मनुष्य रूप रंग भरी हड्डी खाय ।
डूबे जो समुद्र में तो कभी पार लग जाय,
डूबो रंग-रूप को बिना ही मौत मर जाय ।
इसलिए नाथजी, गयो मैं तो घबराय ।
डूबी जीवन-नाव, पार कीजिए विशम्भराय,
तूफान में जीवन आया, तह में जब पहुँचे ॥९॥

(कवि जैनेतर है, अतः कविता में कुछ दृष्टान्त उसी के अनुरूप दिये गये हैं ।)

एंदोदविद् कूर्मेयिंनोये नुडियळारदे सरसदिं नुडिवुदुं
अनंतमति तन्नोळिंतिंदळ् ॥१८१॥

अर्थ—राजाके ऐसे अनेक प्रकारके वार्तालापसे तथा प्रभोभनोंसे भी अनन्तमती रंचमात्र विचलित न हुई, उसने राजा की ओर देखा भी नहीं । उस अनन्तमती ने राज्य की तिल-मात्र भी इच्छा नहीं की । वह राजसंपत्ति की या इन्द्रिय-विषय-वासना की भावना मन में नहीं लाई । उसके मन में यह विचार तक नहीं आया कि मैं सारी संपत्ति की स्वामिनी बनूं या राजाकी पट्टरानीबन कर रहूँ । वह पंचपरमेष्ठी के ध्यानमें लीन होकर बैठी रही । सिंहरथ के अनेक प्रकार के प्रेमालाप तथा संभाषण का कुछ भी उत्तर न देकर मौन पूर्वक बैठी हुई मन में विचार करने लगी कि ॥१८१॥

चंदनंगळ पुळ्ळिळयिंदडुवंते जोळद कुळना,
नंददिं कडिदोट्टिसुट्टु सुरेन्द्रभुमीरुहंगळं ।
तंदु सावेयनळ्ळि वित्तुवरंते मोक्षद सौख्यमं
कुंददिव महाव्रतंगळ नोवोनां त्रिंडलार्पेने ॥१८२॥

अर्थ—चन्दन के ढेर को अग्नि से जलाने के समान, सुन्दर पकवान को फेंककर उसका तिरस्कार करके घासको खाने वाले के समान, स्वर्ग भूमि के कल्पवृक्ष को उखाड़ कर उसमें सरसों बोने वाले के समान, मोक्ष सुख को मलिन करने वाले संसार के विषय भोगों की आकांक्षा करने वाला क्या मूर्ख नहीं है ? इस प्रकार मोक्षार्थी मोक्ष सुखको प्राप्त कराने वाले महाव्रतों का त्याग कर क्या इन्द्रिय-विषयों की वांछा करेगा ? ॥१८२॥

कविवर पं० भूधरदास जी ने कहा भी है—

जैसे करि केतकी कनेर एक कही जात,
आक दूध गाय दूध अन्तर घनेर है ।
पीरी होत रीरी पै न रीस करे कंचन की,
कहां काग-वानी कहां कोयल की टेर है ॥

पाल नोल्पदे नायिगळिळय पालनुण्वनुमोल्दु भू-
पाल वर्ग मनोल्पदुद्धतवृत्तियिं कडुरागदिं ।
किळनोलगि पातनुं जिनधर्ममं बिसुटर्तियिं
पाळिपातनु मिंद्रियंगळ भोगमं मरुळल्लने ॥१८३॥

अर्थ—राजा सिंहरथ उत्तम प्रकृति का होता हुआ भी काम के वशीभूत होकर उद्धत स्वभाव का बन गया । वह पवित्र जैनधर्म का अनुयायी होकर भी उसने उस समय धर्मकी भावना त्याग दी । अतः वह इन्द्रियों के विषयभोगों का दास बनकर पापमार्गमें चल पड़ा ।

सिरिय महिमेगे रूपिनेगेंगे मुय्यनांतळु बुद्धियिं
स्थिरमिदेंदु मनुष्य जन्म मनण्ण नंबि जडर् केलर्
परमधर्म मनुत्तम व्रतसंकुळंगळ नोल्पदो
सरिसि भोंकने सत्तु नारकदुःखमं नेरे ताळदुवर् ॥१८४॥

अर्थ—मूर्ख लोग क्षणिक ऐश्वर्य तथा रूप पर मोहित होकर ऐसा समझते हैं कि ये स्थिर हैं और ये ही संसार में शान्ति सुख देने वाले हैं, वे ऐसा मिथ्या विश्वास करके अपने मनुष्य भव को तथा भोग-सामग्री को स्थायी मान बैठते हैं । इस प्रकार विश्वास करके मूर्ख लोग वीतरागदेव द्वारा कहे हुए परम धर्मका, उत्तम व्रत संयम मार्गका तिरस्कार करते हैं उसको दूषण लगा कर तथा पापकर्म का संचय करके नरक में जाते हैं और दुःखों का सामना करते हैं । इसलिए क्षणिक इन्द्रिय-विषय-भोगों में रत हुआ मनुष्य कौन-सा पाप नहीं करता, कौन-सा अन्याय नहीं करता ? अर्थात् सभी पाप और अन्याय करता है । उसके मनमें धर्म, अधर्मका विवेक तिल मात्र भी नहीं होता । ऐसे मूर्खों को धिक्कार है ॥१८४॥

मिथ्यादृष्टि लोग धर्म के मर्म को न जान करके जिनेन्द्र देव के निर्मल मार्ग को छोड़ कर, अधर्म को धर्म मान कर तथा सुव्रत को छोड़ कर कुव्रतों को धारण करते हैं ।

भगवान वीतराग का धर्म अनेकान्तमय है। इस अनेकान्तमय-धर्म को न समझने के कारण तथा च जैनधर्म में मोक्षमार्ग सम्बन्धी चारित्र का जो विवेचन, निश्चय व्यवहार मोक्ष मार्ग के रूप में प्रतिपादन किया है, उसमें अनेक प्रकार की शंकायें करते हैं, अनेक प्रकार के तर्क कुतर्क कर और अपनी इच्छानुसार कल्पित आगम को अपना करके पंचेन्द्रिय विषयों की पुष्टि करते हैं।

इस तरह कुमारी अनन्तमती अपने शील व्रतमें दृढ़ होकर जिनेन्द्र देवके धर्मका चिन्तवन करती हुई सिंहरथ राजा के दुर्व्यवहार की निन्दा करती है।

बिसुट्टु धर्मं मनोल्लदग्गळमप्प सुव्रतमं मनं
कुसिदु जैनर पेर्कगंजे विशेषसच्चरितक्के सं
किसि जिनोक्तिगे कामियप्पवरिंद्रियंगळनेय्दु पे
र्चिसि विनोददिनेय्दुवर् नरकंगळं केडेयोळ्पलर् ॥१८५॥

अर्थ—वास्तव में देखा जाय तो संसार में जितने धर्म दृष्टिगोचर हो रहे हैं, वे एकान्त को लेकर चलते हैं, जब कि जैन धर्म में सारा कथन अनेकान्त द्वारा किया गया है। यदि गहराईसे विचार किया जाय तो कोई भी पदार्थ एक धर्मात्मक नहीं है, अपितु अनंत धर्मात्मक है। उन अनन्त धर्मों का कथन एक बार से, एक शब्द के द्वारा, एक साथ नहीं किया जा सकता, एक वार में एक ही धर्म का कथन हो सकता है। जब किसी विशेष धर्म का कथन किया जाता है, उस समय उस धर्म की मुख्यता रहती है और शेष धर्मों की गौणता। इस प्रकार से वस्तु तत्व का सारा कथन होता है और वह कथन सापेक्ष होता है अर्थात् जो कुछ भी कथन करते हैं, वह किसी अपेक्षा को लेकर ही होता है। इस प्रकार मुख्यता और गौणता की अपेक्षा को लेकर एक वस्तु में अनेक धर्मों के कथन में परस्पर कोई विरोध नहीं आता। इसलिए जो लोग वस्तु के किसी एक ही धर्म या दृष्टि को सत्य मान कर शेष धर्मों और दृष्टियों को मिथ्या कहते हैं, वे एकान्तवादी हैं। उन्हें वस्तुतत्व के केवल एक पक्ष की ही जानकारी होती है, शेष पक्षों के ज्ञान से वे शून्य रहते हैं। उन्हें सम्पूर्ण सत्य की कभी प्रतीति नहीं हो पाती, क्योंकि वे सत्य के एक अंश को ही सम्पूर्ण सत्य मान बैठते हैं। सत्य के उस एक अंशके अलावा जितना और सत्य अथवा सत्यांश है, उन्हें एकान्तवादी मिथ्या मानते हैं। अतः उन्हें शेष सत्यांशों को जानने की न तो कभी जिज्ञासा ही होती है, न वे जानने का प्रयत्न ही करते हैं। इस तरह वे अपने स्वीकृत

सत्यांश के अतिरिक्त अनन्त सत्यांशों के ज्ञान से ही वंचित रह जाते हैं। उससे उनकी बड़ी हानि होती है। फिर तथ्य यह है कि किसी सत्य को न मानना इतना बुरा नहीं है, जितना किसी सत्यको मिथ्या मान कर उसकी उपेक्षा करना अथवा उसकी जिज्ञासा न होना बुरा है क्योंकि इससे सत्य की शोध और उसकी उपलब्धि दोनों ही नहीं हो पातीं। किन्तु भगवान जिनेन्द्र का धर्म अनेकात्मक है। उसमें वस्तु के प्रत्येक धर्म और हर दृष्टि-कोण को समान महत्व दिया गया है, जैनधर्म और अन्य धर्मों के अनेकान्त और एकान्त में यही मौलिक अन्तर है ॥१८५॥

मुगिलं तस्थिरमप्प, गाळियंते निनैरमप्प, मळलेरियंते लयमप्प, कब्बुनद कड लेयंते वेट्टितप्प, सुणणदंते तीव्रमप्प, कत्तरिवारेयंते सारलरिद्प्प, राज-कन्नेयंते बयसलरिद्प्प, मुळ्ळुळ्ळ वट्टेयंते नडेयलरिद्प्परक्क सियं तनु-भविसलरिद्प्प, नडुवगलादित्यनंते नोडलरिद्प्प, सुरचापदंते कडिद्प्प बिद्-रडवियंते पुगलरिद्प्प समुद्रदंते दाटलरिद्प्प, नसुगुन्नियंते सारलरिद्प्प, मद्दानेयंते पिडियलरिद्प्प, किच्चिनंतोळमोळलरिद्प्प, बल्लिद नाणेयंते मीरलरिद्प्प, चक्रदंते तप्पिसलरिद्प्प, सुजेय मोनेयंते कुरीतप्प, काळगदंते पुगलरिद्प्प, मसळदंतिरलरिद्प्प, बिसिलुगुद रेयंते मायमप्प, इंद्रजालिकनंते वहुप्रकारमप्प, पोलसिनंत सुचियप्प, वातदंते नडुकमप्प, नीरिवंते कट्टलरिद्प्प, मोच्चदंतरुयलरिद्प्प, संक्रातियंते निट्टिसलरिद्प्प, मरुळं ते कोंडांडलरिद्प्प, परित्र लोरेयंते मानिसलरिद्प्य, राजद्रव्यनंते कुंदिसलरिद्प्प, कोडद नीरंते पेर्चिसलरिद्प्प संसारमं नंत्रि दर्शनमुमं व्रतमुमं केडिसुवुदेग्गि केयेंदु व्रतपरि-रक्षणोपायमं चिंतिसुतिर्द्ळिर्पन्नोगं ॥१८६॥

अर्थ—इन्द्रियों की इष्ट भोग सामग्री अर्थात् राजमहल, खजाना, हाथी, घोड़े, सेना और अनेक प्रकार के राजवैभव आदि सर्व वस्तुयें बादलों के समान अस्थिर हैं, हवा के समान चंचल है, बालू के ढेर के समान क्षणिक हैं, लोहे के चने के समान चबाने में नहीं आती हैं, केले के स्तम्भ के समान निस्सार हैं, राजकन्या के समान हाथ में न आने वाली हैं, कांटे के रास्ते के समान हैं, और राक्षस के समान अत्यन्त भयंकर हैं, भयंकर दुर्गति को ले जाने

वाली हैं। सूर्य देखने में जैसे कठिन पड़ता है उसी तरह इन्द्रियों के विषय-भोग हैं, इन्द्र-धनुष के समान अति चंचल हैं, क्षणिक हैं, वज्र के समान कठिन है, वंशपत्र के जंगल के समान प्रवेश करने में न आने वाले हैं, समुद्र के समान उल्लंघन करने में न आने वाले हैं, खुजली की वनस्पति के पत्ते के समान दुःखदायी हैं, मदोन्मत्त हाथी के समान हाथ में न आने वाले के समान हैं, अग्नि के समान किसी के हाथ में न आने वाले के समान हैं, चक्र के समान हमेशा भ्रमण कराने वाले हैं, सुई के छिद्र के समान प्रवेश करने में न आने वाले हैं। हमेशा यह इन्द्रियजन्य विषय भोग कलह के कारण हैं, स्मशान भूमि के समान निस्सार हैं, मृगजाल के समान मायामयी हैं, इन्द्रजाल के समान धोखा देते हैं, हमेशा दुर्गन्धित मल के समान अशुचि हैं, वातरोग के समान हमेशा इस जीव को दुःख देने वाले हैं, तीव्र नदी के पानी के वेग के समान हैं, बालू के ढेरके समान अस्थिर हैं, निन्दनीय हैं, दुर्गन्ध नाली के पानी के समान हैं, जैसे खारा जल पीने से प्यास कम नहीं होती, बढ़ती जाती है उसी तरह विषय-भोग, भोगने की इच्छाको बढ़ाते रहते हैं, कम नहीं करते, घड़े के पानी के समान क्षणिक हैं। संसारी जीव इन दुखदायक, अस्थिर, तृष्णावर्द्धक विषयों को भोगते हुए सदा व्याकुल बने रहते हैं। इस प्रकार अनन्तमती विचार करते हुए पंच परमेष्ठी का ध्यान करती है और अपने व्रत के रक्षण का उपाय सोचने लगी ।।१८६।।

कडुचपळतेयं विट्टि-
न्नोडगूडोडदंदु देसेवलिगेयूवें ।
तडेयदेने कन्ने तां नडु-
नडुगुत्तुं जिनर पदमनुरे सेरेविडिदळ् ॥१८७॥

अर्थ—वह विचारती है कि मेरे माता, पिता आदि सम्बन्धी पहले मेरे साथ अगाध स्नेह दिखाते थे किन्तु आज मेरे इस संकट में उनमें से कोई सहायता करने नहीं आया। मेरे संकट में केवल धर्म ने ही मेरी रक्षा की है। वास्तव में धर्म ही संसार में जीव का भ्राता है, पिता है, बन्धु है और सर्वस्व है—कहा भी है:—

पिता योगाभ्यासो विषयविरतिः सा च जननी ।
विवेकः सोदर्यः प्रतिदिनमनीहा च भगिनी ।।
प्रिया क्षान्तिः पुत्रो विनय उपकारः प्रियसुहृत् ।
सहायो वैराग्यं गृहमुपशमो यस्य स सुखी ।।

अर्थ–जिसका योगाभ्यास पिता है, विषय-भोगों से विरक्ति माता है, विवेक सहोदय भ्राता है, प्रतिदिन भगवानकी भक्ति जिसकी बहिन है, क्षमा पत्नी है, विनय जिसका पुत्र है, उपकार प्रिय मित्र है, वैराग्य जिसका सहायक है, कषायों का शमन घर है। जिसका यह परिकर है, वही व्यक्ति संसार में सुखी है।

अपनी कामवासना पूर्ण करने के लिये सिंहरथ राजा ने अनन्तमती को फुसलाने का बहुत प्रयत्न किया और समझाया। किन्तु वह न मानी। तब वह बोला कि तू अपना हठ छोड़ दे और मौन भंग करके मेरी कही बात को स्वीकार कर ले, अन्यथा तुझे मेरे भयंकर क्रोध का सामना करना पड़ेगा। इतने कहने पर भी जब उसने अपना व्रत न छोड़ा तो राजाने अपने कर्मचारियोंको आज्ञा दी कि जब तक यह हठी लड़की मेरी बात को स्वीकार न करे, तब तक इसको यातना दो। राजा की इस रोषपूर्ण धमकी को सुनकर अनन्तमती मन में जिनेन्द्र देव का स्मरण करने लगी ॥१८७॥

अरसन कोपं पिरिदो-
सरिसिदे माकोंळ्ळदागदेन्नदे पळवं-।
स्मरियिसदे कूडु कूडदो-
डरवरिसुवनल्लनक्क कोल्वदे माणं ॥१८८॥

अर्थ–राजा कहने लगा कि अगर तू मेरे कोप को शान्त करने की कोशिश न करेगी और मेरी बात को स्वीकार न करेगी, सब चिन्तवन छोड़ कर मेरा चिन्तवन न करेगी तो मेरा कोप तेरे प्राण लिये बिना शान्त न होगा ॥१८८॥

आर मगळेंदु भूभुज-
नारय्यदे निन्ननरसिमाडिदनेंबी-।
कारुण्यं केवळमे-
धारिणि बेसगेय्ये बाळ्बुदिदु बेवसमे ॥१८९॥

अर्थ–राजा क्रोध के आवेश में कहने लगा–'अरे! तू किसकी लड़की है। मेरी आज्ञा के उल्लंघन करने का साहस छोटे राजों में भी नहीं है, किन्तु तुझे यह साहस कैसे हुआ। मैंने तुझे पट्टरानी बनाने का वचन दिया है, किन्तु तू मेरी बात की अब भी उपेक्षा करती है। यदि तूने मेरी बात न मानी तो क्या तू बच सकेगी? ॥१८९॥

इस प्रकार राजा क्रोध में भर कर अनेक प्रकार की धमकी दे रहा है। अनेक स्त्रियां भी उसे आ आकर समझाती हैं—कि बेटी! राजा तुझे समझा रहे हैं वे तुझे पट्टरानी बनाना चाहते हैं। तू अपनी हठ छोड़कर उनकी बात मान ले। किन्तु अनन्तमती का मन तनिक भी विषय-भोगों की ओर नहीं गया। वह जिनेन्द्र देव के चरणों में अपना मन लगाये रही। अनेक लोगों ने भी उसे आकर समझाया, किन्तु वह अपना व्रत-भंग करने को तैयार न हुई। वह मनमें यही विचार करती रही कि भगवान जिनेन्द्र के चरण ही मेरे लिये राज्य हैं—उनका प्ररूपित धर्म ही मेरी सम्पत्ति है, उनके उपदेश ही मेरे लिये तीन लोक की संपदा है, उनका धर्म मेरे जीवन में ओत-प्रोत है।

एंदु कंडकंडवरेल्लं गल्लंगुरिगोळे नविल् कर्गोलमं, हंसे सरोबरमं, मद्-दाने बनमं, पसुगूसुभोलेयं, पेरागूसु तवर्मनेयं, तुंबि तावरेयुं करु केच्चलं, नल्लळ् नल्लनं, व्यवहारि पडपं, कोडुगूसु मदुवेयं बेळसुळ्ळं मळेयं, नेनेवंतु जिनपादांभोजंगळं नेनेयुत्तुं परिच्छेदिसिदंळिर्पुदुं, सिंहरथमहाराजं मुनिदु अच्चुळायिलरं बरवेळ्दीचपळेयं साये मोदिर्येबुदुं ॥१६०॥

अर्थ—उसने भगवान के चरणों में इस प्रकार हृदय लगा रखा है, जैसे मोर बादलों की ओर ध्यान लगाये रहता है। हंस पक्षी सरोवर को, मदोन्मत्त हाथी वन को, छोटा बालक माता के स्तन को, स्त्रियां मां के घर को, भ्रमर कमल को, बछड़ा गायके स्तन को, स्त्री पति को, व्यवहारी लोग व्यवहार को, विवाह योग्यकन्या विवाह को, किसान फसल को जैसे स्मरण करते हैं उसी प्रकार अनन्तमतीने जिनेन्द्र देव के चरण कमल का स्मरण करते हुए राजा द्वारा होने वाले उपसर्गों का तनिक भी ख्याल नहीं किया।

सिंहरथ राजा उसके साथ जितना-जितना अत्याचार करता है—उतना-उतना अनंतमतीअपने धर्म में दृढ़ता दिखाती है। जब राजा उसे मारते-मारते थक गया, तब उसने कर्मचारियों को आज्ञा दी कि उसे कस कर खूब मार लगाओ ॥१९०॥

कर्रने करियवरागळे-
गर्रने परितंदु माणदच्चुळ कोर्लि- ।
तिर्रने तिरिपि दुरात्मर्-
चुर्रने केन्नेत्तरोगेये तोलगदे बडिदर् ॥१६१॥

अर्थ–निर्दय कर्मचारियों में से कोई चाबुक, कोई डंडा, कोई बेंत और कोई दूसरे आयुध लेकर उस पर टूट पड़ा। किसी ने उसके पेट में, किसी ने छाती में, किसी ने पीठ में नुकीले आयुध छेदा। कोई भाले से घाव करता है, कोई मारता है। इस प्रकार दुष्ट कर्मचारियों ने अनन्तमती को बहुत मारा। उसके शरीर से खून बहने लगा और वह गिर पड़ी ॥१९१॥

मुळिसिंदोडनोडने छळि-
लूछिळिलेने सूळायूतरट्टि पोयूवुदुमागळ् ।
कळवळिसदे बेंबीळदे-
मुळिसिल्लदे कन्ने मंदराद्रिवोलिर्दळ् ॥१९२॥

अर्थ–अनन्तमती इतनी यातनायें सहकर, पिटकर, रक्त की धारा बहने पर और गिरने पर भी खेद-खिन्न नहीं हुई और न उसके मनमें धर्मके प्रति कुछ ग्लानि ही हुई। वह अन्यथा विचार न करके, सुमेरु पर्वत के समान अचल रही। उसके मुख पर वेदना के चिह्न तक नहीं दिखाई दिये ॥१९२॥

क्षोणीशन बेसदिं-क-
णगाणदे सूडायूतरट्टि मोदुत्तिरलु- ।
माणदे जिनेन्द्र पदमं-
जाणे महोत्साहदिंदे नेनेयुत्तिर्दळ् ॥१९३॥

अर्थ–राजा के क्रोध से तथा निर्दय कर्मचारियों के उपसर्ग से विचलित न होकर और उपसर्ग को उपसर्ग न मान कर वह कन्या भगवान के चरणों का हृदय में स्मरण करती हुई शान्त भाव से बैठी रही ॥१९३॥

शरणे नगीयवसरदोळ्-
परम जिनेश्वरपदांबुजातने पेरतिं ।
शरणिल्लेंदुरे पिडिदळ्- ।
सुरुळिल्लदे बंदिविडिववोल्लिनपदमं ॥१९४॥

अर्थ—अनन्तमती बिचार करती है कि इस समय इस संकट में मेरा कोई भी शरण नहीं है इस समय तो जिनेन्द्र भगवान के चरण ही मेरी शरण हैं ॥१९४॥

[अंतु तन्नोंदुनोवं वगेयदे व्रतं केट्टपुदेंबनोवेपिरिदागे व्रतमं रक्षिप्पुदरिं सावं निश्चयिसि देहाभिलाषेयं बिट्टु पंचनमस्कारमं जपिसुत्तिर्दळन्नेगं आपुरद् नगरदेवते गळ्गासनकंपमागे बेगमरिदु नेरेदु बंदनंतमतियं कंडु दृढव्रतेयेंदरिदु कैमुगिदु नानाप्रकारदिं पोगळ्दु मत्तमितंदर्:—] ॥१९५॥

निल्लो कुमारि तल्लण-
मिल्लदे मुळिसिल्लदोंदेमनदिंदं नो- ।
विल्लदे पदपिं त्रिभुवन-
वल्लभनं नेनेव महिमेयिदु केवळमे ॥१९६॥

अर्थ—अनन्तमती सोचती है, मेरा यह शरीर किसी एक दिन नष्ट होने ही वाला है । ऐसे शरीर मैंने अनेक वार प्राप्त किये और छोड़ दिये । यदि जिनेन्द्र देव के प्ररूपित धर्म के लिये मेरा शरीर छूटता है तो मेरा यह जन्म सार्थक हो जायेगा । यदि दुःखों से घबड़ा करके मैं अपने धर्म को छोड़ दूंगी तो मुझे अनन्त संसार में परिभ्रमण करना पड़ेगा । अब मेरा मरना तो निश्चित है । यदि ब्रत-रहित होकर मुझे मरना पड़ा तो मेरा मानव-जन्म निरर्थक हो जायेगा । अतः ब्रतमें दृढ़ रह कर ही मुझे मरना चाहिए । यह सोच कर वह अपने ब्रत में दृढ़ होकर पंच नमस्कार मंत्र का स्मरण करने लगी तथा वह अपने मन में इस प्रकार चिन्तवन करती है ।

मैंने बचपन से आपके चरण कमलों की सेवा करते हुए ही अपना जीवन-यापन किया है । हे प्रभो ! अब मैं अपने अन्तिम समयमें प्राण निकलते समय उस सेवाका यह ही फल चाहती हूँ कि मरते समय भी आप का नाम मेरी जीभ पर रहे ।

नगर देवता द्वारा अनन्तमती की शील-रक्षा

उस समय अनन्तमती के ब्रत की दृढ़ता से वहां के नगर देवता का आसन कंपित हुआ । उसने अपने अवधिज्ञान से यह जानकर कि किसी धर्मात्मा कन्या के ऊपर घोर उपसर्ग हुआ है । वह तत्काल वहां आया और आकर अनन्तमती की स्तुति की और हाथ जोड़ कर उसको बार-बार नमस्कार करते हुए कहने लगा ॥१९५-१९६॥

धनमुळ्ळनुं मं बिडदो-
यूयने सायदे बंदिविडिदवं बाळ्गेंदं ।
दनवरतं जिनरं पिडि-
द नरंगेरडुंटे बगेवोडिन्नी जगदोळ ॥१६७॥

अर्थ–जिनके पास संसारमें अटूट धन होता है, उन्हें कष्ट बहुत कम होते हैं किन्तु जिनके पास संसार के सब से श्रेष्ठ धन स्वरूप भगवान के चरण कमल हैं, उन्हें संसार में कौन-सा कष्ट हो सकता है ॥१९७॥

नरे बंदनितरोळेनरर-
पिरियदे जिननायसेवेयुळ्ळमनुष्यर् ।
धरेयोळ् कूसादोडभव-
रेरडिल्लदे पिरियरवरे धन्यर् मान्यर् ॥१६८॥

अर्थ–जो मनुष्य जन्म से लेकर बाल सफेद होने तक अपने जीवन में संसार की विषय-वासना का अनुभव करते हुए भी भगवान के चरण कमलरूपी धन को अपने हृदय में सुरक्षित रखता है और मरण पर्यन्त उसे निकलने नहीं देता, वही मनुष्य इस संसार में धन्य है ॥१९८॥

पिरिदु किवि कोडिनंतिरे-
पिरिदप्पुदे बलूपि नोडेगे जिनसेवनेयु ।
ळ्ळरे किरियरादोडं के-
ळ्पिरियरिवर् किरियरेंतुभदनोल्लदवर ॥१६६॥

अर्थ–संसार में प्रायः देखा जाता है कि गाय के बछड़ेके सींग न रहने पर भी जब वह अपने कान खड़े कर देता है तो उस समय वे कान ही उसके सींगके समान प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार जिसके हृदय में भगवान जिनेन्द्र देव का धर्म थोड़ा सा भी रहता है, वह चक्रवर्ती के धन से भी बड़ा है। इसलिये वह व्यक्ति छोटा होता हुआ भी धर्म की दृष्टि से बड़ा कहलाता है ॥१९९॥

पालल्लदे पिरिदप्पुदे-
मेलप्पुदे तुप्पदेडेगे धर्ममनोलूवा ।
कीळु मेलदनोल्लद- ।
मेलुं कीळक्कुमल्लि संदेयमुं टे ॥२००॥

अर्थ—संसार में दूध के अनेक भेद हैं किन्तु अपने लिये हितकारक, पौष्टिक और ग्रहण करने योग्य दूध परीक्षा के पश्चात् ही लिया जाता है । इसी प्रकार अनेक नाम, रूप वाले धर्म संसार में प्रचलित हैं, किन्तु सभी अनुकरण करने योग्य नहीं होते । केवल जिनके पास मूल दूध द्रव्य है, उन्हें घी, छाछ, दही, सब कुछ मिल जाता है । केवल दही या घी की इच्छा करने से वे पदार्थ नहीं मिलते । इसी प्रकार जिन्होंने धर्म का आचरण किया है, उन्हें तीनों लोक की सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है ॥२००॥

वरिय जिनभक्ति यल्लिदु-
तीरसलूवुवु नेरेये पेंपु मापुं मनदों ।
दरिवुं व्रतदुन्नतियं-
पेरतेनी कन्नेयधिकगुणयुतेयक्कुं ॥२०१॥

अर्थ- जिनेन्द्र देव की भक्ति करने वालों का महत्त्व और उस भक्ति के द्वारा होने वाली महिमा का वर्णन इस जगत में इन्द्र भी कहने में असमर्थ है, तो फिर श्रद्धान तथा भक्तिपूर्वक व्रत को ग्रहण करनेवाली, उस व्रत को निरतिचार पालने वाली, उस व्रत के पालने में अनेक प्रकार के उपसर्ग आने पर भी उन विघ्नों की तरफ तिलमात्र भी लक्ष्य न देकर अपने ग्रहण किये हुए शीलव्रतके पालने में दत्तचित्त रहने वाली आप (अनन्तमती) के गुणोंका इस जगतमें कौन वर्णन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं कर सकता ॥२०१॥

एंदु पोगळूदु कन्नेय नोवेल्लमनरसन पट्टदरसियरपरिजनद् कुमारर प्रधानर मेलिक्कुवुदुं ॥२०२॥

अर्थ—इस प्रकार उस नगर देवता ने कुमारी अनन्तमती की स्तुति कर चुकने के बाद वहां ऐसा चमत्कार कर दिखाया कि राजकर्मचारियोंके द्वारा अनन्तमती पर जो भारी मार पड़ रही थी वह मार अनन्तमती पर न पड़ते हुए राजा की पट्टरानी, राजकुमार, अमात्य,

परिजनों आदि पर पड़ने लगी। तब वे लोग अत्यन्त दुःखी होकर चिल्लाने लगे तथा वेदना से व्याकुल होकर जमीन पर गिरकर गिड़गिड़ाने लगे ॥२०२॥

पल्लरमेयूगळोळं तळु-
विल्लदे वासुळ्गळोगे ये कडुनोविंदं।
पल्लं गिडिगिरिदळ्तुं।
निल्लदे नेत्तरने कारि केडदर् नेलदोळ् ॥२०३॥

अर्थ—उनके शरीर से खून की धारा बहने लगी। तथा उनको इस मार की चोट से खून की उल्टियां होने लगीं और वे मरणासन्न-से हो गये ॥२०३॥

नोविंगिनि सिरलारदे-
सावायूतेंदळ्कि बेच्चि गोळिट्टळुतो।
बोवेंदु धैर्यमिल्लदे।
भूवळयाधिपन मुंदे पोरळुतिर्दर् ॥२०४॥

अर्थ—उस मार की वेदना सहन न होने के कारण अति दुःखी होकर मरणोन्मुख के समान रोते चिल्लाते हुए धैर्यहीन और मलिन-मुख रानियां, प्रधान, राजकुमार आदि लोग राजा के पास आकर रुदन करने लगे ॥२०४॥

धरणीशं तां नोविं-
गिरिलारदे नोंदु नडुगि तल्लणदिंदं।
सोरेगोळगिलि पोक्किंतिरे।
परिवरिदल्ललल्लिगुळ्तिर्दं भयदिं ॥२०५॥

अर्थ—सिंहरथ तथा रानियां, राजकुमार, मन्त्री और परिजनादि लोग वह वेदना सहन न होने से उसी तरह अत्यन्त भयभीत तथा चिन्तित होकर चिल्ला रहे हैं जैसे चूहा पिंजड़े में फँसकर दौड़ता फिरता तड़फता है और भयभीत होकर पुनः उसी में गिर पड़ता है ॥२०५॥

अंतुज्वर मादरंते कुंबिक्कुवरसनुमं मगुविनंते पोरळ्वरसियरमं नरे-डादेत्तिनंते नालगेयननुचुंव परिजनमुमं [कुंददाविनंते कालं बडिव पुरजनमुमं] मैलारद् गोरवनंते तं तम्मने बडिदु कोळ्वच्चुळायिलरुमं कोरल्बिगिद् करुविनंते गोळिडुव विळासिनियरुमुं करु सत्तम्मेयंतोरलुव कुमाररुमं, जन्माभिषेकदंदिन मंदर दतिर्द कुमारियुमं नगरदेवतेगळ् कंडु कैय्यं पोय्दु कळकळिसि नक्कु, ॥२०६॥

अर्थ–जैसे तीव्र ज्वर होने से मनुष्य कराहते हैं, जैसे अनजान व्यक्ति के द्वारा पकड़ने पर छोटा बालक रोता चिल्लाता है, जैसे बैल नाथ डालते समय छटपटाता है, उसी प्रकार रानियां, राजकुमार, अमात्य और परिजन लोग वेदना के कारण छटपटा रहे हैं। जैसे वृद्ध शक्तिहीन गाय गिरकर तड़पती है, उसी प्रकार वे लोग भी तड़प रहे हैं। जैसे मइलार देश के साधु अपने आपको जूतों से पीटते और चिल्लाते हैं, उसी प्रकार वे लोग चिल्ला रहे हैं। जैसे बछड़े के गले में जोर से रस्सी बांधने पर बछड़ा हांपता है, उसी प्रकार वे लोग भी सुबकियां ले लेकर रोने लगे। जैसे भैंस के मरने पर उसका बछड़ा डकारता है, उसी प्रकार राजकुमार भी जोर-जोर से चिल्लाने लगे। उन सबके ऊपर जोरों की मार पड़ रही थी, किन्तु अनन्तमती सुमेरु पर्वत के समान अचल बैठी थी। नगर देवता उसकी स्तुति करते हुए उसके सिर पर हाथ रखकर हँसकर कहने लगा ॥२०६॥

आवाव नोवु वंदोड-
मावाव परिषहंगळ डसिदोडं म· ।
त्तोवोयेन्नदे जिनपद-
भावनेपिंदिर्प जैनरिं मिगिलोळरे ॥२०७॥

अर्थ–जो कष्ट जिस समय आता है, उसे धैर्य-पूर्वक सहन करके जो जिनेश्वर के चरण कमलों का श्रद्धान-पूर्वक स्मरण करता है। कष्ट सहन करने की वह शक्ति श्रीजिनेन्द्र देवके अनुयायी के अतिरिक्त दूसरे को प्राप्त नहीं हो सकती। जिन्हें जिनेन्द्र भगवान पर श्रद्धा नहीं है, वे ऐसे अवसरों पर विचलित हो जाते हैं। ऐसे भयंकर कष्टों और उपसर्गों को शान्त भाव से सहन करने वाली स्त्री क्या साधारण स्त्री है? ॥२०७॥

केडादुदेंदु बेच्चदे-
बाडदे बेंबीळदंजि चिंतिसदेरडं-
माडदे मनमं शुभदोळ्-
कूडिर्प जिनागमज्ञरिं मिगिलार्त ॥२०८॥

अर्थ—'मुझे दुःख होता है, मैं कैसे इसे सहन करूँ, अब मुझे कौन छुड़ावेगा, मैं कहां जाऊँ, किसकी शरण में जाऊँ,' इस प्रकारसे न घबड़ा करके अशुभ चिन्तन भी न करते हुए अपने मनकी एकाग्रता से भगवान जिनेश्वरके चरण कमलों को और उनकी आज्ञाको दृढ़ता-पूर्वक स्मरण करने वाले ज्ञानी कहलाते हैं।

इस प्रकार कुमारी अनन्तमती ऐसे भारी कष्ट और उपसर्ग आने पर भी अपने व्रत और धर्म में दृढ रही, वह धन्य है उसके समान संसारमें और कोई धर्मात्मा ऐसा नहीं है।

एगेय्युदेंदु नेगळदे-
रागमनोडरिसुव बुद्धियिल्लदे पापो-
द्योगमने बिसुटु धर्मो-
द्योगदोळडरिर्प जैनरणण बिदग्धर ॥२०९॥

अर्थ—'कहाँ जाऊँ, क्या करूँ, कैसे सहन करूँ,' इस प्रकार के विचार मन में किंचित्-मात्र भी न लाते हुए अशुभ पापोपयोग को उत्पन्न करनेवाली चिन्ता को छोड़कर जो भव्य जीव अशुभ कर्म के उदय में भी दृढता के साथ धर्म योग में रत रहता है वही जिनेन्द्र मार्ग के फल को प्राप्त हो सकता है और वही जैन कहलाता है ॥२०९॥

किडुवोडलं धनमं बि-
ट्टोडसि सद्धर्ममं महादुष्कृतमं।
केडिसि निरंतर सुखमं-
पडेवोडे केळ् जैनरल्लदार्वसुमतियोळ् ॥२१०॥

अर्थ—नाशवान् शरीर की उपेक्षा करके, धन को लात मार करके, सद्धर्म को हृदय में धारण करके, महान दुष्कृत कर्म को नष्ट करके निरन्तर अखण्ड अविनाशी मोक्ष सुख को

प्राप्त करने की भावना जैन के अतिरिक्त इस जगत में और किसी व्यक्ति के मन में नहीं हो सकती ॥२१०॥

सुरगतियुं निर्वृतियुं-
दोरेकोळ्वोडे धर्मदिंदे दोरकोळ्गेंदा- ।
दरदिं धर्मदोळसगुव-
परमगुणं जैनरल्लि नेलसिदुदल्ते ॥२११॥

अर्थ—देवगति या मोक्ष की प्राप्ति केवल धर्म से ही होती है, ऐसा समझ करके आदर के साथ मन में इस धर्म का श्रद्धान रखकर उसकी आराधना करने की बुद्धि और भावना भव्य जैन में ही उत्पन्न हो सकती है, अन्य व्यक्तियों में नहीं। इस प्रकार नगर देव ने अनन्तमती की तथा जैन धर्म की प्रशंसा की ॥२११॥

सिरियोंदोदवं जव्वन-
भरमं नच्चिदुं केडुवरी कन्नेयवोल्-
सुरगतियं निर्वृतियं-
परमार्थं पडेयलरिवरे जडमतिगळ् ॥२१२॥

अर्थ—ऐश्वर्य और यौवन के मद में मोहित होकर मनुष्य इहलोक और परलोक दोनों लोकों को बिगाड़ लेते हैं, ऐसे दुर्गति जानेवाले मूर्ख लोग इस संसारमें बहुत मिलेंगे। परन्तु अनन्तमती कुमारी यौवन और ऐश्वर्य होने पर भी उनकी उपेक्षा करके परमार्थ की सिद्धि में संलग्न रही।

संसार में यौवन, धनसम्पत्ति, प्रभुत्व और अविवेक इनमें से प्रत्येक बात मनुष्य को अन्धा बना देती है। फिर यदि ये चारों एक स्थान पर मिल जाँय अर्थात् किसी एक ही व्यक्ति को वे चारों प्राप्त हो जावें तो फिर उसके बिगाड़का तो कहना ही क्या है! संसार में प्रायः देखा जाता है कि यौवन में मनुष्य अन्धा हो जाता है, वह अकार्य कार्य करने से नहीं चूकता। यौवनके मद में वह चरित्रसे भ्रष्ट हो जाता है और बड़ा भारी उपद्रव खड़ा करता रहता है। वह यौवन के जोश में न तो लोक परलोक की चिन्ता करता है और न किसी को कुछ समझता है। संसार में जितना दुराचार फैल रहा है, वह प्रायः यौवन के मद का परिणाम है। यौवन अन्धा कहलाता है। उसमें लोक-लाज, परलोक-भय, बड़ों

का आदर, कर्तव्य का विवेक ये सब बातें नहीं रहतीं। यौवन का अन्धा व्यक्ति भोगों में लिप्त रहता है, वह इन्द्रियोंके विषयों का दास हो जाता है और धर्मका उपहास करता है उसकी दृष्टि में धर्म बीते-जमाने की लीक होती है। जिसे पीटना वह यौवन-भरे ज्ञान के विरुद्ध समझता है। ऐसे लोग प्रायः यह कहते सुने जाते हैं कि मन्दिर में दर्शन करना, व्रत उपवास करना; ये सब समय-बाह्य (आउट आफ डेट) हैं। ये सब करने वाले पिछड़े लोग हैं, जिन्हें आधुनिक शिक्षा नहीं मिली। जब मन चंगा हो तो कठौती में ही गंगा आ जाती है। ऐसे लोग मांस और अंडों के भक्षण के समर्थन में भी अपनी घिसी-पिटी दलीलें देते हैं कि कहीं खाने पीने में अधर्म होता है? धर्म तो यह है कि झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, दूसरों को मत सताओ। सो हम करते ही हैं। फिर आज के जमाने में रहकर सोसायटियां मूव करने वाला मनुष्य इन चीजों से कैसे बच सकता है? यह सब यौवन की महिमा है।

जिनके पास धन-सम्पत्ति है, उन्हें तो धर्म करने का अवकाश ही नहीं मिलता। जिन्हें धन का मद हो जाता है, उनकी दृष्टि में धन ही भगवान बन जाता है। जब वे एक भगवान की उपासना में दिन रात जुटे हुए हैं, तब दूसरे भगवान की उपासना से क्या लाभ। कहीं दो भगवान भी एक साथ रह सकते हैं? ऐसी होती है धन-मद-वालों की मनोवृत्ति। धन के कारण से जो अहंकार आ जाता है, उसके कारण मनुष्य दूसरों को मनुष्य नहीं समझता है, घृणा की दृष्टि से देखता है, इस प्रकार उसकी मानवता मुरझा जाती है, मर जाती है।

प्रभुत्व (स्वामित्व-मालिकी) आने पर मनुष्य में अहंकार जाग्रत न हो, ऐसे प्रायः कम ही उदाहरण मिलते हैं। 'प्रभुता पाय काय मद नाहीं।' यानी—प्रभुता पाकर कौन ऐसा व्यक्ति है, जिसे मद न आ जाय। जो पहले प्रभुता वालों के कट्टर आलोचक होते हैं, वे ही प्रभुता पाकर उन अवगुणों के शिकार हो जाते हैं, जिनकी वे आलोचना किया करते थे। प्रभुता से व्यक्ति में अहंकार आ जाता है और वह अकारण ही अपने को बड़ा और दूसरों को हीन समझने लगता है। उसके हृदय में मानवता, सहृदयता और सहानुभूति लुप्त हो जाती है।

तथा च जहां अविवेक हो, वहां तो अनर्थ होते ही हैं। जहां विवेक ही नहीं, वहां हिताहित का ज्ञान नहीं रहता। वह परिणाम को सोचे बिना ही कार्य कर बैठता है। फलतः विवाद, संघर्ष और अनेक अकार्य हो जाते हैं। संसार के इतिहास में जितने

युद्ध और संघर्ष हुए हैं, वे अविवेक के ही परिणाम हैं। अविवेक के ही कारण मनुष्य स्वयं भी दुखी रहता है और दूसरों को भी दुखी करता है।

किन्तु अनन्तमती रूप, यौवन, धन और प्रभुता के होने पर भी कभी अपने व्रत से विचलित नहीं हुई ॥२१२॥

देवता का प्रगट होना और राजा द्वारा क्षमा-याचना

एंदु देवदुंदुभिगळ सेये जय जय निनाददिं पुष्पवृष्टियं सुरिदु तम्म रूपं तोरि जनमेल्लमाश्चर्यं बडेकुमारिगे पोडमोट्टुपसर्गमं पिंगिसि पोदर्, इत्तल सिंहरथमहाराजनुं पुरुजनंगळुं जिनभक्तियोळाद महामहिमेयं कंडु अनंतमतीकुमारियं पूजिसि पोडेमट्टु सकलरुं श्रावकव्रतमं कैकोंडु सम्यक्त्वसमन्वितरादर्, अनंतमतियं राजश्रेष्ठियप्प [जिनेंद्रदत्तनुं मन्नणेयिं तन्नमने गोडगोंडु पोगलेंदिर्पन्नोगं, ॥२१३॥

अर्थ—इस प्रकार उसकी स्तुति करने के बाद नगर देवता ने देव-दुन्दुभि के साथ जय-ध्वनि करके अनंतमती पर पुष्पवृष्टि की। तत्पश्चात् उसको अपना देवस्वरूप दिखाया। देव को देखकर जनता आश्चर्य-चकित होकर कहने लगी कि वास्तव में यह कोई मानवी कन्या नहीं है, बल्कि यह देवी है, जिसकी सहायता के लिये देव लोग पधारे हैं। तत्पश्चात् देवों ने अनन्तमती को नमस्कार किया और जनता ने भी कुमारी को नमस्कार किया। यह देखकर राजा ने भी देवों को नमस्कार किया और फिर अनन्तमती को नमस्कार करके क्षमा मांगने लगा कि—मैंने अविवेक से तुम्हें कष्ट दिया। मैं इन्द्रिय-विषयों में फंसकर धर्म अधर्म को भूल गया। तुम धन्य हो। तुमने अपने व्रत पर दृढ़ रह करके मुझ पापी की आंखें खोल दी हैं। सज्जन पुरुष दुष्टों को सदा क्षमा करते रहते हैं। तुम्हारी धर्म और शील में दृढ़ता के कारण मैंने तुम्हें क्रोध से कष्ट दिया तथा कर्मचारियों द्वारा कष्ट दिलाया। फिर भी तुम्हें चोट न लगकर मुझको, रानियों को, राजकुमारों और अमात्यों को ही वह चोट लगी। वह चोट मैं जीवन भर नहीं भूलूंगा। देवी! तुम मुझ पापी को क्षमा करो।

तत्पश्चात् राजा ने देवों से क्षमा-याचना की। देव भी उसे क्षमा करके और अनन्तमती को नमस्कार करके अपने स्थान को चले गये।

तत्पश्चात् सिंहरथ राजाने परिजन, पुरजनों सहित जिनेन्द्र देवकी भक्तिको प्रकट करने वाली अनन्तमती की पूजा की। उसके साथ जितने परिजन पुरजन आये थे, उनमें से

अनेकों ने और राजा रानियों ने कुमारी की जैन-धर्म सम्बन्धी दृढ़ता देखकर जैन धर्म अंगीकार किया और वे सब सम्यग्दृष्टि हो गये। वहां के रहने वाला राजश्रेष्ठी (जिनेन्द्रदत्त) अनन्तमती की धर्म-प्रभावना सुनकर वहां पर आया। और अनन्तमती से प्रार्थना करने लगा कि पुत्री ! तुम मेरे घर चलो और आनन्द पूर्वक वहां रहो। उधर उसके जानेसे पहले परिजन और पुरजन अनन्तमती के चरणों से गिरकर बड़ी भक्ति दिखाने लगे ॥२१३॥

नानाविधदर्च्चनेयिं-
दानारिय पादपद्ममं पूजिसि नी- ।
नानंमूर्ति दिविजां-
गनेर्नी कैकोंडु रक्षिसेम्मं दयेयिं ॥२१४॥

अर्थ—उन्होंने उसकी नाना प्रकार से पाद पूजा करके कहा—हे देवी ! आप आनन्द की मूर्ति हैं, आप देवांगना हैं। हमारे द्वारा जो दुर्व्यवहार हुआ है, आप उसे क्षमा कीजिये और हमारे ऊपर दया कीजिये।

ऐसे कहकर ॥२१४॥

एंदररानु सकलपरिजनंबेरसु पूजिसि बंडारदपोन्नेल्लमं मुंदे राशि-माडुवुदु ओदुमं कैकोळ्ळलोल्लदे मनदोळे नक्कु धर्मदोळं दृढरप्पुदेंदरमनेयं पोरमट्टु बर्पळं धर्मवात्सल्यदिं राजश्रेष्ठियप्प] जिनेंद्रदत्तं मन्नणेयिं तन्नमनेमे गोडगोंडु पोगि नीनेनगे ताय समानळ-गि पार्थिसुवुदुं अंनेगेयूवेनेंदु मने-योळगिरदे सोट्टिय देहारमं पोर्दि कमलश्रिगंतियरं सादुः ॥२१५॥

अर्थ—राजा ने अपने कोष के सारे जवाहरात लाकर अनन्तमती के सामने डाल दिये और कहा कि मेरे पास आपको देने के लिये और कुछ नहीं है, आप इसे स्वीकार करें।

परन्तु अनन्तमतीने उसमें से किसीको भी हाथ नहीं लगाया। वह सोचने लगी कि यह मिट्टी का ढेर है। इसी ढेरके मोहमें पड़ करके जीव संसारमें भ्रमण कर रहा है। वह राजा की मूर्खता पर मन में हँसी और बोली। राजन् ! तुम कैसी अज्ञानता-पूर्ण बात कर रहे हो। यदि मुझे इस सम्पत्ति की ही लालसा होती, तो मेरे पिता के घर में ही क्या कमी थी। यदि मुझे सम्पत्तिकी ही वांछा होती तो मैं पहले ही इसे स्वीकार कर लेती। मैं इतने

कष्ट क्यों उठाती । तुमने मेरे ऊपर अनेक उपसर्ग किये किन्तु उनसे मेरा कुछ नहीं बिगड़ा । जिस धर्म को मैंने अंगीकार कर रखा है, उसे ही तुम भी स्वीकार करो । यदि तुम इतना कर लो तो मुझे सारी सम्पत्ति मिल गई ।

एक कवि ने इस सम्बन्ध में बड़ा सुन्दर लिखा है—

सर्पो हारलता भवत्यसिलता सत्पुष्पदामायते,
संपद्येत रसायनं विषमपि प्रीतिं विधत्ते रिपुः ।
देवा यान्ति वशं प्रसन्नमनसः किं वा बहु ब्रूमहे,
धर्मो यस्य नभोऽपि तस्य सततं रत्नैः परैर्वर्षति ।।

अर्थ—धर्मात्मा प्राणी के लिये विषैला सर्प हार बन जाता है, तलवार सुन्दर फूलों की माला बन जाती है, विष भी उत्तम औषधि बन जाता है और शत्रु प्रेम करने लगता है तथा देव प्रसन्न-चित्त होकर आज्ञाकारी हो जाते हैं । बहुत क्या कहा जाय जिसके पास धर्म है, उसके ऊपर आकाश भी निरन्तर रत्नों की वर्षा करता है ।

इतना कह कर अनन्तमती उस राज-भवन को त्याग करके बाहर आगई । इसके बाहर आते ही राज-श्रेष्ठी धर्म-वात्सल्यसे उसे अत्यन्त सन्मानके साथ अपने घर ले गया । वह बोला तुम मेरी पुत्री के समान रह कर आनन्द-पूर्वक अपना धर्म साधन करो । तब अनन्तमतीने उसकी प्रार्थना मान कर वहां रहने की स्वीकृति दे दी ।

अनन्तमती श्रेष्ठी के घर में सांसारिक वातावरण से दूर हो करके जिनदत्त श्रेष्ठी के उपवन में बने हुए चैत्यालय में कमलश्री नामक अर्जिका के पास जाकर रहने लगी ।२१५।

परतत्वविचारदिन-
च्चरियागे जिनेंद्रभक्तियिं संद महा-
पुरुषर कथेगळ केळ्वेयि-
नरविंददळाक्षिपलवुमोळ्नोंपिगळं ।।२१६।।

अर्थ—वह कमलश्री आर्यिकाके साथ स्व-पर तत्व की चर्चामें अपना काल-यापन करती हुई अपने व्रतों के पालने में निरन्तर आगे बढ़ने लगी । चारित्र में उज्ज्वलता लाने वाले महापुरुषों के चरित्र और भगवान् के सातिशय चरित्र को पढ़ना, सुनना, मनन करना और नन्दीश्वर, पुष्पांजलि, दश लक्षण, षोडशकारण भावना, आदिक अनेक प्रकार के व्रतों को

करती हुई अपने शरीर को कृश करने लगी। वह एक क्षण भी व्यर्थ न गंवाते हुए उस अर्जिका के साथ तत्व-चर्चा करती हुई अपना समय व्यतीत करने लगी ॥२१६॥

अलसदे मनदोळ् चिंतिसि-
पलुंबि पंबलिसदिनिसनप्पोडेमोंदु- ।
म्मळिसदे भोगंगळ पं-
बलनोलदे जिनंरनेयूदे पंबलिसुत्तुं ॥२१७॥

अर्थ–वह मनमें अन्य वस्तुओंकी भावनाको न करतेहुए, अन्य किसी भी वस्तुका चिन्तवन नहीं करती थी, एवं भोगोपभोगोंका चिन्तवन या स्मरण न करते हुए भगवान जिनेंद्र देवके सच्चे मार्गको ही प्रमाद रहित होकर चिन्तवन करके अपना समय व्यतीत करने लगी।

इस प्रकार अनन्तकुमारी ध्यान अध्ययन, व्रत नियम में अपना समय व्यतीत करती हुई भगवान जिनेन्द्र देव के मार्ग में रत होकर समय बिता रही है।

अब इस विषय को यहां छोड़ कर आगे चंपापुर में अनन्तमती के माता पिता का हाल सुनिये–

इरे, जिनेंद्रदत्तनुमातन वल्लभे वसुदेवियुमरसनुमरसियरु मेम्म गुरुवेंदु कोंडाडुत्तिरे कालमं कळेयुत्तुमिर्पुदुमत्तं चंपापुरदोळ् प्रियदत्तसेट्टियुमंगमतियुं बंधुवर्गमुमनंतमतियपोगिंगे विस्मयंबट्टु, ॥२१८॥

अर्थ–जिनेन्द्रदत्त और उसकी स्त्री वसुमती, राजा और उसकी रानी आदि अनन्तमती को अपना गुरु मान कर प्रतिदिन इसकी स्तुति और पूजादि किया करते थे। उधर चंपापुर में प्रियदत्त श्रेष्ठी और उसकी स्त्री अंगमती तथा उनके सब भाई बन्धु अनन्तमती के एकाकी चले जाने की वार्ता को सुनकर आश्चर्य में भरे विचार करते हैं कि ॥२१८॥

तरुणिय रूपिंगारुं-
सरिदोरेयेनिपन्नरिल्लधारियोळ्पं- ।
करुहाननेयं विद्या-
धरनोर्व वेगमुय्द नागलेबेळ्कुं ॥२१९॥

अर्थ–तरुणी अनन्तमतीके रूप पर मोहित होकर उसे कोई विद्याधर उठा कर ले गया

होगा । क्योंकि इस संसारमें इसके समान सुन्दरी कोई भी स्त्री नहीं है जो कि इसके रूपसे समानता कर सके । इसलिये कोई दुष्ट कामी विद्याधर उसके रूप पर मोहित होकर उसे उठाकर ले गया है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है । इसके अतिरिक्त किसी और व्यक्ति का वह कर्म नहीं है । इस प्रकार प्रियदत्त श्रेष्ठी नाना प्रकार के अनुमान लगाने लगा ।।२१९।।

अल्लदंदितु नोडेनोडे अद्दशमेंतादळेंदु प्रियदत्तसेट्टि सैरिस लारदे ॥२२०॥

अर्थ–अनुमान लगाते हुए प्रियदत्त श्रेष्ठी चारों ओर अनन्तमती को खोज करने लगा और मनमें अत्यन्त दुःखी होकर सबसे कहने लगा कि यह कैसा आश्चर्य हुआ जो अनन्तमती अकस्मात् गायब हो गई । ऐसा कहते हुए वह सेठ अनन्तमती के वियोग में अत्यन्त दुःखित हो रहा है, उसे पुत्री के विरह का दुःख सहन नहीं हो रहा है । वह दुःख सहन न होने कारण कहता है ।।२२०।।

निन्नरूपते नोडि बाळुवे नागळु मनदर्तियिं ।
निन्न मुद्दने नच्चि मेच्चुवे नागळु प्रियचित्तदिं- ।।
निन्नमेलुवचनेगळं नेरे केळ्दु मुय्यने माडुवें- ।
निन्नगलके योळेंतु सैरिसुवें सरोजदळानने ।।२२१॥

अर्थ–हे पुत्री ! तुम्हारे रूपको देखकर मैं अब तक जीवित रहा हूं । मैं अपनी इच्छाके अनुसार तुझे गोदमें लेकर जब अपनी छातीसे लगाता था तो उससे मुझे अपार सुख प्राप्त होता था । मेरे चित्तको आह्लाद करने वाली तुम्हारी बहुत-सी बातें होती थीं। तुम्हारी बातें मुझे बहुत प्यारी लगती थीं । तुम्हारी बोली सुन कर मुझे ऐसा लगता था कि मानो मेरा सारा शरीर आभूषणोंसे आच्छादित हो-गया हो । किन्तु तुम्हारे वियोगसे हे कमल नयनी ! मुझे संसार सूना लग रहा है, तुम अपने पिता को छोड़ कर कहां चली गई ? ।।२२१।।

निन्नुडुव वस्त्र चयमं-
निन्नुन्नतिवेत्ते पलवुरन्नद तोडवं ।
निन्नाडुवेडे गळं मा-
नोन्नते नेनेनेनेदु देहमुरिदपुदिन्नु ॥२२२॥

अर्थ–तुम्हारे पहनने के रत्नाभरण, सुन्दर वस्त्र और रत्न, रोज खेलने वाले रत्नों के

खिलौने देख-देख कर मुझे अत्यन्त दुःख होता है। ऐसा लगता है, मानो वेदना से मेरा सारा शरीर ही झुलसा जाता है ॥२२२॥

ओडनुणलारं करेवें-
तोडेगळननुनयदि नारनेरिसि कोळ्वे ।
कडुगूर्मे यिनारं मे-
ल्नुडियिं मुद्दडिपें सरोरुहवदने ॥२२३॥

अर्थ—तुम्हारे बिना जल मुझे फीका लग रहा है, भोजन नीरस प्रतीत होता है। तुम मेरे साथ भोजन करती थीं, किन्तु अब तुम्हारे बिना थाली के व्यंजनों में कोई रस नहीं मालूम पड़ता। जब तक बाहर से आकर तुम्हें गोद में नहीं खिला लेता था तब तक मुझे चैन नहीं पड़ती थी। मैं तुम्हारे लिये नित्य नये-नये वस्त्र और आभूषण लाया करता था। बार-बार तुम्हें प्यार करके मैं सुखी होता था। अब मैं किसको प्यार करूं, मैं वस्त्र और आभूषण किसको पहनाऊं ? तुम्हारे बिना मैं बड़ा दुखी हूं, अपने माता पिता को छोड़ कर तुम्हारा मन कैसे लग गया है ॥२२३॥

जिनपूजेगळं माडदे-
मुनिगळ्गाहारदानमं माडदे भों ।
कने पोगलाग मगळे-
मनकतमं माडि पेत्तवर्मरुगुविनं ॥२२४॥

अर्थ—हे पुत्री ! मेरे साथ तुम भगवान की पूजन किये बिना जल भी नहीं लेती थीं। मुनियों को आहार दिये बिना कभी भोजन नहीं करती थीं। गुरुओं की सेवा करने की तुम्हारी प्रवृत्ति थी। नित्य-क्रिया करने में प्रमाद नहीं करती थीं। मन्दिर में माला फेरे बिना तुम्हें चैन नहीं पड़ता था। गुरु के सान्निध्य में स्तोत्र पढ़ने की तुम्हें रुचि थी, देव-दर्शन, शास्त्र श्रवण किये बिना तुम कभी नहीं रहती थीं। इन सब क्रियाओं को छोड़कर हे बेटी ! अपने जनक जननी के हृदय को तोड़कर तू कहां अदृश्य हो गई ॥२२४॥

[सिरिगेम्नोडनार्देरेसरि-
करमिं तप्पेनगे पुट्टियुं मगळे वसुं- ।

धरे पोगळे दानमं नीं-
वरजिनपूजेयनोल्दु माडदुसिरदे पोपा- ॥२२५॥

अर्थ—बेटी ! यह सम्पत्ति तुम्हारे लिये ही मैंने अर्जित की थी । इसका उपभोग नाना प्रकार के दान, जीर्णोद्धार आदिमें अपने हाथ से न करके, संसारको आल्हादित करने वाले धर्म प्रभावनाके कार्य न करके, दुनियामें धर्म प्रभावना की रुचि उत्पन्न न करके तथा दान पूजा न करके, इन कार्यों को भूल कर तुम कहां चली गई ॥२२५॥

एंदु [पोळ्मरणं किच्चकुर्वते दुःखाग्नि तन्नं सुडे] प्रियदत्त श्रेष्ठि पळयिसि माण्वुदूमंगमति ॥२२६॥

अर्थ—सेठके हृदयमें अनन्तमतीके वियोग की दुःखाग्नि ऐसे प्रज्वलित हो रही थी, जैसे किसी सूखे वृक्षमें आग लगने पर तड़-तड़ कर उसकी लकड़ियां जलकर चटकने लगती हैं । प्रियदत्त श्रेष्ठी इस प्रकार दुःख कर रहा था, तभी उसकी स्त्री अंगमती भी वहां आ गई और वह भी शोकाभिभूत होकर दुःख प्रकट करने लगी ॥२२६॥

परमजिनेंद्रपूजेगळनच्चरि यागिरे माडि बंधुगळ ।
ळ्नेरे दोडगूडि नोडे परे भोरने वारिसे पोन्नतोरनं ॥
करममर्दोप्पि कट्टे गुडिगटि्ट विवाह मनर्तिवट्टु पं ।
करुहदळाक्षिगागिसुते नोळ्पनितं तेरनोंने निल्लेनां ॥२२७॥

अर्थ—वह दुःखित होकर कहने लगी । हे नाथ ! मैंने संकल्प किया था कि अत्यन्त वैभव के साथ जिनेन्द्र भगवान की अत्यन्त आश्चर्यकारी पूजा जनता में करूंगी और सभी परिजनों को निमन्त्रण देकर बुलाऊंगी, और अनन्तमती के लिये कामदेव के समान अत्यन्त सुन्दर गुणवान वर देखकर शीघ्र ही शुभ मुहूर्त का निश्चय करके रत्न और स्वर्ण के तोरण वाला विवाह मण्डप तैयार कराऊंगी । उसमें नाना प्रकार की सुन्दर सजावट करके, उसके ऊपर स्वर्ण कलश चढ़ाकर ऐसा मण्डप निर्माण कराऊंगी, मानों वह स्वर्णका ही मण्डप हो और दोनों आंखों को कन्या के विवाह से तृप्त करके अपनी मनोकामना पूर्ण करूंगी । मेरी कामना थी कि उस अवसर पर याचक जनों को उनकी इच्छानुसार दान देकर तृप्त करूं, परन्तु हे कमलनयनी पुत्री ! ये कामनायें मेरे हृदय में ही विलीन हो गईं । तू मेरी

कामना पूर्ण करके तो जाती । किन्तु तू ऐसे ही चली गई और मेरी कामनायें बिना पूरी हुई छुट रही हैं ।।२२७।।

बसदिगे पोगि दिव्यमुनिपुंगवरं मनदर्तियिंदे वं-
दिसि जिननाथनं स्तुतिशतं गळि नादरदिंदे कूर्तु ब- ।
ण्णिसि मनेगागळंते परितंदवरेंदु दनर्तिवट्टु रा-
गिसि कोरलप्पि पेळ्विमळांगिय नानिरदेल्लि काण्वेनो ।।२२८।।

अर्थ—भगवान जिनेन्द्रदेव के मन्दिर में जाकर तू श्रीजिनेन्द्र भगवान की सैकड़ों स्तुति-स्तोत्रों से आदर-पूर्वक नमस्कार कर पश्चात् मुनियों के चरणों में बैठकर उनके उपदेशामृत का पान करती थी । फिर मुनिचर्या के समय आकर घर में शुद्ध वस्त्र पहनती थी और मुनियोंको आहारदानकी इच्छा करती थी । भगवान जिनेन्द्रकी पूजा, गुरुसेवा, उपदेश-श्रवण आदि की इच्छा तेरे अन्तरंग में भरी हुई थी । सांसारिक वातावरण और वासनाओं की जहां चर्चा होती थी, वहां पर तू कभी भी नहीं बैठती थी और न अपनी उन समवयस्क लड़कियों या स्त्रियों के निकट ही बैठती थी जो कि इस प्रकार की बातें करती थीं। कभी तेरी इच्छा तत्व-चर्चा को छोड़कर अन्य बातों की ओर नहीं जाती थी । गुरुओं से उपदेश सुनकर तू घर में आकर उसे सुनाया करती थी । कभी अत्यन्त प्रेमसे मेरे गलेमें बांहें डाल कर मेरी छाती से चिपट जाती थी और कभी धर्म की बातें कहती थी । ऐसी कोमलांगी मेरी कन्या तू मुझे कहां पर मिलेगी? मैं तुझे कहां देख पाऊंगी । इस प्रकार वह अनेक प्रकारसे बिलाप कर रही है । इतना ही नहीं, वह अपनी कन्या के गुणों का जितना वर्णन करती है उतना ही उसका अपनी कन्या के प्रति स्नेह बढ़ता जाता है । वह अपनी पुत्री के मोहसे शरीर का भान भूल कर विक्षिप्तों के समान आक्रन्दन कर रही है ।।२२८।।

लतेयं तत्तरलाक्षियंगमनेनुतुं निरेजपत्रंगळं-
सततं कन्नेय नेत्रयुग्ममेनुतुं मत्तालि संदोहमं- ।
मतिगेट्टाकेय कुंतलंगळेनुतुं नानाप्रकारंगळिं- ।
सुतेयेंदावनमेल्लमं मनद नोर्वि नाडेयुं नोडिदळ् ।।२२९।।

अर्थ—मेरी पुत्री अनन्तमती का शरीर सुन्दरलताके समान कोमल था । कमलके समान मेरी कन्या के नेत्र-युगल थे । उसके बाल छोटे पंखोंके समान घुंघराले और मनमोहक थे ।

इस प्रकार अपनी कन्या के एक-एक अवयव का वर्णन करते हुए वह उसका स्मरण कर रही है। हे पुत्री ! तेरा एक-एक अंग मेरी आंखों के सामने खड़ा है, वह मेरे मन में बड़ी वेदना उत्पन्न कर रहा है। तू कहां जा छिपी है। तेरी बाल-सुलभ लीला और क्रीड़ा देखने को मुझे अब कहां मिलेगी ॥२२९॥

अंतु दुःखाग्नियिं बेदु पोगि पळपिसुवंगमतियुमं प्रियदत्तसेट्टियुमं वरदत्तभट्टार बंदु संतैसि धर्ममनितेंदु पेळ्दर् ॥२३०॥

अर्थ—इस प्रकार दोनों अंगरती और प्रियदत्त श्रेष्ठी तीव्र दुःखाग्नि से जलते हुए मंदिर में पहुँचे और वहां पर वरदत्त भट्टारक नामक मुनिराजके दर्शन किये। उन्होंने बड़ी भक्ति से उन्हें नमस्कार किया। मुनिराजने दोनों की वेदना को जान करके उनको शान्त करनेके लिये वे धर्मामृत का पान कराने लगे ॥२३०॥

सुरगजेंद्रमे वारणं पिडिवायुधं वर वज्रम-
च्चरिसुराळिये सदं जीवितदाळ्गळ्किंय कोटेयो।
प्पिरे नेगळ्तेय स्वर्गमीदोरेयूर्ध्वलोकद् चक्रिगं-
मरणवागदे माणदेंदोडे गेल्वनावनो मृत्युवं ॥२३१॥

हे भव्य ! धर्मशिरोमणि श्रेष्ठिवर्य ! हे धर्मनिष्ठ अंगरती बेटी ! मन लगाकर सुनो। संसारमें जितने प्राणी जन्मते हैं, उन्हें एक न एक दिन आयु पूर्ण होने पर अपना शरीर छोड़ना पड़ता है। अनादिकाल से इस शरीर के मोह के कारण यह जीव जन्म मरण करता आया है। इस जीव को सुख दुःख देने वाला कर्मों के सिवाय और कोई भी नहीं है। पूर्वोपार्जित कर्मों के अनुसार ही यह सुख दुःख भोगता है। कर्मों के कारण ही प्रत्येक जीवन में नाना प्रकार के सम्बन्धी हो जाते हैं और वे सब मोह उत्पन्न करके जन्म-मरण के कारण बनते हैं। आप दोनों धर्म के जानकार हैं। चारित्र मोहनीय कर्म के उदय के कारण यह आत्मा पर-वस्तु के प्रति रागद्वेष किया करता है। आयु पूर्ण होने के बाद कोई भी जीव किसीके साथ नहीं जाता है, यह बात निश्चय जानो। जहां जन्म है, वहां नियमसे मरण है। मृत्यु से कोई भी रक्षा नहीं कर सकता। इन्द्र की रक्षा के लिये चारों ओर नाना आयुधधारी शूरमा रहते हैं, सम्राटों की रक्षा के लिये चारों ओर ऊंचा दुर्ग रहता है, अनेक प्रकार से उनकी रक्षाकी योजना की जाती है। किन्तु जब काल आ जाता है, तब स्वर्गमें रहने वाले

देव तथा चक्रवर्तीके नौ निधियां, १४ रत्न, ९६००० स्त्रियां और ३२००० पुत्रादि कोई भी मरण निकट आने पर रक्षा नहीं कर पाता, उन सबके बीचमें से मृत्यु चक्रवर्ती को छीन ले जाती है। अतः विचार करो कि संसार में कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। शरीर भी अपना नहीं है, यह भी अन्त में साथ छोड़ देता है। जिस जीवके साथ जितना सम्बन्ध है उतने ही काल तक सम्बन्ध रहता है और उसके बाद वह पृथक हो जाता है। अतः उसका क्या शोक करना? यही विचारना चाहिये कि मैंने जैनधर्म पाकर भी उसका यथावत् पालन नहीं किया, मैंने कभी मोक्ष देने वाले देव-गुरु-शास्त्र का स्मरण नहीं किया। इस प्रकार तुम दोनों विचार करो और पुत्री के वियोग-जन्य दुःख को शान्ति से सहन करो। इस प्रकार से उन मुनिराज ने दोनों की दुःखाग्नि का अपने उपदेशामृत के द्वारा शान्त करने का प्रयत्न किया।

सामायिक पाठ में श्री अमतिगति आचार्य ने कहा है–

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्धं, तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः, कुतो हि तिष्ठन्ति शरीरमध्ये ॥

अर्थात् जिस प्राणी का अपने शरीर के साथ भी ऐक्य नहीं है, उसका पुत्र, स्त्री, और मित्रोंके साथ क्या ऐक्य हो सकता है। यदि शरीरसे उसका चर्म अलग कर दिया जावे तो क्या वहां फिर बाल ठहर सकते हैं ?

संसार की यही दशा है। फिर मोह में पड़ कर स्नेही सम्बन्धियों के वियोग से दुःख क्यों होना चाहिये। यह संयोग और वियोग कर्मों का फल है। यही मान करके सन्तोष करना चाहिए ॥२३१॥

नररुं खेचररुं सुरप्रततियुं पूरादाळ्वेसंगेय्वरु- ।
वेरे षट्खंडयिभाळिगं कुदुरेगं स्त्रीसंकुळक्कं निजा- ।
दरदिं मेरेगळिल्लेनिप्पधिकलक्ष्मीवल्लभं चक्रिगं-
मरणं बारदे माणदेंदोडुळिदर्गेल्वन्नरार् मृत्युवं ॥२३२॥

अर्थ—मनुष्य, विद्याधर, देवगण, राजा महाराजा, षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती, स्त्री, घोड़े, हाथी, बड़े-बड़े योद्धा, अनन्त विभूति के स्वामी आदि किसी को भी मृत्यु ने नहीं छोड़ा।

गद्य—एंबुदुमवर वचनमेंबमृतदिं तम्मदुःखाग्नि [नंदे केलबानुं दिवसं पोगे प्रियदत्तसेट्टि मगळाडुवेडेगळं नोडि कडुनोविं सैरिस दुम्मळिसि नंट-गंरिपलोलुदापुरदिं पोरमोट्टु कतिपय दिनंगळिंदयोध्येगे वंदु जिनेन्द्रदत्त-सेट्टिय मनेयं पोक्कुतन्नतंगेयप्प वसुदेविगमनंतमतिय प्रपंचमं पेळ्वुदुं ।२३३।

अर्थ—इस प्रकार अनेक प्रकारके शास्त्रोक्त उपदेशामृतसे उनकी दुःखाग्नि को श्रीवरधर्म मुनिराज ने शान्त किया । हे सेठ ! तुम धर्म के तत्व को जानते हो । अत एव संसार के स्वरूप को समझ कर मोह को दूर करो । यह संसार क्षणिक है, नाशवान् है । मोह ही इसमें ममता पैदा करता है और वह ममता संसार में जीव को परिभ्रमण कराती है । इस प्रकार उनका शोक दूर किया । मन के शोक भावके कम होने पर प्रियदत्त सेठ ने कई दिन पश्चात् अपनी पुत्री के अनेक प्रकार के खिलौनों को घर में देखा । उन्हें देख कर उन्हें हार्दिक वेदना हुई । वह वेदना सहन नहीं हो सकी । तब मोहासक्त होकर वह अपने सम्बन्धियों के यहां अनन्तमती को तलाश करने के लिये घर से निकल पड़ा ।

अनेक स्थानों पर घूमते हुए वह अयोध्या नगरी में अपनी बहिन के घर पहुँचा उनसे जिनेन्द्रदत्त सेठ के साथ विवाहित अपनी बहिन वसुमती को अपनी पुत्री अनन्तमती के लापता होने का हाल आंखों में आंसू भर कर दीर्घ श्वास लेते हुए सुनाया ॥२३३॥

तोट्टने कोळे केळ्दु मनं-
गेट्टु महादुःखदिंद मिरलारदे वा- ।
ग्विट्टोळरि नोंदु सैरणे-
गेट्टळ्तळ्नेनेदु कन्नेय गुणमं ॥२३४॥

अर्थ—प्रियदत्त सेठ पुत्री का जितना-जितना हाल सुना रहा था उतना-उतना उसका शोक प्रबल होता जा रहा था । उस शोक को सहन न करने के कारण वह रुदन करने लगा । पुत्री के एक-एक गुण का स्मरण करते हुए उसकी आंखों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी ॥१३४॥

अंतु दुःखानळं सुडे कडुनोविंदळुत्तुमिर्प तंगेयं धर्मश्रवणादिंदेंतानुं माणिसि] मरुदिवसं देहारक्के देवरं काणलेंदु बंदु देहारदमुंदणा ॥२३५॥

अर्थ—हृदय के दुःखावेग से रुदन करते हुए प्रियदत्त को बहिन ने धर्म की उपदेश-भरी बातें सुनाकर शान्त किया। दूसरे दिन स्नानादिक से निवृत्त होकर वह जिनेन्द्र देव के दर्शनों के लिये जा रहा था कि जिन मन्दिर के दरवाजे के सामने······॥२३५॥

सुरमहीरुहदोळियिं सहकारभूजनिकायदिं ।
सरसिजाकारदिं लताभवनंगळिं ध्वजदिं फलो- ॥
त्करदिनिंद्रविमानदिं हरिचंदनंगळ जोपदिं- ।
सुरनगंगळ पंक्तियिं देसेदिर्द पूविन मालेयिं ॥२३६॥

अर्थ—उसने अपनी हस्तकला से कल्पवृक्ष, इन्द्रभवन, कमल के आकार के लतागुल्म, ध्वजा, इन्द्र विमान, हरि चन्दन के वृक्ष, फलों के गुच्छों, की स्वर्ग के देवों की पंक्ति-बद्ध रचना पुष्पमालाओं से पूरित देखी ॥२३६॥

रमणीयमप्प रंगवलियं कंडी हस्तकलाकौशलमनंतमतिगक्कु मुळिदर्गा-गद् कारणमिल्लिपर्किये निक्कुवमनंतमतियक्कुमेंदु नोडल्के ॥२३७॥

अर्थ—ऐसे सुन्दर रंग वाले रत्नचूर्ण से पूरे हुए हस्तकौशल को देख कर उसको निश्चय हो गया कि यह अनन्तमती पुत्री के द्वारा ही बनाया गया है। यह विचार आते ही वह फिर रुदन करने लगा। वह कहने लगा कि मेरी पुत्री अनन्तमती भी इसी प्रकार अपने हाथों से रचना करती थी। इसे देखकर मुझे पुनः उसका स्मरण हो आया है ॥२३७॥

भोरेंदु सुय्दु मनपोळ्-
दूरिसि पंबलिसि मरुगि चिंतिसि नेनेदं- ।
भोरुहमुखियं मन्मथ-
वारणगमनेयनंतमनियं सुतेयं ॥२३८॥

अर्थ—वह लम्बी श्वास लेकर अत्यन्त शोकके साथ अपनी कन्या का स्मरण करता है। मन्मथ-विजयिनी पुत्री ! तू कहां चली गई, तेरी गति हाथी जैसी गम्भीर थी ॥२३८॥

अळुतिर्पण्णनं वसुदेवि कंडु नीवेदक ळ्तपिरेंदु बेसगोळ्वुदुं, प्रियदत्त-श्रेष्ठियेंदनिं दानु इंटमु निम्म देहारद मुंदण रंगवलियुमनंतमतिय हस्त-

कुशलतेयं पोल्लुवप्पुदरिं मगळं नेनेदळलायूतेंबुदु देहारदोळिर्द कुमारिय-नोडगोंडु बंदु तोर्पुदुं] ॥२३६॥

अर्थ–जब वसुमतीने अपने भाई को रोते हुए देखा तो वह समझाने लगी कि तुम्हें क्यों बार-बार आंसू आते हैं, तुम धैर्य धारण करो। किन्तु उस रत्नचूर्णसे पूरित चित्रकारी को देखकर बार-बार प्रियदत्त श्रेष्ठी को अपनी कन्या का ध्यान आने लगता था। यह देख करके वसुमती मन्दिरमें जाकर आर्यिका के निकट में बैठी हुई अनन्तमती कुमारी को अपने भाई के निकट ले आई ॥२३६॥

सुतेयप्पुदनरिदु महो-
न्नतियिं दुःखाग्नि पोगे मनदोळ् लोक- ।
त्रितयमनाळ्दंते वणि-
कपति वरतेगेदप्पि कोंडु मोहोदयर्दि ॥२४०॥

अर्थ–प्रियदत्त श्रेष्ठी की बहिन वसुमती जिस समय अनन्तमती को मंदिर में आर्यिका के पास से बुलाकर उसके पास लाई, उस समय उसका पिता प्रियदत्त सेठ हर्षके साथ बोल उठा, यही मेरी अनन्तमती है। पुत्री को देखते ही उसका मन इतना आनंदित हुआ कि मानो उसको तीन लोकों की सम्पत्ति तथा राज्य ही प्राप्त हो गया हो। पुत्री को देखते ही उसका सारा दुःख दूर हो गया। वह अपनी प्रिय पुत्री अनन्तमती को मोह के कारण बार-बार छाती से लगाकर उसकी तरफ देखता उसका माथा चूमता और उसके सिर पर हाथ फेरता हुआ नहीं अघा रहा था ॥२४०॥

तोडेयनेरिसिकोंडु कद्पं कर्चि बडवंगे कडारं कैसार्दतानुं, तिरिदुं बवंगे राज्यं दोरेकोंडतानुं मगळं नोडि पिरिदप्प संतोषर्दि ॥२४१॥

अर्थ–पुनः-पुनः वह अनन्तमती को अपनी गोद में बिठाकर उसका आलिंगन करता और उसके मुंह की ओर ताकता था। जैसे कि किसीको अपने हाथसे खोया हुआ बहुमूल्य रत्न पुनः प्राप्त होने से अति आनन्द होता है, वैसा ही आनन्द उसको हो रहा था। जैसे भीख मांगने वाले भिखारी को अकस्मात् राज्य मिलने से आनन्द होता है, उसी तरह प्रियदत्त श्रेष्ठी को खोई हुई अपनी पुत्री को पुनः देखकर मनमें अति आनन्द और सन्तोष हो रहा था ॥२४१॥

बनजानने निन्नं कं-
डेन गीगळ मनद् नोवु पोदुदु मुन्नं ।
मनकतर्दि कण्गेट्टो-
लनवरतं बेंदु नोंदुमरुयुत्तिर्दें ॥२४२॥

अर्थ–हे कमलनयनी पुत्री ! तुझे देखने से अब मेरे मन का सभी दुःख दूर हो गया। तू मेरी दृष्टिसे जबसे अलग हुई थी, तभीसे मुझको चैन नहीं मिल रही थी, तेरे विरह-जनित दुःखाग्निसे मेरा हृदय सदा जला करता था और मैं व्याकुलतासे छटपटाता रहता था २४२

मगळे नीनिल्लदे मने-
बगेवंदेनगट्टिति व पळु वादुदु नो ।
वगणितमप्पुदरिंद-
ल्लिगे दुःखक्कंजि पळि ळ बंदानिर्दे ॥२४३॥

अर्थ–हे बेटी ! तेरे न रहने के कारण ऐसा प्रतीत होता था मानों घर ही मुझे खाने आ रहा हो। तेरे वियोग-जन्य दुःख को सहन न करनेके कारण मैं घरसे तुझे ढूंढने निकल पड़ा और ढूंढते-ढूंढते यहां आया हूँ ॥२४३॥

एंदु तन्न दुःखमनरियेरियु तेरेयेयु पेळवुदुमनंतमतियु ॥२४४॥

अर्थ–इस प्रकार प्रियदत्त सेठ ने अपना दुख पुत्री से कहा ॥२४४॥

माणदे कडुनोवि क-
रगाणदे वाष्पांबु नेगेये सैरणेगेट्ट ।
च्यूणगुणे कुटिलकुंतले-
जाणे मनोभवमदेभगामिनि बेगं ॥२४५॥

अर्थ–सेठ बार-बार अनन्तमतीसे पूछने लगा कि तू कैसे चली गई, तुझे वहांसे कौन ले गया, तू कहां रही, कहां-कहां क्या-क्या दुःख तूने उठाये ? हे कुटिलकुन्तले ! हे मनोभवजयो गज-गामिनि ! तू मुझे अपना सारा हाल बता ॥२४५॥

तन्न कुंडलमंडित खेचर नोय्दुदु मोदलागे जिनेंद्रदत्तन देहारमं पोर्दिदुमं नडुवेडेयोळाद तत्प्रपंचमेल्लमुमं पेळे सविस्तरं केळ्दु प्रियदत्तसेट्टि बेरगागि ॥२४६॥

अर्थ–तब अनन्तमती ने अपना सारा वृत्तान्त बताते हुए कहा कि उसे कुण्डल-मण्डित विद्याधर किस प्रकार हरण करके ले गया, किस प्रकार उससे रक्षा हुई, पश्चात् क्या-क्या उपसर्ग आये और धर्म के माहात्म्य से उन उपसर्गों से उसकी कैसे रक्षा हुई, जिनदत्त के घर पर किस प्रकार आई, इत्यादि सब बातें अपने पिताको विस्तार-पूर्वक सुनाईं ॥२४६॥

पिरिद्प्पापत्तेल्लम-
नरविंदद्ळाक्षि बिदिरगंटं कडिवं-
तिरे कडिदु वदुकि वंदे ।
दोरे निनगार्पुण्यदेळ्गेयोळ्पेळ्मगळे ॥२४७॥

अर्थ–आई हुई आपत्तियोंको सहन करते हुए अबला महिला द्वारा अपने शीलकी सुरक्षा करना साधारण मनुष्यों की बात नहीं है । यद्यपि बांसकी जड़ को तोड़ना बड़ा कठिन है । किन्तु तूने आपत्ति रूपी गांटको तोड़कर अपने जीवन और शीलकी रक्षा की है । तूने पूर्व-जन्ममें न जाने कौनसे पुण्य किये थे जिससे तू अपने शील व्रत पर दृढ़ रही जिनेन्द्रदेव द्वारा प्ररूपित धर्म देव गुरु शास्त्र पर श्रद्धान करना मोक्षमार्ग है, यह मार्ग सुलभ नहीं है । तूने उस मार्ग पर अविचल श्रद्धान किया है । हे बेटो ! तूने यह महान् कार्य किया है, तेरा पुण्य धन्य है । इस प्रकार प्रियदत्त श्रेष्ठी अपनी पुत्री की बात सुनकर उसकी बार-बार प्रशंसा करने लगा ॥२४७॥

एंदु मगळ दुःखमनारेनुडिदु पिरिदुमुत्साहदिं जिनाभिषेकपूजेयंमाडि पत्तेंटुदिवसं पोदिंबळिक्कं ओंदुदिवसं मगळं नोडि ॥२४८॥

अर्थ–अपनी पुत्री पर आये हुए कष्टोंका वृत्तान्त सुनकर श्रेष्ठी अत्यन्त दुःखित हुआ । परन्तु मिलनेके हर्षसे आनन्दित होकर वह अपनी पुत्रीको घर ले गया । तब उसने भगवान जिनेन्द्र देवकी पूजन बड़े ठाठ बाठ से की और बड़ी प्रभावना की ।

तत्पश्चात् कुछ समयके बाद प्रियदत्त श्रेष्ठी अपनी प्रिय पुत्रीको देखकर मन में विचार करने लगा कि ॥२४८॥

इन्निरलागदु जव्वन-
मुन्नेरेदुदु मृगनिभाक्षिगंबुजमुखिगें ।
दुन्नतचित्तं मदुवेय-
निन्नीकेगे माडवेळ्कुमेंदुत्सवदिं ॥२४६॥

अर्थ—मेरी इस कन्याकी अवस्था अब तरुण हो गई है । इसको अब कुमारी रखना ठीक नहीं है । यह मृगनयनी और उन्नत चित्त वाली (सयानी) हो गई है । अतः अब इसका विवाह ठाठ-बाठ से कर देना चाहिए ॥२४९॥

तन्न सोदरळियं श्रुतसागरंगे कुडल्वेडि बंधुगळेल्लर वळिगट्टि विवाह-मंडपमं तळिर कावणरमुमं माडे ॥२५०॥

अर्थ—इस प्रकार विचार करके उसने अपनी बहिन के पुत्र श्रुतसागर के साथ अपनी पुत्री का विवाह करने का निश्चय किया । अपने परिवार और सम्बन्धियों को इसका समाचार भेज दिया । तब एक सुन्दर विवाह-मण्डप बनवाया, जो कि रत्नों तथा मोतियोंसे खूब सुसज्जित कराया ॥२५०॥

पोळेव दुकूलद गुडियुं-
मळयजदेळदळिदळिर तोरणंगळ् मुक्ता- ।
वळियं पोसरंगवलियु-
विळसितवागिर्द वेत्तलु तद्गृहदोळ् ॥२५१॥

अर्थ—चमकदार रेशमी वस्त्रोंसे विवाह मण्डप सजाया गया । ऊपर पताका और कलश रक्खे गये । चन्दन-चूर्ण से चारों ओर सुगन्धित किया गया । मुक्तावलियोंकी अनोखी छटा छा रही थी । वहां पर रत्न चूर्णसे चौक पूरे गये । इस प्रकार चारों ओर सुषमा और सौन्दर्य दिखाई देने लगा ॥२५१॥

मत्तं जिनाभिषेकक्के बंदिक्षुरस क्षीर दधि घृतकुंभकदि घटंगळुमं वळगजवळिगेंदु बंद चीन दुकूलद हारावळिय पलवुदिंडुगळुमं याचककोटिगे बेडिदुद नीयलेवेंदु पूजिसिद पोन्नराशियुमन ननन्तमति नोडि तंदे यनिदेनेंदु बेसगोळ्वुदुमिंतेंदं ॥२५२॥

अर्थ—इस प्रकार मण्डप की सजावट करने के पश्चात्, भगवान का अभिषेक करने के लिये इक्षुरस, दूध, दही, घृत के बड़े-बड़े कलश तथा याचकों, परिजनों आदि को देने के लिये बहुमूल्य रेशमी वस्त्र आदि मंगाये। मोतियोंके हार मंगाये गए। याचकोंके लिये वस्त्र मंगवाये। स्वर्ण, मोती, रत्नों आदिका ढेर भगवानकी पूजाके लिये तथा याचकोंके निमित्त इकट्ठा किया। इन वस्तुओंको देखकरके अनन्तमती अपने पितासे पूछने लगी कि पिताजी ! यह सजावट तथा यह मण्डप आदि आपने किस लिये बनवाया है। क्या यहाँ कोई प्रतिष्ठा या पंचकल्याणक उत्सव है ?

तब प्रियदत्त श्रेष्ठी बोले ॥२५२॥

पिरिदुत्सव दिं दुरे जें-
करिसि बुधर्नच्चि मेच्चि बगिणम्मे कग्मा।
दरदिं नंटर्जी येने-
सरसिजमुखि निन्न मदुवेयं माडिदयें ॥२५३॥

अर्थ—हे कमलमुखी, मृगनयनी बेटी ! संसार में सब लोग प्रशंसा कर आनन्द मानें, इसके लिये मैंने अपने परिजन, सम्बन्धी लोगोंको बुलाकर अत्यन्त आनन्द और ठाठसे तेरा विवाह करने के उद्देश्य से यह आयोजन किया है ॥२५३॥

एंबुदुमनंतमति मुगुळ्नगे नक्कु तंदेगिंतेंदळ् ॥२५४॥

अर्थ—इस बात को सुन कर अनन्तमती हंसने लगी और बोली ॥२५४॥

विमळ जिनेंद्र साक्षियोळु नीमनगं किरियेंदु मिक्कसं-
यमजलराशियप्प वरदत्तमुनीश्वररिंद ब्रह्मच- ।
र्यमननुरागदिं कोडिसिदिर्मरयल्निमगागदानु म-
श्रमनोळे ताळ्दिदें मुददि नीयेडे योळ्किडिसल्के नक्कुदे २५५

अर्थ—पिता जी ! आप इतनी जल्दी भूल गये। क्या आप मुझे कलंक लगाना चाहते हैं ? क्या आप मुझे धोखे में रख करके संसार-परिभ्रमण कराना चाहते हैं ? जिस समय फाल्गुनी अष्टान्हिका पर्व था और आप गुरु श्री महाराज के दर्शनों के लिए मुझे मन्दिर ले गये थे, उस समय आपने व्रत लिया था और मुझे भी ब्रह्मचर्य व्रत दिलाया था। यह सब

भूल गये ? आपने गुरु महाराज से कहा था कि यह चोरी से विवाह करती है, इसे आप ब्रह्मचर्य व्रत दे दीजिये। यह कह कर आपने मुझे ब्रह्मचर्य का व्रत दिलाया था और गुरु एवं देव की साक्षी-पूर्वक मैंने ब्रह्मचर्य व्रत लिया था, क्या आप यह भूल गये ! जब आप उपदेश सुनकर उठने लगे, और मुझे अपनी गोद में उठा लिया, तब गुरू महाराज से आपने कहा था कि यह चोरी छिपे विवाह करती है, न बाजा है, न मण्डप है, अकेले में विवाह करती है, यह कहकर आपने मुझे वरदत्त मुनिराजसे ब्रह्मचर्य व्रत दिलाया। क्या आप वह व्रत स्वयं दिलाकर उसे खण्डित कराना चाहते हैं। क्या यह आपको उचित है ?।२५५।

एंबुदुमागळ् वैश्यकु-
लांवररवि मगळ माति नंदक्के करं।
तां वेरगागि महानो-
र्वि बेंदु सुयूदु विधिय मनदळलिंद ॥२५६॥

अर्थ—अनन्तमती पुत्रीके यह वचन सुनकर वैश्यकुल शिरोमणि, सेठ प्रियदत्त कठपुतली की तरह उसके मुंह की ओर भोंचक्के रहकर ताकने लगा, उसे अत्यन्त दुःख हुआ और बोला बेटी ! तू मन में कुछ न कुछ धारण कर बैठती है। ऐसा कहते हुए वे लम्बा श्वास लेकर नीचे बैठ गये। वे अनेक चिन्ताओं और संकल्प विकल्पोमें पड़कर कहने लगे।२५६।

नोड मरुळ्मगळ दिटं-
माडुवुदेग्गलूते निन्ननळ्करोळां मु-
द्दाडिसे मुनिसन्निधियो-
ळ्काडिदुदं छांदसिक्के योंदोदविंदं ॥२५७॥

अर्थ—देखो बेटी का पागलपन ! मैं तुझे जब मन्दिर में ले गया था, उस समय मैंने आठ दिन के लिये व्रत लिया था, तब विनोद से मैंने गुरू महाराज से कह दिया था कि इस बच्ची को भी ब्रह्मचर्य व्रत दे दीजिये। क्या कहीं बचपन में भी ऐसा कठिन व्रत लिया जाता है ? तू अभी तक वही धारणा लेकर बैठी है। कैसी पगली है। बचपन की बात तुझको अभी तक याद है। क्या वह सच मानी जायगी ? तू इस धारणा को अपने हृदय से निकाल दे ॥२५७॥

एंबुदुमनंतमति तंदेगिंतेंदळ् ॥२५८॥

अर्थ—अनन्तमती यह सुनकर अपने पिता से कहने लगी ॥२५८॥

तिरिदुंबंगे निधानं-
दोरेकोळे कडेगणिसि पोदोडं संसृतियोळ् ।
तिरिव नरंगं धर्मं-
दोरेकोळे कडेगणिसि विट्टोडं सुखमुंटे ॥२५६॥

अर्थ–भीख मांगने वाले को कदाचित् निधि मिल जाय तो क्या वह उसे छोड़ कर भीख मांगने की इच्छा करेगा ? इसी तरह संसार में भ्रमण करने वाले मनुष्य को यदि धर्म रूपी निधि मिल जाय तो क्या वह इन्द्रियोंके सुखों में पड़ करके उसको भूल कर सुख शान्ति चाहेगा ॥२५९॥

कुरुडंगे पुण्यदिं क-
पदोरेकोळ्ववोलीमहोग्र संसारदोळं ।
वरधर्म मदेंतानुं-
दोरेकोंडोडे नेगळलोल्लदातनेगांपं ॥२६०॥

अर्थ–यदि अन्धे व्यक्ति को पुण्य योग से आंखें मिल जावें तो क्या वह फिर अंधा होने की इच्छा करेगा ? इसी प्रकार संसार समुद्र में भ्रमण करने वाले मोहान्धकार में अन्धा हुआ व्यक्ति धर्म रूपी प्रकाशके मिल जाने पर फिर उसी अन्धकारमें भटकनेकी इच्छा करेगा ? यदि इच्छा करेगा तो उससे बड़ा मूर्ख कौन मनुष्य होगा ? इसी प्रकार अनादि-कालसे संसार समुद्रमें भटकने वाली मुझको इस मानव पर्यायमें शील रूपी रत्न मिल गया तो क्या मैं उसे छोड़ कर फिर संसार समुद्र में भटकने की इच्छा करूं ? ॥२६०॥

सन्नुतजिनधर्मं नेरे-
तन्निदं ताने वंदोडोल्लदेविडुवा- ।
तं नेरे पोल्कुं जगदोळ् ।
पोन्नवं नीरोळेच्चु किडिसुव मरुळं ॥२६१॥

अर्थ–उत्कृष्ट जैनधर्म के अनायास प्राप्त होने पर पुण्य योग से जैन धर्म जैसा रत्न मिलने पर उसे छोड़ने की इच्छा करने से बड़ी मूर्खता और क्या होगी ? किसी को स्वर्ण मिल गया, उसे कीचड़ पानी में फेंकने वाला क्या मूर्ख नहीं है ? इसी प्रकार मुझे ब्रह्मचर्य

रूपी रत्नकी प्राप्ति होने पर, जो कि सुख शान्तिका देने वाला है, क्या मैं इन्द्रिय-विषयोंके लिये उसे फेंकने की इच्छा करूं ? ॥२६१॥

सद्मळधर्मं दोरेकोळ-
लद्नोल्लदे मत्ते बिडुव जडमति पोल्कुं ।
मुदर्दिं दोलगदोळ्पडे-
दुद्निं बिनोळिरिसुवल्लि किडिसुव मरुळं ॥२६२॥

अर्थ—अत्यन्त पवित्र धर्मके प्राप्त होने के बाद उसको छोड़ने की इच्छा करने वाला व्यक्ति क्या जड़मति नहीं है ? किसी को यदि अपने आप राज्य-लक्ष्मी प्राप्त हो जाय, तब वह उसका तिरस्कार करके भीख मांगनेके लिये तयार हो जावे तो उसके समान कोई और मूर्ख होगा ? ॥२६२॥

अदुकारणदिं धर्मदिननंतसुखमक्कुमेंबुदं अधर्मदिननंत दुःखमक्कुमेंबुदं संसारसुखमल्पमेंबुद् नीमिबोगि बल्लिरिं तुबल्लोड मेन्नमेलन मोहदिं दीयातं नुडिविरादोडं धर्माभिप्रायमनरिव नीवेमगिदंनुडियलागदेंबुदुं मगळोळाद् कडुमोहदिं प्रियदत्तसेट्टि इंतेंदं ॥२६३॥

अर्थ—इसलिये पिताजी धर्म से ही सुख मिलता है । अधर्म से दुःख मिलता है । अधर्म संसार का कारण है, यह आप भली भांति जानते हैं । यह जीव विषय कषाय के कारण संसार में दुःख भोग रहा है । आप तो गुरुओं की संगति में सदा रहते हैं, अतः आप से यह बात छिपी नहीं है । यह सब जानते हुए भी आप जो कुछ कह रहे हैं, वह मेरे प्रति अत्यधिक मोह के कारण बोल रहे हैं । आप धर्म का अभिप्राय सब जानते हैं । मैं आपको क्या समझाऊं । किन्तु मोह छोड़ कर आप इस पर गहराई से विचार कीजिये कि जो कुछ आप कह रहे हैं, क्या वह उचित है ? मैं आपकी पुत्री हूँ, इसलिये आप मोह नहीं छोड़ना चाहते, किन्तु आपको मेरे कल्याण का ध्यान रखना चाहिये । क्या कोई पिता अपनी पुत्री के अकल्याण की बात सोचता है ? ॥२६३॥

मदगजगामिनि माणि-
क्यद मुत्तिनपोन्न पद्मरागद वेड्डु-

यंद जिनचैत्यालयमं-
मुददिं दं पलवनर्तियिं माडिसु नीं ॥२६४॥

अर्थ—प्रियदत्त श्रेष्ठी सुनकर बोले—बेटी ! मेरी बात सुन। कभी धर्म में भी मनुष्य भूल करता है, उसका भी शास्त्रों में प्रायश्चित्त बताया गया है। तूने यदि कभी व्रत लिया हो और छोड़ दिया हो तो उसका शुद्धि विधान और प्रायश्चित भी है। तुझे घर में क्या कुछ कमी है, हीरा है, मोती है, माणिक, पुखराज आदि सब कुछ हैं। रत्नों की मूर्ति बनवाओ, मन्दिर निर्माण कराओ और भी जो चाहो प्रायश्चित्त-स्वरूप कार्य करो ॥२६४॥

पोंगळसदिंदे पलवु बे-
डंगिन रूवारदिं दमोप्पुव जिनगे- ।
हंगळननेकमं पल-
वंगळपदे माडिसर्तियिं वनजमुखी ॥२६५॥

पालिंदं मोसरिंदं-
मेलेनिसुव तुप्पदिंदमडुगेगळिंदं ।
लीलेयोळे मुनिकदंबम-
नोलाडिसु मगळे निन्नकणूतणि त्रिनेगं ॥२६६॥

अर्थ—हे पुत्री ! अत्यन्त सुन्दर उन्नत आकाश को छूने वाले शिखरवन्द मन्दिर निर्माण कराओ, खूब समारोह से पूजा कराओ। खूब प्रभावना कराओ। याचकों को यथेच्छ दान दो। दूध, दही, शुद्ध घीका सरोवर बनवा कर जिनेन्द्रदेवका अभिषेक कराओ। सत्पात्रोंको मनमाना दान दो। मन और आंखों की तृप्ति होने तक भगवान का अभिषेक करके पुण्य-बन्ध करो। बेटी ! तुझे हर हालत में विवाह करना ही होगा ॥२६५-२६६॥

मदुवे यागले वेळ्कुमेंदु [मेलुदं पासि] बेडुवुदं [अनंतमतिनक्कु] नीं पुण्यक्के कारणमक्कु मादोडं एन्न कैकोंड व्रतमनेगेय्दुं किडिसुवेनल्लेंदु मरुमातिंगेडयिल्लदंतु नुडिवुदुं, प्रियदत्तसेट्टि मगळ परिच्छेदमनरिदुसिर दिर्दनन्नेगं मावनप्प जिनेंद्रदत्तसेट्टियुमत्तेयप्प सुदत्तेयुं बंदिं तेंदर ॥२६७॥

अर्थ–तब अनन्तमती हँसकर उत्तर देती हुई बोली, पिताजी ! जो कुछ आपने कहा: वह सब निम्न दशा के रागमयी पुण्य-बन्ध का कारण है, अनादि काल से उस रागमयी पुण्य के चक्कर में पड़ कर आत्मा विभिन्न योनियों में भटकता है । किन्तु इस पुण्य के लिये मैं अपना विरागमय व्रत छोड़ने वाली नहीं हूं । वही बात बार-बार कहने से क्या लाभ है ? मैं अपना अंगीकृत व्रत भंग करने वाली नहीं हूं ।

प्रियदत्त श्रेष्ठी अपनी पुत्री का दृढ़ निश्चय जानकर निरुत्तर हो गया, तब उसने जिनेन्द्रदत्त श्रेष्ठी, सुदत्ता आदि सम्बन्धियोंको बुलाया, जिससे कि वे भी पुत्रीको समझा कर उसके निश्चय को छुड़वा सकें ।।२६७।।

पुण्य-पाप की हेयता, उपादेयता

जीवों के परिणाम तीन प्रकार के होते हैं–१-अशुभ, २-शुभ, ३-शुद्ध । क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसकवेद आदि कषायों की तीव्रता से जो हिंसा, विश्वासघात, धोखा, छल फरेब, चोरी, बलात्कार, व्यभिचार, अनीति, अत्याचार, दुराचार, विषय भोगों की लिप्सा, सात दुर्व्यसन; आदिक के खोटे भाव होते हैं, वे अशुभ भाव हैं । उन अशुभ भावों के द्वारा या पाप क्रियाओं से असाता वेदनीय, नरक आयु, पशु आयु, नरकगति, नीच गोत्र, मिथ्यात्व, कषाय आदि पाप या अशुभ कर्मों का बन्ध होता है ।

कषायों की मंदता से जीवों की दया-भाव से रक्षा करना, सत्य मीठा हितकारी वचन बोलना, विश्वास-घात न करना, चोरी न करना, व्यभिचार सेवन न करना, न्याय नीतिसे सन्तोष के साथ धन-उपार्जन करना, दान करना, दुखियों का दुख दूर करना, परोपकार करना, ज्ञान का प्रचार करना, धर्म का प्रचार करना, वीतराग भगवान, निर्ग्रन्थ गुरु तथा जिनवाणीकी भक्ति पूजा करना, व्रत पालना आदि स्व-पर-हितकारी भावना यानी शुभ-भाव होते हैं । शुभ या पुण्य भावोंसे साता वेदनीय, मनुष्यायु, देव आयु, तीर्थंकर प्रकृति, ऊंच गोत्र आदि पुण्य कर्मों का बन्ध होता है ।

बाहरी सब शुभ अशुभ कार्य छोड़ कर जब आत्मा के ध्यान में लीन होकर आठवें गुणस्थानसे विरक्त भाव होते हैं, जिनसे कि चारित्र मोहनीय कर्मका क्षय होना प्रारम्भ होता है, वे शुद्ध भाव हैं । उन शुद्ध भावों से कर्मों की बहुत भारी निर्जरा होती है, कर्म-बन्ध बहुत कम होता है ।

इन तीनों भावों में से अशुभ या पाप भाव तो सर्वथा हेय हैं क्योंकि उनसे आत्मा को सांसारिक सुख भी नहीं मिलता, दुख ही दुख मिलता है, अपयश होता है, मार पड़ती है, नरक आदि दुर्गति मिलती है।

शुभ भाव या पुण्य भाव दो प्रकार के होते हैं—१-सम्यग्दृष्टि के सरागी-शुभ भाव जिनको दूसरे शब्दों में सम्यग्दृष्टी का पुण्य कहना चाहिए। २-मिथ्यादृष्टि का शुभ या पुण्य भाव। सम्यग्दृष्टि को अपने शुद्ध आत्मस्वभाव की श्रद्धा होती है, इस कारण वह संसार, शरीर और विषय भोगों से विरक्त रहता है, अपने आत्मा में वीतरागता प्राप्त करने के लिये ही वह सच्चे (वीतराग) देव, सच्चे गुरु (निर्ग्रन्थ मुनि) तथा वीतराग भगवान की वाणी की स्तुति, वन्दना, पूजा, भक्ति आदि अनेक तरह से उपासना करता है, व्रत, तप, संयम आचरण करता है, गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी मिथ्यात्व भाव से, पाप क्रियाओं से दुर्व्यसनों से बचा रहता है। इन विरक्त भावों के कारण उसके मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय का तथा अन्य अशुभ कर्मों का संवर होता है, अणुव्रती सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण कषाय का तथा मिथ्यात्व एवं अन्य अशुभ कर्मों का संवर होता है, महाव्रती मुनिराज। (छठे सातवें गुणस्थानवर्ती) के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान कषायों का मिथ्यात्व आदि बहुतसे कर्मों का संवर होता है तथा कर्मों की निर्जरा उत्तरोत्तर असंख्यातगुणी बढ़ती चली जाती है।

परन्तु भक्ति, दान, व्रत, तप आदि शुभ राग के कारण उस संवर निर्जरा के साथ-साथ पुण्य कर्मों का बन्ध भी होता है।

मिथ्यादृष्टि जीव के पुण्य भावसे कर्मों का संवर तथा निर्जरा नहीं होती परन्तु कषायों की मन्दताके कारण उसके पुण्य कर्मोंका बन्ध हुआ करता है जिससे कि सुन्दर शरीर, ऊंच कुल, मनुष्य, देव पर्याय, धन सम्पत्ति, स्वास्थ्य, सुपुत्र, सती पत्नी आदि सांसारिक सुखकी प्राप्ति हुआ करती है।

इस कारण पाप की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि का पुण्य उपादेय है, परन्तु मोक्ष की अपेक्षा से वह त्याज्य है। सम्यग्दृष्टि का पुण्य मिथ्यादृष्टि के पुण्य की अपेक्षा उपादेय है क्योंकि सम्यग्दृष्टि का पुण्य परम्परासे मोक्ष का कारण है। परन्तु शुद्ध परिणति (शुक्ल ध्यान) की अपेक्षा वह त्याज्य है। उत्कृष्ट पुण्यका फल अर्हन्त पद प्राप्त होना है। 'पुण्णफला अरहंता'

जो जीव अभव्य होते हैं उनको कभी सम्यक्त्व होता ही नहीं, वे सदा मिथ्यादृष्टि बने रहते हैं। इस स्वाभाविक अयोग्यता के कारण उन जीवों को पापकी अपेक्षा मिथ्यात्वमयी

पुण्य भी उपादेय है क्योंकि उस पुण्य में कषाय भाव मन्द होते हैं। सांसारिक स्व-पर-उपकार के भाव होते हैं।

अभव्यजीव भी सौभाग्य से वीतरागदेव, निर्ग्रन्थ गुरु तथा जिनवाणी का उपासक बन जाता है, अणुव्रत, महाव्रत आदि पालन करता है, शान्त भाव से परिषह सहन करता है। दूसरों को धर्म-उपदेश भी देता है, विषय भोगों से विरक्त भी रहता है परन्तु इतना प्रयास करने पर भी अचल अमिट मिथ्यात्व कर्म के उदय से उसको आत्म-अनुभूति नहीं होने पाती, अतः अन्य मिथ्यादृष्टी पुण्यात्माओं से वह अच्छा होता है किन्तु अन्तरंग से वह मुनि मार्ग से दूर ही बना रहता है, इसी लिये पुण्य कर्म का बन्ध तो करता है परन्तु कर्मों का संवर नहीं कर पाता, न उसके मोक्षदायिनी कर्म निर्जरा होती है।

इस तरह न तो सब तरह के पुण्य सर्वथा हेय (छोड़ने योग्य) हैं और न सब तरह के पुण्य सर्वथा उपादेय हैं।

कुगुरु कुदेव कुधर्मके भक्त पुण्यात्मा के पुण्य की अपेक्षा सत् देव गुरु शास्त्र के उपासक, दुर्व्यसन रहित, अणुव्रत महाव्रत आदि का आचरण करने वाले मिथ्यादृष्टि का पुण्य उपादेय है। सत् देव गुरु शास्त्र के उपासक मिथ्यादृष्टी (द्रव्यलिंगी मुनि, द्रव्यलिंगी श्रावक) के पुण्य की अपेक्षा अव्रती सम्यग्दृष्टी का पुण्य उपादेय है। असंयमी सम्यग्दृष्टी के पुण्य की अपेक्षा प्रतिमाधारक श्रावक का पुण्य उपादेय है। सम्यग्दृष्टी श्रावक के पुण्य की अपेक्षा छठे गुणस्थानवर्ती मुनि का पुण्य उपादेय है और छठे गुणस्थानीय मुनिके पुण्य की अपेक्षा धर्मध्यान में लीन सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि का पुण्य भाव उपादेय है।

आठवें गुणस्थानवर्ती शुक्ल-ध्यानी मुनि के यद्यपि व्यक्त (इन्द्रियगम्य) राग भाव नहीं होता है, परन्तु संज्वलन कषाय का मन्दतम (नौवें दशवें गुणस्थान की अपेक्षा मन्दतर) उदय होने से अव्यक्त राग होता है। अतएव वहां भी पुण्य भाव होता है जिससे पुण्य कर्म-बन्ध होता है। इस तरह सातवें गुणस्थानकी अपेक्षा आठवें गुणस्थानका पुण्यभाव उपादेय है, आठवें गुणस्थान के पुण्य भाव की अपेक्षा नौवें गुणस्थान का पुण्यभाव और नौवें गुणस्थान के पुण्य भाव की अपेक्षा दशवें गुणस्थान का पुण्यभाव उपादेय है।

दशवें गुणस्थान के ऊपर रागभाव नहीं रहता। परन्तु योगों के कारण तेरहवें गुणस्थान के अन्त तक पुण्य कर्म का बन्ध हुआ करता है। किन्तु उन ११-१२-१३ वें गुणस्थान वालों के शुद्ध परिणति होती है।

इस तरह गुणस्थानों के क्रम से कषायों के मन्द, मन्दतर, मन्दतम तथा अभाव की

अपेक्षा पहले-पहले (पूर्ववर्ती) गुणस्थानों का पुण्य हेय है और ऊपर-ऊपर के गुणस्थानों का पुण्य उपादेय है।

पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक की ११ प्रतिमायें (श्रेणियां) होती हैं। उन प्रतिमा वाले श्रावकों के भाव क्रम से अधिक-अधिक उज्ज्वल होते जाते हैं। इस कारण पूर्व-पूर्व प्रतिमाधारियों के पुण्य भाव की अपेक्षा ऊपर-ऊपर के प्रतिमाधारियों का पुण्यभाव उपादेय होता है, निचले प्रतिमाधारियों का पुण्य ऊपरी प्रतिमाधारियों की अपेक्षा त्याज्य होता है।

श्री देवदसेन आचार्य ने भाव संग्रह में लिखा है—

सम्माइट्ठीपुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेऊ जइवि णियाणं ण सो कुणई॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टी जीव का पुण्य नियम से संसार का कारण नहीं होता है। यदि वह निदान न करे तो उसका पुण्य मोक्षका कारण होता है।

इस तरह पुण्य की हेयता और उपादेयता का विवरण है।

जो व्यक्ति यह कहते हैं कि 'पुण्य भाव सदा हेय है।' वे न तो पुण्य भावोंकी श्रेणियों को समझते हैं, न उनको गुणस्थानों के अनुसार भावशुद्धि का परिज्ञान है और न वे कर्म-बन्ध, कर्म-संवर, कर्म-निर्जरा का विवरण ही समझते हैं। तेरहवें गुणस्थान वाले अर्हन्त भगवान के भी जब मनुष्य आयु, साता वेदनीय, तीर्थंकर प्रकृति आदि पुण्य कर्म का उदय होता है और साता वेदनीय पुण्य कर्म का बन्ध (एक समय की स्थिति वाला) भी हुआ करता है, तो पुण्य कैसे हेय हो सकता है? और न उसका त्याग ही किया जा सकता है। पुण्यके हेय उपादेयका विवरण जैसा पहले बताया गया है, उस तरहसे पुण्यका त्याज्य भाव और ग्राह्य भाव समझना चाहिये।

अनन्तमती के सामने उसके पिता ने यह बात रक्खी कि 'तू पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत को छोड़ दे। अपना विवाह करके एक देश ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर तथा सुन्दर मंदिर, प्रतिमा बनवाकर दान, पूजा आदि शुभ कार्य करके पुण्यकर्म उपार्जन कर।'

परन्तु अनन्तमती पुण्य भाव को अच्छी तरह जानती थी। गृहस्थाश्रम में एक देश ब्रह्मचर्य व्रत से तथा दान पूजा आदि से जितना पुण्य-संचय होता है उसकी अपेक्षा गृहस्थाश्रम छोड़ कर पूर्ण ब्रह्मचर्य द्वारा उच्च श्रेणी का पुण्य-उपार्जन होता है जो कि शीघ्र मोक्ष प्राप्त करने का कारण बनता है। क्योंकि उससे कर्मों की निर्जरा बहुत होती है, वैराग्य अधिक होता है।

इसी कारण वह अपना विवाह न करके पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत पालना चाहती है।

वेड कडुमूर्खतनमं
माडदे पिडियच्चुविडिदु मुन्निन मातं ।
नोडदे छद्मं कैकों डु
डाउदे नीं मगले मदुवेयागले वेक्कु ॥२६८॥

अर्थ—प्रियदत्त सेठ के संबन्धी आकर अनन्तमती को समझाते हैं कि बेटी ! इस प्रकार मूर्खता की बात करना ठीक नहीं है, तू पहले की बात को भूल जा । हठ करना ठीक नहीं है । मुनिवर ने तेरे पिता के कहने से जो व्रत दिया था, वह तो विनोद मात्र था । अतः तुझे अपना विवाह करना होगा ॥२६८॥

एंबुदुमनंतमति [मावगत्तेगं] इंतेंदक ॥२६९॥

अर्थ—इस प्रकार अनन्तमती अपनी बुआ आदिकी बात सुन कर कहने लगी ॥२६९॥

सारमसारमिदेंदु वि
चारिसि कैकोंडु किडिसलार्पुदे चिः नि- ।
ष्कारण मद्‌रिंद्‌न्यर
बारिसे मारवंदु माव कंचिन दनिये ॥२७०॥

अर्थ—आप लोग विचारवान हैं, सज्जन हैं, धर्मज्ञ हैं । आप से मैं छोटी हूं । पुत्री के समान हूं । मुझे उतना ज्ञान नहीं किन्तु सद्‌गुरुओं की संगति से वीतराग भगवानकी वाणी का मैंने कुछ अध्ययन किया है । वह यही बताती है कि इस संसार में मोह के कारण यह जीव इन्द्रियोंके विषयों में लिप्त रहता है । इन्द्रियों की गुलामी के कारण यह स्वयं संसार को छोड़ नहीं पाता और दूसरों के संसार का भी कारण बन जाता है । किन्तु आप लोग मुझे संसार में फंसाना चाहते हैं । आप लोग मोह के कारण मुझको वैराग्यसे न रोकिये । मेरे व्रतमें बाधा डालनेकी या उसे खंडित करनेकी आप लोग चेष्टा न कीजिये । मेरा आत्मा इस समय जाग उठा है । मुझे क्षणिक वस्तुओं के प्रति क्षणिकता की भावना उत्पन्न हो गई है । उसे रोकने की कोशिश मत कीजिए । मुझे सद्‌गुरु की संगतिसे जो रत्न मिला है, उसे मैं किसी भी प्रकार से छोड़ने के लिये तैयार नहीं हूं ।

मैं ग्रहण किये हुए व्रतको क्यों छोड़ दूं ? मैंने इसे विचार करके ही ग्रहण किया है ।

निष्कारण मेरा व्रत भंग करनेकी चेष्टा मत कीजिये। आपका कर्तव्य तो यह होना चाहिए कि अपनी बेटी को धर्म में दृढ़ करने का प्रयत्न करें। किन्तु आप लोग मुझे मेरे व्रत से विचलित होने का उपदेश दे रहे हैं। क्या आप लोगों का यही कर्तव्य है? ॥२७०॥

पिडिदी सुव्रतमं म
त्तेडेयोल किडिसुवेने किडिसलरियें वगेवं।
दुडुविन नालगेयतिरे
दृढव्रत गोंद्ल्लदेरडु नालगेयोलवे ॥२७१॥

अर्थ–मैंने जो व्रत ग्रहण किया है। उसे प्राण जाने पर भी मैं नहीं छोड़ सकती। गुरु के मुख से दिये हुए व्रत को भंग करने को मैं तैयार नहीं हूँ। सज्जन पुरुषोंके वचन एक ही होते हैं। जो वचन बदलता है, वह मनुष्य नहीं है। जो दृढ़ व्रती होते हैं उनकी जीभ एक ही होती है। जिस जीभ से मैंने व्रत ग्रहण किया है, वह जीभ मेरे एक ही है, दो नहीं हो सकतीं। अतः मैं व्रत नहीं छोड़ सकती।

इस प्रकार अनन्तनती की व्रत-निष्ठा को देखकर सब लोग निरुत्तर हो गए ॥२७१॥

एंबुंदुमवर् मातुगुडदिरेकुमारि प्रियदत्त मोट्टे मोद्लोग बंधु
गलेल्लरूमनोडंबडिसि [जिनपूजेयंमाडिसि] वरदत्त भट्टारकर।
गुरूगलागे कमलश्री गंतियरल्लि दीक्षेयं कैकोंडु ॥२७२॥

अर्थ–अनन्तकुमारी ने विवाह-सम्बन्धी या संसार-सम्बन्धी बात न करके समागत सम्बन्धियों को धर्मानुराग से समझा कर सन्तुष्ट किया। तत्पश्चात् श्री जिनेन्द्र भगवान की पूजा अभिषेक करके और याचकोंको दान देकर सन्तुष्ट किया, तत्पश्चात् भट्टारक वरदत्त आचार्य द्वारा दीक्षित कमल श्री आर्यिका के पास जाकर अनन्नमती ने आर्यिका दीक्षा ग्रहण की ॥२७२॥

मनदोलिरभेय सुखमं
नेनेयदे जिनचरण कमलमं नंबुगेयिं।
दनवरतं मरेयदे मों
कने सेडेयदे तपदोल्लाद नोविंगिनिसं ॥२७३॥

अर्थ—तत्पश्चात् अनन्तमती ने अपने मन में इह लौकिक सुख की कामना छोड़ कर भगवान् जिनेन्द्रदेव के चरण कमलों का ध्यान किया, वह तपस्या में वृद्धि करती गई। शारीरिक कष्ट होने पर भी उसको रंचमात्र भी मनमें कल्पना नहीं आने दी ॥२७३॥

पेरवलि सुखमं मनदोल्
मरेंदु चिंतिसदे शंकेयि मिथ्यात्व ।
क्केरगदे मुनिसोस गेगल्ल
तोरेदे कषायंगलं मनंविडे बिडुतं ॥२७४॥

अर्थ—वह इन्द्रिय-जन्य सुखको सर्वथा भूल गई। कभी उसका स्मरण भी नहीं किया। इस प्रकार सुखाकांक्षाकी भावना मन में न लाते हुए रागद्वेष उत्पन्न करने वाली पर-वस्तु के चिन्तन की भावनाको जरा भी अवकाश नहीं दिया। उसने कषाय भाव का त्याग कर दिया ॥२७४॥

परमागममं कर्मद्
परिणतियं मुन्नमोलिपनिं नेगल्द् महा ।
पुलवर कयेगलुमं तां
स्मारिसुत्तं पोलतु गलेयुतीतेर दिंद ॥२७५॥

अर्थ—परमागम के अनुसार कर्म-परिणति को जान कर उत्तरोत्तर तप में वृद्धि करती हुई आत्म-साधना करती गई। अपने समय को क्षण भर के लिये भी पर-समय में नहीं जाने देती थी। हमेशा कर्मों की निर्जरा-करने की भावना रखती थी ॥२७५॥

खलकर्म राजनोद्विद्
बलमं केडिसल्के वेडि तोटिरदी क ।
त्तलमं पोलेतुदु नोडल
मलमोरंत मदु कूडें सर्वांगमुमं ॥२७६॥

अर्थ—दुष्ट कर्म रूपी राजाकी सेना को विनोद-पूर्वक तपश्चर्या द्वारा भगानेकी भावना उसके आत्मामें थी अतः अनन्तमती अपने तप की साधना में उत्तरोत्तर महान वृद्धि करती गई। जैसे रेगिस्तान का रेत वायु के द्वारा उड़ा करता है। उसी प्रकार अनन्तमती के कर्म

खिर रहे थे। उसके मुख पर कान्ति दीप्तिमान् थी । उसका शरीर तप के तेज से प्रदीप्त हो गया। तप के द्वारा उसकी वाणी इतनी पवित्र हो गई कि उसे सुन कर दूसरों के मन में कर्म निर्जरा करने की प्रेरणा उत्पन्न हो जाती थी। उसकी देह कठपुतली के समान शुष्क हो गई ॥२७६॥

आ वेरे देहमोप्पडे
तां वेरेंदेंब निश्चयं मिगे प्रोहा।
डेबर मनुलिदु त्तनुवं
पंबलिसदे मोक्षासुखमनापेंच्चिसुतं ॥२७७॥

अर्थ—वह स्व-पर का ज्ञान करके मोह-आडम्बर को सहारा देने वाले शरीरको अपनी आत्मा से भिन्न मान करके मुक्त होने की भावना करते हुए उत्तरोत्तर आत्म-ध्यान का अभ्यास करने लगी। शरीर को उपवास द्वारा क्षीण करती गई ॥२७७॥

अलियोडलं नंवदे भिगे
यलिसोगमें पगेय कंड तेरदिं कानु।
त्तल्ललिं पलवुपवासं
गलिनोवदे देहमं करं कुसियिसु ंतु ॥२७८॥

अर्थ—क्षणिक, नाशवान्, घृणास्पद इस शरीर पर ममत्व बुद्धि न करके अपने शरीर से घृणा करती गई और उसे क्षीण करके आत्मबल को बढ़ाती गई। इस प्रकार आत्म-बलको बढ़ाते हुए ॥२७८॥

तपदोलुत्तरोत्तरं नेगल्दु कडेयोल् समाधिविधियिं सरीरं बिसुटुपन्ने रडनेय सहस्रारकल्पदोल् पदिनेंटु सागरोपमायुष्य क्केडेयं सुकांतनें ब महत्तर देव-नागि पुट्टिगिदलिंतु ॥२७९॥

अर्थ—तपश्चर्या में उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए अन्त में अपने आत्म-बल के द्वारा शरीर से मोह छोड़कर उसने समाधि-पूर्वक शरीरका त्याग किया तब अनन्तमती कुमारी बारहवें सहस्रार स्वर्गमें अठारह सागरकी आयु प्राप्त करके सुखान्त नामक महत्तरदेव होगई ।२७९।

अनन्तमती के घर में सम्पूर्ण वैभव था। समृद्धि और विभूति थी। किन्तु बाल्यावस्था में उसने जो मुनिराज से व्रत ग्रहण किया था, वह दूसरों के लिए यद्यपि विनोद मात्र था किन्तु अनन्तमतीकी दृष्टिमें वह परम सत्य था। जिसको उसने जीवन पर्यन्त न छोड़ा। इस लिये उसको अनेक कष्ट मिले, परन्तु उन कष्टों में भी वह मुस्कराती ही रही। अपने संबंधियों से भी बाधायें मिलीं, किन्तु उन बाधाओंमें भी वह सुमेरु की तरह अडिग अचल भाव से खड़ी रही। जितने परीक्षा के अवसर आये, वह सब में उत्तीर्ण रही।

दुरितविरोधि सेनेय नडर्तिरिद्ग्गद् मोक्षलक्ष्मि यो
लूनेरेवेनमोघमेंव पुरुषं मनदोलूतोडरिल्लदागलु।
परमजिनेंद्र पाददोल कांक्षितनप्पुदु मत्तमेल्लियु
परिहरि सिर्क तत्वमने भाविसुतुं परमव्रतंगलिं ॥२८०॥

अर्थ—पाप सेना को सदा के लिये नष्ट करके मोक्ष लक्ष्मी को देने वाले भगवान जिनेन्द्र देव के चरण ही शरण हैं, ऐसी जिनको दृढ़ श्रद्धा है, और जिन्होंने क्षणिक सुखों की कामना निःशेष कर दी है, जिनेन्द्र के मार्ग में जिन्हें रंच मात्र भी शंका नहीं है, जो केवल जिनेन्द्र भगवान के चरणों की आकांक्षा करते हैं, जिनके हृदय में तीव्र धर्म भावना अंकित हो गई है, जिन्होंने अत्यन्त श्रेष्ठ व्रत को धारण किया है, ऐसे जीवों का कल्याण होने में, इह लोक और परलोक का या मोक्ष का सुख प्राप्त करनेमें क्या कोई विलम्ब है ?

जो भव्य जीव इस संसार समुद्र से पार होना चाहते हैं, उन्हें जिनेन्द्र भगवानके मार्ग में संशय विपर्यय भावसे रहित होकर तत्व को ग्रहण करके इस मनुष्य पर्याय को सार्थक बनाना चाहिये। भगवान के चरण जीव को संसार से पार करने वाले हैं, यह समझ कर भगवान् के वचन को ग्रहण करें ॥२८०॥

[चतुर्गतिगलोलाद् सुखमेंबनितमंविट्टु मोक्षसुखमने बयसुवुदं दु-
निष्कांक्षेय कथेयं गणधरदेवर्पेले] ॥२८१॥

अर्थ— इस प्रकार गणधरदेवने कहा कि इस आत्मा को दुःख देने वाले, चतुर्गति में उत्पन्न होने वाले सांसारिक सुखको छोड़कर मोक्ष सुख की इच्छा करना और मनुष्य-जन्म को सार्थक करना इसी निष्कांक्षा व्रतसे संभव है। जो मनोयोग पूर्वक इस कथाको सुनता है, इसका मनन करता है, वह इस संसार से निकल कर अक्षय सुख और मोक्ष लक्ष्मी को प्राप्त करता है ॥२८१॥

पिरिदु संतुष्टनाद मदनशरभ भेरुंडनुयद्गुणं मं
दरधैर्य वाग्बधूल्वलभनमलयशोराशिसम्यक्त्वरत्ना- ।
भरणं त्रैविद्यचक्रेश्वर विमलपदांभोज भृंगं जिनश्री
चरणलंकार शीर्षं सुकविजनमनः पद्मिनीराजहंसं ।।२८२।।

अर्थ—इस कथाको सुनकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ मदनशरभ भेरुण्ड, सद् गुणाकर, मंदरवत् धैर्य, वाग्बधूबल्लभ, निर्मल यशस्वी, सम्यक्त्वरत्नाभरण, त्रैविद्यचक्रेश्वर भगवान्‌के चरण कमल में भ्रमर के समान, भगवान् के चरण कमलों में सिर झुकाये हुए सुकवि, मेरे मन रूपी, कमलिनी में राजहंस के समान इन पुण्य पुरुषों की कथा सदा बनी रहे ।।२८२।।

इति निखिलमर्ददेव परिवृत मणि - मुकुटतर घटित मणि - निकर - विकीरित किरण चुम्बिनीय परम जिन-चरण-युगल-सरोरुह मत्त मधुकर निरुपम सहज कविजन-पयः-पयोधि हिमकरेन्दु भाव दिगम्बर दास नूतन कविता विलास श्रीमन्नयसेन विरचित धर्मामृत का द्वितीयाङ्ग व्यावर्णन नाम तृतीय आश्वास समाप्त हुआ



चौथा-आश्वास

श्रीनिर्वाणश्रीगिदु
तानग्गद् तोडवेनिष्पनिष्कांचेयन- ।
त्यानंदद्दिनरिदंविबु-
धानंदं सुकविनिकरपिकमाकंदं ॥१॥

अर्थ—श्री निर्वाण लक्ष्मी को प्राप्त करनेमें समर्थ निःकांक्षित अंग को कथाको जो भव्य जीव अति आनन्द-पूर्वक अपने हृदयमें ग्रहण करता है वह भव्यात्मा जीव सुकवि द्वारा स्तुति करने योग्य होता है और अन्त में संसार का अंत करके मोक्ष पद को प्राप्त होता है ॥१॥

अंतु [निष्कांचेय कथेयं लेसागरिदु मत्तं गणधरस्वामि गलेग मगधनायकं पोडमट्टु कैगलं मुगिदु मुंदण निर्विचिकित्सेय कथेयजेजेगे निम्मडिगलरिवंतागे बेससुवुदेंबुदु मोचलच्मिय लावण्योत्कर्ष मेजिपनिर्विचिकित्सेय निर्तेंदु] पेलेद्रः—घदंते [पटंपदंते द्वारबंधदंते] श्रुतयंत्रदंते [वस्त्रादंते] मंदरदंते श्री मंचंदे राजनीतियंते धर्मदन्ते दानदन्ते दर्शनमुं निःशंकेयुं निष्कांचेयुं निर्विचिकित्सेयुमेंब नालकुगुणंगलिं कुडिशुद्ध चित्रदिं नडेवुदु ॥२॥

अर्थ—राजा श्रेणिक निःकांक्षा अंग की कथा को रुचिपूर्वक सुनकर बहुत आनंदित हुआ। तदनन्तर मगध-नायक राजा श्रेणिक ने श्री गौतम गणधर को अति विनय से मस्तक झुका कर नमस्कार किया और कहने लगा कि हे दयानिधे ! मैंने आप के पवित्र मुखारविंद से निःकांक्षा कथाको सुना उससे मेरा आत्मा बहुत प्रसन्न हुआ है। अतः आप मोक्ष लक्ष्मीके

लावण्य का उत्कर्ष करने वाले तथा सज्जन पुरुषों के ग्रहण करने योग्य निर्विचिकित्सा अंग की कथा सुनाइये।

श्रेणिक की बात सुन कर गौतम गणधर कहने लगे कि पद्म के समान, विवाह मंडप के बंधनवार के समान, श्रुत यंत्रके समान, लक्ष्मी के पलंग (सिद्ध शिला) के समान, राजनीति के समान, उत्तम अहिंसा धर्म के समान, चार प्रकार दान के समान, सम्यग्दर्शन, निःशंक, निःकांक्षित और निर्विचिकित्सा इन गुणों की कथा शुद्ध अंतःकरणसे सुनकर जो भव्य जीव आचरण करता है वह शीघ्र ही संसार-बंधन को तोड़ कर मुक्त हो जाता है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।

निर्विचिकित्सेयोलरिंदा
तुर्वरे केकोंडु पणिग्सलनेगलेगलेदनरं ।
निर्वाणपद दो लिरिसुव
सर्वज्ञ श्रींगे मोत्तमोदलिगनक्कुं ॥३॥

अर्थ—निर्विचिकित्सा अंग का महत्व अच्छी रुचिके साथ सुनकर उसको हृदय से ग्रहण करने वाले पुरुष के समान प्रशंसनीय अन्य कोई भी नहीं। सर्वज्ञता प्रदान करके निर्वाण पद देने में निर्विचिकित्सा अंग श्रेष्ठ है। इसलिये जो भव्य जीव इस निर्विचिकित्सा अंगको भाव पूर्वक सुन कर हृदयसे ग्रहण करता है, वह शीघ्र ही मोक्ष लक्ष्मीको प्राप्त कर लेता है।

दून्नवर पंपं पेलूवोडे ॥४॥

अर्थ—अब निर्विचिकित्सा अंग का महत्व प्रकट करने वाली कथा कहते हैं ॥४॥

भरतक्ष्मावनितेगे पं
करुहभवं नच्चि मेच्चि माडिद मार्ण नू ।
पुरमेनिसि रोमेयिंद
करमप्पुवुदिंद्रकच्छेये बुंदु विषयं ॥५॥

अर्थ—भरत क्षेत्र की पृथ्वी रूपी स्त्री को कमलों से सजावट करने वाला, स्थापत्य (भवन रचना) कलासे बने हुए मणिमयी भवनोंसे सुशोभित, मनुष्यों के चित्त को आकर्षित करने वाला इन्द्र भूमि के समान सुन्दर 'कच्छ' नामक देश है ॥५॥

आनिष्यदोल् ॥६॥

अर्थ—उस कच्छनामक देश में :—

पोरवोलल शोभेयिं सु
त्तिरिदिद् जिनेन्द्रभवनदेलिगलिं ये ।
गेरेगल चेल्विं फलदिंद
तुरुगिद् तरनिकर दिंद् मोप्पुव वनादि ॥७॥

अर्थ—स्थान-स्थान पर चारों ओर सुन्दर जिनालय शोभायमान हैं । जिनालयोंके चारों ओर बीथियां (गलियां) हैं । तरह-तरहके फूलों और फलोंसे लदे हुए वृक्षोंके सुन्दर बाग हैं ।

अंतोप्पुवुदु शेर वपुरमापुरमनालूव नोद्दायनमहाराजनेंब महामंडलीकनांत ॥८॥

अर्थ—उस कच्छ देश में रमापुर नाम का सुन्दर नगर है । उस नगर का महामंडलीक राजा उद्दायन था ॥८॥

शरणेदं गें पयोधि यन्ननदटिं मारांतु कैकोल्लदि
वैरिभपगें गजारियन्ननलिपिं कयूवांतमर्त्यगें मा ।
सुरकल्पद्रुमदन्ननूर्जितयशं भूपोन्नतं धैर्यमं-
दरनुद्यग्दुपावंतराजर मनोजं मुरि मूसीयुतं ॥६॥

अर्थ—वह राजा शरणागतोंके लिए समुद्र के समान गम्भीर था । उद्दायन राजा महान पराक्रमी था । शत्रुरूपी हाथियों के लिये सिंहके समान था, अत एव उसका कोई शत्रु नहीं था । याचकों के लिये कल्पवृक्ष था । उसकी कीर्ति चारों दिशाओं में फैल रही थी, वह अत्यन्त धैर्यशाली था, महान गुणी था । समस्त राजाओं में कामदेव के समान सुन्दर था और विशाल राज्य का स्वामी था ॥९॥

परमजिनपूजेयं नि-
र्भरतरभक्तियोळे माडुवेडेगीतनोळा ।
भरतेश्वरनुं दोरेयें,
दोरेयागिरनेंदु पोगळूदु कोनेवुदु लोकं ॥१०॥

वह जिनेन्द्र भगवान की पूजा भक्ति में सदा लवलीन रहता था। मानों वह वर्तमान कालका भरत चक्रवर्ती हो। इस तरह जनता उसकी जिनेन्द्र भक्ति की प्रशंसा करती थी।

भावार्थ—राजा उद्दायन मन में विचार करता था कि मुझे आर्य खण्ड में जन्म लेनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इसके सिवाय उत्तमकुल, नीरोग काया, विपुल सम्पत्ति, अनुकूल स्त्री, पुत्र आदि सम्पूर्ण सामग्री जो मुझे प्राप्त हुई है, यह सब मेरे पूर्व जन्ममें की गई जिनेंद्र भगवानकी आराधनाका फल है। इसीलिये आज मैं महामण्डलीक राजा कहलाता हूं और समस्त प्रजा मेरी आज्ञाकारिणी है। वास्तव में जैन धर्म एक महान सम्पत्ति है। यदि मेरे पास यह संपत्ति न होती तो मुझे ऐसा अच्छा शरीर, धन आदिके उपयोग करनेका, सौभाग्य कैसे मिलता। उसी की मनुष्य पर्याय धन्य है, जो वीतराग भगवानके मार्ग पर अटल रहता है।

ऐसी विचारधारा राजा उद्दायन के मन में वार वार आती रहती थी, वह इतने भारी वैभव का भोग करते हुए भी अपने कर्तव्य के पालन में सदा तत्पर रहता था।

श्री समन्तभद्र आचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार ग्रन्थ में जिनेन्द्र भक्तिमय सम्यग्दर्शन की महिमा बतलाई है कि—

नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशाः सर्वभूमिपतयश्चक्रम्।
वर्तयितुं प्रभवन्ति स्पष्टदृशः क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ॥३८॥

अर्थात्—सम्यग्दर्शन के धारक, हजारों राजाओं के मस्तकों के मुकुट जिनके चरणों में झुकते हैं ऐसे, और नवनिधि तथा चौदह रत्नों के स्वामी तथा षट् खण्ड पृथ्वी के अधिपति चक्रवर्ती होकर चक्र से साध्य समस्त कार्यों के प्रवर्तक होते हैं। यानी—चक्रवर्ती होते हैं।

जिनेन्द्रभक्ति की महिमा आचार्य समन्तभद्र ने यों कही है—

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानं, राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोर्चनीयम्।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकं, लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्यः ॥४१॥

अर्थात्—जिनेन्द्र-भक्ति में परायण भव्य जीव देवेन्द्रों के समूह के अपरिमित महत्व को, राजाओं से पूजनीय चक्रवर्ती के चक्ररत्न को, तथा तीन लोक को दास बनाने वाले धर्मचक्र को प्रवर्तन करने वाले तीर्थंकर पद को प्राप्त करके मुक्ति को प्राप्त करता है।

इस प्रकार महामण्डलीक राजा उद्दायन प्रतिदिन देवपूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, संयम और तप तथा दान करता था अर्थात् जैसे भरत चक्रवर्ती एक दिन भी गृहस्थाश्रम के उक्त षट् कर्मों को नहीं छोड़ता था, इसी प्रकार उद्दायन राजा भी नित्य षट्कर्म किया करता था। इसलिये प्रजा उसकी प्रशंसा भरत चक्रवर्तीकी उपमा देकर करती थी ॥१०॥

सोगयिपदर्शनदोळ्सले-
मिगिलेनिपसनत्कुमारचक्रियगमंता ।
सगराधिपंगमीतने-
मिगिलेंदोरंते पोगळुतिर्पुदु भुवनं ॥११॥

अर्थ– राजा उद्दायन का सम्यग्दर्शन सनत्कुमार चक्रवर्ती के समान निर्मल था। तथा सगर चक्रवर्ती के समान तत्वज्ञानी धर्मात्मा था। इस तरह जनता में उसकी प्रसिद्धि थी।

भावार्थः– नयसेनाचार्य ने इस श्लोक में राजा उद्यायन की धर्म भावना की प्रशंसा करते हुए सनत्कुमार चक्रवर्ती तथा सगर चक्रवर्ती की उपमा दी है। मनुष्य की कीर्ति धर्म-निष्ठा, संयम, शील, सदाचारसे ही होती है, धन वैभव से नहीं होती। जिस मनुष्यने अपना कर्तव्य पालन करते हुए दूसरों को भी कर्तव्य पालनकी प्रेरणा दी है। वह धन्य है।

भरत, सनत्कुमार तथा सगर चक्रवर्ती सम्राट थे, परन्तु भोगासक्त सम्राट नहीं थे, धर्म-निष्ठ सच्चरित्र थे, अतएव उनकी उपमा उद्दायन राजाकी धर्म भावनाके साथ कवि ने दी है कि वह उक्त तीन चक्रवर्तियों के समान जिनेन्द्र-भक्त विवेकशील धर्मात्मा था ॥११॥

नेगळ्द चतुर्विधदान-
क्कगणितगुणनीतनिंदे श्रेयांसं तां ।
मिगिलिल्लवेंदु पोगळ्वुदु-
जगतीचक्रं निरंतरं पद्पिंदं ॥१२॥

अर्थ–वह राजा चार प्रकार के दान करने में श्रेयांस राजा के समान प्रवृत्त होता था। दान चार प्रकार का होता है–आहार, औषध, शास्त्र दान और अभयदान। जैसे राजा श्रेयांस दानमें विख्यात है, उसी प्रकार राजा उद्दायन भी चार प्रकारके दानमें प्रसिद्ध था।

भावार्थ–ग्रन्थकार ने यहां पर यह बात बतलाई है कि जिस तरह भगवान् ऋषभनाथ ने व्रतचर्या का प्रारम्भ किया उसी प्रकार दान करने की विधि का प्रचार राजा श्रेयांस से प्रारम्भ हुआ। अत एव दान करने में राजा श्रेयान्स प्रसिद्ध हुआ है। कर्मभूमि के प्रारम्भ में सब से पहले भगवान् आदिनाथ ने स्वयं पांच महाव्रत ग्रहण करके मुनिधर्म प्रचलित किया। उस समय मुनियों को दान देनेकी विधि का भी परिज्ञान किसीको नहीं था। इसी कारण छह मास के उपवास को परिपूर्ण करके भगवान आदि जिनेन्द्रको पारणा

के लिए छह मास तक कहीं भी आहार न मिल सका। तदनन्तर जब वे हस्तिनापुर आये तब राजा श्रेयांस को जाति-स्मरण के द्वारा आहारदान की विधि का परिज्ञान हुआ। तदनुसार उसने भक्तिपूर्वक भगवान को इक्षु रस (गन्नेके रस) का आहार दिया। बस, तभी से आहारादि दानों की विधि का प्रारम्भ हो गया। इस तरह दान-पद्धति प्रचलित करने के कारण राजा श्रेयांस दानियों में अग्रसर (मुखिया) प्रसिद्ध हुआ। उस दिन श्रेयान्स राजा के घर पंच आश्चर्य हुए। १-आकाश से रत्न वर्षा, २-आकाश में दुन्दुभी बाजे का बजना, ३-पुष्प-वर्षा, ४-जयकार ध्वनि और ५-सुगंधित वायु का संचार।

इस तरह राजा उद्दायन भी सदा चार प्रकार का दान करने में उत्साहित रहता था। इस लिये जनता को यह प्रतीत होता था, मानो यह राजा श्रेयांस ही है ॥१२॥

अंतु पोगळ्केवेत्त ओद्दागन महाराजंग पट्टदरसिप्रभावतियेंबळ् ॥१३॥

अर्थ—राजा उद्दायन की पट्टरानी प्रभावती थी ॥१३॥

वरगुणदोळ्सुरेंद्रवधुविंगसविर्मडि जैन भक्तियोळ्-
वरवधुवप्परोहिणिग मुम्मडिरूपिनोळब्जवासेगं-
परिणतरप्पवर्वगेदुनोळ्पोडे नाल्मडि शीलदेळ्गेयोळ् ।
धरणिजेगं सहस्रभात्रिपोडग्गळमी धरित्रियोळ् ॥१४॥

अर्थ—वह प्रभावती जिनेन्द्र भगवान की भक्ति आदि गुणों में इन्द्राणी से भी श्रेष्ठ थी। वह रूप में रोहिणी को भी तिरस्कार करने वाली थी। उसका मुख कमल से भी अधिक सुन्दर था। प्रभावती रानी शील में सीता के समान थी। उद्दायन स्वदार-सन्तोष व्रत में रामचन्द्र के समान था। सम्पत्तिमें कुबेरके समान था। वे दोनों अपरिमित भक्ति वाले थे।

भावार्थ—कवि ने यहां राजा उद्दायन की रानी प्रभावतीके देवभक्ति, शील, सुन्दरता आदि गुणों का वर्णन किया है। संसार में रूपवती स्त्रियां बहुत होती हैं। किन्तु जहां रूप होता है वहां अन्य गुण नहीं मिलते। जहां रूप तथा साधारण गुण मिलते हैं, वहां शील नहीं मिलता। अन्य गुणों के साथ भगवान की भक्ति का मिलना कठिन है। इस प्रकार स्त्रियों में सभी गुण एकत्र कठिनता से मिलते हैं। किन्तु रानी प्रभावती में सभी गुण थे।

भरतेश वैभव में रत्नाकर कवि ने कहा है कि—

पतिहोल्लसतिलेसु सतिहोल्ल पतिलेसें। वरि विकृति गलुंदु परगं।
पतिलेसु ससिम लेसुलेसेंवत, तुतिवेत्तराल्ल निवंते ॥

अर्थ—पति के अनुकूल यदि स्त्री हो तो धर्म, अर्थ, काम ये तीन पुरुषार्थ मोक्षके साधन बन जाते हैं। यदि पति-पत्नीमें विसंगति (असमानता) होती है तो दोनों लोक बिगड़ जाते हैं। क्योंकि पति और पत्नी में एकसे रूप, गुण, शील, मिलना पूर्व पुण्यों का ही परिणाम है। संसारमें प्रायः देखा जाता है कि यदि पति की रुचि धर्मकी ओर होती है तो पत्नीकी रुचि धर्म में नहीं होती। यदि पत्नी धर्मात्मा होती है तो पतिकी प्रवृत्ति धर्म की ओर नहीं होती है। दोनोंमें समान गुण मिलने पर तो देवता भी उनकी प्रशंसा करते हैं। ऐसा सुयोग पुण्य के बिना नहीं मिलता।

कलेय नरिव पुरूषण पडेवुदु पूर्व। वोलुनारिमाडिद् पुण्य ॥
कले गनु कोलेय पडेवुदा परूषण। बलु पुण्यवक्कनिभाने ॥

अर्थ—सम्पूर्ण कलाओं में निपुण, गुणों और धर्ममें निपुण, रूप से परिपूर्ण, सम्पूर्ण जीवों के प्रति वात्सल्य, धर्म बुद्धि, मोक्षमार्गमें निष्ठा, ये सम्पूर्ण गुण जिस मनुष्यमें हैं, ऐसे मनुष्य का प्राप्त होना स्त्री के पूर्व जन्म के महान पुण्यों का फल समझना चाहिए। कदाचित् ये गुण स्त्री में न हों तो जैसे कुल्हाड़ी का डंडा अपने कुल का नाश करने वाला होता है, इसी प्रकार वह स्त्री भी कुलका नाश करने वाली होती है। रात दिन स्त्री पुरुषमें कलह होता है। उसका कष्ट दोनों को ही भोगना पड़ता है। जैसे गाड़ी के दोनों पहियोंके एक समान ठीक होने पर वह गाड़ी निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाती है। इसी प्रकार पति-पत्नी समान वृत्ति और समान गुण वाले होने पर वे अपनी जीवन यात्रा में सफल होते हैं। स्त्री और पुरुष दोनों गृहस्थाश्रम की गाड़ी के दो पहियों की तरह मोक्ष मार्ग के पथिक बनते हैं। समान गुण शील वाले पति पत्नीका ही मनुष्य-जन्म सफल माना जाता है। संसारमें प्रायः देखा जाता है कि स्त्री-पुरुषोंमें समान वृत्ति नहीं मिलती। स्त्री पुरुषकी आज्ञा में न रहकर वह पुरुषको अपनी आज्ञामें रखना चाहती है। पुरुषके स्वच्छन्द होने पर तो स्त्री भी प्रायः स्वच्छन्द हो जाती है। शास्त्रोंमें मर्यादा-शील स्त्री पुरुषोंके ही आदर्श चरित लिखे जाते हैं। राजा उद्दायन और रानी प्रभावतीके गुण समान थे, अतः ग्रन्थकारने दोनों की प्रशंसा की है।

एनिसि नेगळ्ते बडेद प्रभावतीदेवि मोदलागेणूळासिर्वररसियोळ् कूडि सुखसंकथाविनोददिंदोद्दायनमहीवल्लभं राज्यंगेय्युत्तु मिर्पुदुमोमें सौधर्म कल्पदोळ् सौधर्मेन्द्रं सुधर्मेयेंब सभेयोळ् ॥१५॥

अर्थ—अपने अनेक गुणों में प्रसिद्ध पट्टरानी प्रभावती तथा १६००० अन्य रानियों के

साथ राजा उद्दायन भोग भोगता हुआ नीतिपूर्वक राज्य करता था। एक समय सौधर्म कल्प में सौधर्म इन्द्र की सुधर्मा सभा में–

सुरविळासिनियर् मनोहररूपेयर् गजयानेयर्-
तरळलोचनेयर् विदग्धेयरिक्कें चामरमं सुरर् ।
सुरुचिराभरणंगळोप्पे मनोजसन्निभ नर्तियिं-
नेरेदु कुळ्ळिरे सुत्तलुं रसगीतमुण्मे पोदळ्केयिं ॥१६॥

अर्थ–अत्यन्त मनोहर रूपवती, गजगामिनी, तरललोचन, कमलमुखी विदग्धा देवियोंके साथ बैठा हुआ था। उसके ऊपर देव चमर ढोल रहे थे। उस समय सुन्दर आभरणों से सुशोभित वह इन्द्र कामदेव जैसा प्रतीत होता था। उसके आगे अनेक प्रकार रस गीत-नृत्यादि हो रहे थे। सभी बड़े-बड़े देव भी वहां उपस्थित थे। सूर्य उदयके समय जैसे सूर्यकी किरणें चारों ओर फैलती हैं–इसी प्रकार सौधर्म इन्द्रकी प्रभा सारी सभा में फैली हुई थी।

अंतोलगंगोट्टिर्द सुरराजंगे समस्तदिविजनिकायमुं [विनयविनितरागि] कैगळं मुगिदु बिन्नपमेंदितेंदर् ॥१७॥

अर्थ–उस सभा में बड़े-बड़े बुद्धिमान देव भी विराजमान थे। उन सभी देवों ने खड़े होकर अत्यन्त विनय के साथ इन्द्र से प्रार्थना की ॥१७॥

निरुपममुक्ति श्रीगा-
भरणमिदेनिसिर्द जीवहितं नुतमं ।
परम जिनागममं दे-
वर् बल्लिरि पेरर्गमरियलें मोग्गायुत ॥१८॥

अर्थ–हे देवेन्द्र ! निरुपम मुक्ति-स्त्री के लिए अलंकार के समान सुशोभित होने वाले, सम्पूर्ण प्राणियों का हित करने वाले भगवान के मुख से निकले हुए सर्वजनों से स्तुत्य जिनागम को आप ही भली प्रकार जानते हैं, और किसी में उसे जानने की शक्ति नहीं है।

अदु कारणं देवरेमगे सद्धर्ममं तिळिबंतागे बेससल्वेळ्कुमेंबुदुं, अमर-राजसुखनिधानदीपवर्तिलेनिप सद्धर्ममनिंतेंदु पेळ्दं- ॥१९॥

अर्थ—इस कारण हे प्रभो! आप 'हमें सद्धर्म का ज्ञान हो सके और उसके प्रति हमारी श्रद्धा अविचल हो सके,' इस प्रकार जिनवाणी को समझाने की कृपा कीजिये।

इस प्रार्थना को सुनकर वह अमरराज सौधर्मेन्द्र सुखका निधान और दीपक के समान प्रकाशमान सद्धर्म को इस प्रकार समझाने लगा ॥१९॥

वरसद्धर्ममे जीवो-
त्करक्के शरणन्यवस्तु गळ्निश्चयदिं- ।
शरणल्लमेंबुदं वि-
स्तरदिं दं तिळिदु धर्ममं पिडिगे बुधं ॥२०॥

अर्थ—श्रेष्ठ दयामय धर्म ही सम्पूर्ण प्राणियों के लिये शरणभूत (रक्षक) है, अन्य कोई नहीं। दयामय धर्म ही जिनेन्द्र देव ने समस्त प्राणियों के लिये सुख का कारण बतलाया है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई धर्म ऐसा नहीं है, ऐसा विश्वास करके जिसने उस धर्म को ग्रहण किया है, वही बुद्धिमान है। बुद्धिमान व्यक्तिको इसे समझकर अंगीकार करना चाहिए।

पद्मनन्दि पंचविंशति में लिखा है—

समयस्थेषु वात्सल्यं स्वशक्त्या ये न कुर्वते।
बहुपापावृतात्मानस्ते धर्मस्य पराङ्मुखाः ॥३६॥

अर्थ—जो गृहस्थ अपनी शक्ति अनुसार साधर्मी जनों से प्रेम नहीं करते हैं, वे धर्म से विमुख होकर अपने को बहुत पाप से आच्छादित करते हैं।

येषां जिनोपदेशेन कारुण्यामृतपूरिते।
चित्ते जीवदया नास्ति तेषां धर्मः कुतो भवेत् ॥३७॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवानके उपदेश से दया-अमृतसे परिपूर्ण जिन श्रावकोंके हृदयमें प्राणि-दया प्रगट नहीं होती, उनके धर्म कहां से हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

मूलं धर्मतरोराद्या व्रतानां धाम संपदाम्।
गुणानां निधिरप्यंगिदया कार्या विवेकिभिः ॥३८॥

अर्थ—प्राणियों की दया धर्मरूपी वृक्ष की जड़ है, व्रतों में मुख्य है, सम्पत्तियोंका स्थान है, और गुणों का भण्डार है। इसलिए विवेकी जनों को दया अवश्य करनी चाहिए।

विशेषार्थ—इसका अभिप्राय यह है कि जिन गृहस्थों का हृदय जिनागम का अभ्यास करने के कारण दया से ओत-प्रोत हो चुका है वे ही गृहस्थ वास्तव में धर्मात्मा हैं। किन्तु इसके विपरीत जिनका चित्त दया से आर्द्र नहीं हुआ है वे कभी धर्मात्मा नहीं हो सकते।

पुसिववरं कोलूववरं-
वेसनिगळं कल्लरप्परं कंडोडे सं- ।
किसुवर् पुरुषर् पापं-
वसुमति योलकष्टमेंदु सारूव तेरदिं ॥२१॥

अर्थ–झूठ बोलने वाले, चोरी करने वाले, हिंसा करने वाले, हमेशा सात व्यसनों में लीन रहने वाले और अनेक प्रकार के पापों में लिप्त रह कर अनेक देवी देवताओं का वेष बना कर लोगोंको ठगने वाले संसारमें बहुतसे हैं। मूढ़ लोग उनपर श्रद्धान रखकर उनको पूजते हैं। इस प्रकार की पाप प्रवृत्तियों से संसार में जीव कष्ट पाते हैं ॥२१॥

भावार्थः–अज्ञानी लोग धर्म और अधर्मका वास्तविक स्वरूप न समझकर ऐसे व्यक्तियों को साधु या देवता मानकर पूजने लगते है, जो संसार–परिभ्रमण कराने वाले हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह रूप पांच पापों से युक्त हैं, सप्त व्यसनों में जो लिप्त हैं, पाप करने वाले हैं और कोई वेश बनाकर जो लोगोंको ठगते फिरते हैं। ऐसे व्यक्ति क्या अपने पापों का नाश कर कभी संसार समुद्र से पार हो सकेंगे ? ऐसे मूर्ख अधर्मी और कुवेशी लोगों की पूजा करने से मिथ्यात्व आदि कर्मों का ही बन्ध करते हैं, इस प्रकारके विपरीत आचरणसे पुण्य-बन्ध भी नहीं होता है। अधर्मी कुवेषी लोग पत्थरकी नावके समान हैं। वे स्वयं भी संसार में डूबते हैं और अपने भक्तों को भी ले डूबते हैं।

वास्तव में साधु और देव 'तरण तारण' कहलाते हैं। वे स्वयं भी संसार समुद्रसे पार हो जाते हैं और दूसरोंको भी पार कर देते है। कुछ लोग तरण होते हैं जो स्वयं पार हो जाते हैं, जैसे तैराक व्यक्ति। कुछ लोग तारण होते हैं। जैसे पुल। वह दूसरोंको तो पार कर देता हे। किन्तु स्वयं जहां का तहां बना रहता है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो 'तरण-तारण' कहलाते हैं। जैसे नाव स्वयं भी नदीके पार चली जाती है और दूसरोंको भी पार लगा देती है। सच्चे साधु और सच्चे देव ऐसे ही तरण-तारण होते हैं। वे अपना भी कल्याण करते हैं और दूसरों का भी कल्याण करते हैं। किन्तु कुवेषी साधु और अधर्मी देव न तो स्वयं संसार से पार होते हैं और न दूसरों को पार कर पाते हैं ॥२१॥

पिरिदप्प तपदोळोडलं-
वरधर्मदोळर्थमेल्लमं तविसुवरं ।

धरे नाव्वं मेच्चि बणिणपु-
देरडिल्लदे धर्ममोळ्ळिलतेंदुरि पुववोल ॥२२॥

अर्थ–जिन्होंने श्रेष्ठ तप द्वारा कर्मों की निर्जरा करके वीतराग पद प्राप्त कर लिया है, उनके मार्ग का अनुगमन करके, अपने शरीर और वाणी और द्रव्यको उस मार्ग के निमित्त उपयोग करने वाले व्यक्ति अपना कल्याण करते हैं। वीतराग भगवान का वह मार्ग और धर्म ही कर्मों का नाश करने वाला है। इह लोक और परलोक में सुख देने वाला है, सब प्राणियों का उपकार करने वाला है। ऐसे धर्मको सभी लोग प्रशंसा करते हैं। ऐसे धर्मका आश्रय लेने से ही जीवों का कल्याण हो सकता है।

अदुकारणदिं स्वर्गापवर्गसुखक्के धर्ममे कारणमेंबुदुमं नरकतिर्यगादि महा-दुःखक्के पापमे कारणमेंबुदुमं नीवरिदुमरिगे ॥२३॥

अर्थ– इस कारण स्वर्ग और मोक्ष सुख के लिये धर्म ही कारण है और पाप नरकादि नीच गतियोंका कारण है, ऐसा तुम समझो। और समझ कर दुःख का मार्ग छोड़कर सुख का मार्ग अंगीकार करो ॥२३॥

पोलेयर् भाविसुवोडे दु-
ष्कुलरनुपम शुद्धवृत्तियोळ्नडेवोडे भू- ।
तलमेल्लं वणिणसुवुदु
कुलदिंदं धर्ममधिकमेदं रिपुववोळ् ॥२४॥

अर्थ– केवल जैन कुल में उत्पन्न होने मात्र से जीव को मोक्ष की प्राप्ति होती है और वही व्यक्ति जैन धर्म ग्रहण कर सकता है, ऐसी बात नहीं है। सद्धर्म ग्रहण करने में कुल और जाति का कोई बन्धन नहीं है। सदाचार वृत्ति से जो चलता है, उसकी दुनिया में ख्याति होती है किन्तु केवल उत्तम कुल में जन्म लेने मात्र से कोई पूज्य नहीं होता।

भावार्थ– जो जीव श्रद्धान- पूर्वक वीतराग भगवान के मार्ग को ग्रहण करता है वह दुनिया में पूज्य हो जाता है। केवल किसी कुल और जाति में जन्म लेने मात्रसे कोई पूज्य नहीं बन जाता।

जगत में धर्म से बड़ी कोई वस्तु नहीं है यदि अकुलीन भी हो किन्तु वह धर्म धारण करे तो वह उन्नत हो जाता है। धर्म नीच को भी उच्च बना देता है ॥२४॥

कुलमुळ्ळं चारित्र-
क्कलासि महाव्यसनानियागि नडेओडे धरणी- ।
वलयं मुनिवुदु धर्मं
कुलदिंदं पूज्यवेंदु सारुव तेरदिं ॥२५॥

अर्थ– यदि पूर्व जन्म में किये हुये पुण्य के उदय से कोई उत्तम कुल में उत्पन्न हुआ हो किन्तु वह सप्त- व्यसनों का सेवन करने से चारित्र-भ्रष्ट हो गया तो सारा संसार उसे घृणा की दृष्टि से देखता है और उसका कोई आदर नहीं करता। बन्धु और मित्र भी उसे छोड़ देते हैं। संसारमें उसका अपयश फैल जाता है। इसलिये कुल और धर्म दोनोंमें धर्म श्रेष्ठ है। धर्म से ही कुल श्रेष्ठ कहलाता है ॥२५॥

अदुकारणदिं पोल्लमेयोळोंददे चारित्रदोळ् कूडिनेगळ्द धर्ममे सद्धर्मं पोल्लमेयोळोंदि दुश्चारित्रदोळ्कूडि राल्वधर्ममे कुधर्ममेंबुदुमनीनुडिगळिंदरिगे २६

अर्थ–इस कारण जो व्यक्ति मनुष्य-जन्म प्राप्त करने के बाद वीतराग भगवान के मार्ग का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण करके सद्धर्म में प्रवृत्ति करता है, वह सदा सुखी रहता है और लोक-पूज्य बन जाता है। इसलिये मिथ्या श्रद्धान, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कभी मोक्ष के मार्ग नहीं हो सकते। ये तो संसार-भ्रमण के मार्ग हैं अतः कुमार्ग हैं। कुमार्ग पर चलने से कभी सुख प्राप्त नहीं होता। कुधर्मी व्यक्तिकी प्रवृत्ति पाप की ओर ही होती है। वह अपने मिथ्या विश्वास मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से संसारकी ही वृद्धि करता है।

पेसरुं रूपुं नुडियुं-
वसुमतियोळ् केळ् मानिसर्गेल्लं भा- ।
विसुवोडे समानमनित रो-
ळे समानरे मनुजरण्ण कीळ्मेलिल्ला ॥२७॥

अर्थ–मनुष्य नाम, मनुष्य रूप (मनुष्य आकार) और मनुष्य शब्द ये तीनों बातें सभी मनुष्यों में एक समान पाई जाती हैं। परन्तु गुण और धर्म सभी मनुष्यों में समान नहीं होते। सभी मनुष्य पाप और पुण्य की विभिन्नता के कारण समान नहीं होते। धर्म अधर्म की दृष्टि से आचार विचार जाति कुल से समान नहीं हैं ॥२७॥

अन्वयदिंद डवरियदे बरुत्तिर्प शुद्धचारित्रदिंदिवर् विप्रादि मेलूजाति गळ् दुराचारदिंदि र्वकिरातादि कीळ्जाविगळेदं बरिवन्ते सदाचाररमप्प महातपोधनर [तद्भिक्तरप्प] गृहस्थर नडेवळिवळिगळुमं दुराचाररप्प तपोधनलिंगिगळ [तद्भिक्तरप्प]गृहस्थरनडेवळिगळुमं कंडिदु मोक्षक्के कारणमप्प धर्ममेंदरिगे २८

अर्थ—परम्परा से चले आ रहे कुल धर्म को कोई नहीं देखता । ब्राह्मण आदि जाति उच्च है, अमुक जाति नीच है, लोग ऐसा मानते हैं, किन्तु इस तरह मोक्षकी परिपाटी नहीं बन सकती । क्योंकि ब्राह्मण होने पर भी बहुतसे लोगोंमें नीच और पाप की प्रवृत्ति देखी जाती है, कहीं-कहीं नीच कुल के व्यक्ति भी अपने उच्च आचार विचार के कारण जगतमान्य बन जाते हैं । भीलों में भी कोई-कोई सदाचारी मिलते हैं । सद्धर्म की दृष्टि से सभी तपोधन नहीं हो सकते हैं । बहुतसे साधुका वेष धारण करके भी तपस्वी और आचारवान् नहीं होते । साधु साधु में भी अन्तर है । इसी तरह गृहस्थों में भी अन्तर है । महातपस्वी और कृतपस्वियों में अन्तर है । दोनों समान नहीं हैं । सद् गृहस्थ की अपेक्षा कुलिंगी साधु गये बीते हैं । जैन गृहस्थकी क्रिया मोक्ष का कारण होती है जब कि कुलिंगीको क्रिया संसार वृद्धि का कारण है ।

ओसगेगमुत्साहक्कं-
ससियुदयं रंजिपंते कळ्ळंगं दु- ।
र्वेसनिगमातेरदिं रं-
जिसलक्कुमे बगेदु नोळ्पोडवनी तळदोळ् ॥२६॥

अर्थ—जिस प्रकार पूर्णमासी के चन्द्रमा का उदय होने पर सारा जगत हर्षित होता है, किन्तु चोर को चन्द्रमा की चांदनी अच्छी नहीं लगती । उसे अन्धकार इष्ट है । इसी प्रकार दुर्व्यसनी को अधर्म अच्छा लगता है, सद्धर्म अच्छा नहीं लगता ॥२६॥

सकलसुखक्के नेलेयाद सद्दृष्टिगे रंजिसुव सद्धर्मं बहुविधमागिर्प नरकदुःखंगळननुभविसल्वेडिर्प कुदृष्टिगेंतानुं रंजिसलारदु ॥३०॥

अर्थ—सम्पूर्ण सुख के लिए दयामय धर्म सम्यग्दृष्टि के सिवाय और किसीको सुशोभित्त नहीं होता । नरकादि नीच गतियोंमें जाने वाले कुदृष्टियोंको धर्म अच्छा नहीं लगता ।३०।

कन्नडियं तोरिदोड-
त्युन्नतसल्लक्षणंगे मुनिसागदु म- ।
त्तेन्नदे मूकोरेयंगा-
कन्नडियं तोरे बडिवनिरिवं कोल्वं ॥३१॥

अर्थ–सुन्दर, सुशील सज्जन पुरुष को यदि दर्पण दिखाया जावे तो उसे दर्पण पर क्रोध नहीं आता । वह समझता है कि मेरा जैसा मुख है, वैसा ही दर्पणमें दिखाई दे रहा है । यदि किसी चपटी नाक वाले कुरूप दुष्ट पुरुष को दिखाया जाय तो वह अपने रूप को न देखकर दर्पण को फोड़ने और दर्पण दिखाने वाले को मारने को तैयार हो जाता है ॥३१॥

अंतु निष्पापंगे सद्धर्म रुचियागिर्कुं महापातकिगे कैपेयागिर्कुं ॥३२॥

अर्थ–इसी तरह निष्पापी (पाप रहित) व्यक्ति को धर्म रुचिकर होता है । और पापी को धर्म अरुचिकर होता है, वह सद्धर्म का मार्ग दिखाने वालेपर रुष्ट होता है । जैसे पित्त ज्वर वालेको दूध अच्छा नहीं लगता, इसी प्रकार पापीको धर्म अच्छा नहीं लगता ॥३२॥

जरगनोय्यने कर्चि राशियमरणोळोप्पुव पोन्नन-
च्चरियिनल्नेर कागवबोल्मतिवंतरु मरुळागि म- ।
च्चरिसदाप्तननैदि तत्वमनंते धर्ममनागळो-
प्पिरे विचारिसि नोडि नंबुगेयिंद माळ्पुदुधर्ममं ॥३३॥

अर्थ–खान की मिट्टी पत्थरमें सोना मिला होता है । चतुर लोग अनेक विधियोंसे उसे मिट्टी पत्थर से निकाल लेते हैं, किन्तु अज्ञानी लोग उसको विधि न जानने के कारण उसे मिट्टी पत्थर की तरह फेंक देते हैं । इसी प्रकार वीतराग भगवान के नय मार्ग का ज्ञान न होने के कारण दुर्व्यसनी लोग सत्धर्म को छोड़ देते हैं । इसलिये विचारवान मनुष्य को जिनेन्द्र देव के आगम पर नयमार्ग द्वारा विचार करके श्रद्धान करना उचित है ।

जिनेन्द्र भगवान का मार्ग अपेक्षाओं को लेकर प्रतिपादित किया गया है । यदि अपेक्षा को दृष्टिमें न रखा जाय तो एक वस्तुके भीतर रहने वाले विरोधी धर्मों की सिद्धि नहीं हो सकती । प्रत्येक वस्तु में अस्ति-नास्ति आदि विरोधी धर्म हैं । उन विरोधी धर्मोंका कथन एक ही अपेक्षा से एक समयमें नहीं हो सकता । जिस समय जिस धर्मका वर्णन करना हो

उस समय उस धर्म को मुख्य करके दूसरे को गौण करेंगे। जैसे ग्वालिन दही विलोते समय मथनी की एक रस्सी को खींचती है और दूसरी रस्सी को ढीली छोड़ती है। यदि दोनों रस्सियों को एक साथ खींचने लगे या दोनों को ढीली छोड़ दे तो दही नहीं विलोया जा सकता है। इसी प्रकार मुख्य गौण के भेद बिना यदि वस्तु का कथन किया जाय तो वस्तु-स्वरूपका कथन नहीं हो सकता। वीतराग जिनेन्द्रका मार्ग इसी प्रकार सभी अपेक्षाओं को साथ लेकर चलता है। जो विवेकी जन हैं, वे इन अपेक्षाओं, जिन्हें नय कहते हैं, को समझ कर वस्तु तत्व को समझ लेते हैं किन्तु अन्य लोग वस्तु तत्व का कथन निरपेक्षा रूप से करते हैं, अतः वे वस्तुतः तत्व का कथन नहीं कर पाते ॥३३॥

शुद्धमप्प पोन्नोळ् दुष्टरप्पवर् तम्मलाभदासेयिं किसुबोळ्ळियेंबिवं बेरे-यिसि पेरर कण्गट्टि तिरिपि मेलप्प पोन्नेंदु तोरि सुवतेरदिं [दयामूलमाद] सद्धर्मदोळाद् नेगळ्ते गारदलसरप्पवर् तम्म मेय्यसुखक्के पापहेतुगळप्प कुधर्ममं पेळ्दु परर मरुळ्माडिधर्ममेंदु नेगळिसुवरदु कारणमाय्दु नोडवेळ्कु ३४

अर्थ—छली कपटी लोग शुद्ध सोनेमें अपने लाभके लिए चांदी तांबा पीतल को मिलाकर उसे असली सोनेके नाम पर बेचते हैं, इसी प्रकार दुष्ट लोग धर्ममें अधर्म मिलाकर उसे धर्मके नाम पर चलाते हैं और पाप मार्गकी प्रवृत्ति कराते हैं। दयामूल धर्ममें सद्धर्म को छिपाकर अपनी इन्द्रिय-वासना की तृप्ति के लिए अधर्म मिला कर कुमार्ग को चलाते हैं।

संसारके सभी व्यक्ति इस बातको स्वीकार करते हैं कि अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये धर्म है। इनको धर्म मानने में किसी को कोई आपत्ति या विसंवाद नहीं है और न हो सकता है। किन्तु यह देखा जाता है कि प्रायः सभी सम्प्रदायों ने अहिंसा को धर्म मानकर भी हिंसा को भी धर्मके रूपमें अंगीकार किया है। वेदों ने 'मा हिंस्यात् सर्व-भूतानि,' इस आदर्श की घोषणा करके भी हिंसा-मूलक यज्ञों को भी धर्मका अनिवार्य अंग माना है। विभिन्न उद्देश्यों और कामनाओंकी पूर्तिके लिये अजमेधयज्ञ, अश्वमेघयज्ञ, गोमेध, नरमेध आदि विभिन्न प्रकार के यज्ञ माने हैं। दुर्गा, काली आदि विभिन्न देवता बकरा, मुर्गा आदिकी बलिसे प्रसन्न होते हैं, इस प्रकारकी अनेक मान्यता और व्यवहार चालू हैं। महात्मा बुद्धने जीवन भर अहिंसाका प्रचार किया किन्तु उन्होंने त्रिकोटि शुद्ध मांसको खाने योग्य बतलाया। उसी का यह परिणाम है कि आज प्रायः सभी बौद्ध मांसाहारी हैं। ईसाई

मुसलमान आदि धर्मानुयायी निःसंकोच मांस भक्षण करते हैं। वे सब मांस-भक्षण को धर्म-विरुद्ध नहीं मानते।

जैन और हिंदू पुराणोंमें नारद पर्वतकी एक कथा आती है। उससे यह प्रकाश पड़ता है कि शुद्ध अहिंसक मार्ग में हिंसा का धर्म के नाम पर किस प्रकार प्रवेश हुआ। 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वाक्य का उस युग तक सर्वमान्य अर्थ यह था कि पुराने जौ धानों से (जिनमें उगने को शक्ति न रही हो) यज्ञ करना चाहिये। नारद ने इसी अर्थ पर जोर दिया था। किन्तु पर्वत मांस-भक्षणका व्यसनी था, अत एव उसने उस वाक्यका यह अर्थ किया कि— 'बकरों द्वारा यज्ञ करना चाहिए'। राजा वसु जो सत्यवादी था जिसने पर्वत की माता और गुरु-पत्नी को पर्वत की प्राण-रक्षा का वचन दिया था उसने पर्वत की मिथ्या मान्यता का समर्थन कर दिया। परिणाम यह हुआ कि तब से यज्ञों से हिंसा का प्रचलन हो गया। और हिंसा पाप का समर्थन करने के कारण राजा वसु नरक में गया।

हिंसा के इस प्रचलन के मूल में पर्वत की मांस-लिप्सा ही मुख्य कारण थी। यद्यपि पश्चाद्वर्ती वैदिक विद्वानों ने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, देवपितृयजनाय हिंसा हिंसा न भवति', आदि कह कर लोगों को सन्तुष्ट करना चाहा। किन्तु इन सूत्रों से भी वही ध्वनि निकलती है कि जनता का मानस इन हिंसाओं को अहिंसा मानने को तैयार नहीं था। वास्तविकता यही है कि हिंसा हिंसा ही रहेगी, भले ही वह यज्ञों के नाम पर की जाय अथवा देव, पितर और अतिथियों के लिये की जाय, हिंसा सदा हिंसा रहेगी। हिंसा किसी भी परिस्थिति में धर्म नहीं बन जायगी।

इस प्रकार धर्ममें अधर्म मिला कर धर्म के नाम पर उसे चलाया जा रहा है और जनता भ्रममें पड़कर उसे शुद्ध धर्म मान रही है। अधर्मको अधर्म मानकर चलाया जाय, तो उतना बुरा नहीं है, जितना बुरा यह है कि अधर्म को धर्मके नाम पर चलाया जावे। तांबा तांबे के नाम पर चले, पीतल पीतल के नाम पर चले, इसमें कोई आपत्ति नहीं है। इससे किसी को धोखा नहीं होता। किन्तु सोने में तांबा या पीतल मिलाकर उसे सोने के नाम पर और सोने के भाव पर बेचा जावे तो इससे जनता भ्रम में पड़ जाती है और उसे ही सच्चा सोना मान बैठती है। तथा उसकी रुचि इतनी विकृत हो जाती है कि वह शुद्ध सोने की ओर से उपेक्षा करने लगती है। मिलावट का यही परिणाम होता है।

आज कल राष्ट्र में मिलावट-विरोधी अभियान चलाये जा रहे हैं। संभव है, इससे वस्तुएं शुद्ध मिलने लगें। किन्तु शुद्ध धर्म में जो अधर्म मिलकर धर्म के नाम पर चल रहे

हैं, यदि इनके विरुद्ध जनताका ही अभियान चलाया जाय तो यह असंभव नहीं कि विश्व मानस की रुचि अधर्म को अधर्म और शुद्ध धर्म को ही धर्म न मानने लगे। ऐसे अभियान की आज बहुत आवश्यकता है।

जिन व्यक्तियों ने भी धर्म में मिलावट की है, उन्होंने भले ही अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति कर ली हो, किन्तु संसार का उन्होंने कोई उपकार नहीं किया, बल्कि अधर्म फैलाकर उन्होंने संसार के करोड़ों व्यक्तियों को सन्मार्ग से भ्रष्ट करने का अपराध किया है। उनका यह अपराध सारी मानवता के प्रति है।

जैनधर्म धर्म के शुद्ध रूप पर ही बल देता आया है। यही कारण है कि आज भी जैनधर्म के अनुयायी अहिंसा को परमधर्म मानते हैं, मांस-भक्षण नहीं करते और हिंसा से दूर रहते हैं ॥३४॥

पित्तळेय तोडवु पोलेय-
गुत्तममेनसिर्द् पोन्न तोडवेनिसुववोल् ।
चित्तदोळुत्साहदिन-
त्युत्तममागिर्कुमघयुतर्गं पापं ॥३५॥

अर्थ—पीतल के आभूषण नीच जाति के लोग पहनते हैं। उनके लिये वही शोभा देते हैं, उन्हें सोनेके भूषण शोभा नहीं देते। इसी प्रकार पाप-बुद्धि वालों को अधर्म ही रुचता है, सद्धर्म नहीं रुचता ॥३५॥

अदरिं पापहेतुमप्प दुमर्गियं पिडियचुविडियदे, परदरेंदु किसुगट्टु वंकळ-ळुच्चुमं [कंचुमं] मारदोरेगं तूकक्कं वर्प पोन्नं कोळ्वरंते सुखहेतुवप्प सन्मार्ग-दोळ् नेगळ्वुदु ॥३६॥

अर्थ—इसलिये नीच लोग पाप मार्ग को अच्छा समझते हैं। लोग सस्ते मूल्य की वस्तु पसंद करते हैं। तांबा, पीतल, जस्ता आदि मूल्यमें सस्ते हैं, उन्हें ही लोग अधिक लेते हैं। किन्तु सोना अधिक मंहगा होता है, उसे कम लोग लेते हैं। किन्तु सस्ती चीज आगे चलकर दुखदाई होती है। सोने की तरह थोड़ा सा धर्म भी सुखदाई होता है किन्तु जस्ताकी तरह अधर्म मात्रा में अधिक होने पर भी सुखदाई नहीं होता, बल्कि दुखदाई होता है ॥३६॥

नडेवेडेयोळ् पडुवेडेयोळ -
मडिसीरेयनेंतु दूळि दिनदिनदोळ् नो- ।
ळ्पोडे पोदु गंते चपळर-
नडेनुडियेंबिवरो दिगु पावचयं ॥३७॥

अर्थ– जिस प्रकार कच्चे रंगवाली भड़कीली साड़ी जैसे जैसे धोयी जाती है, उसका रंग हलका पड़ता है और वह फीकी पड़ती जाती है । इसी प्रकार चपल लोग जो धर्म का आचरण करते दीखते हैं, धीरे-धीरे उनके धर्म का रंग फीका पड़ता जाता है और उस पर कर्म का मैल बढ़ता जाता है ॥३७॥

पोदेदातनरियदंने पोदद मडि वळियं धूळियोळ् मासियसगन बारियोळ् - बिदु निग्रहक्कोळगप्पंते चपळर् जिनतपस्विगळं जिनतत्त्वमनिंतुटंतुटेंदु बय्गेवंदतंणकचणकंगडेदु नगनगेयोळ् पापमं पोर्दि नारकबाधे गोळगागि पल-कालं दुःखेबडुवर् ॥३८॥

अर्थ–धोबी पानी में रहकर दूसरों के कपड़े साफ करता है किन्तु वह अपने कपड़ों को नहीं देखता । वह अपने कपड़ों की गन्दगी को न देखकर दूसरों के कपड़ों की गन्दगी देख-कर हंसता है । इसी प्रकार चपल लोग जैनधर्म और जैन तपस्वी को देखकर उनके प्रति अनेक प्रकार के हास्य और निन्दा के शब्द कहते फिरते हैं वे अपनी ओर नहीं देखते ।३८।

किसुवं मूलिकेयं पो-
र्दिसे नगेयोळ हेममप्प नेरर्दिदं सं ।
किसदे वरधर्मदोळ् कू-
र्तेसगुव नरनु विशेषसुखियगिर्कुं ॥३९॥

अर्थ– जो धर्म, अधर्म का विचार न करके अधर्म को धर्म मानता है, और परीक्षा नहीं करता, वह दुखी रहता है, और जो धर्म और अधर्म की परीक्षा करके धर्म को ग्रहण करता है, वह सुखी रहता है । जैसे जो सोने और पीतलके भेदको जान कर परीक्षा करके सोने को लेता है, वह लाभ में रहता है और जो परीक्षा नहीं करता, वह घाटेमें रहता है ।

बाळे पण्गिनिदप्पुदेंतु सहजं, सक्करेगे सिहियागिर्पु देंतु सहजं, माविनपण्गे रुचियप्पुदेंतु सहजं अंते चक्रवर्तिय देवेंद्रन सर्वज्ञन पद विनेयदुव पुरुषंगे सद्धर्मदोळाद् निर्दोषियप्प देवनोळाद् दिव्यमुनि गळोळाद् प्रीतियुं कोंडाटमुं, भक्तियुं सहज मागिर्कुं, बेविंगे कैपेयेंतु सहजं अणिलिगे तोगरेंतु सहजं सुटिगे कारमेंतु सहजं तानंते वडतनद पीडेयुं सद्धर्मदोळाद मुनिसुं दूषणमुं औदासीन्यमुं नरक दुःख देडेगे सलव पुरुषंगे सहजमागिर्कुं ॥४०॥

अर्थ—केले का फल जैसे स्वभाव से मीठा होता है, खांड में भी स्वाभाविक मिठास होता है, पकने पर आम भी रुचिकर मीठा होता है, उसी प्रकार परीक्षा करके ग्रहण किया हुआ धर्मसे पुरुषार्थ करने पर सहज ही चक्रवर्ती पद प्राप्त होता है। उस ही सत्धर्म द्वारा तीर्थंकर पद प्राप्त होता है जिससे सारा जगत उनकी स्तुति, पूजा, यश-गान करता है। जैसे नीम के वृक्ष के मूल में कितना ही मीठा पानी सींचा जाय, किन्तु उसका स्वाद फिर भी कड़ुवा होता है, सोंठ सहज ही चरपरी होती है, उसी प्रकार अधर्म सहज ही नरक के दुःखों को प्रदान करता है ॥४१॥

बोळाद तलेय रोमं-
मेलेनिसद् बेरल मुरिद सेळ्ळुगुरुं स-
ल्लीलेयोळे बळेव तेरदिं।
कोलाहलमिल्लदोदकुतिर्कुं पापं ॥४१॥

अर्थ—जैसे बाल काटने पर पुनः क्रम क्रम से बढ़ जाते है, उंगली के नाखून काटने पर वे पुनः बढ़ जाते हैं, उसी प्रकार पाप न करने पर भी पूर्व पाप के उदय से पुनः अधर्म की ही वृद्धि होती है ॥४१॥

बोळ मंडेय रोममुं मुरिदुगुरुं मेल्लनारुमरियदंते दिवसक्रमदिं बळेदु तुरुंबुं सेळ्ळुगुरुमप्पंते दुर्जनरुं पापिगळुं धर्मद्रोहिगळुं तम्मन रियलीयदे दिवसक्रमदिं बळेद पापदिंदं महानरकदोळ् बिदुं बहु दुःखमनुण्बर् ॥४२॥

अर्थ—बुढ़ापा आने पर बहुत से व्यक्ति अपने सफेद बालों को तेल खिजाव आदि से

काले करने का प्रयत्न करते हैं या बाल सफेद न दीखें इसलिए उन्हें मुंडवा लेते हैं, किन्तु कुछ दिन बाद पुनः बाल सफेद दीखने लगते हैं। उसी प्रकार पापी द्वारा पाप छिपाने पर भी पाप प्रकट हो जाते हैं, उन्हें नरकादि गतियों में ले जाकर दुःख देते हैं ॥४२॥

ससियुं कोंगि तेंगिन-
ससियुं नेरे बेळेदु मेले फलमं कुडुवं- ।
ते समंतु धर्ममुं सं- ।
तसमं मेलेय्दे माडुगुं क्रमदिंदं ॥४३॥

अर्थ– नारियल के पौधे में पानी देते रहने से वह क्रमशः बढ़कर एक दिन उन्नत वृक्ष बन जाता है और मीठे फल देने लगता है, इसी प्रकार प्रतिदिन धर्म रूपी पौधे को बढ़ाने के लिये उसकी आराधना करने से वह क्रमशः बढ़ता जाता है और स्वर्गादि सुख देता है।

दिनदिनक्कि नितिनितु बेळेदुदेंदोवर्गेमरिय बारदुदागियुं बेळेदु फलमं कोडुव केय्य कोंगिन तेंगिन तोंटदंते दानपूजेयोळ् कूडिद सद्धर्म प्रत्यक्षफलमं तोरदुदागियुं निंदु मेलेमेले फलमं कुडुगुं ॥४४॥

अर्थ–देवपूजा, गुरु-उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये दैनिक षट् कर्तव्य प्रतिदिन करने से श्रावक को क्रमशः सुख मिलता है और धर्म रूपी वृक्ष विशाल बनकर सुख के फल प्रदान करता है ॥४४॥

कूर्मे बोळ्ळसदे जीव-
वकार्मं परतिल्ल दुःखदिं देत्तुव स- ।
द्धर्मम हितमेंदेळिस-
दोर्मेदलरिदार्तु धर्ममं पिडिगे बुधं ॥४५॥

अर्थ– विश्वासके साथ आलस्य-रहित इस जीवको दुःखसे उठाकर सुख में रखनेवाला धर्म के अतिरिक्त और कोई नहीं है। इसलिये यह धर्म बुद्धिमान पुरुष को अच्छी तरह से समझ कर धारण करना चाहिये।

श्रद्धान के साथ जो जीव सद्धर्म की आराधना करता है, उस जीव पर स्वप्न में भी दुःख की छाया नहीं पड़ती। वह जहां जाता है, उसे चारों ओर सद्धर्म ही दिखाई पड़ता

है, जिससे उसका कल्याण होता है, अकल्याण योग्य कोई परिस्थिति उसके निकट नहीं आती। अतः जिस भव्य बुद्धिमान को अपना हित करना है, उसे सद्धर्म ही ग्रहण करना उचित है।

शास्त्रकारों ने धर्म की परिभाषा विभिन्न रूपों से की है। चारित्र को धर्म कहा है, वस्तु स्वभाव को धर्म कहा है, कहीं सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्र को धर्म कहा गया है, इस तरह धर्म की परिभाषायें यद्यपि भिन्न भिन्न प्रतीत होती हैं किन्तु उन सबका लक्ष्य और प्रयोजन एक ही है, केवल कथन-भेद है। वस्तुतः उनमें कोई मौलिक भेद नहीं है। सभी वस्तु स्वभाव के अन्तर्गत हैं। आत्मा का स्वरूप सम्यग्दर्शनादि रूप है, चारित्र की पूर्णता होने पर आत्मा का शुद्ध स्वभाव प्रगट होता है। इस प्रकार ये तीनों लक्षण एक ही हैं।

इस धर्म के दो भेद हैं, १-व्यवहार और २-निश्चय। व्यवहार धर्म साधन है और निश्चय धर्म साध्य है। निश्चय धर्म आत्म-स्वरूप की उपलब्धि रूप है और उसको प्राप्त कराने वाला मार्ग या साधन व्यवहार धर्म है। व्यवहार धर्मके विना निश्चय धर्म कभी नहीं होता। जैसे अखंड सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र आत्मा का स्वरूप है। किन्तु उसकी प्राप्तिका मार्ग भेदरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-और सम्यक्चारित्र ही है। वह भेदरूप व्यवहार रत्नत्रय है। इसी प्रकार कहीं-कहीं दशलक्षण रूप भी धर्म कहा गया है। उसका उद्देश्य भी यही है।

इस व्यवहार और निश्चय का तात्पर्य बिना-समझे कभी-कभी भ्रम हो जाता है; उसका परिणाम यह होता है कि कोई तो व्यवहार मोक्षमार्गको ही उपादेय समझने लगता है और निश्चयकी ओरसे उदासीन हो जाता है। और कोई व्यक्ति केवल निश्चय धर्मको ही उपादेय मानकर व्यवहार को सर्वथा हेय मानने लगता है। किन्तु स्याद्वाद के अनुयायी दोनों एकान्तों में समन्वय करके आपेक्षिक रूपमें दोनों को ही उपादेय मानते हैं। व्यवहार धर्म-मार्ग जीवों को अशुभ उपयोग से हटाकर शुभोपयोग में प्रवृत्त कराता है। दूसरे शब्दों में पाप-प्रवृत्तिसे हटाकर पुण्यमें प्रवृत्त करता है किन्तु साथ ही इस पुण्यको धर्म न मानकर धर्मका साधक मानता है। अतः वह देवपूजा, दया, दान आदि पुण्य-संचय करता है। उस पुण्य-संचय से सद्धर्म के अनुकूल गति, कुल, स्वास्थ्य, धर्म के साधन आदि मिलते हैं। यदि पुण्य-संचय न हो तो ये साधन कभी नहीं मिल सकते। देव-पूजा आदि व्यवहार धर्म का एक रूप तो यह है किन्तु उसका एक दूसरा रूप भी है और वह यह है कि यह व्यवहार पुण्य-संचय तभी होता है, जबकि शुभ राग हो। किंतु सदा ही व्यवहार धर्ममें रागांश नहीं होता। जब कोई व्यक्ति इस व्यवहार धर्मका आचरण करते हुए आत्म-स्वरुपकी ओर

उन्मुख हो जाता है, तब उसके वीतराग भाव होता है और उस वीतराग भाव के कारण कर्मों के बन्धन टूटने लगते हैं और कर्म-निर्जरा होती है। इस तरह व्यवहार धर्मके दोनों पहलुओं पर विचार किये-विना बड़े बड़े विद्वानोंसे भी भूल हो जाता है और वे व्यवहारको सर्वथा हेय कहने लगते हैं। वे भ्रमवश पुण्य को विष्टा भी कहने लगते हैं। पुण्य सर्वथा हेय होता तो तीर्थंकर प्रकृतिको इतना महत्व क्यों होता, जब कि यह प्रकृति केवल पुण्य प्रकृति है। पुण्य हेय होता, तो शुद्ध परिणति में आने योग्य दूसरी क्या परिस्थिति या साधन हो सकता है। जब तक इसके लिये पुण्यका कोई अन्य विकल्प नहीं बताया जायगा, तब तक केवल यह कहने मात्रसे 'हमें आत्मानुभव या आत्म-रुचि होगई' मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। वास्तव में आत्म-रुचि के निकट पहुंचने में बहुत प्रयास करना पड़ता है। वहां तक पहुंचने का जो व्यवहार मार्ग है, उसे छोड़ने के बाद निश्चय तक पहुंचने का दूसरा कोई मार्ग शेष नहीं रहता। व्यवहार धर्म एक ओर कर्म-संवर तथा कर्म-निर्जरा करता है और दूसरी ओर वह कर्म-निर्जरा के योग्य परिस्थिति पैदा करता रहता है। इस द्विमुखी कार्यक्रम को लेकर वह चलता है। उसे छोड़ देने पर तो धर्म वाहन रूप ही नहीं रह सकेगा। तब तो धर्म का उपदेश तक नहीं दिया जा सकेगा, क्योंकि वह भी व्यवहार होगा। आत्मा का स्वरूप भी नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि वह भी व्यवहार धर्म है। निश्चय तो आत्माके शुद्ध रूप की अनुभूति है, शेष जो कुछ है, वह सब व्यवहार है। निश्चय धर्म प्राप्त होनेपर व्यवहार स्वयं समाप्त हो जाता है किन्तु जब तक निश्चय प्राप्त नहीं हुआ, तब तक व्यवहारकी साधनके रूपमे उपयोगिता है और यही सद्धर्म है। दोनों का अपना अपना महत्व है, अपना अपना स्थान है। एक को दूसरे का न तो स्थान दिया जा सकता है और न महत्व। व्यवहार साधन रहेगा और निश्चय साध्य। इसमें विपर्यय नहीं हो सकता।

इस धर्मको धारण करने वाला भव्य जीव कैसा होना चाहिये; आचार्य यह बताते हैं—

इदमेवेदृशमेव तत्वं नान्यन्न चान्यथा।
इत्यकम्पायसाम्भोवत्सन्मार्गेऽसंशया रुचिः॥१॥ र० क० श्रा०

अर्थात् भगवान जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित तत्व यही है, दूसरा नहीं है, ऐसा ही है अन्य प्रकार नहीं है, इस प्रकार मोक्षमार्ग में तलवार के पानी के समान शंका-रहित अचल श्रद्धा रखनी चाहिये। यह निःशंकित अंग कहलाता है।

भगवान के धर्म पर अविचल निष्ठा और श्रद्धा रखनी चाहिये जिसे तनिक भी संशय रहता है, वह धर्म का लाभ नहीं प्राप्त कर सकता॥४५॥

आ धर्मदोळ् नेगळ्द भव्यनेंतप्पनंदोडे कुदुरेयंते कीळं कैकोळ्ळदे, ग्रहदंते मंत्रक्केरगदे, कट्टरसनंते तंत्रकासेगेय्यदे, मासदंते पक्षविल्लदे, दीपवर्तियंते पोंगेरगदे [अळिचागियंते पोगळ्तेगासेगेय्यदे] बेसदवरंते मुय्यं नोडदे. तेरंटेयंते कुमतक्के सूरूळदे ओनलियंते पोल्लमेयं पिडियदे, तोरेयं तोर्मे पेर्चि मत्तोर्मे कुंददे, चंद्रनंते कळंकनागदे मक्कळंते कंडकंडवक्केरगदे, [गिळियंते पेरर शिल्तेयं कलियदे [कोगिलेयंतोर्मे नुडिदोर्मे मानदे, बहुरूपियंते पोत्तिगोंदंदमागदे, कार्ब्बन तोडदंते निस्सारनागदे पादरिगनंते पलर मुंदे नाणवदे, लोभियप्परिसिनंतविचारियागदे, श्रुतनिल्लद लिंगियंते मूर्खनागदे, दूरवंदेयंते तल्लनिसदे. तुबियंते रसज्ञनुं भंडारद पोन्नंते शुद्धनुं, बेट्टिनंते स्थिरनुं मददानेयंते महादानियुं, स्फटिकदंते निर्मळनुं बिल्लंते गुणधरनुं, सुकवियंते कुमार्गदूरनुं, माणिकभट्टनंते परीक्षकनुं, [महाक्षत्रियनंते विचारपरनुं.] देवरंते सुमननुं, पार्थनंते धर्मप्रियनुं, संयमियंते. दयापरनुं कवियंते पतिप्रियनुं सागरदंते निस्सारदूरनुं निच्चगलियंते [धर्मदोळं निःशंकनुमप्पुदु ४६

हे भव्य शिरोमणि ! इस तरह सम्बोधन करके सौधर्म इन्द्र अपनी सभा में देवों को समझा रहा है।

जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित तत्वोंमें, देव गुरु और शास्त्र में कभी अविश्वास न हो। जिस तरह घोड़ा अपनी लगाम को चबाता रहता है, इस तरह कोई केवल धर्म की बात मुंहसे भले ही बोलता रहता हो, किन्तु उसके जीवनमें धर्म न हो, धर्मसे विचलित होकर मन्त्र तन्त्र की ओर झुक न जाय, राजा के समान कहीं धर्म की ओर झुककर फिर उससे विमुख न हो, एक मास में जैसे दो पक्ष होते में—कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष, इस प्रकार द्विपक्षी न होकर पक्ष-रहित हो, दीप की शिखा के समान चंचल न हो, अपने मान के लिये पक्ष लेकर धर्म में संशय लाने वाला न हो, धर्म को ग्रहण करते समय जैसे कोई व्यक्ति अपने को थका हुआ अनुभव करता है, उसी प्रकार शिथिल-विश्वासी और संशयात्मा न हो। संशय मिथ्यादृष्टि के समान जैसा अवसर आवे वैसा न हो। जंगली चूहे के समान हर एक बात ग्रहण करने वाला न हो। जैसे वर्षा में तालाब भरने के बाद फिर धीरे-धीरे

कम होता जाता है, इस प्रकार धर्म धारण करने के बाद अपने विश्वासमें शिथिलता लाने वाला न हो। छोटा बच्चा जिसे देखता है उसे ही पकड़ने दौड़ता है, उसी प्रकार जिस धर्म को देखे उसी तरफ दौड़ने वाला न हो। तोते के समान विना समझे अनेक प्रकारकी शिक्षा को ग्रहण न करे। कोयलके समान उसकी बोली हर वार में बदली हुई न हो। बहुरूपिया के समान भिन्न-भिन्न प्रकार की बोली बोलने वाला न हो। काने गन्ने के समान निस्सार न हो। पुंश्चली स्त्री जिस प्रकार हर एक पुरुषके पास जाकर शर्माती है इस प्रकार सद्धर्म ग्रहण करने के बाद लज्जा का अनुभव न करे। लोभी राजा के समान अविचारी न हो। शास्त्रज्ञान-रहित कुलिंगी मिथ्यादृष्टि साधु के समान मूर्ख न हो। गहन वनमें पड़ कर जिस प्रकार कोई व्यक्ति भटक जाता है, उसी प्रकार धर्मको ग्रहण करनेके बाद उससे भटके नहीं। भौंरे के समान रसज्ञ हो। खजाने के सोने के समान शुद्ध हो। मदोन्मत्त हाथी के समान दानी हो। स्फटिक मणिके समान निर्मल हो। धनुषके समान गुणधर हो। सुकविके समान कुमार्गसे दूर रहने वाला हो। निपुण जोहरीके समान परीक्षक हो। महा क्षत्रियके समान विचार-परायण हो। जिनेन्द्र भगवान के समान शान्त परिणामी हो। धर्मनिष्ठ के समान धर्मप्रिय हो। संयमीके समाथ दया-परायण हो। कवि के समाम नीति-प्रिय हो। सागर के समान निस्सार से दूर हो। निश्चल साध के समान धर्म में निश्चल-दृढ़ होना चाहिये।

भावार्थ–ग्रन्थकार ने जिनेन्द्र भगवान के धर्म को ग्रहण करने वाले व्यक्ति के गुणों का वर्णन किया है। इसका सार यह है कि उसे असंशयालु (संशयरहित) होना चाहिए ॥४६॥

ग्रन्थकार अब दान का स्वरूप बतलाते हैं–

[इवरिं स्त्रीवश्यमक्किन्निवरिनेनगे मंत्रोपदेशंगळक्कि।
न्निवरिं दिव्य फलिक्किन्निवरिनेनगे दिव्योपदेशंगळक्कि॥
न्निवरिं दीकार्यमक्किन्निवरिनेनगे पोन्नक्कुमेंदळ्करिं मा-।
डुव दानं दानमल्लंतुदु बगेवोडेमुय्बंधुगळ् गीवुदक्कु ॥४७॥

अर्थ–'मुझे धन का लाभ हो, अमुक स्त्री मेरे वशमें होजावे। अमुक फल मिले, अमुक व्यक्ति मेरे ऊपर प्रसन्न हो, मेरे यश की वृद्धि हो, मुझे सोना मिले। किसी रसायन की प्राप्ति हो,' इत्यादि अनेक प्रकार की मन में इच्छा रखकर जो दान करते हैं वह वस्तुतः दान नहीं है। सम्यग्दृष्टि का दान कल्प वृक्ष के समान स्व और पर के कल्याण के लिये

होता है, कर्मोंकी निर्जरा का कारण होता है। किन्तु निदान सहित दिया जाने वाला दान संसार का कारण होता है। वह वस्तुतः दान नहीं कहलाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने रयणसार में दान के सम्बन्ध में कहा है—

सप्पुरिसाणं दाणं कप्पतरूणं फलाणसोहवहं।
लोहाणं दाणं जइ विमाण सोहासवं जाणे॥
जसकित्ति पुण्णलाहे देइ सुवहुगंपि जत्थ तत्थेव।
सम्माइ सुगुण भायण पत्तविसेसं ण जाणंति॥
जंतं मंतं तंतं परिचरियं पक्खवाय पियवयणं।
पडुच्च पंचमकाले भरहे दाणं ण किं पि मोक्खस्स॥

अर्थात् धर्मात्मा सम्यग्दृष्टि का दान कल्पवृक्ष के फल के समान शोभा को प्राप्त होता है और लोभी पुरुष का दान मृतक पुरुषकी अर्थी के समान है। लोभी अज्ञानी पुरुष अपनी कीर्ति यश मान बड़ाई और पुण्य लाभ को इच्छासे कुपात्र, अपात्र आदि मिथ्या अनायतनों में बहुत दान देते हैं, परन्तु उनको सम्यक्त्व रत्न से सुशोभित अनेक गुणों की खान ऐसे सुदान की पहचान नहीं है।

यंत्र मंत्र और तन्त्र की सिद्धि और जनता में अपनी प्रवृत्ति, पक्षपात की सिद्धि और खुशामद का लक्ष्य रख कर इस भरत क्षेत्र में, पंचम काल में जो दान दिया जाता है, वह दान मोक्ष का साधक नहीं होता॥४७॥

कूळिर्दतरगंजियं कुडिव पोन्निर्दते कर्गेल्लन-
त्याळापं बगेगट्टु कोळ्व धरणीसाम्राज्यमिर्दते वं-।
दाळागिर्प विभूतियं विसुट्टु भैसंगोंडु तानुण्व वे-
ळ्ळाळं पोलने मंत्रवैद्यदळिपिं केडेयुदिपं धर्ममं॥४८॥

अर्थ—घर में खाने के लिये मिष्टान्न हो किन्तु फिर भी जो मांड पीता है, पहनने के लिए सोना है किन्तु पीतल पहनता है, सुशील स्त्री है किन्तु कुलटाओं की संगति करता है, सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य होने पर भी भीख मांगता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति दान-पूजा व्रत-नियम मंत्र-तन्त्र इत्यादि आशा से अपने धर्म को छोड़ कर इन्द्रिय-विषय-भोगोंमें रमण करता है संसार-परिभ्रमण कराने वाला निदान बन्ध करता है। वह धर्म का नाश करके अधर्म की प्राप्ति की इच्छा करता है॥४८॥

मळे युळ्ळोडे केरे तोरेग-
ळ्क्किळासदिं तीविं कोडिवरिवंतवनी- ।
तळदोळ् पुण्यं तनग-
ग्गळ मुळ्ळोडे तनगे ताने वारदे सिरियं ॥४६॥

अर्थ—जैसे वर्षा ऋतु में वर्षा होने से नदी, तालाब सहज ही भर जाते हैं । इसी प्रकार पुण्योपार्जन करने वालोंको धरणेन्द्र चक्रवर्ती पद आदि स्वयं प्राप्त होजाते हैं । यदि पुण्य-संचय होगा, तो संसार के सारे वैभव उपलब्ध हो जायेंगे । विना पानी के तालाब नहीं भरता, इसी प्रकार पुण्य-संचय के विना जीव को संसार में कुछ नहीं मिलता ॥४९॥

[मत्तं] काविल्लदे कोडेविडिवेनेंवंते, वंदिगेयिल्लदे सुरगि विडिव नेंवंते, नाडुविडियदरसुगेय्वनेंवंते, घृतमिल्लदूरनोडुवेनेंवंते, मदवळिगनिल्लदे दिब्बणंबोपेनेंवंते, बट्टेपरिपदे पोलंविगनप्पेनेंवंते, भातरियदे बिन्नपंगेय्वेनेंवंते, सुरगियिल्लदे कळनेरुवेनेंवंते, मडकेयिल्ल दडुवेनेंवंते सूळेयिल्लदे, बोजंगरं करेवेनेंवंते, मुन्निन भवदोळाद जिनपूजेयिं दानदिं व्रतदिं तपदिंदाद पुण्यमिल्लदे सिरियुमं पोन्नुमं सुखमुमं आयुष्यमुमं मंत्र [तंत्र वैद्यं] गळिं पडेवेनेंदु देसेगिडल्वेड, मरुगिदोडे फलमिल्लं ॥५०॥

अर्थ—डंडे के विना छतरी पकड़ी नहीं जा सकती । जहाँ देश नहीं है वहाँ राज्य करने की इच्छा करना, जहाँ पर घी नहीं मिलता वहाँ घी निकालने की इच्छा करना, दूल्हा के विना वरात ले जाना, मार्ग के बिना जाना, बोली जाने विना विदेशी के साथ संभाषण करना, बर्तन के विना भोजन पकाना, वेश्या के विना विटों को बुलाना जैसे असंगत लगता है । इसी प्रकार पुण्य, दान, तप, पूजा आदि के विना ऐश्वर्य, संपत्ति, दीर्घायु आदि नहीं मिल सकते । यदि पुण्य हो, तो मंत्र तंत्र-यंत्र आदि काम देते हैं । विना पुण्य के ये काम नहीं देते ॥५०॥

आ रामाधीशरुं पांडवरखिळमहीवल्लभर् कर्मदिं स-
दारण्यवोवक्कु कांतापरिभवदळलिं वेंदु नोंदिर्द्दरतां-

भूरामाधीश्वरकेंळरियिरेनयदिं मंत्रमं वैद्यमं नी-
नोरंतेकण्ण बाळ्वासेयोळे रगिद्पै कर्गदिं बल्लितुंटे ॥५१॥

अर्थ–यंत्र, मंत्र, तंत्र, से यदि आपत्तियों का निवारण हो जाता तो रामचन्द्र, पाण्डव राजपाट छोड़कर जंगलमें क्यों घूमते ? उनकी पत्नी का अपमान क्यों होता ? यंत्र, मंत्र तंत्र आदि विद्याओं ने इनको क्यों नहीं बचाया । इनको इतना कष्ट क्यों उठाना पड़ा ? क्या ये लोग नहीं जानते थे कि यन्त्र मंत्र तंत्र आपत्तियों का नाश कर सकते हैं । वस्तुतः अशुभ कर्मका उदय आने पर आपत्तियोंका आना अनिवार्य है । पुण्यके उदय होनेपर ही मंत्र वैद्य आदि सहायक हो सकते हैं । जीव कितना ही प्रयत्न करे किन्तु पूर्व जन्म के पुण्य के विना वह सफल नहीं होता ॥५१॥

आ सगरेश नाभरतनाद्रुमसेननुदारवीरदिं-
दीसकलोर्वियं तनगे माडिद पेंपिन चक्रवर्ति शां- ।
तीशरिवर्गे दिव्यसुखमादुदु मुन्निन पुण्यपेळ्गेयिं-
भासुर पुण्यमं नेरेपे पुण्यमे तारदे सर्वसौख्यमं ॥५२॥

अर्थ–भरत चक्रवर्ती, सगर चक्रवर्ती द्रुमसेन आदि ने वीरता के द्वारा सम्पूर्ण पृथ्वी मण्डल को विजय किया और आनन्द-पूर्वक सांसारिक भोग भोगे । शान्तिनाथ तीर्थङ्कर ने पूर्व जन्म के पुण्यसे तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती और कामदेव ये तीन पद प्राप्त किये । पूर्वकृत पुण्य के विना इस जीव को संसार में सुख और शान्ति नहीं मिल सकती । अतः प्रत्येक मनुष्य को पुण्य-संचय करना चाहिए ।

तीर्थङ्कर और चक्रवर्ती पद पुण्य प्रकृतियों के परिणाम हैं । पुण्य के द्वारा ही ये पद प्राप्त होते हैं ॥५२॥

[इंतु मंत्रौषधंगळिं कावोडमायुष्यमिल्लद नरंगे सफलमागवंते मंत्रादि ग्रहं पोपुदेंबी नुडियं नंबदे पुण्यमोंदे कारणं पुण्यदिं मिगिलप्पुदोंदुमिल्लेंदु शाश्वतसुखमेनीव सद्धर्मदोळ् बुद्धियं निश्चयंगेय्दिर्पुदु, मणिमंत्रौषधंगळोळ-प्पाशेयं बिड्डुवुदु] ॥५३॥

अर्थ–मन्त्र यन्त्र, औषधि आदि से मनुष्य नीरोग हो जाता है, सब प्रकार के कण्टक निर्मूल हो जाते हैं, ऐसा जो मानते हैं, वह जिनेन्द्रदेव के वचनों के विरुद्ध है । लोकेष

होने आदि में पुण्य ही कारण है। पुण्य के अतिरिक्त और कोई कारण नहीं है। शाश्वत सुख और स्वर्ग मोक्ष को देने वाला एक सद्धर्म ही है। इस प्रकार सद्धर्म में निश्चय-पूर्वक अपनी बुद्धि रख कर धर्म पुरुषार्थ करना यह ही बुद्धिमान का कर्तव्य है। मुझे मन्त्र तन्त्र आदि से लाभ हो जायगा, यह कहना श्री जिनेन्द्र देव की आज्ञा के विपरीत है। अतः धर्म द्वारा पुण्योपार्जन करना ही मनुष्यका मुख्य कर्तव्य है। उसीसे उसको सुख शान्ति मिलेगी। अन्य से नहीं ॥५३॥

एनानुमनुद्दे शि स-
दानंदं बेरसु भक्तिपूर्वकदिंदं-
तानोसेदु माळ्‌ दानं-
तानदु मुंदणे कुडुवुदक्षयसुखमं ॥५४॥

अर्थ—मन में कोई बांछा न रख कर स्व-पर-कल्याण के लिये आनन्द और भक्ति पूर्वक दान देना अक्षय सुख को देने वाला है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी रयणसार में कहा है—

दाणीणं दालिद्दं लोहीणं किं हवेइ महाइसरियं।
उहयाणं पुव्वज्जिय कम्मफलं जाव होइ थिरा ॥

अर्थ—दानी पुरुषों को दरिद्रता और लोभी पुरुषों को महान् विभव की प्राप्ति होना अपने अपने पूर्व-उपार्जित कर्मोंका ही फल है। इसलिये भव्य जीवोंको चाहिए कि जब तक पूर्व कर्मों का उदय है, तब तक अपनी अवस्था पर हर्ष या ग्लानि नहीं करे और न यह विचार करे कि मैं धर्म सेवन करते हुए भी दरिद्र क्यों हो गया और पापी पुरुष धनवान क्यों हो गया।

'धर्मात्मा व्यक्ति दरिद्री हों', ऐसे अवसर कम ही आते हैं। यदि दरिद्री भी हो तो वह पूर्वकृत कर्मों के उदय से होता है। फिर भी धर्मात्मा व्यक्ति कर्मों का उदय समझ कर सन्तोष और शान्ति के साथ उसे सहन करता है। इससे दरिद्रता का वेग कम हो जाता है और उससे आगे वह भावी जन्म में सुख प्राप्त करता है ॥५४॥

[राजक्के चतुरंगमुं मंत्रक्के चतुर्विधोपायमुमोप्पुवंतादानक्के शास्त्रादि-दानचतुष्टयमोप्पुगुमितु ॥५५॥

अर्थ—जैसे राज्य करने के लिये चतुरंग सेना और मंत्र के लिये चतुर्विध उपाय जैसे आवश्यक हैं, उसी प्रकार मोक्ष की प्राप्ति के लिये चतुर्विध दान करना उपाय है ॥५५॥

परमागमर्दिदल्लदे-
परत्रेयं पडेवुपायमिल्लदरिदं ।
वरशास्त्रं मिगिलेंदा-
दरर्दि माडुवुदु शास्त्रदानमतळिपिं ॥५६॥

अर्थ—मोक्ष या इह लोक परलोक के सुखकी प्राप्ति का उपाय परमागम के बिना अन्य कोई नहीं है। इसलिये भव्य श्रावकों को शास्त्रदान करना अत्यन्त आवश्यक है। शास्त्र-दान स्वपर का कल्याण करने वाला है, सब का हित करने वाला है और केवलज्ञान की प्राप्ति का आवश्यक उपाय है। अतः शास्त्र दान करना चाहिए ॥५६॥

श्रुतवनितेये मुक्ति श्री-
सतियल्लिगे बेगमुय्य दूदवियेंबी ।
मतमनरिदोतु माडुवु-
दतिशयर्दि शास्त्रदानमं पद्पिंदं ॥५७॥

अर्थ—श्रुत वनिता ही मोक्ष-सतीके पास शीघ्रता से पहुँचाने वाली है, ऐसी मनमें श्रद्धा रखकर शास्त्रदान करना श्रावक का कर्तव्य है ॥५७॥

श्रुत भावनेयोळमतिमन-
द्रुति निर्मलमनदिनघहरं तद्द्रुरित ।
त्ततियिं कैवल्य श्री-
सतिसागु शास्त्रदानदुन्नति किरिदे ॥५८॥

अर्थ—श्रुत-दान की महिमा कहां तक गाई जाय। जिनके श्रुत-भावना में अत्यन्त रुचि है। वह उस भावना से पापों का नाश करके कैवल्य लक्ष्मी को प्राप्त कर लेता है। श्रुत-दान द्वारा ग्वाले ने अपने ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम किया और अगले जन्म में वह ग्वाला कुन्दकुन्द आचार्य बना, जिन्होंने अनेक शास्त्रों की रचना करके जगत का कल्याण किया। तथा अपने सातिशय पुण्यके द्वारा भगवान् सीमंधर स्वामी के दर्शन किये। जिससे उनको अपनी शंकाओं का स्वयं ही समाधान हो गया ॥५८॥

घगद्दिरोन्नदे मन-
मेंगडिसदे तीरदारेनेंदुडुगदे नि ।
र्वंगं चित्तदोळ णमिनि-
सागदे तां माळ्पुदन्नदानमनरिवि ॥५६॥

अर्थ–मनमें किसी प्रकारकी शंका न करके और पात्रकी कोई परीक्षा न करके अत्यन्त भक्ति के साथ मन में संकल्प करके जो पात्र को दान दिया जाता है, वह दान कहलाता है और वह दाता सप्तगुण सम्पन्न कहलाता है।

आहार दान के महत्व को बतलाते हैं–

करमादरदिं दन्नम-
नुरु मुनियोर्वंगे कोट्टतत्तफलदिंदं ।
शिरिषेणनृपति शांती-
श्वरनादं नोळ्पोडन्न दामं किरिदे ॥६०॥

अर्थ–नवधा भक्ति और सप्त गुण सहित उत्साह पूर्वक दिये हुए दान के द्वारा श्रीषेण राजा शान्तिनाथ तीर्थंकर हो गया। इस तरह क्या आहार दानकी महिमा कम है? ।६०।

तन्नवरेन्न वरेन्नदे-
सन्नुतगतियागि सकल जीवंगळुमं ।
तन्नं रक्षिसु वंतिरे-
विन्नणमेनरिदु रक्षिपु सत्पुरुषं ॥६१॥

अर्थ–जब किसी भी जीव पर कोई संकट आवे, उस समय पक्षपात रहित होकर उस जीव की रक्षा करना अभयदान कहलाता है।

प्राणियों पर अशुभ कर्मके उदयसे संकट आ जाते हैं। वे प्राणी चाहे एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त कोई भी क्यों न हों, उनके दुःखसे द्रवित हो करके करुणा भाव से उनका दुःख दूर करना धार्मिक जनों का कर्तव्य है। दूसरे की पीड़ा से जिनका हृदय द्रवित नहीं होता, करुणा की भावना नहीं जागृत होती, उनके हृदय में दया भावना नहीं ठहर पाती। दया कोमल हृदय में ही ठहरती है। दया धर्म का मूल है। धर्म का बीज कोमल भूमि

में ही उगता है, कठोर भूमि में नहीं उगता। दया कोमल हृदय में ही रहती है।

बहुत से व्यक्ति ऐसे हैं, जो प्राणियों को कष्ट देना अपना व्यवसाय समझते हैं। कुछ लोग पशु पक्षियोंको मारने ले जाते हैं। लेकिन ऐसे भी धार्मिक दयालु जन होते हैं, जो उन पशु-पक्षियों पर दया करके उन्हें छुड़ा देते हैं और इस तरहसे उनके प्राणों की रक्षा करते हैं। कुछ दयालु व्यक्ति दयासे प्रेरित होकर मनुष्यों तथा पशुओं या पक्षियोंके लिये सुखदायी अस्पताल-खुलवाते हैं। उससे अनेक प्राणियों की पीड़ा दूर होती है। इससे वे व्यक्ति महान पुण्योपार्जन करते हैं।

प्राण-दान की तुलना में संसार के अन्य वैभवों का दान तुच्छ है। एक राजा ने एक अपराधी को मृत्यु दण्ड की सजा सुनाई। उस राजाके चार रानियां थीं। उन्होंने राजा से प्रार्थना की कि महाराज ! इसे मृत्यु-दण्ड तो मिलना ही है, हम चाहते हैं कि इसे हमें दे दिया जाय। राजा ने वह कैदी रानियों के सुपुर्द कर दिया। तब पहली रानी ने उसका खूब आदर सत्कार किया, खिलाया, पिलाया और उसे साथ में एक लाख रुपया भी दिया। दूसरी और तीसरी रानी ने भी उसे खिलाया, पिलाया और उसे लाखों रुपये भेंट दिये। चौथी रानीने उसे कुछ नहीं खिलाया, पिलाया, बल्कि उससे पूछा कि तुम क्या चाहते हो ? कैदी बोला 'प्राण-दान'। रानी ने उसे प्राण-दान दे दिया।

तीनों रानी उस रानीकी निन्दा करने लगी कि यह बड़ी कंजूस है, उसने कुछ खिलाया पिलाया तक नहीं। चारों झगड़ने लगीं और राजा के पास पहुँची। राजा ने सबकी बात सुनी, किन्तु स्वयं कुछ निर्णय न दे करके कैदी से ही पूछा कि चारों रानियों में से किस रानी का कार्य तुम्हें अधिक प्रिय लगा। कैदी बोला राजन् ! यद्यपि सभी रानियों ने मेरे ऊपर कृपा की है किन्तु चौथी रानी ने प्राण-दान दे करके मुझ पर भारी उपकार किया है। उसको मैं जीवन भर नहीं भूल सकूंगा। यदि मेरे प्राण न रहते तो धन आदि सब व्यर्थ रहते।

अतः प्राण-दान या अभय दान सब दानों में श्रेष्ठ है ॥६१॥

नेगळ्द भयदानफलदिं-
मृगनयने विदग्धे संदरुक्मिणि लोकं- ।
पोगळे कडुजसमनांतळ्- ।
जगतीवळयक्के सौख्यभाजनेयादळ् ॥६२॥

अर्थ—इस अभयदान के फल से शूकर आगे चलकर कृष्ण की पट्टरानी रुक्मिणी बना।

गुफा में एक मुनि तपस्या कर रहे थे। एक सिंह उन्हें खाने आया। उधर एक शूकर ने यह देखा तो वह सिंह का अभिप्राय समझ गया। उसे जाति-स्मरण हो गया। इससे उसने मनमें उन मुनि की रक्षा का संकल्प कर लिया और अपनी शक्ति की पर्वाह न करके सिंह से जा भिड़ा। सिंह के मन में मुनि को मारने की भूख थी और शूकर के मन में उनके बचाने की भावना थी। दोनों लड़कर जख्मी हो गए और मर गए। मर कर सिंह नरक में गया और शूकर अभयदान के प्रभाव से स्वर्ग में गया वहां से आकर कृष्ण की रानी रुक्मिणी हुआ ॥६२॥

उक्के मिल्लदे मनदोळ्-।
कोक्करिसदे पेरर मेले नेवमिक्कदे कै-।
मिक्कोळ्पिं चातुर्व-
र्ण्यक्कं माडुवुदु रुजेगे दिव्यौषधमं ॥६३॥

अर्थ—मन में शंका या घृणा न करके चारों वर्णों के दुखी प्राणी को देखकर दया करके उनका दुःख निवारण करने के लिए औषध देना, उनकी चिकित्सा करना, इसे औषधदान कहते हैं ॥६३॥

फलमिन्नौषधदानद-
फलदिं तीर्थंकरनप्प पुण्यं वेगं-।
फलयिसितु विष्णुगदरिं
दलसदे भेषज्यदानमं माळ्कवं- ॥६४॥

अर्थ—इस औषधदान के प्रभाव से कृष्ण को तीर्थङ्कर-प्रकृति का बन्ध हो गया।

एक दिन नारायण कृष्ण श्री नेमिनाथ भगवान के दर्शनार्थ जा रहे थे। मार्ग में एक वन में एक मुनिराज विराजमान थे। उन्हें रोग के कारण भयंकर पीड़ा हो रही थी। उससे उनके ध्यान में बाधा पड़ रही थी। श्रीकृष्ण मुनिराजके दर्शनों के लिये जब गये तो उन्हें यह जान कर बड़ा दुःख हुआ कि मुनिराज को रोग से कष्ट हो रहा है। उनके मनमें बड़ी करुणा उपजी। उन्होंने तत्काल राजवैद्य को बुलाया और उनकी चिकित्सा कराई। कृष्ण तब तक मुनिराज की वैयावृत्य करते रहे और हृदय में षोडश कारण भावनाओं का

दर्शन की विशुद्धि-पूर्वक चिन्तन करते रहे। सम्यक्त्व-पूर्वक निर्मल परिणामोंके कारण उन्हें उस औषधदान के प्रभाव से अविलम्ब महान तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध हो गया।

अतः सभी भव्य जीवों को दुखी जीव देखकर चातुर्वर्ण पर दया करके भेषज अर्थात् औषध-दान देना चाहिए। यह महान पुण्यकारक है ॥६४॥

परमायुं श्रीयपेंपुं वनीतेयरोलवुं कीर्तियुं धैर्यमुं सुं-
दररूपं वीरमुं भोगमुं मेशोत्र महावीर्यमं जागमुं वि- ।
स्तरदिं सद्बुद्धियुं तेजमुमळवुमहैश्वैर्यमुं दिव्य सौख्यो-
त्करमुं सद्दानदिंदं नरगें समनिकुं संततोत्साहदिंदं ॥६५॥

अर्थ—दीर्घायु, ऐश्वर्य, कीर्ति, सुन्दर स्त्रियां, जगत में मान्यता, धैर्य, सुन्दर रूप, व भोग की सामग्री, प्रतिष्ठा, सद्बुद्धि, तेज, निर्मल भावना, दिव्य सुख, ये सभी मनुष्य को चार प्रकार के दानसे प्राप्त होता है। अतः प्रत्येक मनुष्यको प्रतिदिन दान करना चाहिए।

इन चारों प्रकार के दानों से संसार में सभी इष्ट पदार्थों की प्राप्ति होती है। दान के कारण परिणामों में निर्मलता, दया, त्याग और विषयोंमें लोभ की मन्दता आती है। अतः उससे पुण्य-बन्ध होता है। संसार के सुख, ऐश्वर्य, प्रतिष्ठा, बल, नीरोग शरीर; ये सब पुण्य के फल हैं। दान से जो पुण्य-बन्ध होता है, उसके कारण ये सांसारिक सुख तो मिलते ही हैं, साथ ही दान देते समय जितने अंश में परिणामों में वीतरागता आती है, उतने अंशों में कर्मों की निर्जरा भी होती है। दान का प्रयोजन यदि एक वाक्यमें कहा जाय तो कहा जा सकता है—'इस हाथ दे, उस हाथ ले।' अर्थात् दिया दान कभी व्यर्थ नहीं जाता। जो दिया जाता है, उससे महान् पुण्यका लाभ होता है। उससे आगे संसार के इष्ट पदार्थ मिलते हैं। यह उपलब्धि सामान्य नहीं है। अतः सभी गृहस्थों को प्रतिदिन चारों प्रकार के दानों में से कुछ न कुछ अवश्य करना चाहिये। गृहस्थ के दैनिक कर्तव्यों में से यह एक आवश्यक कर्तव्य बतलाया गया है। इसका उद्देश्य यही है कि प्रत्येक गृहस्थ प्रतिदिन विषय भोगों और इष्ट पदार्थों का कुछ न कुछ त्याग करता रहे ॥६५॥

हीनायुं कष्टरूपुं बडतनदोदवुं कुत्तमुं पीडेयुं वि-
ज्ञानंगेट्टिर्पुदुं कूळ्पडेयदे मरुगुत्तेर्पुदुं लोगरिंदों ।
दानंदंगेट्टु चिंतिप्पुदुमनवरतं पेंडरिं मक्कळिं स-
न्मानंगेट्टिर्पुदुं कुडुगुमोदविद पूर्वार्जिताघौघदिं दं ॥६६॥

अर्थ–हीनायु, दरिद्रता, अनेक प्रकारके कष्ट, कुरूपता, हीनांग, शरीरमें पीड़ा, अज्ञानता, भोजन न मिलना, भिक्षा-वृत्ति, सदा चिन्ता रहना, स्त्री-बच्चोंकी ओरसे दुःख, असम्मान, लोक में तिरस्कार ये सभी पूर्वाजित कर्मों का फल है और यह कर्मबन्ध उन लोगोंको होता है, जो स्वयं दान नहीं देते और अन्य को दान देते देख कर ईर्ष्या करते हैं।

संसारमें नाना प्रकारके कष्ट, अल्पायु, दरिद्रता, रोग शोक, चिन्ता आदि दुःख प्राणियों को लगे रहते हैं। ये दुःख पूर्व जन्म के अर्जित पापों के फल हैं, यह तो निश्चित ही है। किन्तु पूर्व जन्म में इस प्रकार के दुःख-परिणामी पापों का बन्ध वे ही प्राणी करते हैं जो कभी दान नहीं करते, विषयोंमें राग भाव कम नहीं करते और दूसरे को दान देते देखकर उसे दान देने से रोकते है, उसमें बाधा डालते हैं या उसे बुरा बताते हैं। जो व्यक्ति स्वयं दान नहीं देते, वे विषयों में डूबे हुए हैं, विषयों से जिन्हें अपार राग है, वे इस तीव्र राग का बन्ध करते हैं। किन्तु जो दूसरे को दान देने से रोकता है, उसके तीव्र राग के भाव के साथ द्वेष भाव भी है। वह अन्तराय कर्मका भी बन्ध करता है। उस कर्मके कारण अगले भव में उसे दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य की प्राप्ति नहीं होती। भोग की सामग्री सामने रक्खी रहे, फिर भी वह उस सामग्री को भोग नहीं पाता। अनेक व्यक्ति ऐसे होते हैं जिन्हें धन, भोग के साधन आदि मिलते नहीं। उन्हें न मिलने का सन्ताप और चिन्ता रहती है। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जिन्हें धन तो मिलता है, किन्तु नीरोगता नहीं मिलती शरीर स्वस्थ नहीं रहता। फलतः भोगोपभोग की सामग्री रहते हुए भी वे उसे भोग नहीं पाते। यह सब दान न देने का परिणाम है, जिससे सांसारिक भोगों की प्राप्ति और उनका भोग नहीं मिल पाता। दान में तो वास्तव में स्व और पर के उपकार की भावना रहती है। दानमें केवल पर का उपकार होता हो, यह बात नहीं, वरन् अपना भी महान् उपकार होता है। दूसरेकी तो आवश्यकता की ही पूर्ति होती है, किन्तु अपनी तो कषाय मन्द होती है, पुण्य-बन्ध होता है और कर्मोंकी निर्जरा होती है। जिससे आगे चलकर सांसारिक भोग मिलते हैं और परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥६६॥

एंदिंतु किरिदिनोळ् धर्ममुं पेळे केळ्दरिदु संत संबट्टु देवनिकुरंबं
सौधर्मेन्द्रंगे पोडेमट्टु बिन्न पर्मेदिंतिं दर् ॥६७॥

अर्थ–इस प्रकार संक्षेपमें सौधर्मेन्द्रने धर्म का स्वरूप बतलाया; जिसे सुनकर देव बहुत सन्तुष्ट हुए। तब सब देवों ने इन्द्र को नमस्कार करके प्रार्थना की ॥६७॥

अरिदु नेगळ्तगे फलदोळ्
पिरिदक्षयलद्मियिर्पं जेले येनिसिर्दी ।
निरुपमनिर्विचिकित्सेये
यरिदु गुणंगळोळगे बगेवड्डे जगदोळ् ॥६८॥

अर्थ—क्या मोक्ष को देने वाले निर्विचिकित्सा अंग का पालन करने वाला कोई भव्य सम्यग्दृष्टि इस संसार में है ? ॥६८॥

[अदुकारणर्दि] कलिकालमहोरगविषपूरितमुं सद्ध-
र्मनिवारितमुमप्प भरतक्षेत्रदोळ् गुणहीनरेयल्लदे
गुणवंतरुं पापहररुं प्रचुरमिल्लदोडं निर्विचिकित्सियोळ्
नेगळयरं देवरेमगे बेसेसिमेने दिविजराजनिंतेंदं ॥६९॥

अर्थ—यह काल पाप रूपी सर्पों के विष से पूरित है। इस समय गुणवान् व्यक्ति बहुत कम हैं, पापी अधिक हैं। क्या भारत क्षेत्र में इस समय भी कोई सम्यग्दृष्टि है ? यदि है तो कितने हैं और कौन-कौन से हैं कृपया यह हमको बताने का कष्ट करें। उनकी प्रार्थना को सुनकर सौधर्मेन्द्र कहने लगा ॥६९॥

[रौरव पुरेशनमळनु-
दारं जिनपादपद्ममधुपं सत्या- ।
धारं धरणीस्तुत्यं
चारुचरित्रं नृपान्वयैकपवित्रं ॥] ॥७०॥

अर्थ—इस भरत क्षेत्र में रौरवपुर नामक नगर है और उसमें जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों में भ्रमरके समान, सच्चारित्र का धारक, उदार, सत्यवादी, सभी राजाओंमें आदर्श पवित्र राजा है ॥७०॥

ओद्दायनमहाराजनीगळा भरतक्षेत्रदोळ् प्रसिद्धनें बुदुं अमरसमिति मेच्चि कैंगळं मुगिदु नानाप्रकारर्दि पोगळुतिपुं दुमवरोळ् वासवनेंवदेवं देवेन्द्रन मातिंगे बेरगागि ॥७१॥

अर्थ—उस राजा का नाम उद्दायन है। आज भी भरत क्षेत्रमें वह विख्यात है। अमर

समिति भी उसकी स्तुति करती है, उसकी भक्ति करती है और उसका यशोगान करती है। इस प्रकार सौधर्म इन्द्र की बात सुनकर वासव नामक देव को बड़ा आश्चर्य हुआ और वह मन में विचार करने लगा ॥७१॥

निश्चयगुणरोळरें बुदि
दाश्चर्यं भरतभूमियोळ् सुरपति ताम्।
निश्चलगुणिगळनल्लदे
दुश्चरितरनधसमेतरं पोगळ्दिपने ॥७२॥

अर्थ—इस भरत क्षेत्र में देवोंके द्वारा ही यह सुनने में आया है, कि यहां एक सम्यग्दृष्टि है। क्या देव दुराचारी पापी जनों की स्तुति कर सकते हैं? नहीं कर सकते। मुझे भी उसका परिचय करना चाहिए, जिसकी स्तुति सौधर्मेन्द्र ने की है। मुझे स्वयं वहां जाकर अनुभव करना चाहिए। उस देव ने इस प्रकार विचार किया ॥७२॥

[पोगळलरियं भरतक्षेत्रदोळीगळप्पोडे कुदृष्टिगळ नल्लदे सद्दृष्टिगळं काणलरिदु, चंचलचित्तरनल्लदे दृढचित्तरं पडेयलरिदु, कुमार्गानुरागिगळ-नल्लदे सन्मार्गानुयमादपुदिदनारयुदुनोडवेळ्कुमेंदु देवलोकदिं] रौरवपुरक्कव-तरसि ऋषिरूपं कैकोंडु, ॥७३॥

अर्थ—भरत क्षेत्र में मिथ्यादृष्टि बहुत अधिक हैं। सम्यग्दृष्टि देखने में नहीं आते। चंचल-चित्त बहुत मिलेंगे, परन्तु दृढ़चित्त वाले स्त्री पुरुष बहुत कम मिलेंगे। कुमार्गी अधिक मिलेंगे, सन्मार्गी सुनने में भी नहीं आते। इन्द्र ने जो कुछ कहा सो ठीक है, किन्तु फिर भी मुझे अपनी शंका निवारण करनी चाहिये, इस प्रकार विचार करके वह देव एक मुनि का रूप धारण करके रौरवपुर आया ॥७४॥

बडवागिदोंडलेरग्गेट्टु नडु नीर् भोरेंदु पाय्यत्ती नो
ळ्वोडे कीलिं कोळियिं महारसिगेयिं पोंगिर्द पुण्गुंदुगा
लोडेदोरं तिरे सोर्व रक्तमधिकं कंदिर्द मेयूतोन्निनिं
दुडुगिर्दंघ्रि करद्वयांगुलिचयं कुंदिर्द हीनस्वरं ॥७४॥

अर्थ—उसका शरीर अत्यन्त क्षीण था, शरीर से पानी झर रहा था, मुंह से लार टपक

रही थी, नाक और आंख से पानी निकल रहा था, कान में से दुर्गन्धि आ रही थी, सारे शरीर पर फोड़े निकले हुए थे, उनमें से मवाद और खून टपक रहा था, जिसकी दुर्गन्धिसे पासमें पक्षी तक नहीं ठहर पाते, हाथ और पांवकी उंगलियां गल गई थीं और उनसे सडांद निकल रही थी, सारे अंग गलित हो गये थे, आवाज भी बहुत हीन थी ॥७४॥

मत्तमोरतेयंते मेय्यिंदोरिव रसिगेयु, दुर्जनन नुडियंते कोंकि परिद जडेगळु, कुटिलन चित्तदंते बहुप्रकारभाद मेय्य बण्णमु, ओंटिय कोरलंते निळ्द कोरलु, नीतिविदनल्लदरसिन नाडंते असियवाद कोलुगळु, ऊदुव तिदियंते पोंगिर्द पुण्गळु, मुख रोगदवरंते बिडदे सुरिव श्लेष्ममु, अळिगण्णवरंतेकोळे गण्गळु. मागिय देसिगनंते बूदिवेरसिर्दोडलु, एरिय केरेयंते बत्तिर्द गल्लमु, आने मेट्टिद संबळिगेयंते बत्तिद मूगु, पूलियपण्णंते पोरवाय्य कींवु, मुदुकरंते लोळसुरिवबायु, कीवुगिवियवरंते कीवुसुरिव ७५-७७

अर्थ–ऐसा मालूम पड़ता था, मानो कहीं कोई पशु सड़ गया हो, या मुर्दा लाश से सड़ कर भयानक दुर्गन्धि फैल रही हो। ऐसी दुर्गन्धि उसके घावों में से निकल रही थी। उसके बाल उड़ गये थे। उसकी बोली दुर्जनों जैसी थी, गर्दन ऊंट जैसी थी, शरीर धोंकनी के समान और पांव तकुआ के समान थे। मुंह की लार से भयानक बदबू फैल रही थी। आंखें गढ़ों में घुस गई थीं। उसका मवाद भरा शरीर ऐसा दीख रहा था, मानों उस पर राख लपेट दी हो। उसके गाल ऐसे दीख रहे थे, मानों तालाब सूखने पर काली मिट्टी में दरार पड़ गई हो, उसकी नाक ऐसी थी मानो किसीने दबाकर सपाट कर दी हो। वह इस प्रकार चल रहा था, मानो कोई जीर्ण शीर्ण वृद्ध पुरुष कांपते पैरोंसे चल रहा हो। खांसी उठ रही थी। उसकी हथेली ऐसी दिख रहीं थीं मानो वे यज्ञ के चम्मच ही हों। ऐसी बीभत्स मूर्ति, मानो विधाता ने दुर्गन्धित पुरुष की ही रचना की हो। इस प्रकार का हीनरूप उस देवने धारण किया।

उसके चारों ओर मक्खियां भनभना रही थीं। उसके पास कोई ठहर नहीं पाता, उसे कोई देख ही नहीं पाता, इतनी दुर्गन्धि थी जिसे देखकर मन घृणा से भर उठे। वह धीरे धीरे आगे बढ़ता आ रहा था।

इस प्रकार वह वासवदेव अपनी विक्रिया द्वारा कृत्रिम (बनावटी) मुनिका रूप धारण

करके चर्या के लिये आ रहा था। जो श्रावक उसे पड़गाहने आते, वे दुर्गन्धि के मारे भाग जाते। लगता था जैसे उलटी हो रही हो, इस प्रकार वह खंखारता। आस पास के लोग विचारते कि यह दुर्गन्धि कहां से आती है, वे नाक बन्द कर लेते। शिर नोचा कर लेते। वे इधर उधर मुंह करते। मनमें अपार घृणा भर जाती। मुनि ज्यों ही निकट आता, लोग इधर उधर भाग जाते। वे उसका उसी प्रकार तिरस्कार करते, जैसे तरुणी स्त्री वृद्ध पुरुष का तिरस्कार करती है ।।७५-७६-७७।।

ई तोन्नंगीकष्टं
गीतोडविदेके वगेवोडे मेयूगे।
ट्टातंगे कूळनावं
प्रीतियोळिक्के दपनेंदु तम्मोळ् नगुतुं ।।७८।।

अर्थ–एक श्रावक कहता है कि अरे! इस मुनि ने घर बार सभी छोड़ दिया है इसके शरीर से इतनी दुर्गंध निकल रही है, महारोगों से जर्जरित है, मरने जा रहा है फिर भी इसको भोजन की इच्छा नहीं छूटती अर्थात् अभी यथेच्छ भोजन करके जीना चाहता है! इस तरह कई श्रावक उसको देखकर दुर्गन्ध सहन न होने से नाक में कपड़ा दबाकर उस मुनि की हँसी करते हुए मन में जो आता वही कहते ।।७८।।

इंतिर्पिनं नेरेद नेरवियं कळ्दु केरिदंतरमं वग्ले डेयोळोर्व जानिमूढ-निंतेंदं ७९

अर्थ–उन श्रावकोंका स्वभाव देखकर वह मुनि रूपधारी देव अपने मनमें विचारता कि ये सभी श्रावक केवल नामके श्रावक हैं, श्रावकके गुण इनके अंदर नहीं हैं। ऐसा विचारते हुए थोड़ी दूर जाने के बाद उनमें से एक जाति मूढ़ श्रावक खड़े होकर कहता है कि–।७९।

ओडलेल्लं केट्टुदु मेयू
बडवादुदु काल कैय बेरलेल्लं त-।
म्मेडेयिं पोदुवु पेळस
त्तोडे पुट्टरे तनगिदेके बाळकय मोहं ।।८०।।

अर्थ–अरे! इस मुनि का सारा शरीर काला पड़ गया है और इसके सभी अंग बिगड़े हुए हैं, उंगली गल गई हैं, शरीर में से मवाद तथा खून टपक रहा है फिर भी यह बेचारा अन्न खाकर जीना चाहता है अभी इस मुनिको शरीरसे मोह नहीं छूटा है। इतने असाध्य

रोग होने पर भी मरना नहीं चाहता, किसमे आश्चर्य की बात है ? ॥८०॥

एनुत्तुमिर्पुदु दुर्गतिसमन्वितंगेयीमातु तक्कु देंदु नगुत्तुं बरे पच्चपसि-येग्गरेल्लं नेरेदिंतेंदर् ॥८१॥

अर्थ–उस श्रावककी बात सुन कर मुनि मन में विचारता है कि यह श्रावक नियम से दुर्गति जावेगा।

आगे बढ़ने के बाद और कुछ श्रावक कहने लगे कि अरे ! यह मुनि इतना कष्ट होने पर तथा शरीर में इतने असाध्य रोग होने पर भी यह मरने की चिन्ता न करके खानेकी चिन्ता में डोल रहा है इसको सुगति कभी नहीं होगी। इस तरह जिसके मुख में जो बात आती वह कह करके मुनि की हँसी तथा खिल्ली उड़ाता ॥८१॥

कुछ और आगे चलने पर कुछ मनुष्य मुनि को देखकर कहने लगे कि–

ई दुःखं तनगेके पेळ मनसं सैतिट्टु बाळबासेयिं
बंदंचिट्टु विमोहमं बिसुटु कण्णं मुच्चि वीरकॆळि
न्वादं वण्णिसे किच्चनिक्कि जलमं मेण्णक्के पाय्दगिम स-
त्तीव्रदुःखाग्नियनोवो नीगदिरलिंदी बाळक मेणपट्टमे ॥८२॥

अर्थ–यह मुनि इतने असह्य दुःख सहन करके भी जीने की इच्छा मन में रखता है कितने दुःखकी बात है। यदि यह मुनि अपना कल्याण चाहता है तो इसको अपने इस दुख-दायी शरीर से मोह त्याग कर समाधिमरण कर लेना चाहिये जिससे इस दुख से छुटकारा मिल जावे ॥८२॥

एंब मातं केळदु संसारसमुद्रदोळोलाडुववर्गी वचनमे पूज्यमेंदु पोगुत्तिरे विचारपररप्पवरिंतें दर् ॥८३॥

अर्थ–इस तरह श्रावकके वचन सुनकर मुनिने विचार किया कि इन लोगोंकी बातें इन को संसार समुद्रमें डुबाने वाली हैं। इनके मनमें जैसा आया वैसा इन्होंने कह डाला। इनमें विवेक नहीं है। इस तरह श्रावकोंकी परीक्षा करते हुए वह मुनि रूपधारी देव आगे पहुँचा। तब कुछ विवेकशील सज्जन श्रावक कहने लगे कि–॥८३॥

पसिवं नीरळकेयु दुर्व्यसनमुमधिकं पेर्चिगुं तोन्न रप्प
गें समंतीजैनमार्गं करमरिदर्दनिं तोवो तळ्दिदुं मत्तं

पसिवं नीरळकयं दुर्व्यसनमुमनणं धैर्यदिं नाडेयुं से
रिसि शुद्धाचारदिं दं नडेव गुणदोळी योगिनाथं कृतार्थं ॥८४॥

अर्थ–यह मुनि भूख प्यास आदि परिषहों से उत्पन्न हुए अनेक भयानक रोगों हो जानेपर भी धैर्य से अपनी मुनिचर्या का पालन कर रहे हैं, ये धन्य हैं, ये महान योगी हैं।

एंदु नुडिद मातं केळ्दु कर्मोपशममुळ्ळवर्गु चितमिदु मेणल्लमेंदु मेल्लमेल्लने नडेये जातिकरुगिगळिं तेंदर् ॥८५॥

अर्थ–इस प्रकार दूसरे श्रावकों के वचन सुन कर वह मुनिराज मन में विचारने लगा कि ये कर्मोपशमी जीव हैं। आगे बढ़ने पर इस महारोगी साधु को देख कर एक दयालु श्रावक कहने लगा कि—॥८५॥

कुरुवंदेळलुमोदला
गिरे सैरिसबारदी महापुरुषं नि- ।
ष्ठुरमप्पी पेर्गुत्तद
निरोधमं ताळ्दि मरुगदें तिर्दपनो ॥८६॥

अर्थ–अहो! महापुरुष के ऊपर महान आपत्ति आ जाय तो भी वह अपना कर्तव्य नहीं छोड़ता, ऐसे पुरुष धन्य हैं। कितने कठिन रोग इनके शरीर में हैं तो भी साहस से रोग को सहन करते हुए पूर्वोपार्जित कर्म की निर्जरा कर रहे हैं। इस तरह कहते हुए वह मुनि महाराज के हाथ जोड़ने लगा ॥८६॥

एंदु कैमुगिदवरं कंडु देवगतिगे सल्वंतप्पी लघु कर्मिगळ्गी वचनमे बर्कुमेंदु पोगे श्रावकरोडनाडु वरिं तेंदर् ॥८७॥

अर्थ–इस प्रकार जिस श्रावक ने मुनिके साहस की प्रशंसा करते हुए हाथ जोडे, उसको देखकर मुनिराज ने अपने मन में कहा कि इस जीव ने अपने शुभ भावों से देवगति का बंध कर लिया होगा क्योंकि इसके मन में धार्मिक भावना है। यह साधु का असाध्य रोग देखकर मन में दुःखी हुआ है। आगे चलने पर कुछ और श्रावक मिले वे कहने लगे–॥८७॥

ई रुचियेंदुवेदनेगे बेच्चदे कांचिसि तन्न मेच्चिदा
हारमुमक्केबंदोडरेपल्दे वेदोवदे कंडकंडरं

सैरणेगेट्टु बेडदे जिनागमदोचेयोळोचोरप्पदी
वीरन वीरवृत्तियोळवं नेरे बणिणसलार्पनावनो ॥८८॥

अर्थ—इस महान वेदना को उत्पन्न करने वाले तथा दूसरे साधारण लोगों के मन में बुरी ग्लानि उत्पन्न करने वाले महान रोगों से इन मुनिराज को बहुत वेदना हो रही है। ऐसी वेदना होने पर भी ये अपनी वीर-चर्याको न छोड़ते हुए और विना मांगे अपने विनीत श्रावक के हाथ से जैसा भी रूखा सूखा भोजन मिले उसे ही लेंगे, इनको अपने शरीर से मोह नहीं है। आगमानुकूल अपनी चर्या में ये सावधान हैं। ऐसे मुनि धन्य हैं ॥८८॥

एंदु बणिणसुववरं कंडु नेरिदर नीति सुरलोकमें बुदु तप्पदेनुत्तु पोगे मुंदेडेयोळोर्व दुर्जनरोड नाडुव चपळर्नितेंदं ॥८९॥

अर्थ—इस तरह स्तुति करने वालों को देखकर मुनि ने मन में कहा कि यह नियम से देवगति में जायेंगे। ऐसा विचार करते-करते आगे बढ़ गए। तब कोई दुर्जन दूसरे दुर्जनके साथ बात करते हुए मुनि को देख कर कहने लगे कि—॥८९॥

लोकदोळां काणदरि
ल्लीकुत्तं पोर्दि नमेव मानिसरं के।
ळीकष्टनंददिं मे
य्याकारंगेट्टु नमेवरं कंडरियें ॥९०॥

अर्थ—अभी तक मैंने ऐसे कोढ़ी महारोगी मनुष्य को इस जगत में इस तरह असाध्य रोगकी अवस्थामें भी मुनि होकर अन्नके लिये घूमता नहीं देखा और न ऐसे व्यक्तिको आहार दान देने का विधान देखा है। परन्तु यह बेचारा मुनि असाध्य रोग में भी जीने की इच्छा करता है, कितने आश्चर्य की बात है। इसका शीघ्र मर जाना ही अच्छा है, ऐसा कष्टमय जीवन ठीक नहीं है ॥९०॥

एंबुदुं दुर्जनसंगतियप्पीतंगी नुडिये सेव्य मेंदु नुडिये, ऋषियर मार्गमनरिदवरिंतेदर् ॥९१॥

अर्थ—इस तरह भिन्न-भिन्न श्रावकों की भिन्न-भिन्न तरह की बातें सुनते हुए मुनि आगे चला तब उसी गली में एक श्राविका कहने लगी कि ॥९१॥

करुणिसि लोगरीरुजेगे मदुगळं मनमोतु मार्पोडं
करमरिदग्ण नामरिवेवीमुनिपुंगवरोंदुमार्गमं ।
करमतिभक्तियिं निळदेयुग्वुदु नूर्मेयु मंनेसावोडं
पग्हिमल्केवेळ्कुमळिपिल्लदे नोड समस्तवस्तुवं ॥९२॥

यर्थ–मैंने दिगम्बर मुनि को आहार बहुत वार दिया है और साधुओं की चर्या को भी सुना है, परन्तु ऐसा कोई विधान मुझे सुनने में नहीं आया कि ऐसे रोगी मुनि को पड़गाह करके आहार देवें या न देवें, फिर इनको मैं आहार किस तरह दूं ? ॥९२॥

एंदु पेळ्वुदुमवरं क्रुतकर्षि नोडि नीर तडि केसरक्कुमेंबुदु तप्पदेंदु पोगळुत्तिर बुद्धिवंतर्कडिं तंदर् ॥९३॥

अर्थ–इस तरह आपसमें बात करने वाले श्रावकोंको देखकर उस बनावटी रोगी मुनिने कहा कि जहां पानी होता है वहां कीचड़ अवश्य होती है। इसी तरह जहां दुर्जन होते हैं वहां पर सज्जन भी होते हैं। जहां सुश्रावक होते हैं वहां कुश्रावक भी होते हैं। इस तरह श्रावकों की परीक्षा करते हुए वह आगे चला। किसी भी श्रावक ने पड़गाह कर भोजन करानेका भाव प्रकट नहीं किया। आगे कुछ बुद्धिमान श्रावक अपने द्वार पर खड़े थे, वे इस रोगी मुनि को देखकर कहने लगे कि–॥९३॥

मातें कडुदुःखितन
प्पीतं मोदलाद जैनमार्गमनंतुं ।
भूतळदोळ्बिडनेनलुप
मातीतं जैनरिंदमग्गळरोळरे ॥९४॥

अर्थ–धन्य हैं यह महामुनि, इतने महान दुःख होने पर भी इन्होंने जैनमार्ग अनुसार अपनी कठिन मुनिचर्याको नहीं छोड़ा है, ऐसी वीर चर्या करने वाले यह महामुनि धन्य हैं, जैन मुनि के सिवाय अन्य कोई इस प्रकार की असाध्य परीषह को क्या सहन कर सकता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥९४॥

मत्तोंदेडेयोळ् जडमतिगळिंतंदर् ॥९५॥

अर्थ–आगे कोई जड़मती लोग कहने लगे कि–॥९५॥

आदरदिंदी मुनिपं
पोदोडमोपुरदोळित्र तनुविन दुर्गं ।
मोदयमरुदिंगळूगं
पोदपुडे पोगेलरियदेनुत्तु नक्कर् ॥९६॥

अर्थ—इस मुनि के शरीरसे इतनी दुर्गन्ध निकल रही है, इसके सामने कौन खड़ा हो ? हमें मालूम हो रहा है कि सारे नगरमें इस मुनि के शरीर से दुर्गन्ध फैल गई है । लोग इस दुर्गन्ध से हाय हाय कर रहे हैं, यह मुनि जब नगर से बाहर जायेंगे, तब यह दुर्गन्ध दूर होगी, इस मुनिको जल्दी नगरसे बाहर करो । इस तरह से मुनि की निन्दा करते हुए कुछ लोग हँस रहे थे और उनकी खिल्ली उड़ाते हुए भागते जा रहे थे ॥९६॥

मत्तोंदेडेपोळ शून्यळहृदयरिंतेंदर् ॥९७॥

अर्थ—कोई शून्य-हृदय वाले श्रावक इस मुनि को देखकर कहने लगे कि—॥९७॥

व्याधियोळेल्लं कुष्ठ
व्याधियें कंडुकष्टमिदर वेदनेयेंवं ।
बोधियोळगिर्द्देनं
साधिसलिर्दपनो बिडते जीवमनीतं ॥९८॥

अर्थ—सब व्याधियों में कुष्ठ व्याधि महाकष्टदायिनी व्याधि होती है । यह रोग असाध्य होता है । तो इस असाध्य वेदनाको सहन करके यह कुष्ठरोगी बोधि (रत्नत्रय) को कैसे प्राप्त कर सकता है ? क्योंकि इसका मन हमेशा आर्तध्यान में ही लगा रहेगा, इसका कल्याण होना अत्यन्त दुर्लभ है, इस असाध्य रोगमें यह क्या अपनी आत्म-साधना करेगा ?

मत्तोंतेडेयोळ् बद्धमिथ्यादृष्टिगळप्पवरिंतेंदर् ॥९९॥

अर्थ—दूसरे कोई बद्धमिथ्यादृष्टि श्रावक इस मुनि को देखकर कहते हैं कि ॥९९॥

श्रावकरप्पवर्नेरदु निश्चयदिं मुनिगळूगं कूर्तु ना
नाविधभक्ष्यदिं पलवुबाडुगळिं तिळिं दुप्पदिं समं ।
तावगमोवरोळ्ळुणि सनेंबभिलाषयोळीरुजान्वितं
भाविसिकोंडनीतपमनेंदु जडर नुडियुत्तुमिर्पिनं ॥१००॥

अर्थ—श्रावक अपने गुरु मुनियों को भक्ति भाव से अच्छा सुन्दर भोजन कराते हैं, इस बात को देखकर यह कोढ़ी भी मुनि बन कर श्रावकों के इस मोहल्ले में भोजन करने चला आया है। भयानक रोग होने पर भी यह अभी तक जीना चाहता है। यह रोगी मुनि जीने के बजाय मरना क्यों नहीं चाहता। इसका जीनेकी अपेक्षा मर जाना अच्छा है। ऐसे वचन सुन कर वह कृत्रिम मुनि आगे चला ॥१००॥

अनंतकालमुं दुःखभाजनरप्पवर्गमूमातु मार्ग मेंदु पोगुत्तु मिर्पुदुमोर्वनळि-श्रावकं कंडु ॥१०१॥

अर्थ—उन बद्ध मिथ्यादृष्टियों के वचन सुनकर मुनि मनमें कहता है कि अनंत काल तक संसार में भ्रमण करने वाले जीवों की बुद्धि ऐसी ही होती है, उनके मन में देव गुरु शास्त्र के प्रति सद्भावना नहीं होती, ऐसे जिनेन्द्रदेव ने कहा है ॥१०१॥

बायोळ् तंबुलमिर्दपु
दीयेडेयोळ् केर्पुगालोळिर्दपेनेन्दा।
मायावि निलिसलारदु
पायदिनोलसादुं पोक्कनोंदंगडियं ॥१०२॥

अर्थ—तदनन्तर दूर से इस मुनिको आते हुए देखकर एक मायावी श्रावक जो पान खा रहा था, मुनिको समीप आते देखकर पिछले दरवाजेको ओर चला गया, जब वे मुनि आगे निकल गए, तब वह लोगोंसे पूछने लगा अरे, वह मुनि महाराज कहां हैं, मैं उन्हें पड़गाहूँगा, तब लोगों ने कहा, कि वे चले गए? अब तू कैसे पड़गाहेगा ॥१०२॥

मत्तोर्वं संशयश्रावकं कंडु ॥१०३॥

अर्थ—एक संशयग्रस्त श्रावक उस मुनि को देखकर कहता है कि—॥१०३॥

करमेन्न सतिय मुंदा
परमश्रावकनेनेन्दु बीरुवेनिवरं।
भरर्दि निलिसदोडेन्नं
वरवधु नगुगेंदु काणनेंबंतिर्दं ॥१०४॥

अर्थ—देखो यह दुर्गन्धी मुनि हैं, इनको कैसे पड़गाहा जाय? इसलिये ऐसा उपाय करो कि हम दोनों उन मुनिको पड़गाहने जायेंगे, तब तुम कहना कि मैं पड़गाहूँगी, मैं कहूंगा कि तुम

नहीं, मैं पड़गाहूँगा, ऐसे झगड़ेमें मुनि चले जावेंगे। यदि ऐसा न किया तो लोग कहेंगे कि देखो ये हमेशा मुनि को आहार दान करते थे, अब मुनि आये थे तो इनने पड़गाहा नहीं ॥१०४॥

मत्तोर्व मिश्रश्रावकं कंडु ॥१०५॥

अर्थ–एक मिश्र श्रावक उस दुर्गन्धित मुनिको देखकर अपनी स्त्रीसे कहता है कि ।१०५।

ललनेगे नीनी मुनियं
निलिसेने नानरियॆ नोवू नीने मुनियं।
निलिसेंदिर्वरुमागळ्
कलहंगेय्युत्तुमिर्पुदु मुनि पोदं ॥१०६॥

अर्थ–मुनिको पड़गाहना मैं नहीं जानता, इसलिये तुम ही पड़गाहो। वह स्त्री कहती है कि तुम पड़गा करके लाओ। इस तरह जब आपसमें वह दोनों झगड़ने लगे, तब इतनेमें वह मुनि इनके दरवाजे से आगे निकल गए। यह देखकर दोनों आपस में कहने लगे कि चलो हमारे ऊपर से आपत्ति टल गई ।१०६।

[मत्तोंदेडेयोळोर्व पोसश्रावकं कंडु ॥१०७॥

अर्थ–आगे कोई एक नया श्रावक इस रोगी मुनि को देखकर कहने लगा कि ॥१०७॥

आमनेयवरामनेयत्त
रीमनेयवरट्टि नार्प दुर्गंधक्कें।
ती मुनियं निलिसिदरि
ल्लेमात्तो नानुमारेनेंदोळगुळिद ॥१०८॥

अर्थ–उस गली वाले श्रावकोंमेंसे इस मुनिको भोजनके लिये किसीने नहीं पड़गाहा और न उस गलीमें जाने दिया। मैं कुछ नहीं जानता, मैं इनको नहीं पड़गाहूँगा। तू बड़ी दान करने वाली है! इस तरह पति पत्नी परस्पर झगड़ने लगे, कि वह बनावटी मुनि आगे चला गया ॥१०८॥

मत्तोर्व केळपेयिल्लद श्रावकं कंडु ॥१०९॥

अर्थ–एक श्रावक उस मुनिका आना सुनते ही दूसरे दरवाजे पर जाकर खड़ा हो गया।

मुनिपन बरवं दूरदो
ळनुनयदिं कंडु निलिसलारदे तां त ।
न्निनियळनिवरं निलिसेने
वनजानने पित्तलत्तलोडिदळागळ् ॥११०॥

अर्थ—दूसरे स्थान को जब मुनि चले जा रहे थे और लोग हल्ला गुल्ला कर रहे थे कि रोगी मुनि आहार के लिये आ रहे हैं, इनके शरीर से दुर्गन्ध आती है। इस तरह के शब्द सुनकर एक मुनिभक्त अन-सुना करके पिछले दरवाजे पर जाकर खड़ा हो गया और मुनिके निकल जाने पर लोगों से पूछने लगा कि यह क्या कोलाहल है ॥११०॥

मत्तोर्व यशोर्थिश्रावकं कंडु ॥१११॥

अर्थ—एक यश का इच्छुक श्रावक मुनि को देखकर मन में कहता है कि ॥१११॥

नेरवनेयातनेन्नो डनुदारगुणक्के जसक्के नाडे म-
च्चरिसुतुमिर्पनी मुनियनां करमादरदिंदे तांगलो ।
सरिसदोडट्टिदूरु गुमवं मनेगीगळे बारनन्नेगं
त्वरितदे पोपेनेंदुणिसुम बिसुटोडिदनात्मगेहदिं ॥११२॥

अर्थ—मेरे सभी पड़ोसी लोग कहते हैं, कि 'मेरे समान मुनियों का भक्त कोई भी नहीं है।' और मेरे उदार गुणकी प्रशंसा भी करते हैं। इस समय जो महारोगी दुर्गन्ध-युक्त मुनि आहारके लिये आ रहे हैं, यदि मैं इन्हें नहीं पड़गाहूँ तो लोग मेरी निन्दा करेंगे, इससे दुनियां में मेरी हँसी होगी, इसलिये मुझे इस समय घर में न रह कर मेरे घर के दरवाजे से मुनि के चले जाने तक कहीं चला जाना चाहिए, ऐसा विचार करके वह प्रशंसार्थी श्रावक घरसे बाहर निकल गया ॥११२॥

मत्तोर्वनरितक्के बीगुत्र वृथा ॥११३॥

अर्थ—एक वृथा श्रावक सोचने लगा कि— ॥११३॥

अरिववरेन्न नोंदे कोरळिं पोगळवर् धरेगेल्ल मानुमि
न्नरिकेय जैननं निलिसलोल्लदे माणदुहेदिर्देनप्पोडं ।

निरिसद् कष्टनेंदु लिवरिल्लिगुपाय मिर्देंदु बुद्धियिं
पोरमडदिर्द् नात्मगृहदिं कळदामुनि पिंगि पोपिनं ॥११४॥

अर्थ—समस्त स्त्री पुरुष हमारी दानशीलता को अच्छी तरह जानते हैं, तथा हमारे दान की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा भी करते हैं। हमारे दान की धवल कीर्ति समस्त जगत में फैली हुई है। यदि इस समय हम इस कोढ़ी महादुर्गन्धी मुनि को आहार नहीं देते हैं तो लोग निन्दा करेंगे, अतः इसके लिए उपाय सोचना चाहिए, ऐसा विचार करके उन्होंने यह तय किया कि यह दुर्गन्धित मुनि मेरे घरसे जब तक उस पार न चला जाय तब तक मुझे घरसे बाहर न निकलना चाहिए। ऐसा सोच कर वह श्रावक मुनिके अपने घरके आगेसे चले जाने तक भीतर ही बैठा रहा। जब मुनि अपने घरसे आगे चले गए तब वह बाहर आकर पूछने लगा कि अरे! वे मुनिराज आये थे सो क्या चले गए? मैं पड़गाहने के लिए आया हूँ, मैं जल्दी-जल्दी नहा रहा था मुझे थोड़ी देर लगी, पात्र मेरे घर के सामने आकर चला गया, कितने दुःख की बात है ॥११४॥

[मत्तोर्वळ् श्रावकियिं तेंदळ् ॥११५॥

अर्थ—एक अन्य श्राविका मुनि को देखकर कहती है कि ॥११५॥

श्रावकन सतिये नानु
श्रावक नप्पवने मगलयुग्रोग्रनेयिं।
देवरे निपिवर कंडे
भावसुवंदि निसुपेसुतपमं काणें ॥११६॥

अर्थ—मैं सच्चे श्रावक की स्त्री हूँ और उत्तम वंश वाले श्रावक की कन्या हूँ, मैंने अब तक बहुतसे अच्छे-अच्छे चारित्रवान तथा उग्र तप करने वाले साधुओं को आहार दिया है, और मैंने बहुतसे ज्ञानी मुनियों के दर्शन किये हैं। शास्त्रका भी स्वाध्याय किया है। शास्त्र उपदेश भी सुना है, परन्तु ऐसा महारोगी अत्यन्त दुर्गन्ध शरीर वाले साधु को मैंने अभी तक नहीं देखा, ऐसे साधु को आहार देवें या न देवें, इस प्रकार शास्त्रमें कहीं उल्लेख भी नहीं आया है और न देखा, न सुना, इसलिये इनको मैं पड़गाह कर आहार कैसे दूं, इस तरह की बातें सुनते हुए वह मुनि आगे चला गया ॥११६॥

मत्तमेनुमिल्लद् निरि श्रावकि कंडु [इंतेंदळ् ॥११७॥

अर्थ—जैनधर्म को न जानने वाली हृदय-शून्य एक श्राविका बोली कि ॥११७॥

ओदिनोळं रूपिनोळं
बादें नम्मुरूळिद मुनिगळ पोली ।
मेदिनियोळुळरे मुनिवर
रीदीनन तेरदिनट्टिकोळे नात परे ॥११८॥

अर्थ–पढ़ने पढ़ाने में, रूप में, उपदेश देने में चतुर मुनि हमारे नगर में बहुत आते हैं, मैंने उनका दर्शन भी किया है परन्तु घृणित महादुर्गन्धी साधु मैंने आज तक नहीं देखा, इस लिए मैं इनके पास कैसे जाऊँ और वंदना कैसे करूं ॥११८॥

मत्तोर्व [प्रवीणनप्प] बडश्रावक निंतेंद ॥११६॥

अर्थ–एक प्रवीण गरीब श्रावक कहता है कि ॥११९॥

बडलेंतु किडलिदु दु
किडुवोडलं तविसि किडद मुक्तिश्रीयं ।
पडेयल्कीजिनरूपं
दृढमनिदं पिडिवोड रिवरिवरे कृतार्थर् ॥१२०॥

अर्थ—क्षणिक तथा नाशवान शरीर को तपा कर मुक्ति के साधनके लिए मन में दृढ़ धारणा रखकर ये निर्ग्रन्थ महारोगी मुनि धन्य हैं।

भावार्थ–यह शरीर हमेशा रोग से घिरा हुआ रहता है, इस शरीर को कितनी भी सेवा करो किन्तु यह शरीर अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता। इसलिये महा बुद्धिमान साधु लोग इस दुर्गन्धमय शरीर का आत्म-कल्याण के साधन में उपयोग करते हैं ॥१२०॥

मत्तोर्व वर्दिन श्रावकं कंडु [इंतेंदं] ॥१२१॥

अर्थ–एक श्रावक मुनि को देखकर कहता है कि—॥१२१॥

ई रूपिंदल्लिदे सं-
सारदोळोदर्विद दुःखमं गेललरिदें ।
दारय्द जैनरूपं
धीरतेयिं धरिसिद धराधरधैर्य ॥१२२॥

अर्थ–संसार में जीव अनेक दुःखों से सदा घिरा रहता है। उस सांसारिक दुखों से

छुटाने वाला मुनि का यह निर्ग्रन्थ जिनरूप है। इस निर्ग्रन्थ मुद्रा को पर्वत-समान धैर्य के साथ धारण करने वाले साधु धन्य हैं ॥१२२॥

मत्तोंदेडेयोळ् नेरेदिर्द् नीतिविदर्कळिंतेंदर् ॥१२३॥× +

अर्थ—एक जगह अनेक श्रावक एकत्र थे उनमें विवेकी श्रावक कहने लगे कि ॥१२३॥

अरसरोळप्प बाधेगळिनिष्टरगल्केयिनोल्लेनेंब पें-
डिर देसेयिं दरिद्रतेयिनोत्तुवकुत्तादिनें तुमक्कु म।
च्चरिये महोग्रदुःखतति कर्मफलोदयदिं दमी महा-
पुरुषने धन्य नीरुचियोळी तपमं नेरे ताळिद दोरेयिं ॥१२४॥

अर्थ—राजा के द्वारा होने वाली बाधा, अनिष्ट लोगों के द्वारा होने वाली बाधा तथा इस संसारमें स्त्रियों द्वारा होने वाले दुःख, संतानके द्वारा होने वाले दुःख, दरिद्रताका दुःख और इस जीवको कर्म उदयसे होने वाली अनेक आपत्तियां आती हैं, जो कि इस जीवको सदा भोगनी पड़ती हैं। उन समस्त सांसारिक कष्टों से मुक्ति पानेके लिये बुद्धिमान पुरुष जैनेन्द्री दीक्षा ग्रहण करते हैं और धैर्य के साथ असह्य रोगों की वेदना सहन करते हुए भी निर्दोष संयम पालते हैं, ऐसे उग्र तप करने वाले तपस्वी धन्य हैं ॥१२४॥

एंदु नानाप्रकारदिं नुडिव बहुजनद मातुगळुमं पलवुं तेरद परिणामं गळुमं कंडु केल्दु [कृतकर्ष तनोळिंतेंदं] ॥१२५॥

अर्थ—इस तरह विविध स्त्री पुरुषों द्वारा कहे गये विविध प्रकार के वचनों को सुनते हुए वह बनावटी मुनि आगे चलता गया और विचारने लगा कि—॥१२५॥

मरनेंबीपेसरेल्ला
तरुगळगं तां समानमनितरोळल्ला।
तरुगळ पणुं पेसरं
तिरे नोड समानमागलरिगुमे सवियोळ् ॥१२६॥

अर्थ—जैसे समस्त वृक्ष सामान्य रूपसे एकसे हैं, सभी लकड़ी, पत्ते वाले होते हैं, परन्तु फल फूल आदि विशेष लक्षणोंसे उन सबमें भेद होता है। इसी तरह मनुष्यताकी अपेक्षा सभी

× रुषियरवोली (ओ० क०) + मत्तं विवेकिगल् कंडु (ग)

मनुष्य एक से हैं किन्तु भिन्न-भिन्न गुण धर्म स्वभाव की दृष्टि से उनमें भेद होता है। अपने-अपने परिणामों के अनुसार उनको फल मिलता है ॥१२६॥

बारेय पणदोंदु रुचि नेरिल पण्णोळगुटे भाविपं-
दीळेय पण्णदोंदु रुचि माविन पणोळगुंटे संद कि- ।
त्तीळय पण्णदोंदु रुचि बेविन पणोळगुंटे तानणं
ताळफलंगळोंदु रुचि तुंबुरपणोळगुंडे लोकदोळ् ॥१२७॥

अर्थ—केले में जो स्वाद और गुण है वह जामुन में नहीं होता। जो रस और गुण मौसंबी में है वह नीबू और विजौरे में नहीं पाया जाता। आमकी-सी रुचि नारंगी में नहीं होती, सन्तरेकी रुचि नीममें नहीं होती। ताड़फलकी रुचि तुम्बुर फलमें नहीं होती ॥१२७॥

अंतु मानिसर्गे मानिसरेंब पेसर् समानमदोडं मातुगळुं परिणाममुं बेरेबेरेयक्कु मदरिं ॥१२८॥

अर्थ—इसी तरह मनुष्यता सभी मनुष्यों में समान होने पर भी भिन्न-भिन्न मनुष्यों में गुण, स्वभाव धर्म भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं ॥१२८॥

पादरियदोंदु कुसुमा
मोदं पोद्र्द्ल्के नीर् सुगंधमदक्कुं ।
बादें बेविन कुसुमा
मोदं पोद्र्द्ल्के कय्पेयक्कुं तोयं ॥१२९॥

अर्थ—चम्पा चमेली के फूलों को पानी में डालने से पानी सुगंधित होता है और नीम के फूलों को पानी में डालने से पानी कड़वा होता है। इसी तरह मनुष्य जाति में भी गुण स्वभाव की भिन्नता होने पर उनके परिणामोंके फल भी भिन्न-भिन्न होते हैं ॥१२९॥

[अंतु लोकद जीवंगळगं] शुभकर्मद पोद्र्दुगेयिं सुबुद्धियुमशुभकर्मद पोद्र्दुगेयिं दुर्बुद्धि युमक्कुमेंदु तन्नोळ् भाविसुत्तु ॥१३०॥

अर्थ—जगत के जीवों के शुभकर्म के उदय होनेके कारण सुबुद्धि उत्पन्न होती है। और अशुभ कर्म के उदय होने के कारण दुर्बुद्धि उत्पन्न होती है ॥१३०॥

वह कृत्रिम मुनि वासवदेव श्रावकों की परीक्षा करता हुआ आगे बढ़ता-बढ़ता राजा उद्दायन के राजद्वार के सामने पहुँचा।

परमजिनेश्वरचरणां-
बुरुहद्वयमत्तमधुपनोद्दायनम् ।
वरवल्लभनरमनेगा
गिरे कृतक मुनींद्र नोय्यनोय्यने नडेदं ॥१३१॥

अर्थ—भगवान जिनेश्वर के चरण कमलों में सदा भ्रमर के समान रत रहने वाले राजा उद्दायन तथा उसकी बल्लभा पट्टरानी राजसभा में सिंहासन पर बैठे इस प्रकार लगते थे, मानो सौधर्म स्वर्गमें इन्द्र और इन्द्राणी ही साक्षात् विराजमान हों। वह कृत्रिम मुनि धीरे-धीरे राजद्वार के सामने पहले से भी अधिक दुर्गन्धि फैलाते हुए आ रहा था ॥१३१॥

अन्नेगं ॥१३२॥

तत्पश्चात् क्या हुआ ॥१३२॥

वररत्नददीविगेगळ्
करमल्लदे तोळगि बेळगि मिंचं सुत्तं ।
परपिद्वोलेसेये नाना
विरचनेयिं दोप्पि तोर्प सिंहासनदोळ् ॥१३३॥

अर्थ—उस समय राजदम्पति के आभूषण प्रकाश से चमक रहे थे, मानो आकाशमें तारे चमक रहे हों। इसी प्रकार उनका रत्नमय सिंहासन भी प्रभासित हो रहा था। उस सिंहासन में···॥१३३॥

इदु पूर्वाचलमल्लदिन्निदु सुरेंद्राद्रि भाविप्पोडि
न्निदु नोडोप्पुवमूढ तल्लदिदु तां मोडलपनोरागदिं ।
दिदनेरिर्द्वनल्लनंबु जसखं प्रत्यच्च शेतांशु के
ळिदनेरिर्द वनर्क नंदेनिसि तां सौंदर्यदिं भूभुजं ॥१३४॥

अर्थ—जनताकी दृष्टिमें उद्दायन राजा और प्रभावती रानी ऐसे लगते थे मानो वह पूर्वाचिल हों या सुरेन्द्रगिरि हों या पूर्व दिशा में सूर्यका अरुणोदय हो रहा हो या यह बाल-सूर्य

हो । अथवा पूर्णमासी का चन्द्रमा पूर्व दिशा में उदित हो रहा हो ॥१३४॥

अत्रष्टं भदोळ्] कुळ्ळिरे. ॥१३५॥

वे दोनों अत्यन्त गरिमा के साथ बैठे हुए थे ॥१३५॥

तोळगुव शशिमंडलमं
बळसिद ताराळियंते सुत्तिदु दु भू ।
तळपतियं नृपसुतरु
विळासदि मकुटमद्धरु पंडितरु ॥१३६॥

अर्थ–उस समय उनके चारों ओर मुकुटब र राजा, राजकुमार, विद्वत्जन और कवि बैठे हुए थे । ऐसा लगता था मानो तारागण चन्द्रमा को घेरे हुए हो ॥१३६॥

मुत्तिनपारमोप्पे कुचमंडलदोळ् पोमजादि चेल्वनी
युत्तिरेदेसियि निमिर्द+सोर्मुडियोळ् नोसलल्लि शोभनं
बेत्तिरे चारुचंदनद बोट्टु दुकूलममर्केवेत्तु चे
ल्विक्तिरे पेंडवासदोळवेंडिरलं कृतियिंदमिर्पिनं ॥१३७॥

अर्थ–रानी प्रभावती तथा अन्य रानियोंका सौन्दर्य और आभरण मनुष्यों के हृदयों को वरबस अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे । रानीका मोतियोंका हार उसके कुच मण्डलके मध्य अत्यन्त सुशोभित हो रहा था और विद्युतके समान देदीप्यमान हो रहा था । उसकी नाक की लोंग मुख के इधर उधर घुमाने से विद्युत की चमक का प्रतिरूप हो रही थी । रेशमी जरी दुकूलों से उसकी शोभा द्विगुणित हो रही थी, अलंकार आभरण पहने हुए रानियां राजा उद्दायन के निकट बैठी हुई अत्यन्त सुशोभित हो रही थीं ॥१३७॥

नारंगस्तनेयर् मनोहरेयरंभोजाक्षियर् विंकदिं
दोरंतोप्पि विळासमं मरेयुतुं लावण्यमं बीरुतुं
हाराद्याभरणंगळिं विविध वस्त्रानीकदिंदं चम-
त्कारं कैमिगे पोन्न चामरमनुर्विवल्लभं गिक्किदर् ॥१३८॥

+ वरनम्रपादसरसिज । नरमनेगे मनोनुरागदिं बरे मुनिपं (ओ० क०)
शोभेयंनलदु (ग) दुकूलदमर्कैवत्तुमेय्योत्तरे (ग)

अर्थ—नारंगी के समान उरोजों वालीं और मनोहर नेत्रों वालीं स्त्रियां अपने विलास विभ्रम को भुलाकर लावण्यको चारों ओर बिखेरते हुए हार आदि आभरणों और वस्त्रों से सुशोभित होकर राजा रानी पर स्वर्ण चमर ढोर रही थीं ॥१३८॥

पडेवळनागे हारममर्दोप्पुव पेर्मोल तंत्रमागे पों
दोडविनोळाद् निस्वनमे दुंदुभियागे विळासलोचनं
कडुपिन बाणमागे धनुवागे नेगळतेय पुर्वुमेलुदुं
गडगुडियागे कांतेयरनंगन पेर्वलदंतिरोप्पिदर् ॥१३९॥

अर्थ—वे स्त्रियां दोनों ओर चमर ढोरती हुई ऐसी लगती थीं, मानों वे सुन्दर कठपुतलियां हों। गाने वाली स्त्रियां जब हाव भाव पूर्वक गायन करतीं हाथ उठाती थीं तो ऐसा लगता था मानों इन्द्र धनुष हो। इस प्रकार वे नाना प्रकारके गायन आदि करती हुई अपने समय को सुखपूर्वक व्यतीत कर रही थीं ॥१३९॥

कोसगिन पुविनोंदु रुचियं तनु तुविय बंबलं कुरु
ळपो सद्ळिरंदमं करतळं दनि कोगियेयं मुगुळगळं
मिसुगुवदंतपंक्ति लतेयं नळितोळनरे पोल्तु नाडेरं
जिसुव विलासि नीनिकरदिं पोससुग्गि वोलिदुं दोलयं ॥१४०॥

अर्थ—जैसे सुगन्धित चमेलीके पुष्प पर भ्रमर भन भनाता है, उसी प्रकार राजा उद्दायन नव यौवन और सौन्दर्यसे युक्त सुगन्धित पुष्प के समान लग रहा था और पुष्पके चारों ओर गुञ्जायमान भ्रमरोंके समान स्त्रियां उसके चारों ओर हावभाव दिखाती हुई अपने करतलसे कमलका भ्रम पैदा कर रहीं थीं। चमेलीकी कलियोंके समान चमकती उनकी दन्तपंक्ति और उनकी भुजा बेल के समान प्रतीत हो रही थीं। और वे स्त्रियां राज सभा के हृदय को आकर्षित करती हुई गाती हुई ऐसी प्रतीत हो रही थी, मानो खड़ी हुई फसल में चिड़ियां चहचहा रही हों ॥१४०॥

चारुविशाललोचनयुगं क मोले चक्रमं कचं
सारमेनिप्प चेंबरिगेयं नळितो सियं समंतु पो-
ल्लारमणी निकायदिननंगन नच्चिन दिव्यशस्त्रभं-
डारद् गेहमं नेरेये पोल्तुदु भूवनितेशनोलगं ॥१४१॥

अर्थ—उनके सुन्दर विशाल नेत्र-युग्म थे, स्तन-चक्र, घुंघराले बाल, भौंरे जैसी प्रतीत होनेवाली धनुषाकार भौंहें तथा तलवार जैसी भुजाएं थीं। उनसे वे स्त्रियां स्वर्गकी देवियों जैसी प्रतीत हो रहीं थीं। भण्डार और अस्त्र शस्त्रों से संयुक्त राजा उद्दायन का राज-दरबार बड़ा सुशोभित हो रहा था ॥१४१॥

निरिद्ले नीळद् पुर्वु नळितोनिळडुगण् सुलिसल् घनस्तनं
तुरुगेमे कोमलांगमळवट्ट कुरुळयवळाघरं करं
मिरुगुव दंतपंक्ति नयनं गंडेगोंड मुखं नरवं कचं
नेरे रमणीयमागे रमणी निकरं नेरेदिदु दोप्पदिं ॥१४२॥

अर्थ—अत्यन्त सुन्दर शरीर, लता के समान हाथ, सिंह के समान कमर, अत्यन्त सुन्दर दन्त पंक्ति, कठोर उरोज, मृदु शरीर, पानसे रंगे हुए होठ, सुशोभित मुख और बालों वाली नर्तकियां उन्हें घेरे हुए थीं। और उनके कारण सभा बड़ी सुन्दर लग रही थी ॥१४२॥

बेरलोलु रत्नमुद्रिके विराजिसे कंठदोळुप्पे मुत्तिनो
सरमळवट्टु हस्तयुगदोळ् मणिकंकणमेय्दे शोभिसु
त्तिरे कटिसूत्र मोप्पे कटियोळ् तलेयोळ् नेरे चेल्वपुगळु
प्पिरे गणिकाजनं स्मरन दीहद पुल्लेयोलिदु दोप्पदिं ॥१४३॥

अर्थ—हाथों में रत्नों की सुन्दर मुद्रिका, कण्ठ में मोतियोंका हार, हस्त-युग्म में मणि कंकण सुशोभित हो रहे थे। कमरमें कटि-सूत्र, सुगंधित पुष्पोंसे गूंथा हुआ जूड़ा और हरिण के समान चंचल नेत्रों वाली स्त्रियां इस प्रकार घेरे हुई थीं, मानों कामदेवको रति घेरे हों।

पुसिददोंदु कुंकुममे तां तिमिरागे ललाटपट्टदोळ
भासुर मप्पदोंदु तिलकं तिलकक्के नेयागे सेल्लुगुर्
देसियिनोप्पु वत्तमर्दकूरलगागे विळासदिं दभि-
र्दा शशिवक्ते यर्नेगळ्दि कावन मासवळं बोलोप्पिदर् ॥१४४॥

अर्थ—उन स्त्रियों के मस्तक पर शोभायमान कुंकुम-तिलक चन्द्रमा में स्थित कलंक के समान लग रहा था। तथा भ्रमरके समान उनके सज्जित कृष्ण बाल भी उस कलंक स्थानीय सुन्दर लग रहे थे। वे चन्द्र-मुखी महिलाएं वसन्त ऋतुके समान उस राज-दरबारमें सुन्दर प्रतीत हो रही थीं ॥१४४॥

पोळव विशाललोचनद मुत्तिनहारद बेळमु नीलकुं
तलद पोदळद काडिगेयकप्पधरंगळ पाणिपल्लवं
गळ गेडेगोंडकेंपु करमोप्पिरे शोभेयिनोप्पुदाळद्र् को
मळयरनंगराजन विनोदद चित्रपटं बोलोप्पिदर् ॥१४५॥

अर्थ—चमकते हुए दीर्घ नेत्रों से, हार की प्रभासे, नील कुन्तलों से, काजल वाले नेत्रों, लाल होठों, पाणि पल्लवों और कोमलाङ्गों वालो स्त्रियां तथा अन्य जन राज दरबार में शोभा को प्राप्त हो रहे थे ॥१४५॥

धरणेघनोलगक्कं
सुरपतियोड्डोलगक्कमिदुमिगिलेंबोल् ।
करमोप्पिर्दुदु सभेया
तरळाच्चियरिं पोदळ्दु नृर्मडि चेल्वं ॥१४६॥

अर्थ—स्त्रियों और राजाओं से राजा उद्दायनकी सभा सौधर्म इन्द्र की सभा को अपेक्षा शतगुनी सुशोभित हो रही थी ॥१४६॥

रसद मर केरदपुदु सं-
तसदिं माणदे रसयमद कूपदोळं ।
बेसकदिनसदळमसेदुदु
रसगीतं वसुमतीशनास्थायिक्दोळ् ॥१४७॥

अर्थ—उस राज-सभा में रस गीतों के द्वारा ऐसा लगता था मानो वहाँ रसकी वर्षा हो रही हो या रसायन-सरोवर में सब डुबकी लगा रहे हों ॥१४७॥

इवु मत्ते छंगळुद नुडियदे भयदिंदद्दिदं मालवं म-
त्तिवु जात्यश्वंगळुकं बिसुटु विनयदिंदद्दिदं पल्लवं म-
त्तिवु नानारत्नमं मुंतोरेद महिमेयिंदद्दिदं चौळिकंता
निवु काश्मिरेशनोल्दद्दिद निरुपमवस्तात्करं दिव्यवस्त्रं ॥१४८॥

अर्थ—जैसे सिंह के समक्ष मत्त हाथी मद रहित हो जाते हैं। इसी प्रकार चोल, पल्लव काश्मीर और मालव आदि देशोंके राजा अपने हाथी घोड़ों आदि वाहनोंको बाहर छोड़कर राजा उद्दायन की सेवा में हाथ जोड़कर मूल्यवान वस्त्राभरण और अनेक रत्न आदि भेंट कर रहे थे ॥१४८॥

एंदु परदेशाधीश्वरट्टिद् कप्पमुमं बंद दूतरुमं तोरि विन्नपंगेश्व दौवारिकरिं [द्भेसेदुदु : मत्तं ॥१४६॥

अर्थ—राजाओं और राजदूतों द्वारा भेंट ग्रहण करके राजा उद्दायन उन्हें उपहार आदि द्वारा सत्कार करके भेज रहा था ॥१४९॥

मनसिजराजं नोटक
जनक्के लेसागि ठक्क निक्कि दनेंबं ।
तनवरतं रंजिसिदुवु
जनपतियोलगदोळाद पलवुं नृत्यं ॥१५०॥

अर्थ—ऐसा लग रहा था कि मानों यह सभा कामदेवकी है। इस प्रकार वह राज-दरबार सदा सुशोभित होता था और सदा ही इसी प्रकार के गान-नृत्य होते रहते थे ॥१५०॥

वारस्तिनिकुरंबदिं मुकुटवद्धानीकदिं भव्यरिं
भूरामाधिपरिं बुधप्रततियं सामंतरिं जाणरिं
शारधीररुदारप्पपलवचातुर्यरिं वीररिं
दोरंतोप्पिदुदुन्नतिक्के योदविं भूपालनोड्डोलगं ॥१५१॥

अर्थ—नगर-बधुओं, मुकुट बद्ध राजाओं, ब्राह्मणों, विद्वानों, सामन्तों, शूरवीरों, बुद्धिमानों और चतुर लोगों से उन्नत राज-दरबार बहुत शोभा को प्राप्त हो रहा था ॥१५१॥

अंतमरेंद्र लीलेयिं दोड्डोलगंगोट्टिर्दोद्दायन महाराजं तनगे मुक्ति श्रीयट्टिद् दूतनंते बर्पकृतकर्षियं कुडु, ॥१५२॥

अर्थ—इस प्रकार लीलाओं से युक्त राज-दरबार के सामने वह कृत्रिम मुनि धीरे-धीरे आ पहुँचा। उसे आते हुए देखकर राजा मानों मुझे मुक्ति-दूत ही बुलानेके लिये ही आंगन में आया हो, ऐसा विचार कर ॥१५२॥

मनदोळ रागं भोंकने
ततगागळ् पुट्ट हस्तकमलद्वयमं ।
जननाथं मुगिदु मुनीं-
द्र ननिदिर्गोळलेंदु भक्तिपुर्वकदिंदं ॥१५३॥

अर्थ—मन में अत्यन्त आनन्दित हुआ । शीघ्र ही प्रभावती रानी और राजा उद्दायन अत्यन्त भक्ति भाव के साथ दोनों हाथ जोड़कर मुनि के सामने ।।१५३।।

दुकूलवस्त्रदुत्तरासनंबेरसि इदिरागि बंदु, ॥१५४॥

अर्थ—रेशमी धोती दुपट्टा पहनकर आये ।।१५४।।

वरमुक्ति श्रीयल्लिगे
भरवशदिंदे रलेंदु निच्चणगेयनो ।
प्पिरे पिडिव मार्केयिंदं
नरेश्वरं पिडिदना मुनींद्रन कालं ॥१५५॥

अर्थ—श्रेष्ठ मुक्ति के महल में चढ़ने के लिये मानो यह जीना लग गया है, इस प्रकार विचार करके राज-दम्पतिने मुनिको नमस्कार किया; तथा 'हम मुक्ति महलमें शीघ्रतासे चढ़ जावें, ऐसी भावना करके उन दोनों ने मुनि के चरणों का स्पर्श किया ।।१५५।।

[तां] गुणनिधानदीपवर्तियप्पुदरिं गुणनिलयनपादक्केरगि पोडेमट्टु निलिसि [रागदिनोड] गोंडु बंदुच्चासनदोळकुळ्ळिरिसुवुदुं ॥१५६॥

अर्थ—उस समय गुण निधान दीपक के समान उद्दायन राजा ने गुणनिधि मुनि के चरणों में नमस्कार करके उनको ठहराया और भक्ति-पूर्वक प्रदक्षिणा देकर वहाँ से भोजनालय में लाकर उच्चासन पर बिठाया ।।१५६।।

निललारदे दुर्गंध
क्कलसि केलर्जगुळदु पोदरवनिपनल्लिं ।
तोलगिडोदे कोल्गु मेम्मं
मुळिदेंदु केलबरंजे पोगदे निदर् ॥१५७॥

अर्थ—तब मुनि ने पहले की अपेक्षा कई गुनी अधिक दुर्गन्धि फैला दी, जिससे राजा के सेवक आदि दुर्गन्धि से घबड़ा कर भाग खड़े हुए। कुछ लोग राजा के भय से भाग न सके किन्तु वहीं नाक बन्द करके बैठे रहे ॥१५७॥

मूगोडदंतिरे तलेयं
बागि केलनोंडलारदिर्दर्मनदोळ् ।
रागंगेट्टु केलंवर्
मूगं मुच्चिर्दरारदुम्मलिसुत्तुं ॥१५८॥

अर्थ—लोगों की दशा बिगड़ गई, दुर्गन्धि के मारे उनकी नाकों दम आगया। कुछ लोग घुटनों में शिर दबाकर बैठ गये। कुछ लोग नाक बन्द करके बैठे रहे और यह सोच रहे थे कि यह संकट कहाँ से आ गया ॥१५८॥

मत्तं दुर्गंधक्किरलारदे लेंकर् दंडं गोंडरंते शंकिसुत्तुं पेरपिंगे, परिचारकियरिरलारदे नुसुळदाडे, वाणसिगरिदेन्नाणपुतेंदु पोगे, करवळररिदारतेंदुपिंगे. डबकेयवर् श्रमगोंड पात्रदं तुम्मळिमे. चामरियर्दूमं पोक्क कण्णंते नोडलारदिरे, अरसियर् परवशमादरंते केर्गळ नेम्म, वल्लभेयर् पोल्लगेय्दु रंतुसिरदे कुळ्ळिरे, विळासिनियर् विळासंगेट्टरंते कुंदे नारियर् बारिसलारदक्करिगरंतेमिनुके, संतोषदाळियर् नूंतुवोद परवियंते विट्टु परिये. प्रभावती महादेवि तन्नोळिंतेंदर् ॥१५९॥

अर्थ—दुर्गन्धि सहन न होने के कारण उद्दायन राजा की अन्य रानियाँ, तथा दरबारी, नृत्यांगनायें व्याकुल होगईं। कुछ दरबारी तो इधर उधर छिप गये। रसोइया भाग तो नहीं सके किन्तु मन मारकर वहीं पर खड़े हो गये। कुछ लोग दवा लेनेके बहाने वहां से खिसक गये। राज कुमार घृणा से मुंह बनाये खड़े रहे। परिचारक आंखें बन्द करके बैठ गये। प्रभावतीके अतिरिक्त अन्य रानियां नाक बन्द करके बैठी रहीं। उन्हें डर था कि कहीं राजा असन्तुष्ट न हो जाय, अतः वे वहाँ से जा नहीं सकीं। अन्य बिलासिनियोंके मनसे विलास के प्रति उदासीनता आ गई। कुछ लोग दुर्गन्ध के मारे कराहने लगे। किन्तु प्रभावती रानी का ध्यान दुर्गन्ध की ओर नहीं गया, बल्कि वह विचार करने लगी······॥१५९॥

वररत्नं पेलोळ् वि
हि रेयदु पोल्लेंदु विसुडलप्पुदे तपदोळ्
पिरियरेनिदर रुचिगो
सरिसुवुदे जिनेंद्रमार्गदोळगं बल्लं ॥१६०॥

अर्थ—हे भगवन् ! यह दुर्गन्धिसे पूर्ण शरीर तो क्षणिक है, जैसे अपवित्र दुर्गन्धिमें यदि रत्न गिर जाय तो क्या रत्नको कोई छोड़ देगा ? इसी प्रकार इस दुर्गन्धित शरीरमें रत्नत्रय विद्यमान है, उसे क्या दुर्गन्ध के कारण कोई भव्य छोड़ देगा ? दुर्गन्धि के कारण रत्नत्रय रूप आत्माको कैसे उपेक्षा कर दी जाय ? भगवान जिनेन्द्र के मार्गकी साधना करने वाले मुनिके आज मुझे दर्शन हुए हैं, यह मेरा सौभाग्य है ॥१६०॥

एंदु तन्न मनदोळ् कोक्करिकेयिल्लदेदरिद्रं निधानं कंडंते संतोषदिं-दोर्वळ् निल्वुदु, सम्यक्त्व-चूडामणि नवविधपुण्यदोळं सप्तगुणगळोळं नेरेदु मुनिगाहारदानमं कुडुवुदु कंठप्रमाणमुंडु ॥१६१॥

अर्थ—इस प्रकार अपने मन में किसी प्रकार की ग्लानि न करते हुए, जैसे निर्धन को कोई निधान मिल जाने में उसे सन्तोष हो जाता है, उसी प्रकार सम्यक्त्वरत्न, सम्यक्त्व-चूड़ामणि प्रभावती रानी नवधा भक्ति-पूर्वक उस मुनि को आहार दान देने को तत्पर हो गई। राजा उद्दायन और रानी प्रभावती द्वारा दिये गये स्वादिष्ट आहारको मुनिने पेट भर कर खा लिया ॥१६१॥

मरुगे शरीरं कणगळ्
पारमडे मेल्स्वासमेत्त सेडेदळिक बल्लं ।
परिवडे जोम्मने जोल्दु
तेरपं पार्दिरदे तडेयदोर्मेये मुनिपं ॥१६२॥

अर्थ—आहार लेनेके बाद उस मुनि का शरीर कम्पित होने लगा, आंखें चढ़ गईं। ऐसा लगने लगा जैसे वह मर रहा हो और गिरने वाला हो। खड़े-खड़े उसके हाथ पांव हिल रहे थे। ठहरने को उनमें शक्ति नहीं, ऐसी लीला वह देव मायामयी करने लगा ॥१६२॥

करमल्लदे दुर्गन्धं
पिरिदागे नगाग्रदिंदे धाराजलमु ।

वेरे गिळिवं तोवेंदो

करिसि नरेश्वरन मेले कारिदनागळ् ॥१६३।

अर्थ–वह मुनि अति तीव्र दुर्गन्ध फैला रहा था। जैसे महादेव के सिर पर गिर कर गंगा उछलती है, उस प्रकार मुनिने जो भोजन किया था, उसके पेटसे निकला और उसने अत्यन्त भयानक दुर्गन्धित उलटी राजा और रानी के ऊपर कर दी ॥१६३॥

अंतु कारुवुदु ॥१६४॥

अर्थ—उस बनावटी मुनि ने ऐसी उल्टी की कि—···॥१६४॥

शिरदिंद मुखदिंदं

कोरलिंदं कुचयुगंगळिंदं पादं ।

बरेगं पेर्वोनलंतिरे

परितंदुदु मुच्चि मुसुरिकोंडवनिपनं ॥१६५॥

अर्थ–राजा और रानीके शिर, मस्तक, मुख, गला, छाती और पैर तक उस उलटी से भीग गए, जैसे नदीमें अभिषेक किया जाता है। रानी और राजा उस उलटी से ऐसे भीग गए कि वे स्पष्ट दिखाई नहीं दे रहे थे ॥१६५॥

कोरेयु विरावु लोळयु

मळवल्लद वज्रलेपदंनिरे धात्री ।

तळपतिय मेय्योळल्लं

तळिपं तळिदंते कूडि पत्तित्तागळ् ॥१६६॥

अर्थ–मुनिने उन दोनोंके ऊपर इस प्रकार उलटी कर दी, कि मानो किसी कारीगर ने लेप किया हो। उनका शरीर कफ, अन्न और अन्य घिनौनी वस्तुओं से भर गया ॥१६६॥

अंतु तनगे सुगतिवनिते मोक्षपदक्कड्डमाद कर्म राजनोड्डं किडिसि बंदेन्नोळ् बेगं नेरेगेंदु तन्न कूर्मेयिंदट्टिद वज्रकत्तळदंतिर्द लोळगे कोक्करिसदे, मुनि पतिगे छर्दि यादुदक्के नोडयु मनदोळ् नोंदु ॥१६७॥

अर्थ–इतना होने पर भी राजा उद्दायन के मन में कोई अन्तर नहीं पड़ा। सुगति में बाधा देने वाले कर्मों को नष्ट करने वाले कफ और लार के कारण भी राजा के मनमें कोई

ग्लानि नहीं आई, बल्कि वह विचार करने लगा, भगवन् ! मैंने ऐसा कौनसा पाप किया था जिसके कारण मेरे आहार-दान के फल स्वरूप मुनि को उलटी हो गई ॥१६७॥

केट्टॅ मुनीन्द्र निच्छेय
नोट्टचेयिंदरियेंदमहापातकनो ।
तोट्टने कोळलेन्निच्छेगे
नेट्टने बड्डीसिदोडिनितु नोवारिंतगळ् ॥१६८॥

अर्थ–राजा मनमें पश्चात्ताप करता है–हाय ! मेरे बड़ा पाप का उदय हुआ है । मैंने मुनिके अनुकूल आहारका ज्ञान न होने के कारण यद्वा तद्वा (ऐसा वैसा) आहार दिया । मैं बड़ा पातकी हूं । मैंने मुनिराज की प्रकृति न देखकर, उनके भाव न समझ कर अविवेक-पूर्वक आहार दे दिया । मैं कितना पापी हूं । इस प्रकार राजा अपनी निन्दा कर रहा है ।

एंदु तन्नं ताने निंदिसिकोंडु तडवरिसि बीळव मुनिनाथनं बीळलीयदे तकैसिकोंडु करगळं तळंगळिंदं नीवि मेय्याळाद लोळयेल्लमं तोळदु कळेदु : ॥१६९॥

पिरिदप्प श्रमदिं नि-
त्तरिसदे तलेतिरिगि मरुगि मेलुसिरिट्टु ।
वेरेगे केडेदुरुळव मुनिपन
नरसं ताळिदर्दनोंदु चावं वरेगं ॥१७०॥

अर्थ—इस प्रकार आत्म-निन्दा करते हुए राजाने गिरने वाले मुनि को छातीसे लगा कर पकड़ कर खड़ा कर दिया । अपने शरीर से लगा हुआ कफ और लार राजाने धोया । राजा परिश्रम करता हुआ आत्मनिन्दा करता है, दीर्घ निःश्वास छोड़ता है और मुनि की परिचर्या करता है । इस प्रकार उसे एक मुहूर्त बीत गया ॥१६९-१७०॥

अंतिदुं श्रमं पोर्दिवरिक्क [मोय्यने मायारुपियुं तानुं प्रभावती महा-देवीयुं मज्जनदमने गोय्दु विसिनीरि] मेय्येल्लमंकर्चि [मेय्य नीरं दुकूलांब-रदिं तोडेदु कळदु ॥१७१॥

अर्थ–रानी प्रभावती कृत्रिम मुनि को स्नानागार में ले जाकर उसके शरीर को स्वच्छ

वस्त्र और गर्म जल से साफ करती है। उसने मुनि के सारे कफ और कय को साफ कर दिया फिर स्वयं अपने वस्त्र बदले और मुनिको एक आसन पर बिठाया। तब राजा और रानी मुनि के पास आकर बैठ गए ॥१७१॥

पिरिद्प्पदोंदु मणियोळ्
वरमुनियं तंदु कुळ्ळिरिसि नृपेनंदं ।
पिरिद्प्प क्लेशं निम-
गिरिदेन्निं पापकर्मनिंदाय्तिनिसु ॥१७२॥

अर्थ–तब दोनों ने विनय-पूर्वक मुनि से प्रार्थना की कि भगवन् ! हमारे कौन से पाप कर्म का उदय था जो हमारे आहार-दान का यह परिणाम हुआ ॥१७२॥

एंदु विनयदिं पोडेमट्टु प्रभावतीमहादेवि मज्जनंभोक्कु दिव्यवस्त्र-मनुट्टु मगुळदु वंदु कृतकर्षियकालनोत्तुत्तुमिर्तेंदर्] ॥१७३॥

अर्थ–राजा उद्दायन बड़ी विनय के साथ उस कृत्रिम मुनि के पैर दबाने लगा। तब रानी निकट आकर कहने लगी ॥१७३॥

तनुवं भाविसुवोडमे
ळ्ळनितं शुचियल्लमशुचिदेहमनिदनि ।
ग्ननुपममेंदेन लागदु
चिनमतदोळयुंदियरिवि नोळनगळद नरं ॥१७४॥

अर्थ–भगवन् ! विचार करके देखा जाय तो इस शरीरमें कोई सार नहीं है और न इसमें कोई शुचिता ही है। यह तो अशुचियोंका बड़ा आगार है। संसारमें अन्य वस्तुसे उपमा न दी जासके, ऐसा यह दुर्गन्धित शरीर है। जिनेन्द्र भगवानके आगममें इस शरीरको निस्सार बताया गया है। परन्तु जो बुद्धिमान है, जिसने जिनेन्द्र देव के आगम को अच्छी प्रकार समझा है। वह इस निस्सार शरीर को भी सारवान बना लेता है ॥१७४॥

पुत्तं माडुव वरलेयंते पापमं नेरपुवुदु, किर्चिनंते पोर्दिदरं केडिसुवुदु, पंदे-यंते पेरगुरिवुदु, वडतनदंते वगेदुदनीयदु, पुणिणनंते नोवं माळपुदु, ग्रहदंते, पीडेयं माळपुदु, बसिर कुत्तदंते नमेयिसुवुदु, पंदियंते गोप्पं गोळवुदु, कृष्ण-

पसदंते शुभमनोल्लदु, पगेयंते भयमं माळपुदु, कूसिनंते कूडदुदं बयसुवुदु, पुल्ल किच्चिनंते स्थिर मल्लदु, पोळतेनंते निलिसलरिद्प्पुदु, तोरेयंते पायल-रिद्प्पुदु गाळियंते पिडियलरिद्प्पुदु, पोलेगेरियंते मूळयभयमप्पुदु, केर्पिनंते तोगलनुळ्ळुदु, बीणियंदे नरदोळ् कूडिदुदु, तिप्पेयंते पेसुपतमप्पुदु, [पडिके-यंते दुर्गंधमप्पुदु] कोळियंते क्रिमिप्रियनप्पुदु, [चिगुरियंते नेत्तरप्रियनप्पुदु] नोळविनंते श्लेष्मप्रियनप्पुदु, पशुविनंते मूत्रप्रिवनप्पुदु, तोन्निनंते, रसिगेय नुळ्ळुदु, सोंबनंते अलसमप्पुदु, मूर्खनंतप्पुदं माडदु वेट्टेरु कारनंते धर्मं मनोल्लदु, पिशाचियं तोळ्ळित्तं माडदु पेणनंते वार्तेयल्लदु, मूळयंते वंड-मल्लदु, पोलेयनंते वर्णक्के सल्लदु, केडुव भंडदते मारुत्तोगदु, पेनंते पत्तु-विडदु, व्रणगिनंते नेरितल्लदु; बगेवंदी शरीरं कष्टमिदं विट्टु रत्नत्रयभाव-नेयिं स्वस्वरूपदोळ् कूडुवुदेंदु धर्ममं पेळदरसिनंदक्के वासवं विस्मयं बट्टु तन्नोळिंतेंदं ॥१७५॥

अर्थ—यह शरीर सदा ही अनेक प्रकारके पापोंका कर्ता है। पापोंके अतिरिक्त यह और कुछ नहीं करता। चिनगारी के समान यह क्षणध्वंसी है। जैसे वही चिनगारी यदि रुई में लग जाय तो वह सब को जला डालती है। इसी प्रकार इस शरीर से जिस वस्तु का स्पर्श हो जावे वही चीज अति अपवित्र हो जाती है। यह शरीर हमेशा सूअर के समान गन्दगी एकत्रित करता है। यह दरिद्रीके समान सदा ही निःसत्व रहता है। जैसे फोड़ा कष्ट देता है, इसी प्रकार यह शरीर आत्मा को सदा पीड़ा देता रहता है। दुष्टग्रहोंके समान यह सदा कष्ट देता है। प्रसव-वेदनाके समान वेदना उत्पन्न करता है और वेदनासे यह दुर्बल भी पड़ जाता है। सूअर के समान अशोभनीय है। कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा के समान अशुभ और क्षण क्षण में न्यूनता को प्राप्त होने वाला है। यह अनेक प्रकार के भयों को उत्पन्न करने वाला है। छोटे बालक के समान क्षण क्षण में इच्छा करने वाला है। सूखी घास की अग्नि के समान क्षणिक है। घुने हुए वृक्षकी समान अस्थायी है। नदी के प्रवाह के समान क्षणिक है। वायु के समान हाथ न आने वाला है। चाण्डालकी गली में जैसे हड्डियां मिलती हैं, उसी प्रकार से इस शरीरके भीतर हड्डियां मिलती हैं। चमार की गली में जैसे चमड़ेका ढेर मिलता है, इसी प्रकार शरीर पर भी चमड़ा रहता है। जैसे चाण्डाल हड्डियों को ढक कर रखता है,

इसी प्रकार हड्डियों के ऊपर चमड़ा ढका हुआ है । वीणा में जैसे तार तने रहते हैं, इसी प्रकार शरीर में नसें तनी हुई हैं । महाराज ! क्या कहूं, यह शरीर गन्दगी का ढेर है । इसका स्वभाव ही दुर्गन्ध है । मुर्गीके समान यह कृमि-प्रिय है । यह जोंक के समान रक्त-प्रिय है । मक्खीके समान श्लेष्म -प्रिय है । पशु के समान मूत्र-प्रिय है । कोढ़ी के समान इसमें सदा बहुत मवाद भरा रहता है । सदा प्रमादको उत्पन्न करने वाला है । यह आत्मा को सदा मूर्ख बनाता है । धर्म का तिरस्कार करता है । पिशाच के समान नृत्य करता है । यह मुर्दे के समान निस्सार है । इसकी हड्डियाँ भी बेकाम हैं । चाण्डाल के समान नीच है । मिट्टीके कच्चे बर्तनके समान घुलने वाला है । अनेक प्रकार की आपत्तियोंको उत्पन्न करने वाला है । सिवाय आत्म-साधन के और किसी काम नहीं आता । रत्नत्रय के साधन के अतिरिक्ति और किसी काम नहीं आता ।

इस प्रकार रानी प्रभावती के वचनों को सुनकर कृत्रिम मुनि वासवदेव अपने मन में आश्चर्य-चकित होकर इस प्रकार विचार करने लगा ।।१७५।।

सुरपतियपोगळतेमी
नरनाथं सच्चरित्रदोळ् भाविपोडु ।
वेरेयोळ् नूर्मडि पिरियं
धरणेन्द्रनुमिवनगुणमनार्धने पोगळल् ।।१७६।।

अर्थ—सौधर्म इन्द्रने अपनी सभामें दोनों के सम्यक्त्वका जितना वर्णन किया था, उससे भी सौगुणा अधिक इनको मैंने पाया है । इस दम्पतिके गुणोंका धरणीन्द्रने जो वर्णन किया, यह क्या सामान्य बात थी । मैं इनके गुणों का वर्णन क्या कर सकता हूँ ।।१७६।।

एंदु [पोगळदु] ।।१७७।।

अर्थ—इस प्रकार वासवदेव मन में उन राज-दम्पत्ति की स्तुति करके ······ ।।१७७।।

परमजिनचरणसेवने
वेरसिर्दवनंत्य कालदोळ् कष्टकळे
वरमं विसुट्टु दिव्य
स्वरूपनप्पंतु वासवं तत्क्षणदोळ् ।।१७८।।

अर्थ—दीर्घकालसे परम जिनेन्द्र देवकी चरण-सेवामें अपने समयको व्यतीत करने वाला

कभी कष्ट में पड़ सकता है ? क्या उसे किसी प्रकार की कमी हो सकती है ? क्या उसके पुण्य में कोई न्यूनता हो सकती है ? ऐसा जीव संसारमें धन्य है । इस प्रकार मनमें विचार करते हुए ।।१७८।।

कृतकरूपमं बिट्टु ॥१७६॥

अर्थ–अपने कृत्रिम रूप को छोड़कर उसने···।।१७९।।

तनुरुचिमंदराचळद पोंगेणेयागि पळंचि मिंचे सू-
र्यन किरणं बोलोप्पे पोळवाभरणात्वळि दिव्यवस्त्र मिं
बिनोळमदोप्पि शोभिसे सुरेश्वरनागळ दिव्यमप्प मु
न्निन निजदेहमं नेरेये ताळदु नरेन्द्रन मुंदे निल्वुदुं ॥१८०॥

अर्थ–अपना दिव्य शरीर प्रगट किया, मानो प्रज्वलित सुमेरु पर्वत ही प्रगट हो गया हो, सूर्य की किरणें प्रगट हुई हों । रत्नाभरण और दिव्य वस्त्रोंसे सुशोभित वह देव अपनी पहली देह धारण करके राजा के सामने प्रगट हो गया ।।१८०।।

[ओद्दायनमहाराजं मुन्निन ऋषिरूपमं बळिक्किन दिव्यस्वरूपमं तोट्टने कंडु विस्मयं बट्टिदुं तद्देवनिंतेंदं] ॥१८१॥

अर्थ–राजा उद्दायन पहलेके मुनि-रूपको छोड़कर दिव्य शरीरको धारण किये उस देव को देखकर चकित रह गया । राजा को चकित देखकर देव कहने लगा ।।१८१।।

सुरराजन समेयोळ् दे
वर तंडं दर्शनद तृतीयांगदोळार् ।
भरतक्षेत्रदोळ्ळिद
रेरडिल्लदे देव पेळवुदेने देवेंद्रं ॥१८२॥

अर्थ–हे सम्यक्त्व शिरोमणि ! शील गुण सम्पन्न, हे गुणनिधे ! हे राजन् ! सौधर्म इन्द्र की सभा में देवों का समुदाय जब एकत्रित हुआ, तब सम्यग्दर्शन के निर्विचिकित्सा अंग में भरत क्षेत्रमें कौन प्रमुख सम्यग्दृष्टि है, देवोंको इस प्रार्थनाके उत्तरमें देवेन्द्रने कहा कि १८२

ओद्दायन महाराज नोळ्ळिद [नेंदु कोंडु कानेदु ॥१८२॥

अर्थ–इस समय भरत क्षेत्रमें सम्यग्दृष्टियोंमें राजा उद्दायन और उसकी रानी प्रभावती

है। यह सुनकर समस्त देव आश्चर्य से भर कर मन में सोचने लगे कि भरत क्षेत्रमें इतने सम्यग्दृष्टि होते हुए भी राजा उद्दायनको ही क्यों प्रशंसा की है। मुझे भी आश्चर्य हुआ।

पोगळे सुरसमिति नेरे कै
मुगिवुदुमेनगमरपतिय मातिंगे करं।
जगतीविस्मयमुं कै
मिगे निन्नं नोडलेंदु बंदे दिवसं ॥१८४॥

अर्थ—इस बात को सुनकर समस्त सभा के देवों ने आपको परोक्ष में नमस्कार किया। तब मैंने सौधर्म इन्द्र का कथन सत्य होने पर भी उसकी परीक्षा करने का विचार किया और मुनि-वेष धारण कर आपकी परीक्षा करने आया ॥१८४॥

एन्न पेसर्वासवनेंबुदु [सकलगुणंगळोळं नीना सौधर्मेन्द्रन पोगळतेगं सासिर्मडि मिगिल्] निन्न गुणमनारय्वेनेंबातं चामीकरशैलमं गुद्दलियिंदगुळदु [केडेये] नूंकु वेनेंबेग्गनं पोल्कुमेंदु पलतेरदिं स्तुतियिसि प्रभावतीमहादेवियिय मोगमं नोडि ॥१८५॥

अर्थ—मेरा नाम वासवदेव है। आपके गुणोंका जो वर्णन सौधर्मेन्द्रने किया था, उससे हजार गुने गुण आप में हैं। आप के गुणों का वर्णन कोई नहीं कर सकता। जैसे स्वर्ण पर्वत में अगर कुदाली से खोद कर कोई स्वर्ण को खत्म करना चाहे तो भी वह खत्म नहीं किया जा सकता। इस प्रकार उस देवने, राजा उद्दायन की अनेक प्रकार से स्तुति की। तत्पश्चात् प्रभावती रानी के मुख की ओर देखकर कहने लगा कि······॥१८५॥

एनिसुज्ज्वल मादोडे चं
द्रन तेजं रविय तेजमं गेल्गुमे पे।
णणे नितोळ्ळिद ळादोडे पुरु-
षनोळाद् महागुणंगळं पोल्तपळे ॥१८६॥

अर्थ—इस संसारमें अनेक स्त्रियां हैं, कोई गुण युक्त हैं और कोई गुणहीन हैं। स्त्रियोचित सभी गुण सभी स्त्रियों में नहीं मिलते। आपके रूप और गुणों का वर्णन करना मेरे लिये असंभव है। सूर्य की किरणों को चन्द्रमा जीत नहीं सकता। उसी प्रकार संसारमें स्त्रियां

बहुत हैं, किन्तु आप के रूप, गुण और सम्यक्त्व निधि की समानता कोई स्त्री नहीं कर सकती। आप स्त्री जाति से भिन्न हैं। स्तुति गुणोंकी की जाती है। आपके गुणोंकी स्तुति कोई नहीं कर सकता। मेरे लिये तो यह बिलकुल असंभव है ॥१८६॥

अदुकारणदिं प्रभावतीमहादेवियगुणमं मत्तिन वनितेयरोळ पोलिसल्वारदु १८७

अर्थ–आपके गुणों की तुलना किसी स्त्री से नहीं की जा सकती ॥१८७॥

नरपति केळी वनितेय
परमगुणंगळने मेरेये बरिण पनेंबं ।
दुर्गाधिपतिगमरिदेने
नररार्तपेरंदु नुडिवुदोंदेग्गल्ने ॥१८८॥

अर्थ–हे राजन् ! सुनो इस वनिताके गुणों का वर्णन करनेमें मैं असमर्थ हूं। इसके गुणों का वर्णन तो महान देव भी नहीं कर सकते। फिर मनुष्य क्या स्तुति कर सकता है। मैं इसके गुणों का वर्णन करूं, यह मेरी शक्ति के बाहर है ॥१८८॥

[एंदतेंदोडे, पुण्यमूर्तिगे शीलवतियंबीपेसर् प्रसिद्धमाद् प्रपंचमेल्लमं ल्समागि पेळदपं] केळिमेंदितेंद ॥१८९॥

अर्थ–इनके गुणोंका वर्णन कहां तक करूं और क्या उपाधि दूं यह शीलवती सम्यक्त्व की पुण्यमूर्ति है। मैंने इनमें जो गुण देखे हैं, उनके नाम बताये हैं।

इतना कहकर अन्त में देव बोला ... ।१८९।

परदेशाधीश्वरं
धुरदोळ् तळितरिदु कप्पमं कोळलेंदो ।
सरिसदे सेडेदिरदे मही
श्वर नीनदटिंदमेन्ति पोपुदुमित्तल् ॥१९०॥

अर्थ–यदि कोई तुम पर अन्यायपूर्वक अकस्मात् आक्रमण करे—आपकी राजधानीका घेरा डाल दे, तो उस समय उसका निवारण करने योग्य आपमें बल आजायगा और मेरा स्मरण करते हो मैं आपकी सहायता के लिए उपस्थित हो जाऊंगा ॥१९०॥

इसी प्रसंग में एक और भी कथा है–

नारायणदत्ते येंबळ् प्रभावतीमहादेविय बाल्यकालद् केळदि किरियंते रंडेयागि तर्कशास्त्रं गळनोदि ग्रहसमर्थेयरेन्नं विट्टु पेररोर्वरुमिल्लेंदु तन्नंताने लोकदोळ गुर्वुमाडिकोंडिरे ॥१६१॥

अर्थ–नारायणदत्ता नाम की प्रभावती रानी की एक बाल्यकाल की सहेली थी। बाल्यकाल में ही उसका विवाह हो गया और थोड़े दिनों में ही वह विधवा हो गई। वह एक पाखण्डी साधु के सम्पर्कमें आई और अनेक प्रकारके शास्त्र पढ़कर बड़ी विदुषी होगई। तथा सन्यासिनी हो गई, वह सब जगह आत्म-प्रशंसा करने लगी कि मेरे समान कोई नहीं है। मैं ही संसार में एक मात्र गुरू हूं। इस प्रकार अहंकारमें भरकर यद्वा तद्वा कहने लगी।१६१।

नाडरेल्लं नेरेदु
नीडिरदळकर्तु भक्तिपुर्वकदिं कों।
डाडे गुरुवेंदु घरेयोळ्
कूडि महारूढियागे पेंपोदवुविनं ॥१६२॥

सुस्तलुमिदोंदुदिवसं प्रभावती महादेविय तन्न किरियंदिन केळतनमं नेनेदु तन्नो ळिंतेंदळ् ॥१६३॥

अर्थ–अनेक लोग भी उसे बहुत बड़ी सन्यासिनी और गुरू मानने लगे थे। जगत में उसकी प्रसिद्धि होगई। एक दिन भ्रमण करते-करते उसे बचपनकी सहेली प्रभावतीका स्मरण हो आया। प्रभावती संसार में शीलवती के नाम से प्रसिद्ध थी। वह अपने मन में इस प्रकार विचार करने लगी।१६२-१६३।

विनयदिनवळ श्रावक
तनमं लेसागि किडिसि निळिपि बळूळेका।
वनितेयनेगेय्दुं मे
ल्लने नयदिंदेन्न धर्मदोळयत्तसुवें ॥१६४॥

अर्थ–मुझे प्रभावती के पास जाना चाहिये और उसे श्रावक धर्म से विचलित करके अपने धर्म की अनुगामिनी बनाना चाहिए। मुझे अपनी सखी को अपना धर्म समझाकर अपनी ओर खींचना चाहिये। इस प्रकार नारायणदत्ता सन्यासिनी ऐसा सोचकर।१६४।

एंदु पुगणु रौरवपुरक्के वंदरमनेय बागिलोळ् निंदु पडियररं करेदु निम्म बालसखियप्प नारायणदत्त निम्मं काणलेंदु बंदळंदु प्रभावतीमहादेविगे बेळमेंबुदु, अवपोगिपोडेमट्टु बिन्नपमं दिंतोंदर् ॥१६५॥

अर्थ—वह रौरवपुर आई और राज-मंदिरके द्वार पर आकर खड़ी होगई, उसने द्वारपाल से कहा कि तुम जाकर प्रभावती को समाचार दो कि तुम्हारे बचपन की सखी नारायणदत्ता आई हुई है। उससे तुम मिल लो। द्वारपाल ने उसकी बात सुनकर नमस्कार किया और जाकर रानी प्रभावती से निवेदन किया कि आपकी बाल सखी नारायणदत्ता सन्यासिनी के वेष में द्वार पर आई हुई है और आपसे मिलने की अनुमति चाहती है।१९५।

अणुगिन केळदियें नां स
दुगुणियेनिसिद निम्मराजपत्नि य नारा-।
यणदत्तेयेंबेनोन्नं
चरणदिं दोय्देन्न निम्म काणिसमेळकुं॥१६६॥

अर्थ—यह भी कहा कि वह नारायणदत्ता बहुत बड़ी विदुषी है, साध्वी है। उसे आप द्वार पर जाकर ले आइये।१९६।

एवुदुं, मुन्नमे तंदु काणिसलगमदे देवियल्लिगे वंदेमगे बेसनावुदु एने प्रभावती महादेवि नारायणदत्ते मुन्निनंते श्रावकियेंदु धर्मवात्सल्यदिं तंदु काणिसि मेंबुदुं, पडियरर तंदु काणिसुवुदुं, अरसि] नारायणदत्तेय मिथ्या-वेषमं कंडु [मन्निसदु] दासी नंगेय्दिर्पुदुं [नारायणदत्ते] मुनिदु ॥१९७॥

अर्थ—यह सुनकर प्रभावतीने समझ लिया कि मेरी बाल सखी मिथ्यादृष्टि है। उसका सत्कार किस प्रकारसे किया जाय। यह विचार कर उसने अपनी सखीको दासियां भेजकर बुला लिया और श्रावक के अनुसार यथोचित आतिथ्य किया, किन्तु साध्वी मानकर उसकी पाद-वन्दना नहीं की। उसके मिथ्या वेषको देखकर रानी ने उसकी स्तुति भी नहीं की। बल्कि उदासीन भावसे सामान्य सखीकी भांति बातचीत की। इससे नारायणदत्ता ने अपना अपमान अनुभव किया और मन में क्रोधित हो गई।१९७।

उरगन विषमेरिदरुं
सिरियुळ्ळरु मदु गुणिकेयं तिंदवरुं ।
पिरिदुं पित्ताधिकरुं
धरेयोळ् मेय्यरियरेंब नुडि तप्पुगुमे ॥१६८॥

अर्थ–सर्प को दूध पिलाने पर भी वह विष ही उगलता है । धतूरा खाने वाले के पास यदि ऐश्वर्य भी हो तो भी उसे धतूरेका ढेर श्रेष्ठ प्रतीत होता है । पित्त ज्वर वालेको यदि मीठा दूध भी पिलाया जाय तो भी कड़आ लगेगा । इनके गुण स्वभाव अपना प्रभाव दिखाते ही हैं । इसी प्रकार नारायणदत्ताका स्वभाव अपने असली रूपसे आ गया और वह प्रभाव दिखाने लगा ।१६८।

[नीने नगाबाल्यकालदोल् माडुव मन्नणेयनीगळ् सिरयिंदु दासीनंगदं यें बुदुमरसि मरुमातुगुडलोल्लदुसिरदिपुंदुं] केलदोळिर्द विदग्धसौदग्येिंब विळासिनि अरसिय मनमनरिदु आकेय बासेयोळिंतेंदळ् ॥१६६॥

अर्थ–रानी को उदासीनता देखकर नारायणदत्ता बोली, बाल्य काल की तरह ही तूने मुझ से बातकी और व्यवहार किया है । तू भाग्यसे आज रानी बन गई है, तुझे मेरे पदका भी ध्यान नहीं रहा और तूने मुझ से मेरे पद के अनुकूल भी व्यवहार नहीं किया । तेरा ऐसा व्यवहार बड़ा आपत्तिजनक है ॥१९९॥

वारिजषंडमं पदेदु पोदुं वबुल् कळहंसे तिप्पेयं
सारमिदेंदु पोदुगुमे तारगेगळमरंविंदुवं सत्ति-
स्तारदोळु दुवंते पदेदोदुगुमेर त्रियं सुधर्मदोळ्
धीररेनिप्परुं मरुळ पोदुवरे जडरं दुरात्मरं ॥२००॥

अर्थ–उसकी बातें सुनकर प्रभावती रानी मनमें कहने लगी कि कमल तालाबको छोड़ कर अन्यत्र नहीं जाता । कलहंस मान-सरोवर को छोड़ कर कूड़े के ढेरको नहीं कुरेदता । तारागण आकाश में अपने स्थानसे च्युत नहीं होते । सूर्य नियमसे पूर्व दिशामें ही उदित होता है और सुमेरु पर्वत के पीछे छिपता है । जिनेन्द्र भगवानके अनुयायी सम्यग्दृष्टि कभी जिनेन्द्र चरणों को छोड़ कर मूर्ख मिथ्यादृष्टि लोगों की शरण में नहीं जाता । मिथ्यादृष्टि

लोग उन्हें धर्म से च्युत करने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु वे कभी अपने धर्म से च्युत नहीं होते ॥३००॥

एंबुदुमाकेय मातिंगे नाडेयुं मिग्गागि तन्न नेलेगेपोगि प्रभावती महा-देविय श्रावकत्वमं किडिसुव उपायमं चिंतिसि तन्नोळिंतेंदळ् ॥२०१॥

अर्थ—नारायणदत्ता वहांसे चलकर मायाचार वृत्ति से मनमें विचार करने लगी कि मैं इसके शील, संयम और सम्यक्त्व को देखूंगी। इसे किस प्रकार भ्रष्ट किया जाय, धर्म से कैसे च्युत करूं, इनके श्रावकत्व को कैसे नष्ट करूं, यह विचार करने लगी ॥२०१॥

केरळमंडलाधिपतियप्पोडे जैननुदग्रनप्प का-
श्मीर महीशनप्पोडे जिनेश्वरधर्मदोळ्ळ्ळदं गुणा-
धारनुदारनंग धरणीश्वर नप्पोडे जैनमार्गदोळ्
सारनपुतिपांड्य धरणीश्वरनप्पोडे धर्मतत्वरं ॥२०२॥

अर्थ—यदि केरल के राजा से कहा जाय तो वह स्वयं जैनधर्म का अनुयायी है, वह यह काम नहीं कर सकेगा। काश्मीर का राजा भी जैन धर्म का परम भक्त है, गुणाधार है, उदार है, प्रजा-वत्सल है, जैनधर्म में तत्पर है, उससे भी यह काम नहीं होगा। पाण्ड्य देशका राजा भी धर्म तत्पर है। पर-स्त्री त्यागी है, वह भी इस काम नहीं आसकता। तब कहां जाना चाहिए, जिससे इसका शील और मान-भंग हो सके ॥२०२॥

[मत्तमुळिद देशाधीश्वररं धर्मानुरागिगळल्लदं परांगनापेक्षकरल्लर-वरल्लिगं पोदोड मन्नेन्निकोंड] कार्यं तीरदु. [माळवेश्वरनप्प] चंडप्रद्योतनिं-तीगुं मातं ॥२०३॥

अर्थ—तब मुझे ऐसे राजाके पास जाना चाहिए जो धर्मानुरागी नहीं हो, परस्त्री-लम्पट हो तथा सदा पर-स्त्रियों की आकांक्षा करता हो। इन राजाओंसे काम नहीं बनेगा। अतः मुझको मालवदेश के राजा चण्ड-प्रद्योत के पास जाना चाहिए। वह परस्त्री-लम्पट है। उससे मेरा काम हो सकेगा ॥२०३॥

स्त्रीयेंबीपेसरिं पेण्
नायादोडमोल्व कष्टनीप्रत्यक्ष।

स्त्रीयं सुरवधुवं पो
लियुवतियनरिदोडोल्लेनेंबवनल्लं ॥२०४॥

अर्थ–जगत में स्त्री बहुत हैं। किन्तु प्रभावती साधारण कर्म-भूमि की स्त्री नहीं है। बल्कि देवांगना लगती है। उसका रूप इतना आकर्षक है, कि उसे जो भी देख लेवे वह ही मोहित हो जाय। यदि चण्ड-प्रद्योत एक बार भी इसका रूप देख लेगा तो वह इसे कभी नहीं छोड़ सकता ॥२०४॥

एंदु प्रभावतीयरूपं पटदोळ् सविस्तरं बरेदु कोंडुज्जयिनिगे पोगि चंड-प्रद्योतंगे तोरुवुदु मातं कंडु ॥२०५॥

अर्थ–इस प्रकार नारायणदत्ताने विचार कर प्रभावती रानी का एक सुन्दर चित्र एक फलक पर खींच लिया। उसको वह उज्जयनी में ले गई और वह वहां चित्रपट राजा चण्ड-प्रद्योत को दिखाया।२०५।

मसेदलर पोळव बाणदि
नसदळ मोडनोडनेपेरगुवार्दोमिंये सै-।
रसदिते मनोजराजं
वसुधीशं गंडुगेट्टु वेंडागिर्द ॥२०६॥

अर्थ–राजा चण्डप्रद्योत हाथमें चित्र-पट लेते ही मोहित होगया। वह मुग्ध होकर बार बार उसे ही देखने लगा। वह कामदेव के कारण विव्हल हो गया। वह विचारता है कि मैंने अनेकों स्त्रियां देखी हैं। किन्तु इतनी सुन्दर स्त्री आज तक नहीं देखी। यह संसार में अनुपम स्त्री-रत्न है।२०६।

इर्दिदार रूपु नीविदनिल्लगें कारणं नंदिरेने. नारायणदत्ते नृपनोलवस-रिदिंतेंदळ् ॥२०७॥

अर्थ–राजा चण्डप्रद्योत नारायणदत्ता से पूछने लगा कि यह कौन है, यह किसका चित्र है ? इस चित्रपटको यहां लानेका तुम्हारा क्या उद्देश्य है ? तब नारायणदत्ता उस राजासे कहने लगी।२०७।

रौरवपुराधिनाथन
नारिय रूपिदु महीश भाविसुवंदा।

नारि मनोजन सतिगं
श्रीरमणिगमिंद्र वनितेगं मिगिलप्पळ् ॥२०८॥

अर्थ–यह स्त्री रौरवपुरके राजाकी रानी है। उसी का यह चित्र है। यह काम देव की रति समान है। वह सौधर्म इन्द्र की इन्द्राणी से भी अधिक रूपवती है।२०८।

[निनगाके प्राणवल्लभेयागले वेळकु' निनगे तक्कळेंबुदनळिकरिं पेळलेंदु, बंदनेंबुदु नारायणदत्तेगंगचित्तमं कोट्टु संतसंबडिसुवुदु'. तन्न वगे तीदु'दें-दुरागिसि शकुनमेंदु सेरगं गंटिक्किकोंडु माळवेश्वरं गिंतेंदळ् ॥२०६॥

अर्थ–मैं इस चित्रपटको यहां इस उद्देश्यसे लाई हूं। कि यह स्त्री आपकी पटरानी बननेके योग्य है, दूसरे किसी राजाके यहां इसकी शोभा नहीं है। नारायणदत्ताके ऐसे वचन सुनकर राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और उसको यथेच्छ भेंट दी। नारायणदत्ता भी भेंट पाकर बड़ी प्रसन्न हुई। वह सोचने लगी कि मेरा काम अब बन गया, तथा वह साध्य होगया। फिर वह अपने माथे पर बल डालकर कहने लगी ॥२०६॥

पलवेनोद्दायनभू
ललनेशनु मूरोळिल्ल पिरिदु' नीं पे।
र्वलदिंदल्लिगे पोदोडे
ललितांगि मनोनुरागदिं कैसागु' ॥२१०॥

अर्थ–तुमसे जितनी भी शीघ्रता होसके, इस समय तुम्हें कर डालनी चाहिये। उद्दायन इस समय बाहर गया हुआ है। वह अपने नगर में नहीं है। यदि इस समय आप चाहें तो प्रभावती आपकी हो सकती है। वह ललितांगी सुलभता से आपके हाथ में आ सकती है।

इंदु नाळयेंदेणसेदयिदेंयप्पोडे. ओद्दायनमहाराजनन्नेगं बर्पनातं बंदनपोडे निनगास्त्रीरत्नंदोरेकोळ्ळळंबुदु', आ मातिंगे ओडं बट्टिन्नेळिसिपु'दु चित्त-मल्लेंदु चतुर्बलं वेरसेत्ति कतिपयप्रयाणंगळिं बंदु रौरवपुरमं मूल्सूळागि मुत्तिकोंडु साळंकारनेंब तन्न पेर्गडेयं वरिसि प्रभावतियल्लिगट्टु वुदु' अवं वंदिनेंद ॥२११॥

अर्थ–यदि तुम इसमें विलम्ब करोगे तो उद्दायनके आने पर तुम्हारा काम नहीं बनेगा।

इसलिए शीघ्रता करो । नहीं तो वह स्त्री-रत्न आपके हाथमें नहीं आसकेगा । यह बात सुन कर राजा चण्ड-प्रद्योत सहमत हो गया । और बिना कुछ विलम्ब किये अपनी चतुङ्गिणी सेना को ले जाकर उसने रौरवपुर नगरको चारों ओर से घेर लिया तथा सालंका नामकी दासी को प्रभावती के पास भेज दिया । वह प्रभावती के पास आकर कहने लगी ॥२११॥

एम्मरसं माळवपति
सम्मतमप्पंतु निमगे सुखमप्पंति ।
न्नेम्मं निम्मडियल्लिगे
तां मुददिंदट्टिदं महोत्सवदिंदं ॥२१२॥

अर्थ–हे देवी ! तुम्हारा भाग्य कितना सुन्दर है । मालवपति तुम्हें लेने आये हैं । वे महान् प्रचण्ड राजा हैं । उन्होंने तुम्हारे लिए अतुल सम्पत्ति भेजी है । आपको सुख और ऐश्वर्य मिले, राजा यही चाहते हैं । उनके मन में तुम्हारे प्रति अनन्य प्रेम है । वे तुमको हृदय से चाहते हैं । इसलिये उन्होंने मुझे तुम्हारे पास भेजा है । मैं जो कुछ निवेदन करूं, वह तुम ध्यान-पूर्वक सुनो ॥२१२॥

अंतिं तेन्नदे पलवं
चिंतिसदे पोडपनुडुगि निमगं तमगं
संतसदिंदं सुखमं
प्पंतिर कैकोळवुदम्म नुडियं नयदिं ॥२१३॥

अर्थ–मनमें यद्वा तद्वा विचार न करके, मैं स्व-पर के हितकारक वचन कहती हूं । मैं जो बातें कहूं, उसे सुन लें ॥२१३॥

एंदोमेये तम्म कार्यमं पेळदे विनदिंदुचितवचनं गळिं नुडिदु बळयं तम्मरसन महिमेयनिंतेंदु पोगळदं ॥२१४॥

अर्थ–प्रभावती कहने लगी–तू क्या कहना चाहती है और तू किस कार्य से यहां आई है ? तब सालंका ने इधर उधर की बातें करके उचित सम्मान-पूर्वक बोली और बाद में अपने राजा की प्रशंसा करने लगी ॥२१४॥

सिरिगेम्मरसं मघवन
दोरेयरुमं भरतराजनन्नरुमं खे- ।
चरपति यन्न रुमं दे-
वराज नन्नरुम नेळिदं गेय्दिर्पं ॥२१५॥

अर्थ—ऐश्वर्यमें हमारे राजा इन्द्रसे भी बड़े हैं। इनकी महिमा खेचरपति भरतकी तरह फैली हुई है। रूप में इन्द्र के समान हैं। कोई भी इनके समान प्रतापी नहीं है ॥२१५॥

अनुपम भरताधीश्वर-
जनुजनमं संद कामदेवनुमं रू ।
पिनोळादं मंगिसि त
ज्जनपं कैकोळ्ळनोवनं वरिणपोडं ॥२१६॥

अर्थ—हमारे राजा का रूप प्रथम कामदेव बाहुबली देव के समान है। ऐसे राजा की पटरानी बनना बड़े भाग्यकी बात है। ऐसे राजा का वर्णन कौन कर सकता है और ऐसा असाधारण भाग्य किसका है ॥२१६॥

सुरभूरुहमुमनग्गद
सुरभियुमं चौगगंणदोळम्मरसं त्र ।
स्तरियाडुवनेंदोडे पो
पोल्वरारो मत्तिन महीभुजर्लोभात्मर ॥२१७॥

अर्थ—कल्पतरु से भी अधिक उनके शरीर में सुगन्धि है। उनकी तुलना कर सके, ऐसी कोई वस्तु नहीं है। ऐसी हमारे राजा की महिमा है ॥२१७॥

परदेशाधीश्वररे
म्मरसन पेसगोंडोडळिक मयर्दिदं बे ।
ळ्ळरलेबोलोडु वरातन
विरुदं मार्कोळव गंडरार् वसुमतियोळ् ॥२१८॥

अर्थ—अन्य देशों के राजा हमारे राजा का नाम लेते ही भयभीत हो जाते हैं। उनका

प्रताप और शक्ति अगाध है । इनके समान ऐसा कोई प्रतापी नहीं है, जो कि उनके सामने ठहर सकता हो ॥२१८॥

एंदु पोगळवुदुं, प्रभावती महादेवि नक्कु "बहुरत्ना वसुन्धरा" एंदु लोकदोळ् कविगळुं चागिगळुं ओर्वरोर्वगें नडियगें निडियरोळरदेनपुर्वमन्नेगं निम्म बंद कार्यमं पेरेमेने, पेर्गडेगळिं लेंदर् ॥२१६॥

अर्थ—इस प्रकार सालंकारा दूती अपने राजा की प्रशंसा कर रही थी । उसको इस प्रशस्तिको सुनकर प्रभावती हँसकर कहने लगी इस पृथ्वीमें अनेक रत्न हैं । यहाँ अनेक कवि और राजा एकसे एक बढ़कर हैं । किन्तु तुम मुझे पहले यह बताओ कि तुम किस कामसे यहाँ आई हो, मुझे और वर्णन नहीं चाहिये । तब सालंकारा कहने लगी ॥२१९॥

तरळाक्षि निम्म रूपं
बरेयुत्तुं पटदोळम्म महिपतिगदन ।
च्चरियागि तोरुवुदुमे
स्मरसनदं कंडु सोल्तु विरहानळनिं ॥२२०॥

अर्थ—हे तरलाक्षी ! कमलाक्षी ! जो तुम्हारा रूप चित्रपट में लिखकर हमारे राजा के हाथ में दिया गया है, उसको देखकर राजा काम-विह्वल हो गये हैं और तुहारे ऊपर वह आसक्त हो गये हैं । दिन रात तुम्हारे ही ध्यान में लीन रहते हैं । इसलिये मैं तुम्हारे पास आई हूं कि तुम उनकी काम-वेदना को शान्त करो ॥२२०॥

वेंदु नोंदु तां प्रतापियप्पुदरिं दत्तिबंदनिल्लिसेरगं पार्व गंडनल्लि: निम्मडि मत्तोंदुं बगेयदे बेगमेम्मरसंगे मनोनयन वल्लभे यागिपुदेने प्रभावतियिं तेंदळ् ॥२२१॥

अर्थ—ऐसा प्रतापी राजा मन में दुखी होकर तुम्हारे लिये आया है । अन्य कोई पुरुष तुम्हारा पति होने योग्य नहीं है । मैं तुमको स्पष्ट बताऊं, कि तुम उनकी पट्टरानी बनकर संसार के भोग भोगो । वह चित्रपट नारायणदत्ताने राजा को दिया है तुम उनके साथ चल कर सांसारिक सुखों को भोगो ॥२२१॥

परवनितेगेरगिदातं
गुरुमुददिं नोडकेदु बेसकेय्यवु नि- ।

ष्ठुरतेयिनेंदोडे चिः स

त्पारुष परवनिते गेरगे परवनिते वलं ॥२२२॥

अर्थ–प्रभावती कहने लगी कि परस्त्रियोंकी ओर झुकने वाले मनुष्य, और पूज्य देव गुरु शास्त्र की आज्ञा को भंग करने वाले एवं उन देव शास्त्र गुरुको नमस्कार न करके परस्त्री में लंपट व्यक्ति भला सज्जन कहलायेंगे ? क्या ऐसे मनुष्य कभी धर्म की ओर रुचि कर सकते हैं, सज्जन मनुष्य कभी भी परस्त्री-लम्पट नहीं होते । तुम्हारा राजा यदि परस्त्रियों के प्रति दृढ़ताके साथ उदासीन होता तो वह मेरे ऊपर आसक्त न होता, अतः तुम्हारा राजा सत्पुरुष नहीं है ॥२२२॥

[अदु कारणदिं निम्म रसनहोडे महापुरुषनिं तप्पुदक्के बयसलागदु]

एंबुदु मवरिं तेंदर् ॥२२३॥

अर्थ–इस कारण तुम्हारा राजा महापुरुष नहीं माना जा सकता । तब दूती कहने लगी ।

दिवदोळ् भोगिपेनेंदि

भवद महासौख्यमेल्लमं किडिसि शरी- ।

रवनोक्कु कुदिदु केम्मने

सवणमरुळगोल्लदरसि सुखमने वगेया ॥२२४॥

अर्थ–स्वर्ग में जो सुख मिलते हैं, वे सुख इसी लोक में हमारे राजा के पास हैं । आप को वे सुख और इन्द्रिय भोगों को ठुकराना नहीं चाहिए । सांसारिक सुखों की अवहेलना करके मायावी साधुओं के बहकावे में आकर अज्ञानसे परलोक-सम्बन्धी सुखों की आकांक्षा करना बुद्धिमानी नहीं है ॥२२४॥

एबुदु प्रभावतियिंतेंदल् ॥२२५॥

अर्थ–इस बात को सुनकर प्रभावती बोली-॥२२५॥

खळरं पादरिगरनी

गळे नोडिरे कंडोडदसि जडिवर्बडिवर् ।

मुळिसिं कोळ्वर् नरक

क्किळवुदनिंबागि तोरि सारूव तेरदिं ॥२२६॥

अर्थ–दुष्ट लोगों को, परस्त्री-लम्पटी पुरुषों को आज भी इस लोक में दण्ड मिलता है

और नाना प्रकार की वेदनायें सहनी पड़ती हैं। उनको अनेक प्रकार से दण्ड मिलते हैं, उनके हाथ पैर काट दिये जाते हैं, उनकी नाक काट ली जाती है, और मरने के पश्चात् उन्हें नरक की वेदना सहनी पड़ती है ॥२२६॥

[अदरिं पादरं कष्टमेने पेर्गडेगळिंतेंदर् ॥२२७॥

अर्थ—इसलिये परस्त्री पर आसक्त होना इह-परलोक में अत्यन्त कष्टदायक है। तब दूती उत्तर देने लगी ॥२२७॥

तडेयदे नीनेम्मरसन
नोडगूडोड गूडलोल्लदक्कोदं ।
नुडियुत्तिर्दोडे कडेयोळ्
कडुचपळन गोणे बरिदेयादं तक्कुं ॥२२८॥

अर्थ—यदि तुम इस प्रकार की बहाने-बाजी करोगी तो तुम्हें अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ेगा। अतः तुम्हें उचित यही है कि तुम हमारे राजा के पास जाकर स्वेच्छा-पूर्वक भोग भोगो। यदि तुम राजा की इच्छा के प्रतिकूल चलोगी तो राजा तुम्हें मारे बिना नहीं रहेगा। अतः मेरी बात मानो और अपनी चतुराई मत बघारो ॥२२८॥

एने प्रभावती महादेवियिं तेंदळ् ॥२२९॥

अर्थ—तब प्रभावती रानी बोली कि······॥२२९॥

मरणक्कंजदे गुणमं
परिहरिसदेस शीलरत्नमं रक्षिसि स ।
त्तर सावु सावे शीलम
नुरवणिर्यि बिट्ट खळर बाळुं बाळे ॥२३०॥

अर्थ—मैं मरण से डरकर अपने शील को नहीं छोड़ सकती। मृत्यु तो हर एक के लिये अनिवार्य है। उससे डरनेको क्या बात है। मैं मर जाऊँ तो क्या है, अपने शीलको छोड़कर जीवित रहनेसे मुझे क्या लाभ है ? जो शील-रत्नका परित्याग करके जीवित रहना चाहते हैं, क्या उनका भी कोई जीवन है ? मैं मरूँगी भी, तो अपने शील सहित ही मरूँगी। शील से भ्रष्ट होना अपने परलोक को नष्ट करना है ॥२३०॥

एने साळंकारनिंतेंदं ॥२३१॥

अर्थ—सालंकारा यह सुनकर बोली-॥२३१॥

उडुवुदु दिव्यांबरमं
तुडुवुदु भूषणमनुरबुदोळ्ळुणिसं तां।
पडेदोडे दोरेकोंडोडवं
बिडुवुददें केळ् परत्रेयं कंडवरार् ॥२३२॥

अर्थ—तू मूर्ख प्रतीत होती है नाना प्रकार के वस्त्र आभूषण, मिष्टान्न भोग सामग्री आदि को छोड़कर परलोक की इच्छा करना व्यर्थ है। परलोक को किसने देखा है ? भविष्य के भोगोंकी आशामें वर्तमानके प्राप्त भोगोंको ठुकरा देना क्या बुद्धिमानी कही जा सकती है ?

एने सम्यक्त्वरत्नाकरेयिंतेंदळ् ॥२३३॥

अर्थ—यह सुनकर सम्यक्त्व-रत्नाकर प्रभावती रानी कहने लगी······॥२३३॥

कुरुडं मुंदिर्दिभमुम
नरडिल्लदे काणदंते दुरितोदयदिं।
नरकं भोगलिर्दवरुं
परत्रेयं काणरेंबुदेनच्चरिये ॥२३४॥

अर्थ—अन्धे मनुष्य को जिस प्रकार सामने की वस्तु नहीं दिखाई देती, उसी प्रकार जिनके पाप का तीव्र उदय है और जिन्होंने नरक का बन्ध कर लिया है, क्या उन्हें कभी परलोक दीख सकता है ? ॥२३४॥

दूती बोली—

अनेक अज्ञानी लोग 'परलोक नहीं है, मोक्ष नहीं है। जीव नहीं है, पुण्य-पाप, पुनर्जन्म नहीं है,' इस प्रकार अनेक तरह की कल्पनायें करके अपना मत प्रकट करते हैं। दूसरे लोग इन बातों को सत्य मानते हैं। इस प्रकार अनेक प्रकारके मत और मान्यतायें संसार में प्रचलित हैं। उनमें से किनको सत्य माना जायगा। तू व्यर्थ ही लोक-परलोक के पचड़े में पड़ गई है।

संसारमें श्रुतियां अनेक हैं, स्मृतियां अनेक हैं, ऋषि-मुनियों की मान्यतायें अलग-अलग

हैं। ऐसा एक भी मुनि और महर्षि नहीं है जिसका वचन-प्रमाण होवे। वेदान्त दर्शन एक पर-ब्रह्म मानता है और संसार को माया मान कर उसकी उपेक्षा कर देता है। योगदर्शन कैवल्य प्राप्ति और जीव की मुक्ति स्वीकार करता है। न्याय और वैशेषिक "संसार का कर्ता ईश्वर है," ऐसा मानते हैं तथा उस ईश्वर की इच्छाके अधीन संसार की सारी गति विधियाँ स्वीकार करते हैं। मीमांसामत देवों को प्रसन्न करनेके लिये यज्ञों पर जोर देता है और अधिक से अधिक स्वर्ग की कामना करता है। सांख्य दर्शन ईश्वर का निषेध करके संसार-रचना का कारण केवल प्रकृति को ही मानता है। बौद्ध दर्शन 'संसार का कोई कर्ता है, इस बातका निषेध करके संसारको क्षणभंगुर मानता है। भौतिकवादी चार्वाकमत ईश्वर, जीव, परलोक आदि की कल्पना को मिथ्या मानता है। उसकी मान्यता है कि यह संसार पंचभूतों का पिण्ड है। जीव भी पंचभूतों की उपज है। पंचभूतों का विघटन जीव की मृत्यु कहलाती है। जैनधर्म संसारको अनादि अनन्त तथा च छह द्रव्यमय अनादि अनिधन अकृत्रिम मानता है। वह जीव, उसके शुभ-अशुभ कर्म, कर्मोंसे मुक्ति, पुनर्जन्मको मानता है।

इस प्रकार संसार में सब की बुद्धि भिन्न भिन्न है। सब अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार नाना प्रकार की कल्पनायें करते रहते हैं। किन्तु यह कौन निर्णय कर सकता है कि इनमें से किसकी मान्यता सही है और किसकी गलत है?

अर्थ—अतः तुम्हें लोक परलोक की मान्यता की उलझन में नहीं पड़ना चाहिये। वर्तमान में जो भोग और सुख प्राप्त हो रहते हैं, वे सत्य हैं। आगे मिलेंगे, ऐसी आशा में वर्तमान के सुखों को छोड़ देना क्या उचित है? गोद के बच्चे को ठुकरा कर पेट के बच्चे की आशा करना बुद्धिमानी नहीं है ॥२३५॥

जळजमुखि पलवुमातं
गळपदे मद्वल्लमंगे वल्लमेयागी।
पोळलं नाडं किडिसदे
कळकुळमं प्रजेगे माडदीगळ् बेगं ॥२३६॥

अर्थ—हे कमल मुखी! अनेक प्रकार की बातें न करके हमारे राजा की प्रिय पट्टरानी बनो। और सुखपूर्वक अपने जीवन को सार्थक करो। यह राज्य, सम्पत्ति, ऐश्वर्य सब तुम्हारे अधीन रहेगा। सारी प्रजाको सन्तुष्ट करो और उसको अधिपत्नी बन जाओ। अब विलम्ब न करके पटरानी का पद अंगीकार करो ॥२३६॥

परिसुगुमिल्लि भोगंरेव नेत्तर पेर्वोनलं धगद्धगें
दुरिसुगुमुग्र कोपशेखियिं पुरमेल्लमनट्टि मेट्टि सं
यरदोळनेकरं तरिदु खंडदोळिंडेयनाडुगं मनो
हरे बिडु निन्नदर्पमनवंगिदिरागि बदुं कुबन्नरार् ॥२३७॥

अर्थ–देवी ! राजा का प्रताप तुम्हें मालूम नहीं है। इनके समान कोई प्रतापी राजा नहीं है। जैसे हाथी के गण्डस्थल को फाड़ कर सिंह उसका रक्तपान करता है। इसी प्रकार सारे राजाओं का हृदय विदारण करके हमारा राजा उन पर अपना आधिपत्य जमा लेता हैं। सम्पूर्ण राजा उसके नाम से कांपते हैं। उनका क्रोध भयंकर है। बड़े-बड़े योद्धाओं को वे चरणों से ठुकरा देते हैं। अतः तुम अपने धर्म को छोड़ दो। यदि राजा कोपायमान हो जाय तो उनके क्रोध से तुम्हें छुड़ाने वाला इस संसार में कोई नहीं है। यदि तुम राजी से पटरानी नहीं बनती हो तो राजा तुम्हें जबरवस्ती ले जायगा। अतः तुम अपनी हठको छोड़ दो ॥२३७॥

एंदु मयमं तोरि नुडिये, वनितारत्ने यिंतेंदळ् ॥२३८॥

अर्थ–सालंकारिणी ने इस प्रकार रानी को अनेक प्रकारके भय दिखाये किन्तु वह उन भयों से डरने वाली थोड़ी थी, दूती की बांतों का उत्तर देते हुए पण्डितारत्न प्रभावती कहने लगी ॥२३८॥

धरणेजेयनुद्द लंका
पुरेशनं तप्प गंडरु सत्तर् नि-
त्तरिसदेने केळ मत्तिन
धरेयरसर् परवधु प्रियर् नळदपरे ॥२३९॥

अर्थ–सम्पूर्ण पृथ्वी के विद्याधरों में श्रेष्ठ और सारी पृथ्वी जिसके नाम से कांपती थी, ऐसा लंकाका पति रावण था लंकापति। रावण भी परस्त्रीके अपहरण के कारण मृत्यु को प्राप्त हुआ था। तेरा राजा क्या रावण से भी बलवान है ? पर-स्त्री में लंपटताके कारण कोई भी बलवान राजा जीवित नहीं रहा। तब फिर तेरे राजा की बात क्या है। अतः तेरे राजा को यहाँ से चला जाना चाहिये। मेरे पति की अनुपस्थिति में तेरा राजा पर-स्त्री के अपहरण के लिये आया है, उसे सज्जन कहा जायगा या स्त्री-लंपट ? उसे स्वयं

विचार करना चाहिये ॥२३६॥

एंबुदु साळंकारं मुनिदु एन्न मातं केळ लोल्लद फलवं तडेयदे काण्णैयेंदु पोरमट्टु पोदनन्नेगमग्रसेननेंब दंडाधिपं कोटेयं बलिदु कादुवसमकट्टिदिर्पुदुं प्रभावती महादेवि ॥२४०॥

अर्थ—दूती इस बात को सुनकर फुंकारती हुई बोली—अच्छी बात है। तुझे अपनी हठ का जल्दी ही फल चखने को मिलेगा। यह कहकर वह क्रोध में भरकर वहां से चली गई और जाकर राजा से सारा हाल कह दिया। राजा ने अपने सेनापति को आक्रमण करने की आज्ञा दे दी। सेनापति दुर्ग पर आक्रमण करके प्रजा को कष्ट देने लगा। तब रानी प्रभावती अपने शील धर्म की रक्षा के लिए उपाय सोचने लगी ॥२४०॥

पिरिदुं बलस्थनिवनी
धुरदोळ् निल्वन्नरिल्लमद्वल्लभनुं ।
परदेशदोळिर्दपनिं
दरिदार्त्तेंळिक कांतं तळवेळगादळ् ॥२४१॥

अर्थ—इस समय उसका मुकाबला करने के लिए कोई बलवान पुरुष मेरे पास नहीं है। मैं बाहर जा नहीं सकती। मेरे पति परदेश गए हुए हैं। सेना भी पर्याप्त नहीं है। तब क्या करना चाहिए, रानी यह सोचकर बड़ी चिन्ता में पड़ गई ॥२४१॥

आनीगळ्] जिनपूजेयं माडि, घोरोपसर्गमिदु पिंगुविनं आहारशरीर-निवृत्ति यंदु कैयनिक्किकोंडिर्दळन्नेगं ॥२४२॥

अर्थ—तब मेरे पास भगवान की शरण में जाने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है जब तक यह उपसर्ग दूर न हो तब तक मेरे आहार, शरीर और समस्त भोगोंका त्याग है। इस प्रकार रानी चारों प्रकार के आहार का त्याग करके ध्यान में निश्चल बैठ गई। इसके पश्चात् क्या होता है ॥२४२॥

पोन्न विमानमनेरि म
होन्नतियिं देवलोकदिं मेरुनग ।

क्कान्नयदिंदं पोगुते

सन्नु तजेनभवनमेल्लमं पुजेसिदें ॥२४३॥

अर्थ—एक देव स्वर्ण विमान में बैठकर अत्यन्त उल्लास के साथ सुमेरु पर्वत के दर्शन करते हुए मार्ग के मंदिरों के दर्शन-पूजा करके लौटा ॥२४३॥

पुजिसि मत्तं नंदीश्वरद्वीपमं काणलेंदु भक्तियिं पोगुत्तिरलेन्न विमानमावुरद मेले पोगदे कीलिसि निल्वुदु. अवधि-लोचनदिनी-सतिगादुपसर्गमनरिदु ॥२४४॥

अर्थ—पुनः नन्दीश्वर द्वीप के दर्शन करने की इच्छासे भक्तिपूर्वक विमान में आकाश से जा रहा था, जब वह रौरवपुर नगरके उस जिन मंदिरके ऊपरसे जाने लगा, जिसमें कि प्रभावती रानी आहारका त्याग करके बैठी हुई थी, तो विमान रुक गया। तब देवने अवधि-ज्ञान द्वारा पता लगाया कि मेरा विमान यहां क्यों रुक गया है। तो उसको ज्ञात हुआ कि रानी प्रभावती के ऊपर उपसर्ग आया है। यह जान करके तुरन्त नीचे आकर ……॥२४४॥

मुळिसागे माळवेशन

बळमेल्लमनुय्दु पुडुकुनिरळदु वेनें [?]

बळमागि मत्ते माणों

तिळिदां सद्दृष्टियप्प कारणदिंदं ॥२४५॥

अर्थ—उसने अत्यन्त क्रुद्ध होकर मालव नरेश चण्डप्रद्योतकी सेनाको अपने विद्या-बलके द्वारा उठाकर दूर देश विदेश में फेंक दिया। देव के क्रुद्ध होने का कारण उस सम्यग्दृष्टि-रानी प्रभावती पर उपसर्ग था। सम्यग्दृष्टि पर कष्ट आने पर देव भी सहायता करते हैं।२४५।

[अंतु करुणिसि चंडप्रद्योतन बलमेल्लमं] महावायु तरगेलेय नेत्तुवंनेत्ति कोंडुय्दुज्जयिनिय महाकाळ दोळिरिसि ॥२४६॥

अर्थ—इस प्रकार चण्डप्रद्योत राजाके दल बलको उड़ा दिया, जैसे कि प्रचण्ड वायु द्वारा घास फूंस उड़ जाता है। उसे उड़ाकर उज्जैनी के महाकाल मंदिर में रख दिया ॥२४६॥

ईरमणेय शीलमनिद

नारय्यल्वेळकुमेंदु तद्‌भुमिपना।

कारमेने कोंडु पुरमं
वारिधि योल्सुत्ति मुत्तिकोंडुग्रतेयिं ॥२४७॥

अर्थ—तत्पश्चात् प्रभावती रानीकी परीक्षा करनेके लिये उसने चण्डप्रद्योत राजाकी तरह नगर को घेरकर उग्ररूप धारण किया ॥२४७॥

पोरलेल्लमं मायानिद्रेयोळिक्कि [चतुरंग बलमं विगुर्विसि कोंटेयं कोंडु] २४८

अर्थ—सारी प्रजाको मायामयी निद्रामें सुला दिया और माया द्वारा अपनी सेना तैयार करके किला तैयार कर दिया ॥२४८॥

उरिवंते पुरवरं सं
गरदोळ् केडेवंते पर्वलं बीदिगळ्ळ् ।
परिमंते रक्तमवनिप
नरमनेयं सुट्टु सूरेगोळवंते भटर् ॥२४९॥

अर्थ—माया द्वारा बड़े बड़े शूरवीर तैयार कर दिये। माया से सारे मकान जलने लगे, योद्धाओं का युद्ध दिखाकर कहीं मनुष्योंको मरा हुआ और खून बहता हुआ दिखाया ।२४९।

चमत्कारमं माडि भयमुमद्भुतमुमागे प्रभावती महादेवियल्लिगेवंदु मुंदे निंदिदु ॥२५०॥

अर्थ—इस तरह अनेक प्रकारका चमत्कार दिखाया। रानीको अत्यन्त भयभीत करनेके लिये वह देव राजा चण्डप्रद्योतका रूप धारण करके रानीके सामने आ गया ॥२५०॥

एनगिदिरांपवरार्मे
दिनियोळ् नां मुनिदोडं जवं मुळिदोडमु ।
र्विनोळांतु सेणसि कादुवे
जनपंगेटेर्देये मरुळ नीनेत्तरिदौ ॥२५१॥

अर्थ—कहने लगा कि मेरे सामने आनेका साहस किसी योद्धामें नहीं है। तुम आंख खोल कर देखो, तुम्हारा नगर जल रहा है, तुम्हारे सब योद्धा समाप्त होगये हैं और सारा नगर बीरान हो गया है। अब भगवानके सामने आंखें बन्द करनेसे कोई लाभ नहीं है। तुम्हारा पति भी पकड़ा गया है। अब तुम्हें बचाने वाला कोई नहीं है ॥२५१॥

मत्तं] निन्न प्राणवल्लभनप्पोद्दायनमहाराजन विंकमं सुकंगोंडु वीरमं दूरमाडि [बेळूळरलेयं बेंगोंवंते तगुळदु] पिडिदुकोंडु कोडगगट्टुगट्टितंदें; नबेंयप्पोडे [यिवनं नोडेंदेने कांते] ॥२५२॥

अर्थ–हे देवी ! तेरे प्राण-बल्लभ उद्दायनको मैंने समाप्त कर दिया है। अब तुम उसकी आशा त्याग दो। जैसे फूंसमें आग लगती है, उसी प्रकार मैंने उसे मार डाला। जैसे बन्दर को बांधकर लाया जाता है, उसी प्रकार उसे मैं बांधकर लाया हूं ॥२५२॥

एन्नाएम नदटनुडुगिसु
वन्नपेंररोळरे गंडरवनीतळदोळ् ।
पन्न गनीकडुदुर्जन
नेन्नं नुडिसल्लेवेडि मरुगिपनरिवें ॥२५३॥

अर्थ–मेरे समान ससार में कोई योद्धा और प्रतापी नहीं है और मेरे सिवाय तेरा और कोई पति बनने योग्य नहीं है। तुम व्यर्थ का परिश्रम छोड़ो और आंख खोलकर देखो। तुम इस शरीर को व्यर्थ ही कष्ट देख रही हो ॥२५३॥

[ईतनोडने मारियुं वळारियुं नुडिगे यानेनंमाडिदोडमेन्न शीलमनेगेय्दुं किडिसुवे नल्लेंदु परमजिनचरणमने मनदोळ ताळिद पंचनमस्कारमनोदुत्तुं मुन्निन महापुरुषरकथेगळं भाविसुत्तुमिरे] ॥२५४॥

अर्थ–देव को इस प्रकार की बातें सुनकर प्रभावती सोचने लगी कि इससे बात करना व्यर्थ है। मैंने जो शीलव्रत ले रक्खा है, अपने प्राण जाने पर भी मैं उसे नहीं छोडूंगी। मरना तो वैसे भी है। इस समय तो मुझे जिनेन्द्र देव के चरणों के अतिरिक्त और कोई शरण नहीं है। यह सोचकर रानी जिनेन्द्र प्रभुके गुणोंका स्मरण तथा महापुरुषोंकी कथाओं का स्मरण करने लगी ॥२५४॥

निन्नु रिपदिंदे पुरवर
मन्नाडुं केट्टु मोट्टनाददु मत्तं
निन्नाणमंगिविधिया
यितन्नि रवेडेन्नोरळूकरिंदं कूडा ॥२५५॥

अर्थ—देव कहने लगा, तेरे कारण देश नष्ट होगया, राज्य नष्ट होगया और प्रजा नष्ट हो गई। अब तू जीवित रहकर क्या करेगी। अब तुम किसी बातका विचार न करके एक बार आंख खोलकर मेरा रूप तो देख लो और प्रेमपूर्वक मेरे साथ विवाह करके पटरानी बनकर आनन्द करो ॥२५५॥

आनळिपुवन्नरोळरे
मानिनियर्निन्न पुण्यदिंद् नीरे।
जाननेयांदोरेकोंडें।
हीननेयं बिसुडु मोहदिं कूडेन्नोळ् ॥२५६॥

अर्थ—हे मानिनी! अब तुम्हारी रक्षा करने वाला कोई नहीं है। पूर्व पुण्य से तुम मुझे प्राप्त हुई हो और तुम्हारे पुण्यसे तुम्हें मैं प्राप्त हुआ हूँ। हे बुद्धिमती! तुम मेरे लिये तिरस्कार की भावना छोड़ दो और मेरे साथ प्रेम-पूर्वक रहकर भोग करो ॥२५६॥

पति बंदपनेंबासेयो
ळतिशर्दिदिर्पेयप्पोडं निन्न मही-।
पतियुमनां पिडिदें सित
मतमं बिट्टेन्नोळळकरिंदं कोडा ॥२५७॥

अर्थ—तुम्हें अपने पति के आने की जो आशा है, उसे तुम छोड़ दो। मैंने तुम्हारे पति को पकड़ कर रक्खा है। तुम उसकी आशा छोड़ कर मेरे साथ आनन्दपूर्वक भोग करो।

तरुणत्वयसिनोळ् मेच्चिद
पुरुषरोळूडगूडि कालमं कळपदे पं-।
केरुहाक्षि शीलमं पिडि
दुरवरिर्यि बंद सुखमनेडेयोळ् किडिपों ॥२५८॥

अर्थ—इस तरुण अवस्था में मनोभिलषित पुरुषके साथ भोग न करके हे कमलनेत्रे! आगे के सुख की अभिलाषा करना और शील पालना मूर्खता है ॥२५८॥

[एंदु नानाप्रकारदिं नुडिदोडं मानुडियदिरे मेच्चि मनदोळ् पोडेमट्टेन्न दिव्यस्वरूपमं तोरि निम्मुपसर्गं पोय्तु कैयनेत्ति कोळ्ळेंदु पुरदोळगण माया-

निद्रेयं माणिसि विगुर्वणेयनुडुगिसि सुरतरुकुसुमदिं पूजेसि शीलवतियेंब मांगल्यनाममनिट्टु देवलोकक्के पोदेनीवनितारत्नं केवलमल्लेंदु पोगळ्दु तदनंतरं] ॥२५६॥

अर्थ—इस प्रकार देवने रानी को शीलसे डिगाने के लिये परीक्षा की। किन्तु रानी ने उसको एक भी बातका उत्तर न दिया। तब रानीको शीलमें अडिग देखकर उस देवने अपना दिव्य रूप प्रगट किया और कहा कि हे देवी ! अब तुम्हारा उपसर्ग दूर हो गया। तुम आंखें खोलकर देखो। मैं देव हूँ। उसने माया से सुलाई हुई प्रजा को जागृत कर दिया और वह रानी के चरणोंमें झुककर स्तुति करने लगा। पश्चात् कल्पवृक्षके फूलों से उसकी पूजा करके 'शीलवती' यह मंगलमय नाम रक्खा। "यह नारी-रत्न साधारण नहीं है, यह बड़ी चमत्कारिणी है" ऐसी स्तुति की ॥२५९॥

विविधरतुनंतळिदो
प्पुव सिंहासनमनागळाक्षणदिं त-
द्दिविजं माडि धरित्री
रमणननरसियुमनिरिसि पिरिदुत्सवदिं ॥२६०॥

अर्थ—तदनन्तर रत्नमय सिंहासनका निर्माण करके उस पर रानी प्रभावती को बिठाया और सारे नगर में अनेक प्रकार का उत्सव किया ॥२६०॥

अरल मळ करेये भोरेने
सुरदुंदुभिमोळगे तेंकणिलरसगे मनो- ।
हरमागे मृदुनिनादं
करमेसेदिरे पाडे देवियर्मंगळमं ॥२६१॥

अर्थ—स्वर्ग से अनेक देव आकर आकाश से रत्न-वर्षा करने लगे, दुन्दुभि बाजा बजाने लगे और रानी की अनेक प्रकार की स्तुति मंगल गान करने लगे ॥२६१॥

सुरुचिररत्न दिनोप्पुव
सुरर विमानंगळ्ंदु तितिणियिंदं ।

वरमेल्लं तीविदु दु
नरनाथन कीर्तिलतेयपुगळ तेरदिं ॥२६२॥

अर्थ—सुन्दर रत्नों से सुशोभित अनेक विमान लगातार आकर वहां पर इकट्ठे हो गये, मानो राजा की कीर्ति ही वहाँ आ सिमटी हो ॥२६२॥

अंतु जनमेल्लं बेरगागे जिनभक्तियेंब बेळसिन राशियं तोर्पंते पाल समुद्रदनीरिं दभिषेकं माडि पूजिसि सम्यक्त्व-चूडामणियुं वात्सल्यरत्नाकरनुं सुकविनिकरपिकमाकंदनुं सहजकवि-मनोहरोद्यान कळहंस कळकंठनुमेंबि प्रशस्तनामंगळ निट्टु तणे युंड भूतदंते पलतेरद पोगळेतगळिं पोगळदु वासवं दिविजनिवासक्के पोदनिंतु ॥२६३॥

अर्थ—आकाश में देव दुन्दुभि, मंगल गान और विमान देखकर सारे नगरवासी बड़े आश्चर्य में पड़ गए और सोचने लगे कि क्या तीर्थङ्कर भगवान के कल्याणकका ही अवसर आ गया है ? उसने रानी का अभिषेक किया और सम्यक्त्व-चूड़ामणि, वात्सल्यरत्नाकर आदि उपाधियोंसे उसे विभूषित किया । सुकवि-निकर-कोयलोंके लिये वसन्त ऋतुके समान, सुकवि रूपी उद्यान में निवास करने वाले कलहंस के समान, कवि-कंठ में हार के समान सुशोभित होने वाले आदि विरुदावलियों से वे स्तुति करने लगे । इस प्रकार उसकी स्तुति करके वह देव अपने स्वर्ग को चला गया ॥२६३॥

पुरुवरतुनं पुरातन
चरितं जिनचरणकमलभृङ्गं सत्या- ।
भरणं दयांबुनिधि मं-
दरधैर्य नृपकिरीट-घट्टित-चरणं ॥२६४॥

अर्थ—देवके समान प्रजा भी उसकी स्तुति कर रही है कि पुण्य पुरुषोंमें आप एक हो । जिनचरण-कमलों के भौंरे के समान हो । सत्य आपका भूषण है, दया की सागर हो, सुमेरु पर्वतके समान धैर्यवान् हो । राजाओं के मुकुट आपके चरणों में झुकते हैं ॥॥२६४॥

धरे कोंडुकोनेदु बरिणपु
दरिदं गुणोन्न तियिनी महात्मं धरेग-

च्चरियागे भक्तियिंदं
सुररिंदं पुजेवडेद् निन्नरस्मोळरे ॥२६५॥

अर्थ—संसार उन राजा रानीके गुणों की, कीर्तिकी प्रशंसा करेगा, उनकी पूजा करेगा, देवतागण भी उनकी प्रशंसा कर रहे हैं, स्तुति कर रहे हैं, क्या यह साधारण दम्पती हैं ? ऐसी प्रशंसा लोग कर रहे हैं ॥२६५॥

एंदोद्दायनमहाराजनं लोकमेल्लं बंदे कोरळोळ् कोंडाडे [सद्‌गुणदोळ् कूडि] पलकालं राज्यंगेय्दोंदुदिवसं [तन्नोळिनेंदं] ॥२६६॥

अर्थ—इस प्रकार उद्दायन राजा के गुणों की एक स्वरसे प्रशंसा करके जो श्रावक नहीं थे, वे श्रावक बन गये, जो मिथ्यादृष्टि थे, वे सम्यग्दृष्टि बन गये। एक दिन उद्दायन राजा ने राज्य करते-करते मन में विचार किया ॥२६६॥

मतिगेट्टिन्नेवरं सं-
सृतियोळ् नां तोडदु मुट्टिगेट्टिदे सं-
सृतियं बिट्टिं नां नि-
वृ तियं साधिसुवुपायमं चिंतिसुवें ॥२६७॥

अर्थ—अरे ! मैं इस संसारमें अनादिसे भ्रमण करता रहा हूं। मैंने कभी आत्मोन्नतिका कार्य नहीं किया। मैं इन्द्रिय भोगोंमें ही पड़ा रहा। संसारमें ऐसा कोई भी स्थान नहीं रहा, जहां मैंने जन्म न लिया हो। अब मुझे इस संसारसे निवृत्तिका उपाय करना चाहिए।२६७।

तनुवप्पोडे निल्लदु ज-
व्वनमप्पोडे नीर बोब्बुळिके कडुगूर्प ।
गनेयर् नंटर् तनुभव-
रनुजादिगळप्परे शरणसावेडेटे योळ् ॥२६८॥

अर्थ—यह शरीर क्षणिक है और यौवन पानी के बुलबुलेके समान क्षणस्थायी है। ये बन्धु बान्धव और परिवार दुःख दूर करने वाले नहीं हैं और न ये मेरे लिये शरण हैं। ये तो कर्म-संयोग से एक स्थान पर आकर मिल गये हैं। किन्तु इनमें से कोई भी मेरी रक्षा करने वाला नहीं है ॥२६८॥

कहा भी है–

पिता योगाभ्यासो विषयविरतिः सा च जननी,
विवेकः सोदर्यः प्रतिक्षणदया सा च भगिनी।
प्रिया क्षान्तिः पुत्रो विनय उपकारः प्रियसुहृत्,
सहायो वैराग्यं गृहमुपशमो यस्य स सुखी ॥

संसारमें सुखी मनुष्य वही है, जिसका योगाभ्यास तो पिता हो, विषयोंसे विरक्ति हो जिसकी माता हो, विवेक भाई हो, दया बहन हो, क्षमा जिसकी पत्नी हो, विनय जिसका पुत्र हो, उपकार जिसका प्रिय मित्र हो, वैराग्य ही जिसका सहायक हो, शान्ति जिसका घर हो।

एंदु बगेदु संसारक्के पेसि [वैराग्यं पुट्टे तन्न] पिरिय मगनप्परिंजयंगे [राज्याभिषेकं माडि) धराभारम नोप्पिसि ॥२६९॥

अर्थ–इस प्रकार से विरक्त होकर राजा उद्दायन ने मन में वैराग्य भावना करते हुए अपने पुत्र अरिंजयका अभिषेक करके उसे राज्य भार सोंप दिया। चलते समय अपने पुत्रको व्यवहार नीतिकी बात इस प्रकार समझाई–॥२६९॥

धरेयं नोयिसदिर् जिनेश्वरपदांभोजातमं भाविसु-
त्तिर, जैनागमदोजेयिं नडे बुधव्रातक्के लेसागु मा-।
गदेरदिर्धर्ममनुग्ररं पिडियदिर् धूर्तादिदोपंगळं
भरदिं पोर्द्दिरोल्दु माडु मुनिसंदोळक्के नीनर्तियं ॥२७०॥

अर्थ–अपनी प्रजा के किसी मनुष्य का हृदय दुखी मन करना। समय समय पर उनकी सहायता करके उनकी रक्षा करना। राज्य में चोर बदमाशों को आश्रय मत देना। श्री भगवान जिनेश्वर के चरण कमलों में मग्न रहना और उन्हें स्मरण करते रहना। जिनेन्द्र देव के मार्ग में बाधा पहुँचाने वाले कार्य मत करना। उनके धर्म का आश्रय लेकर चलते रहना। बुद्धिमान मनुष्यों की भलाई करना। दुष्टों का निग्रह करना। किसीके साथ अधिक उग्रता का व्यवहार मत करना। धूर्त लोगों को राज्य में आश्रय मत देना। मुनियों के चरणों में नत रहकर उनके उपदेश पर चलना, मुनि-संघको सदा दान देते रहना।२७०।

एंदप्पैसि राज्यमं [कोळव दक्कं तोरेवंते] तोरेदु वीरस्वामिय पादमूल-दोळ् जिनदीक्षेयिं कैकोंडुग्रोग्रतपश्चरणदिंदष्टविधकर्मगळं निर्मोलं माडि-

निश्श्रेयस श्रीपोळ् कूडिदं शीलवतीमहादेवियु सुव्रतगंतियरल्लि दीक्षेयं कैकोंडु [करमरिदेनिसुव तपदोळ् नेगळ्दु) सन्यसनविधियं मुडिपि ब्रह्मकल्प-दोळपत्तुसागरोपमकालमायुष्यकमोडेय । (महर्धिकदेव) नागिपुट्टिदळ् ॥२७१॥

अर्थ–अपने पुत्रको छातीसे लगाकर उसे समझाया और सब घर बार छोड़कर भगवान महावीरके चरणों में दीक्षा ले ली । एवं घोर तपस्या करके केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया । तथा अष्ट-विध कर्मोंका नाश करके मोक्षको प्राप्त किया । शीलवती महादेवी प्रभावती रानी ने सुव्रता आर्यिका के पास दीक्षा ग्रहण करके घोर तपस्या की और पांचवें ब्रह्म स्वर्गमें दस सागरोमम की आयु प्राप्त करके महर्द्धिक देव हुई ॥२७१॥

अदरिं निर्विचिकित्सेये
विदितं कैवल्यसतिगे तिलकं सौख्या- ।
भ्युदयं समस्त दुष्कृत-
मदेभकेसरि गुणक्के रत्नद कलशं ॥२७२॥

अर्थ–इस प्रकार नयसेनाचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीवो ! जिस तरह राजा उद्दायन ने निर्विचिकित्सा अंग द्वारा मोक्ष-सुख प्राप्त कर लिया, और लोकाग्रशिखर पर विराजमान हो गया, इसी प्रकार आप भी निर्विचिकित्सा अंग को धारण करो ॥२७२॥

एंदु विर्विचिकित्सेयोळाद फलमं गणधर स्वामिगळ् पेळ्वुदुं ॥२७३॥

अर्थ–इस प्रकार निर्विचिकित्सा अंग के धारण करने का फल गणधर स्वामी ने कहा ।

धरणेस्तुत्यं गुणांयेनिधि जिनचरणांभोजनत्ताळि धात्री
धरधैर्यं वाग्वधूवल्लभनमळयशं निर्मलं निष्कषायं ।
वरभव्यांभोजसूर्यं निरुपम नोसेदं केळदु त्रैवैद्यचक्रे-
श्नरपादांभोज भृङ्गं सुकविजन मनः पद्मिनीराजहंसं ॥२७४॥

अर्थ–जगद्वन्दनीय, गुणों के सागर, जिनेन्द्र देव के चरण कमलों में लीन रहने वाले, सरस्वती रूपी वधू के पति, निर्मल यशवाले, कषायरहित, श्रेष्ठ भव्यजन रूपी कमलों के लिये सूर्य, ऐसे गणधर देव द्वारा कही हुई कथा को सुन करके भगवान के चरण कमलों के भ्रमर रूप, सुकविजन के मन रूपी कमलिनी के राजहंस मुझ नयसेनाचार्य ने यह कथा

भव्यजनों के कल्याण के लिये कही है । मुझे भी राजा उद्दायन के समान सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो ॥२७४॥

इदु निखिल दिविजपरिबृढमुकुट-तट-घटितमणि-किरण-विलुळित
चुंबनीय परम जिन-चरणयुगळ सरसिरुह-मत्त-मधुकर
निकर निरुपम सहज कवि जन मनः पयः
पयोधिहिमकर नुतभावयुत दिगंबरदास
नूत्न कविता विळास श्रीमन्नयसेन
देव विरचित मप्प धर्मामृतदोळ्
दर्शन-तृतीयांग-व्यावर्णनं
चतुर्थाश्वासं

अर्थ—इति निखिल दिविज-परिवृढ़मुकुट-तट-घटित मणि किरण विलुड़ित चुम्बिनीय परमजिन चरण युगल सरसिरुह मत्त मधुकर निरुपम सहज कविजन मनः पयः-पयोधि हिमकर नुतभावयुत दिगम्बर दास नूतन कविता विलास श्रीमन्नयसेन देव विरचित ऐसे धर्मामृत काव्य में सम्यग्दर्शन के तृतीयाङ्ग व्यावर्णन चतुर्थाश्वास पूर्ण हुआ ।



पञ्चम-आश्वास

श्रीमन्निर्विचिकित्सेय
मामेमेये मोक्षदल्लि गुय्यल् साल्गों ।
देमातो मनदोळ् सेदं
श्रीमहितं सुकविनिकरपिकमाकंदं ॥१॥

अर्थ—अन्तरंग और बहिरङ्ग लक्ष्मीको प्राप्त कराने वाले निर्विचिकित्सा अंगकी महिमा का कहाँ तक वर्णन किया जाय, सम्यक्त्व का यह अंग मुक्तिदायक है । जो इस अंग को दृढ़ता से धारण करता है, वह मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त करता है । ऐसी कवियों और भव्यजनों को प्रसन्न करने वाली कथा को राजा श्रेणिक ने सुना ॥१॥

अंतु [निर्विचिकित्सेयोळाद फलमं लेसागि अरिदु मत्तं गौतम स्वामिगळ् मगधनायकं पोडेमट्ट मुंदणमूढदृष्टिय कथेयं निम्मडि बेससल्वेळकु मेने गणधर स्वामिगळ् निर्वाण श्रीवनितेयं कुचदोळलंकरिसिर्द हारयष्टियिदेनिसुव अमूढदृष्टिय कथेयनिंतेंदु]+ पेळदरर् :—

जिनरंते (सिंहदंते) गरुडनंते कामनंते भोजनंते× कर्मभूमियंते मनुष्यनंते❀ संयतनंते महाव्रतं गळंते पांडुकुलदंते÷ ज्योतिर्मोकदंते व्याकरणदंते जोयिसदंते सप्तमतिर्यवरधरणेन्द्रनंते दर्शनमुं निश्शंकेयुं निष्कांक्षेयुं निर्विचिकित्सेयुं अमूढदृष्टित्वमुमेंबय्दरोहं कूडि शोभिसुवुदु ॥२॥

+ निर्विचिकित्सेयं केळ्दु मुंदणमूढदृष्टिय कथयं बेससुवुदेंबुदुमितेंदु (ग) × पागदंते सुभोजनंते संयमियंते (ग) ❀ जैनरंते संयत (ग) ÷ पंचशरदंते (ग)

अर्थ—राजा श्रेणिक निर्विचिकित्सा अंग का फल सुनकर मनमें अत्यन्त श्रद्धालु हुआ। फिर गौतमस्वामी से 'आगेकी अमूढदृष्टि अंगकी कथा को मैं आपके चरण-सान्निध्यमें सुनना चाहता हूँ,' ऐसी प्रार्थना की। तब श्री दृष्टि गौतम गणधर निर्वाण-लक्ष्मीके कुचोंको सुशोभित करनेवाले हारके समान अमूढदृष्टि अंगकी कथा इस प्रकार कहने लगे। हे राजा श्रेणिक! यह कथा भगवान जिनेन्द्र, गरुड़, सिंह, कामदेव, सुभोजन, कर्मभूमिज मनुष्य, संयमी, महाव्रती, पाण्डुकुल, ज्योतिर्लोक, शुद्ध व्याकरण, ज्योतिषी, और सप्तम तीर्थंकर सुपार्श्व नाथके तथा धरणेन्द्र के समान है और निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि ये अंग भव्य जीवों को शोभायमान करने वाले तथा मोक्ष को प्रदान करने वाले हैं। ॥२॥

मूढतेयं बिट्टु पेरर्
माडुव डोंबिगे बेग मेरगदे मूर्खर् ।
माडुवुदं लेसन्नेद
कूडुवुदारय्द मूढदृष्टियोळरिवं ॥३॥

अर्थ—मूढता को छोड़कर, दम्भी लोगोंके आडम्बरको स्वीकार न करना, मूढ लोगोंकी की बातों की प्रशंसा न करना, कृत-कारित-अनुमोदना न करना, तथा उनके बहकाने में कदापि न आना, यह अमूढदृष्टि अंग है ॥३॥

इन्नदर महिमेयेंतेंदोडे :—

धरणीवनितेयु तोट्टा-
भरणमिदेनिपामडंब खर्वडर्दिदं ।
पुरदिं खेडादिगळिं
करमेसेवुदु शूरसेनमेंबा विषयं ॥४॥

अर्थ—अब इस अंग की महिमा का वर्णन करते हैं—

पृथ्वी रूपी स्त्रीके आभरणके समान, मडम्ब, कर्वट नगरों आदिसे घिरा हुआ अत्यन्त शोभायमान शूरसेन नामक देश था ॥४॥

आविषयदोळ् ॥५॥

अर्थ—उस देश में······॥५॥

अनुपमदेव विमानसि
देनिसुव जिनभवनदोळियिं सुत्तिद नं- ।
दनवनद शोभेयिंदिं
द्रन पुरदं तोप्पुतिर्कुमतिशयदिंद * ॥६॥

अर्थ—उसमें अनुपम देव-विमानोंके समान अत्यन्त सुन्दर जिनालय थे। नगर के चारों ओर बने हुए उद्यानोंसे ऐसा प्रतीत होता था। मानो नन्दनवनसे सुशोभित इन्द्रपुरी हो।६।

उत्तर मधुरेयेंबुदु पुरमदनाळवं वरुणनेंबमहामंडळिक नातन पट्टददरसिं रेवतियेंबळ् ॥७॥

अर्थ—उस नगर का नाम उत्तर मधुरा था। उस नगर का महामण्डलिक राजा वरुण था और पटरानी का नाम रेवती था ॥७॥

जिनपदभक्तियोळिंद्रन
वनितेय पासटि पतिव्रतागुणदोळ् रा- ।
मन सतियदोरे विळासदो-
ळ नंग नंगनेगे बगेवोडेणे धारिणियोळ् ॥८॥

अर्थ—वह जिनेन्द्र भगवानके चरण-कमलोंकी भक्ति करने में इन्द्राणीके समान, पतिव्रत धर्ममें रामचन्द्रकी पत्नी सीताके समान थी और सुन्दरतामें रतिके समान थी। गुण, शील, स्वभाव और सौन्दर्य में उसके समान इस संसार में अन्य कोई स्त्री नहीं थी। सम्पूर्ण लोग उसकी भक्ति, रूप और गुणों की प्रशंसा करते थे ॥८॥

एनिसि नेगळेत्वडेद सद्गुणाभरणेयुं अपरिमित जिनभक्तियुमागि रेवति-महादेवि सुखसंकथाविनोददिं)+ राज्यं गेय्युत्तुमिरे विजयार्धपर्वतद दक्षिण श्रेणिय मेघकूटमेंब (पुरमं) ॥९॥

अर्थ—इस प्रकार उसका आचारण था। उसके स्वाभाविक गुण ही उसके आभरण थे। भगवान जिनेन्द्र के चरणों में अतिशय भक्ति रखकर रेवती रानी और उसका पति, दोनों निरंतर धर्म-कथाओं की चर्चा करनेमें सुखपूर्वक अपना जीवन बिता रहे थे। उनको किसी

---

* सूरसिनमेंबुदु विषयमाविषयदोल् (ग) + अंतवर् सुखदिं (ग)

प्रकार का कष्ट नहीं था। वे न्याय-पूर्वक राज्य करते थे। इधर विजयार्ध पर्वतकी दक्षिण श्रेणी में मेघकूट नाम का नगर था ॥९॥

धरणीसंस्तुत्यं खे-
चर पूज्यपदं जिर्णेद्रपदसरसिजष- ।
ट् चरणं दयाळु सद्गुणा-
भरणं चंद्राभनेंबनदनाळवरसं ॥) ❀ ॥१०॥

अर्थ—वहां पर पृथ्वीके द्वारा संस्तुत्य, खेचरों द्वारा पूजित, जिनेन्द्र देवके चरण कमलों में भ्रमर के समान, दयालु, सद्गुणाभरण चन्द्राभ नाम का राजा राज्य करता था ॥१०॥

आतन पट्टदरसि सुमतिमहादेवियेंबळायिर्वगं (चंद्रशेखरनेंब मगनागे, आतन विनोदमे विनोद मागे)+ सुखसंकयाविनोददिं राज्यंगेय्युत्तु मिदु चंद्राभमहीराज नोंदुदिवसं ॥११॥

अर्थ—उनकी पटरानी महादेवी सुमति थी। उनके चन्द्रशेखर नाम का एक पुत्र था। दम्पति (पति पत्नी) पुत्र के साथ आनन्द पूर्वक समय व्यतीत करते हुए राज्य करते थे। राज्य करते हुए चन्द्राभ एक दिन...॥११॥

(नेरेद वियच्चरेश्वरर खेचरियर्कळ मंगि चेश्वुवे
त्तिरे बळसिर्द नायकर वीररूपु महोन्नतिक्कवे
त्तिरे नयदिंदमिर्द नुतनृत्यनिकायद गानदोळपु त्रि-
त्तुरदिनगुर्विनिं सोगयिसुत्तरे सोभितिर्प माडदोळ् ॥१२॥

अर्थ—सभा में अनेक आकाशगामी राजा, विद्याधर, वीर, तथा अनेक रूपवती स्त्रियां, एवं गायक बैठे हुए थे। वहां पर अनेक कवि, नर्तकी, भाट आदि भी सभा को अलंकृत कर रहे थे। उनसे ऐसा प्रतीत होता था मानो वे सौधर्म सभा को लज्जित कर रहे हों। इस प्रकार से वह राजसभा बहुत सुशोभित थी ॥१२॥

❀ पुरमदनालवं चंद्राभनेंब विद्याधरं (ग)

+ पुट्टिदमगं चंद्रशेखरनेंबवनंतवर् (ग)

पिरिदनुरागर्दि खेचरराजं देसेगळं महोत्सवर्दिदं बरचररं नोडुत्तुं निरुतं संगित विद्येयं केळुत्तुं इदुं तन्नोलगद चेल्विगे तन्न मूवेङ्गमागि रागिसि नोडि खचरराजनेन्नं विट्टागेंदु मगदोळ् पेर्चि तोट्टने याकाशमं नोडुवुदुं ❀ ॥१३॥

अर्थ—अनेक प्रकार के राजा आकाश और भूमिसे नाना प्रकार की भेंट लेकर आ रहे थे। जिन्हें चन्द्राभ राजा देख रहा था। विविध प्रकार के सुन्दर रस गीत कहने वाले कवियों और भाटों को देखते-देखते उसकी दृष्टि अकस्मात् आकाश की ओर गई ॥१३॥

करिघटेयोळ्तिनंते मृगसंकुलदन्ते घटंगळंते के
सरिगळ पिंडिनन्ते वनदन्ते नविल्गगड तंडदन्ते के
सुरिगळ बंबलन्ते शरभावळियन्ते मनुष्यरन्ते वा-
नर चयदन्ते गोनिवहदन्ते सेदोप्पुव माडदंदमं ॥१४॥

अर्थ—हाथी के झुंड के समान, मृग-झुंड के समान, मिट्टीके घटके समान, सिंह-समूह के समान, उद्यानों के समान, कभी आकाश में मोरों के झुंड के समान, कभी बिखरे बालों के समान, कभी शार्दूलके समान, कभी बहुत से मनुष्यों के समूह के समान, कभी बन्दरों के झुंड के समान, कभी गायों के समूह के समान आकाश में नाना प्रकार के रूप दिखाई पड़ रहे थे ॥१४॥

(नानाप्रकारद मुगिलोळ्तुं चन्द्राभमहाराजं कंडु महाविस्मयं बट्टु कण्णेमेयिक्कदे नोडुत्तु तिर्पन्नेगं ॥) ॥१५॥

अर्थ—ऐसे विविध रूप बादलोंमें दिखाई पड़ रहे थे। क्षण-क्षणमें उनका रूप-परिवर्तन हो रहा था। राजा बार-बार उस ही ओर देख रहा था। देखते-देखते राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ और वह अपने मन में विचार करने लगा कि—॥१५॥

स्थिरमल्लदु केळंबर
चरपति संसारसौख्यमायंददिनें।
दरसंगे पेळ्व तेरदिं
करगिद वात्तणवेमेघदोड्डु गळनितुं ॥१६॥

---

* माडदमेले पगलोलगंगोट्टु चंद्राभमहाराजंयिर्दाकाशदोळ् (ग)

अर्थ—ये बादल मेरे लिये सूचना दे रहा है कि 'हे विद्याधर पति ! जिस प्रकारसे बादल क्षण भरमें ही विलय हो गया, इसी प्रकारसे ये इन्द्रिय-सुख भी क्षणिक हैं। यह संसारका सुख स्थिर नहीं है।' मानो राजा से यह कह कर मेघ-पटल एक दम विलय हो गया।

(अंतु मुगिलोड्डु नोडे नोडे करगुवुदं वियच्चरराजं कंडु मनदोळ् वैराग्यं पुट्टे)÷ तन्नोळिंतेंदं ॥१७॥

अर्थ—बादलों का बार-बार विविध रूप धारण करने और विलय हो जाने को देखक राजाको संसार से वैराग्य होगया। वह विचार करने लगा ॥१७॥

सिरि सुर चापदन्ते पोसजव्वनमिद्दिल बूदियन्ते पें-
दिर सुखमुगिम पोगमुवबयल्दोरेयन्ते विभूति मंजिनं।
तरसिनोळाद पेंपिन महोन्नतिगळ् मळलेरियन्ते मेय्-
दरिय महिजदन्ते किडलल्लदे तां स्थिरमाग लार्कमें ॥१८॥

अर्थ—ऐश्वर्य इन्द्र-धनुष के समान है, नवयौवन कोयले की राख के समान है, स्त्रियों का सुख का बरसाती नदी के समान है, विभूति ओस की बूंदों के समान है, कीर्ति रेत के ढेर के समान है। इस तरह यह राज-सम्पत्ति, इन्द्रिय भोग आदि कोई भी स्थिर नहीं है।

अरळय किच्चिनन्ते धनमायु वसन्तद शोभेयन्ते पे-
र्दोरेगळ् दंबलन्ते सोबगोड्डिद मेघसमूहदन्ते नं-।
टर कडुगूमें परत मरनन्ते विहासदगुर्त मैमेयु-
व्वरमदु नीर बोब्बुळिकेयन्ते निरन्तरमल्लदेल्लियु ॥१९॥

अर्थ—धन और आयु रुई की जली हुई गुलके समान है, राज-काज-सुख बसन्त ऋतुकी शोभाके समान क्षणिक हैं, यह परिवार मेघ-पटलके समान है, प्रियमित्र, भाई बन्धु घुने हुए वृक्षके समान हैं, शरीरकी कान्ति पानीके वेगके समान है, विलास, रूप पानी के बुलबुले के समान अस्थिर है ॥१९॥

एंदु संसारदनित्यतेयं भाविसि भोगोपभोगंगळग पोल्लदु गेयूदोब्बद पेंडतिगे पेसिदन्ते पेसि ॥२०॥

÷ अबं कंडु (ग)

अर्थ—अपने मनमें इस प्रकार संसारको अस्थिरताको वैराग्य भावना आने पर राजा को राज्य-पाट, भोग उपभोग आदि को ओर से घृणा हो गई ।।२०।।

परमार्थ भाविसुपोडे
करमंता स्पर्शनेन्द्रियोन्नतियिदं ।
करिपतिगळ् मोदलागिरे-
नरगं बसमागि कट्टुवट्टुवु जगदोळ् ॥२१॥

अर्थ—परमार्थकी भावना करनेसे कर्म-बन्ध करने वालो स्पर्शनेन्द्रिय का प्रभाव नष्ट हो जाता है । स्पर्शनेन्द्रिय के अधीन होने से हाथी बन्धन में आ जाता है ।।२१।।

नेरे नयनेन्द्रियदेरकदि
नरियदे मतिगेट्टु बिदुं सावुवुसोडरोळ् ।
मरुगि पतंगावळियेने
कुरियल्लने करण सोलमं सल्लिसुवं ॥२२॥

अर्थ—चक्षु इन्द्रियके वशमें होकर पतंगे आग में कूदकर अपनी जान दे देते हैं ।।२२।।

मुंदण मृगवं कर्णदो
केंदु कोरल्नोड गीतरवदिं तावुं ।
पोंदुवुवु सार्द मृगचय
मेंदोडे श्रोत्रद सुखक्के पदेवने गांपं ॥२३॥

अर्थ—कर्णेन्द्रिय के वशमें होकर हरिण-समूह वीणा की मधुर आवाज पर कर्णेन्द्रिय के सुख के लिये प्राण गंवा देता है ।।२३।।

मरनं छेदिसुवुवु ष-
ट् चरणं गंधक्के सोल्तु तावरेयेसळं ।
भरदिं छेदिसलारदे
पिरिदप्पतिमोहदिंदमळिवुवु धरेयोळ् ॥२४॥

अर्थ—भौंरा चन्दन की लकड़ी को छेद देता है, किन्तु कमल में छेद न करके उसमें

हो सुगन्ध के लोभ में मर जाता है

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पंकजश्रीः ।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे,
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार ।।

अर्थ–भौंरा कमलके फूलमें बन्द होकर विचार करता है कि रात बीतेगी, प्रभात होगा, सूर्य निकलेगा और कमल का फूल खिलेगा । इस प्रकार कमल की पंखुड़ी में बन्द भौंरा विचार कर ही रहा था कि उस कमलको एक हाथी उखाड़कर खागया । भौंरा विचार ही करता रहा और उसकी जीवन-लीला समाप्त भी होगई ।।२४।।

रसनेन्द्रिय वशर्दि सै-
रिस लारदे गाळदेरेगे पाय्दुळिवुवु मी- ।
नसहायमेंदोडक्कट ÷
वसुमतियोळ् जिव्हे किडिसदार पदपिं ॥२५॥

अर्थ–रसना इन्द्रिय के अधीन होकर मछली अपने प्राणों को खो देती है । इसलिये संसार में जिह्वा इन्द्रिय सबकी हानि करती है । और यह संसार की कारण है ।।२५।।

ओंदोंदु जिवियिंद्रिय
मोंदोंदरिनळिवुदेंदोडैदिंद्रियमु ।
संदिसि कूडिर्द नरं
संदेयमं किडुवुदरिवुदवनीतळदोळ् ॥२६॥

अर्थ–एक एक इन्द्रिय के अधीन होकर यह परिणाम होता है, तो पांचों इन्द्रियों के अधीन होने वाले जीव की दशा क्या बिगड़े बिना रह सकती है ? ।।२६।।

एंदिंद्रियगळ देसेगे नाडेयु बयंगोंडु ॥२७॥

अर्थ–इस प्रकार राजा चन्द्राभ प्रत्येक इन्द्रिय-विषय के विषयमें विचार करके प्रत्येक इन्द्रिय के विषय भोगोंका तिरस्कार करता है ।।२७।।

÷ नेट्टने मांगलेंदोडकष्ट (ओ० क०)

सिंबुळनाळि मूगुगुळपेर्दोरे बाय् मलदागरं बसिर्
तनु कीविननेत्तरतिप्पेवीविर्नि ।
तां बगेवंद् किळ्ळ मडु कणिकवि कोग्गिय पुत्तु चर्मदिं
दं बळसिर्द् कोंटेदं बिगिदिर्द्पेनेर्णद् खंडद् मांसद् ताणमल्लवे२८

अर्थ—नाक के दोनों छेद मलवाही नाली हैं। मुख लार का आगार है। शरीर निस्सार है और अपावन धातुओंसे परिपूर्ण है। नेत्र सदा मलसे भरे रहते हैं, कान भी मैल का घर है। शरीर चमड़ेसे ढका हुआ है। लगता है, जैसे संडासको गन्दगीको ढक दिया जाता है, उसी प्रकार दूसरोंको दुर्गन्धि न आवे, इसलिये चमड़ेसे इसको ढक दिया गया है। यदि यह चर्माच्छादित न हो तो इस पर मक्खियाँ आकर भिनभिनाने लगें। वास्तवमें वह मांसपिण्ड हैं। इसमें कोई सार नहीं है किन्तु अज्ञानी प्राणी इस शरीरमें मोहित होकर अनन्त संसारमें परिभ्रमण कर रहा है ॥२८॥

एंदु [शरीरदोळाद् अशुचित्वमं भाविसि संसारक्के पिरिदुं निर्वेगमागे ॥२९॥

अर्थ—इस प्रकार शरीर में अशुचि भावना को भाकर संसार शरीर और भोगों के प्रति अत्यन्त तिरस्कार के द्वारा राजा को वैराग्य हो गया ॥२९॥

पिरिदुं कोपदि नट्टि तिंब पुलियं बार्वट्टेयो ळकंडवोल्
भरदिं दट्टि तगुळदु कोल्व करियं मार्वट्टेयोळकंड वोल्
करमं तोर्मेये पाय्व सिर्कुरडियं तद्गेह दोळकंड बोल्
सिरिगंमैमेगमुन्नतिक्केगमणं भोगक्कमेनासेये ॥३०॥

अर्थ—सिंह अत्यन्त क्रुद्ध होकर जैसे मृग आदि जीवोंको खानेको दौड़ता है, उसी प्रकारके क्रूर प्राणियोंसे भरे हुए संसारमें यह जीव अनादिकालसे भ्रमण कर रहा है। जिस भयानक जंगलमें मदोन्मत हाथी, सिंह, भयानक लुटेरे, रीछ आदि रहते हैं, उस घोर जंगलमें प्रवेश करके क्या कोई जीवित लौट सकता ? नहीं। इसी तरह यह संसारी जीव अनादि कालसे संसार- समुद्र में पंचेन्द्रिय विषय रूपी मगरमच्छों के चक्कर में पड़कर जन्म और मरण कर रहा है। ऐसे भयानक और प्राणियोंसे भरे हुए संसारमें इस जीवको कभी शान्ति नहीं मिल सकती। मैंने अब तक परमार्थके मार्गको भूलकर इन्द्रियोंके विषयोंके अधीन होकर इस पवित्र मनुष्य-जीवनको यों ही व्यर्थ खो दिया, मुझको आतम-उन्नति का मार्ग अभी तक नहीं दिखाई दिया ॥३०॥

अंतु संसारदोळाद सुखक्के नाडेयु ं भयस्थनागि पिरिय मगनप्प चन्द्र-शेखरनं बरिसि मु ंदे कुळ्ळिरिसि चंद्राभमहीराज नि ंतेंद ं ॥]❀॥३१॥

अर्थ—इस तरह चन्द्राभ राजा सांसारिक-सुखके विषयमें विचार करके भयभीत होगया और अपने पुत्र चन्द्रशेखर को बुलाया और उसको अपने सामने बिठाकर चन्द्राभ राजा इस प्रकार समझाने लगा कि...... ॥३१॥

सिरियि ंद ं मेय्यरियदे
परत्रेयं किडिसि राज्यमोहोदयदि ं ।+
मरुळागि मंदबुद्धियि
नेरडिल्लदे केट्टे निन्नेवरेगं मगने ॥३२॥

अर्थ—हे पुत्र ! मैंने इस क्षणिक ऐश्वर्य और इस राज्य पाटको न पहचान करके इह-लोक परलोकका नाश किया। राज-मोह में पड़ करके मन्द बुद्धिसे मैंने दोनों लोक विगाड़ लिये। संसार में परिभ्रमण करते हुए मैंने अबतक आत्मा का अहित ही किया ॥३२॥

इन्नेनगे मुक्ति श्रीयनोलिसुव जिनरूपं शरणवुगल्वेळकु माखेचरं] राज्य-भारमं [कै] कोळ्ळंबुदु ं कुमार नितेंदं ॥३३॥

अर्थ—अब मुझे मुक्ति श्री को प्राप्त कराने वाले और शाश्वत सुखको देनेवाले ऐसे जिन-रूप को मैं धारण करना चाहता हूँ। इसलिये तुम इस क्षणिक खेचर-राज्यको संभालो और मुझे आत्म-साधन के लिये छुट्टी दो।

इस बात को सुनकर राजकुमार कहने लगा कि......॥३३॥

केडिल्लद निवृ ति योळ्
कूडुवुदं देवरत्ति कोंडेनगळिवं ।
माडुवुदं दुर्गतियोळ् ×
कूडुवुदं राज्यभारमं दयेगेय्वा ॥३४॥

❀ एंदु संसारक्कं शरीरक्कं पेसि पिरिय मगनप्प चंद्रशेखरं गिनेंदं (ग)

+ मेय्यरियदे नानिरत्रयं पिडिदु परवनलिदें पिरिदु (क० ओ०)

× माडुवुदुमनर्थियोलं (ग)

अर्थ–पिताजी ! आपके समान स्वार्थी संसारमें कोई नहीं है । कहते हैं कि पुत्रके प्रति पिताका अगाध प्रेम रहता है। पिता अपने पुत्रको अच्छी अच्छी चीजें देता है किन्तु आप मुझे पाप-गर्तमें डालना चाहते हैं। आप स्वयं कल्याण चाहते हैं, मुझे अकल्याणके मार्गमें डालना चाहते हैं। यह उचित नहीं है। जो सुख शास्वत है, उस सुखको आप ग्रहण करना चाहते हैं और मुझे क्षणिक सुख देकर जाना चाहते हैं। क्या पुत्रके प्रति पिता का यह कर्तव्य उचित हे ? मैं दुर्गति में ले जाने वाले इस राज्य का भार संभालूं ? मुझे यह नहीं चाहिये । यदि आपका मेरे ऊपर प्रेम है, तो मुझे भी शाश्वत (स्थायी) सुख दीजिये ॥३४॥

बगेदु नोडि लेसप्प वस्तु वनोल्दिवरक्करिं कूर्पवर्
जगद् मानिसर्पोल्लदं कुडुवरे कूर्पवर्गे कुडरेंदुं देवर्
मिगिलेनिसिर्प निरंतरसुखमनार्चिसुव कज्जमनेत्तिकोंडे
नगे तरळराज्यमं दुर्गतिगोय्वुदं दुष्कर्महेतुवं कुडलप्पुदे ॥३५॥

अर्थ–विचार करके देखा जाय तो संसारमें कोई वस्तु शाश्वत नहीं है, सब क्षणिक है । पिताकी भावना यही रहती है कि मेरे पुत्रकी उन्नति हो, वह सुख शान्ति प्राप्त करे। आपने शाश्वत सुख प्राप्त करनेका मार्ग अपने लिये तो प्रशस्त किया, किन्तु जिसे विवेकी जन पसंद नहीं करते, वह मुझे देरहे हैं। यह राज्य क्षणिक है, दुर्गतिमें लेजाने वाला है । आप दुर्गति में लेजाने वाला यह राज्य मुझे देकर जारहे हैं; मुझे यह नहीं चाहिये ॥३५॥

अदुकारणदिं देवरेन्नमेले मोहमुं स्नेहमु मुळ्ळोडे शाश्वत सुखमनीव तपश्श्रेयं दये गेयूवुदल्लदे नरकगतिगुय्वु राज्यश्रेयं दयेगेय्य वेडेंबुदुं वियच्चर]❀ राजनिंतेंदं ॥३६॥

अर्थ–इसलिये यदि आपको पुत्र पर प्रेम है तो शाश्वत सुखको देने वाला राज्य मुझे भी दे दीजिये, नरक में ले जाने वाला राज्य मुझको भी नहीं चाहिये । तब चन्द्राभ राजा इस प्रकार कहने लगा ॥३६॥

निन्नेंदुदे कार्यं म-
त्तेन्नदे कैवल्यलक्ष्मियं बयसुवव

❀ एंबुदुं चद्राभमहा (ग)

गुन्नतियिंदादोंडे मे-
णेनेंबुदनंतुटिंतुटेन्नदे केळिं ॥३७॥

अर्थ–हे पुत्र ! परम्परा से इसी प्रकार मर्यादा चली आ रही है। धर्म और राज्य की परिपाटी इसी प्रकार चलती रही है। यदि तुम भी राज्य छोड़ दोगे, तो न राज्यकी परिपाटी चलेगी, न धर्म की। जैसे मैंने तुम्हें राज्य सौंप कर दीक्षा लेने का विचार किया है, इसी प्रकार जब तुम्हारा पुत्र समर्थ हो जावे तब तुम उसे राज्य सौंप कर मोक्ष-लक्ष्मी प्राप्त करने का प्रयत्न करना। तबतक तुम अपनी भावना को संसार में रहकर परिपक्व करो। अतः मैंने तुम्हें जो कुछ कहा है, उसमें शंका न करके इस राज्य-शासन का भार संभालो।

यह सुनकर चन्द्रशेखर ने पिता की बात स्वीकार करके राज्य-भार ग्रहण कर लिया और विनय-पूर्वक बोला कि आप जो कुछ आज्ञा देंगे, मैं उसी प्रकार करूँगा ॥३७॥

एंदु प्रियात्मजंगे करकमळमं मुगिदु—॥३८॥
ई वियच्चरराज्यमं प्रतिपालिसल्मगनोर्वनं
भूवधूप्रियनं मनोहररूपनं पडेदिं बळि- ।
क्की वियच्चरराज्यभारमना कुमारवरंगेको-
ट्टावगं बळिकातु माळपुदु घोर वीरतपंगळं ॥३९॥

अर्थ–तत्पश्चात् अपने पुत्रको बिठाकर चन्द्राभ राजा इस प्रकार नीति-मार्ग समझाने लगे हे पुत्र ! जैसे मैंने क्षणिक राज्य का पालन करते हुए धर्म, अर्थ, काम तीनों पुरुषार्थों के साधनमें और जिनेन्द्र मार्गमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं आने दी, प्रजाका पालन किया और राज्य को छिन्न-भिन्न नहीं होने दिया तथा मैंने विद्याधरोंके अतिरिक्त भूमिगोचरी राजाओंकी भी सुन्दर कन्याओं को प्राप्त करके भोग किया, परन्तु मैंने वीतराग मार्ग के प्रतिकूल प्रवृत्ति करने की स्वप्न में भी भावना नहीं की, उसमें आसक्त नहीं हुआ। अन्त में वह राज्य तुम्हें सौंप कर मैंने तपश्चर्या करने का संकल्प किया है, उसी प्रकार तुम भी राज्य-शासन का कुशलता-पूर्वक संचालन करके अन्त में राज्य-परित्याग की भावना रखना ॥३८-३९॥

[एंदा प्रधानरु तानु मेंदुवचनंगळिं लल्लेगेयूदे तानु मोडं बडिसि कुमारंगे पट्टमं कट्टि धराभारमं कोट्टु मगन मोगमं नोडी]+॥४०॥

+ एंदोडं बडिसि (ग)

अर्थ—तदनन्तर प्रधान-अमात्यको बुलाकर राजाने उन्हें प्रेमपूर्वक समझाया कि नीतिपूर्वक राज्य करो, प्रजा को कष्ट मत दो। इस प्रकार अनेक प्रकार उन्हें समझाकर राजकुमार का राज्याभिषेक किया और राज्य-भार को सौंपकर राजा राजकुमार से कहने लगा...॥४०॥

चारुचरित्रनप्पुदु गुणान्वितनप्पुदु धर्मदोळ् सदा
चारनेनिपुदुज्ज्वल जिनेन्द्रपदद्वय भक्तनप्पुदि- ।
न्ना रुमनुर्कि सोर्कि सले नोयिसदिर्पुदु जैनयोगि वृं-
दारकरल्लि भक्तिभरदिं नेरे तोरुवुदुत्तरोत्तरं ॥४१॥

अर्थ—पुत्र ! कई बातें तुम्हारी जेबमें रखकर जारहा हूँ। जब आवश्यकता पड़े तो उनका उपयोग करना। सुन्दर चारित्र धारण करने की भावना तुम में रहे। हमेशा धर्म की भावना तुममें रहे। तुम्हारे सदाचरण को देखकर प्रजामें भी सदाचार की भावना जागृत हो। अत्यन्त उज्वल जिनेन्द्र-चरण-कमलों में भ्रमर के समान भक्ति तुम्हारे हृदय में बनी रहे। किसी प्राणी को लेश मात्र भी दुःख पहुँचाने की भावना कभी न आवे। प्रजा पर किसी प्रकार का अत्याचार करने की भावना तुम्हारे चित्त में जागृत न हो। जैन योगियोंके चरण-कमल में सदा तुम्हारी भक्ति रहे। धर्म के प्रति उत्तरोत्तर भावना बढ़ती रहे।४१।

मत्तं देव नीं कोट्ट कुन्नि बेळेवेळये नायाय्ते' बनाळमुडियं नन्निमाडदे, तावरेये लेय मेलण नीरंते संसारदोळप्प दुःखमं पापमं पोर्द्दे, सिप्पिनोळ् पुट्टियुं मत्तासिप्पिदं तां भिन्ननेंतंते नीनु मेन्निमदं सकलगुणंगळोळं धर्मदोळं राजनीतियोळं जिनभक्तियोळं मिगिलप्पुदेंदु बेडिकोंडु बुद्धिवेळदु ॥]+ ।४२।

अर्थ—राजकुमार बोला, कि हे देव ! मैं आपके द्वारा उत्पन्न हुआ हूँ, मैं आपके प्रति अपने कर्तव्यों से कभी विमुख नहीं होऊँगा।

राजा कहने लगा-पुत्र ! तुम संसार के सारे व्यवहार करते हुए भी जल से कमल की तरह उससे अलग रहना। तुम पाप-पंक से विलग रहना। सीपसे जैसे मोती अलग रहता है, उसी प्रकार तुम भी संसार में रहते हुए भी संसार में लिप्त न होना, धर्म-मार्ग को मत छोड़ देना। नीति और धर्मका सदा आश्रय लेना और पाप की प्रवृत्ति से बचे रहना। इस प्रकार राजाने अनेक प्रकार से धर्म का और नीतिका मार्ग समझाया ॥४२॥

+ एंदु बुद्धियं पेलदु (ग)

तुळेलाळमन्नि सदाळदनं सुचरितं दुष्कर्ममं सज्जनर्
पळियं जारेयनायुमुळ्ळ पुरुषं निर्द्रव्यनं साळयर्
खळनं धर्मपरर् विशेषमरिवं मिथ्यात्वमं धारिणे
तळदोळ् केळवडुवंते राज्यदळिपं बिट्टं खगाधीश्वरं ॥४३॥

अर्थ—राजाकी आज्ञाको न मानने वाले नौकरका जैसे परित्याग कर दिया जाता है, सज्जन जैसे दुष्कर्मी दुराचारी को, व्यभिचारिणी स्त्री को पति, निर्धनी को वेश्या, दुष्ट को धार्मिक लोग, धर्मात्मा व्यक्ति मिथ्यादृष्टि को छोड़ देते हैं, उसी प्रकारसे विद्याधर-नरेश चन्द्राभ ने राज्य का त्याग कर दिया ॥४३॥

अंतु [सकल] राज्यमुमं तोरेदु पुरदिं पोरमट्टु विमानारूढ नागि पांड्यदेशद दक्षिणमधुरेगे बंदु [पोरवोळलोळ् निंदु ॥४४॥

अर्थ—इस तरह सम्पूर्ण राज्य को छोड़कर राजा विमान में आरूढ़ होकर पाण्ड्य देश के दक्षिण मथुरा नगर में आया और नगर के बाहर ठहरा ॥४४॥

मिळिर्व पताकेयिं कुळिर्व नन्दनदिं तळर्व चेयिं बेड
गळवडे रत्नदीधितियोळोंदि पळंचुव बळ्ळिवाडदिं
कळसद मत्तु वारणद शोभेगळिं कडुरय्यमप्प नि-
र्मळ जिनमन्दिरंगळ विळास मनच्चरिवट्टु नोडिदं ॥४५॥

अर्थ—वहाँ पर अत्यन्त सुन्दर फहरने वाली ध्वजाओंको देखा, नन्दनवन के समान अनेक उद्यान देखे। तारों के समान चमकने वाली रत्नमय वेदियाँ देखीं। अनेक प्रकारके बेलबूटोंसे युक्त जिन-मंदिर देखे। उनकी शोभाको देखकर मनमें बड़ा आश्चर्यचकित होगया ॥४५॥

अंतु मोडुत्तुं भक्तिभरतेयिं कय्यं मुगिदु पोळलोळगे पोक्कु मेल्ल-मेल्लने भरुत्तुं ॥४६॥

अर्थ—इस प्रकार भगवान को भक्ति-पूर्वक हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुए धीरे धीरे भीतर जाते हुए वह चंद्राभ विद्याधर राजा क्या देखता है कि......॥४६॥

किविवरमेयूदु नीळद कडेर्गण करमक्क रिनिये रागमं
विवशेसेपुर्विनुवु सुलिसल् मनमं सेरेगेयूये सोलमं
सुविटजनक्के मोड वदनांबुरुहं जिननोलगक्के ब-
र्प वनजपत्रनेत्रेयर नाखचरं मनमोल्दु नोडिदं ॥४७॥

अर्थ—कानोंमें सुन्दर कर्णफूल, आखोंकी कटाक्ष दृष्टि, उनके मुखसे निकला हुआ अत्यन्त मधुर गायन, सुन्दर मुखकमलकी तेजी, अनार के दानोंके समान अत्यन्त शोभने वाले तथा चमकने वाले उनके दांतोंकी पंक्ति, आकर्षण करने वाले अत्यन्त सुन्दर लाल ओठ और शरीर पर शोभायमान रेशम के तथा जरी के वस्त्र एवं चमकीले रत्न-आभूषणों वाली विद्याधरी स्त्रियोंको तथा भक्तिसे भगवानके दर्शनके लिए आये हुए विद्याधरोंको देखा ।४७।

तरळ विकाल लोचनद बेळपु कुरुळगळ चेल्वु भूषणो-
त्करद बेडंगु तेळवसिर भंगि कुचंगळ तोर्पु कणगेवं- ।
दिर विटरं पडल्वडिसळेंदु मनोजन दाळि बर्पवोल्
परमजिनेन्द्र नोलगके बर्प विदग्धेयरोप्पि तोरिदर् ॥४८॥

अर्थ—कमलके समान मुख विलास, कमलके समान सुन्दर नेत्र, अत्यन्त शोभायमान शिरके केशोंकी सुन्दरता, अनेक प्रकारके आभरणोंसे शोभने वाले शरीर की शोभा तथा हाथों और भुजाओंकी भावभंगीका दृश्य, अत्यन्त सुन्दर सिंहिनी की कमर के समान पतली कमर, पुरुषों के मनको आकर्षित करनेवाले सुवर्ण के छोटे २ कलशों के समान कुचों से सुशोभित ऐसी विद्याधरों के स्त्रियां ऐसी मालूम होती थीं कि मानो यह सभी स्त्रियां कामदेव के साथ स्पर्द्धा करके उसके कामको लूटनेके लिये आगई हों, भक्ति पूर्वक भगवान जिनेन्द्र देव के मंदिर में आने वाली विद्याधर-स्त्रियों को चंद्राभ ने देखा ॥४८॥

अंतु जिनाधीश्वरनोलगक्के बर्प विलासिनियरं नोडुत्तु संतोषर्दि बरुत्तु ।४९।

अर्थ—इस तरह भगवान जिनेन्द्र देवके दर्शनार्थ आने वाली विलासिनी विद्याधर स्त्रियों को देखते हुए चन्द्राभ आनंदके साथ भगवानके मंदिर में दर्शन करने के लिये गया ॥४९॥

पोन्न तोरणमिंद्रनीलद रंगमादनयंगुडी (?)
····नीलमेघमनोप्पि मुत्तिन सूसकं ।

चेन्न मागिरे तारेयं नेरे पोले जैनगृहं गळ-
त्युन्नतिक्केय नाळदु वंबरदंते रंजिसि नाडेयु ॥५०॥

अर्थ—उन विद्याधर पुरुषों तथा विद्याधर स्त्रियोंने भक्ति-भावके साथ भगवान जिनेन्द्र देवके दर्शन किये। तदनन्तर उन विद्याधर-स्त्रियों ने अपने हस्त कला कौशल से बहुत सुन्दर अनेक सुवर्ण के तथा इंद्र-नीलमणिके तोरण बनाये, भगवानके मंदिरके सामने रत्नोंके चूर्ण से अनेक प्रकार के चित्रमयी बेलबूटों आदि से भरे चौक पूरे थे। उन चौकोंसे तथा भगवान के दरवाजे पर बंधे बंदनवार, तोरण आदि से वह मंदिर ऐसा सुशोभित हो रहा था कि मानो जगतकी सारी सुन्दरता इस मंदिरमें ही लाकर रखी गई हो। ऐसा प्रतीत हो रहा था ॥५०॥

भावार्थ—सोने के तोरण, नील रंग के समान शोभने वाले इन्द्रनीलमणि का चौक, मोतियों की बंदनबार, तथा उस मंदिरके पाषाणोंमें सुन्दरतासे जड़े हुए मोतियों की शोभा ऐसी दीख रही थी कि मानो आकाशके तारागण ही यहां उतर कर आया हो। इस प्रकार सर्वाङ्ग सुन्दर, उन्नत वह जिनालय ऐसा प्रतीत होता था मानो स्वर्ग का दिव्य मंदिर इस दक्षिणी मथुरामें आ गया है।

कनकद् तोरणमुं मु-
त्तिन तोळगुव रंगवल्लियुं पंचमहा- ।
ध्वनिनाद् मुभोळपुजेयु-
मनवरतं बसदि गोळियोळ् रंजिसुगुं ॥५१॥

अर्थ—उस मंदिर में सोने के तोरण, मोतीसे चमकने वाले चौकोंसे तथा पंच महाध्वनि से बजने वाले महान दुंदुभि बाजों से तथा जनता के गायनोंके अत्यन्त सुन्दर मधुर स्वर से हमेशा पूजा और पाठ होते रहते थे। उस मंदिरकी शोभा देखते ही दर्शकोंके हृदय में ऐसा भाव जाग्रत होता था कि मानो मुक्ति-लक्ष्मीके विवाह-संस्कारके लिए ही यह सुन्दर मण्डप बनाया गया है ॥५१॥

मत्तममरलोकदिं तत्पुरमं नोडलेंदु धरगवतरिसि तंतम्म विमानं बेरसिर्दरे
निसि तरतरदिंदिर्द जिनालय दोळिगळ मवर मुंदण नानारत्न रचितमप्प

वागिल्वाडंगळं अवर मुंदण चंद्रादित्यर बेलगिनोळ् मच्चरिसि तोळगुव मकरतोरणंगळं चेनमहाचेनद् महाध्वजंगळं पच्चेय पवळद् शोभेवेत्त सोपानं गळि मोक्षश्रेय सिंहासनमेनिप प्राकरंगळं नोडुत्तु मिर्पन्नेगं ॥)❀ ॥५२॥

अर्थ–उस विशाल जिन मन्दिर की शोभा अवर्णनीय थी। मन्दिर का भीतरी भाग तथा बाहरी भाग अनुपम सुन्दरता के साथ बना हुआ था। उसकी सजावट अद्भुत थी। ऐसा प्रतीत होता था कि देवलोक ने पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर इस मन्दिर का रूप धारण कर लिया है। मन्दिर का आंगन बहुत विशाल था और वह बड़े कला कौशलके साथ रत्न-जड़ित बना हुआ था। मन्दिर के द्वार और उनके किवाड़ मनोहर सौन्दर्य के पुञ्ज थे। द्वारों पर जो तोरण लटके हुए थे वे चन्द्र और सूर्य के प्रकाश में अच्छे झिलमिलाते थे। मंदिर के शिखरों पर चीन महाचीन आदि के सुन्दर वस्त्रों की ध्वजाएं वायु में फहराती थीं। मन्दिर में चढ़ने के लिये जो मणिजटित सुन्दर सोपान (सीढ़ियां) बने हुए थे, वे मानों मोक्ष महल में चढ़नेके लिये ही थे। त्रैलोक्यनाथ श्री जिनेन्द्र भगवान की वेदियां समवशरण की गन्धकुटी की सुषमा का अनुकरण कर रही थीं। इस तरह मन्दिर का प्रत्येक भाग अनुपम सुन्दर बना हुआ था, जो कि भक्त दर्शनार्थियों का चित्त प्रफुल्लित करता था ॥५२॥

तुरगदळं गळिर्कलदोळं बरे मुंदे महाविभूतियिं
परियिे पताकेगळ् नृपकुमारकरो जेयिनेय्दे सुत्तलुं-।
बरे तरे तळत नंदनवनाकृतियंतिरे तूर्य नादमो-
प्पिरे गणिकाळि चामर मनिक्के सुराधिपनंते लीलेयिं ॥५३॥

अर्थ–चित्रकारके द्वारा अनेक तरह चित्र उस मंदिरमें खींचे गये थे। कहीं पर घोड़ोंके दल थे, कहीं सेना जारही है, कहीं देवों की सभा है, अनेक प्रकार की विभूति के साथ ध्वजा पताका और राजकुमार उस सभा में दिखाये गये थे। कहीं नन्दनवन के समान चित्र चित्रित थे। चारों ओर वाद्य यंत्र थे, गणिका चमर ढोर रही हैं। मानो सौधर्म इन्द्र की सभा ही हो। इस प्रकार सभा के दृश्य अंकित थे ॥५३॥

तत्पुराधीश्वरनप्प चित्रवाहन महाराजं तनगेल्ल जिनालयंगळं काणबुदु नित्य व्रतमिर्पुदरिं जिनभवनंगळल्लमं पूजिसुत्ते बंदु भूतहितमेंब तम्मन्वयद

+ पुरद चेल्वुमं सुत्ति बलसिद बसदिगल विलासेमुमं नोडुत्तुमिर्पन्नेगं (ग)

वसदिय नेयदि ॥५४॥

अर्थ—उसी समय दक्षिण मथुरा का राजा चित्रवाहन उस मन्दिर के दर्शनों के लिये आया। मानो सौधर्म इन्द्र ही अपने सम्पूर्ण वैभवके साथ भगवानके दर्शनार्थ आरहा हो। उस राजा को प्रातः उठते ही जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करनेका नियम था। वह मंदिर भूतहित आम्नाय का था। उसमें वह नित्यप्रति दर्शन और पूजन बड़े ठाटवाटसे करता था ॥५४॥

करमादरदिं बडवं
गुरुमुददिं पोन्न राशे दोरेकोंडंता।
धरणीनाथं भक्ति य-
भरदिं बलवन्दु मूरुसूळ् जिनगृहमं ॥५५॥

अर्थ—उस चित्रवाहन राजा ने मंदिरमें प्रवेश किया। भगवानकी ओर जब उसकी दृष्टि गई तो उसे इतना आनंद हुआ जैसे किसी भिक्षुक को रत्न मिल गया हो। इस प्रकार मन में प्रसन्न होकर भक्ति पूर्वक उसने तीन प्रदाक्षिणा दीं। प्रदक्षिणा करते समय राजा ने—

अद्य मे सफलं जन्म, नेत्रे च सफले मम।
त्वामद्राक्षं यतो देव हेतुमक्षयसम्पदः ॥
नमो नमः सर्वहितंकराय, वीराय भव्याम्बुजभास्कराय।
अनन्तलोकाय सुरार्चिताय, देवाधिदेवाय नमो जिनाय ॥

इत्यादि प्रकार के स्तोत्र पढ़े।

निषिद्धियिं दोळगं पाक्कु—॥५६॥

अर्थ—स्तुति पढ़ते हुए मंदिर की तीन प्रदक्षिणा देने के पश्चात् तीन वार 'निस्सहि निस्सहि निस्सहि' कहते हुए मंदिर में प्रवेश किया ॥५६॥

इरुवंति जाजे पादरि
सरसिरुहं सुरगि वोल्ले पोससंपगेया।
अरलिं भक्तियिनातं
परमजिनेश्वरन पादमं पूजिसिदं ॥५७॥

अर्थ—और भगवानके चरणोंमें पारिजात, कमल, सुरजाई (सुरगी), मल्लिका, चंपा, आदि अनेक प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंको भगवानके चरणोंमें चढ़ाकर भक्तिभावसे पूजन किया ॥५७॥

मत्तं पलवुरतुनद मणिहारंगळिदं चामीकरपुष्पमालेगळिंद मुत्तिनलंबण-मळिदताने तन्न कय्यारे पजिसि बळिक्कं—॥५८॥

अर्थ—पुनः अनेक प्रकारके रत्न, मोती, सोने, चांदीको मालायें मंदिरके प्रत्येक दरवाजे पर स्वयं अपने हाथ से बांधीं। तत्पश्चात् —॥५८॥

सुरराजं परमजिने-
श्वरनं तन्नोंदु भक्ति यिंदोलगिपं ।
तिरे पांड्यान्वय कुवलय-
शरनिधिनन्दननुमोप्पि चेल्वप्पिनेगं ॥५६॥

अर्थ—मानो कोई स्वर्ग का देव भगवान की भक्ति कर रहा हो, इस प्रकार उस पाण्डय वंशीय राजाने अपने कुलाचारके अनुसार मानो समुद्र अपनी निधि ही भगवान की भेंट चढ़ा रहा हो, ऐसे बड़ी भक्ति के साथ नाना प्रकार की भेंट भवागन के सामने चढ़ाई ॥५९॥

सुरिदपुदु रसद मळे भो-
गरेदु रसयनद पेर्वोनल्प रिदपुद- ।
च्चरियागमृतद तोरेयु-
ब्बर मागलूतीवि बन्दु देनिपतिशयदिं ॥६०॥

अर्थ—मानो वहाँ भक्ति-रसायनकी वर्षा होरही हो, इस प्रकार उसने पंचामृतसे भगवान का अभिषेक किया। मानो अमृतका प्रवाह आरहा है, इस प्रकार भगवानके शिरसे अभिषेक की धारा नीचे आरही थी ॥६०॥

किरिदु बेगमोलगंगोट्टिदुं तदनन्तरं त्रैलोक्यमांगल्यनं कएणारे नोडि मनद पेर्चिदं करकमळंगळं मुगिदु निंदिदु)* ॥६१॥

अर्थ—इस प्रकार परिवार सहित भगवान की भक्ति पूजा करके त्रिलोक मंगलकारी भगवान को अपने नेत्रों से देखते हुए दोनों हाथ जोड़ खड़ा होकर ......॥६१॥

---

* चित्रवाहन महाराजनेंबना पुरमनालवरसंपांड्य वंशतिलकनेल्ला बसदिगलुमं वंदिसि यचिसुत्तुं तम्मय्यवयद त्रिभुवनतिलकमेंब बसदिगे बंदु माणिक्यद मणिसरंगगलिदं पोन्न पुष्पमालेगलिदं मुत्तिन लंबण-दिदं तानेतन्न कय्यारे पूजिसि कयगलं मुगिदु निंदिदुं (ग)

वह भगवान शान्तिनाथ की स्तुति करने लगा—

श्रेय निमिकेंगं सुखदलुकेंगमुन्नतकीर्तिगं यश-
श्रेयोद् विंगमोप्पवळविंगे महाबळकंतु सद्वच- ।
श्रेयोदविंगमाटिपोडे पूजसु निर्डळनागि निवृ ति
श्रेयुवतीशनप्प दुरितारि चतुर्मुख शांतिनाथनं ॥६२॥

अर्थ—ऐश्वर्य, अवगाहन, सुख, कीर्ति, यश, पराक्रम, सत्य, सच्चरित्र रूप में सबसे अधिक उन्नत, अनेक प्रकार के अंगरक्षक, मुकुट बद्ध राजाओं और देवों द्वारा पूजनीय होते हुए भी शुद्धात्मा में लीन रहने वाले और अन्त में राजवैभव को त्यागकर निवृत्ति मार्ग ग्रहण करके मोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त हुए पाप-नाशक आप चतुर्मुख शान्तिनाथ भगवान हैं ॥६२॥

चारुविलासनेत्रेयरनुत्पलगंधियरं मनोहरा
कारेयरं विदग्ध सुरसुंदरियर्कळ नागळुं सवि- ।
स्तार दोळूंदि भोगिसुवेनेंबोडे पूजिसु कूडे निवृ ति
श्रेरमणीशनप्प दुरितारि चतुमुख शांतिनाथनं ॥६३॥

अर्थ—सुन्दर नेत्रों वाली, सुगन्धित कमल के समान मुखवाली आकर्षक देवाबलाओं के समान सुन्दर स्त्रियों का पूर्ण रूप से भोग की इच्छा न करके मोक्ष लक्ष्मी के स्वामी बनने की इच्छा से आप पापों का नाश करके चतुर्मुख शान्तिनाथ बन गये । आप मेरी रक्षा करें ।

चोळन मेले नीडि करमं पदपल्लवमं कळिंगभू-
पालन मोडे नीडि मगधावनिपालकनं मलंगिसल्- ।
लीले योळिपेंनेंव मनमुळ्ळोडे पूजिसु देवपालभू-
पालकवंद्यनप्प दुरितारि चतुर्मुख शांतिनाथनं ॥६४॥

अर्थ—हे भव्यजनो ! यदि तुम हमेशा सुवर्णमय या रत्नमय सिंहासन पर बैठकर अनेक प्रकारके भोग विलासकी इच्छा करते हो, या कलिंगपति, मगधिपतिसे भी बढ़कर वैभवकी इच्छा करते हो, तो अनेक प्रकार के राजाओं और देवोंसे पूजनीय चतुर्मुख श्री शान्तिनाथ भगवान की भक्ति-पूर्वक पूजा करो ॥६४॥

आदरदिं मेय्दे परिचारकरिंतवधारिसेंदु हा-
रादिदुकूलमादिवर भूषणमं नुतनवस्त्रमं मर्हा- ।
बलादददिनुद्दु तोद्दु सुखमिपोडे पूजिसु नच्चेमेच्चे कू-
र्तादरदिंदमोल्दु दुरितारि चतुर्मुख शांतिनाथनं ॥६५॥

अर्थ—आदरके साथ परिचारकोंके द्वारा अपनी सेवा कराना चाहते हो, अनेक भाटों द्वारा अपनी स्तुति कराना चाहते हो, अनेक प्रकार के रत्न, हीरे आदि वैभव चाहते हो, सुन्दर वस्त्र चाहते हो, सुख सुविधा की आकांक्षा करते हो, तो अत्यन्त श्रद्धा के साथ किसी प्रकार की शंका न करके पापविजेता भगवान शान्तिनाथ की स्तुति-पूजा करो ॥६५॥

भोगके रूपिनुन्न तिगमिंद्रनरेंद्र महाविभूतिगं
चागद वीरदेळगेगमनंत सुखक्कमिहातळक्कगु- ।
र्वागि जसक्क माटिपोडे पुजिसु निश्चलनागि निवृत्ति
श्रेगधिनाथनप्प दुरितारिचतुर्मुख शांतिनाथनं ॥६६॥

अर्थ—यदि वैभवकी उन्नतिमें इन्द्र-नरेन्द्रके समान विभूतिकी इच्छा करते हो, अनन्त बल सुख चाहते हो, यश-कीर्तिकी इच्छा है तो मनमें किसी प्रकारकी शंका न करते हुए देवोंमें श्रेष्ठ श्रीशान्तिनाथ भगवानकी निश्चल मनसे पूजा करके अपने मनुष्य जन्मको सार्थक करो ।

धारिणियोळ् समस्ततिरिकं गळोळं नेरे पुट्टि सत्तु सं-
सारसमुद्रदोळितरियदिन्द्र-विभूतियोळिपेंनेंबोडा ।
चारदोळूंदि शुद्धमनदिं नेरे पूजिसु कूतु निवृ्ति
श्रेरमणीशनप्प दुरितारि चतुर्मुख शांतिनाथनं ॥६७॥

अर्थ—समस्त तिर्यञ्चगतिमें जन्म-मरण करके संसार समुद्र में जीव भ्रमण करता रहा है । यदि संसार समुद्रसे निकलकर अनन्त सुख चाहते हो या वैभव सुख चाहते हो तो शुद्ध आचार विचार और निश्चल बुद्धि से निवृत्तिका मार्ग ग्रहण कर पाप का नाश करके जो मोक्षलक्ष्मी के पति बन गये हैं, उन चतुर्मुख शान्तिनाथ की पूजा करो ॥६७॥

नोविनोळिकुंळोळवळव× किर्चिनोळिक्कुव सीळव पोळवको-
ग्दोवदे बैवपोयूव नरकंगळ दुःखदोळूंद दागळु- ।

× मुरिव (ग)

देवविभूतिभूतियोळ् नरेवेनोंबोडे पूजिसु कूतु निवृति ।
श्रेवनितेशनप्प दुरितारि चतुर्मुख शांतिनाथनं ॥६८॥

अर्थ—अनेक प्रकार दुःखों से मुक्ति चाहते हो, विविध प्रकारकी अग्निमें डाल कर दुःख देने वाले, नाना प्रकार के पशुओं द्वारा कष्ट देने वाले और आरे से चीर कर सताने वाले, निंद्य वचन कहने वाले, असह्य दुःख देने वाले नरक से बचना चाहते हो और देवों के सुख चाहते हो तो निवृत्ति-मार्ग ग्रहण करके पापों का नाश करने वाले मोक्ष लक्ष्मीपति चतुर्मुख शान्तिनाथ भगवान की स्तुति-पूजा करो ॥६८॥

आदियनादिगोंडु बहुदुःखमनूडुव कर्मवृक्षमं
छेदिसि वैरिमोहमनडर्तिरिदुन्नवेत्त मोच्चल- ।
च्मीदयितेशनागि सुखमिर्पोडे पूजिसु कूतु निवृत्ति
श्रीदयितेशनप्प दुरितारि चतुर्मुख शांतिनाथनं ॥६९॥

अर्थ—अनादि से आत्मा के साथ लगे हुए कर्म वृक्ष को काट कर, मोहरूपी शत्रु का सामना करके अन्तमें मोक्ष लक्ष्मीपति होकर सदा सुखी रहनेकी इच्छा है, तो मोक्ष लक्ष्मीके पति चतुर्मुख शान्तिनाथ भगवान की पूजा करके मनुष्य जन्म को सार्थक करो ॥६९॥

एंदु स्तुति शतसहस्रंगळिं चतुर्मुख शांतिनाथनं स्तुतियिसि समस्त-गुण भट्टारकरं* वंदिसि नित्यव्रतंगळं कैकोंडु (सिद्धसेसेयं कोंडु) किरिदु-बेगं धर्मम केळदु [चित्रवाहनमहाराजं तन्नरमनेगे पोदनित्तल् चंद्राभमहाराजं पांड्यकुल चूडामणिय सम्यक्त्वक्के मेच्चि तन्नोळिंतेंदं ॥७०॥

अर्थ—इस प्रकार सहस्र स्तुतियों से चतुर्मुख शान्तिनाथ को स्तुति करके मंदिर में विराजमान मुनि और गुण भट्टारक (मुनिगुप्त भट्टारक आचार्य) को नमस्कार करके बैठकर उनके मुखसे आदरके साथ उपदेश सुना । पश्चात् नित्यव्रत (सातों दिनोंके लिए व्रत) लेकर उनकी चरण-रज मस्तक पर लगाई । तब चित्रवाहन राजा अपने परिवार के साथ अपने राजमहल की ओर रवाना हो गया । चन्द्राभ राजा चित्रवाहन की भक्ति-पूजा देखकर बड़ा प्रभावित हुआ । और मन में सोचने लगा कि ॥७०॥

* मुनिगुप्त भट्टारकरं (ग)

कुलदोळपांड्यमहीशरल्ते पिरियेभूपालरोळमत्तमा
कुल जर्गग्गद् पोंगे कंपेनिपवोल देवं जिनाधीश्वरं ।
कुलदेवं गडमेंदोडिं नेरेये भापम्मम्म बण्णिप्परा-
रेले भाविप्पोडे पांड्यदेशजरे धन्यर् नोडे भूचक्रदोळ् ॥७१॥

अर्थ—पाण्ड्य राजाके समान दूसरा कोई कुलीन नहीं है । इसके समान धर्मात्मा कोई अन्य राजा न होगा । कुल-परम्परासे चली आई भक्ति-पूजा करनेमें ऐसा और कोई नहीं है। इसके हृदयमें पूज्य केवल जिनेन्द्र भगवान हैं, अन्य कोई देव नहीं है, ऐसी दृढ़ धारणासे सदा जिनेन्द्र भगवान की पूजा करने वाला पाण्ड्य देश का यह राजा भूमंडलमें धन्य है ॥७१॥

एंदु मत्तं ॥७२॥
ई नरेश्वरधर्मबुद्धियुमं व्रतंगळ पेंपुमं
हीनमप्प नेगळते योळ् खतियुन्न तिक्केयगुणपुमं ।
ताने केळदे पेळगु मोळियोळप्पु वीरजिनबिंबमें
दानेश्वरनळकरिं पोगळदं महीवळयेशनं ॥७३॥

अर्थ—एवं इस राजाकी धर्म-बुद्धि, मुनि महाराज से ग्रहण किया हुआ नित्य व्रत और उसमें इसकी दृढता इसके ही उपयुक्त है । क्या यह धर्म-आचारण साधारण जनों में पाया जाता है ? कुछ लोग गुण न होने पर भी अपनी कीर्ति स्वयं गाते फिरते हैं, किन्तु आत्म-प्रशंसा न करके अपने गुणोंको बढ़ाते रहनेकी भावना इस दानेश्वर पाण्ड्य नरेश चित्रवाहन के सिवाय और किस राजा में हो सकती है ? ॥७२-७३॥

एंदु पोगळदु पुरद महिमेगे आश्चर्य बट्टु ॥७४॥

अर्थ—इस प्रकार मनमें प्रशंसा करता हुआ विद्याधर नरेश चन्द्राभ उस नगरकी महिमा पर आश्चर्य-चकित होकर मन में कहता है ॥७४॥

नोडदिरन्यकांतेय रूमं पदेदळकरिनंते पेर्चि मा-
ताडदिरोंदुमं मरेदु पेर्बुसियं दुरितान्वितर्कळूळ् ।

कूडदिरेंब मातुगळ नल्लदे केळकुदृष्टियेंदु मा-
ताडिसबारदी पुरदोळंदोडे धर्म मनेननेंबुदो ॥७५॥

अर्थ—इस नगर की महिलाएं भी बहुत धर्मात्मा प्रतीत होती हैं। उनके बोल चाल में, आहार पान, व्यवहार में धर्मवृत्ति प्रकट होती है। चलते फिरते उठते बैठते वे प्रायः पुण्य-पुरुषों की चर्चा करती रहती हैं। उनके मुख से कभी पापजनक वार्ता नहीं निकलती। पुरुषों की भी प्रायः ऐसी ही दशा है। इस नगर में कोई स्त्री पुरुष मिथ्यादृष्टि और दुरा-चारी नहीं दीख पड़ता। इस तरह यह नगर धार्मिक वातावरणसे ओतप्रोत प्रतीत होता है।

एंदु पुरदोळाद तत्पुरुषरुमं पोगळदु—॥७६॥

अर्थ—इस तरह विद्याधर राजा चन्द्राभ ने उस नगर की जनता की प्रशंसा की। तत्पश्चात् विचारता है कि—॥७६॥

जिनभक्ति योळुर्वियोळी-
तने बगेपोडे देवनेंदु कैकोंडु जग-।
ज्जनमोल्दु पोगरे पडेदं
जनाधिपं पांड्यदेवनेंबी पेसरं ॥७७॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान को ही परम आराध्य जानकर दृढ़ श्रद्धा के साथ भक्ति करना ही इस जगत में सारभूत है। जिनेन्द्र देव की वैसी पवित्र श्रद्धा और भक्ति तथा निर्ग्रन्थ गुरु की विनय के साथ उपासना इस पाण्ड्य नरेश में अद्भुत है ॥७७॥

एंदु मनदळकरिं चित्रवाहन महाराजनं पोगळदु जिनभवनमं त्रिः प्रदक्षिणं गेय्दु निषिद्धियिं दोळगं पोक्कु दर्शनस्तुतियं पेळदु मुनिगुप्तभट्टारकरं वंदिसि परिविडियिं दुळद मुनिवररं वंदिसि कुळ्ळिदु ॥७८॥

अर्थ—इस प्रकार अपने हृदय में राजा चित्रवाहन के धर्मानुराग की प्रशंसा करके विद्याधर नरेश चन्द्राभ ने मन्दिरकी तीन प्रदक्षिणा देकर निःसहि, निःसहि उच्चारण करते हुए मन्दिर में प्रवेश किया और बड़ी भक्तिके साथ जिनेन्द्र भगवान की स्तुति करके दर्शन किये। तदनन्तर आचार्य मुनिगुप्त भट्टारकको विनीत भावसे नमस्कार किया, उनके चरणों की धूल अपने मस्तक पर लगाई और विनयपूर्वक उनके पास बैठ गया ॥७८॥

मुनिकुल सरोजतरणेगे
जिनसमयांबर निशाकरंगनुपमस- ।
ज्जन वंदितंगे दुर्गुण-
वननिधिबडवानलंगे खचराधीशं ॥७९॥

अर्थ—मुनिगुप्त भट्टारक मुनि-रूपी कमलों को प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्यके समान थे, जिन-शासन रूपी आकाश के लिए अनुपम चन्द्रमा के समान थे तथा दुर्गुण रूपी समुद्र को सुखाने के लिए बड़वानल के तुल्य थे और समस्त जनता से वन्दनीय थे । ऐसा विद्याधर-नरेश चन्द्राभ को प्रतीत हुआ ॥७९॥

विनयविनम्रमुखनागि कैमुगिदिदु तन्न बंद कार्यमं पेलवुदु मुनिगुप्त भट्टारक रिंतेंदर्] ❀ ॥८०॥

अर्थ—राजा चन्द्राभ ने विनय से नम्र होकर अपने संसार से विरक्त होने की तथा मुनि-दीक्षा ग्रहण करने की भावना श्री मुनिगुप्त भट्टारक के सामने कही । तदनन्तर श्री मुनिगुप्त आचार्य बोले ॥८०॥

मगने तपं मोग्गल्लदु
जगदोळ् वैराग्यमिल्लदं गातपमु- ।
ब्बेगमं माडुगुमल्लदे
खगेश पेरतोंदु सौख्यमं माडुगुमे ॥८१॥

अर्थ—हे भव्य विद्याधर ! तपस्या का मूल कारण वैराग्य है । यदि हृदय में सच्चा वैराग्य न हो तो बाहरी तपस्या से कुछ लाभ नहीं होता । इसलिए जगत में तप का मार्ग सुलभ नहीं है । यह तुम सूक्ष्म रीति से विचार करो ॥८१॥

पिडियं विडिसपोद× मरुल् खंडु गेगणे यनांतु बंदुदेंब नाळ्नुडियंते मर्कट वैराग्यदिं [श्रुतिविहीनरप्पवर् स्वर्गापवर्ग]+ सुखमं वयसि जिनदीक्षेयं

❀ राजभवनक्के पोपुदु चंद्राभमहाराजं पाड्यनं पलतेरदि पोगलदु जिनालयमं त्रि:प्रदक्षिणं गेय्दु निसिदियिंदोलगं पोक्कुदेवरं वंदिसि मुनिगुप्तभट्टारकरं वंदिसि तन्न बंद कार्य मनरिपुवुदुमवरिंतेंदर(ग)
× पिडिसपोद (ग) + मेलण (ग)

केय्कोंडु तपद् बेवसक्कारदे प्रच्छन्न+दोष गळागि (मरुभवदोळिपरिदप्प दुःखमं पोदुवरदरिं]÷ ॥८२॥

अर्थ–विवेक जाग्रत हुए विना बहुत से मनुष्य केवल शरीर को कष्ट देना ही तपस्या समझ लेते हैं। ऐसे मर्कट वैराग्य (बन्दर के समान विवेक-शून्य चञ्चल वैराग्य) से कुछ आत्मकल्याण नहीं होता। आत्मा का स्वरूप, आत्मा की संसार दशा और मुक्त दशा को समझे विना कोरी तपस्या आत्मा को लाभदायक नहीं होती। अविवेकी पुरुष स्वर्ग आदि सांसारिक विषय भोग पानेके लिये तपस्वी बन जाते हैं। इससे उनको मुक्ति नहीं मिलती संसार-भ्रमण ही बना रहता है। मुनि-दीक्षा लेकर जो व्यक्ति गर्व से स्वच्छन्द वृत्ति को ही अपना लेते हैं, प्रच्छन्न दोष करते रहते हैं, वे भी उस जिन-दीक्षा के लाभ से वंचित रहते हैं, संसार में चिरकाल तक भटकते रहते हैं ॥८२॥

नीरुं पुल्लियु किच्चुम
दारयवंदडुत्र ललनेयुं मडकेयु वि-
स्तारदोळूलेयुमिवेल्लम
दोरं तोडगूडे कूळनडुवंते वलं ॥८३॥

अर्थ–जिस तरह जल, अग्नि, चूल्हा, चावल आदि समस्त सामग्री मिलने पर ही पाचन क्रिया (रसोई बनाने) में निपुण महिला अच्छा भात बना सकती है, यदि इनमें से किसी एक वस्तु की भी कमी रहती है तो चावलों का भात नहीं बन सकता ॥८३॥

अदेंतेंदोडष्टाविंशतिमूलगुणमुं पदिमूरु तेरद चारित्रमुं दर्शनमुं बेरसु मोक्षमं साधिसुवुदु ॥८४॥

अर्थ–इसी तरह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और तेरह प्रकार का चारित्र, २८ मूलगुण का आचरण आदि साधनों से मोक्ष प्राप्त होती है ॥८४॥

इवरोळगोंदु गुणं ही-
नवागे कैवल्यमिल्ल केळदरिं भू।
भवनदोळदक्के तपदोळ्
विवेकियेनिसिदने नेगळवुदनितुं गुणदोळ् ॥८५॥

+ गुप्त (ग) ÷ संसारवृद्धियं माडिकोलवरदरिं (ग)

अर्थ—यदि इन साधनों में से किसी भी साधनकी कमी रहती है तो उससे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती । वैराग्य हो, आत्म-श्रद्धा हो, आत्मज्ञान हो, विवेक हो और विधि सहित चारित्र भी हो, तब ही मुनि-दीक्षा और तपस्या सफल होती है ।।८५।।

अदेंतेंदोडे नीरनु पुळ्ळियुमं अक्कियुमं अडवनुमं किच्चु मनोलेयुमं मडकेयुमं कूडिसु वल्लि इवरोळ मोंदिल्लदोडं कूळागदे किडुवंते मूलगुणं गळूळूंदुगुण मादोडं हीनमादोडे कैवल्यसुखं समनिसलरियदु ॥८६॥

अर्थ—रसोई बनाते समय यदि जल, अग्नि, चूल्हा, चावल, पाक-ज्ञान आदि साधन सामग्री में से किसी भी कारण की कमी हो तो कोई भी चतुर महिला भोजन तयार नहीं कर सकती । इसी तरह यदि मूल-गुणों में कुछ भी कमी रहे, सम्यक्त्व, भेद-विज्ञान आदि की न्यूनता हो तो मुनि की आत्म-साधना सफल नहीं हो पाती ।।८६।।

मूलगुणमादि सकलगु-
णाळियोळं किडदे नेगळवुदेगेट्टित्तें ।
देळिसियोंदरोळं
कीळादोडे तनगे सुखमदु किडुगु ॥८७॥

अर्थ—इसीसे मूलगुणों की तथा उनके साथी अन्य गुणों की समग्रता आत्म-साधना को सफल बनाती है । आत्मा को सुख-सम्पन्न बनाती है । यदि उन गुणों में न्यूनता होती है तो आत्म-सिद्धि नहीं होती ।।८७।।

पलवु शास्त्रमनोदिद
बलदिं मेय्वेर्चि गर्वदिं धर्मद पं ।
बलनुळिदु पिरियरप्पर-
नेलेयं कैकोळ्ळदुद्धतं मुनियल्लं ॥८८॥

अर्थ—कुछ शास्त्रों का अध्ययन करके जो मुनि अपने ज्ञान का गर्व करने लगता है । अपने आप को महान ज्ञानी समझ कर किसी को कुछ नहीं समझता । जैसा कुछ मन में आता है वैसा निरर्गल कह डालता है । सिद्धान्तकी अपेक्षा नहीं करता, वह स्वच्छन्द मुनि आत्मा का कल्याण नहीं कर सकता ।।८७-८८।।

तनगे सोगयिसद् वस्तुग
ळनितु मनिंबागे तोरेदु पुरुडिसि पेरना ।
वनो पोल्लमेंदोडंता
तनुमं कैकोळ्ळदातनु मुनियल्लं ॥८९॥

अर्थ–जो वस्तु अपने आपको अप्रिय या अनिष्ट हो, उसका त्याग करे तथा जो वस्तु अपनेको प्रिय या इष्ट प्रतीत होवे उसको ग्रहण करे। और फिर भी वह अपने आपको महान तपस्वी समझे। वह न तो वास्तव में तपस्वी है, न त्यागी है, न विरागी है। वह मुनि लोलुपी है। ऐसे स्वेच्छाचारी (स्वच्छन्द आचरण करने वाले) मुनि यथार्थमें मुनि नहीं होते।

कूसुगळं मुद्दाडिसि
देसिय मातुगळनाडि पेर्चिसि पेररं ।
लेसागि तनगे चोत्तिसु
वाशापर नेंदलारनुरुनिवृतियं ॥९०॥

अर्थ–श्रावक के घर जाकर बच्चे को गोद में लेकर खिलाना, उसका आलिंगन करना, रसोई होने तक बच्चे को घुमाना, किसी सम्बन्धी का समाचार देना, दूसरे को अपनी ओर आकर्षित करना, दूसरे मुनि के पास जाने को मना करना, इस प्रकार का आचरण करने वाला मुनि, मुनि नहीं है ॥९०॥

ओडनेय ऋषियं कळदो
तडिसदे गृहपतिगमवनपेंडतिगं ने-
र्पडे पेररनट्टि दूपिसि
नुडिव दिगंबरनमो धर्मेय्दु सुखमं ॥९१॥

अर्थ–किसी मुनि की प्रशंसा करने से रुष्ट होना, उसकी तपस्या और गुणों का कथन करने से ईर्ष्या करना, उसको पड़गाहने तथा दर्शन करने से दूसरों को रोकना, 'मेरे समान और कोई नहीं है, मेरे सिवाय दूसरे मुनिके पास नहीं आना', इस प्रकार कहने वाला मुनि इह और परलोक में सुख को प्राप्त नहीं कर सकता ॥९१॥

तडेयदे जिनपूजेगळं
किडिसि मनंपेर्वि तन्न पक्षद मनेग ।
ळगडिगडिगट्टुव मुनिपं
किडुगुं मेलप्प देवनिळपद सुखमं ॥६२॥

अर्थ—यदि कोई जिनेन्द्रदेवकी पूजा करता हो तो उसमें विघ्न डालना, यह पूजा शास्त्रोक्त नहीं है, यह कह कर शास्त्र-विरुद्ध क्रिया-काण्ड चलाना, शास्त्र की गलती निकालना, 'मैं जो कहता हूं वह होना चाहिये' इस प्रकार शास्त्र-विरुद्ध कहना, तथा अपने पक्षके श्रावकोंके घर आहार को जाने वाला, उनकी स्तुति करने वाला मुनि न स्वर्ग प्राप्त कर सकता है और न मोक्ष, अपितु दुर्गति को प्राप्त करता है ॥६२॥

नीनेम्म गुड्डनेपेर
नेनेंबुदु पेरगें भक्ति माडल्वेडें ।
देनो विडे जडिदु माणिप
हीन गुणं गेर गलागदरिवुळ्ळ नरं ॥६३॥

अर्थ—तुम मेरे शिष्य हो मुझे छोड़ कर दूसरे की भक्ति नहीं करना। दूसरे के गुणोंकी अवहेलना करना, दूसरों की निंदा करना, यह हीन गुण वाले हैं, इस प्रकारसे जो दूसरोंकी अनेक प्रकारसे निंदा करता है, वह साधु नहीं है। मेरे अन्दर जो गुण हैं वे अन्य साधुमें नहीं हैं, उन्हें नमस्कार नहीं करना, इस प्रकारका आचरण करने वाला साधु, साधु नहीं है।६३।

उगुरं मसेगिसि गुरुवं
बगेयदे जिनवचनरचनेयं मरेयिसि के ।
म्मगे तम्मुच्छेगे कथेयं
वगेगोळगंतते पेळबनु मुनियल्लं ॥६४॥

अर्थ—वार-वार नख को घिस कर सुन्दर बनाना, गुरुका तिरस्कार और निन्दा करना, जिनेन्द्र भगवान की वाणीकी रचनाके स्थान पर अपनी रचना करना, उनकी रचनाका लोप करना, जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा के विरुद्ध रचना करना, स्वेच्छा से कथा करना, ऐसा करने वाला मुनि नहीं है, वह तो केवल मुनि-भेषी है ॥६४॥

तन्नय समुदयमं पोग
ळवन्नेरे कैकोंडु पेरर समुदायमन ।
त्युन्न तिगिडे पळेयुत्ति
र्पन्नं नरकक्कमिळिगु मैबुडु सत्यं ।।९५।।

अर्थ—अपने दिगम्बर आम्नाय के संघ की प्रशंसा न करके अन्य भेषधारी साधुओं की प्रशंसा करना, दूसरे संघ की उन्नति करना, अपने संघ की अवनति करना, दूसरों के गुरु-आम्नाय-संघकी प्रशंसा और उत्कर्ष करना, इस प्रकार करने वाला साधु नरकगामी होता है।

पेररोळिळ दरादोडमे
तर तपसिगळंदु पळिवनु तन्नवरं ।
पेरर्तें दुर्जन रादोड
मुरे मनदोळकूर्तु पोगळवनु मुनियल्लं ।।९६।।

अर्थ—दूसरे तपस्वी की निन्दा करने वाला, मेरे सिवाय दूसरा कोई तपस्वी नहीं है, ये सब दुर्जन हैं, मेरे समान उत्कर्षशील और दूसरा कोई नहीं है, मेरे समान कोई गुणवान नहीं है, इस प्रकार दूसरे मुनियोंकी अवहेलना करने वाला मुनि नहीं है ।।९६।।

मेल्लने चर्चिसि नीनिव
र्वल्लदे बेसगेय्यवेड पेररिवरिं वि
ट्टोळिळदगारीघरेयोळ्
गिल्लेंदुरे नच्चितनु मुनियल्लं ।।९७।।

अर्थ—श्रावक को कहे—'तुमने देखा, मेरी कितनी कीर्ति है, कितनी विद्वत्ता है, दूसरे साधु को लोग मानते नहीं, केवल मुझे ही मानते हैं' इस प्रकारसे आत्म-प्रशंसा करने वाला मुनि, मुनि नहीं है ।।९७।।

बगेवंदी बाडीकू
ळगणितरुचियादुवक्क निन्नं तारी ।
जगदोळडबल्लरेन्नु ने
मिगे पोगळदु क्वने रुचियरोळ् मूर्तेनिकुं ।।९८।।

अर्थ—आज मैंने तुम्हारे यहां जैसा आहार लिया है, वैसा आहार मैंने जीवन भर नहीं किया । आज तुमने जो स्वादिष्ट, रुचिकर आहार भक्ति-पूर्वक दिया, ऐसा दाता दूसरा नहीं है । इस प्रकार आहारमें रुचि लेकर प्रशंसा करने वाला मुनि नहीं है, भूत है ॥६८॥

मत्तं [ऋषियरं गुणमं पेर्वोडिः—

पादरिगेय दूदत्रियंते पेररं संकेतं गोळिसदे, मन्नेयराळंते कोळिं गासे-गेय्यदे, बयलनीरंते मार्गं बिट्ट नडेयदे, कोणनंते इदु समुदायमु कददडे, करडियंते पिरियर नुडिगेडे वायदे, पुल्लेयंते गुणवंतर कूटक्के बेदरदे, ओडेद पालंते मूलगुणंकिडदे, नीरोळ् पुक्केगणेयंते पेरर् दोषमं परपदे, पुजिय बालदंते गुरुवचनमं मारदे, मुगिलंते पोत्ति गोंदु बरण मागदे, कोडगदंते कंडकंडर नेळिसदे, देसिगनंते काकियागदे, तोरेयोळिमंदनंते परिषहक्के नडगदे, बूति-नंते पेररवगुणमं दूरदे, सूळयन्ते चेन्नं मेरेयदे, बालकनन्ते पोल्लमं पिडियदे, हुच्चेय+ कट्टिगेयन्ते खळर नुडिगळ्ळाडदे इळिवोलद नीरंते कुपयक्केरगदे, पुत्तिनन्ते तपदोळमेलसियनागदे, तरियद मरनन्ते वक्रनागदे, बाजेयन्ते तपद क्लेशक्के बेंडागदे संचेयन्ते पोल्ल वस्तुविनोळ् रागियागदे, उक्किनन्तति-निष्ठुर नागदे,❋ तळेय सिरेयन्ते गुणदोळ् नूनमागदे, कागेयन्ते पेरर्गे पीडियं माडदे, नायन्ते गोत्रकलहमं माडदे,× तोळतुनन्तेपेरर वशमागदे, कूलिय बंटनन्ते बेलेयं पारदे÷ दाळिकारनन्तट्टट्टि पोगदे, राजपुत्रनन्ते लीलेयं मेरेयदे, (सूळवेंडतियंतोल्दोलिसदे, ग्रहदंते बेडिकोंडुणदे, मक्कळंते काडियु णदे, अरसाळिनन्ते नोयिसियुणदे सूरेगारनन्ते पेररं क्लेशंगोळिसदे, बट्टे-गुत्तनन्ते उपवासमं तोरि काडदे भट्टनंतोदोदं तोरि बय्यदे, (वैद्यनन्ते कुत्तमं तोरिमुनियदे, तोरेयन्ते मळमं तोरि बेर्चिसदे, किर्चिनन्ते ⁑ अडकमं तोरि नंबिसदे, दाळियन्ते डाहमं माडि किडिसदे, (पोळलं पुगुवुडुविनन्ते जिनेन्द्र-

---

+ हुव्वेय (ग) ❋ तरगेलेयंते नोच्चदनागदे (ग) × मरकटवक्किकयतेंपोल्लत्रसनं माडुत्तिरदे (ग)
÷ बेलेगे,माडदे (ग) ⁑ बेक्किनंते (ग)

मतमं पत्तुविक्कदे,) वडवनन्ते मन्नणिगासेगेय्युगे व्यंतरनंतळि बूजेगेरगदे, द्रोहनन्ते+गुजगुजगोळ्ळदे, पेर्गणदन्ते [पोसऋषिगे] गुरुगुरिसदे, [पुलियन्ते-पेर्गुपद्रवमं माडदे मरकुटवक्कियन्तो बायं बडियदे,) तु बियन्तो कुसुमप्रियनागदे, तरगेलेयन्तो अल्लल्लिगे पारदे,※ तळारनन्तो (पेरर) पोल्लमेयंपारदे, (सूळय मनेय गिळियनन्ते तन्न नोल्लदरं पळिदु ओल्वरं पोगळदे,) पाविनन्ते गीतक्के-रगदे, पुलबुतिनन्ते कंडरनेनानुमं बेडुत्तिरदे, × इरुं पेयन्ते कंपिगेरगदे, गाण-देत्तिनन्ते [नियमंगेट्टु पोंगेरगदे, विल्गारनंते नारि गासेमाडदे, हंसेयंते सार-ग्राहियु, शरत्कालद= तोरयंते निर्मळनु, सहस्त्रकिरणनंतेल्लर्गमेकरूपनु, [तं] गाळियंते मृदुगमननु, समुद्रनंते निस्सारदूरनु, कौंगिनंते वक्रगुण-रहितनु ÷ भयदबट्टेयोळपूपनंते संसारभीतनु, तंत्रपालनन्ते गुणपालनु, बलोंटेयंते मिथ्यात्वक्कभेद्यनु, मुत्तिनसत्तिगेयंतेल्लादेसेयोळ् सेव्यनु, पडे-वळनन्तो, संवरणाकारनु, सत्पुरुषनन्ते निर्मत्सरनु शर्करेयंतो निष्कषायनु, करुणाळुवप्परसिनन्तो त्रिदंड वर्चितनु, (मरेयन्तो सकलर्जिवननु)

युद्धसन्नद्धमन्तो[१] वीरनु, बुद्धिशालियंतारेके[२] युळ्ळनु, दूरदर्शियंतो मेलनरिवनु, बलमंभियंतो प्रमादरहितनु,[३]मंदरदंतो चमान्वितनु, कुतंगुळि-यंते हिताहारनु, चंद्रनन्तो शांतरूपनु, विवाहकालदंतो शुभोदयनु, मंगल-चरितनंते[४] कल्याणवचननु, नीतिपरनन्ते लोक (स्वरूप) ज्ञनु, दंडं नडेयिसु वनन्ते, देशज्ञनु, अवधिज्ञानियंते सकलांतरंगज्ञनु, [मनेवेर्गडेयंते बेसरं माड-दनु, बाणसिगनंते पेररिच्छेयनरिवनु, गजवाहकनंते मुन्दरिवनु, तुरगारूढनंतो बट्टेयनरिवनु] परुगोलनेरिदनं तडकमुळ्ळनु, राजसेवकनंतडकवंतनुमुप्पुदु ।

अर्थ—हे चन्द्रनाभ ! मुनि-मार्ग यानी-मुनियोंकी चर्या, उनकी तपस्याका मार्ग साधारण

+पोलेसूलेसोल्तते (ओ० क०) ※कावेरिय नीरंतल्ललिजगे परियदे (ग) ×पेरराहम नेनेयदे (ओ० क०) =मागिय (ग) ÷नेरिदनु (ग)

१ निच्चट गलियंते (ग) २ पगेयुल्लनंतारेक (ग) ३ बल्लभोक्कलंते मयस्थितनु (ग) ४ मंगलवृत्तदन्ते (ग)

नहीं है । मुनि बननेसे पहले लोग बड़ा वैराग्य दिखाते हैं, संसार से विरक्तता प्रगट करते हैं । किन्तु थोड़े से शास्त्र पढ़ते ही उनमें ज्ञान का अभिमान हो जाता है । उनके आत्मामें मान कषाय उग्ररूप हो जाती है । ऐसा वैराग्य मर्कट-वैराग्य है, स्व और पर का अहित करने वाला है । अतः तुम सोच लो । बच्चे के हाथ में तीक्ष्ण शस्त्र देने से वह अपना ही हाथ पांव काट लेता है, इस ही प्रकार आत्म-कल्याण के मार्ग का स्वरूप ज्ञात न होने से कुछ मुनि अनाचार मार्ग की प्रवृत्ति करके अपना अहित कर लेते हैं ।

किसी मुनिके पास यदि अन्य मुनिकी प्रशंसा की जावे तो वह उसे सहन नहीं होती, जैसे किसी वेश्याके पास अन्य वेश्याकी प्रशंसा की जाय तो उसको सहन नहीं होती । यदि आप को मुनि बनना है तो इन बातों पर विचार करो और मनमें इन बातों को आश्रय न दो । अन्न की आशा के लिए दीनता नहीं करनी चाहिए, जैसे कि याचक लोग करते हैं । जैसे पानी मैदानमें आकर बिखर जाता है, इसी प्रकार मुनि अपने संघ को छोड़ कर आचरण न करे । भैंसा जैसे अपने समुदाय को नहीं छोड़ता, इसी प्रकार से मुनि को भी अपना संघ नहीं छोड़ना चाहिए । जैसे रीछ मदारी के इशारे पर नाचता है, उसी प्रकार अन्यके अधीन होकर नहीं चलना चाहिये, बल्कि जिनेन्द्र-प्ररूपित मार्गका अनुसरण करना चाहिए । हिरण जिस प्रकार दूसरे को देखकर भयभीत होता है, उस प्रकार मुनि-मार्ग को कठिन जानकर भयभीत नहीं होना चाहिये । जैसे नमक की डली दूध में पड़ जाय तो वह फट जाता है, इसी प्रकार मुनि अपने मूल-गुणोंका नाश न करे । पानीमें पड़ा हुआ तेल जिस प्रकार फैल जाता है, उस प्रकार दूसरे के दोषों को ग्रहण न करे । श्वान की पूंछ सीधी करने पर भी टेढ़ी रहती है, इसी प्रकार गुरु के वचनों को उल्लंघन न करे । आकाश में जैसे समय-समय पर रंग बदलता है, इसी प्रकार व्रत ग्रहण करके उसके प्रति अन्यथा भावना नहीं होनी चाहिये । जैसे एक बन्दरके आने पर दूसरा बन्दर घुड़की देता है, उसही प्रकार दूसरे मुनिके पास आने पर भाव नहीं करना चाहिये । जैसे कोई विदेशी मार्ग में भटक जाता है, इस प्रकार जिनेन्द्रके मार्गसे भटककर अन्यथा प्रवृत्ति न करे । शर्दीमें ठंडे जलसे स्नान करने पर कंपकंपी आ जाती है, इसी प्रकार बाईस परीषहोंके आने पर भयभीत नहीं होना चाहिये । पिशाच-ग्रस्त व्यक्ति जैसे यद्वा तद्वा दूसरेको कष्ट देता है, उसी प्रकार मुनि साधु-समुदायको कष्ट न देवे । सती अपने कर्तव्यको भूलती नहीं है, इसी प्रकार साधु अपने नित्य षट्कर्मको न भूले । छोटा बच्चा जो हाथमें पड़ जाय उसे ही मुंहमें दबा लेता है, इस ही प्रकार साधु को जो धर्म रुचे उसे ही नहीं ग्रहण कर लेना चाहिए । जैसे दुष्ट लोग जैसा मौका पड़ता

है, वैसी बात करते हैं, इसी प्रकार साधु पराधीन होकर न बोले अर्थात् भाषा-समिति न छोड़े। जैसे पानी का बहाव नीचे ढलानकी ओर होता है, इसी प्रकार साधुको दुर्जनों की संगतिमें पड़कर अधोगति की ओर ले जाने वाला उपयोग नहीं लगाना चाहिए। जैसे सांप बाहर टेढ़ा चलता है, किन्तु बिलमें आने पर सीधा चलता है, उस ही प्रकार जनताके सामने सरल परिणामी रहकर अपने मूलगुणोंमें कुटिलता नहीं करनी चाहिये। नारियल के वृक्ष के समान टेढ़ा न होकर ऋजु-सरल होना चाहिए। बालिका के समान तपके क्लेशसे घबराना नहीं चाहिये। सन्ध्या के बाद जैसे लोग घर में आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार तपश्चर्या से घबड़ा कर किसीका आश्रय लेनेकी इच्छा न करे। फौलादके समान कठोर न हो। जैसे कच्ची रंगी साड़ी पानीमें डालते ही फीकी पड़ जाती है, इसी प्रकार तपश्चर्या से घबड़ा कर निस्तेज न होना चाहिए। कौएके समान दूसरोंको पीड़ा न देना चाहिए। कुत्तेके समान गोत्र-कलह नहीं करना चाहिए। दासके समान परवश नहीं होना चाहिए। मजदूर अपना काम करता है किन्तु मालिक का लाभ, हानि नहीं देखता, उसी प्रकार तप करते हुए सांसारिक हानि लाभ का खयाल न रखना चाहिये। अन्य डाकू लोग जैसे पर का घात करते है, वैसे स्व-पर का घात नहीं करना चाहिये। राम-पुत्र के समान अपनी मर्यादा न छोड़ना। सती स्त्री जैसे अपने पतिसे द्वेष नहीं करती, उसी प्रकार धर्मकी उपेक्षा न करना। श्रावककी प्रशंसा करके दीनता न करना। जैसे छोटे बच्चे अपनी माताको सता कर भोजन करते हैं, उसी प्रकार गृहस्थोंको परेशान करके आहार न करना। राज-कर्मचारी जैसे दूसरोंको सता कर अपना पेट भरता है, उसी प्रकार दूसरोंको दुःख देकर आहार करने वाला साधु, साधु नहीं कहलाता। मेरे आठ उपवास हो गये हैं, मेरा शरीर कृश हो गया है, मेरा ध्यान नहीं रक्खा, इस प्रकार उपवास का बहाना करके दूसरों को क्लेश देकर आहार न करना चाहिये। महा ब्राह्मण जैसे यजमानके घर जाकर उसे कोस-कोस कर खाता है, उसी प्रकार श्रावक को कोस कर आहार न लेना। वैद्य जैसे आने वाले रोग को बता देता है, इसी प्रकार आगे आने वाली आपत्ति को बता कर आहार न करना। नदी में बाढ़ के समय जैसे मिट्टी भी बह जाती है, उसी प्रकार दूसरों के संसर्ग से मूल गुणों में दोष न लगाना। जैसे अग्निकी ज्वाला प्रज्वलित होकर शान्त हो जाती है, उसी प्रकार आहार के समय क्रुद्ध होकर फिर शान्त होकर आहार न करना। जैसे डाकू आतंकित करके दूसरे का माल अपहरण कर लेते हैं, उसी प्रकार किसी को भयभीत करके आहार न करना। भगवान जिनेन्द्र के मार्ग में अन्यथा भावना करके अन्य धर्म में रुचि न करे। निर्धन जैसे धन को

आशा करता है, उसी प्रकार इन्द्रियोंके विषयोंमें लंपट होकर आशा न करना। व्यन्तर जैसे नारियल आदि की अपेक्षा करता है, उस ही प्रकार किसी वस्तु की अपेक्षा करके आहार न करना। गुरु या गुरु-भाई के प्रति विद्रोही या विद्वेषी न होना। दूसरेके गुणके प्रति मलिन भावना न रक्खे। भ्रमर जैसे फूलों से प्रेम करता है, उसी प्रकार श्रावक के अन्न में रुचि न रक्खे। चौकीदार जैसे अपनी ड्यूटी देता है, उसी प्रकार स्वाध्याय आदि की केवल ड्यूटी पूरी न करे। वेश्या के घर का तोता जैसे उस वातावरण के अनुकूल ही बोलता है, इस ही प्रकार जितना सीखा है, उतना ही न रटता रहे। सर्प के समान गोत के अधीन न होना। व्यन्तर के समान अनेक वस्तुओं की मांग न करना। चींटीके समान मीठेकी इच्छा न करना। तेली के बैल के समान मूल-गुणों को छोड़कर इधर उधर नहीं जाना। बड़ की जटायें जैसे नीचे की ओर जाती हैं, इसी प्रकार तपस्या से घबड़ा कर भूमि न पकड़ना। फलों के भार से जैसे वृक्ष नीचे को झुक जाता है, इस ही प्रकार परीषहोंसे झुकना नहीं। हंस के समान सारग्राही बने। शरतऋतु के जलके समान हृदय निर्मल रहे। सूर्यकी किरण के समान तेजस्वी, निश्चल और एक रूप रहे। मन्द वायु के समान धीरे-धीरे चले। समुद्र के जल के समान निस्सार न बने। नारियल के पेड़ के समान वक्र न बने। रास्ते में भयभीत व्यक्ति जैसे शीघ्रतासे उस मार्गको पूरा करना चाहता है, उस ही प्रकार संसार-भीरु रहना चाहिए। तान्त्रिकों के समान दत्तचित्त रहना चाहिए। राजधानी के चारों ओर परकोटा होता है, उसी प्रकार सम्यक्त्व रूपी परकोटा रहना चाहिए। मोती के समान सबके लिये ग्राह्य होना चाहिए। कर्मों की निर्जरा के लिये सदा शूरवीर रहना चाहिए। सत्पुरुष के समान मत्सरहीन रहना चाहिए। शक्कर के समान निष्कषाय रहना चाहिए। करुणावान राजाके समान त्रिदण्ड-वर्जित होना चाहिए। सम्पूर्ण जीवों पर दयालु होना चाहिए। जैसे योद्धा युद्ध के सन्मुख रहता है, उसी प्रकार कर्म शत्रुओं का नाश करने के लिये शूरवीर रहना चाहिये। सदा बुद्धिशाली, जागृत, दूरदर्शी रहना चाहिए। चतुर मंत्री के समान सावधान रहना चाहिए। मेरु पर्वत के समान क्षमाशील होना चाहिए। हित मित आहार करने वाले, चन्द्रमा के समान शान्त, विवाह के अवसर के समान मंगलमय आचरण करने वाला, हमेशा कल्याण की इच्छा करने वाला, नीति और व्यवहार को जानने वाला, सेनापति के समान संघ को चलाने वाला होना चाहिए। देशज्ञ होना चाहिए। अवधिज्ञानी के समान प्रत्येक के हृदय को समझने में चतुर होना चाहिए। किसी के हृदय को पीड़ा पहुँचाने वाला न हो। रसोइया जिस प्रकार रुचि देखकर रसोई

बनाता है, उसी प्रकार लोक-रुचि को देखकर धर्मोपदेश देना चाहिए। महावत का ध्यान जैसे अंकुश पर रहता है, उसी प्रकार सदा आत्मा की ओर ध्यान रखना चाहिए। घोड़ा जिस प्रकार मार्ग छोड़ कर नहीं जाता, इसी प्रकार मोक्ष मार्ग पर सदा रहना चाहिए। नट जिस प्रकार बांसपर चढ़ता और उतरता है, उसी प्रकार व्यवहार और निश्चय दोनों दृष्टियाँ रहनी चाहिये। राज-सेवक जैसे राजा की सेवा में दत्तचित्त रहता है उसी प्रकार भगवान की सेवा में सदा दत्तचित्त रहना चाहिए ॥९९॥

मुनियदिर्पुदु धर्मदोळ् दृढनप्पु दागमदंदमं
नेनेयुतिर्पुदु पोल्लरोळकळगोळ्ळदिर्पुदु शिष्टरोळ्
विनयमं प्रतिपालिसिर्पुदु जीवरक्षकनप्पुदा
गममनोवदे मेच्चिचर्चिसदिर्पुदोय्यने पापदोळ् ॥१००॥

अर्थ–मुनिको किसी पर क्रोध नहीं करना चाहिए। धर्म पर दृढ़ रहना, सदा जिनागम को स्मरण करना, असंयमी के साथ व्यवहार नहीं करना, साधर्मियों के साथ शिष्ट व्यवहार रखना, गुरु जनों के साथ विनयशील रहना, सदा जीव दया में परायण रहना, आगम-विरुद्ध आचरण नहीं करना, सदा आगम की चर्चा करना और पापभीरु रहना ॥१००॥

जिनवचनमेंतुटंतुटु
मननुनयदिं पेळदन्ते तन्निच्छेगे के।
म्मने तट्टे गळपि+ पेररं
तनगे वशंमाळपनेय्दुगुं दुर्गतियं) ॥१०१॥

अर्थ—भगवान जिनेश्वर का वचन ऐसा है या वैसा है, ऐसे मनमें शंका करके उसके विरुद्ध मन-माना प्रचार करना, शास्त्रोंकी बातोंका विरोध करके अपने मतकी पुष्टि करना, दूसरों को उसी मार्ग पर लगाने का प्रयत्न करना, दूसरे को अपने अनुकूल करने की चेष्टा करना, इस प्रकार जो साधु करता है, वह सब दुर्गति का कारण है ॥१०१॥

पेररवगुणमं कंडोडे
यरेयट्टि तगुळदु दूरवेडवररिवर् ।

+ कट्टेगलिपि (ओ० क०)

पेररेगेय्दोडमें ता

करेमरेयणमिल्लदन्तु नेगळवुदु मुनिपं ॥१०२॥

अर्थ—दूसरेके गुणोंको देखते सुनतेही उसकी प्रशंसा न करके निन्दा करना, उसके गुणों को अवगुण बताकर प्रचार करना, उसका तिरस्कार करना, उसके कामों को पसन्द न करना, अपनी क्रिया की प्रशंसा करना, अपने गुणों की प्रशंसा करना, दूसरे के गुणों को ढांकना, स्वयं में जो गुण नहीं हैं वे गुण बताना; ये सब बातें दुर्गतिकी कारण हैं ॥१०२॥

पोलेयर्बडिव परेयोजेगाडुवपगरणिगरं कंडवर्नगुत्तरल्लदेयत्तराटक्के लत्तणमं नोडर्; कृत्यदोळ् परीचेयं माळपंते, मिथ्याज्ञानिगळ कुळेतुदृष्टांतक्केरगि दुश्चारित्रदोळ् नगळवरळियदोषमं पारर्; तत्वदोळ दृढरागि सदाचारदोळ् नगळवरल्लि गुणदोषमनरसुवरदरिं ॥१०३॥

अर्थ—धर्म-अधर्म की परीक्षा न करके नीच जनों की प्रवृत्ति का अनुमोदन करना, धर्माधर्म का विचार न करना, मिथ्यात्व की पुष्टि करना, मिथ्यात्व-मत की प्रशंसा करना, उसके तत्वों को मानना, 'तुम्हारा मार्ग श्रेष्ठ है—ऐसा मार्ग कभी नहीं देखा' इस प्रकार उस मार्ग की पुष्टि करना, अधर्मी लोगों के साथ रहकर अपना महत्व बढ़ाने का प्रयत्न करना, इस प्रकार जैनाभास के विरुद्ध महत्वाकांक्षा करने वाला, अपनी ख्याति चाहने वाला साधु दुर्गति के अलावा और कहीं नहीं जाता।

अतः ग्रन्थकार कहते हैं कि बहुत से साधु ख्याति-लाभ की इच्छा से जिनेश्वर के मार्ग के विरुद्ध कुहेतुओं का आश्रय लेकर दुश्चरित्र लोगों के साथ वैसे ही बन में जाते हैं और अपने दोषों को नहीं देखते। उस समय उनको सद्धर्म का उपदेश रुचि-कारक नहीं होता। अतः भगवान जिनेश्वर-प्रतिपादित तत्वमें दृढ़ रहकर सदाचारमें प्रवृत्ति करने वाला दूसरों के गुण दोषों को न देखने वाला साधु इहलोक और परलोकका साधन कर सकता है। अतः हे चन्द्रनाभ! किसी आडम्बरमें न पड़कर भगवान वीतरागके मार्ग का अनुसरण करना ही तुम्हारा कर्तव्य है, भगवान का रूप धारण कर उसके विरुद्ध आचरण करना इह लोक और परलोक को विगाड़ने वाला है। अतः आप इन सब बातोंका विचार करके मुनि-व्रत धारण करना ॥१०३॥

भाविसुवोडं तरंगं
केवळमे साल्गुमोंदे बहिरंगमनि ।
न्नो वुद्णमेंदु विडुवा
गाविलनार्तपने किडिसलघसंततियं१ ॥१०४॥

अर्थ—केवल अन्तरंग परिग्रह का त्याग करने पर भी मुनि नाश को प्राप्त होगा, और केवल बहिरंग परिग्रह का त्याग करने पर भी नाश को प्राप्त होगा। अन्तरंग परिग्रह का त्याग किये विना केवल बहिरंग परिग्रह का त्याग निष्प्रयोजन है और बहिरंग परिग्रह का त्याग किये विना अन्तरंग का त्याग निरर्थक है। दोनों ही प्रकार का त्याग मुनिको करना उचित है। तभी पाप नष्ट हो सकते हैं ॥१०४॥

नेरे बहिरंगमे सालगें
दरियदे पेर्चिदमंतरंगददेसेयं ।
मरेदु मतिगेट्टु माडुव२
कुरि तानार्तपने किडिसलघसंततियं ॥१०५॥

अर्थ—जो साधु अन्तरंग को भूलकर जनता की प्रशंसा प्राप्त करने के लिये केवल बहिरंग का ही त्याग करता है और बाह्य आडम्बर त्याग का उपदेश देते हुए भी अन्तरंग त्यागको भुला देता है तो भी वह पाप संततिको नष्ट नहीं कर सकता। और परिषह सहन न होनेके कारण बाह्य परिग्रह का त्याग न करके केवल अन्तरंग शुद्धि करता है और बाह्य क्रियाओं को निरर्थक कहता है, वह भी पाप-संतति को नष्ट नहीं कर सकता ॥१०५॥

अदरिंतरंगदोळं बहिरंगदोळं कूडि नेगळव (बुद्धिवंतने सकलकर्ममं किळतेट्टु शाश्वतसुखमं पोदुगुमंतेरडक्क मारदोंदरोळ नेगळदु निरंतर सुखमं पडेवेनेंब निर्बुद्धि)३ योंदगालियोळ् रथमं नडेयिसु वेनेंब,४ (नीरिल्लदे कूळनडुवेनेंब.) काविल्लदे कोडलियोळ् मरनं कडिवेनेंब [भार्येयिल्लदे मगनं पडेवेनेंब

१ कर्मवेरियकिडिमल् (ओ० क०)। २ मतिगेट्टुकेली (ग)। ३आतने मोक्षलक्ष्मिगे वल्लभनक्कु मोंदरोळे नेगलदु मुक्तियं पेडवेनेंबातं (ग)। ४ ओंदे कालोल् परिवेनेंब, लोक्किल्लदे सीरेयनेय्वेनेंब, मदवलिग निल्लदे मदुवेयं माडुवेनेंब, सूजियिल्लदे पोलिवेनेब, कत्तरियिल्लदे गाणवाडुवएगनं (ग)।

केवुत्तिद्वादिरिवेनेंब] नारिल्लदे पुगद्दुवेनेंब,× पेर्गोत्रिलनं पोल्कुमिंतु ॥१०६॥

अर्थ—अतः जो बुद्धि-पूर्वक अन्तरंग और बहिरंग दोनों परिग्रहों का त्याग कर देता है, वही पाप कर्मोंका नाश करता है। जैसे गाड़ीमें दो पहिये होने पर ही गाड़ी चल सकती है। यदि एक पहिया हो या दूसरे पहिये में त्रुटि हो, तो गाड़ी नहीं चल सकती। इसी प्रकार दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग किये बिना किसी प्रकार पापोंका नाश नहीं कर सकता। जो व्यक्ति एक ही प्रकार का त्याग करता है, और उससे ही कर्मों का नाश मानता है, वह एकान्त मिथ्यादृष्टि है। वह सन के बिना रस्सी, वृक्ष के बिना फल, बिना पानी के रसोई, डंडेके बिना कुल्हाड़ीसे वृक्ष काटना तथा बिना स्त्रीके पुत्र प्राप्ति चाहता है ॥१०६॥

लेसु बहिरंगमिल्लदो
डासेयदेनंतरंगमुं तनगिनिसुं
लेसागलरियदेंतेने
त्रासिन कोडनोंदुविर्दों डोंदुळिदपुटे ॥१०७॥

अर्थ—बहुत से ऐसे भी व्यक्ति हैं जो यह कहते हैं कि मुझे बहिरंगकी आशा नहीं है। केवल अन्तरंगकी ही आशा है। उनके लिये आचार्य कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति बहिरंगके बिना अन्तरंग की प्राप्ति चाहने वाले वैसे ही हैं, जैसे किसी निर्धन दुर्बल व्यक्ति पर जिसे भोजन भी नहीं मिल रहा, उनकी शक्तिसे अधिक भारी पत्थर उसके सिरपर रख दिया जाय ॥१०७॥

[एनिसुबलमुळ्ळनुं भों
कनेपरियल्बारदोंदे कालिंदं ता
नेनितरिदोडमोंदंगदो
ळनघश्रीवधुवनेरेयलेंतुं नेरेयं ॥१०८॥

अर्थ—जैसे संपत्ति, संतति और वैभव होने पर भी यदि किसीके पैर टूट जांय तो वह अपनी निकटवर्ती दुकान या मकान पर भी नहीं पहुंच सकता, उसी प्रकार बाह्य त्याग के बिना केवल अन्तरंग त्याग से मोक्ष-लक्ष्मी प्राप्त नहीं हो सकती ॥१०८॥

× मोंदे कैयोळ् पाल्गडे-वेनेंब, ओंदेयेत्ति नोलुजुवेनेंब (ग)

अदरिंदोंदने पिडिदु कर्ममं गेल्वेनेंदु गाविलतनदिंदिरदे बहिरंगदोळमं-तरंगदोळं कूडि नेगळदुदुरितमं किडिसिनिर्मळ नप्पुदु ॥] ॥१०९॥

अर्थ–अतः अनादिकाल से लगे हुए कर्म-शत्रुओं को जीतने की इच्छा रखने वालों को उचित है कि वे अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह का परित्याग करने में ही अपनी बुद्धिमत्ता का अनुभव करें।

बाह्य परिग्रह मनुष्य का अपना शरीर, धन, मकान, दास-दासी, स्त्री-पुत्र आदि हैं। जिसमें मनुष्यका ममत्व रहता है, ऐसी प्रत्येक बाह्य वस्तु बहिरंग परिग्रह है। और हृदयका भीतरी राग मोह-परिणाम अन्तरंग परिग्रह है। जब तक अन्तरंग परिग्रह या राग परिणति है, तब तक केवल बाह्य वस्तुओं का त्याग करने से क्या लाभ है? इसी प्रकार जो व्यक्ति बाह्य परिग्रह रखकर यह दावा करता है कि उसके अन्तरंग परिग्रह का अभाव होगया है। तो वह भी मिथ्या है। जब तक मोहके कारण उपस्थित हैं, तब तक मोह का त्याग कठिन है। यदि अन्तरंग मोह न हो तो बाह्य परिग्रह रखने की आवश्यकता क्या है। मोह है, इसीलिये तो बाह्य परिग्रह रख छोड़ा है। अतः एकान्त पक्ष नहीं है। दोनों ही प्रकार के परिग्रहों का त्याग करने पर ही कर्मों की निर्जरा हो सकती है ॥१०९॥

करमोलिळदनिवनोंदो
वॅर शिष्यन नूरितोरि नुडिदोय्यने मा।
ण्दिरदोय्दु दीक्षेगुडुवं
परमार्थ सुरिगुमुग्रसंसृति वनदोळ् ॥११०॥

अर्थ–विना परीक्षा किये दीक्षा देने वाला तथा विना इच्छाके बलात् दीक्षा देने वाला, गुरु अयोग्य है क्योंकि यदि वह शिष्य पीछे शिथिलाचारी हो जाय अथवा अपने गुरु के प्रतिकूल हो जाय तो ऐसे गुरु और शिष्य दोनों संसार में परिभ्रमण करते हैं ॥११०॥

[एनुमर्नारयद मुनिपं
हीनगुणं वंदु दीक्षेवेडिदोडवनं।
तानळिपिं कैकोळ्ळदे
नूनं निरिसुवुदु मुन्निनंददोळवनं ॥] ॥१११॥

अर्थ–निर्गुण व अवगुणी व्यक्ति को विना परीक्षा किये दीक्षा देने वाला साधु स्वयमेव

पापका भागी होता है। और दीक्षा लेने वाला शिष्य यदि गुरुके विरुद्ध आचरण करता है। तो वह भी पापका भागी होता है। इस प्रकारके गुरु और शिष्य दोनों ही अच्छी गति को प्राप्त नहीं होते, बल्कि उनको नीच गति ही प्राप्त होती है ॥१११॥

मुन्निन कुलमं सिरियं
तन्नूरं तन्न पेंडिरं मक्कळुमं।
तन्न महिमेगळनळिपि
दं नेनेयुत्तिर्प दुर्जनं मुनियल्लं ॥११२॥

अर्थ—दीक्षा लेने के बाद अपने कुलकी महिमा, जाति, ऐश्वर्य, गांव, वैभव, अपनी स्त्री की महिमाका स्मरण करने वाला तथा उसकी प्रशंसा करने वाला मुनि नहीं है, दुर्जन है।

तां पोल्लमे यल्लदोडं
गांपरनुरसुकरनळिपरं कंडोडे केळ्।
वेंपिंद मिरदे भयदिं
कंपिसि च्चमेगोंडु नेगळवुद्धिकनेनिप्पं ॥११३॥

अर्थ—अट्ठाईस मूलगुण धारण करने के बाद बाईस परीषहों के सहन करने का अवसर आने पर अपने व्रतमें उदासीन होना, प्रमाद करना, संक्लिष्ट परिणाम होना, ये सब संसार-भ्रमण के कारण हैं ॥११३॥

एम्मरिसियेम्म जिनगृह
वेम्मोडवेगळम्मगुड्डुरेम्मर्य म।
त्तेम्म नेलनेंदु माणदे
केम्मने दसेगेट्टु नुडिवमुनि* मुनियलं ॥११४॥

अर्थ—यह मेरा ऐश्वर्य था, यह मेरा जिन मंदिर था, यह संपत्ति मेरी थी, ये शिष्य मेरे थे, ऐसी भावना करने वाला मुनि नहीं है ॥११४॥

---

*नुडिवनु (ग) पुन्नेयर्व्वडिवसरिगाडुवर्पगरणदाटक्के नगुवरअदे लक्षण मनरिव सत्पात्रदोळ् लक्षणमं नोडुवरंते मिथ्यादृष्टिगळपेलकेयिं नडेवरल्लि दोषमं माडुवरदरिं दोष मिल्लदंतागि नडवुदु, जिनभवन……(ग)

मुन्नं व्रतमित्तवरं
तम्मळिपिं परिदु किडिसुपोर्त्रतमं ।
मन्नणियिं व्रतमं कुडु
वं नरकक्कि रिदु पोपुदेनच्चरिये ॥११५॥

अर्थ–जिससे दीक्षा ली है, उनका नाम न ले, व्रतके पालन में कठिनाई आने पर पूर्व स्थिति में आ जावे, अपने दीक्षा-गुरु का नाम न लेकर दूसरे का नाम लेने वाला, दीक्षा-गुरु का नाम छिपाने वाला, व्रत को भंग करने वाला मुनि दुर्गति में जाता है, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है ॥११५॥

जिनभवनमेल्लमं स
ज्जिन चैत्यावळिगळल्लमं दिव्यतपो ।
धनरेल्लरुमं समना
गनवरतं काण्व मुनियेमुनिवरनेनिकुं ॥११६॥

अर्थ–आचार्य कहते हैं कि जितने जिनालय हैं, दिव्य तपोधन हैं, श्रावक हैं, उन सबको समान भाव से देखने वाला ही श्रेष्ठ मुनि है ॥११६॥

[रागद्वेषं तनगुं
टागे तपं वट्टु नमेवनवनिनि सानुं ।
रागद्वेषं तन्नि
पोगे तपंवट्टु नमेवनवनिनिसानुं ॥११७॥

अर्थ–अपने मन में राग-द्वेष उत्पन्न न हो, ऐसी तपस्या करने वाला ही तपस्वी कहलाता है । मन में रागद्वेष रख कर तपस्या करने वाला मुनि कषाय-दग्ध होता है । उसके लिये कषाय ही तप है ॥११७॥

बिडद परिग्रह भरदोळ्
तोडदुं निर्ग्रंथ नागियुं सग्रंथं ।
तोडदं परिग्रहभरमं
विडुवं सग्रन्थ नागियुं निर्ग्रंथं ॥११८॥

अर्थ—जिन्होंने सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर दिया, यदि उसके कषाय-परिग्रह है तो निर्ग्रन्थ नहीं है, वह सग्रन्थ है। यदि सग्रन्थ होते हुए भी कषाय-परिग्रह नहीं है तो वह उपचार से निर्ग्रन्थ कहलाता है ॥११८॥

[अदुकारणदिंदे तपमेंबुदु सामान्यमल्लदु; नीनु निन्न मुन्निन विद्याधरराज्यमं कैकोंडु सुखदिनिरेंबुदु, चंद्राभमहाराजं मुनिगुप्तभट्टारकगिंतेंद]× ॥११९॥

एनितु पसिवादोडं मे
दिनियोळकारिदं कूळनुंबे नररां।
मनमोसेदु बिट्ट राज्यां
गनेयं कैकोळवनल्लेनेंतुं मुनिपा ॥१२०॥

अर्थ—इसलिये हे चन्द्राभ ! मैंने अब तक जो कुछ कहा है, वह सब तुमने समझ लिया होगा। इन बातोंका विचार कर लो। विना विचार किये मुनि बननेकी अपेक्षा विद्याधर-राज्यका भोग करना अच्छा रहेगा। उस अवस्था में मुनि बनना एक बन्दरको मणि देनेके समान होगा। वह मणिका सदुपयोग तो कर नहीं पावेगा, उसका दुरुपयोग अवश्य करेगा। तब श्रीमुनिगुप्त भट्टारक आचार्यके उपदेशको सुनकर चन्द्राभ राजा विनय पूर्वक हाथ जोड़ कर बोला, भगवन् ! अज्ञानसे मैंने अनादि कालसे किस-किस योनिमें भ्रमण नहीं किया? पेट की क्षुधा शान्त करनेके लिये किस-किसकी वमनकी हुई वस्तु नहीं खाई ? मैं सुस्वादु भोजन के लिये घर का त्याग नहीं कर रहा। मेरे पास ये भोजन नहीं हैं, इसलिये मैं घर नहीं त्याग रहा। मेरे ऐश्वर्य है, सुन्दर स्त्रियां हैं। किन्तु अनादि कालसे मैं स्त्रियों और ऐश्वर्य का भोग करता आया हूँ, परन्तु मुझे कहीं सुख नहीं मिला। अतः अब मैं आत्म-कल्याणके लिये घरका त्याग करके मुनि-दीक्षा लेना चाहता हूँ। मुझे पुनः राज्य, कीर्ति और वैभव मिल जाय, इस आशा से नहीं, बल्कि मुझे पुनः ये सब न मिलें और संसारमें पुनः जन्म न लेना पड़े, इस आशासे आपकी शरण में आया हूँ। अतः मुनिश्रेष्ठ ! मेरे ऊपर कृपा कीजिये १२०

एंबुदुं (मुनींद्रोत्तमं वियच्चरराजं नुडिद परिच्छेदकं मनद वैराग्यक्कं मेच्चिमनःपूर्वकं परिग्रहमेल्लमं तोरे बेगमेंबुदुं गुरुसन्निधियोळ् परिग्रहमेल्लमं

× क.डेगएासि परिग्रहमं (ओ)

तोरिदु केलवु विद्येगळं तोरेयदिरे मुनिगुप्त भट्टारकरवरोळलिपु निनगेतक्केने गगनचराधीशर्नितॆंदं॥)* ॥१२१॥

अर्थ–इस बात को सुनकर मुनि-श्रेष्ठ मुनिगुप्त भट्टारक आचार्य उसके वैराग्य को देख कर हर्षित हुए और उसकी बातों से प्रभावित होकर बोले–भव्य ! तुम गुरु-सान्निध्य में अन्तरंग और वाह्य परिग्रह का त्याग कर दो।

तब चन्द्राभने सब परिग्रहका त्याग कर दिया। उस समय गुरुने पूछा–क्या तुमने दोनों प्रकारके परिग्रहका मनः पूर्वक त्याग कर दिया है ? तो चन्द्राभ बोला–गुरुदेव ! मैंने सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर दिया है परन्तु मेरे पास कुछ विद्यायें हैं, जिन्हें मैं त्याग नहीं करना चाहता। तब गुरु बोले–तुम्हें मुनि बननेके बाद आकाशगामिनी विद्याकी क्या आवश्यकता है ? इसे भी तुम त्याग कर दो। तब चन्द्राभ कहने लगा कि–॥१२१॥

मनदॆंति पोपिनिं मे
रुनगदकृत्रिम जिनालयंगळनानिं।
तनवरतं नोडुव भा
वने पोगदु तिव्वमिन्नु मदुकारणदिं ॥१२२॥

अर्थ–हे गुरुदेव ! मेरे मन में अकृत्रिम चैत्यालयों के दर्शन करने की अभिलाषा विद्यमान है, वह अभी तक नहीं छूटी। अतः आकाशगामिनी आदि विद्याओंमें से मैंने एक रख ली है। शेष सब परिग्रह का त्याग कर दिया है ॥१२२॥

(केलवु विद्येगळं विडलारेनॆंबुदुं, मुनिपति नक्कुनिनगन्नेगं महाव्रतंगळ तोडर्गुवेडणु व्रतधारियागिर्पुदॆंबुदुं. अवॆंतप्पुववळ स्वरूपमं बेससिमने, गुणोत्तम)+ रिंतॆंदु पेळ्दर् ॥१२३॥

अर्थ–इस लिये मैं इस विद्याको छोड़नेमें असमर्थ हूं। यह बात सुन करके श्री मुनिराज हंसकर बोले–यदि तुम्हें इस विद्या से प्रेम है और अकृत्रिम चैत्यालयोंके दर्शनोंकी इच्छा है तो तुम महाव्रत न लेकर केवल अणुव्रत ले लो। तब उसने अणुव्रतका आदि से अन्त तक स्वरूप पूछा ॥१२३॥

---

* येबी भावनेयिं तपमं भाविसुत्तिरु निनगे महातप दोलाद तोटि वेडेने चन्द्राभमहाराजर्नितॆंद (ग)

+ एंबुदु तुरितादोडे परिग्रहमेल्लमं मनवारे बिट्टु परिच्छेदिसेनेविद्याधर महाराजनितवं (ग)

परमदर्शनविशुद्धते
निरुपमनेनिसिर्द पंचगुरुपद्युगपं- ।
करहवरभक्ति भाविपो
डुरु संसृति देहभोगमिवरविरागं ॥१२४॥

अर्थ–मुनि बोले–सब से प्रथम दर्शन-विशुद्धि है । पंच गुरुओं के चरणोंकी भक्ति तथा संसार, शरीर, भोगसे विरक्ति के साथ आत्म-रुचि होना दर्शन-विशुद्धि कहलाती है । जिन को दर्शन विशुद्धि हो जाती है, उनकी आत्मामें दर्शनको मलिन करने वाले २५ दोष नहीं रहते । वे अपने हृदय में पंच परमेष्ठी, देव, गुरु और शास्त्र के प्रति अविचल श्रद्धा रखते हैं । उनके ऊपर कितने ही उपसर्ग हों, वे उस श्रद्धान से विचलित नहीं होते ॥१२४॥

नेलद बेट्टिनंते, समुद्रद जलदंते, पगलादित्यनंते, नक्षत्रदचंद्रनंते, मेरुविनकर्मभूमीयंते, स्त्रियरमलेयंते, पुरुषरमिशेयंते, आविनकेच्चलंते, गजददंतदंते, बेक्किक युष्णदन्ते तावरेय सूर्यनंते, नेय्दिल चंद्रनंते, स्त्रिरत्नद चक्रवर्तियंते नीरपालंते, तायशिशुविनंते, करुविनेळगंदिनन्ते, लोभीयपोन्नन्ते, पंचपरमेष्ठिगळोळप्प पत्तुगेवेरसु; पिरिदु तेत्तोक्कलंते, गंडनोल्लद स्त्रियंते, पंदेयं कंडाळदनंते, पादरिगेयं कंडगंडनन्ते बेसगे योळपयनं भोपरंते, दूरक्के पोरे यरसुपोपरंते, पोगेयोळिर्दनन्ते, बडवन मगळंते, हडहाळिसत्तमनेयंते, प्रभुकेट्टनाडंते, संसारदशरीरद भोगदमेले बेसरं; बेक्कं कंडिलियंते, पावं कंड कप्पेयंते, कळ्ळनंकंडपथिकनंते, पर्दकंड पाविनंते, तळारनंकंडद्रोहनंते कोननं कंड कुदुरेनंते, नायंकंडबेक्किनन्तो, पुलियंकंड पुल्लेयन्तो, इहलोकद परलोकद मरणद कुत्तदपरेन गिल्लेंब मेय्गे मरे यिल्लेंब तोट्ट नडुसुव* सप्तभयंगळ्गे नडुगदुदुं; रक्कसियं मानिसं सिंहमनाने, लोगरं शिशु, मरुळनं बुद्धिशालि, दुश्चरित्रमं सदाचारं, कळ्ळनं सद्धर्ममं, व्यसनियं जितेन्द्रियं पोर्दंते, जुजुं बेंटेयुं कळ्ळुं मांसमुं कुत्सितवेश्येयुं परदारमुं कळवुमेंब सप्तव्यसनंगळं पोर्ददि-

* तोट्टनेनड सुव (ओ० क० ग०)

र्पुदु ; कुडुवभोजंगनं पडेद कुंटनियन्ते, सिरिवन्तन कय्यं पिडिद बडवेयन्ते, नाडुवडेद पसायितनन्ते, तेजं बडेद रसिनन्ते, गेल्लं पडेद पंदेयन्ते, जठवनं बडेदमुदुपनन्ते, निःशंकाद्यष्टगुणंगळोळाद महाप्रितियं, मददुगुणिकेयं तिंदरन्ते, पित्तं तलेगेरिदरन्ते, मरूळोळ्गंडरन्ते, शाश्वतं बडेदरन्ते, जवनुळोलेयुंदिगेयं तंदरन्ते, कळगुडिदरन्ते । स्वेच्छामरनिगळंते, सावित्लदर बसिरोळ् बन्दरन्ते, ज्ञानैश्वर्य पूजा कुल बल तप रूप, जातियंबेंटु मदंगळोळपोदुगेयिल्लदुदु ; कोल्वपावं कळवपेंडिरं पिसुण नप्पड बुट्टिदनं तिंबनायं पेंडिर्गळिपुव बंटनं कवरिसुव नंटनं गेंटु माडुवन्ते, मिथ्यादेवं मिथ्यालयं मिथ्यातपं मिथ्यातपस्वि मिथ्याज्ञानि मिथ्याव्रतनेंबि षडायतन सेवेयं गेंटु माडुवदु ; अडविय पोळनं नेगळ बाविंयं वडवाग्नियं पोल्व मिथ्यात्वमुमं; जारेय मगनं गडिय नायकनं नंबिसि कोल्ववनं पोल्व सम्यग् मिथ्यात्वमुमं ब्राह्मणनोडनिर्दुळे वेंडति नडपिद मगनं प्रजे परिवारं पिडियदरसं पोल्व सम्यक्त्वप्रकृतियं परिहरिपुदु ; केट्टराजं कैसार्दनन्ते संवेगदोळं बट्टेयोळ् बंडमं कोळबट्टनन्ते निर्वेगदोळं, पोल्लदं माडिद सूचियन्ते निंदेयोळं बडिहद मक्कळन्ते अळल्वेयोळं नीरमुट्टिद कैंडदन्तु पशमदोळं, कूर्पेंडिर कूटदन्ते पंचपरमेष्ठिगळोळप्प भक्तियोळं [मागियोळिमंद रंतनुकंप्पेयोळं] अळियनं कंडमावनन्ते वात्सल्यदोळं नेरेदिर्पुदु ; देवरोळाद शंकेयिं, भोगदोळप्प कांक्षेयं, शरीरदोळप्प निर्विचिकित्सेयुं निर्दोषियप्पायनं पोगळिवलि अन्यदृष्टि प्रशंसेयुं, सदोषियप्पातनं पोगळिवळि अन्यदृष्टि संस्तवनमुमेंब पंचातिचारदोळं कूडदुदु ; वन्दनेय दार्शनिनेंब श्रावकं गक्कुं* ॥१२५॥

अर्थ—पर्वत और पाषाण के समान, समुद्र और जल के समान, सूर्य और प्रकाश के समान, नक्षत्र सहित चन्द्रमाके समान, मेरु पर्वत और कर्मभूमिके समान, स्त्रियोंके स्तनके समान, पुरुष की मूंछ के समान, गाय के स्तन के समान, हाथी के दांत के समान,

* आसयतें, (ग)

अग्नि की उष्णता के समान, कमल और सूर्य के समान, पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान, चक्रवर्ती और स्त्री-रत्नके समान, पानी और दूधके समान, नख और मांस के समान, फूल और सुगन्ध के समान, माता और बच्चे के समान, गाय और बछड़े के समान, लोभी के द्रव्य के समान, पंच परमेष्ठी के चरण-कमल दिन रात हृदयमें रहें, एक क्षणको भी पृथक् न हों। जैसे किसान फसलकी दिन रात रक्षा करता है, उसी प्रकार देव-गुरु-शास्त्रका दिन रात ध्यान करना चाहिये। पति द्वारा न चाही जाने वाली स्त्रीके समान, सूअरको देखकर जैसे घृणा हो जाती है उसके समान, परस्त्री से घृणा करने वाले पुरुष के समान, ग्रीष्म में चलने वाले राहगीर के समान, भार ले जाने वाले कृषक के समान (जैसे वह विचारता है कि कब घर आवे और मैं यह भार उतारूं) धुएँ में बैठे हुए मनुष्य के समान, निर्धन पुरुष की लड़की के समान, घर में रहते हुए मानों कोई मर गया हो इस प्रकार, बिगड़ी हुई राजधानी के समान; संसार शरीर भोगों से विरक्त रहना चाहिए। जैसे बिल्ली से चूहा और सर्पसे मेंढ़क भयभीत रहता है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि संसारसे भयभीत रहता है। ·ोर को देखकर पथिक जैसे भयभीत हो जाता है, मनुष्य को देखकर जैसे सांप भाग जाता है, कोतवाल को देखकर चोर भाग जाता है। भैंसे को देखकर घोड़ा भाग जाता है, कुत्ते को देखकर बिल्ली भाग जाती है, शेर को देखकर हिरन भाग जाता है, इसी प्रकार इहलोक और परलोक के सप्त भयों से मनुष्य को भयभीत रहकर धर्म-साधन करना चाहिए। जैसे राक्षसको देखकर मनुष्य, सिंह को देखकर हाथी, मां के अतिरिक्त अन्यको देखकर बालक, मूर्ख को देखकर सज्जन, दुराचारी को देखकर सदाचारी, व्यसनी को देखकर जितेन्द्रिय मनुष्य भयभीत रहता है उसी प्रकार जुआ, शिकार, मद्य, मांस, वेश्या, चोरी और परस्त्री गमन इन सात व्यसनोंसे भयभीत रहना चाहिए। जैसे कुट्टिनी किसीका हाथ पकड़ कर नहीं छोड़ती, उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवानके चरण कमल हृदयमें दृढ़ता से पकड़े रहने चाहिए। श्रीमन्त के साथ विवाहित निर्धन स्त्री के समान जिनेन्द्र भगवान की भक्ति से प्रसन्न रहना चाहिए। शृङ्गार आदि से युक्त राजा के साथ बैठी हुई रानी के समान पूजा आदि उत्सव द्वारा जिनेन्द्र भगवान की पूजा करनी चाहिए। नीच व्यक्ति को कोई ऊंचा पद मिल जाय उसके समान, पूजा को प्राप्त हुए व्यन्तर के समान, मूर्ख को विद्या आने के समान, वृद्धको तरुण अवस्था प्राप्त होने के समान, निःशंकादि आठ गुणों से युक्त अत्यन्त प्रसन्न रहना चाहिए। धतूरा खाने वाले के समान, पित्त ज्वर-ग्रस्त व्यक्ति के समान, पागल के समान, यौवन के मद से संसार के पदार्थों को शाश्वत समझ कर रूप-कुल-जाति-धन-ज्ञान-ऐश्वर्य

आदि आठ मदों को करने वाला व्यक्ति संसार समुद्र में गोते खाता रहता है। अतः इन मदोंसे दूर रहना चाहिए। काटने वाले सांप, चोरी करने वाली स्त्री, कटखने कुत्ते, कलह-कारिणी स्त्री से जैसे दूर रहते हैं, उसी प्रकार संसार में भ्रमण कराने वाले मिथ्यादेव, गुरु, धर्म और इनके स्थान, इन छह अनायतनों से दूर रहना चाहिये। जंगल में पानी के गड्ढेको तथा वाड़वाग्निको देखकर लोग दूर रहते हैं, इसी प्रकारसे मिथ्यात्वसे भी सदा भय-भीत रह कर उसे छोड़ देना चाहिए। जारज पुत्र को देश की सीमासे बाहर निकाल दिया जाता है अथवा जानसे मार दिया जाता है, उसी प्रकार मिथ्यात्वको मार भगाना चाहिए। ब्राह्मण के साथ वेश्या को और उसकी सन्तान को दूर कर दिया जाता है, प्रजा का पालन न करने वाले राजा को पद-च्युत कर दिया जाता है, उसी प्रकार सम्यक् प्रकृति का भी तुरन्त परिहार करना चाहिए। बिगड़ा हुआ राज्य जैसे हाथ में नहीं आता, उसी प्रकार संवेग रखना चाहिए। जैसे व्यापारी अपना माल साथ ले जाते हुए मार्गमें अन्य राहगीरोंके प्रति उदासीन रहता है, इसी प्रकार संसारसे उदासीन रहना चाहिए। छोटे बच्चोंको अपराध करने पर भी पिता उन्हें मारता नहीं। उसी प्रकार संसारसे उदासीन रहते हुए भी कषाय उग्र नहीं करनी चाहिए। पानी के संसर्ग से जैसे अग्नि शान्त हो जाती है, वैसी उपशम भावना रखनी चाहिए। गृहस्थ जैसे स्त्री-बच्चों के साथ घुल मिलकर रहता है उसी प्रकार पंच परमेष्ठी की भक्ति में रत रहना चाहिए। जैसे छोटी-छोटी बूंदों से मिट्टी नरम होजाती है, इसी प्रकार अनुकम्पा भावना से चित्त कोमल रहना चाहिए। जैसे दामाद को देखकर श्वसुर वात्सल्य करता है, उसी प्रकार साधर्मी के साथ वात्सल्य रखना चाहिए। तथा च देव, गुरु, शास्त्र में भक्ति रखनी चाहिए। शंका रहित होना, भोग में अनाकांक्षा, मुनिके शरीरमें निर्विचिकित्सा, धार्मिक लोगों से प्रेम, अन्य-दृष्टियों की अप्रशंसा अन्य देव-गुरुओंकी प्रशंसा न करना, ये सम्यग्दृष्टि के पांच गुण हैं। इन गुणोंसे युक्त श्रावक दार्शनिक कहलाता है। यह पहली प्रतिमा है ॥१२५॥

[परमजिननात्मनंता
परमेश्वरनेंदुदागमं निर्ग्रंथं
परमतपं धर्मं दये
वेरसिदुर्देदितु नंबुवुदे सम्यक्त्वं ॥१२६॥

तत्सम्यक्त्वँबरसु म-
ह्रोत्सवर्दि बेसनमेरुवं बिसुटुरे+नि।
मत्सरर्दि सद्गुणदोळ्
वात्सल्यम नुंटुमाडि कर्मादरर्दि) ॥१२७॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान ही परमेश्वर हैं, इनके द्वारा कहा गया ही आगम है, परम निर्ग्रन्थ साधु ही गुरु हैं और दयामय धर्म ही धर्म है। इनपर अचलश्रद्धान रखना ही व्यवहार सम्यक्त्व है। यह व्यवहार सम्यक्त्व निश्चय-सम्यक्त्वका कारण है। इस पर विश्वास रखकर इसका पालन करना चाहिए। यह व्यवहार सम्यक्त्व सप्त व्यसनों के त्याग पर ही संभव हो सकता है। सप्त व्यसनों का त्याग, सर्व जीवों पर दयाभाव और निर्मत्सर भाव सहित सद्गुणों में वात्सल्य ये सब व्यवहार सम्यक्त्व के लिए आवश्यक हैं ॥१२६-१२७॥

(क्रूरतेयिं प्राणिगळं
धारिणियोळ् कोल्लनोंतु मुग्रतेयिं नि।
ष्कारण नरियदे कोंदोड
मारय्यदे कोंदेनेंदु मतदोळ् नोवं ॥ २८॥

अर्थ–जो मनुष्य क्रूरतापूर्वक प्राणियोंका वध करता है, दुःख देता है। दुःखसे तड़पाता है, जो निर्दयता-पूर्वक प्राणी का वध कराता है, उन्हें देखकर मन में उनके दुःख दूर करने की इच्छा और प्रयत्न करना चाहिए तथा उस दुखीके प्रति मनमें दयाभाव रखना चाहिए।

व्रतमं कोळदिर्दोड म
म्रतियागं क्षितियोळेसेव कुलबलसंप-।
त्प्रततियोळ्मिदुं सजिन
मतदोळदार्शनिकनेंब नोंदने यातुं ॥१२९॥

अर्थ–जिनके व्रत लेने की शक्ति नहीं है, किन्तु फिर भी जो व्रत लेने की इच्छा करता है, जो जिनेन्द्र-मार्ग में प्रसन्न रहता है, जो कुल-बल-सम्पत्ति होने पर भी उसका मद नहीं

+ दोषमिल्लदधिकतेयिं (ग)।

करता है, वह सज्जन लोगों के द्वारा वन्दनीय रहता है। वह आप्त, तत्व में रुचि रखता है, नित्य दर्शन की प्रतिज्ञा रखता है। अतः वह सज्जन लोगों के मत से पहलो प्रतिमाधारो दार्शनिक कहलाता है ॥१२९॥

वर सम्यक्त्वं वेरसु
वेरेयोळ् शल्यत्रयंगळं त्वरेदु सदा।
चरित निवनेनिसि गुणमं
धरियिसि पेरगिक्कि पंचविंशति मलमं) ॥१३०॥

अर्थ–वह सम्यक्त्व के साथ रहकर माया-मिथ्यात्व-निदान इन तीन शल्यों का त्याग कर देता है। हमेशा सदाचारी रहता है। सदाचारी पुरुषों की संगति करता है। उनका चरित्र पढ़ने में लीन रहता है। अपने व्रत में किसी प्रकार का अतिचार नहीं लगने देता। पच्चीस मल दोष रहित सम्यक्त्व को धारण करता है ॥१३०॥

बसिरोळिर्द त्रिनन्ते, मनेयोळिर्द पाविनन्ते कूळोळगिर्द नंजिनन्ते, पोल्ल-मेयं माडुव+ मिथ्याशल्यं मायाशल्य निदानशल्यमेंब मूरुं शल्यगळिं पिंगिदं, निधानदन्ते राज्यदन्ते कूर्परकूटदन्ते पगेवर कोडिनन्ते स्थिरमप्प जव्वनदन्ते सोगयिसुव कोल्लद पुसियद कळद परस्त्रियगेरगद नियमितपरिग्रहमेंब पंचाणुव्रतंगळकूटमनुळ्ळ दुःखभाजनमल्लद❀ शीलमनसकदोळकाडिदं; बंध-वधच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधमेंगि कोल्लद व्रतदंदतिचारदोळं, मिथ्यो-पदेश रहोभ्याख्यान कूटलेखनक्रिया न्यासापहार साकारमंत्र-भेदमेंब पुसियद व्रतदंदतिचारदोळं स्तेनप्रयोग तदाहृतादान विरुद्धराज्यातिक्रम हीनाधिक-मानोन्मान प्रतिरूपकव्यवहारमेंब कळद व्रतदंदतिचारदोळं, परविवाहकरणे-त्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीता-गमनानंगक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशमेंब परस्त्रिगेर-गद व्रतदंदतिचारदोळं, क्षेत्र-वास्तु हिरण्य-सुवर्ण धनधान्य दासीदास कुप्य-भांडातिक्रममेंब परिमित परिग्रहदंदतिचारदोळं, ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रम क्षेत्र-

+ पोल्लनप्प (ओ० क०) ❀ दुःखभाजनवप्परात्रिभोजन मिल्लदं (ग)

वृद्धि स्मृत्यंतराधानमेंब÷ दिग्विरतिव्रतदैदतिचारदोळं, आनयन प्रेष्यप्रयोग× शब्दरूपानुपातपुद्गलक्षेपमेंब देशविरतिव्रतदैदतिचारदोळं, कंदर्प कौत्कुच्य मौखर्यासमाव्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थत्वमेंबनर्थदंड - विरतिव्रतदैदतिचारदोळं; कायदुष्प्रणिधान वाग्दुष्प्रणिधानादरस्मृत्यनुपस्थानमेंब सामायिक शिक्षाव्रतदरदतिचारदोळं, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गाप्रमार्जितादानाप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित - संस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानमेंब शिक्षाव्रतदय्दति चारदोळं, सच्चित्ताहारसच्चित्तसंबंधाहार सच्चित्तसम्मिश्राहाराभिषवाहार दुष्पक्वाहारमेंबुपभोग परिभोगप्रमाणमेंब शिक्षाव्रतदय्दविचारदोळं, सचित्तनिक्षेप सचित्तापिधान परव्यपदेश मात्सर्य कालातिक्रममेंबतिथिसंविभागशिक्षाव्रतदैदतिचारदोळं; भंडारद सेनबोवनन्ते राणिवासद पेर्गडेयन्ते, पोन्नध्यक्षमाननन्ते बेळगेय्यं रक्षिसुवनन्ते, मदगजमनेरुवनन्ते, बिन्नपंगेय्वनंते, तोरेयेनीसुवनंते. मूर्खर भरमं तिदुवनंते, रत्नाभरणमं तोट्टुवट्टेवोपनंते, चक्रवर्तिय वागिलं कावनंते, नयमुं वुद्धियुमारैयुं बेरसु नडेवातं, ॥१३१॥

अर्थ–माताके गर्भमें जैसे कष्ट होता है, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टिको भी संसारमें रहते भय होता है। जैसे घरमें सर्पका वास रहने पर निश्चिन्तता नहीं रह पाती उसी प्रकार वह भी संसार के निवास से भय करता है। सांसारिक विषयों पर उसकी अरुचि रहती है। संसारवर्धक तीन शल्य से रहित होता है। निधि की रक्षा करने वाले के समान, राजाके समान, मित्र के साथ विश्वास रखने वाले के समान हमेशा धर्म में वात्सल्य भाव रखता है और क्षणिक इन्द्रिय-विषय के प्रति उदासीन रहकर विषयों को उत्पन्न करने वाले हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील परिग्रह को त्याग कर पंचाणुव्रतों को मन-पूर्वक धारण करता है। दुःख देने वाले विषयों से दूर रहता है। दुःखों को नाश करने वाले सप्त शील धारण कर बन्धवध छेद अतिभारारोपण अन्नपाननिरोध ऐसे पांच अतिचारोंसे रहित अहिंसाअणुव्रतका पालन करता है। मिथ्योपदेश रहोभ्याख्यान कूटलेखाक्रिया न्यासापहार साकार-मंत्र-भेद, इन पांच अतिचारों से रहित सत्यअणुव्रतका पालन करता है। स्तेनप्रयोग तदाहृतादान विरुद्धराज्य-

÷ स्मृत्यंतराभिधानमेंब, (ग) × अपाहार, (ग)

अतिक्रम,होनाधिकमानोन्मान,प्रतिरूपकव्यवहार,इन अतिचारोंसे रहित अचौर्याणुव्रतका पालन करता है। परविवाहकरण परिगृहीता अपरिगृहीतेत्वरिकागमन अनंगक्रीड़ा तीव्रकामाभिनिवेश, इन पांच अतिचारों को टालकर ब्रह्मचर्याणुव्रतका पालन करता है। क्षेत्रवास्तु हिरण्यसुवर्ण धनधान्य दासी-दास कुप्य-प्रमाणातिक्रम; इन पांच अतिचारों को टाल कर परिग्रह परिमाणव्रत का पालन करता है। ऊर्ध्वाधास्तिर्यग्व्यतिक्रम क्षेत्रवृद्धि स्मृत्यन्तराधान ये दिग्व्रतके अतिचार हैं। कन्दर्प कौत्कुच्य मौखर्य असमोक्ष्याधिकरण उपभोगपरिभोगानर्थ ये अनर्थदण्ड व्रत के पांच अतिचार हैं। काय-दुष्प्रणिधान वचोदुष्प्रणिधान मनोदुष्प्रणिधान अनादर स्मृत्यनुपस्थान ये सामायिक व्रतके पांच अतिचार हैं। अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग आदान संस्तरोपक्रमण अनादर स्मृत्यनुपस्थान ये पांच अतिचार प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतके हैं। सचित्ताहार संमिश्राहार अभिसवाहार दुःपक्वाहार स्मृत्यन्तराधान ये भोगोपभोग शिक्षाव्रत के अतिचार हैं। सचित्तनिक्षेप, सचित्ताभिधान परव्यपदेश मात्सर्य कालातिक्रम ये अतिथि-संविभाग व्रत के पांच अतिचार हैं। इन अतिचारों का त्याग करके पांच अणुव्रतों और सप्तशीलों का पालन करना चाहिए। भण्डारके रक्षकके समान, रनवास की दासियों के समान, सोने के रक्षक के समान, अपनी फसल की रक्षा करने वाले किसान के समान, मदोन्मत्त हाथी को नियन्त्रण में रखने वाले महावत के समान, अपने घर जाने वाले पथिकके समान अपने व्रतों के पालन में सावधान रहना चाहिए। सरोवर को तैर कर पार करने वाले के समान, उपद्रव-ग्रस्त राज्य को नियन्त्रण में रखने वाले राजा के समान अपने व्रतोंके पालन में सतर्क रहे। मूर्ख लोगों के भ्रम को दूर करने वाले के समान, रत्नाभरण को पहन कर मार्ग में जाने वाले पथिक के समान, चक्रवर्ती के द्वारपाल के समान, अनेक प्रकार नयों के द्वारा अपने व्रतों का पालन करे ॥१३१॥

आत्तिय वसरिय गोळिय
मत्तुरळिय वटद पणनडगं जेनं।
बित्तरमद्यमनागें
बुत्तम संसेव्यमूलगुणमायेटुं ॥१३२॥

अर्थ—बड़, पोपल, पाकर, ऊमर, कठूमर, मद्य, मधु, मांस इस प्रकार आठ वस्तुओं का त्याग करने वाला आठ मूलगुण का धारी श्रावक कहलाता है ॥१३२॥

पंदोल्नेत्त कींवड
गंदिन तां तोरेद वस्तु सत्तकृमिगळ् ।
संदस्थियेंबिवेळु
कुंददे मुद्दुपडमक्कुमर्हन मतदिं ॥१३३॥

अर्थ—अष्ट मूल गुण धारण करने वाला भोजन करते समय यदि रक्त, मवाद, गन्दी वस्तु, गीला चमड़ा, छोड़ी हुई वस्तु, मरी हुई चींटी, हड्डी आदि, थालीमें आ जाय तो भोजन में अन्तराय समझ करके अरहन्त के मत का अनुयायी भोजन छोड़ देता है ॥१३३॥

[मूलगुणमेंटरोळं कूडि ससानन्तरायंगळं पिंगिसि पंचाणुव्रतदोळूळिळद नेत्रिसि गुणव्रतत्रयदोळं नेरेदु शिक्षाव्रत-चतुष्टयदोळमेसगि धर्मशालयं कुरक्केडे येनिप अरुवत्तति चारमुमं पिंगिसि नेगवात]+ नेरडनेय व्रतिकनेंब श्रावकनक्कुं ॥१३४॥

अर्थ—अष्टमूल गुण धारक श्रावक को धर्मरूपी धान को बोने के लिये इन सात अन्तरायों को टाल कर भोजन करना चाहिये। साठ अतिचारों को त्याग कर पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रतका पालन करने वाला दूसरी व्रत प्रतिमा का धारक होता है ॥१३४॥

स्थिरनागि शुद्धवृत्तियो
ळरवरिसदे पेरगे पेळद सुव्रतमनितुं× ।
बेरसु दयेवेरसु रागं
बेरसु सदाचारनागिनिर्मलमनदिं ॥१३५॥

अर्थ—हृदय में स्थिरता रखकर शुद्ध वृत्तिमें विचरने वाले व्रतीको उपर्युक्त व्रतोंसे युक्त अपने निर्मल भाव रखने चाहिये ॥१३५॥

समतेवेरसु कर्मराजनं करवारंगोंडु मोहराजनट्टिद तंत्रमेनिसुव (मूवत्तेरडुं दोषंगळं पत्तुविट्टु) मेच्चिवल्लदे जडनागि देवगुरुगळं पोर्ददे, पेरगें पीडियं

+ इंतीयिनितरोलोंदिनडेवात (ग)। × पेरगेंपेलदगुणमेनितनितुं (ग)।

माडुत्तं [मेय्यं तूगुत्तु] उन्मत्तचेष्टेयिं देरेयं तिंद् मानन्ते पीळेयुत्तु, पोल्ळमननागि कय्यंतळितरिदुपेरर्गंजिपेरर नेत्रर्दि पेंपु कारणमागे❀ गुरुगळं कळदु गुरुगळग प्रतिकूलनागिगृहं मोदलागे शल्यं बेरसु नुनियुत्तुं नोसलनेत्तु कंपिसुत्तं ऋषियरं कंडु काणलीयदे संघविरोधदिं कय्य बिट्टु पडपु कारणमागे मेल्वडेवेन्दु कुंदिसि पेर्चिसि सन्नेगेय्युत्तु, पोल्लदनिर्यिं गीतंमाडुत्तुमिर्पुदेंबीमूवत्तेरडुदोषंगळिंपिंगि, मूरुपोत्तुं देवरं बंदिसुवं; मत्तं कुदेरेगालिक्कुत्तं, लतेयंते बळकुत्तं, नेम्मि केरं मलगि माळिगेयं पोत्तं गुह्य निरोधनागि संकलेयोर्ळिदंते नेल्दु+कोरलनेत्ति मोलेयं नोडुत्तं, कागेयंते कडेगण्णोळ नोडुत्तुं कीळट्ट कुदुरेयंते बायं पोळकिसुत्तुं, कोरलं नीडि कय्यं पिडिदु तलेयं तुगुत्तं, सन्नेदोरुत्तु, बेरलनाडिसुत्तं, पुर्बिक्कुत्तं मोक्किदरंते मरुळगुंडवरंते देसेयं नोडुत्तं, कोरलं कुसियुत्तुमुत्तरिसिद कुदुरेयंते मोरेयं नेगपुत्तं, मेय्यं मुट्टुत्तं, कोरलं तिरिपुत्तं, कैय नाडिसुत्तं, पल्लं कुम्कुत्तं, मेय्यं तोनेयुत्तं, भोगंगळं चिंतिसुत्तं, करासन्नेगेय्युत्तं, परवशमादरंते जडनागुत्तु मिरलागदेंबी मूवत्तेरडु दोषंगळिं पिंगि कायोत्सर्गं माडुव [शुद्ध बुद्धियिं मूरुं पोळ्लेनोळं देवतास्तवविधियोळसगुवातं] मूरनेय श्रावकं सामायिकनेंबं ॥१३६॥

अर्थ–समतारूपी खड्ग से कर्मराज मोहनीय कर्म को नष्ट करे, मोहरूपी शत्रुको जीते। बत्तीस दोषोंसे रहित होकर सामायिक करे, कोई इच्छा न करे। देव, गुरु, शास्त्रमें श्रद्धान रक्खे। किसी को पीड़ा न दे। सामायिक में निश्चल रहे यानी जल में मछली के समान शरीर को हिलावे डुलावे नहीं, उंगलियां न चटकावे। भय न माने। गुरु के विरुद्ध आचरण न करे। गुरु के प्रतिकूल न हो। हृदय में कोई शल्य न रक्खे, व्यर्थ न बोले। सामायिक करते समय कोई सूचना आदि न दे। ऊपर मुंह न करे। दूसरे साधु को देखकर भय से सामायिक न करे। संघका विरोध करके सामायिक न करे। चुटकी बजाकर संकेत न करे। शरीरको संकुचित न करे। उंगली से संकेत न करे। गाना न गावे, आदि बत्तीस दोषोंको टालकर देवस्तवन करे। तथा सब दोष टालकर तीन समय सामायिक करे ॥१३६॥

❀ सुखमुटमु कारणमागि (ग), सुखं कारणमागि, (ओ)। + संकलेय निक्किदं तेमिल्दु, (ओ० क०)।

तिंगळ् नाल्कुं पर्वदि
नंगळूळं पेरगे पेळद गुणमनितरोळं ।
पिंगदुपवासयुतनु+
चां गं बापेंदु धात्रि कै मुगिक्निनेगं* ॥१३७॥

अर्थ—सामायिक को करते समय घोड़े की तरह एक टांग पर खड़ा न हो। लताके समान हिलते हुए सामायिक न करे। प्रमाद न करे। उपयोगको इधर-उधर न जाने दे। कौए के समान एक आंख से दृष्टि न करे। दांत न किटकिटावे। इधर-उधर न देखे। उंगली न चलावे। छाती न निकाले। उजड्ड के समान, पागल के समान, दशों दिशाओं में इधर-उधर देखते हुए, सिर पर हाथ फेरते हुए, शरीर पर हाथ फेरते हुए, गर्दन हिलाते हुए, दांत किटकिटाते हुए, शरीर को हिलाते झुलाते हुए, भोगों का चिन्तवन करते हुए, दृष्टिसे अन्यको संकेत करते हुए, परवश बनकर, प्रमादी बनकर सामायिक न करनी चाहिये। सामायिक करते समय ३२ बत्तीस दोषोंको टालना चाहिये। उन दोषोंको टालकर सामायिक करने वाला तीसरी सामायिक प्रतिमा का धारी होता है ॥१३७॥

उपवासदोळ्नगळदं प्रोषधोपवासनेंब नाल्कनेय श्रावकनक्कुं* ॥१३८॥

अर्थ—अष्टमी चतुर्दशी को सोलह प्रहरके लिये चारों प्रकार के आहार का त्याग करना प्रोषधोपवास प्रतिमा कहलाती है ॥१३८॥

पेरगणवुसहितमोळपं
मरेयदे दयेवेरसु पसिय वस्तुगळं तां।
मरेदुं कोळ्ळलोल्लदवं
पेरतें सच्चित्तनेंबनेंदनेयातं ॥१३९॥

अर्थ—सम्पूर्ण जीवों पर दया करने वाला श्रावक सचित्त वस्तु के भक्षण का त्याग कर देता है। वह सचित्त-त्याग प्रतिमा कहलाती है ॥१३९॥

इरुळल्लदे पगलोळपं-
डित सेवेयनेये बिट्टुमुं पेंळद गुणं।

+ पिंगदे गुणनिलयदोळु, (ब० क०)। * पेल प्रोषधोपवासं पेसरि, (ग०)

बेरसिदों श्रावकनु
वेरॆयोळ् तां रात्रिभक्तनारने मातं ॥१४०॥

अर्थ–दिन में मैथुन का त्याग करने वाले तथा प्रातः सूर्योदय के दो घड़ी पश्चात् एवं सूर्यास्त से दो घड़ी पूर्व भोजन करने वाले श्रावक के रात्रि-भुक्ति त्याग अपरनाम दिवा-मैथुन त्याग नाम की छठी प्रतिमा होती है ॥१४०॥

दुरितद कट्टि दुर्गगतिय वट्टे कळंकद मोट्टे दुःखदा
गरमित्तरंदु कामिनिय रोंदुपभोगमनेय्दे बिट्टु स- ।
च्चरितदोळानु [कृतॆसगुवुत्तम सद्गुणानल्ते धात्रिग-
च्चरि सकलैकपुण्यनिधि दुर्गुणदूरनुदारनुत्तमं ॥१४१॥

अर्थ–पापकी गठड़ी, दुर्गति का मार्ग, कलंककी पोटली इस प्रकार स्त्री-सेवन (मैथुन) को समझ कर स्त्री मात्रके साथ काम-क्रीड़ाका त्याग करके ब्रह्मचर्य में प्रवृत्ति करने वाला, सद्गुणों में रमण करने वाला, सत्गुणों का पिण्ड उदाराशय श्रावक सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा का धारक कहलाता है ॥१४१॥

ब्रह्मचारियॆंबॆळनेय श्रावकं+ ॥१४२॥

अर्थ–इस प्रकार निरतिचार पूर्वक स्वस्त्री एवं परस्त्री सेवन का त्याग करने वाला, आत्मा में रत रहने वाला, सातवीं प्रतिमाधारी श्रावक कहलाता है ॥१४२॥

आरंभद देसॆयं त्रि-
ट्टोरंतिरे पेरगे पेळदगुणमनिरोळं ।
सारत्रिदनेनिसि÷ नडेवव
नारंभनिवृत्तनॆंब नॆंटनेयातं ॥१४३॥

अर्थ–चूल्हा जलाना, रसोई बनाना, बुहारी लगाना आदि घर-कार्य-सम्बन्धी परिपूर्ण आरम्भ का त्याग करने वाला आरम्भ-त्यागी आठवीं प्रतिमा-धारक श्रावक कहलाता है।

भरदिं मुंपेळिद गुणं
बेरसु परिग्रहद चिंतेयं बिट्टु सदा ।

+ कूर्तु नडॆयुत्त मनग्गद ब्रह्मचारी विस्तरदोळु पासकं नॆगळद नॆम्ननॆयातननंगदुर्धरं, (ग) ।
÷ सारमिवनेनिसि, (ओ० क०) ।

चरित्तनेतिपं परिग्रह-
विरतं पापाद्रि वज्र÷ नोंबत्तनेयं ॥१४४॥

अर्थ—धन-उपार्जन, धान्य, सुवर्ण आदि के संग्रह को पाप-जनक समझ कर शरीर के वस्त्रादिके सिवाय शेष सभी धन, सम्पत्ति, मकान आदि परिग्रहका एवं परिग्रहमें ममताका त्याग करने वाला, नौवीं प्रतिमाधारी परिग्रह-त्यागी श्रावक कहलाता है ॥१४४॥

अनुमतियँब तां प-
त्तनेयातं तनगे पळदमार्गमनेंदु + ।
मनमोसेदु सेविसदे मु-
न्निन गुणदोळकुडि नेगळव नुन्नतिर्यिदं ॥१४५॥

अर्थ—संसार के किसी भी कार्य को सम्मति (सलाह), अनुमति (आज्ञा, सराहना) देना दोषजनक है, ऐसा समझ कर जो संसार के सभी कार्यों की अनुमति देने का त्याग कर देता है, अपने लिये भोजन आदि बनाने की भी अनुमति नहीं देता, भोजन के लिये कोई श्रावक निमन्त्रण दे तो वहाँ भोजन कर लेता है । वह अनुमति-त्यागी दशवीं प्रतिमा का धारक श्रावक होता है ॥१४५॥

तन्नं कुरुत्तु माडि
दन्नमनौषध मनोल्लनुत्सवदिंदं ।
मुन्निन गुणदोळ् कुडि-
पन्नेरे युद्दिष्टविरत पनोंदनेयं* ॥१४६॥

अर्थ—अपने उद्देश्य से बनाये गये अन्न-भोजन, औषधि आदि पदार्थों का ग्रहण दूषित समझ कर जो उद्दिष्ट भोजन-पानका त्याग कर देता है, वह उद्दिष्ट-त्याग नामक ग्यारहवीं प्रतिमा-धारक होता है ॥१४६॥

इंतु दार्शनिकं व्रतिकं सामायिकं प्रोषधोपवासं सचित्त-विरतं रात्रिभक्तं ब्रह्मचारि आरंभ-निवृत्तं परिग्रहविरतं अनुमतिविरतं उद्दिष्टविरतं एंदु श्रावक

÷ कर्म्माद्रि वज्र, (ग) । + अनुमतियँबं पनोंदनेयातं तनगे पेलद मार्गमनेंदु, (ग) ।
* उद्दिष्ट विरत पत्तनेयात, (ग) ।

सानं पनोंद्वकुनेंदु (मुनिंद्रोत्तमर] पेळे खेचरराजं ॥१४७॥

अर्थ—इस प्रकार दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्त-त्याग, रात्रि-भुक्ति त्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भ-त्याग, परिग्रह-त्याग, अनुमति-त्याग और उद्दिष्ट-त्याग नामक श्रावक की ग्यारह प्रतिमायें होती हैं।

मुनि ने खेचरराज से कहा—चन्द्राभ ! श्रावक की ये ग्यारह प्रतिमाएँ हैं। तुम इनमेंसे कौन-सी प्रतिमा का आचरण कर सकते हो ? यह सुनकर वह बोला—महाराज ! इनमें से मैं ग्यारहवीं प्रतिमा ग्रहण करना चाहता हूँ ।।१४७।।

अनुपममेनिसुव पन्नों-
दनेय महाश्रावकत्वम दर्येयिंदं ।
मुनिपतिदये गेय्वुदु म-
रोनगेने खेचरन नुडिगे मेच्चि मुनिंद्रं ॥१४८॥

अर्थ—तब उसने श्रावक की अनुपम ग्यारहवीं प्रतिमा मुनिराजसे ग्रहण की। मुनिराज ने उसे ग्यारहवीं प्रतिमा का व्रत दिया और उसकी आन्तरिक भक्ति और इच्छाको देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए ।।१४८।।

कारुण्यंगेय्वदुं पिरिदु मादरदिंदु पासकर नेगळते योळरिदेनिसुव एकादशस्थानमं कैकोंडु उत्तरोत्तरमागे नेगळुत्तं)+पलकालं गुरुपाद सेवेयोळिर्दोंदुं दिवसं शूरसेन विषयदुत्तर मधुरेय जिनालयंगळं वंदिसुनेंब बगेपुट्टि [तन्नोळितेंदं :—॥१४९॥

अर्थ—विद्याधर राजा ने अत्यन्त श्रद्धा के साथ ग्यारहवीं प्रतिमाका व्रत अंगीकार किया और उसे विशुद्ध भाव से पालन करने लगा। वहां कुछ समय तक गुरुके चरणों में रहा। तदनन्तर उसकी इच्छा शूरसेन देशके अन्तर्गत उत्तर मथुरा के जिन-मंदिरों के दर्शन करने की हुई। उसने मन में विचार किया···।।१४९।।

गुरुवचनमनुल्लंधिसि
चरियिसलन मागदंते पिरिदुं सुखमं ।

+ पन्नोंदनेय श्रावक व्रतमं कैकोंडु (ग)।

परदोळ् लेसागिरे चे-
च्चरदिंदं पडेवेनेंब शिष्यं जगदोळ् ॥१५०॥

अर्थ—जो अपने गुरुके वचन का उल्लंघन करके आत्म-कल्याण करना चाहता है, उसे कभी इह लोक और परलोक-सम्बन्धी सुख नहीं मिल सकता ॥१५०॥

अदु कारणदिं गुरुगळ नोडं बडिसि दोडल्ल दावकार्यममुं नेगळल्वारदेंदु मुनिगुप्त भट्टारकर्गे विनयदिं वंदिसि कैगळं मुगिदु मेल्लने निजस्थानदोळिर्द रिपुवुदुमवर्]× तम्मोळळितेंदर् ॥१५१॥

अर्थ—इसलिये जिस कार्य करनेके लिये गुरुकी अनुमति मिले, वे आशीर्वाद देकर जो आज्ञा प्रदान करें, वही कार्य करना चाहिये। वही कार्य सफल भी होता है। यह सोचकर उसने श्री मुनिगुप्त भट्टारक के चरणों में बड़ी विनय के साथ नमस्कार किया और उनके सामने बैठ गया। तदनन्तर उसने प्रार्थना की कि—गुरुदेव ! मेरी भावना उत्तरी मथुरा के समस्त मन्दिरों के दर्शन करने की है। तब गुरु ने अपने मन में विचार किया कि—॥१५१॥

स्थिरनागि गुणदोळेसगुव
नरनुं वैराग्य मुळ्ळनुं लज्जितनुं ।
पिरिदरिवातनु मुर्वरे
चरियिसु वोड मुळिवरल्लरुत्त मगुणमं ॥१५२॥

अर्थ—गुण में स्थिर होकर जो मनुष्य वैराग्यवान, लज्जावान और मर्यादावान होता है और उत्तरोत्तर अपने गुणों को बढ़ाने की जिसे उत्कंठा रहती है, वह अपने आचरण को बढ़ाता हुआ सफल होता है। उसके आचरणको देखकर सभी उसका अनुसरण करने लगते हैं। वही शिष्य उत्तम कहलाता है। वही आत्म-कल्याण कर सकता है ॥१५२॥

एंदातन गुणमनरिदरप्पदरिं पोगि तीर्थवंदनेयं माडि बंन्नि मेंदितेंदर्] ।१५३।

अर्थ—इस प्रकार अवधिज्ञानी मुनि ने उसके गुणोंको और आन्तरिक भावनाको देखकर उसकी प्रशंसा की और कहा—भव्य ! तुम आनन्द के साथ तीर्थवन्दना और मन्दिरों के दर्शनों को जाओ और दर्शन करके वापिस आ जाना ॥१५३॥

× तन्न पोगं गुरुगलिगरिपुवुदु मवरितेंदर् (ग)।

गुणिगळ नल्लदे नीं दु-
र्गुणरं पोर्द्दिर लोगेर नानु मनों ।
दनकदि नेंदोडे मनदोळ्
सेणेयदिरोळतपदोळर्ति+ गुंदददिरिनिसुं ॥१५४॥

अर्थ—जिन व्यक्तियोंमें उत्तम गुण नहीं हों, उनकी संगतिमें कदापि नहीं रहना। जिन साधुओं में गुण नहीं हों, उनकी संगतिसे भी बचना। तुमने जिस व्रत को धारण किया है, उस व्रत में कोई न्यूनता और मलिनता न आने देना। इस प्रकार श्री गुरु ने उसको अपना आचरण ठीक रखने के लिये उपदेश देकर विदा कर दिया ॥१५४॥

एंदु [पोगल्वेळ्दु]* वरुणमहाराजन रसियप्परेवति महादेविगे परकेयं रुंडुरुळि भट्टारकर्गे प्रतिवंदनेयुमं मरेयदे पेळिमेन गुरुगळमातिंगे [ब्रह्मचारि] नक्कु निमगापुरद श्रावकरुं भव्यसेनाचार्यमोंदलाद पनूर्वर्मुनिगळु मिर्दंत [गी रेवति महादेविय बडवट्टिदुंडुरुळि भट्टारकर मेले कडुमोहकेंबुदु मवर संबध-मेल्लमं निमगे बेसगोळ्च गसगि बेडेने मत्तं माणदे किरुबेसगोळे मुनिन्द्र]× निर्तेदं ॥१५५॥

अर्थ—चलते समय मुनिगुप्त भट्टारक उससे बोले—भव्य! तुम उत्तर मथुरा में जाकर वरुण नामक राजा की रानी रेवती को हमारा आशीर्वाद कहना और उण्डुरुणि भट्टारक नाम के मुनि को हमारी प्रति-वन्दना कहना। (वे मुनि आहार करके लेटे रहते थे।)

यह बात सुन करके क्षुल्लक हँसकर गुरु से कहने लगा—महाराज! मुझे एक शंका है। उस नगर में अनेक श्रावक हैं और भव्यसेन आचार्य तथा अनेकों मुनि हैं। उनमें से आपने किसीको भी आशीर्वाद एवं प्रतिवन्दना न कहकर केवल रेवती रानी और उन मुनि को ही क्यों आशीर्वाद और प्रतिवन्दना कही। क्या आपके ये कोई सम्बन्धी हैं?

मुनि बोले—तुम्हें इससे कोई प्रयोजन नहीं है। जो मैं कह रहा हूँ, वह तुम अपने मनमें

+ ओलवददोलर्थि, (ओ० क०)। * ब्रह्मचारिय मोगमं नोडि (ग)।
× निम्मडिगल वरिर्वरमेले मोहमेकाग्नेने निनगदरं श्रमणबेळ्ळुसिरदिरेन मत्त किग्विबेसगोलवुदु वात्सल्यरत्नाकर, (ग)।

रखतो, तुमको अधिक चर्चा करनेसे क्या लाभ है। फिर भी अपने शिष्यका अत्यधिक आग्रह देख करके गुरु कहने लगे ॥१५५॥

बेविन गिडुवं तंदि-
ट्टाविन नोरेवालनेरेदु नडसिदोडं केळ्ळ् ।
बेविंगे कैपे पिंगदु
भूवळयदोळंब तेरदि नापुरदवरु ॥१५६॥

अर्थ—देखो, नीमके पेड़को जड़में यदि प्रतिदिन गायका दूध भी डाला जाय तो क्या नीम का रस कभी मीठा हो सकता है ? कभी नहीं हो सकता। जिस वस्तु में जो गुण होते हैं, वे बदलते नहीं। मथुरा में अनेकों श्रावक हैं, परन्तु वे नीम के वृक्ष के समान हैं ॥१५६॥

[सत्यमेनिसुव धर्मम केळदुडं संशयतुलारूढरप्पुदरिं परकेयुमं वंदनेयुमं पेळदे निल्लने ब्रह्मचारि बेरगागि]+ ॥१५७॥

अर्थ—हे भव्य ! सत्य धर्म को सुनने के बाद जो शंका करता है, वह श्रावक नहीं है। वह संशय तुलारूढ़ रहता है। उसे हम आशीर्वाद नहीं दे सकते। जो मुनि ग्यारह अंग के पाठी होने पर भी धर्म में रुचि नहीं रखते, वे वास्तविक मुनि नहीं होते। इसलिए मैंने मथुराके समस्त श्रावकों को आशीर्वाद तथा अन्य मुनियों को प्रतिवन्दना नहीं की ॥१५७॥

कनसंतरिक्षमंग
ध्वनिकारे ळुकलिस लक्षणंमत्तंमे ।
दिनिकंपमेंबनष्टांग-
निमित्तंबगेवोडवग्गेंशुद्धगेयल्ते ॥ [?] १५८॥

अर्थ—चन्द्राम मन में आश्चर्य करने लगा कि वहां इतने श्रावक हैं, और ग्यारह अंगके पाठी भव्यसेन मुनि हैं, उनमें धर्म की रुचि नहीं है, यह आश्चर्य की बात है।

स्वप्न, आकाश, अंग के लक्षण आदि आठ प्रकार के महान निमित्तों द्वारा भविष्यको स्पष्ट जानने वाले, ग्यारह अंगोंके ज्ञानधारी मुनिमें भी आत्म-रुचि नहीं है तथा भेद-विज्ञान नहीं है। तब हम जैसे अज्ञानियों का क्या कहना ॥१५८॥

+ भवसेनाचार्यंप्रभृति ऋषियरं प्पुदरिंदुदासिनंमागिदेंबु (ग)।

अदरिंदिवररियद विषयमिल्लप्पुदरिंदिवर मातेगेय्दु तप्पल्लरियदेंदु निश्चियिसि गुरुगळं बंदिसि बिळकोंडु विद्येयिं विगुर्विसिद रत्नत्रयविराजित-मप्प पोन्न विमानमनेरि गगनमार्गदिंदुत्तरमधुरेगे बंदु धरेगवतरिसि ब्रह्मचारियागि भव्यसेनाचार्यरल्लिगे बंदु ॥]+ ॥१५६॥

अर्थ—भव्यसेन मुनि सभी बाह्य विषयों को जानते हैं, किन्तु आध्यात्मिक विषयको क्यों नहीं जानते ? इस विषयमें अधिक चर्चा करनेसे कोई लाभ नहीं है। हमारे श्रीगुरुका वचन असत्य नहीं हो सकता। अतः वहीं चलकर देखा जायगा। इस प्रकार सोचकर उसने गुरु-देव से जानेको आज्ञा ली और अपनी आकाशगामनी विद्याके द्वारा वह सीधा उत्तर मथुरामें जाकर भव्यसेन मुनि के निकट पहुँचा ॥१५६॥

पिरिदप्प ख्यातिगेनी
विरे नोंतवरारो जगदोळदरिं निम्मं ।
पिरिदर्तिवेरसु नोडुव
भरवसदिं पांड्यदेशदिंदं बंदें ॥१६०॥

अर्थ—भव्यसेन ने चन्द्राभ से पूछा—तुम कहां से आए हो ? तब चन्द्राभ कहने लगा—इस देश के समान संसार में किसी देश की प्रसिद्धि नहीं है। इस देश के राजा के समान विख्यात अन्य राजा नहीं है। और आप के समान दूसरा कोई गुरु नहीं है। अतः आपके दर्शनों के लिये मैं पाण्ड्य देश से आया हूँ ॥१६०॥

[एंबुदुं भव्यसेनाचार्यर् ब्रह्मचारिय वचनक्के संतोषं बट्टिर्पुदुं ब्रह्म-चारि भव्यसेनाचार्यर सम्यक्त्वमं नोडलेंदु मूरु नाल्कु दिवसं पोर्दिकळेकोंदु-दिवसं ॥]÷ ॥१६१॥

अर्थ—इस प्रकार ब्रह्मचारी के वचन सुनकर भव्यसेन मुनि आनन्दित होकर मुस्कराये। तब चन्द्राभ सोचने लगा कि उनके सम्यक्त्व की परीक्षा करनी चाहिए। यह विचार कर दो चार दिन पश्चात् उसने चर्चा छेड़ी ॥१६१॥

+ इवर वचनमुं तप्पदेंदु नवि विमानारूढ नागियुं ततर्णदिंदुत्तरमधुरगे बंदु भव्यसेनाचार्यरं कंडु (ग)।

÷ एंदवर्गे संतोषंबडिमि संतोषवागि नाल्दिदु नाल्कनेयदिवसमिदुं भव्यसेनाचार्यर सम्यक्त्वमं नोडलेंदु ब्रह्मचारिइंतेंदं, (ग)।

मरुळिगट्टुदनुंडगे बगेवोडं तावुं मरुळगुंडरो
परमुं टेंबुदनारु बल्लररिंदिं निष्कारणं श्रावक- ।
र्करुळं कट्टिट विशेषमप्प धनमं संक्लेशदिं पेनु वि-
स्तरदिं भोगिसलोल्लदेके किडुवर्निर्बुद्धियिं धर्मदोळ× ॥१६२॥

अर्थ–महाराज ! आपके घरमें सब कुछ था । आपने उसका उपभोग न करके क्यों उसे छोड़ा और यहाँ आपने क्या सुख देखा ! परलोक है, मोक्ष है, यह किसने देखा है, आप ने इस पर कैसे विश्वास कर लिया ? निष्कारण श्रावकोंके घरमें अन्न ग्रहण करते हो, जब कि आपके घरमें राजपाट स्त्री-पुत्र आदि सब कुछ था । यहां पेट भरकर अन्न भी नहीं मिलता । यहां अनेक प्रकार के संक्लेश और उपसर्ग होते हैं । यह निर्बुद्धि धर्म ग्रहण करने में क्या बुद्धिमत्ता है । यहां आकर आपको क्या सुख मिल गया । आपका शरीर कितना कृश हो गया है । मुझे तो यह देखकर दुःख होता है ।

इस प्रकार उस ब्रह्मचारी ने आश्चर्य से प्रश्न किया ॥१६२॥

[एंदु भव्यसेनाचार्यरं वेस गोळवुदुं मेल्लने नक्कु धर्मदिं परत्रेयोळ् सुख-मुटेंबु दागमदोळ् पेळिर्कु मल्लदावरियेमेंबुदुं ब्रह्मचारि नक्कु तन्नोळ् मत्तं]❀

अर्थ–भव्यसेन यह सुनकर मुस्करा कर कहने लगे, धर्म से इहलोक और परलोक में सुखकी प्राप्ति होती है, ऐसा आगम में कहा है । इसलिये मैंने यह मुनिपद ग्रहण किया है । मैं और कुछ नहीं जानता ।

तब ब्रह्मचारी हँसा–॥१६३॥

त्रसमं विद्येगळिं विगुर्विसि वळिक्कं तात्रसव्रातमं
मिसुकल्कियदे मेट्टि निष्करुणदिंदल्लिर्दवप्राणिगु- ।
ळ्ब समं माडदिरेंदोडामुनियनी जीवंगळं जीवमें
बेससिं निश्चयमेंदोडावरियेवंतेंबमुनीद्रोत्तमर् ॥१६४॥

अर्थ–उसने विद्याके बलसे आचार्यके सामने छोटे त्रसजीव पैदाकर दिये और उनके ऊपर

× किडिपर् निर्बुद्धियिदानदोल्. (ग) ।

❀ उल्लुदुं पेलिमेने दानदिं सुखमुं टेंबुदं आगमदल्लि पेलवु दल्लदावरियेवेंबुदु नक्कु (ग) ।

पैर रखने लगा। किन्तु भव्यसेन ने उसको हिंसा करने से नहीं रोका। ब्रह्मचारी ने उनसे पूछा—महाराज ! शास्त्रोंमें क्या हिंसा करनेका निषेध किया है ? भव्यसेन बोले—शास्त्र में लिखा है, मुझे और पता नहीं ॥१६४॥

[मत्तमद्राश्यनीरमं गुंडियोळित्त वितंदु कुडुवुदु मुसिरदिरे नक्कु]+ ॥१६५॥

नीरोळगाळियोळदरणेयोळिजवंगळु टेंबरा
नीरोळगाळियोळग्नि योळधरणेयोळिजवंगळं कंडरि- ।
ञ्चारि लोकदोळिल्ल जीवनोळवोमेणेल्लवो पेळि नी
वारय्दिन्नेनगेंदोडाववरियेवोदं तेंबु दाश्चर्यदिं ॥१६६॥

अर्थ—जब भव्यसेन शौच के लिये गये तो ब्रह्मचारो ने उनके कमण्डल का पानी सुखा दिया तो ब्रह्मचारी ने उन्हें तालाब बता दिया। उन्होंने तालाब पर जाकर शुद्धि कर ली। फिर ब्रह्मचारीने विद्याके जोरसे घास के अंकुर उगा दिये। भव्यसेन उन्हें रोंदते हुए निकल गए। यह देखकर ब्रह्मचारीने समझ लिया कि यह भव्य नहीं, अभव्य है। भव्यसेनने उस विद्याधर ब्रह्मचारी से पूछा—तुमने पानी छाना था या नहीं ? ब्रह्मचारी बोला—महाराज ! पानी में तो कोई जीव है नहीं। इसलिये मैंने नहीं छाना। भव्यसेन बोले—हां ! बात तो यही है। पानीमें कहीं जीव दिखाई तो नहीं देते। मुझे भी यही मालूम पड़ता है।६५-६६।

एंबु दुमवर मातिंगमागमदोळाद् विश्वासक्कं तल्नेयं तूगि ॥१६७॥

अर्थ—इस बात को सुनकर ब्रह्मचारी मन में विचार कर कहने लगा—॥१६७॥

रसगितं पोणमे तूर्य ध्वनिगळसये सद्रागदिं तुप्पदिंदं
मोसरिंदं क्षीरदिंदं मुददिन भिषवं माडुवर्भक्तियिं भ- ।
व्यसमूहं वीतरागं+ गिदरोळ् फलमेनेंदु तत्साधुवं सं-
तसदिंदं केळ नावेनरिवेवु मुनिपर्पुण्य मंटेदु पेळवर् ॥१६८॥

अर्थ—महाराज ! लोग अनेक प्रकार के गाजे बाजेसे स्तुति भक्ति करते हैं. पूजन करते हैं, अभिषेक करते हैं—क्या इसमें भी पुण्य कर्मका बन्ध होता है? क्या यह भी कोई धर्म कार्य है?

+ एकादशां.दरियागियुमिर्वगितीमातक्कुमे जगदोल भव्यत्वमे कष्टमेंदु मनदालनुदु (ग)।
× देवदेवं (ग)।

क्या इससे भी सुख और शान्ति मिलती है? देवको पूजा अर्चा करनेसे कौन-सा पुण्य मिलता है ? साधु लोग कहते हैं कि देव को पूजा करने से पुण्य होता है, क्या यह सत्य है ?

भव्यसेनने उत्तर दिया—लोग कहते तो हैं और शास्त्रोंमें भी यही लिखा है, किन्तु मुझे तो विश्वास नहीं होता ॥१६८॥

एंदु, तावरे नीरं पोर्गदंते, पोजेयर्कुलजरं पोर्दंदंते [पल् ताळुगेयं पोर्दंदंते पुर्व् किवियं पोददंते] मुगिल्नेलनं पोर्दंदंते, नक्षत्रं मेरुवं पोर्दंदंते, पतंगं सूर्यनं पोर्दंदंते,* आप्तागमपदार्थगळूळ पोदु गेयिल्लदिरे [ब्रह्मचारि तन्नोळिंतेंदं] ॥

अर्थ—तब वह ब्रह्मचारी मन में विचार करने लगा कि जैसे तालाब में कमल पानी से अलग रहता है, जैसे नीच लोग सज्जनका त्याग कर देते हैं, इस ही प्रकारसे भव्यसेन ग्यारह अंग का पाठी होने पर भी उसके मर्म से बहुत दूर है। जैसे आकाश में नक्षत्र दीखते हुए भी आकाश से पृथक् रहते हैं, पतंग सूर्य की ओर उड़ते हुए भी सूर्य को स्पर्श नहीं करते, इसी प्रकार ये आप्तागम को जानते हुए भी उसके प्रभाव से अछूते हैं ॥१६९॥

वनरुहमं सरियोळ् वे-
विन गोट्टे योळिनिदनर्कनोळ् तंपं मे ।
दिनियोळ भव्यरोळूळपं
धनमागिरलरसि तोळलु वातने× गांपं ॥१७०॥

अर्थ—जैसे वृक्ष आकाश में रहते हुए भी उसे स्पर्श नहीं करता, पकी निबौली का बीज छिलकेसे अलग रहता है, इसी प्रकार संसारमें अनेक अभव्य होते हैं जो कि जिनधर्मका संयोग मिलने पर भी उसका स्पर्श नहीं कर सकते हैं ॥१७०॥

किसुर्वि जिनरूपं मा-
डिसि पुजेसेयुं किळुंबु माणद तेरदिं ।
वसुधेयोळ भव्यरुं बा
त्रिसुवोडे जिनरूपनेय्देयुं पोल्लेनिपर् ॥१७१॥

---

* पोन्नु माणिकमं पोर्दरंते (ग)

× तडेयदरसु रातने (ग) + वसुमतियोलदुर्जनरुं पेसवंडेदुं तम्म सहजमं बिट्टपरे (प्रो० क०) ।

अर्थ—जैसे तांबे की मूर्ति का दूध-दही से अभिषेक किया जाय तो वह फट जाता है, उसी प्रकार अभव्य लोगों को जिनेन्द्र भगवान का उपदेश अहितकारक हो जाता है। जैसे समुद्र में आकर मीठा पानी भी खारा हो जाता है, वैसे ही अभव्य लोग जिनरूप धारण करने पर भी वे कर्मों की निर्जरा नहीं कर पाते ॥१७१॥

(अदरिं) "संस्कारशतेनापि न गुण्डः कुङ्कुमायते" एंब वाक्यर्यद (ठते-मिथ्यादृष्टि गळुमभव्यरु तम्मनेनितु समरिदोडं नडेदोडं प्रसिद्धरादोडं निरंतरसुखप्राप्तरल्लें बुदं तन्नोळ् बगेयुत्तु उंडुरुळिभट्टारकर सम्यक्त्वमना-रय्यलेंदु अवरल्लिगे बंदु अवर्नोडे नोडे ॥१७२॥

अर्थ—इसी प्रकार 'संस्कार शतेनापि न गुण्डः कुंकुमायते—।' यानी-गोल पत्थरको पका भी दिया जाय तो भी वह रोलीरूप नहीं हो सकता।

इसी के अनुसार मिथ्यादृष्टि अभव्य जीव जिनेन्द्र भगवान का उपदेश कितना ही सुने या जिनलिंग धारण करे, तो भी वह अपने स्वभाव को नहीं छोड़ सकता। इसलिए उसको कभी आत्म-सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। एकादश अंगोंके पाठी होकर भी अभव्य रहना कितने आश्चर्य की बात है! इसीलिये मेरे गुरु ने इन्हें आशीर्वाद नहीं दिया। मैंने स्वयं अपनी आंखों से देख लिया; कि यह कैसे हैं। अब मुझे उण्डरुड़ भट्टारक की भी परीक्षा करनी चाहिये, जिन्हें गुरु ने आशीर्वाद दिया है।

यह सोचकर वह क्षुल्लक उनके पास आया ॥१७२॥

तडेयदे विद्येगळिंदा
गेड तगुणेय निरुपेयं नोणं गळनोप्पं।
बेडदिर्द पसिय पुलगळ
नुडुगदे तां पडेदु पलवुमं तत्क्षणदोळ् ॥)× ॥१७३॥

अर्थ—उसने आकर अपनी विद्या के बल से वहां अंकुर, मक्खी, मच्छर, खटमल, पिस्सू आदि बना दिये और उनका मर्दन करना (मसलना) प्रारम्भ कर दिया ॥१७३॥

× फलदते अभव्यरुमेनिसादिदोड दर्शनदोल् दृढरल्लरेंदु, अल्लिद मुंडुरुळि भट्टारकर सम्यक्त्व मनारय्यलेंदु मवरिर्द वोवरिगे बंदु निद्रेय पडेदु (ग)।

इरुपेगळं मेट्टुत्तु
परियुत्तुं पसिय पुलगळं तगुणेगळं ।
पेरते नोरसुत्तुं मे
य्यरियदे कोलुतं नोणंगळं निर्दयेयिं ॥१७४॥

अर्थ–उन त्रस जीवोंके ऊपर वह फिरने लगा और खटमलों को पकड़कर बाहर फेंकने लगा। मक्खियों को पकड़ कर उन्हें मारनेका अभिनय करने लगा ।।१७४।।

इर्पुदुमदनुं ड्रुरुळिभट्टारकर्कंडु (तम्मोळिंतेंदर् ॥) ॥१७५॥

अर्थ–जब यह ब्रह्मचारी ये चेष्टायें कर रहा था, तो मुनि ने लेटे-लेटे ही उसे देखा। वे तत्काल उठकर उस क्षुल्लकके पास आये और बोले–अरे भाई! तुम इस वेषको धारण कर यह निंद्य कर्म क्यों कर रहे हो? क्या तुमने जिनागम को नहीं पढ़ा? हिंसा करके इस वेष को क्यों लज्जित करते हो? ।।१७५।।

इदु पेलिदु मेन्निरें
बुदनरियदे मेय्गे पूसिकोव्वुवु मक्कळ् ।
पदविंदे मत्ते मिथ्या
त्वद पुदुविं ग्वळरुमशुभकर्मगळुमं* ॥१७६॥

अर्थ–वे मुनि मन में विचार करते हैं कि जैसे अज्ञानी बालक टट्टी पेशाब करके उसमें हाथ डालकर मुंह और शरीर में लगा लेता है, उसे ज्ञान नहीं रहता है, इसी तरह अशुभ कर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टि जीव हिताहितका ध्यान नहीं रखते और दीर्घ संसारी हो जाते हैं।

शुभकर्मगळंदु नेगळवुदावुदु चोद्यमेंदु भगेदात नोळाद् निष्करुणतेगे (नाडेयुं) कोक्करिसि (ब्रह्मचारि यल्लिगे मेल्लने पोगि मृदुवचनगळिंदितेंदर् ।+

अर्थ–शुभकर्मके उदयसे जिन्होंने मनुष्य जन्म धारण किया है, ऐसे इस ब्रह्मचारीको यदि उपदेश दिया जायगा तो इसे ज्ञात हो जायगा और यह धर्म धारण करेगा, अतः इसे समझाना चाहिए। यह सोचकर भट्टारक उस क्षुल्लकको दयामय धर्म समझाने लगे ।।१७७।।

* पुदुविं कोलेये केलगें सुखमार्गिकर्कं (ग)।
+ बेगमवरल्लिगे बंदि तेंदर् (ग)।

दयेयिल्लद सद्धर्ममु
नयमिल्लद पतियुमात्मनिल्लद तनुवुं ।
जयमिल्लद काळगमु
प्रियमिल्लद बिदु मोप्पलारवु जगदोळ् ॥१७८॥

अर्थ–हे भव्य ! ध्यान पूर्वक सुनो । जहां दया नहीं है, वहां धर्म नहीं हैं । जहां अपने पति पर विश्वास नहीं है, वहां पत्नीत्व नहीं है । शरीर के विना आत्मा नहीं है । जहां जय नहीं वहां युद्ध नहीं है । जहां प्रेम नहीं, वहां मित्रता नहीं है । जहां ये बातें नहीं हैं, वहां कीर्ति और शोभा भी नहीं है । अतः सारांश यह है कि जहां दया नहीं है, वहां धर्म भी नहीं है और मनुष्यभय की शोभा भी नहीं है ॥१७८॥

जिनधर्म मेंबुदिदु जे
वनिकायक्कार्म मात्महितमघकुल जी- ।
वनिधिवडवानलं स-
ज्जनवंद्यं सुव्रतैकनिधि गुणनिळयं ॥१७९॥

अर्थ—जैन धर्म सम्पूर्ण जीवोंका हित करने वाला है, पाप को हटाने वाला है, संसार रूपी वड़वानल को शान्त करने वाला है, सुव्रत का भण्डार है, सम्पूर्णगुणों से परिपूर्ण है ।

जननि सहोदररिष्टर्
वनिते सुतर्तंदे केळयरें बिनिबरुमें ।
मनमोल्दु महाजिनरू-
पने पोर्दिदेयंदोडखिल भूमंडलदोळ् ॥१८०॥

अर्थ–यह जैनधर्म ही उत्तम कुल, उत्तम जाति, उत्तम माता-पिता बहन-भाई, मित्र, स्त्री, पुत्रआदि अनेक प्रकारकी सम्पत्ति, तथा इन्द्रियजन्य सुखको देनेमें जैसा समर्थ है, वैसा अन्य कोई धर्म समर्थ नहीं है । यह सम्पूर्ण प्राणियोंकी सुख शान्तिके लिए जननी के समान है ।

इन्नु निन्नंतु धन्यरुं मान्यरुमिल्लदरिन्दे केवल वीरदिं जिनरूपं पोर्दिदेयिन्न लसनागदे गुणवंतरं पोर्दिपरमागममनोदुवुदु ॥१८१॥

अर्थ–इसलिये भव्य ! संसारमें तुम्हारे समस्त धन्य मान्य पुरुष इसे स्वीकार करते हैं ।

तीर्थंङ्कर वीर भगवानने जो रूप धारण किया था, उसीसे कल्याण होगा। इसलिये तुम इस पाप-कार्य से विरक्त होकर अर्हन्त भगवान द्वारा प्ररूपित मार्ग को अंगीकार करके जैनधर्म को धारण करो। श्रद्धान के साथ परमागम का मनन करो, अधर्म का त्याग करके दयाधर्म हृदय में धारण करो ॥१८१॥

परमागमदिं दल्लदे
निरुतं सद्धर्ममरियवारदु धर्मं ।
दोरे कोंडोडल्लदक्षय
सिरियुं वैसारलरियदतिशयदिंदं ॥१८२॥

अर्थ—बिना परमागमके जाने धर्म का ज्ञान नहीं होता। जब धर्म का मर्म समझमें आ जाता है, तब अक्षय सुख के प्राप्त करने की सामग्री प्राप्त हो जाती है और मोक्ष-सुखका साधन मिल जाता है। इसलिए आगम का मनन करना चाहिए, धर्म अधर्मका ज्ञान करना चाहिए और परमागम का अभ्यास करना चाहिए ॥१८२॥

अदुकारणदिंदागममनोदुवुदु; परमागममनोदिदोडल्लदे दयामूलमप्प धर्ममनरिय ल्बारदु; नीं निर्दयरंते जीवंगळग बाधेयं माडवेडेने ब्रह्मचारियिंदं ।)÷ ॥१८३॥

अर्थ—अतः आगम का पढ़ना, मनन करना आवश्यक है। बिना मनन किये दया-मूलक धर्म का ज्ञान नहीं होता। दया मूलक धर्मको कभी नहीं भूलना चाहिए। अतः छोटे जीवों को भी कभी बाधा नहीं देनी चाहिए। तुम छोटे जीवोंको जो बाधा दे रहे हो, यह बात तुमको उचित नहीं है।

इस बात को सुनकर ब्रह्मचारी कहने लगा—॥१८३॥

तनुवं तपदोळकुंदिसि
वनितेयरं तोरेदिहत्रेयोळसुखमं कें ।
मने किडिसि मेले सुखमं
मनदोळबयसुवने गांपनद नादरिवर् ॥१८४॥

÷ जीवदयविल्लद तपमुमोप्पदु नि.करुणेगलंते प्राणिवधेय माडलागदु जिनधर्ममेंबुदु जिनधर्ममं जिनागममं नीं मनदोलभाविसि जिनमतमने तिम्बंपिडिदु नडेवुदु दयेयिंद (ग)।

अर्थ—महाराज ! शरीर को सुखाकर स्त्री-बच्चों को त्याग करके सुख मिलता है, इस पर विश्वास नहीं होता। यहां तपस्या करके इस लोक के सुख को ठुकरा कर परलोक के सुख की इच्छा करना क्या मूर्खता नहीं है ? परलोक किसने देखा है ? ॥१८४॥

एंबुदु (उंडुरुळिभट्टारकरिंतेंदरुः—) ॥१८५॥

अर्थ–इसके उत्तर में उण्डुरुड़ भट्टारक कहने लगे ॥१८५॥

नेरे निन्न बेन्ननेनें
दरियें नीनिनितरिदे बेन्निल्लेंबा ।
परिवारतनदिंदेनें
दरियदे गळपुवर नुडिगळं कैकोळवा ॥१८६॥

अर्थ–हे भव्य ! क्या तूने अपनी पीठ देखी है ? अगर नहीं देखी है, तो पीठ है, यह तूने कैसे निश्चय किया। दूसरों के कहने पर ही तो तूने पीठ का विश्वास किया है ॥१८६॥

नीं निन्न कण्ण पापेय
नुन्न तियिंदरियदनितरिं पापेगळि
ल्लेन्नल्ककुमे गुणमं÷
भिन्न गुणानं बदनितरिं दिल्लेंबा ॥१८७॥

अर्थ–इसी प्रकार तेरी पापी आंखें कभी नहीं देख सकतीं। पापी लोग सद्धर्म को नहीं जान पाते, अतः धर्म को छोड़कर अधर्मको ग्रहण करते हैं, क्योंकि उनके पूर्व जन्मके पापों का उदय होता है ॥१८७॥

नीं निन्न ताय बसिरोळ्
नी निदुर्दनीगळरियेयेंबनितरोळं ।
मानितगुण पुसियेंबा
नीनरियदोडनितरिं परत्रेयुमिल्ला ॥१८८॥

अर्थ–तुम बताओ कि तुम मां के उदरसे उत्पन्न हुए हो या कहीं आकाश से आये हो ? यह तुम कैसे सिद्ध करोगे कि तुमने अपनी माता के उदर से ही जन्म लिया है। तुम्हारे

÷ पेल परमं (ग)।

जन्मसे पहले ही तुम्हारे पिताका देहान्त हो गया था ? यह तुम्हें कैसे पता चला। तुम्हारी माता कहती है, इसलिये पिता का विश्वास किया। इसी प्रकार जिनागम कहता है, इसलिये पुण्य-पाप, धर्म, अधर्म, लोक और परलोक पर विश्वास रखना चाहिए।१८८।

एंबुदु ब्रह्मचारि [यिंतेंदं ॥] ॥१८९॥
सुरलोकसुखं तपदिं
दोरेकोळगंदोदु पेळवुदल्लदे सत्तर् ।
सुरगतियिंदं बंदो-
प्पिरे पेळदरे नीमिदेके परमुंटॆंबिर् ॥१९०॥
[एने मुनिन्द्रोत्तम]+ रिंतेंदं ॥१९१॥
[दूरदोळिपॊग्रहणम
नारानुं कंडरोळरे कुळूदिदोडं ।
धारिणेयोळरिद पेळवर्
सुरगुणर्वगे वोडोदिनोळ् पुसियुंटी ॥१९२॥
अमवासेयंदु लोकं
हिमकरनं काणदनितरिं शशियिल्ला ।
भ्रमेयिंदें निनतिदु
ष्पमदोळपळ् जिनरनरियदिरे जिनरिल्ला ॥१९३॥
शशियिर्दपनमवासेय
वसदिं काणल्के बारद्तिरे जिनरुं ।
वसुधेयोळिर्द परिदु
मिसुकुव कलिगालदेसकदिं तलेदोरर् ॥१९४॥

अर्थ—इसका उत्तर देते हुए ब्रह्मचारी बोला—महाराज ! यह कहिये तपश्चर्या से देवगति मिलती है। तो क्या किसी ने देवगति प्राप्त करके वहां से आकर कहा है कि मुझे

+ एंबुदु मुंडुरुलिभट्टारक (ग)।

देवगति मिल गई है ? आपके सम्बन्धियों में से क्या ऐसा किसी ने आकर कहा है ?

मुनिराज बोले–भव्य ! यह बताओ। चन्द्रमा यहां से ९८० योजन है। वहां पर उसे ग्रहण लग गया। क्या वहां जाकर तुमने देखा था ? कोई वहां जाकर देख करके आया है ? या लोगोंके कहने पर विश्वास कर लिया, या ग्रहण लग गया, यह कहना झूठ है ? ग्रहण लगेगा या लग गया, ऐसा ज्योतिषी लोग कहते हैं, तो क्या उनका कहना असत्य है ? शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा दीखता है, किन्तु अमावस्या को चन्द्रमा दिखाई नहीं देता। तो क्या उस दिन चन्द्रमा का अभाव है ? इसी प्रकार चतुर्थ काल में धर्म-ध्यान और शुक्ल ध्यान होता है, किन्तु पंचमकाल में धर्म ध्यान होता है, शुक्ल ध्यान नहीं होता। तो क्या मोक्ष का ही अभाव माना जायगा ? ।।१८९-१९४।।

[एंबुदुमंतादोडे]+ निम्मागमदोळ् पेळद मूरुं कोंकगळ नात्रं पोत्तिर्दपं पेळुमेने ।।१९५।।

अर्थ–आगम में तीन लोक का वर्णन आया है। क्या तुमने उसका मनन नहीं किया ? उसे मैं कहता हूँ, सो सुनो–।।१९५।।

अंबरदोळ् शशिदिनकर
बिंबमनार्तोळिद पोत्तु कोंडिर्दर् पे।
ळिंबिल्लदे लोकत्रय
बिंबं तन्न स्वभावदिं नेलसिर्कुं* ।।१९६।।

अर्थ–ढाई द्वीप के आकाश में सूर्य और चन्द्रमा सदा गमन करते हैं। क्या तुम्हारे बाप दादाने गमन करते हुए देखा है ? क्या यह झूठ है ? मध्य लोकमें वे प्रकाश करने वाले हैं, क्या ये किसीने बनाये हैं ? शास्त्रों में लिखा है कि ये स्वभाव से गमन करते हैं तो क्या यह झूठ है ? शास्त्र कहते हैं कि ये अनादि से हैं, तुमने इसे सत्य कैसे माना ? ।।१९६।।

[मत्तं परमागमं पुसियेंबेयप्पोडी सिद्धांतदोळ् पेळेपट्टगणित चोयिसंगळके तप्पदरिंदोंदु पुसियनवेडेंबुदुमं तप्पोडे निम्मागमदोळ् पेळेपट्ट षड्द्रव्य सप्त-तत्त्व नवपदार्थ पंचास्तिकाय मेंबिवु मोदलाद पलवुं तत्वंगळुंदिटमे पेळिमेंबुदुं

+ अंते तां (ग)। * नेलसिर्दवु (ओ० क०)।

उंडुरुळिभट्टारकरिंतेदर् ।]÷॥१६७॥

अर्थ–यदि जिनेन्द्र देव की वाणी असत्य मानेंगे और यह कहेंगे कि सूर्य-चन्द्रमा ऐसे नहीं हैं, तो आगम झूठा हो जायेगा। फिर स्वर्ग, नरक, सूर्य, चन्द्रमा, तारे सब झूठ हो जायेंगे। आगम को झूठ मानने पर आगम में कहे हुए षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्त तत्व, नौ पदार्थ झूठे हो जायंगे। इसलिये जिनेन्द्र देव के कहे हुए आगमको सत्य मानकर उनमें प्ररूपित सब बातों पर श्रद्धान करो। इसीसे तुम्हारा कल्याण हो सकेगा ॥१६७॥

खरकरनुष्णमं तोरेदु तण्णेदनप्पोडमिंदु तण्पन-
च्चरियेने बिट्टु तीव्रकरनप्पोडवोप्पु वार्धिसंकुलं।
परिहरिसिर्पोडं जलमनिंद्रनगं नेलेयिंदगल्वोडं
परमजिनागमं मरुळ तप्पुगुमे वसुधातळाग्रदोळ् ॥१६८॥

अर्थ–अग्नि उष्णता को नहीं छोड़ती, पानी शीतलता को नहीं छोड़ता, सूरज अपनी तीव्रता को नहीं छोड़ता, समुद्र अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ता, चन्द्रमा अपनी शीतलताको नहीं छोड़ता, इन्द्र अपने पद को नहीं छोड़ता है। ये सब बातें जैसे असत्य नहीं हैं, इसी प्रकार जिनेन्द्र भगवानकी वाणी भी असत्य नहीं है। उसे असत्य कहने वाला मनुष्य मूर्ख ही माना जायगा ॥१६८॥

एंबुदु किविय पालेय, महानदिय समुद्रद, गजदंतपर्वतद मेरुविन, पासिन पोक्किन, माणिकद कांतिय, निषधद विदेहद जित्तेय+ वज्रय, मोलेय केच्चल, मरन किच्चिन, बेल्लदसविय, सिंहद केसरद, गजददंतद, तळदरेखेय, पुर्विन नोसल, कण्णपापेय, स्तनद चूचुकद बसिर बासेय, कूटदंते महापुरुषर-सम्यक्त्व दोळाद कूटमुमतिशयमेंदु उण्डुरुळिभट्टारकर सम्यक्त्वक्के मेच्चिमन-दोळ् पोडेमट्टु मत्तं क्षमेयिं परिक्षिसलेंदु ॥१६९॥

अर्थ–इसी प्रकार तुम्हारे आगम में महानदी गंगा, सिन्धु आदि नदी, लवणोदधि-कालोदधि आदि समुद्र, मेरु पर्वत, गजदन्त पर्वत, निषध पर्वत, विदेह क्षेत्र, वैडूर्य खचित पर्वत

÷ एंबुदु मंतादोडे निम्म देवनप्प वर्धमानस्वामियु पेलद पंचास्तिकायादि पदार्थंगलं दिटम पेलिमेने (ग)।
+ जित्तेय (ग)।

आदि प्रसिद्ध हैं। स्तनमें रहने वाला दूध, काष्ठमें रहने वाली अग्नि, रस गुणमें रहने वाला स्वाद, सिंह के बाल, गज दन्त पर्वत, नीचे का भाग ये सब पापी की आंखों ने कभी नहीं देखा। महापुरुषों ने जो वस्तु जैसी है, वैसी कह दी है। उस पर पूर्ण विश्वास रखना चाहिये। यह सम्यक्त्व का माहात्म्य है।

ब्रह्मचारी यह सुन कर गाढ़ श्रद्धा वाला सम्यक्त्वी हो गया। उसने श्री उण्डुरुलि के चरणोंमें गिरकर क्षमा मांगी, कि भगवन्! मैं तो केवल आपके सम्यक्त्वकी परीक्षा ले रहा था।

पट्टिर्दरनरियद्वोल्
मेट्टुवुदु कालोळाद् केसरेल्लं मे।
लोट्टिद तेरदिं पत्तिदो
डोट्टचेयिंदिर्द गजरि गर्जेसदिनिसुं ॥२००॥

अर्थ—अज्ञानी लोग कपड़े पहननेके बाद कपड़ोंके नीचे क्या रहता है, यह नहीं जानते। उनके पांव के तले कीचड़ लगने पर उन्हें मालूम नहीं पड़ता। पाप के तीव्र उदय होने पर वे अपने अवगुणों को नहीं पहचान पाते। जैसे मेंढक कीचड़ में टर्र टर्र करके समझता है कि इस कीचड़के समान और कुछ नहीं है, इसी प्रकार पापी लोग भी पापके उदय से अपने ज्ञानका अभिमान करके पापका संचय करते हैं। अतः जब तक सम्यक्त्व के साथ ज्ञान और चारित्र न हो, तब तक द्वादशांग का पाठी होने पर भी अकेले ज्ञान से जीव का कल्याण नहीं हो सकता ॥२००॥

मेल्लने कुळ्ळिर्दु तम्मं पेररारानुं तागि बिर्द्रेंदु तम्मं तावे निंदिसिकोंडु प्राणिहितमप्पुदरिं देवोळतुं मेल्लने नोडि पोगिमेने मनदोळाद् दयेगे मेच्चि दळुदिवसं ॥२०१॥

अर्थ—मैंने गुरुदेव को बड़ा कष्ट दिया है। यह मुनिराज के निकट बैठकर प्रायश्चित्त करने लगा—मैंने संकल्पी हिंसा की है, मुझे पाप का बन्ध अवश्य हुआ है, इस प्रकार उसने अपनी निन्दा की।

मुनि उसकी दया भावना को देखकर मन में बड़े आनन्दित हुए ॥२०१॥

आनिपें यूळदूतिं
नीनेन्नं वगेयदुद्धतिक्केयोळिर्दें।

नीनेळेंदल्लिदभि-

मानंगिडे जडिदु बडिदुकेडेनूं कुदुदुं ॥२०२॥

अर्थ—ब्रह्मचारी मन में सोचने लगा—कि मैंने इनके प्रति अब तक अशोभनीक व्यवहार किया है और प्रश्नोत्तर किये हैं। यदि इनके स्थान पर और कोई मुनि होता तो संभव है वह मुझे बाहर निकाल देता। किन्तु इन्होंने कितनी शान्ति-पूर्वक मुझे समझाया है और किसी प्रकार का आवेश नहीं दिखाया। धन्य है इनकी शान्ति, धन्य है इनकी दया और धन्य है इनकी क्षमा ॥२०२॥

मनदोळळूळनितप्पोडं मुनिसिल्लदे तां पापमिरूगळप्पुदरिं ब्रह्मचारिगे-तम्मिदेंडेयनित्तु क्षमेगोंडु मत्तोंदेडेगे पोपुदुं करमाश्चर्यं बट्टु कृतकरोषमं त्रिट्टु तनोळाद कृतकमेल्लमं पेळदु ॥२०३॥

अर्थ—इनके मन में तिल मात्र भी क्रोध की छटा नहीं है, ये पाप-भीरु हैं। इतनी उद्दण्डता दिखाने पर भी इन्होंने कितनी शान्ति रक्खी। इस प्रकार निन्दा करते हुए यह विचार कर कि अब दूसरी ओर जाना चाहिए। उसने ब्रह्मचारी वेष को छोड़कर अपना स्वाभाविक क्षुल्लक वेष धारण कर लिया। तदनन्तर उसने मुनिराज के सामने अपने सब सत्य समाचार सुना दिया ॥२०३॥

करमादरदिं भक्तिय

भरदिं मेय्यरियदामुनींद्रनपादां ।

बुरुहक्के विनतनादं

सरसिरुहक्कळिगळळकरिं देरगुववोल् ॥२०४॥

अर्थ—अत्यन्त भक्तिपूर्वक उन मुनिके चरणोंमें मस्तक टेककर वह उनके चरणोंको पकड़ कर बार-बार नमस्कार करने लगा। मानो कमलमेंसे भ्रमर बार-बार उड़कर पुनः कमलमें आता हो ॥२०४॥

अंतु [×वंदिसि मुनिगुप्तभट्टारकर प्रतिवंदनेयं पेळदु मरुदिवसं रेवति-महादेवियोळादमूढदृष्टित्वमनारयलेंदु तत्पुरद मूडणदेसेगे बंदु विद्येगळं नेनेदु

× मेच्चि तानवरं (ग)।

चरिसि विरुवर्णेयिं ॥२०५॥

अर्थ—मनमें अत्यन्त आनन्दित होते हुए उसने अपने गुरु मुनिगुप्त भट्टारककी प्रतिवन्दना उनको कही। दूसरे दिन अमूढ़दृष्टि अंगमें प्रसिद्ध रेवती रानीकी परीक्षा करनेके लिए मथुरा की पूर्व दिशा में आकर उसने अपनी विद्या को स्मरण किया ॥२०५॥

वरकमंडलमोप्पे हस्तदोळ्जेपेत्तिरे बेळि् यु-
त्तरिगे जन्निवरं बेडंगळवट्टु बालदिनेशनं।
तिरे तनुच्छवि नाडे शोभिसे हंसे रंजिसि तोरे भा-
भुर चतुर्वदनं विराजिसे धात्रिगच्चरियुप्पिनं ॥२०६॥

अर्थ—अत्यन्त सुन्दर सोने का कमण्डल और चांदी की छतरी हाथ में लिये, गले में यज्ञोपवीत धारण किये हुए, बाल सूर्य के समान अपने शरीरकी दीप्ति फैलाते हुए, हंस पर सवार होकर अपने चार मुख बना लिये। जनता को आश्चर्य करने वाला ऐसा रूप धारण करके वहां आ गया ॥२०६॥

ब्रह्मनरूपं कैकोंडु महाविभूतियिंदिर्पुदुमापोळ लोळादळे श्रावकरुं संशय श्रावकरुं÷ केळपयिल्लद श्रावकरुं नामश्रावकरुं चर्चाश्रावकरुं यशोर्थि श्रावकरुं कुमति श्रावकरुं कार्यार्थि श्रावकरुं (पोप[?]श्रावकरुं]× मोदलागे कल्लेयु व विलेयुमागे डोंबरबीडं तोरे पर्यंते कळकळरवं पेर्चेयोर्वनोर्वनं मिगे परिदेय्दि पूजिसि पोडेमडुत्तिर्पन्नेगं पोळलोळाद जनदुलिपुमं परेय रवमुमं [माडदेळनेय नेलेयोळ्] रेवतिमहादेवि वेरसु नाल्कुसासिर मुकुटबद्धरिं परिवृतनागियोड्डोलगं गोट्टिर्द वरुणमहाराजं केळदाश्चर्यं बट्टदेनेने [केलदोळिर्दवर् विन्नपमेंदिर्तेंदर् ।+ ॥२०७॥

अर्थ—इस तरह ब्रह्मा का रूप धारण करके आया। साथ में पूरा आडम्बर था। पूर्व दिशा में आकर बैठ गया। मथुरा की जनता ने बड़े आश्चर्य के साथ देखा कि ब्रह्मा का

÷ पोल लोलगण श्रावकरुं मिश्र श्रावकरुं (ग)।

× संघातश्रावकरुं, चर्चा श्रावकरुं, कार्यार्थिश्रावकरुं गुप्त श्रावकरुं, मंत्रार्थिश्रावकरुं, (ग)।

+ विन्न पमेंदोर्वनितेंदं (ग)।

पूर्व दिशा में अवतार हुआ है। संशयालु श्रावक, बुद्धि-हीन श्रावक, नाम श्रावक, चर्चा-श्रावक, यशअर्थी श्रावक, कुमति श्रावक, कार्यार्थी श्रावक, गुप्त श्रावक, मंत्रार्थी श्रावक, मिश्रश्रावक, नवीन श्रावक ये सभी नगरके बाहर एकत्र हो गए, जैसे नट का ढोल सुनकर लोग इकट्ठे हो जाते हैं। और वे प्रातः ही स्नान करके ब्रह्मा की पूजा करने लगे। गाजे बाजे के साथ उनकी अर्चना की, प्रदक्षिणा दी, यथेच्छ फल चढ़ाये और अपने भाग्य को सराहने लगे कि आज हमने ब्रह्मा के दर्शन किये।

मंत्रियों ने राजा वरुण के पास जाकर ब्रह्मा की प्रशंसा की। तब राजा वरुण अपने चार हजार मुकुट-बद्ध राजाओं के साथ दरबार में विराजमान था। इस बात को सुनकर राजा को महान आश्चर्य हुआ। बहुत से दरबारी भी राजा से ब्रह्मा के दर्शन करने का आग्रह करने लगे ॥२०७॥

सरसिजासनिंदु नम्म पोळल्गे देव महोत्सवं
बेरसु तन्न निवासदिं पोरमट्टु तन्न परिग्रहं।
बेरसु दुन्दुभिनादमोप्पिरे रागदिं मनमोल्दु भू-
सुरर पेर्वडे कीर्तिसुत्तिरे बंदु मेमेयोळिर्दपं* ॥२०८॥

अर्थ—वे वरुण राजा से कहने लगे—राजन्! आज हमारे उद्यान में ब्रह्म देव अपने महोत्सव और आडम्बर के साथ अपने निवास को छोड़कर अनेक गाजे-बाजों के साथ देव-मानवों सहित अनेक ब्राह्मणोंके द्वारा स्तुति किये जाते हुए आकर विराजमान हैं ॥२०८॥

एंबुदुं [अरसनाश्चर्यंबट्टु] रेवतिमहादेविय मोगमं नोडि ॥२०९॥

अर्थ—राजा इस बात को सुनकर आश्चर्य-चकित होकर रेवती रानी के मुख की ओर देखकर कहने लगा ॥२०९॥

सरसिजगर्भं गडमा
पुरक्के बंदिर्देनेंदोडिन्नम्मिदं।
पिरियर्पेररार्वगेवोडे
धरेयोळ् नम्मंतु नोड नोंतवरोळरे ॥२१०॥

---

* ए ब्रह्मलोकदिदं तां ब्रह्म बंदु देव पुण्योदर्यादि।
द ब्रह्मवेरसु जिनवेल्लं भ्रांति नेरेदु नोडे मूढण देसेयोल् ॥ इर्दपं (ग)।

अर्थ–हे प्रिये ! ब्रह्मा इस नगर में आये हैं। बहुत से लोग उनकी पूजा-दर्शन करके अपने मनुष्य जन्मको सार्थक कर आये हैं। हमसे भी वे बड़े-बड़े विद्वान्; जो कि दर्शन-पूजा करके आये हैं, उनकी प्रशंसा कर रहे हैं। चलो, हमें भी उनके दर्शन करने चाहिए।२१०।

(नात्रापरमेश्वररं पूजिसि पोडेमद्दु बर्पमेळेमेने रेवति महादेवि नृपन देवतामूढक्के कळकळिसि नक्किंकतेंदळ्)+ ॥२११॥

अर्थ–प्रिये ! चलो, परमेश्वर की पूजा करके मानव-जन्म को कृतार्थ करना चाहिए। तब रेवती रानी अपने पति की देवमूढ़ता को देखकर हँसने लगी और कहने लगी ॥२११॥

ई जगद् नरर्माळय ळि
पूजेगे मायावियोर्व्वनर्तियोळं नि- ।
र्व्याजदोळ् तोडदु ÷खेचर-
राजं मेर्ण व्यन्तराधिपं मेणेनिसं ॥२१२॥

अर्थ–नाथ ! यह पंचम काल है। इस कलि काल में कोई ब्रह्मा हो नहीं सकता। एक ब्रह्मा हो गया है। यह कोई विद्याधर या व्यन्तर होगा, जिसने अज्ञानी लोगों को अपने मत की पुष्टि करके उन्मार्गमें ले जाने के लिए यह ढोंग किया होगा। यह कोई ठग है। जनता की मान्यता पर आप विश्वास मत कीजिए। इस कालमें अन्धविश्वासी लोग बहुत मिलेंगे। जो जिनेन्द्रदेव, गुरु और शास्त्र का महत्व नहीं जानते, वे मूढ़ता में पड़ जाते हैं ॥२१२॥

माडिकोंडिर्द्प (देवरिवनं ब्रह्मनेंदु निश्चयिसिनंव्लेव्डेम्मागमदोळ्पोडे कालमवसर्पिणियेंबुदिकालद मोदलोळादि ब्रह्मनेंब प्रथमतीर्थेश्वरनादना परमात्मनुमंदे मोक्षलक्ष्मि)* योळकुडिदनेंबुदुमरसं पोगदिर्दनन्नेगमित्तल कृतकब्रम्हं ॥२१३॥

अर्थ–इसे देव या ब्रह्मा मानकर इसकी पूजा कैसे की जाय। इस कर्म-भूमि के आदि में आदि ब्रह्मा कर्मों का नाश करके मोक्ष प्राप्त हो चुके हैं। अतः वे पुनः संसार में नहीं आ सकते। यह वास्तविक ब्रह्मा नहीं है, बल्कि कृत्रिम ब्रह्मा है ॥२१३॥

+ एबुदु मरसन देवतामूढक्करसि नगुतितेंदल् (ग)। ÷ मननच्चिव (ओ० क०)।

* अवसर्पिणेकालदोल् आदि ब्रह्म नादपरमेश्वरनु मुक्ति (ग)।

अत्ररिवरेल्लदे पट्टणा
दवेरल्लं बंदरेन्न नर्चिसलत्यु ।
रसवदिं रेवतिदेवियें
विविधगुणाभरणे बंदळिल्लनुनयदिं ॥२१४॥

अर्थ–क्षुल्लकने देखा कि मथुराके सभी श्रावक श्राविका यहाँ आगई, किन्तु गुणनिधि रेवती रानी नहीं आई। यह देखकर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ ॥२१४॥

(एंदु विस्मयंबट्टु) तंद्रोपनुपसंहरिसि मरुदिनं दक्षिणबागक्के दंदु कौतुकमप्पिनं+ ॥२१५॥

अर्थ–उसने अपने ब्रह्मा रूप का संवरण किया (समेट लिया) और दूसरे दिन दक्षिण दिशा में जाता है वहां पर पहुंच कर एक आश्चर्यजनक कौतूहल किया ॥२१५॥

कोरलोळ् कौस्तुभहारमोप्पे गदेयुं कोंदडमुं शंखमुं
वरचक्रायुधमुं चतुर्भुजदोळं चेल्वागे नीलाद्रियं- ।
तिरदेहच्छवि शोभिसुत्तिरे विभूषव्रातमेत्तं मनो-
हरमागल्गरुडं विराजिसे महीचक्रं मनं गोळ्वनं ॥२१६॥

अर्थ–गलेमें कौस्तुभमणिका हार पहने हुए, हाथमें गदा और चक्र लिए चार भुजाओंसे युक्त बन गया उसका शरीर नीले पर्वतके समान सुशोभित था। उसका शरीर अनेक प्रकार के आभरणों से सुशोभित था। गरुड़ पर विराजमान था। उसने जगत के लोगों के लिए अत्यन्त आकर्षक रूप धारण किया था ॥२१६॥

देसियिनोप्पिरे तोयरु
हासने मोदलागे तन्न कांतेयरीरे ।
गळ्ळासिर्वर्मत्तीरे
पळ्ळासिर्वर्मकुटवद्धरु निले केलदोळ् ॥२१७॥

अर्थ–उसके साथ १६००० स्त्रियाँ थीं, १६००० मुकुटबद्ध राजा थे। स्त्रियाँ हास-विलास कर रही थीं ।२१७।

+ मरुदिवसं तेंकणदेसेयोल् पुरक्कगुर्वप्पिनं (ग)।

नारायणरूपं कैकोंडिर्पुदु पुरद्वरेल्लं विष्णु प्रत्यक्षमागिर्दनेंदु मुन्निनन्ते बन्दु (पूजिसि पोडेमडु तिर्दरन्नेगं अद्नरसनरिदु रेवतिमहादेविय)× मोगमं नोडि ॥२१८॥

अर्थ–इस प्रकार नारायण का रूप धारण कर वह दक्षिण दिशा में प्रकट हुआ। तब उस नगर के जितने श्रावक श्राविका थे, वे सब 'उद्यानमें विष्णु प्रकट हुए हैं, यह सुनकर पहले के समान दर्शन के लिए गये। यह कोलाहल सुनकर वरुण राजा को भी पता चला कि विष्णु प्रकट हुये हैं। तब वह रेवती रानी से कहने लगा–॥२१८॥

निन्ने विरिचं बन्दोड-
दं नंबुगेयिल्लदोल्लेनेंदे केळ।
र्युन्न तिर्यिं घरे बरणेसे
पन्नगपतिशयननप्प सरसिजनाभं ॥२१९॥

अर्थ–प्रिये! कल तो कृत्रिम ब्रह्मा आया था। आज तो साक्षात् नारायण ही आ गये हैं। कल तो तुम्हें बिश्वास नहीं आया था, किन्तु आज विष्णु पर तो विश्वास करो। जो लोग उनके दर्शन करके अपने मानव-जन्म को सफल कर चुके हैं, वे कह रहे हैं, कि पन्नग पति विष्णु आये हैं।२१९।

(बंदिर्दनदुवं पुसिमाडदे नम्म परिजनं बेरसु पोगी त्रिष्णु वनर्चिसि पोडे-मट्टु बर्पमेने वनितारत्ने]❀ यिंतेदळ् ॥२२०॥

अर्थ–वह विष्णु नहीं है, यह कहना गलत है क्योंकि हमारे राज्य के सभी बड़े-बड़े लोग उनके दर्शन करके आये हैं। चलो हम भी उनके दर्शन करके अपना जीवन सफल करें।

इवनुं मायापुंजं
भुवनदोळळं पुजेगाटिसुव ग्वळने मे।
णवनिप निश्चयर्दिं के-
शवनल्लं देव बगेवोडेम्मागमदोळ् ॥२२१॥

× पुजिसुत्तिरे वरुणमहाराजनरिदरसिय (ग)।

❀ इंदु पुसियेरादोडं पुजिसि पोडेमट्टु बर्पमेलि मेनेरेवति महादेवि (ग)।

अर्थ—तब रेवती रानी अपने पति के वचन सुनकर कहने लगी—नाथ ! यह विष्णु नहीं है। कोई दुष्ट यह माया दिखानेके लिए आ गया है। आगममें बताया गया है कि नारायण नौ होते हैं। यह कोई ख्याति लाभके लिए माया दिखाने आ गया है। निश्चय ही वास्तव में यह नारायण नहीं है ॥२२१॥

नवकेशवरूर्वरेयोळ
गवरुं मुन्नागि पोदरीगळिदेना।
नुवनोर्वनंते माडिदो
डवंगे नों भक्तियिंदमेरगुवेनेंबा ॥२२२॥

अर्थ—इस युगमें नौ नारायण हो चुके हैं। इस काल में कोई नारायण होने वाला नहीं है। अतः इसको स्तुति, भक्ति नहीं करनी चाहिए ॥२२२॥

एंबुदुमर [सनर] सिय मातिंगे चोद्यंबट्टु पोगदिर्दनन्ने गमित्तल् मायाविष्णु रेवतिमहा[देवियोर्वल बारदुदक्के विस्मयंबट्टु विगुर्वणेयन दृश्यं माडिमत्तं मह्दिवसमापुरद)÷ पडुवण देसेगे बंदु महाद्भुतमप्पिनं ॥२२३॥

अर्थ—वरुण राजा रेवती के वचन सुनकर आश्चर्य-चकित हुआ और दर्शनों के लिए नहीं गया। उधर मायावी विष्णु ने देखा कि रेवती रानी नहीं आई तो उसे उस दिन भी आश्चर्य हुआ। उसने अपनी माया समेट ली और तीसरे दिन पश्चिम दिशा में आकर अद्भुत रूप धारण किया ॥२२३॥

शिरदोळ् गंगाजलमो
प्पिरे जडेयोळ्शिशुशशांकनेसेदिरे नोसलोळ्।
करमुरिगरणळवट्टिरे
गिरिसुते वामार्धदोळिवराजेसे मुद्दिं ॥२२४॥

अर्थ—सिर से गंगा प्रवाहित हो रही है, माथे पर चन्द्रमा है और तीन नेत्र हैं। वाम-पार्श्व में पार्वती है ॥२२४॥

÷ देविय बरव काणदे रूनुपु सहरिसि मरुदिवसं (ग)।

करदोळ् फणिकंकणमेसे-
दिरे शूलं डमरुगं कपालं तळदोळ् ।
करमोप्पे शल्यभूषो
त्करमंगदोळय्दे शोभेवेत्तिरे चेल्विं ॥२२५॥

अर्थ—हाथ में सर्प कंकण है, त्रिशूल है, डमरू है, कपाल है, गले में सर्प है। कण्ठमें विष है। अत्यन्त शोभायुक्त है, अंग में भस्म मली हुई है ॥२२५॥

निरुपम ताराचळदं
तिरे देहच्छायेयिर्पे वृषवाहनम ।
च्चरियागे मरुळपेर्वडे
करमत्याश्चर्यमागे बंदिरे केलदोळ् ॥२२६॥

अर्थ—आकाशमें जैसे तारागण चमकते हैं, इस प्रकार देह छाया चमक रही है। नांदिया है। शिव के इस रूप को देखकर मथुरा के लोग आश्चर्य-चकित होकर उसके दर्शनार्थ आने लगे ॥२२६॥

ईश्वरनरूपं विगुर्विसि बंदिर्पुदु पुरदवरेल्लमच्चरिवट्टु किविंयोळके-ळ्दीश्वरनं कण्णारे कंडेवेम्मं त्रिट्टु नोंतवरारेंदु बगेद बण्णिकेय पूजेगळं माडि पोडेमडुतिर्पन्नेगमित्तलिश्वरं बंदनेंबुदं वरुणमहाराजं केळदु तन्नग्रमहिषिय) ÷ मोगमं नोडि नगुत्तुमिंतेंदं ॥२२७॥

अर्थ—शिव का आगमन सुनकर लोग दौड़े-दौड़े आए। हमने शास्त्रों में पढ़ा सुना था। किन्तु आज हमने भगवान को प्रत्यक्ष देख लिया, इस प्रकार स्तुति करते हुए लोग आये। नगर में यह कोलाहल मच गया कि 'ईश्वर आ गया।' यह बात वरुण राजा के कानों में पड़ी तो वह अपनी रानी रेवती से कहने लगा ॥२२७॥

वनजमुखि केळ नीं मो-
न्निन शून्यवचनमं नुडियदे ने ।

+ अतिश्वरन रूपं कंकोंडिर्पुदं, पुरमेल्लं किवियोल् केलवीश्वरनं कण्णारे कंडेवु धम्मि कृतार्थ-रारदु पूजिसि पोडेमट्टु कोडाडुत्तिरे वरुणमहाराजनरिदरसिय (ग)।

हूणे बपुर्दिदु गौरी ।

शनपद्मं काणलेंबुदु सति नुडिदळ् ॥२२८॥

अर्थ–प्रिये ! अब तो तुम अपनी हठ छोड़ो। हमारे उद्यान में महादेवजी प्रकट हुए हैं चलो, हम भी चलकर उनके दर्शन कर लें और अपने मानव-जीवनको सफल करें ।२२८।

देव बिन्नपमेम्मागमदोळ् भीमावळि मोदलादेकादशरुद्ररुं मुन्नागि पोदरिवं रुद्रनल्लनेने भूमाश्वरं बेरगागि रेवति महादेवि पोगदिर्दोडे तानुं पोगदिर्द नन्ने गमित्तल्मायाहरं* [रेवतिमहादेविय बरवं काणते विस्मयं बट्टु]+ मत्तमामहानुभावेय सम्यक्त्वमनारयलेंदु मरुदिवसं बडगणदेसेगे बन्दु (जगकाश्चर्यमप्पिनं) ॥२२६॥

अर्थ–तब रेवती रानी कहने लगी–देव ! मेरी प्रार्थना सुनो । हमारे आगम में ग्यारह रुद्र बताये हैं । फिर यह बारहवां रुद्र कहां से आया ? लोगों को ठगने यह कोई मायावी आया है और लोग गतानुगतिकता से उसके दर्शन करने जा रहे हैं । किन्तु जिन्हें आगम पर श्रद्धान है, वे नहीं जा सकते । अतः हमारा वहां जाना उचित नहीं है । यह रुद्र नहीं है, सब झूठ है ।

मायावी रुद्र ने सब को देखा किन्तु रेवती रानी को नहीं देखा । तब उसने सोचा कि सम्यक्त्व-धारिणी रेवती रानीकी एक बार फिर परीक्षा करनी चाहिये । तब वर पूर्व दिशा में आकर... ॥२२६॥

मिळिर्वशोकेय वृक्षदिं हरिपीडदिं सुरतूर्यदिं

पोळव चामरदोळियिं नेरे दिव्यनिस्वनदिं सुरर् ।

तळिव पुष्पसमूहदिंदोदविर्द मुक्कोडेयिं प्रभा

वळयदिं रमणियमागिरे धात्रिगच्चरियप्पिनिं ॥२३०॥

अथ–अशोक वृक्ष, सिंहासन देवदुन्दुभि, चमर, दिव्यध्वनि, पुष्पवृष्टि, तीन छत्रों के

* ईतनीश्वरनल्लनेने वरुणमहाराजं पोगलोल्लदिर्दनत्तल् मायाहरं (ग) ।

+ पेर्वोनलिगिदि सुबवनुर्वरेयोल् बेगमेंबगापन तेरदिं निर्वृद्धि गलेम्मन्नर् सर्वगुणांबुधिय चित्तमं कदक्कुवरे ॥२२६॥ एदु कंमुगिदु मत्तं (ग) ।

नीचे विराजमान भ० महावीर और उनके पीछे भामण्डल है, इस प्रकार संसारको आश्चर्य में डालने वाले भ० महावीर के समवशरण की रचना की ॥२३०॥

श्रीवर्धमानस्वामिय रूपुगोंडिर्पुदुं मुन्निनंते एल्लरुं परिदु ॥२३१॥

अर्थ—भगवान महावीरका समवशरण आया हुआ है, यह सुनकर पूर्वके समान...।२३१।

केळरं भोरुहदिं केलर् सुरगियिं चेन्नैदिलिंदं केलर्
केलरोंदुत्वलदिं केलर्वकुळदिं तांबूलदिंदं केलर् ।
केलरोप्पिर्द सुवर्णपुष्पचयदिं कर्पूरदीपंगळिं
केलरानंददिनितु पुजिसि जिनाधीशांघ्रिपद्मंगळं ॥२३२॥

अर्थ—कई लोग कमल, कई लोग सुरचम्पा, कई लोग नील कमल, कई लोग वकुल, कई लोग पान, कई लोग कपूर दीप लेकर भगवान के समवशरण में पहुँचे और तीन प्रदक्षिणा देकर उनकी चरण रज ली ।।२३२।।

(अंतु पुजिसि) पोडेमडुतिर्पन्नेगं वर्धमानस्वामिमहामहिमेयिं वंदिर्दनेंदु वरुणमहाराजं केळदुरेवतिमहादेविगिंतेंदं ॥२३३॥

अर्थ—पूजा करके जब लोग लौट कर आये तो शहर में आकर लोग भगवान महावीर की प्रशंसा करने लगे। धन्य है, हमने अब तक जीवन में भगवान् जो दर्शन नहीं किये थे, वे दर्शन आज हुए हैं। यह सुनकर वरुण राजा रेवती रानी के मुखकी तरफ देखकर कहने लगा कि...॥२३३॥

वनजातानने मुन्निन
वनरुहनंदननुमं वृषारूढनुमं ।
वनरुहनाभनुमं नं-
बि नितांतं केळ पोगि पोडेमडदिर्दै ॥२३४॥

अर्थ—हे कमलनयनि ! पहले ब्रह्मा विष्णु और महेश को असत्य मानकर तुम दर्शनों के लिये नहीं गई और न उन्हें नमस्कार ही किया। इसमें कोई हानि नहीं हुई किन्तु—

अदु निनगुचितमप्पु दिगळ् निन्नकुलस्वामि (यप्प वर्धमानस्वामि वंदिर्दपनापरमात्मनं पुजिसि पोडेमट्टु बर्पमर्चनेवेरसु पोरमडुवुदने सम्यक्त्वर-

रत्नाकरे यिंतेंदळ्)× ॥२३५॥

अर्थ—वहां जाना तुम्हारे लिये उचित नहीं था। किन्तु तुम्हारे कुल गुरु भगवान महावीर आ गये हैं। अब तो तुम दर्शनों के लिये चलो। तब यह वचन सुनकर सम्यक्त्व-रत्नाकर रेवती रानी कहने लगी···॥२३५॥

इवनुं कैवल्य श्री
धवनप्प जिनेंद्रनल्लनेम्मागमदोळ्।
भुवनेश्वर जिननाथ
विवरिपोडेप्पत्तनाल्वरमरस्तुत्यर् ॥२३६॥

अर्थ—यह कैवल्य श्री (मोक्ष स्त्री) का पति नहीं है। यह जिनेन्द्र देव भी नहीं है। यह तो कोई मायावी है। हमारे शास्त्रोंमें चौबीस ही तीर्थङ्कर बताये हैं, पच्चीस नहीं। वे मुक्त हो चुके हैं और मोक्ष से कभी लौट कर नहीं आते ॥२३६॥

अवरुं निःश्रेयसश्रेयोळ् कूडिर्द परमेष्ठिगळागि (पुंदरिंदीतं वर्धमान-स्वामियेंब मातुं घटियिसेदं चुदुं रेवतिमहादेवियं मातिनंदक्के वरुणमहाराजं विस्मयं वट्टु मेल्लगितेंदं ॥२३७॥

अर्थ—भगवान मुक्त होकर सिद्ध परमेष्ठी बन गए हैं। मुक्ति से भगवान महावीर फिर आए हैं, यह हमारे शास्त्र के विरुद्ध है और पच्चीसवां तीर्थंकर हो नहीं सकता।

इस प्रकार रेवती रानी के वचन सुनकर राजा वरुण अत्यन्त आश्चर्य-चकित होकर इस प्रकार कहने लगा कि...॥२३७॥

सरसिरुहवदने निन्निं
मरुळगळें भक्तिवेरसु परिदेय्दिद जिने-।
श्वरनेंदेरगुव नम्मा
पुरदोळगणपासतक्करेल्लरुमागळ् ॥२३८॥

अर्थ—हे कमलमुखी ! तुम्हारे समान भी कोई पागल होगा ? कि यहां कुल स्वामी के

× वंदिर्दपं पोगि पुजिसि वंदिसि बर्पवचनेनेवेरसु नेनयिमेने रेवति महादेवि नक्कु (ग)।

आने पर भी तुम उनके दर्शनोंको नहीं जा रहीं हो। साक्षात् जिनेन्द्रदेव आए हैं। फिर भी तुम वहां नहीं चल रहीं। यह तो मूर्खता है ॥२३८॥

एंबुदु मरसि यिंतेंदळ्)× देवा पुणिसेय पुवेल्लं कायप्पुवे, नेलननगुळ्द-रेल्लं निधानमं कारवेर, कैकालुळ्ळरेल्लं चक्रवर्तिगळे, मरनादुवेल्लं श्रीखंडमे, मोले मुडियुळ्ळरेल्लं स्त्रीयरे, पगिनादुवेल्लं कर्पुरमे, कोडुळ्ळवेल्लं करेववे, गरियादुवेल्लं पोन्ने, शिलेयादु वेल्लं वज्रमे, समुद्रवादुवेल्लं पाले, धान्यमादु-वेल्लं कळवेये, नुडियुळ्ळवरेल्लं मंत्रिगळे, वंटरादवरेल्लं नायकरे, कादुवरेल्लं वीररे, पडेवरेल्लं सूळयरे, पाडुवरेल्लं गांधर्वरे, मोरेवुवेल्लं तुंबिये (नीरादुवेल्लं रुचिये) पुष्पवादुवेल्लं कम्मिदुवे, सज्जनरादरेल्लं पतिव्रतयरे, श्रावकरादवरेल्लं सम्यक्दृष्टिगळे, मूढत्रय मिल्लदर् जैनरे, एनेमूढत्रयंगळावुववं पेळिमेनेय रसियिं तेंदळ्:—॥२३९॥

अर्थ—इस बातको सुनकर रेवती रानी कहने लगी, कि—हे नाथ ! इमलीके पेड़में जितने फूल होते हैं; क्या वे सब फल हो जाते हैं ? पृथ्वी में दीखने वाली सभी चीजें निधि नहीं होतीं, हाथ पांव वाले सभी मनुष्य चक्रवर्ती नहीं होते, सभी वनस्पति चन्दन नहीं होतीं, स्तन वाले सभी प्राणी स्त्री नहीं होते, सुगन्ध वाले सभी पदार्थ कपूर नहीं होते, सींग वाले सभी पशु गाय नहीं होतीं, सभी पर्वत सोने के नहीं होते, सभी शिला वज्र नहीं होती, सभी समुद्र क्षीर-सागर नहीं होते, सभी धान्य चावल नहीं होते, अधिक बात करने वाले सभी मन्त्री नहीं होते, सभी शूरवीर सेनापति नहीं होते, लड़ने वाले सभी वीर नहीं होते, शृङ्गार करने वाली सभी स्त्रियां वेश्या नहीं होतीं, गाने वाले सभी गन्धर्व नहीं होते, भन-भनाने वाली सभी मक्खियां भ्रमर नहीं होतीं, सभी पानी रुचिकर नहीं होते, सभी पुष्प सुगन्धित नहीं होते, सभी स्त्रियां पतिव्रता नहीं होतीं। इसी प्रकार श्रावक नाम वाले सभी सम्यग्दृष्टि नहीं होते। क्या मूढता-युक्त जैनी कहला सकता है ? ॥२३९॥

× प्परन महिवल्लभं नक्कु पुरदोलगण श्रावकरं ऋषियरुं जिनेश्वरनेंदु पोगि पोडेमडुत्तिर्दपर वर्निन्नि मरुलगल पेलने रेवति महादेवि (ग)।

+ तनुगुणलिक्कि बेक्षिणिसहोत्तुगलं (ओ० क०)।

तब वरुण राजा पूछने लगा कि–तीन मूढ़ताएँ कौन-कौनसी हैं ? उसके उत्तरमें रेवती रानी कहने लगी...

अनलननर्कनं शश्रेयनिंद्रननंतकनं मरंगळं
वनधियनुर्वियं मडकेयं तोरेयं केरेयं गृहगळं ।
अननियनय्यनं पशुवनेत्तुगळं कुलदैवमेंदु मे-
ल्लने पोडेमट्टु पुजिसुव गांपने दैवविमूढनुर्वियोळ् ॥२४०॥

अर्थ–वायु, सूर्य और चन्द्रमा, यम, वृक्ष, समुद्र, पृथ्वी, मटका, सरोवर, घर, पिता, माता, पशु, घोड़ा, गाय, बैल आदिको देवता समझकर पूजा करना देवमूढ़ता कहलाती है ।

धूरदोळ् कम्मरियोळ् मदोर्विरूहदोळ् सताचिदोळ् नीर्गळ्ळ्
भरदिं देहमनिक्कि युज्जुगदे मिथ्यातीर्थमं मिंदुमा- ।
दरदिं दुष्टर पेळकेयोळ् नेगळदु मत्यानंदर्दिदेरदुमें
सुरलोकं गळनेंब गाविलनवं तां लोकमूढं नृपा ॥२४१॥

अर्थ–पहाड़से कूदना, अग्निकी पूजा करना, भूमि पूजना, जलमें डूबकर मरना, जलकी पूजा करना, स्नान करना, तीर्थोंमें स्नान करनेसे पुण्य मानना, यह सब क्रियाएँ लोक मूढ़ता कहलाती हैं ॥२४१॥

(धर्मोपदेशमिल्लदे
कर्मनुपशमिप चरितमिल्लदे दुःख ।
धर्ममेनिसिर्द लौकिक
धर्मदोळसगुवने समयमूढं नृपती ॥२४२॥

अर्थ–हे राजन् ! जहाँ सच्चे धर्म का उपदेश नहीं है, कर्म का उपशम नहीं है, चारित्र नहीं है, उसे धर्म मानकर चलना धर्म-मूढ़ता है ॥२४२॥

वरमावुदेंदु दैवम
नेरेववनुं दैवमिगळीवुदु पुसिये ।
परमार्थमेंदु नंबुव
नरनुं भूपाल समय मूढनेनिक्कुं ॥२४३॥

अर्थ—स्नान करने से स्वर्ग मिलता है। अदेव में देवत्व मानना, जहां देवका नाम-निशान अथवा परम्परा भी नहीं हो, ऐसे सिन्दूर लगे हुए पत्थरों को भी परमार्थ के लिये, पूजना, सो समयमूढ़ता अर्थात् धर्म-मूढ़ता है ॥२४३॥

(जगदोळ् महेंद्रजाला
दिगळं तोर्पवरनिवरे देवर्दिंडर् ।
बगेवोडे केळन्नुते नं-
बुगयिदेरगुवने समयमूढं नृपती ॥२४४॥

अर्थ—हे राजन् ! इस जगत में इन्द्र-जाल के समान अनेकों देव हैं, जिनकी लोग मान्यता करते हैं, पूजते हैं और अन्तमें संसारमें भ्रमण करते हैं। यह सब समय-मूढ़ता है।

पुरुषनं वधुवागे तद्वधुवं मनोहरमप्पिनं
पुरुषनागे विनोददिं पगलं दिटक्किरुळागे ता ।
निरुळनुं पगलागे माडुव देवरुळ्ळूटे धारिणे-
श्वरन मुंगडे तोरलागदे÷ तोर्पेनेंबवनुर्वियोळ्× ॥२४५॥

अर्थ—इस जगतमें अनेक व्यक्ति स्त्री होकर पुरुषका रूप धारण करती हैं और कई पुरुष स्त्रीका रूप धारण करते हैं तथा देवता नाम रखकर परस्पर व्यभिचार करते हैं, देवताओंके नाम पर मायाचार करते हैं, कई अपनी विद्या के बल से अमावस्या को पूर्णिमा और रात को दिन बना देते हैं। इस प्रकार लोगों को ठगने वाले धर्म और देव का रूप धारण करते हैं, यह सब देवमूढ़ता है। न वे देव हैं, न उनके मानने में धर्म होता है ॥२४५॥

एंदु धर्मश्रवणं गेय्सुतिर्पिनमत्तल् कृतकजिनं रेवतिमहादेवियि वरवं काणदे तन्नो ळिंतेंदं ॥२४६॥

अर्थ—इस प्रकार अपने पति वरुण राजा को रेवती रानी ने मूढ़ता का लक्षण भली-भांति समझा दिया और कहा कि यह कृत्रिम जिन है, वास्तविक जिन नहीं है।

÷ श्वरनुतोरगे लागदे (ओ० क०)।

× पुरुषरनेय्द कामिनिय रागिसुकामिनियवर्कलं ॥ पुरु॰ रमालवोडं पगलर्नि निरुलमागिरे रात्रियं सवि। स्तरमुमागे मालपमर्दिदमाडिदर्रिगे पुण्यदि सिरिबरे पार्पदि बहतन बरे माडुवरार् धरित्रियोल्॥ इदनरिदु (ग)

उधर कृत्रिम जिनने देखा कि सभी लोग मेरे दर्शनोंको आगये किन्तु रेवती रानी अभी तक नहीं आई । तब उसने मन में विचार किया...॥२४६॥

स्थिरमप्पीगुणमासर
सिरुह्राक्षिय मेय्योळिन्नदिरे मुनिगुप्ते- ।
श्वररीपरकेयनें वि-
स्तरदिं पेळदट्टुवर्महोत्सवदिंदं ॥२४७॥

अर्थ—धन्य है इसके सम्यक्त्वको, इसके समान श्रद्धालु और कोई नहीं है । यदि इसमें विवेक और सम्यक्त्व न होता तो मेरे गुरु केवल इसको ही आशीर्वाद कैसे कहते । श्रावक तो यहां बहुत हैं । किन्तु मैंने अब प्रत्यक्ष देख लिया कि इसमें ही बहुत से गुण हैं ॥२४७॥

एंदु कृतकजिनरूपनुडुगिसि नेरेद नेरत्ति नोडेनोडे पूर्वस्वरूपमं कैकोंडु रेवति महादेवियल्लिगे वन्दुनिंदिदु पलतेरदिं पोगळदु पेरगाद संबंधमेल्लमं तिळियवेळदु मुनिगुप्तभट्टारकरपरकेयं पेळदु तत्पुरदोळाद जिनालयंगळं वंदिसि दक्षिणमधुरेगे ब्रह्मचारि]÷ पोदनित्तल् ॥२४८॥

अर्थ—इस प्रकार कृत्रिम जिनवेषी ब्रह्मचारी अपने कृत्रिम रूपको समेटकर क्षुल्लकका रूप धारण करता है और वह सीधा राजाके द्वार पर आता है । क्षुल्लक के आगमनका समाचार सुनते ही रेवती वहां आई । तब उसने अपने वास्तविक रूपको धारण कर रानीको सही समाचार बताया और मुनिगुप्त भट्टारकका आशीर्वाद कहा । फिर मथुरा में जितने जिन-मंदिर थे, उन सबका दर्शन किया और लौटकर दक्षिण मथुरा चला गया ॥२४८॥

श्रावकरेल्लरुमिर्द
तावरमुनि नोड कूर्तु परकेयनिंते ।
देविगे पेळदट्टिदनेन
लीवनितारत्नेयंतु नोंतवरोळरे ॥२४९॥

अर्थ—लोग यह आश्चर्य-जनक घटना देख करके कहने लगे कि यहां पर इतने श्रावक होते

÷ एंदु तत्वमं पेलुनिर्पन्नेगं कृतकजिन रेवतिमहादेवियल्लिगे नेरद नेरवि नोडे त्रिगुर्वणियवुडुगि मुन्निनरूपं कैकोंडु बंदु तत्प्रपंचमेल्लमं पेलदु नानाविधदिं पोगलदु मुनि गुप्त भट्टारक परकेय पेलदु (ग)।

हुए भी मुनिगुप्त भट्टारक ने केवल रेवती रानी को ही आशीर्वाद कहा, सबके लिए नहीं कहा। यह वनितारत्न सम्यक्त्व को भंडार है। जिनका अधिक परिचय हो जाता है, उन को तो आशीर्वाद कहा जाता है, किन्तु वह वास्तविक आशीर्वाद नहीं है। जिनके पच्चीस मल दोष रहित सम्यक्त्व होता है, उन्हें ही वास्तविक आशीर्वाद मिलता है। सम्यक्त्वकी कड़ी साधना का यह फल है। यह रेवती रानी धन्य है। सभी स्त्रियाँ ऐसी सम्यग्दृष्टि नहीं होतीं। इसकी स्त्री-पर्याय धन्य है ॥२४९॥

[परमगुणनिळये जिनमत
सरोजिनीराजहंसे शीलांबुधि स-
च्चरितविभूषणे भव्यो-
त्करपूजिते निष्कलंकनिर्मळ जगदोळ् ॥२५०॥

अर्थ—यह श्रेष्ठ गुणों की आगार है, जिनमत रूपी कमल वन में विहार करने वाली कमल-हंसिनी है, शील की समुद्र है, सच्चारित्र की भूषण है। अन्य लोगोंके द्वारा पूजनीय है। यह रेवती रानी जगत में निष्कलंक और निर्मल है ॥२५०॥

एंदु पुरजनमुं परिजनमुं जगज्जनमुं पोगळुत्तुं पोडेमडुत्तुमिरेवरुणमहाराजं सद्धर्ममं लेसागि नंबि मूढत्रयदिं पिंगि तन्न पिरिय मगनप्प शिवकीर्तिगे पट्टमं कट्टि राज्यमं कोट्टरिं जय भट्टारकर पादमूलदोळ् दीक्षेपं कैकोंडुं रेवतिमहादेवि दानपुजे शीलोपवासमेंबिवरोळर्ति तनगुंटप्पुरिं पलवुकालं ॥२५१॥

अर्थ—इस प्रकार पुरजन, परिजन, आदि जनता ने रेवती की प्रशंसा की। इस प्रभाव से वरुण राजा ने सच्चे हृदय से जिनमत को धारण किया, वह सच्चा सम्यग्दृष्टि बन गया और अन्त में सद्धर्मको अच्छी तरह समझ कर उसने तीनों मूढताओं का त्याग कर दिया। इस तरह वह संसार के सार और असार को समझकर, संसार शरीर और भोगों से विरक्त हुआ तथा अन्तमें उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र शिवकीर्तिका राज्याभिषेक किया] और स्वयं जय-भट्टारक नामक आचार्य के पास मुनि-दीक्षा ले ली। रेवती रानी दान-पूजा आदि से अनेक प्रकार की धर्म-प्रभावना करते हुए कुछ समय तक घर में रही ॥२५१॥

जिनपुजेगळं कण्तणि
क्लिनेगं मुनिगणदानमं मनमारल् ।

बनवास्ये मोडि धरेजी-
येने कडयोळतुरिदु सकलसाम्राज्यमुमं]+ ॥२५२॥

अर्थ—उसने अपने हाथसे खूब जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा की, सत्पात्रोंको खूब दान दिया। अपनी इच्छा के पूर्ण हो जाने पर उसने भी अपने सकल राज्यको त्याग दिया और संसार शरीर तथा भोगों से विरक्त हो गई ॥२५२॥

मुनिगुप्तभट्टारकरे गुल्गळोगसुव्रतगंतियरक्षिदीक्षेयं कैकोंडु एकादशांग-धारियागि पलवुं कालं तपदोळ् चरियिसि दक्षिणमधुरेय जिनभवनमेल्लमं वंदिसु वेनेंबर्तियिंदुत्तर मधुरेयिं पोरमट्टु अज्जिकासमुदायं बेरुसु वरुत्तुं करहाटनगरदोळ् ॥२५३॥

अर्थ—और मुनिगुप्त भट्टारकको शिष्या सुव्रता नामक आर्यिकाके पास ग्यारहवीं प्रतिमा लेकर तपश्चर्या करती हुई दक्षिण मथुरा के जिन मंदिरों के दर्शन करने की इच्छासे उत्तर मथुरासे आर्यिका-समुदाय के साथ चल पड़ी। विहार करते हुए वह करहाटक नगर में आई।

तोट्टने कोळलालस्यं
पुट्टि महारुचि शरीरवेदनेगिनिसं।
कट्टें पोगेल्लदे बा-
य्विट्टिरदे शरीरमोहमिल्लदे मनदोळ् ॥२५४॥

अर्थ—वहां उसने असंख्य रोगोंके घर रूप अपने शरीरका मोह छोड़ दिया। उसने यह विचार कर कि शरीर आत्माके लिए वेदना और संसारका कारण है, उससे रागभाव छोड़कर आत्म-साधना करनी चाहिये। यह विचार कर उसने चतुर्विध आहारका त्याग कर दिया।

[शुभभावनेवेरसु] संन्यसनं [गेय्दु समाधि] विधियिं मुडिसि पदिनारनेय [अच्युत] कल्पदोळ् इप्पत्तेरडु सागरोपमकाल [मायुष्य] कोडेयं महर्धिकदेव-नागिपुट्टिदळ् ॥२५५॥

+ एंदरसं पोगलदु ग्रदुवे निर्वेगमागि त्रिमूर्तवि पिंगि तन्न पिरिय मगनप्प शिवकीर्तिगे राज्यमं कोंट्टु अरिजय भट्टारकरल्लि सासिर्वर् मकुटबद्धर् वेरसु दीक्षेयं कैकोंडं रेवतिमहादेवियुं (ग) पलवुं कालं तपं गेय्दु दक्षिणमधुरेय चैत्यालयंगलं वंदिसि पोगुत्तं करहाटविषयदोल् (ग)।

अर्थ—विरक्त भावनासे संन्यास धारण करके रेवती ने शरीर-त्याग किया और मर कर वह अपने स्त्री लिंगको छेद करके सोलहवें स्वर्गके अच्युत कल्पमें २२ सागरकी आयु वाला महर्द्धिक देव हुई ।।२५५।।

रेवतिगंतिय रुत्तम
भवनेयिं मुडिपिडेदे महिवळयं स- ।
द्भावद् नेले सले वण्णिसे
रेवति सत्तीर्थमेंबुदादुदु पेसरिं ।।२५६।।

अर्थ—इस तरह चारित्रनिष्ठ रेवती (रानी) उत्तम भावों से अपने शरीर को त्याग कर जगत-मान्य हो गई । उसकी भावना की उत्कृष्टता का कौन वर्णन कर सकता है । उसके शरीर-त्याग का स्थान भी 'रेवती-तीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध हो गया ।।२५६।।

अदुकारणदिं सौख्या-
भ्युदयक्काटिसुवेनेंब मनुजं* मनदोळ् ।
बेदेबेदेबेयदे तां बिडु
वुदुदुष्कृतबंधमप्प÷मूढत्रयमं ।।२५७।।

अर्थ—इस कारण जिनको सम्पूर्ण सुख और अभ्युदय की इच्छा है, उन्हें किसी प्रकार की शंका और सांसारिक विषयोंकी इच्छा न करके तीन मूढ़ताओं का त्याग करना चाहिए तथा भगवान जिनेन्द्र-प्ररूपित मार्ग को ग्रहण करना चाहिए ।।२५७।।

एंदु [पेळवुदु रेवतिमहादेविय]+कथेयं लेसागि केळदु ।।२५८।।

अर्थ—इस प्रकार गौतम गणधरने राजा श्रेणिकको रेवती रानीका चरित्र कहा ।२५८।

नृपवन्द्यं वाग्वधूवल्लभनमळयशं निर्मळं किल्बिषैक
द्विपपंचास्यं मनोजोत्पलरविसुजनांभोधि शीतांशुवारा ।

---

* मुडिपीदोमहितलदोलु सद्भावदे सले निले बण्णिसि (ग) ।
÷ भाटिसुत्तु मिर्प भव्यर् (ग) । किरिबप्रबंधवेनिप (ग) । + अमूढदृष्टित्वद (ग) ।

शेपरीतख्यातनुच्यद्गुणनिधियोसेदंख्यातत्रैविद्य चक्रा-×
धिपपादांभोजभृङ्गं सुकविजनमनः-पद्मिनीराजहंसं ॥२५६॥

अर्थ—राजवन्द्य, वाग्वधू-वल्लभ, अमल यश धारक, पच्चीस दोष रहित, मर्त्योंके हृदय कमल को खिलाने वाले रवि, गुण-गण-निधि, त्रैविद्य चक्रेश्वर, सज्जन रूपी समुद्र के लिए चन्द्रमा के समान, भगवानके चरण कमलों में भौंरेके समान, सुकविजन-मनरूपी कमलिनी के राजहंस के समान नयसेन ने यह आश्वास निर्मित किया ॥२५९॥

इदु निखिल-दिविज-परिवृढ-मकुट-तटघटित-मणिगणविलुळित-किरण
चुंबनीय-परमजिन-चरणयुगळसरसिरुहमत्तमधु-
करनिरुपमसहजकविजनपयःपयोधिहिमकर-
नुतभावयुतदिगंबरदास नूत्न कविता-
विळास श्रीमन्नयसेनदेव विरचित
मप्प धर्मामृत तदोळ् दर्शन-
चतुर्थाङ्ग--व्यावर्णनं
पंचमाश्वासं

अर्थ—इह निखिल-दिविज-परिवृढ-मुकुट-तट-घटित-मणिगण-विलुलित किरणचुम्बनीय
परमजिन-चरण-युगल-सरसिरुह-मत्तमधुकर, निरुपम, सहज
कविजन पयः पयोधि-हिमकर, नुत भावयुत,
दिगम्बरदास नूतन कविता विलास युक्त
श्री नयसेन विरचित धर्मामृत में
सम्यग्दर्शन के चतुर्थ
अंग व्यावर्णन नाम
पंचम आश्वास
सम्पूर्ण हुआ ।

× गुणगणनिधित्रैविद्य (क० ब०) ।

छठा-आश्वास



श्रीवनितेगे निर्वाण-
श्रीवनितेगे तोडवमूडदृष्टित्वं स- ।
द्भावदोळं दधिकगुणं
भाविसिदं सुकविनिकरपिकमाकंदं ॥१॥

अर्थ–लक्ष्मी रूपी वनिता तथा निर्वाण रूपी वनिताकी प्राप्ति का कारणभूत, सद्भाव-युक्त होकर भावना किया हुआ अमूढदृष्टि अंग भव्य जन-समुदाय के हृदय को आनन्दित करने वाली कोयल के समान है ॥१॥

(अंतमूढदृष्टित्वदोळाद कथेयं तिळिदु मत्तं ॥२॥

अर्थ–अमूढदृष्टि अंग की कथा अच्छी रुचि से सुनकर राजा श्रेणिक के मन में आगे की कथा सुनने के लिये उत्कण्ठा हुई ॥२॥

भूविख्यातं गणधर
देवरपादद्वयक्के पोडेमट्टु वच- ।
श्रीवनितेगे निर्वाण-
श्रीवनितेगे तोडविदेनिसुवुपगूहनमं ॥३॥

अर्थ–विख्यात गणधरदेव श्री गौतमस्वामी को नमस्कार करके राजा श्रेणिक कहने लगा कि हे भगवन्! आप अब श्री वनिता को वरण करने वाले सम्यग्दर्शन के उपगूहन अंग का स्वरूप बतलाइये ॥३॥

(एनगरिवंतागे निम्मडि कारुण्यदिं बेससुवुदेंदुदु निर्वाण लक्ष्मियनोलिसुवुदक्किदु मोहनररमेनिसुवुगूहनद कथेयनिंतेंदु पेळदर् ॥४॥

अर्थ—मेरे हृदय में अच्छी तरह से समझ आ जाय, इस प्रकार उपगूहन अंग के विषय में भी कथा कहिये। श्रेणिककी इस प्रार्थनाको सुनकर गणधर देव निर्वाण-लक्ष्मीको प्राप्त कराने वाले और मोह-रूपी अन्धकारको नष्ट करने वाले उपगूहन अंगकी कथा कहने लगे।

चक्रवर्तियंते मधुवरंगळंते वश्यमंत्रदंते पर्याप्तिसमेतनन्ते ऋतुविनन्ते उत्सर्पियंते सिद्धांतदंते संज्ञेजीवदंते पोत्तगेयंते आवश्यकदंते दर्शनमुं निश्शं-केयुं निष्कांक्षेयुं निर्विचिकित्सेयुं अमूढदृष्टित्वमुं उपगूहनमुमेंबाररोळं संपूर्ण नागि शोभिसुवुदु ॥५॥

अर्थ—गौतम गणधर कहने लगे कि उपगूहन अंग की कथा चक्रवर्ती के समान है, मदोन्मत्त हाथी के समान है, वशीकरण मन्त्रके समान है, पूर्ण पर्याप्त के समान है। वसन्त ऋतु के समान है। उत्सर्पिणी काल के समान है। विज्ञान-कारक है। संज्ञी जीव के समान है, पापों का नाश करने वाली है। सम्यग्दर्शन, निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढदृष्टि और उपगूहन को जो मन लगाकर सुनता रहे, आचरण करता रहे उसके समान संसार में शोभायमान और कोई नहीं ॥५॥

पेरपेरवसदाळाप
क्केरगदे सम्यक्त्वमेंब खड्गक्किदु सं।
दोरेयेनिपुपगूहनदोळ्
मेरेवुदु सद्गुण मनरिविनोळ् नेरेद नरर् ॥६॥

अर्थ—जो महान अर्थात मूढताके अधीन न होकर, मूढ लोगोंके वार्तालापमें लक्ष्य न देकर, श्रद्धानके साथ अमूढता को हृदय में धारण करने वाले हैं, सम्यक्त्वरूपी शस्त्र के धारक हैं, तथा मिथ्यात्व का नाश करने वाले, उपगूहन अंग को धारण करते हैं, वे सत्पुरुष होते हैं।

इन्नदर महिमास्पदमेंतप्पुदेंदोडे ॥७॥

अर्थ—अब उस महिमाशाली उपगूहन अंगके ख्याति-प्राप्त महापुरुषकी कथा प्रारम्भ करते हैं।

(करमोप्प वुदतिशयदिं
धरत्रियोळ् गोल्लविषयमेंबुदु विषयं।

करमोप्पुवुदा विषयदो
ळुरुमुदर्दि कामलिप्तियेंबुदु नगरं ।।८।।

अर्थ–इस जम्बू द्वीप में एक अतिशय सुशोभित ग्वाल देश है। उसमें एक बहुत सुन्दर, जगतमें विख्यात, अनेक सज्जनों और शीलवती स्त्रियोंसे परिपूर्ण कामलिप्त नामका नगर है।

अदनाळवं मनोहरनेंबरसनातनराजश्रेष्ठि ।।९।।

अर्थ–उस नगरमें मनोहर शरीर वाला एक जिनेन्द्रभक्त नामक राज्य श्रेष्ठी (राज-सेठ) था।

आवुरदोळगखिलगुणग-
णोपेतं वैश्यवंशगगनार्क भू- ।
व्यापितयशं मनोहर
रूपं जिनभक्तिनेंबननुपमनिर्प ।।१०।।

अर्थ–वह राज्यश्रेष्ठी समस्त गुणोंसे विभूषित, वैश्य जाति में सूर्यके समान था। जगतमें उसकी कीर्ति फैली हुई थी, उसका रूप बहुत भारी आकर्षक–मनोहर था, भगवानकी भक्ति में अग्रेसर था, भगवत्-भक्ति में उसके समान और कोई नहीं था ।।१०।।

आतन सिरियं पेळवोडे
भूतळदोळ् रूढिवेत्त धमदंगं पे- ।
र्मातिन देवेंद्रंगं
मार्ते बगेवन्दु नाल्वेरल् तां पिरियं ।।११।।

अर्थ–वह ऐश्वर्यमें कुबेर और इन्द्रका भी तिरस्कार करने वाला था। गुण, धर्म, नीति और सम्पत्ति में सर्वश्रेष्ठ था ।।११।।

सुरराजने दोरे भोग-
क्कोरेयल्लं जैनभक्तियोळ् श्रेयांसं ।
दोरे जगदोळ् पेररारुं
दोरेयल्लर्दान देडेगे वैश्योत्तमनोळ् ।।१२।।

अर्थ–भोग उपभोग की दृष्टि से वह सुरेन्द्र के समान था। जिनेन्द्र भगवान की भक्ति करने में तथा दान करने में राजा श्रेयांस के समान था। वैश्यों में वह उत्तम था ।।१२।।

एनिसि नेगळतेवेत्त जिनेंद्रभक्तसेट्टि सुखसंकथाविनोददिंदिर्पुदु रत्त मगधविषयद पाटलिपुत्रमेंबपोळल नाल्वं वीरध्वजनेंबरसनातनरसि सुसीमे-यॆंबळायिर्वर्गं प्रियनन्दनं वीरकुमारनेंबनातं दुर्जनप्रियनुं विटजनानन्दनुं तस्कर-विनोदनुं दुष्टप्रसंगनुमागि पलवुदिवसं समस्तदुराचारजनपरिवृतनागि पोर-वोळलोळ् कुळ्ळिदु कळविनोळाद मातुगळं नुडियिसि केळुत्तुमिर्पुदु अल्लि चोरप्रधाननेंब नोर्वनिंतेंदं) ॥१३॥

अर्थ—इस प्रकार वह जिनेन्द्र भक्त सेठ धर्मकी उन्नति करता हुआ विनोद में भी धर्म-कथा कहते हुए सुख-शान्ति से काल-यापन करता था।

उधर मगध देशके पाटलिपुत्र नगरमें वीर-ध्वज नामका एक राजा था। उसकी रानी का नाम सुसीमा था। उन दोनोंके वीरकुमार नाम का एक प्रियपुत्र था। वह राजकुमार कुसंग में पड़ कर दुर्जनों से प्रेम करता था। वह धूर्तों के साथ रहता था। वह सदा एकांत में दुष्टों के मुख से चोरी, डकैती की बातें रुचि से सुनता था। उस समुदाय में एक चोर प्रधान था। वह कहने लगा कि...॥१३॥

चपळनिवं कडुगळपं
विपरितमनेन्न मुंदे नुडिदपनेंदु- ।
र्विप मुनियवेड केळव
श्रपमं नीनोंदे चित्तदिंद नृपती ॥१४॥

अर्थ—तुम लोग अपनी वीरता की प्रशंसा मेरे सामने व्यर्थ मत किया करो। तुममें जो निपुण और धीर चोर हो वह एक मेरी बात सुने ॥१४॥

एंदु वीरकुमारं गभिमुखनागि निंदु देवा नांपुगद देशमुं कळद वस्तु-गळुमिल्ल; गोल्ल विषयदोळ् कामलिसि येंब पुरदोळूर्व जिनेंद्रभक्तनेंब परदन देहारद देवर मुक्कुडे योळ्दु वैडूर्यमाणिकं कीलिसिदुदारत्नमुमनर्घ्यरत्नमे-निप्पुददक्के मूरुलोकं बेलेयल्ली लोकदोळपूर्वमं कंडेनेंबुदु (वीरकुमारनातन मातिंगे विस्मयबट्टु तनगारत्नदमेले चित्तवागे चोरप्रधानंगिंतेंदं ॥१५॥

अर्थ—संसार में ऐसा कोई देश नहीं, जो मैंने न देखा हो और ऐसा कोई नगर नहीं, जहां मैंने चोरी न की हो। परन्तु ग्वाल देश के काम-लिप्त नगरमें एक जिनेन्द्र-भक्त नाम का सेठ रहता है। उसके घर में एक चैत्यालय है। उसमें भगवान के शिर पर तीन छत्र लगे हैं। उनमें एक वैडूर्य मणि लगी हुई है। वह मणि बहुमूल्य है। उसके मूल्यके बराबर तीन लोक की भी सम्पत्ति नहीं हो सकती। उस वैडूर्य मणि को मैंने देखा है। यह बात सुनकर वीरकुमार को बड़ा आश्चर्य हुआ। तब वह उस चोर प्रधान से कहने लगा ॥१५॥

संद कळ्ळरोळल्ल नीने महाविवेकिये लोकदोळ्
कुंददुर्वरेयेल्लमं कडुधूर्तरं कवर्वंददिं।
संद वस्तुगळल्लमं नेरे नीने साधिसि कोंडेयि-
न्नें दोडावररत्नमें गड साधिसत्करिदादुदे ॥१६॥

अर्थ—संसार में जितने चोर हैं, उनमें तुम प्रधान हो, इस लोक में जितनी भी वस्तु हैं, उन्हें लाने की सामर्थ्य केवल तुम में है। तुम्हारे सिवाय जितने चोर हैं, वे सब लम्पट धूर्त हैं। तुम चौर-विद्या में पारंगत हो। अतः तुम ही उस मणि को ला सकते हो, उसे अन्य और कोई नहीं ला सकता ॥१६॥

एंबुदुं चोरप्रधाननिंतेंदं ॥१७॥

अर्थ—इसके उत्तर में चोर-प्रधान कहने लगा कि...॥१७॥

कन्नवनिक्कु वोडवनी
शोन्नत नेलगट्टु वज्रमयमेरलवरार्।
तन्नणिमदं पुगुवोडे
पनेरडेडे कापु पुगुववंगेंटे देंये ॥१८॥

अर्थ—चोरी करना साधारण बात नहीं है। क्योंकि चोर को कितना परिश्रम करना पड़ता है, कितनी मार खानी पड़ती है, कोई इसका अनुमान नहीं लगा सकता। चोरी करते हुए कभी मृत्यु भी हो जाती है। वह वैडूर्य मणि वज्र-कोट के भीतर रक्खी है। उसके बारह दरवाजे हैं। प्रत्येक दरवाजे पर पहरेदार हैं। अतः वहां प्रवेश करना बड़ा कठिन है।

मत्तमापुर दोळगे केलवुदिवसमिदुं कापिनवरं वंचिसि पुगुवेनेंबोडमण-

मुमारदु; जिनेंद्रदत्तसेट्टि जिनार्चन विनोददोळं जिनसमयमहोत्सवदोळं जिनकथाळापदोळं नेर्सपट्टि नेसमूंडुविनमल्लिये नेलसिर्पनेने वीरकुमारं बेरगागि सूजेय पिन्नेयोळं मणिय द्वारदोळं नुसुळदुर्वरिदेंडेयोळूर्वनं कळवंतप्प कळ्ळर कळ्ळनिवं मोदलागे पुगलरिदेंदुपनिन्ना महारत्नमं कळवं तप्प गंडरारेंदु चिंतिसि नेरेदिर्द कळ्ळरुमं नोडि कुमार निंतेंदं ॥१९॥

अर्थ—उस नगर में कई दिन रहकर उन पहरेवारों को अपने वश में करना पड़ेगा। किन्तु यह काम भी बहुत कठिन है क्योंकि जिनेन्द्रदत्त सेठ उसी मंदिर में पूजा अर्चा करता है और अपना समय भी अधिकतर वहीं व्यतीत करता है। फिर समय-समय पर वहां उत्सव आदि होते रहते हैं। और सदा पहरेदार वहां खड़े रहते हैं। साधारण चोर के वश की बात नहीं है कि उस मणि को ला सके। छोटी सुई में मोटा धागा जैसे प्रवेश नहीं कर सकता, उसी प्रकार उन दरवाजों को पार करना बड़ा कठिन है।

चोर की बात सुनकर वीरकुमार कहने लगा...॥१९॥

आवावुपायदिंदेन
गावस्तुवनदटनागि पोगुत्तुं तं।
दीवत्तनुळ्ळोडे कुडुवें
भाविसदेन्नर्धराज्यमं निश्चयदिं ॥२०॥

अर्थ—जो भी उपाय तुमसे हो सके, वह करो और उस मणिको तुम लाकर मुझे दो। अगर तुम उसे ला सके, तो मैं तुम्हें अपना आधा राज्य दे दूंगा ॥२०॥

एंबुदुमा मातिंगे सूर्यनेंब कळ्ळनेदु कुमारंगभिमुखनागि देव नानावस्तुवं तंदपेनें वुदु कुमारं पेर्चि करमोळ्ळिनेंदु कर्पूर वीळयमं कुडुवुदु पिरिदु पूरदु वीरकुमारनं बीळकूंडु तन्न मनेगे बंदु रत्नमं कळव उपायमं तन्न मनदोळगे भाविसु नोडि ॥२१॥

अर्थ—यह बात सुनकर सूर्य नामक चोर खड़े होकर कहने लगा—देखो जैसे भी होगा, मैं उस मणि को लाकर आपको दूंगा। यह कहकर उसने बीड़ा उठा लिया। वीर कुमारने बड़े आदर के साथ उसे विदा किया। तब चोर घर में आकर उपाय सोचने लगा ॥२१॥

आदोरेय महाकलियुं
भेदिसलणमारनेंदोडा रत्नमनार् ।
भेदिसुवरेंदु तस्कर
रादिय कळ्ळंगे चिंति पुट्टिटदु दागळ् ॥२२॥

अर्थ–यदि मैं किसी प्रकार रत्न को लाकर न दूं, तो यह राजा मुझे नहीं छोड़ेगा। उधर उस रत्न को लाने में अनेक बाधायें आवेंगी। और मेरे सिवाय दूसरा कोई चोर उस रत्नको ला भी नहीं सकता। इस प्रकार चोर भारी चिन्ता में पड़ गया ॥२२॥

परियाळतनदळिगंडिं
दरियदे मेय्वेर्चि पोगि परदन मनेयं ।
तरवलितनदिं पोक्कोडे
कुरि सावन्तल्लि सावु निश्चयमक्कुं ॥२३॥

अर्थ–अहंकार-वश साहस करके उस बज्रकोट भवनमें घुस जाना सरल काम नहीं है। अतः सेठके घरसे वह रत्न लाना बड़ा कठिन काम है। बज्रकोट में घुसते हुए यदि पकड़ा गया तो मेरा मरण निश्चित है ॥२३॥

भावकनिधि जिनभक्तं
श्रावकनरिवन्दु कोळवनल्लं पेररि- ।
न्ना विभुवनरियलारदे
तावदयं कोळवरल्लि संदेयमुंटे ॥२४॥

अर्थ–जिनदत्त श्रेष्ठी मेरे पकड़े जाने पर भी मेरे प्राण लेने की इच्छा कदाचित न भी करे, किन्तु यदि द्वारपालों के हाथ पड़ गया तो वे मेरी जान लिये विना न छोड़ेंगे ॥२४॥

तां कन्नमिक्कि धनमं
भ्रांतिदं कळ्ळनेंबनुं कळ्ळने केळ् ।
एंतु नोवुं सावुं
चिंतियु मणमागदंतु कळवने कळ्ळं ॥२५॥

अर्थ–चोरी करने की कला निपुण चोर ही जानता है ॥२५॥

अदुकारणदिंदळिचर्ट्टि तले बुगुंदुबोदुर्दें नाळनुडियंतरिबर्ट्टि पोगिपोक्के- नपोडे कापिनवर कय्य सावु निश्चयं समनिसुगुमुत्सुक तनदिं मूर्खनागि पुगुवुदु बुद्धियंल्लदु, केलवु वरूपं तडेदोडं कडेगल्लि गुपायमं लेसागि बल्लेनात- नेरडिल्लद् श्रावकं जिनधर्मदोळ् स्थिरचित्तं ऋषियर मेले महाप्रीतनदरिंदे मायाऋषियरूपं कैक्कोंडग्रोग्रतपदोळन्नं लोकदोळ् प्रसिद्धनं माडिकोंडु काम- लिसनगरमनेय्दि जिनेन्द्रभक्तसेट्टिय मनेयं पोक्कु मेल्लने मेत्पडिसि रत्नमनेन्न कय्गे माडुवेनेंब कज्जमनेत्ति कोंडु तन्न पेंडिरुमं पुत्ररुमं बंधुगळमं करेर्दितेंदं ॥

अर्थ—यदि अहंकार करके मैं उसके घर में घुसनेका दुःसाहस करूं तो प्राण गये विना न रहेंगे, अतः मूर्खताका काम करना ठीक नहीं है। इसके लिये कोई उपाय सोचना चाहिए। इत्यादिक मन में विचार करते-करते उसने यह उपाय सोचा कि पहले मुझे जैन श्रावक बन कर श्रावक के व्रत स्वीकार करने चाहिए और जैनधर्म में स्थिर चित्त होना चाहिए। सेठ को विश्वास में लाने का यही एक उपाय है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

पिरिदप्प बेसननेनगि
दरसं कडुगूर्मेवेत्तु बेससिद् नानुं ।
भरदिंद तावेसनं
करमल्लदे पुण्दु वीरदिं कैकोंडें ॥२७॥

अर्थ—इसलिये मुझे एक दिगम्बर मुनि के पास जाकर कपटी श्रावक बनना चाहिए और मुनिके पास कुछ दिन रहकर जैनधर्म का भली भाँति अध्ययन करना चाहिए। उनकी सेवा में दत्त चित्त-होकर ब्रह्मचारी बनना चाहिये। मायामयी ब्रह्मचारी बनकर उग्र तप करना चाहिये; जिससे मुझे शीघ्र ख्याति मिल सके। यदि मैं साधुके रूप में लोक में प्रसिद्ध हो जाऊं तो वह जिनेन्द्रभक्त मुझे स्वयं आकर ले जायगा और तब मैं उस अनर्घ्य (अमूल्य) रत्न को ला सकता हूं। इस प्रकार मन में विचार करके उसने स्त्री-पुत्र-बन्धु वर्ग को बुला कर कहने लगा ॥२७॥

अदुवं सामान्यद् बेसनल्लदाबेसनेन्न पुण्योदयदिं दोरकोंडुदक्कु मप्पाडे वीरकुमारनर्धराज्यमं मत्ते निसदे कैसार्गुमदुकारणदिं उपायदोळमावेसनं साधि-

सिकोंडल्लदे बारेनेन्न देसगंजनेड; नीवेल्लरेन्न बर्पिनेगं बुद्धिवन्तरागिर्पुदेंद-प्पैसि तत्पुरदिं पोरमट्टु पूर्वदेशमं पोक्कोंदुरोळ् बंदु वसदियं सादु ऋषियर-मार्गमं कलियलेंदु कृतवैराग्यदिं संसाररक्के पेसु वरंतेल्ला ऋषियर्गे चाटुका-रक विनयदिं पोडेमडुवुदु मुनिवरर् रितेंदर् ॥२८॥

एल्लिंदं बंदिर्य
न्नेल्लिर्पिर्निम्म देशमावुदु नीमि ।
न्नेल्लिगे पोदपिरेने तळु
विल्लदे मुनिसंकुलक्के तस्करनेंदं ॥२९॥

अर्थ—मैंने आज तक अनेक प्रकार की चोरियां की हैं, किन्तु मुझे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ । आज मुझे वीरकुमार राजकुमार ने एक मणि लाने के लिए कहा है और उसके पुरस्कार में आधा राज्य देने का वचन दिया है । इसलिये अब मैं छह मास के लिए जा रहा हूं । यदि मणि मिल सकी तो मुझे पारितोषक में आधा राज्य मिल जायगा । मैं यहां काम होने पर ही आऊंगा । आप लोग किसी प्रकार की चिन्ता न करना और अपना काम करते रहना । इस प्रकार कह कर वह पूर्व दिशा की ओर एक नगरमें आया । वहां एक मंदिरमें साधु विराजमान थे । उनके पास आकर कृत्रिम (बनावटी) वैराग्य की भावना प्रगट करके मुनिके चरणों में उसने सिर झुकाया और कहा कि—भगवन् ! मैंने जैन-कुल में जन्म लेकर उसे व्यर्थ ही खोया । अब तक मैंने कोई व्रत नहीं लिया । अतः आप मुझे कृपा करके व्रत दे दीजिये । तब मुनिराज ने उसकी प्रार्थना सुनकर पूछा—तुम कौन हो, कहां से आये हो, कहां जाओगे ? तुम्हारा देश कौन-सा है और यहां आनेका कारण क्या है ? ॥२८-२९॥

परदेसिये नम्मवरे
ल्लरुमं मनमारे तोरेदु तपमं कैकों- ।
डरवरिसदे नेगळदयमं
हरियिपेनेंवर्तियिंदमिल्लिगे वन्दें ॥३०॥

अर्थ—वह बोला—भगवन् ! मैं परदेशी हूं । मेरा कोई नगर नहीं है । अनादि काल से मैं भटक रहा हूं । मैं आप को अपना कौन-सा देश बताऊं । मैं सब को त्याग कर आत्म-कल्याण करने की भावना से आप के पास आया हूं ॥३०॥

ओडमेय नंटर मक्कळ
कडुगूर्पंगनेय ताय तंदेय कूर्तां ।
नडपिर्द बंटनेंदो
गडिसदे मोहाग्निर्यिंद मळिवुदु जीवं ॥३१॥

अर्थ–हे गुरुदेव ! अनादि काल से यह जीव इस शरीर, स्त्री, भाई, पुत्र, बन्धुजन, माता-पिता आदिको मोहाग्निसे दुःख पा रहा है । ये लोग जीवके कोई सम्बन्धी नहीं लगते। जैसे घुना हुआ पेड़ अन्तमें टूट कर गिर पड़ता है, उस पर रहने वाले पक्षी उसका साथ नहीं देते, ऐसे ही ये लोग भी अन्त में कोई साथ नहीं देते । यह सब मोह-जाल है ॥३१॥

संसारं शाश्वतम-
ल्लं नेडेयदे तपदोळाद कडुचेल्विदं ।
तां संदयमं हरिसि दि-
टं सुरगति वडेदु भोगिपुदु तत्फलमं ॥३२॥

अर्थ–यह संसार अनित्य अस्थिर है । इसलिये जन्म मरण रूप संसारका नाश करनेके लिये कुछ प्रयत्न करना चाहिए । अतः सुख प्राप्त करनेको मैं आपके चरणोंमें आया हूं ।३२।

एंदु मेल्पडे नुडिदु केलवुदिवसमल्लिदु नडेवनुडिवउरव बंदिसुव पट्टिर्प कुळ्ळिर्प निंदिर्प क्रियेगळं माळप भंगिगळल्लमं लेसागि अभ्यासमाडि लोचिं-गारदे तपमं कोळलंजि मेल्लनल्लि जगुळदुपोगि तलेयं वोळिसिकोंडु ब्रह्म-चारिवेषमं कैकोंडु ॥३३॥

अर्थ–ऐसे चोरने जो बातें कीं वे सब मायाचारकी थीं । उनके पास रह कर वह देखता रहा कि ये कैसे आहार ग्रहण करते हैं, कैसे बात करते हैं, कैसे उठते बैठते हैं । इन सब बातों को सीखता हुआ वह वहां रहने लगा । कुछ दिन पीछे उसका विचार मुनि-व्रत लेने का हुआ । किन्तु केशलुंचन से उसे भय लगा । अतः सिर मुंडाकर वह ब्रह्मचारी बन गया।

वीरध्वजारमचातन
धारिणियरे सार्गुमेंब कडुमोहदिना ।

वीरभटं मैसुखमं
पारदे ताळ्दिर्दनधिक मेनिसुत्र मलमं ॥३४॥

अर्थ–वह मनमें विचार करता है कि राजा वीरध्वजके राजकुमारका आधा राज्य मुझे लेना है, इसलिये मैंने ब्रह्मचारी का रूप धारण किया है। जैसे वीर कुमार आनन्द-पूर्वक इन्द्रिय-विषयोंका सुख भोग करता है। उसी प्रकार मैं भी एकदिन राज्यका आनंद भोगूंगा।

आररत्नं दिनवनीश
श्रीरमे कैसागुमेंदु ताळदद नागळ्।
चोरं माहातपमं
धारिणियोळ मोहमुळ्ळरेनं माडर् ॥३५॥

अर्थ–जब तक जनता पर मेरा प्रभाव न पड़े, तब तक रत्न मेरे हाथ नहीं पड़ सकता। मेरी तपश्चर्या देखकर जनता को मोह और आश्चर्य होना चाहिए ॥३५॥

(धरे बेरगागिरे पलरुं
करमुगिये जडगें चोद्यमप्पंतिरे नि-।
ष्ठुरमप्प बाह्यतपमं
धरियिसिदं सूर्पनंदु मायातपमं ॥३६॥

अर्थ–मेरी तपश्चर्या सुनकर जनता परोक्ष में भी मेरे प्रति हाथ जोड़े, मुझे ऐसी कठोर तपश्चर्या करनी चाहिये। मुझे ऐसा बाह्य तप करना चाहिए कि लोगों पर उसका अच्छा प्रभाव पड़े ॥३६॥

ओडलेल्लं बडतनदिं
गड गिडिगिडि जंत्रमागे कणगेल्लं त-।
म्मेडे गाणबारदे निसिरे
कडुगलि नित्योपवासदोळनरे नेगळदं ॥३७॥

अर्थ–ऐसा निश्चय करके उसने घोर तप किया जिससे उसका शरीर क्षीण हो गया। जब हवा चलती तो ऐसा प्रतीत होता कि कहीं वह गिर न पड़े। उसकी आंखें भीतर धंस गईं। वह उपवास पर उपवास करने लगा ॥३७॥

भत्त मेकरात्र त्रिरात्र महारात्राष्टोपवासमासोपवासंगळिं कर्बुनमं तिंद्‌रंते तनु कुंदलुं, ओंद गुळूळमाडिदं तोडलसिदागलुं, बेताळन वसिरिंते बसिरि बेन्नं पत्तलुं, पळवाविय नीरंते कण्णोळगडं गलुं, पाळमनेय गळुनिनन्ते बरिय एलुवुगळ्‌ पोरमडलुं, (अल्प श्रेवन्तनन्ते नडे तडवागलुं] कागेदोंडे हण्णिनन्तोळग शुभमं पोरगे रमणोयमुमप्पंतु नेगळदु ॥३८॥

अर्थ–एक रात्र, त्रिरात्र, महारात्र, अष्टोपवास, मासोपवास से वह अपने शरीर को कृश करने लगा। उसका शरीर काला पड़ गया और बहुत क्षीण हो गया। उसके गाल बैठ गए। ऐसा लगने लगा मानो श्मशान से कोई बेताल उठ आया हो। लोगों को वह भूत-जैसा दिखाई पड़ता था। जैसे गहरे कुएका पानी छोटो-सी बिन्दुरूप में दिखाई पड़ता है, इसी प्रकार उसको आंखें दिखाई पड़ती थीं। छोटी पूंजी वाले व्यापारीकी तरह उसे सदा चिन्ता लगी रहती थी। किंपाक फलकी तरह वह ऊपरसे अच्छा तपस्वी दीखता था, किन्तु उसके मनमें रत्न चुरानेकी अशुद्ध भावनाका विष भरा हुआ था। इस तरह वह मायामयी तप कर रहा था ॥३८॥

(ओंदेडे मन्नणे पिरिदु
टेंदिर्दोडे कीर्ति परियलरियदु नयमा ।
दंदल्लदे पुगवारदु
संदोप्पुव कामलिप्तिपुरमं बेगं ॥३९॥

अर्थ–वह मन में विचार करता है कि एक स्थान पर बैठे रहने से मेरी कीर्ति नहीं फैलेगी। कामलिप्त नगरमें भी मुझे जल्दी नहीं आना चाहिए। पहले कामलिप्तके निकटवर्ती गांवोंमें अपनी प्रसिद्धि फैलानी चाहिये और वहांके निवासियोंको प्रभावित करना चाहिए।३९।

उपवासक्कलसिकरं
तपमं विसुडल्के बारदवनीतळदोळ्‌ ।
विपरीतमागे पेरगण
तपदिंदल्लदे पोगळत यागदु बेगं ॥४०॥

अर्थ–इस अभिप्राय से वह और अधिक उपवास करने लगा, अपनी तपस्या से लोगों को प्रभावित करने लगा। उसका तप अद्भुत था। "अन्तरंग तप की अपेक्षा बाह्य तपका

लोगों पर जल्दी प्रभाव पड़ता है, अतः बाह्य तप ही करना चाहिये," इस प्रकार उसने मन में विचार किया ॥४०॥

आडंबरदिंदल्लदे
नाडवरळकर्तु पुजिसल्नेरे कैकों- ।
डाडरदरिंद मिळयोळ्
माडुवेनुग्रोग्रमायातपमं ॥४१॥

अर्थ—बाह्याडम्बर के विना न तो लोगों पर प्रभाव पड़ता है और न ख्याति-पूजा ही प्राप्त होती है । बाह्य तपसे ही लोगों पर प्रभाव पड़ता है । अतः वह अनेक प्रकारके उग्र-उग्र माया तप करने लगा ॥४१॥

एंदों देडेयोळ्निल्लदे ग्रामनगरखेडखर्वटमडंब पट्टणद्रोणा मुखंगळं बत्ररोळल्लं विहारि सुत्तुं केलवानुं दिवसं पोर्दि बळुक्के गोल्लविषत्रमं पोक्कु कामलिप्तियं पुगदे तत्पुरक्के रडुमूरु गावुददं तरदोळिदु सुत्तण ग्रामंगळोळ् तन्नं प्रसिद्धिगे पलल्वेडि चरियिसुत्तुमिदु केलवानुंदिवसं पोर्दिबळुक्के) ॥४२॥

अर्थ—इस प्रकार निश्चय करके वह एक स्थानमें ही न रह कर ग्राम, नगर, खेड़, कर्वट, मटम्ब, पट्टन, द्रोणमुख आदि सब तरह के स्थानों में विहार करने लगा । विहार करते हुए कुछ दिनों बाद वह ग्वाल देशमें आया । जहां वह कामलिप्त नगर था । वह तत्काल कामलिप्त नगरमें नहीं गया । "पहले निकटवर्ती ग्रामोंमें प्रसिद्धि बढ़ानी चाहिये ।" यह सोच कर वह उपवास बढ़ाते हुए आस-पास विहार करने लगा ॥४२॥

करमुग्रमप्प तपदोळ्
चरियिसुववरारिळाग्रदोळ्तनुवं नि- ।
ष्ठुरमप्पुपवासंगळि
निरदिंतोवोवो तविसुवुन्नतनावं ॥४३॥

अर्थ—उसने उग्र तपश्चर्या करते हुए शरीर को और भी क्षीण कर दिया । वह दिनों दिन शरीर को कृश करता आ रहा था ॥४३॥

[एन्नोड लल्लदिर्देववो
लन्नम नेरे तोरेदु तन्न सुखदिं बिट्टि ।
पंन्नपेंररारीगुळे
यन्नर्धारिणेयोळरिदु भाविसु नोडल् ॥४४॥

अर्थ—उसे देखकर जनता में चर्चा होने लगी कि जिन्होंने इन्द्रिय-भोगों को छोड़ कर शरीर सुख का त्याग कर दिया है, ऐसे लोग संसार में धन्य हैं ॥४४॥

एंदु नाडेल्लमोंदे कोरलोळ् पोगळे (रूडियागि कामलिप्ति नगरमं पुगु-वुदं जिनेंद्रभक्तसेट्टि मोदलागे तत्पुर श्रावकरेल्लं केळदु महासंतोषदिं दूरदोळ् केळवमहापुरुषरं कण्णारे काणल्पडेदेविन्नेम्मं बिट्टु कृतार्थरारेंदु बंदु पोडेमट्टु पूजिसे) जिनेंद्रभक्तसेट्टि बेगमाब्रह्मचारिय तारिदोडलुमं ओळगडंगिद कणुमं मायासंयममुमं मनदोळ् मेच्चि ॥४५॥

अर्थ—इस प्रकार कामलिप्त नगर में भी उसकी कीर्ति फैलने लगी । वहां के श्रावकोंने उसकी कीर्ति सुनी । जिनेन्द्रदत्त श्रेष्ठी ने भी उसकी प्रशंसा सुनी । सब लोग विचार करने लगे कि ऐसे तपस्वी के दर्शन करके अपने जन्म को धन्य बनाना चाहिये । ऐसा सोच कर नगरके लोग वहां पहुंचे और उन्होंने उसका दर्शन-पूजन करके अपने आपको कृतार्थ माना । जिनेन्द्रदत्त श्रेष्ठी भी उसके मन की कुटिलता न समझ कर बड़ा प्रभावित हुआ ॥४५॥

पिरिदुं वैराग्यं तन
गुरुमुदर्दिदुं टदल्लदंदी तपमं ।
धरियिसि तनुवं तपदिं
करगिसु वीनिस्पृहत्वमं ताळदु वने ॥४६॥

अर्थ—जिनदत्त श्रेष्ठी कहने लगा—परम्पराके अनुसार इन्होंने दुर्द्धर तपस्या की है ।उत्तरोत्तर शरीरको कृश करनेवाला और आत्मोन्मुख रहनेवाला ऐसा तपस्वी कहां मिल सकता है ?

एंदातनोळाद मायावेष मनरियदे निश्चय वैराग्यमुळ्ळिनेंदु नंबि भक्ति-भरतेयिं दोड गोंडु बंदु तन्न [देहारमं पुगिसुवुदुं मायावि जिनेंद्रभक्त नोळाद भक्तियुमं पिरिदप्पादरमुमं कंडु तन्न नयके तीदुदेंदु पेर्चि गुडिगट्टियलगि

नद्‌टंते वैश्योत्तमन भक्तियं स्थिरंमाळपेनेंब बगेयिं दिंतेंदं ॥४७॥

अर्थ—उसकी दुर्भावना को न जानकर, "यह वास्तविक तपस्वी है" ऐसा समझ कर भक्ति से प्रार्थना करके वह उसे कामलिप्त नगर में ले आया और अपने मंदिर में लाकर ठहरा दिया। उस मायावी ब्रह्मचारीका अभिप्राय न समझ कर सेठको उस पर बड़ी भक्ति हो गई। ब्रह्मचारी सोचने लगा कि जिनदत्त श्रेष्ठीकी मेरे प्रति और अधिक भक्ति हो, ऐसा कार्य करना चाहिये, जिससे मेरा कार्य सुगमता से हो सके ॥४७॥

पोन्न तोरणदिं दुकूलद सूसकंगळिनोपु वे-
त्तुन्न तध्वजदोळियिं विडुमुत्तिनिं कडुशोभेवे।
त्तुन्न यंबडेदिर्द चेल्वन रंगवल्लिय वेल्लियुं-
रन्नदिं पिरिदुन्न तिक्के यिनिदु दी जिनमन्दिरं ॥४८॥

अर्थ—सोने के तोरण से, रेशमी वस्त्रों से और अनेक प्रकार के मोतियों से युक्त और सुन्दर ध्वजाओं से वह मंदिर सुशोभित था। उस मंदिर के सामने मोतियोंके चूर्ण से सुन्दर चौक पूरा हुआ था ॥४८॥

मनमोल्द् परत्रेयमे
लनवरतं मोहमुळ्ळवं गीमत्रदोळ्।
कर्नासिनोळं पोन् तां ने-
ट्टने कंडोडदक्केबेंचि नडुगल्वेळकुं ॥४९॥

अर्थ—वह कहने लगा कि सांसारिक वैभव का मोह इस लोक परलोक को नष्ट करने वाला है, अतः वह सब मैंने त्याग दिया। यदि मैं स्वप्नमें भी धन देख लूं, तो दो उपवास करता हूं और स्वर्ण देख लूं तो एक उपवास करता हूं। वह मंदिरको शोभा देखकर कांपता है, कि कहीं इससे मेरी रागपरिणति जाग्रत न हो जावे ॥४९॥

निन्न देहारमप्पोडे रत्नमयमदरोळ् मणिपुंदुचितमल्लदु नीनेम्म निरिसु-वेनेंबेयप्पोडे बेरोंदु शून्यालयदोळि रिसुवुदेंबुदु जिनेंद्रभक्तमेट्टि पिरिदु प्रार्थि-सिपोडे मट्टोडं बडि सिदोल्लिदु ॥५०॥

अर्थ—तब जिनदत्त सेठ पूछने लगा—महाराज! आप इस तरह क्यों घबरा रहे हैं?

ब्रह्मचारी कहने लगा—तुमने अपने महल में जो हीरे मोती लगा रक्खे हैं, उन्हें देखकर मुझे भय लगता है। तुम मुझे कहीं शून्यागार में या मठमें रक्खो। तब जिनेन्द्रदत्त सेठने उन्हें समझा कर मंदिर में ठहरने की प्रार्थना की। महाराज ! आपके लिए तो महल, मसान, कंचन-कांच सब समान हैं। आपको इनसे क्या लेना देना ? इस प्रकार प्रार्थना करके मंदिर में ही उसको ठहरा दिया ॥५०॥

गर्विल तनदिं पोक्कोडे
सावप्पुदु पुसिये बदु किर्दें पुण्यदिनिं।
ती विभुविन मनेयं पुग-
लावमररुमाररेंदोडुळिदवरळवे ॥५१॥

अर्थ—तब ब्रह्मचारी मनमें विचार करने लगा—अगर मैं अविवेक-पूर्वक यहां घुस जाता तो निश्चित रूप से मेरी मृत्यु हो जाती। किन्तु मैंने ऐसी बुद्धिमानी से काम किया कि जिनदत्त श्रेष्ठी ने स्वयं आग्रह-पूर्वक मुझे मंदिर में ठहराया है। मैं जो चाहता था वह वस्तु मुझे मिल गई ॥५१॥

एंदु जिनेंद्रभक्तसेट्टिय मनेय बागिल कापंकंडु बेर्चि बेगडुगोंडु ॥५२॥

अर्थ—वह जिनेन्द्रदत्त श्रेष्ठी के द्वार, किवाड़, दीवारों को देखने लगा—क्या यह विभूति साधारण पुण्यवानों को मिल सकती है। कितना सुन्दर महल है, क्या आलीशान चैत्यालय है, कितने पहरेदार हैं ॥५२॥

एळिसि पुगबारदु वे-
श्यालयमं कृतकदिंदे मायायपमं।
मेळिसि पोक्कें मिक्किं
ताळापंगेय्दु पुगुव गंडरुमोहरे ॥५३॥

अर्थ—उसमें एक चिड़िया तक नहीं घुस सकती। इस श्रेष्ठीके महलको कोई नहीं देख सकता। मैं श्रेष्ठी की कृपा से यहां आ गया हूं, अन्यथा किसी का साहस नहीं हो सकता ॥५३॥

इंतप्प बल्गा पुंटप्पु दरिंदं तप्प कळ्ळरकळ्ळं मोद लागे पुगळमणि-
दनिल्ल, बुद्धिबलदि भोंकने नंटर मनेयं पुगुवंतु पोक्केनोन्नन्तु संद कळ्ळ-

रिल्लेंदु नोडि मत्तं तन्नोळिंतेदाळ्द चिसिदनुत्सुकतनदिं पेट्टुवेर्चि कडुवेसनं माळप सोसेमावनमंडेयं बोळिसिदनं बंते रागदिंद मारतनमनीगळ् नेगपिदे-नपोडे पेगल्बारदु उपवासेगळिंदेल्लरुमं नंबिसि तपदोळ् लिलदनेनिसि मेच्चने निंदु कार्यमं नेगळवनन्नोगं] ॥५४॥

अर्थ—जहाँ-जहाँ पहरेदार थे, वहाँ वज्रमयी किवाड़ थे। ताले और अर्गलायें वज्रमयी थीं। उन्हें देखकर सोचने लगा—क्या इसमें कोई चोर घुस सकता है? बड़े बुद्धि बल का काम है। साधारण चोर इसमें प्रवेश नहीं कर सकता। सेठ किसी सम्बन्धी को भी इसमें अकेले नहीं छोड़ सकता। मेरी तपस्या का ही यह प्रभाव है कि मैं यहाँ आ गया हूँ। वह वार-वार किवाड़ों आदि को तथा वहाँ कौनसे पहरेदार हैं, कहाँ चाबी रहती है। द्वार कैसे बन्द होता है, आदि को देखने लगा।

जैसे दामाद अपने सास-ससुरका मुण्डन करता है, (यानी-उनकी सम्पत्ति लेता है) इसी प्रकार वह ब्रह्मचारी वेष धारण कर जिनदत्त श्रेष्ठीका माल हड़पने की युक्ति सोचने लगा। वहाँ भी अपने ऊपर भक्ति उत्पन्न करने के लिये उसने दो चार उपवास किये। वह सेठ की भक्ति अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करते हुए तपस्या करता रहा ॥५४॥

संद महानिःस्पृहनिव
नेंदेन्नं कापिनाळगळुं श्रावकरुं ।
वुंददे वैश्यान्वय विक
चेंदीवरशशि जिनेन्द्रभक्तनुमादं ॥५५॥

अर्थ—जिनदत्त श्रेष्ठी के मन में उसके लिये ऐसी उत्कट भक्ति पैदा हुई कि जिनदत्त ने सोचा कि ऐसा निःस्पृह त्यागी मैंने अपने जीवन में कोई नहीं देखा। उधर वह ब्रह्मचारी इसलिये निःस्पृहता दिखा रहा था, जिससे जिनदत्त सेठ और वहां के श्रावकों का विश्वास उस पर और अधिक जम जावे ॥५५॥

एन्न देसेगे भतस्थरागदंतु मेल्पडिसुवेनेंब बगेयिंदुपवासदमेलुपवासमुमन लाभदमेललाभमुमं माडुत्तुं तानागमदूरनप्पुदरिंदेन्नरूढगारानुमरिवर्मंदु एनानुमं बेसगोंडोंडा पेळदिर्दोडे महाकष्टमक्कुं सेट्टिय भक्तियुं किडुगुमेंब नेवदिं मोनियागि ॥५६॥

अर्थ—मेरे ऊपर किसी को अविश्वास न हो, भय न हो। ऐसा विचार करके वह उपवास पर उपवास करता जा रहा था। जनता उसे आहार करने की प्रार्थना करती थी, किन्तु वह उत्तर देता था, कि मेरा लाभ इसी में है। वह उनकी ओर और सेठके वैभव की ओर देखता भी न था। नीचा मुख किये मौन बैठा रहता। जब बोलता तब धर्म की ही बात करता। उसका ख्याल था कि अधिक बोलनेसे सेठकी भक्ति में अन्तर पड़ जायगा।

तरुणियरोळ् माताडं
तरुणियरं कंडोडुण्णनिद्रोळ् निले पं- ।
केरुळाच्चियरं नोडिदो
डेरडिल्लदे तनगलाम मंदिन दिवसं ॥५७॥

अर्थ—कोई तरुण स्त्री सामने दीख जाती तो दोनों हाथों से आंखें बन्द कर लेता था। कोई स्त्री सामने आकर बैठ जाती तो उपवास करता था। वह कहता था कि अगर मैं स्त्री को देख लूं तो मेरी दिन भर की तपस्या भंग हो जाती है। आज बड़ा अनर्थ हो गया, मेरे सामने स्त्री आ गई ॥५७॥

अंतु मायाकृतकदिं दविमुक्त नागि ॥५८॥

अर्थ—इस प्रकार बगुले के समान उसका मायावी वेष था ॥५८॥

पोन्नेंदोडे किवियं म-
त्तेन्नदे मायावि मुच्चिकोळवं तन्नं ।
पोन्नभरणं तोट्टव-
रिन्न रियदे मुट्टे बेगमोंदुपवासं ॥५९॥

अर्थ—यदि कोई स्वर्ण का नाम लेता तो दोनों कान बन्द कर लेता था। यदि कोई मनुष्य सोने या रत्न का जेवर पहन कर आ जाता तो दोनों आंखें बन्द कर लेता। यदि कोई आभूषण पहने छू लेता तो वह एक उपवास करता ॥५९॥

इंतु बकवेसितनदिं मायानिःस्पृहनागि ॥६०॥

अर्थ—इस प्रकार वह ब्रह्मचारी बगुले समान मायावी निःस्पृही होकर वहां बैठा ॥६०॥

भोगमनोल्लु नोडनुणिसेंदोडे बेर्चुतुमिर्पनारोळं
शगिसि मातनाड नेरेयं पेरतं पेररेन नेंदोडं ।
बेगमदक्के कोपिसनणं पेररीवोडमोल्वनल्लमिं
तागळुमाखळं पेरर्गे नंबुगेयागिरे ठक्कवृत्तियिं ॥६१॥

अर्थ—यदि कोई व्यक्ति संसारी बातें उसके सामने करता तो वह उससे अप्रसन्न हो जाता और उसकी ओर न देखता, उसके सामने कोई लेन-देन या किसी व्यापार की बात करता तो वह रुष्ट हो जाता। अगर कोई पूछता कि महाराज ! क्या आपका विवाह हो गया है ? तो वह रुष्ट होकर उपवास कर लेता।

इस प्रकार उसने अपनी ठग-विद्या से जिनदत्त सेठ तथा अन्य श्रावकों और द्वारपालों को प्रभावित कर लिया ॥६१॥

अंते कुरियंत कत्तिदतलेयुं बेक्किनंत दुष्टबुद्धियुं बेळ्ळक्कियंते मायामार्गनुं पुलियं तोजायिलनुं अत्तियगळं तोळगशुद्धनुं वटफलदंते पोरगे सेव्यनुं बंदतोरेयंते कद्डिद चित्तनुं मयूख व्याघ्रनंते पोरगे शांतनुमोहगे क्रूरननुमागि केलवु दिवसमिर्पुदुं ॥६२॥

अर्थ—वह नीचा मुख किये बकरी की तरह चलता था। बिल्ली की तरह उसकी दृष्टि चंचल थी। बगुले के समान वह मायाचारी था। शेर के समान क्रोधी था। गूलर के फल की तरह उसके भीतर गन्दगी थी, बड़के फल के समान ऊपरसे देखनेमें सुन्दर तथा भीतर से असेव्य था। बरसात के पानी के समान उसमें मैल भरा हुआ था। मोर और व्याघ्र के समान देखनेमें शान्त और भीतर क्रूर परिणामी था। इस प्रकार मायामयी तपसे वह मंदिर में रहकर अपना समय व्यतीत कर रहा था। इस प्रकार वहां पर रहते कई दिन हो गए।

जिनपादांबुज-मधुपं
जिनसमयसमुद्र चंद्रननुपमगुणो स- ।
ज्जनवंद्यं विनयद कणि
जिनतत्वांबुरुहपंडरंजितहंसं ॥६३॥

अर्थ—उधर जिनदत्त सेठ जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलों में भौंरे के समान, जिनागम

रूपी समुद्र को बढ़ाने के लिए चन्द्रमा के समान, अनुपम गुणी, सज्जनों के द्वारा वन्दनीय, विनय की खान, जैन तत्त्वरूपी कमल के लिये हंस के समान था ॥६३॥

अंतप्प जिनेन्द्रभक्तसेट्टियोंदु दिवसं परवुवोपेर्नेव बुद्धिपुट्टि तडेगदल्लिगे तक्कबंडमं कोंडु तन्ननाश्रयिसि बर्प रेल्लरुमं कूडिकोंडु शुभदिवसमुहूर्तदोळ् जिनेन्द्राभिषेकमुमं जिनमहापुजेगळुमं माडिसि पोरबीडं बिट्टु तन्न देहार-दोळिर्द ब्रह्मचारिगेवंदु तानवर्गतिभक्तनप्पुदरिंदवनोळाद मायामार्गमनरियदे जिनमार्गदोळ् दृढनेंदु कय्यं मुगिदितेंदं ॥६४॥

अर्थ—जिनेन्द्रदत्त सेठ अपने धर्म-ध्यान में अपना समय व्यतीत करता था। एक दिन उसको व्यापारके लिये घरसे बाहर जाने का विचार हुआ। उसके लिये उसने तैयारी की। अपने आश्रित व्यापारियोंको तैयार किया और जानेका शुभ मुहूर्त निकाला। प्रस्थान करने से पहले पूजा महोत्सव किया। जाते समय उस ब्रह्मचारी के पास आया। उसके हृदय में ब्रह्मचारी की बड़ी भक्ति थी। ब्रह्मचारी के मायारूपको न जानते हुए उसने विनयके साथ हाथ जोड़कर ब्रह्मचारी से कहा—॥६४॥

एल्लियुमोरं तोंदेडे
निल्लदे तोळलुत्तुमिपुदेन्नयपुण्यं।
भल्लित्तु पलवुदिवसं
पल्लटिसदे निंदिरल्वेगं मद्गृहदोळ् ॥६५॥

अर्थ—हे महाराज! आप इस जगह को छोड़ कर इधर-उधर जाने का विचार मत कीजिये। आप के कारण मेरा घर और मंदिर पवित्र हो गया है। बड़े भाग्य से आप मुझे मिले हैं। आप इस स्थान को छोड़कर कहीं मत जाइये, क्योंकि आप मेरे धर्म-बन्धु हैं। आपके समान और कोई सज्जन मिलना कठिन है। आपके कारण मेरा सारा परिवार सुधर जायगा। मेरा बड़ा पुण्य-उदय है। जहाँ पुण्य है, वहां अपने आप सब मिल जाता है। पुण्य के बिना कुछ नहीं मिलता। आपके समान जगत में धन्य और मान्य अन्य कोई नहीं है। अतः मेरे वापिस आने तक आप यहीं रहिये। इस प्रकार सेठ ने उससे रहने के लिये प्रार्थना की। तब मायाचारी ब्रह्मचारी अपने मन में इस प्रकार विचार करने लगा ॥६५॥

निम्मन्न रिन्ने वरेगं
पेर्मेयिनोसिदिर्दरेंदोडेन्नं बिट्टा ।
रिम्मिक्कर्मोविसुवोडे
निम्मडि पुण्यक्के ताने नोंतें जगदोळ् ॥६६॥

अदुकारणदिंदेन्नं तु धन्यरुं मान्यरुमिन्न स्थळ यात्रेगे पोगि बर्पन्नेवरं नीवेन्नं परसुत्तु मिर्पुदेंदु (बेडिकोळवुदुं मायावि तन्न बगेगूडिदुदक्के पेट्टुवेर्चि तन्नोळिं तेंदं:—॥६७॥

बन्नाळत नर्दिदेळेदुकोळवंगे कडंगोट्टरेंबंते प्राणमनिक्किथुं सेरगुमं बगे- यदे सद्रत्नमं कोळवनेंदिर्दनगे सेट्टिय योगिनोळिंबादुदेंदु तन्न पुण्यके ताने नादवरियंते पोंगि पालुं कूर्मेयुं मरुगिदोडल्लदे लेसागवेंदु तन्नं प्रियं माडल्वेडि जिनेन्द्रभक्तं गिंतेंदं ॥६८॥

वनितेयुमं नंटरुमं
जनकनुमं पेत्त तायुमं वृत्तियुमं ।
मनमुरिदु तोरेदु तपकं
तनुवं तंदोड्डि सेट्टि मत्तं पदपिं ॥६९॥

अर्थ—मेरा पुण्य साधारण नहीं है। मुझे जो चाहिए, वह पुण्य कर्म के उदय से अनायास मिल जाता है। अब वैडूर्य-रत्न मुझे सरलता से मिल जायगा। मेरा यहाँ आना, मेरे प्रति सेठ की भक्ति होना तथा अन्य लोगों की मेरे लिये भक्ति का होना, सेठ का व्यापारके लिये घर से बाहर जाना और मन्दिर में मुझे छोड़ना, यह सब मेरा पुण्य कर्मका फल है। अब सेठ के यहाँसे जानेकी देर है। मैं आज ही इस रत्नका अपहरण करूंगा। मेरी तपस्या का फल मुझे आज मिलेगा। तब अपने ऊपर और अधिक विश्वास जमाने के लिए वह जिनेन्द्रदत्त श्रेष्ठी से कहने लगा—हे श्रेष्ठी! मैंने स्त्री छोड़ी, परिवार छोड़ा, सम्बन्धी छोड़े, माता-पिता छोड़े। सबको छोड़कर मैंने शरीर को तपस्या में लगाया है। आत्म-कल्याण के लिये सब को छोड़ा है॥६६-६९॥

ओंदेडे योळमूहोदय
दिंदं पत्तिर्पेनेंब नुं सुखमं पों ।
देंदु पाटिसुतिर्पनु
मेंदुं सुरलोकमेय्दलारननोघं ॥७०॥

अर्थ—यदि मैं आपके चैत्यालयमें ही यानी एक ही स्थान पर ठहरूंगा तो मुझे इस स्थान से मोह हो जायगा। इसलिये मैं एक स्थान में रहना उचित नहीं समझता ॥७०॥

अदरिंदेम्मं तप्प निःस्पृहर्गे कूळंगाटिसि मैसुखमं पाटिसि मन्नणेगासेगेय्दें देडेयोळ् पत्ति कोंडिरलागदु; कडुमोहर्दिंदिर्देनप्पोडे मेले गतिवेडवुदरिदु; नीवे नगे भक्तरप्पुदरिं पुण्यवृद्धियं माडलेंदिन्ने वरेगं परसुतुमिर्देवदं पुसियेंबिरप्पोडे नम्म मुन्निन नडेवळियुमं नीवेबल्लरेलगिर्पुदिष्टमिल्ल; देशदेशदोळं विहारिसि कालमं कळेपि तपोवृद्धियं माडुवुदे मनदोळतियेने वैश्यप्रधाननिंतेंदं ।

अर्थ—मेरे समान निःस्पृह लोग अन्न की आशा से शारीरिक सुख के लिये प्रवृत्ति करें तो परलोकमें सुख प्राप्त नहीं हो सकता। त्यागी पुरुष की गति मोह से नष्ट हो जाती है। मैं तो यहांसे जल्दी जाने वाला था। किन्तु मेरे ऊपर आपकी भक्ति है तथा आपके घर में धर्म-प्रेम को देखकर मैं ठहर गया। किन्तु ऐसे पुण्य-वृद्धि होगी, धर्म-प्रभावना होगी, इससे तो संसार की ही वृद्धि होगी। अतः हमारे समान निःस्पृह लोगों को एक स्थान में ठहरना उचित नहीं है ॥७१॥

मोलेगळमेलिदुर्पे-
र्मलेगळ मेलिर्दरधिकगुणगणयुक्तर् ।
मलेगळ मेलिदुर्पे-
मोलेगळ मेलिर्दरधिकदुश्चरित्रर् ॥७२॥

अर्थ—श्रेष्ठी कहने लगा—संसार में ज्ञानी लोगों की दृष्टि यदि अकस्मात् स्त्रियोंके स्तनों पर पड़ जावे तो भी वह वहां पर न रह कर पर्वतकी चोटी पर रहती है और व्यभिचारी लोगों की दृष्टि पर्वत की चोटी पर रहते हुए भी स्त्रियों के कुचों पर रहती है। अतः आप तो ज्ञानी पुरुष हैं। आपको मोह, भय ! अतः आपके लिये इधर उधर फिरना उचित नहीं है।

जलदोळगिदुं तावरे
जलमं पोदुंवुदे चारुचारित्रयुतर् ।
मलरहितनिर्मळरु-
ज्ज्वलरेनिसुवरेत्त पोक्कोडं केट्टपरे ॥७३॥

अर्थ–ज्ञानी पुरुष जल में कमल की तरह रहते हैं, वे संसार में रहते हुए भी संसार से विरक्त रहते हैं। जिसका चित्त निर्मल है, वह मन्दिरमें या घरमें रह कर भी बिगड़ने नहीं पाता, न उसको कोई कलंक लगता है ॥७३॥

नीवोळिळ्ळदरेंबुदनव
नीवळयदोळुत्तरोत्तरं नेगळवेनि ।
म्मावरकायक्लेशमे
भाविसि नोळयंतु ताने पेळदे नयमं ॥७४॥

अर्थ–आप निर्मल चित्त वाले हैं। आपको सब पदार्थ एक समान हैं, आप तपस्वी हैं। आपको क्या कर्मबन्ध हो सकता है? आप के समान कठोर तपस्वी दूसरा कोई नहीं है। अतः आप यहीं रह कर तपस्या करिये ॥७४॥

अदरिं निम्मंतप्प महापुरुषरेल्लिर्दप्पोडें पुण्योपार्जकरल्लदे पापार्जकर नेगळते यिल्लवु; नीवेवगे कारुण्यंगेय्दु रप्पोडन्न मातंसलिसिमेंदु पलवुसुळ्मोडे-मद्दु व्रतविशेषदिं प्रार्थिसुवुदुमोडं बट्टल्लि सुखदिं संतोषदिं मनेगे पोगि मरुदिवसं परिग्रहसंबंधिगळगं पेडर्गधर्मकार्यमुमं दानमुमं प्रयत्नदिं माळपुदेंद-पेसि बिट्टवीडिंगे पोगिर्पुदुमित्तल् माया ब्रह्मचारितन्नोळिंतेंदं) ॥७५॥

अर्थ–आपके समान महापुरुष के यहाँ रहने से पुण्य-संचय होगा। आप के कारण अनेक स्त्री पुरुष सुधर जावेंगे, धर्म की प्रवृत्ति होगी। आपके मार्गका वे अनुसरण करेंगे। आपके उपदेश से कई लोग व्रती बन जावेंगे। अतः मेरी प्रार्थना स्वीकार करके आप यहीं पर रहिये। व्रत-नियम का उपदेश करते रहिये। इस प्रकार सेठ ने ब्रह्मचारी से वहीं रहने का आग्रह किया। और उन्हें सन्तुष्ट करके, बाद में स्त्री-पुत्रों को बुलाकर कहा–देखो, हमारे पुण्योदयसे ये ब्रह्मचारी महाराज यहाँ पधारे हुए हैं। तुम लोग धर्म-ध्यान, दान-पुण्य और

इनकी सेवा-वैयावृत्य करते रहना। इस प्रकार कुटुम्बी जनों को समझा कर जिनदत्त सेठ नगर के बाहर अपने पड़ाव पर चला गया। वह पड़ाव प्रस्थान के लिये नगर के कुछ दूर लगाया था ॥७५॥

पिरिदप्प दुःखमेंदो
सरिसदे सेडेदिरदे बिट्टु मेसुखमं मा।
सुरमप्प रत्न कालेयि
नरिदेनिसुव तपदोळिन्ने वरेगं नवेदें ॥७६॥

अर्थ—सेठ के जाते ही ब्रह्मचारीने मन में विचार किया कि आज तक मैंने इतना कष्ट उठाया। एक दिन भी सुख नहीं भोगा। मैंने श्रेष्ठ रत्न पाने के लिये न करने योग्य कठोर तप किये हैं। अब मैं खूब शारीरिक सुखों का भोग करूंगा ॥७६॥

इन्निरलागदव्वे वेळपु दवरेय पिट्टेंबंतेन्न बगेगोडं बट्टन्ते पुण्यदिं जिनेन्द्रभक्तसेट्टियुं (पोदनोळ्ळितवसरमाय्तेंदु नडुविरुळप्पागळ् कापिन कडितकारर् मरेदु निद्रेगेय्दु दनरिदु मेल्लनेळदु गर्भगृहमं पोक्कु मुक्कोडे योळिर्द वैडूर्यमाणिकमं नोडि) ॥७७॥

अर्थ—अब मुझे यहां एक पल भी नहीं रहना चाहिए। पुण्योदय से सेठ भी चला गया है और सब साधन मेरे अनुकूल हैं। अतः इस अवसर का लाभ उठाकर अपना मनोरथ सिद्ध कर लेना चाहिए। यह सोचकर वह किवाड़ खोल कर गर्भ गृह के भीतर घुस गया। वहाँ पर पहरेदार सोये पड़े थे। गर्भगृह में जाकर तीन छत्रों के बीच में जो वैडूर्य मणि लगी हुई थी, उसे देखकर मन में विचार करने लगा ॥७७॥

निन्नकतर्दिंदे नमेदें
निन्नं नडेनोडि सुखमनरिदें मत्तं।
निन्निंदं पिरिदप्प म-
ह्योन्नतियं पडेवेनेंदु दुःखंबट्टें ॥७८॥

अर्थ—हे रत्न! तेरे लिये मैंने यह शरीर सुखा दिया, तेरे लिये ही मैंने आहार भक्षो

त्याग किया। अब मैं तुझे प्राप्त करके शारीरिक भोगूंगा। अब तू मेरे हाथमें आ जा। अब मेरी उन्नति होगी और यथेच्छ इन्द्रिय-सुख भोगूंगा ॥७८॥

कडुतपदिंदं देहं
बडवादुदु निन्नदूसरिं धरेयरेयं।
पडेवें राज्यश्रीयोळ्
तडेयदे कूडिर्पेनेंब परमोत्सवदिं ॥७९॥

अर्थ–हे रत्न! तेरे लिये मेरा शरीर क्षीण होगया। तेरे लिये मैं देश विदेश घूमा, इतने लोगों को मैंने प्रभावित किया। तेरे हाथ में आते ही मुझे आधा राज्य मिल जायगा, और मैं स्त्री-बच्चों के साथ राज्य-सुख भोगूंगा। तू मेरे हाथ में आ गया है, मानो मुझे आज राज्य ही मिल गया है ॥७९॥

एंदु [त्साहदिं] मेय्यरियदे रत्न दोडने नुडिदु पेर्गेळदंताटिसि कीलं कळदु नेलक्के बीळलीयदे पिडिदु कोंडु तळदोळिक्कि कोंडु नोडि ॥८०॥

अर्थ—इस प्रकार रत्नसे अपने आप बोलता है। वह रत्न जिस कीलमें बंधा था, उसे खींच कर रत्नको हाथमें ले लिया। हथेलीमें रखकर वह उसे बार-बार देखने लगा ॥८०॥

उरदोळमर्चिकोंडु तलेयोळिपडिदारयने पात्तुकोंडु मा-
णिदरदतिमोहदिं नोसलमेले महोत्सवदिंद मिट्टुकों- ।
डिरददनळकरिंदरे भाविसि भाविसि नोडि नोडि चे-
च्चरमवनीतळं तनगे सार्दपोलोमोदलुगिम पोणिमदं ॥८१॥

अर्थ–उसे वह कभी प्रेम से छाती से लगाता, कभी मुखसे और गालसे लगाता। बार-बार उसकी प्रशंसा करता, बार-बार उसे देखता। मानो उसे स्वर्ण की राशि या रत्नों की खान मिल गई हो। वह बार-बार उसकी प्रशंसा करता ॥८१॥

अंतु रागरसदिं पोगि तडेदु तिळिनीरनुंडुदेंब नाळ्नुडियंते तन्न केकोंडु नमेद कडुदुःखं सफल मार्येंदु तन्नोळ् नुडिदु ॥८२॥

अर्थ–जैसे किसीको जोर की प्यास लगने पर निर्मल जल पी लेनेके पश्चात् मन संतुष्ट हो जाता है, उसी प्रकार वह प्रसन्न होता है और बार-बार उसे हृदय से लगा लेता है। वह मानता है कि मेरा जन्म सफल हो गया ॥८२॥

सुरराजंगं भेदिस
लरिदेनिसुव दिव्यरत्नमेनगवयवदिं ।
दोरेकोंडुदु नीरमही
श्वरनल्लिगे पोगि पडेनेनुर्वरे यरेयं ॥८३॥

अर्थ—इन्द्र को भी ऐसा रत्न मिलना दुर्लभ है। अब मैं इस रत्न को लेकर शीघ्र वीर-कुमार को दे दूंगा और आधा राज्य प्राप्त करूंगा ॥८३॥

स्फुरियिप सद्रत्न मनिद
नरसं केळकाणलोडने तां तन्नाळवु ।
वेरे यरेयनीवनित्तोडे
धरेयरेयं सुखदे लीलेयिं भोगिसुवें ॥८४॥

अर्थ—अत्यन्त स्फुरायमान, चमकने वाले रत्न को देखकर राजकुमार अत्यन्त आश्चर्य-चकित हो जायगा, वह अपने राज्यको भी भूल जायगा। तब राज्यको लेकर मैं दीर्घ-काल तक उस सुखके साथ उपभोग करता रहूंगा ॥८४॥

मनकेवंद हयंगळं मदसिंधुरंगळनेरुवें
मनकेवंद नवांबरंगळनर्तियिंदुडुवेंकरं ।
मनकेवंद सुगंध वस्तु वनळकरिंदमे पुसुवें
मनकेवंदोळु वेंडिरोळ्नरेवें मनंविडे निश्चलुं ॥८५॥

अर्थ—सुन्दर घोड़ों और हाथियों पर बैठकर अपनी इच्छानुसार भ्रमण करूंगा। मन के अनुसार वस्त्र पहनूंगा, खूब मौज करूंगा। सुगन्धित तेल आदि लगाऊंगा। सुन्दर स्त्रियोंके साथ आनन्द करूंगा, इस प्रकार अपने जीवन को आनन्द में बिताऊंगा ॥८५॥

एंदु तोरेगाणदे केर्पुगळदु नगिसुवेग्गनंते मुंदण तनगप्प राज्यविभूतिय-नाळ्चिसि सोडरं कळदु पोरमट्टु पोपुदु कर्मवशदिं खलविलत्रसंयोगदंते पोळ लोळगे तोळल्व रसन तळाररोडुव मायाविय कैयोळबालार्कनंते प्रज्व-लिसुव रत्नद बेळगं कंडु कळ कळखमं माडुवुदु ॥८६॥

अर्थ—ऐसा विचार करके राज्य-वैभव की आशा से उसने वहाँ जितने दीपक थे, सबको

बुझा दिया और रत्न को कपड़े से लपेट करके वह महल से बाहर भागा। किन्तु धोती में दबाने पर भी रत्न का प्रकाश चारों ओर फैल रहा था। उसे देखकर कोटपाल (कोतवाल) ने सोचा कि यह बाहर चलता फिरता दीपक कैसे जल रहा है। वह धूर्त रत्न लेकर भागा जा रहा था। इससे राज-कर्मचारियों ने कोलाहल (शोर) मचाया ॥८६॥

ओळगिर्द बंटराकळ
कळक्के भयदिंदमेर्दिदेनेंदागळ् ।
नोळपुवु मोळगु-
ज्ज्वळिसुव सोडरिल्लदेय्दे नंदिरे मनदोळ् ॥८७॥

अर्थ—इस शोरगुलको सुनकर सेठ जिनदत्त के मंदिरके पहरेदार भी जाग गए। उन्होंने मंदिर में जाकर देखा, वहां के सब दीपक बुझे पड़े हैं; छत्र में वैडूर्य मणि भी नहीं है। तब वे बड़े चिन्तित हुए और इधर-उधर भाग दौड़ करने लगे। उन्होंने भीतर जाकर जहाँ ब्रह्मचारी रहता था, वहाँ देखा ॥८७॥

नोंदु देहारद मनेयं पोक्कु तडवरिसि नोडि मायाव्रतियं पडुवेडेयोळ्काणदे ठक्कनेंदरिदु रत्नद देसेगे भयस्थरागि सोडरं तरिसि नोडि देवर मुक्कोडेयोळिर्द वैडूर्यमाणिक्यमं काणदे पोरमट्टु तामुंतरपुरद तळारुमं सुत्ति मुत्तियिन्नेत्त पोदयेंदु बेनट्टि तगुळिद डुवुदुं ग्वळिल् ग्वळिल् तोय्पु तोय्पु छळिल् छळिलेंदु कोळव बडिगं चळितु ॥८८॥

अर्थ—वहाँ ब्रह्मचारी भी नहीं था। उन्होंने सोचा कि वही धूर्त मणि को ले गया है। तब वे डंडे लेकर उस रत्नके प्रकाश के पीछे-पीछे दौड़ने लगे। कोई चिल्ला रहा था—पकड़ो, मारो, पत्थर मारो। इस प्रकार वह उसके पीछे-पीछे भाग रहे थे ॥८८॥

ओट्टैसि पोगलरिदोणदोण
बट्टेय किरुगल्ल बडिय काळिदं काल् ।
केट्टुवु जवजवनादुवु
नेट्टने मैसत्तनेंदु कडुभयदिंदं ॥८९॥

अर्थ—वह ब्रह्मचारी जिस मार्ग से दौड़ रहा था, उसे छोड़कर वह जंगल के मार्ग से

लगाने लगा। वह अशक्त भी था। अतः अधिक तेज दौड़ भी नहीं पा रहा था। वह सोचने लगा—अब ये लोग मेरी जान लिये बिना नहीं छोड़ेंगे ॥८६॥

अत्तलुमित्तलु नोवो
येत्तलु मातंगे कूपं तेरदंता ।
य्तोत्तुते मोत्तु व तेरदिं
दत्तित्तलू मिडुकभारदवगुद्धतेयिं ॥६०॥

अर्थ—वह देखता है कि चारों ओरसे लोग उसके पीछे दौड़े आ रहे हैं। उधर कुत्ते भी भौंक रहे हैं। इस तरह उसके लिये उस समय इधर कुआ था और उधर-खाई। वह समझ गया कि मैं कहीं अब बच कर नहीं जा सकता ॥९०॥

तडेदिल्लि निंदेनप्पोडे
मडिवादपुदुळिवेनप्पोडे ल्लेडे ुंदों ।
दडियुं तेरपणमिल्ली
येडेगावुदुपायमेंदु मायापुंजं ॥६१॥

चिंताकांतनागि महाप्रळयं कविदंते दुःखवद्दु पलवु नाळूगळ नडुवपा-
पुल्ले यंते नडुनडुगि ॥६२॥

अर्थ—उसे कहीं इधर-उधर निकल आने का अवसर नहीं मिल रहा था। कहाँ जाऊँ, किधर जाऊँ, ऐसे सोच विचार में उसे कोई उपाय नहीं सूझ रहा था। इनके हाथ से मैं कैसे बचूं। इस तरह बचने का उपाय सोचते हुए वह खड़ा हो गया। अत्यन्त चिन्ताकुल होकर वह कांप रहा था। जैसे शिकारी कुत्तों के बीच में हिरण कांपता है ॥९१-६२॥

जडिदु बैदु मोहदि
नोडगोंडुगवरेलेसु दिटमेंबी ना ।
ळनुडियंती प्राणिगळं
मडिपदु पासकरे लेसु वगेवोडे जगदोळ् ॥६३॥

अर्थ—जगतमें भद्र श्रावकोंको सताकर, दुर्वचन कहकर, लूटकर कुछ लोग मायावेषी साधु बन जाते हैं, खानेके लिये वेष धारण करते हैं। माया (बनावटी) तपसे लोगोंको अपनी ओर

आकर्षित कर लेते हैं और लोग अन्धविश्वाससे उन्हें साधु मान लेते हैं। उनकी असह्य बातें भी सहन करते हैं। ऐसे धूर्त साधु स्वयं भी संसार-कूपमें पड़ते हैं और अन्य लोगोंको भी पाप-कूपमें डालते हैं। ऐसा साधु-वेष उचित नहीं है। संसारमें साधु तो कहीं-कहीं मिलते हैं।

अदरिं सम्यक्त्वचूडामणियप्प जिनभक्तसेट्टियप्पोडे परम श्रावक नोंदिरु‌ं-पेय प्राणक्कं मोदलागे तप्पलरिय दातनेन्नं कंडोडेगेय्दें कोल्वनल्लि निष्ठुर-नप्प तळारन कैयोळ् कडिगंडमागे जेरेळे पोयिसिकोंडु सायदे वात्सल्यरत्नाकरन मरेयं पुगुवेनेंदु पोरविडु बिट्टिर्दे जिनेन्द्रभक्तन बीडं नोडि पोक्कु जिनधर्म-निर्मळनमरेयं पुगुवुदु‌ं सेट्टि मायाविय मुन्निन तपदोळाद साधुत्व मुमं बळिक्क माददुर्जनत्वमुमं कंडु बेरगागि तन्नोळिंतेंदं ॥६४॥

नाडाडियनाडुवरोळ्
कूडुवोडदु दोषमल्लमदु कुक्कुटमं।
माडुवरोळ् नंबुगेयिं
कूडिदोडेनानुमोंदु दोषं सार्गु ॥६५॥

अर्थ—वह विचार करता है कि अब मेरे बचनेका कोई उपाय नहीं है फिर भी मेरे प्राणों की रक्षा केवल जिनदत्त सेठ के द्वारा ही हो सकती है क्योंकि वह सच्चा दयालु श्रावक है, सम्यक्त्व-शिरोमणि है, वात्सल्य-रत्नाकर है, अतः उसकी शरण में जाना चाहिए। अगर उन पीछा करने वाले लोगों के हाथ पड़ जाऊँगा तो ये मेरी हड्डी भी नहीं छोड़ेंगे।

तब वह पहरेदारों के हाथ में न पड़कर उनसे बचता हुआ जिनेन्द्रदत्त सेठ के पड़ाव में घुस गया। जब रत्न को लेकर वह अकस्मात् पड़ाव में घुसा तो जिनेन्द्रदत्त सेठ को बड़ा आश्चर्य हुआ—अरे! मैंने तो इसे सच्चा त्यागी समझा था। और इसके ऊपर घर, मंदिर सब सौंप आया था। मैंने इस पर कैसे विश्वास कर लिया। जैसे मुर्गी को कितना ही अच्छा भोजन दिया जाय किन्तु वह कूड़े कचरेको ही कुरेद कर खाती है। इसी प्रकार धूर्त कितने ही माया वेष धारण कर लें, उन्हें कितना भारी भी सन्मान क्यों न प्राप्त हो जावे किन्तु वे अपनी आदत नहीं छोड़ते। ये तो चोर-वृत्ति से ही जीविका करते हैं ॥६४-६५॥

धरेयोळ् विवेकि येनिसुव
पुरुषं पेंडिरोळमर्थदोळ मिन्नेंत।

प्पलुमं नंबिर लागदु
परवशदिंदॆ नीतियोळ् पुसियुंटे ॥६६॥

अर्थ—जगत में सभी व्यक्ति विवेकी नहीं होते और न सभी व्यक्ति धनी सम्पत्तिशाली होते हैं। किसी के पास विवेक की कमी होती है, किसी के पास धन की कमी होती है। प्रत्येक मनुष्य के पास किसी न किसी तरह की कमी बनी रहती है ॥६६॥

बेसनिय सत्यमुं खळन धर्ममु मूर्खन सच्चरित्रमुं
पुसिवन शौचमुं बडवनप्पन भोगमुमाजिरंगदोळ् ।
कुसिवन वीरमुं बधिरनप्पन केळवयुमायतिक्के युं
बिसुटन कीर्तियुं विटन शीलमुमुर्वियोळोप्पलापुवे ॥६७॥

अर्थ—दुर्व्यसनी पुरुष की बात में सत्य, दुष्ट पुरुष में धर्म, मूर्ख में सच्चारित्र, लोभी में शौच, दरिद्रके वैभव भोग, कुशीलमें वीरता, बहरे के श्रवणशक्ति, हीनाचार के कीर्ति और विट पुरुषों के शील का होना विश्वासजनक नहीं है ॥६७॥

कुरुडन काणकेयुं वनितेयगॆळसिर्पन राज्यमुं मनं
मुरिवन धैर्यमुं पतिगे मार्ययेदिर्पनसज्जनिक्केयुं ।
परमजिनागमोक्तियनेमाणदे भाविसदातनोवु भा-
सुरतरमुं महागुणमुमोप्पवु धारिणियोळिनरंतरं ॥६८॥

अर्थ—काणे पुरुष में भद्रता, स्त्रियों का राज्य शासन, चंचल-चित्त का धैर्य, अविश्वस्त स्त्री का पतिके साथ प्रेम, एवं दुर्जनमें सज्जनता दिखाई नहीं देती। जो भगवान जिनेश्वरके मार्ग के अनुयायी नहीं हैं, वे कैसा भी अच्छा वेष धारण करें, किन्तु उनमें गुण नहीं होते। उनमें कभी धार्मिकता और सज्जनता नहीं मिल सकती ॥६८॥

[चरितपुराण मनरियदे
तुरिपदिनध्यात्मियागि नेगळवन तपमुं ।
मरुळिन सिरियुं पंदॆय
बिरुदुं सुखमागलारवॆंदुं कडेयोळ्] ॥६९॥

अर्थ—महापापी व्यक्ति जैन-दीक्षाको स्पर्श नहीं कर सकते। इसको पुण्यवान व्यक्ति ही ग्रहण

कर सकते हैं। महा ठग, व्यभिचारी, दुर्व्यसनी, भगवान जिनेन्द्र के मार्ग को प्राप्त नहीं कर सकते। जिनेन्द्र का वचन कुटिलता और उन्मार्ग को छोड़े विना सफलता नहीं देता।

तूने कभी महापुरुषों के पुराण नहीं पढ़े, उनके चरित्रों का मनन नहीं किया। उनके आचरण को नहीं सुना। वैराग्य भावना को पुष्ट करने वाला उनका जीवन चरित्र नहीं पढ़ा ? दिखावटी अध्यात्मवादी बन कर शरीर को कृश करने वाले का तप बालू के मकान के समान क्षणिक होता है। मूर्ख का ऐश्वर्य और कीर्ति सुखदायक नहीं होती, इसी प्रकार मूर्ख की तपस्या इहलोक और परलोक दोनों को नष्ट करने वाली है ॥९९॥

सिद्धांतमनरियदे पिरि-
दुद तेर्यि सोंबतनदि नध्यात्ममुमं ।
श्रद्धेयिनोदुव कडुनि
र्वुद्धि महासुख मनैदलारं कडेयोळ् ॥१००॥

अर्थ—सिद्धान्त के मर्म को न जान कर उद्धततासे कुछ लोग अध्यात्मवादी बन जाते हैं और केवल श्रद्धा से ही अपना कल्याण मानते हैं तथा महासुख की कामना करते हैं। ऐसे एकान्तवादी महा दुःख को प्राप्त होते हैं और वे उभयलोकसे भ्रष्ट होजाते हैं ॥१००॥

मोदलोळुददं गर्गादिं प्रथमानुयोग मनर्तियिं
तुदिय सूक्ष्ममनोदु वातनुमाजियोळ् सले केदुवि- ।
ल्लदे कडंगि विनोददिं पुगुवातनुं नृपकांतेयं
पदेदु कामिसि नाडि पोदुव गांपनुं मरुळल्लने ॥१०१॥

अर्थ—प्रारम्भ में प्रथमानुयोग को श्रद्धान पूर्वक न पढ़ कर और उसका मनन न करके जो द्रव्यानुयोगके पठन की इच्छा करते हैं और उसका मनन करके उसके फल की इच्छा करते हैं। वे आम का पौधा लगा कर उसमें पानी न देकर फल की इच्छा करते हैं। मूर्ख लोग तीनों अनुयोगों का क्रमिक अध्ययन न करके केवल द्रव्यानुयोग को पढ़कर मोक्ष की इच्छा करते हैं। ऐसे मूर्ख हाथ के विना भी सोने का कंकण (कड़ा) पहनना चाहते हैं। विना पुण्य के राज्य-वैभव सुन्दर भोग भोगना चाहते हैं। जिसके लिये कि पुण्योपार्जन की आवश्यकता है ॥१०१॥

आगमवरियद तपमुं
रागियेनिप्प्वन राशिवासद कापुं ।
बेगिय केळयुं बडवन
भोगमुमत्यंतदुःखमं पुट्टिसुगुं ॥१०२॥

अर्थ—आगमके ज्ञान बिना तप, विरागीके लिये रणवास, शत्रुके साथ मित्रता, दरिद्र का भोग उपभोग अत्यन्त दुःखदायी है ॥१०२॥

लोभिय कोंडु पदर्पि
दीभवद सुखक्के मरुगि कुदिवन तपमुं ।
लाभमनरियदपरदुं
शोभिसलार्तपुवे वगेवोडवनीतळदोळ् ॥२०३॥

अर्थ—लोभी का ऐश्वर्य, इन्द्रिय सुख के लिये निदान युक्त तप, लाभ और हानि को न जानने वाले वणिक का व्यापार जगत में कभी भी सफल नहीं हो सकता ॥१०३॥

एंदु मनदोळ् भाविसुतिर्पन्नेगं कल्लेयुं कविलेयु मागि नेरवि पेरगे बरे पुरद तळाररुं तन्न देहारद कापिन वंटरुं कळ्ळनिल्लि पोक्कनेंदु बीडिनोळ् पोक्कु गुडिगूडारं गळूळं बेट्टागोट्टदं पेरिनिट्टेडेगळोळं कोट्टिगे येत्तिन पट्टग-ळूळं पुंजिसिद चीनद दिंडुगळूळं पासिनेडे गळोळं कैदीविगेय बेळकिनोळ् नोडुत्तुं कळकळरवर्दि विदिरुं बळयुं पासुं पोक्कुं तिगुरियुं बुगुरियुं जातियुं भीतियुं आगे परिवागळवरं वणिग्वंशललामं कंडु तन्नोळिंतेंदं ॥१०४॥

अर्थ—इस प्रकार मन में विचार करता हुआ सेठ बैठा हुआ था, तभी धूर्त ब्रह्मचारीका पीछा करने वाले लोग शोर मचाते हुए आ गये । किसी के हाथमें डंडा था, किसीके हाथ में पत्थर था, और आते ही पूछने लगे कि मंदिरसे रत्नको चुराकर जो चोर यहां आया है, वह कहां छिप गया ? ये कहते हुए वे लोग डेरेमें घुस गए और ढूंढने लगे । वहां माण्डबल (सामान) कपड़े लत्ते रक्खे थे, उन्हें उठाकर दीपक लेकर देखने लगे और शोर मचाने लगे तब जिनदत्त सेठने मनमें विचार किया कि अगर यह पकड़ा गया तो ये लोग इसे छोड़ेंगे नहीं ।

ईपातकनप्पोडे मु-
न्नीपुरदोळ् पिरिदु कीर्तियं तपदिंदं ।
व्यापिसिदं पलरिंदं
पापांत कनेनिसि नेरेये कैमुगियिसिदं ॥१०५॥

अर्थ–श्रेष्ठी सोचने लगा–इस पापी ने माया तप द्वारा लोगों पर प्रभाव डाला, यश प्राप्त किया और धर्मात्मा लोगोंसे हाथ जुड़वाये ॥१०५॥

मोदलोळ् मुळ्ळिन मोनेगळ्
मृदुवप्पुवु बळके बेट्टप्पुवु ग्वळरं ।
मोदलोळ् गुणियेनिसिपर्
तुदियोळ् तंतम्म मायेयं प्रकटिसुवर् ॥१०६॥

अर्थ–प्रारम्भ में कांटे कोमल होते हैं, पश्चात् कड़े होकर दूसरोंको कष्ट देते हैं। इसी प्रकार धूर्त लोग पहले सुन्दर-सुन्दर बातें करके लोगों को प्रभावित करते हैं और बादमें वे लोगों को ठगते हैं। किन्तु उनका समाचार छिपा नहीं रहता, प्रकट हो जाता है ॥१०६।

पोळ्लुं बीत्तुं ससिगळु
मोळ्ळिदु वेनिसिर्पवेय्दे फलदोळ् नोकुं ।
पोळ्ळप्पुदु पोळ्लुं कर
मोळ्ळि दुवेनिसिर्पबित्तु धान्यमुमक्कुं ॥१०७॥

अर्थ–किसान धान्य बोते हैं, उस समय सभी बीज अच्छे दीखते हैं। किंतु जब फल आते हैं, तब उनकी परीक्षा हो जाती है। सभी धान्यों में कण नहीं रहता, बोने पर कुछमें धान्य नहीं होता। इसी प्रकार सभी मनुष्य एक समान नहीं होते। कुछ अच्छे होते हैं और कुछ बुरे भी होते हैं ॥१०७॥

एल्लर पोरगण चेष्टय
नल्लदे पेळोळ गनरिवनावनावनो ! मरने ।

कल्ले विदिरे सीळिदं
मेल्लने नोळवंते नोडि मानिसरेदेंयं ॥१०८॥

अर्थ—मनुष्य दूसरों की बाहरी प्रवृत्ति से विश्वास कर लेते हैं। किन्तु उनकी चेष्टा का पता लगाना कठिन है। पत्थर, बांस या वृक्ष को काटने पर ही उसके भीतर क्या है, यह पता लगता है। इसी प्रकार मनुष्य के अंतरंग की परीक्षा किये बिना उसके स्वभाव का पता नहीं चलता ॥१०८॥

इवनप्पोडे तानोर्मुर
तवुडिंगं पोगनिवन कतदिंदं त्रै- ।
भुवनं बडेवीधर्मम
नविवेकिगळघसमन्वितर्किडेनुडिवर् ॥१०९॥

अर्थ—संसार में सद्धर्मको ग्रहण करने वाले, उसके मर्म को जानने वाले जीव बहुत कम हैं। धर्मको विडम्बना करके, संसारमें भ्रमण करने वाले व्यक्ति अनेक मिलेंगे। यशके लिये, अर्थके लिये और अन्य इच्छाओंके लिये धर्मका स्वांग करनेवाले अनेक लोग हैं ॥१०९॥

अदुकारणदिंदि वन पोद पोगं मारियरिगे सद्धर्मक्के परियागदंते नेगळ्वनेंदु पिरिय मणिय मेलात ननिरिसि महाभक्तियिं प्रत्यत्तं मायाविय कालनोत्तु तुमिर्पुदुमन्नेगं तळारनायकं परितंदु जिनेन्द्रभक्तसेट्टियल्लिगे भोरने पोगि सेट्टिय मेले कालनवष्टंभदिं नीडि महामहिमेयिंदिर्द कृतकवेषधारियं कंडु ११०

अर्थ—इस धूर्त की रक्षा करनी होगी, अन्यथा इसका मनुष्य-जन्म निरर्थक हो जायगा। लोगों का यह विश्वास दूर करना चाहिए कि यह ब्रह्मचारी चोर है, अन्यथा जनता को त्यागियों, साधुओं पर विश्वास न रहेगा। सद्धर्ममें बाधा न हो, इसकी रक्षा करनी चाहिए। तब उस ब्रह्मचारी को एक पाटे पर बिठा कर यह कहते हुए सेठ उसके पैर दबाने लगा कि अरे! ब्रह्मचारीजी इतनी दूरसे आ रहे हैं। लोग इन्हें चोर समझते हैं, बड़ा अनर्थ है। इतनेमें वहां पहरेदार कोतवाल तथा सिपाही पहुँच गए। उन्होंने देखा कि धूर्त ब्रह्मचारी के पैरोंको सेठ दबा रहा है। यह देखकर वह लोग कहने लगे—॥११०॥

नीवेनेंदीतस्कर
कीविलचरणद्वयंगळं मेल्लने स- ।

न्नवदिनोत्तुत्तिर्दिरो
नीवरियिरे चपळ नाडिदाटमनिन्नुं ॥१११॥

अर्थ–सेठ जी ! आपने इस तस्कर को धूर्तता नहीं देखी । यह ब्रह्मचारी तस्कर है । इसकी लीला अपार है । यह दुराचार करके भागकर आया है और आप इसे ब्रह्मचारी समझ कर पैर इसके दबा रहे हैं ॥१११॥

सितगं मायातपमं
कृतकदिनरेयट्टि माडि मेळिसि पेरम ।
न्नतरत्नमनोय्दपनु-
न्नतियिं दुर्जनरनिन्नरं कंडरियें ॥११२॥

अर्थ–इसने माया तपके द्वारा बनावटी वेष धारण करके लोगों को प्रभावित किया है, उन्हें ठगा है और घर में घुसकर वहां से इस दुष्ट ने रत्न चुरा लिया है ॥११२॥

पोरगी खळनंकंडोडे
पेरदेगेयदे संदिसंदियं परसिदं ।
तरियेने गग्गसर्दिदं
कोरेयेने खळनिक्षि पोक्कु बदुकिदनिन्नं ॥११३॥

अर्थ–इसको आप छोड़ दें, इसको हम देख लेंगे । इसके करोंत, खड्ग से दो टुकड़े कर देंगे । यह भाग कर निकल आया, वरना इसके तो टुकड़े-टुकड़े कर देते । यह दुष्ट है ॥११३॥

आश्वासंगुडदिवनं
निस्वनमज्ञानियं महापातकनं ।
विश्वासघातुकननम
रेश्वरनिभविभव तडेयदोप्पिसु बेगं ॥११४॥

अर्थ–यह विश्वासघाती, मायाचारी, व्यसनी, अज्ञानी, महापातकी, चोर है । इसे आप छोड़ दीजिए ॥११४॥

महामायाविय तुडुगुगोंड तोळितनंने बायं तेरेदु कोंडु तानल्लदंते बेरणेयं तिंद बेक्किनंते निम्म मरेवोक्कु नुणर्निदपनेंदु नानाप्रकारदिं पिरस्करिसि

सेट्टिगंजि मेल्वारखु तेमेयल्म गादिपुदु, जिनेंद्रभक्तसेट्टि तळारनायकन मोगमं नोडि नेरविद्येल्लं केळवंतागे गंभीरनाददिंदिंतेंदं ॥११५॥

अर्थ—महामायावी यहां आकर बैठा है। लकड़बग्घे की तरह बैठ गया है। मानों इसने चोरी नहीं की। मक्खन खाकर जैसे बिल्ली बैठ जाती है, उसी प्रकार बैठा है। इस तरह उन लोगोंने उस मायावीको खूब भला बुरा कहा। किन्तु जिनेन्द्रदत्त सेठ के भय से वे लोग कुछ अधिक नहीं कर सके। उन कोटपाल आदि लोगोंकी इस भर्त्सनाको सुनकर जिनेन्द्रदत्त सेठ बड़ी गम्भीरता से कहने लगा ॥११५॥

पुरदोळगे केट्टुदेंत
स्करनावं कळदु तंद धनमावुदु नि- ।
ष्ठुरतनदिंदी पेर्यडे
वेरसु महानेरविवेरसु कट्टाळतनदिं ॥११६॥

अर्थ—तुम्हारे गांव में से इन्होंने क्या चोरी की है? यह चोर है, यह तुम कैसे समझ रहे हो? एक साधु को व्यर्थ में बदनाम कर रहे हो ॥११६॥

परिवंदु पोक्करसु त्रोडेन्न बीडु कोट्टमल्लदु नीनिंदु कळ्ळेयं तिंद पसुविनंतानुं मदुगुणिकेयं तिंद मानिसनंतानुं मेय्यरियदेन्नोडमेय नेन्नल्लिगे तर्पबडसादुरुपियं कळ्ळनेंदु वेन्नट्टिदे यिंती साधु तपस्वि निश्चयं कळ्ळनप्पोडे मत्तोंदु देसेगे पोगदेन्न बीडनेके पुगुवनदरिंद मरियल्वेडा ॥११७॥

अर्थ—यदि ये चोर होते तो और कहीं अन्य स्थान पर भाग जाते। मेरे पड़ावमें इन्हें आने की आवश्यकता क्या थी। ये जो चीज लाये थे, वह मुझे दे दी है। तुम लोग यों ही बड़बड़ा रहे हो। तुम लोग पशुके समान एक साधु के पीछे पड़े हुए हो। यह तो एक सीधे-साधे तपस्वी हैं ॥११७॥

पिरिदुं कालं नीनी
पुरमं जीयेनिसि बुद्धिगं तेजक्कं ।
विरदिंगं पंपि
करमोळ्ळिदनेनिसि रक्षिसिदेयिन्नेवरं ॥११८॥

अर्थ—तुम लोग बहुत समय से नगर की रक्षा करते हो, अच्छे चतुर हो। तुम लोग जानते हो कि कौन चोर है, कौन नहीं। तुम्हें एक साधुके पीछे नहीं पड़ना चाहिए ।११८।

मुन्नमिंतप्प निर्बुद्धि तनमिल्ल निन्नंतप्प बुद्धिवंतरुं पेर्वयूतंगोडरंते वड-सादुवं कळ्ळनेंदु बेन्नट्टि बंदुदक्केमगे पिरिदुं विस्मयमादपुदेंबुदुं सेट्टियमातिंगे तळारनायकं बेरगागि तन्नोळिंतेंदं ॥११६॥

अर्थ—यह निर्बुद्धि नहीं हैं, बुद्धिमान हैं। तुम भी बुद्धिमान हो। सीधे-सादे साधु को चोर समझ लेना क्या बुद्धिमानी है? तुम लोगों ने बुद्धिमान होकर एक साधु को चोर कैसे समझ लिया, मुझे यही आश्चर्य है ।।११६।।

ई वैश्योत्तम मनप्पोडे
केवळमे बुद्धियेडेगे नूर्मडि मिक्कं।
देवेशनमं बगेवोडे
भाविनुतं कळ्ळनप्पवंगेरगुवने ॥१२०॥

अर्थ—तब सिपाही आदि कहने लगे—धन्य है, इस वैश्योत्तम की प्रशंसा कहाँ तक की जाय। इसके गुणोंकी जितनी प्रशंसा की जाय, उतनी कम है। यह मनुष्य लोकमें रहते हुए देव के समान है ।।१२०।।

अनुपमगुणियेंदस्म-
ज्जनपं मोदलागि कूर्मेयिं कैमुगिवं।
जिनभक्तसेट्टिगेंदोडे
जिनभक्तं कळ्ळनप्पवंगेरगुवने ॥१२१॥

अर्थ—आप अनुपम गुणमणि हैं, सज्जन हैं। सच्चे जिनभक्त हैं और करुणाधारी हैं ।।१२१।।

आंतल्लदोडं ॥१२२॥

ईतं तस्करनप्पोडे
भीतियिनत्तित्तलोडुगल्लदे दिटमिं।
तीतन बीडं पुगुवने
मासीनीसाधु कळ्ळनल्लं शुद्धं ॥१२३॥

एंदिदेल्लमेन्न निर्बुद्धितनमेंदु तळारनायकं सिग्गागि वंद भट्टियने मगुळ्दु सिरदे पोदं; पोपुदुं नेरद नेरवियेल्लं तम्मोळिर्तेंदर् ॥१२४॥

सेट्टेय पेळकेयिनोय्यने
नेट्टगे वैडूर्यरत्नमं तर्पननें ।
ळिबट्टिखळनेंदु कल्लि
दिट्टु कुकिल्दादुं बरिदे नोड तळारं ॥१२५॥

अर्थ—वे लोग मन में विचार करने लगे कि वास्तव में यह चोर नहीं मालूम पड़ता। यह अगर चोर होता तो सेठ के डेरे में कैसे आता। कहीं दूसरी दिशा में भाग सकता था। इसलिए यह चोर नहीं है, साधु है।

इस प्रकार आपस में सिपाही कहने लगे—वास्तव में हमने इसका पीछा करके उचित काम नहीं किया, हमने साधु को चोर समझ लिया। अब हमें यहां से चले जाना चाहिए, अधिक बात नहीं करनी चाहिए।

तब जिनेन्द्रदत्त सेठ कहने लगा—तुम लोगों ने निर्बुद्धि पुरुषकी तरह ठीक नहीं किया। मैंने आते समय इनसे कह दिया था कि रात के बारह बजे तुम वैडूर्य मणि लेकर मेरे पास आजाना, मुझे उसकी आवश्यकता थी। किन्तु तुमने इनको चोर समझ लिया ।१२२-१२५।

कोंडं मुन्नेंदु तळारनायकन पोल्ल मेयनेल्लं भोरेंदु लियुत्तुं पोदरित्तल्वणिग्वंशतिलकं मायाविंयने कांतक्कुय्दु मेल्लनिंतेंदं ॥१२६॥

अर्थ—इस प्रकार उन सिपाहियों को समझा बुझा कर सेठ ने लौटा दिया। बाद में जिनदत्त सेठ उस ब्रह्मचारी से इस प्रकार कहने लगा—॥१२६॥

करमल्लदेय्दे निन्नं
पुरमेल्लं कोंडु कोनेदु देवं दिटर्दि ।
निरुतमिवनेन्दु बणिसु
तिरे गुणमं बिट्टु केट्टु पुरियोडादै ॥१२७॥

अर्थ—अरे मूर्ख ! ऐसा वेष धारण कर तूने धर्म की विडम्बना कर डाली। लोग तेरा गुणगान करते हैं। चारों ओर तेरी कीर्ति फैल रही है। तूने यह काम करके अपनी आत्माका

हनन कर लिया ॥१२७॥

बित्तल्लददु फलदोळरिपित्तेंब नाळ्नुडियंते तपदिंदं गुणदिंदं पुरदोळ् पल-वुदिवसं मेच्चागिर्द ल्लियेवंडु वोदें आनेयनेरिर्दल्लिये बेरंटियाय्दें; निन्नं बिट्टु पातकरुं विश्वासघातकरुं मायाविगळुमिल्ल; बेक्कु पाल नल्लदे मेलण बडियं काणदेंवं तिल्लिय सुखमने बगेदेयल्लदे मरुभवदोळाद महा-दुःखमं बगेदेयिल्लं, अन्यायदोळपडेदर्थं नडुनीरोळिक्किदोडं किडुगुमेन्न मुन्न-माडिदे सुपात्रदानद फलदिं दोरेकोंडुदी महानर्घ्यरत्नं; कुत्सित नप्पि निनगे-निताप्त्तु वट्टोडं दुःखमे केसार्गु मल्लदे रत्नं केसारलरियदु; एल्लेडेयोळं पच्च-मिल्लदोंदे मार्गदिं देरगि मळसुरिदोडं नीर् पुगदमिल्लद स्थानमं परिहरिसि बंदु तोरेकेरे भाविगळूळ् तीवुवंते सकलवस्तुगळुं तेरळदु निर्भाग्यरं बिट्टु पुण्याधिकदोळ् नेरगुमंतु तोरेकेरे भाविय नीरेल्लं कालक्रमदिं सादु समुद्र दोळकू डुवन्ते अल्प पुण्यर वस्तुगळुं तेरळदु महापुण्याधिकरोळ् नलसु गुमदु कारणदिं ॥१२८॥

अर्थ—हे धूर्त ! तूने विचार नहीं किया। विना पुण्य उपार्जन किये ये वस्तुयें किसी को नहीं मिलतीं। विना बीज के फल की प्राप्ति नहीं होती। तूने इसकी प्राप्ति के लिये माया (झूठा) तप किया, शरीर को सुखा डाला और अन्त में तू महा डाकू निकला। हाथी पर चढ़कर फिर अन्त में तू गधे पर चढ़ गया। जो हाथी पर चढ़ता है, वह गधे पर नहीं चढ़ता। तप करके तू उच्च पद पर पहुँच गया था, किन्तु तूने यह महान पाप करके फिर पतन का मार्ग अपनाया। तू महापातकी है। बिल्ली केवल दूध को देखती है, डंडेको नहीं देखती। वर्तनमें जब वह मुंह देती है, तब अपने आपको बड़ा सुखी समझती है। आनेवाले दुःख को नहीं देखती। इसी प्रकार पापी गहरे पानी में खड़े हैं। पाप करते समय वे बुरा परिणाम नहीं देखते किन्तु अन्त में उसी में डूब जाते हैं। ये सम्पत्ति मेरे पास तेरी तरह अन्याय से नहीं आई, डकैती से नहीं आई। बल्कि पूर्व जन्म के पुण्य से यह सम्पत्ति और यह अनर्घ्य (अमूल्य) रत्न मिला है। पूर्व जन्म में सत्पात्रों को दान करनेसे यह रत्न मुझे मिला है। पाप या अन्याय से ऐसा रत्न नहीं मिल सकता। पाप से तो अन्त में दुःख ही मिलेगा। पहले पानी बांधा जाता है, तभी तालाबमें जल एकत्र होता है। इसी प्रकार संयमके विना,

पुण्य कार्यके विना ऐसा रत्न नहीं मिल सकता । पानीके विना तालाब बांधनेसे क्या लाभ ! रेत (मरुभूमि) में कुआ खोदने से क्या लाभ है ? ॥१२८॥

सावुदने माडिकोंडे
केवल वरमाणियल्लि भाविसि केंडा ।
श्रावक नप्पुदरिंद
केविलि निनगोंदु कंटकं पोय्तीगळ् ॥१२९॥

अर्थ—धर्म को न जान कर तूने जो धर्म का वेष धारण किया, सो तूने संसार में जन्म-मरण की ही वृद्धि की । यदि तू इस वेष में कोतवाल के हाथ में पड़ जाता तो वह तुझे बहुत मारता तथा इस वेष की बदनामी होती । अन्य साधुओं पर भी आपत्ति आ जाती । तू मेरे डेरे में आ गया, इससे सब आपत्ति टल गई और धर्म की रक्षा हो गई ॥१२९॥

आनरियदोडितक्कट
नीना निष्ठुरन केय्योळरडिल्लदे पे ।
रानेय बारिगे विर्दा
श्वानन तेरदंते बाघेगोळगागिपें ॥१३०॥

अर्थ—सद्धर्म को न जानने वाले मूर्ख मनुष्य इन्द्रिय-विषयों के लालच में धर्म का वेष धारण कर कुत्ते के समान घर-घर सदा टुकड़ा मांगते फिरते हैं । जैसे कुत्ता घर-घर डंडा खाता है और दीन-वृत्ति दिखाता है । इसी प्रकार मायावेषी धर्मका उपहास कराते हैं और सर्वत्र उनकी निन्दा होती है । इससे धर्म का ह्रास होता है ॥१३०॥

ईरूपं धरियिसि सं-
सारमनदटलेदु मुक्ति नडेयदे माया ।
धारि गुणहारि रौरव
वारिधियोळ् नलसि निल्व बगेयने बगेदे ॥१३१॥

अर्थ—अरे मायाचारी ! इस मायाचारी वेषको धारण कर तू संसार महानदसे पार होना चाहता है । परन्तु जैसे मूर्ख मनुष्य अपनी कमरमें पत्थर बांधकर समुद्र पार करना चाहता है, किन्तु पार होने के बजाय वह पत्थर के भार से समुद्र में डूबता है । उसी प्रकार तू मायाचार के भार से संसार पार होने के बजाय रौरव नरक में पहुँचेगा और कोई स्थान

तुझे नहीं मिलेगा। पर तूने भविष्य का विचार नहीं किया ॥१३१॥

ईरत्न मेंबुदेंतुट्ट
वीर जिनस्मरणेयिंदे मुक्तिसुखं कै।
सारुगु मेंदोडे गुणदिं
धारिणियोळ् तळनमुंटे मत्तिन सिरिगळ् ॥१३२॥

अर्थ–जिनको यह रत्न प्राप्त करना है, उन्हें महावीर द्वारा प्ररूपित मार्ग को भलो प्रकार समझ कर उसका आराधन करना चाहिए। भगवान महावीर का नाम स्मरण करने मात्र से जब मोक्ष प्राप्त हो जाती है, तब इस रत्न का तो मूल्य ही क्या है ॥१३२॥

मत्तं "कळ्ळनोक्कलादुदिल्ल नायि जंगुळियादुदिल्लें" व नाळ्नुडियन-रिदेयिल्लक्कुं; पुण्यमिल्लदे बेवसायदिं सिरियिक्कुमेंदेयप्पोडे नेन्ति तरंटागे-पुळ्ळियनड कुव वडवर्गं बट्टेगट्टि बडिव बेडर्गं सिरियेकागदु नडेदोडे तडतडि सुव कुळ्ळिर्पोरोर्वरं मलंगुव कट्टल सरप्परसु गळग राज्य श्री कैगणिम पोणमु वुद्दु कारणदिं सिरिगं सौभाग्यक्कं (शाश्वतमप्प सुखक्कं) जिनपुजेयुं सुपात्र-दानमुं विषयकषायनिग्रहमुं मिथ्यात्व भीतियुं जीवदयेयुं मुख्यं ॥१३३॥

अर्थ–चोर कभी किसान नहीं हो सकता। किसान ही किसानका व्यवसाय करके लाभ उठा सकता है। कुत्ता कभी सिंह नहीं हो सकता। इसी प्रकार विना पुण्यके व्यवसाय करने वालों का ऐश्वर्य स्थिर नहीं हो सकता। यदि तेरे समान धूर्तों को मोक्ष प्राप्त हो जाय तो पाप करने वाली वेश्या, सदा डाका डालने वाले डाकुओं को भी ऐश्वर्य या मोक्ष की प्राप्ति होनी चाहिए। यदि इस प्रकार मोक्षकी प्राप्ति होने लगे तो फिर तपश्चरणकी आवश्यकता क्या है। शराबी, मांस-भक्षी, शिकारी, परस्त्री सेवन करने वाले दुर्व्यसनी लोग मायाचार से धर्म का वेश धारण करके घूमते फिरते है, उन्हें भी धर्म की आराधना के बिना ही मोक्षकी प्राप्ति होनी चाहिए और चक्रवर्ती पद भी मिलना चाहिए। किन्तु उन्हें अपने पाप कर्मों के कारण नाना प्रकारके दुःख भोगने पड़ते हैं। इसलिए सद्धर्मके बिना उच्च पदकी प्राप्ति होना दुर्लभ है। अतः जिन्हें मुक्त होना है, उन्हें जिनेन्द्र देवके धर्मको हृदयसे धारण कर अट्ठाईस मूल गुण, तेरह प्रकार का चारित्र धारण करना चाहिए। विना इसके इहलोक पर-लोक में सुख शान्तिकी प्राप्ति नहीं होसकती। इसलिए अनेक प्रकार के सौभाग्य की प्राप्ति

भगवान की पूजा, सत्पात्र दान, इन्द्रिय-विजय, कषाय-निग्रह एवं मिथ्यात्व से भय द्वारा ही हो सकती है। धर्म में जीव-दया मुख्य है ॥१३३॥

शरधिय नीरं नदिगळ्
धरियिसलार्तपुवे तोरेय नीरं केरेगळ् ।
धरियिसलार्क्मे भाविग
ळरिदेनिसुव तोरेय नीर्गळं ताळदुगुमे ॥१३४॥

अर्थ—समुद्र का पानी नदी में नहीं आता। न समुद्र के जल से तालाब नाले बनते हैं। कुआ नदी का रूप ग्रहण नहीं करता ॥१३४॥

अंते महापुण्याधिकर् ताळवुव सिरियं पुण्यहीनरप्प वरेसु मनंकुदिदुं मरुगियुं ताळलार ररदुकारणं ॥१३५॥

अर्थ—इसी तरह महापुण्याधिकारी लोगों के आश्रित ही वैभव आता है। हीन-पुण्यों के पास सम्पत्ति नहीं आती। अतः पुण्यवानों को ही सम्पत्ति मिलती है। इसलिये पुण्यहीन लोग धर्म और धार्मिकों की निन्दा करके तथा कष्ट देकर सम्पत्ति चाहते हैं ॥१३५॥

धर्मम नेरपुवुदुं त-
द्धर्म दिनेल्ला सुखं गळुं समनिसुगुं ।
धर्मं मनेळिसि विट्टोडे
कर्मदि नेत्तनेवदिनडसुगुं कडुदुःखं ॥१३६॥

अर्थ—धर्मसे ही सब पदार्थ मिलते हैं, धर्मसे ही सुख शान्ति मिलती है। स्त्री-पुत्र आदि धर्मसे मिलते हैं। जिन्होंने धर्म छोड़ा, वे संसारमें अनेक प्रकार के कष्ट उठाते हैं ॥१३६॥

(ललनेयरोल्लदोडं सिरि
तोलगिदोडं पोगदट्टि कुत्तं तन्नोळ् ।
नेलसिदोड मंतु मुन्निन
कोलेयलेदपुर्देदु मरगुववरं काणा ॥१३७॥

अर्थ—स्त्री द्वारा घृणा करने पर, अशुभ कर्मों से सम्पत्ति चले जाने पर जीवोंको अनेक कष्ट उठाने पड़ते हैं। पूर्व जन्ममें किये हुए पांच तरह के पापोंसे न जाने कौन-कौनसे दुःख भोगने पड़ते हैं ॥१३७॥

वनितेय मोहर्दि सुतर मोहर्दिनिष्टरोळाद मोहर्दि
धनमनुपार्जिसलमरुगुवं कळविं धनलाभमादोडा ।
वनितेयुमिष्टरुं सुतरुमुरुबेडेयोळ् पुदुगळ्ळनेंदु भों
कने कडिदिक्के पेर्देसेयोळल्लिदवर्पुदुवागळार्परे ॥१३८॥

अर्थ—मनुष्य अपनी स्त्री-पुत्र तथा अन्य इष्ट सम्बन्धियों के मोह से धन-उपार्जन करने के लिये अनेक कष्ट उठाता है, चोरी करता है । "इस तरह मेरे पास खूब सम्पत्ति होजायगी, स्त्री-पुत्र आनन्द से रहेंगे," ऐसा समझ कर जीव धर्म-कर्म को त्याग कर पाप का उपार्जन करता हुआ संसार-गर्त में गिरता है ॥१३८॥

अदरिं पेरर्पेररे तां तनगेंदु नडुगि पापभीरुवप्पुदुं ॥१३९॥

अर्थ—पाप और पुण्य का फल अपने को ही भोगना है, इसलिए मनुष्य को पाप-भीरु होकर पाप-मार्ग छोड़ देना चाहिए ॥१३९॥

कडुगुच्द पारेयेंतुं
सुडलरियदु सत्यमुळ्ळनं पुसिववनं ।
सुडुवुददरिंदे सत्यम
नुडिवने साखि केळदुःखि तां पुसिवातं ॥१४०॥

अर्थ—पारे को कितना ही जलाया जाय, किन्तु वह जलता नहीं, इसी प्रकार सत्यवादी दुःख की अग्निमें नहीं जलता । जैसे अन्य वस्तुयें अग्निमें जल जाती हैं, उसी प्रकार असत्यवादी दुःख को अग्निमें जल जाता है । सत्यवादीको सदा सुख मिलता है और असत्यवादी को दुःख मिला करता है ॥१४०॥

अदु कारणदिं असत्यमे दुःखक्के कारणमेंदु नंबि पुसियं बिडुवुदु ॥१४१॥

अर्थ—इस लिए असत्य दुःख का कारण है, यह समझ कर असत्य और असत्य मार्गको सदाके लिये छोड़ देना चाहिए ॥१४१॥

अरवरिसदे पलरुं पा
दरिगनिवं कष्टनेंदु कुरियं कोल्वं ।
तेरे कोंडु पोलेयरिं चे-
च्चरमळेसुवरट्टि दूरुवर्पेवेंडियोळ् ॥१४२॥

अर्थ—शील धर्मको न समझने वाले परस्त्री सेवन करते हैं, जो कि बड़ा पाप है। पर स्त्री-सेवनसे नीच गति मिलती है तथा लोगोंके द्वारा भी अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं।।१४२।

अदुकारणदिंद महादुःखक्के पारदारमे मोदलेंदु वेर्चि परस्त्रियरं तायं काणवन्ते काणबुदु ॥१४३॥

अर्थ—परस्त्री-सेवन महान दुःखका कारण है, यह समझ कर परस्त्री से काम सेवन करना छोड़ देना चाहिए ।।१४३।।

जिनपतियं पुजेसदो
य्यने पंचाणुव्रतंगळं ताळददे कें ।
मने देवलोकसुखमं
मनदोळ् पंबलिसि मरुगलें समनिकुमे ॥१४४॥

अर्थ— पापी लोग भगवान जिनेश्वरदेवकी पूजाकी भावना न रखकर तथा पंचाणुव्रतोंको श्रद्धानपूर्वक धारण न करके और उसकी भावना न करके देवलोक के सुखकी भावना करते हैं। किन्तु धर्म के विना देव-लोकके सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए धर्मात्माओंकी सुख-सम्पत्ति को देखकर जो उससे द्वेष करते हैं और उसे हरण करने की भावना करते हैं, उन पापियों के हाथ में पूर्व पुण्य-उदय से आने वाली संपत्ति नहीं आती ।।१४४।।

एनगे सुखमागवेळ्कं
दनवरतं बयसुतिर्प मनुजं जिनना ।
धननर्चि सुदुदु मनदोळ्
जिनपदमं नेनेयुतिर्पुदिरुळुं पगलुं ॥१४५॥

अर्थ—जिन्हें सुखकी इच्छा हो, उनको जिनेन्द्र भगवान का अर्चन-पूजन और स्मरण दिन रात करना चाहिए ।।१४५।।

जिनरं पुजेसिदमरें
द्रन सुखमं खेचरेंद्रनत्युन्नतियं ।
मनुजेंद्रन विभवमना
वनादोडं बयसि मरुगिदोडे कोंडपुदे ॥१४६॥

अर्थ—जो जिनेन्द्र देवको मनोभाव-पूर्वक पूजा करता है, वह देवेन्द्रपद का सुख, विद्याधरों का राज-सुख एवं चक्रवर्ती का साम्राज्य प्राप्त करता है। किन्तु जो दूसरे की संपत्ति को देखकर ईर्ष्या करता है, उसे कभी सुख नहीं मिल सकता ॥१४६॥

मद्दानेयनेसिरि मनो
मुदर्दिं चामरमनिक्के दि०्यांगनेय ।
विदितं बर्पुदनोल्वोडे
मदनारिय पादपद्ममं नेने मनदोळ् ॥१४७॥

अर्थ—जिनको मदोन्मत्त हाथी पर बैठकर सेवकों से चमर ढुराने की इच्छा है, देवांगनाओं के साथ सुख भोगने की इच्छा है और जो इन्द्रिय भोगकी इच्छा करते हैं, उन्हें कामविजेता भगवान जिनेश्वर के चरणों को सदा हृदय में धारण करना चाहिए ॥१४७॥

दानचतुष्टयमं यमं मन
दानंदवेरसु माडदळिपिं सुखमं ।
हेनव यसुतुमिर्प
तेनासुखमिदिरोळिर्द कोग्गिय जीनें ॥१४८॥

अर्थ—मन-पूर्वक चार प्रकारका दान न करते हुए सुख की इच्छा करने वालोंको कभी सुख की प्राप्ति नहीं होती। अतः सत्पात्रोंको सदा दान करना चाहिए। विना पुण्य के जो व्यक्ति सम्पत्ति चाहते हैं, उन्हें वह कभी प्राप्त नहीं हो सकती ॥१४८॥

मनमोसेदन्न मनुत्तम
नेनिसुव जिनमुनिगे कुडदे बयसि जिनेन्द्रा !
चंनेयं माडदे सुखमं
मनदोळ् बयसिदोडे कूडलरिगुमे धरेयोळ् ॥१४९॥

अर्थ—मन-पूर्वक उत्तम पात्र—मुनि को आहार-दान न देकर जो सुख चाहते हैं, उन्हें सुख कभी नहीं मिल सकता। ऐसे व्यक्तियों को सदा जिनेन्द्र-पूजन और सत्पात्र दान करते रहना चाहिये ॥१४९॥

शीलव्रतमं ताळददे
मेलेनिसुव पात्रदानमं माडदे स- ।
ल्लिलेयिनिंद्रन सिरियं
पालिसल्लेले मरुळ बारदवनीतळदोळ् ॥१५०॥

अर्थ—शील व्रत को धारण करने की और सत्पात्र दान करने की भावना न करते हुए इन्द्र पद के सुख को इच्छा करने वाले लोग क्या मूर्ख नहीं हैं ? अतः जिन्हें ये सुख चाहिए, उन्हें सत्पात्रों को दान करना चाहिये ॥१५०॥

जळनिधिपरिवृतधात्री
तळमं बेसकैसिकोळवोडं कप्पुरदं ।
बलमं माणदे मेल्वोड
मळिपिल्लदे पुजिसिंद्र वंद्यन पदमं ॥१५१॥

अर्थ—समुद्र-पर्यन्त समस्त पृथ्वी मण्डलका राज्य करने की इच्छा जिनके मन में है और जो सदा सुगन्धित ताम्बूल आदिका भोग चाहते हैं तथा इन्द्रिय-सुख चाहते हैं, उनको इन्द्रों से वन्दनीय जिनेन्द्र भगवान के चरण-कमलों की पूजा करनी चाहिये ॥१५१॥

स्मरसुखमं सलिसुव सौं
दरियरोळूडगूडि लेलेयिंदि पोंडमं- ।
बरचरराज्यश्रेयं
धरियिसिवोडमलसदचिसर्हत्पदमं ॥१५२॥

अर्थ—यदि कामदेवके समान सुन्दर शरीर, शत्रुका सामना करनेकी शक्ति, विद्याधरोंका राज्य भोग करने की इच्छा है, तो श्रीअरहन्त भगवानके चरण-कमल की सदा पूजा करनी चाहिये ॥१५२॥

बंदु दुःखमनरियदे
नंदनरोळ् सकलमित्ररोळ् बांधवरोळ् ।
तंदेयोळिच्छियोळूडनो
तांदिपोंडे पुजेसागळुं जिनपदमं ॥१५३॥

अर्थ—यदि तुम सदा सुख चाहते तो, बन्धु मित्र आदि में अपनी मान्यता और प्रेम चाहते हो तो मन:पूर्वक जिनेन्द्र देव के चरणों को पूजा करते रहो ॥१५३॥

मलयजमं पूसि तळ-
त्तळिसुव चेंबोन्न रत्नदाभरणमनु ।
उज्वळमागे तोट्टु सुखमिर
लेळसुवोडं तन्न दानमं माडोळिपं ॥१५४॥

अर्थ—शरीर पर चन्दन का चरचना [लेप करना] रत्न के आभूषण पहनना इत्यादि अनेक प्रकारकी शोभा तथा इंद्रिय विषयोंका भोग चाहते हो तो आहार दान करो । आहार दान करने से मनमाने भोग मिलते हैं ॥१५४॥

जीनमहाजीनंगळ
नानंददिनुट्ट पुसि पोसकत्तुरियं ।
मानवरोळधिकमेनिसुवा
डानंददिनोसेदु पूजेसर्हत्पदमं ॥१५५॥

अर्थ—चीन महाचीनके सुन्दर वस्त्र पहन कर और सुगन्धित कस्तूरी का लेप करके, मनुष्यों में मान्यता तथा सदा आनन्द की प्राप्ति चाहते हो, तो उत्कट भावना से अरहन्त भगवान की पूजा किया करो ॥१५५॥

तन्नं तपर्दि नोयिस
दुन्नतियं दिव्यभोगमं बयसुव गां ।
पं नेरिपोल्कं सालिस
दिन्नळिपिं बड्डिवेडि मस्तुवमरुळं ॥१५६॥

अर्थ—तपश्चर्या में इस शरीर को विना तपाये उन्नति चाहने वाला मूर्ख मनुष्य दिव्य भोगों की इच्छा करता है । वह कर्ज दिये बिना ब्याज चाहता है ॥१५६॥

जिनमतमं पोर्ददे जिन
मुनिगन्नलमिक्कि धवळजैनागममं ।

मनदोळ् नंबदे देवे
शन चक्रेश्वरन सिरिगे मळुगि दोडुटे ॥१५७॥

अर्थ—जिनेश्वर-मत को मनःपूर्वक मनन न करते हुए, जिनेन्द्र-प्ररूपित दान न करते हुए तथा जैन आगम का मनन किये बिना मूर्ख मनुष्य चक्रवर्ती-पद की इच्छा करता है।

तरुणियरिक्के चामरमनिर्केलदोळ् कडुशोभेवेत्तु कु
ळ्ळिरे नृपरुं मनोहरेयरुं बुधरुं भटरुं कुमाररुं
विरुदरुमर्तियिं बिडदे कट्टिगेगाररुधेयुधेयेनु
त्तिरे नृपलीलेयं पडवेनेंबोडे पोदु जिनेन्द्रधर्ममं ॥१५८॥

अर्थ—युवती स्त्रियों द्वारा चमर ढोलना, राजसिंहासन पर बैठना, मुकुटबद्ध राजाओं, सामन्त, राजकुमार और भाटों द्वारा विरुदावली, चोबदार आदि सहित राजसंपदा का भोग करना चाहते हो, तो जिनेन्द्र देव के धर्म का मनन आराधन करना चाहिये ॥१५८॥

सुरुचिरमप्प रत्नचयदिंदे सेदोप्पुव दिव्यसिंहवि-
ष्टरदोळ गुर्विनिं नेलेसि राजकुमारर मेले नीडि कै
येरडु मनळकरिं मनके बदं विदग्धे यरोंदुरूपिन
रुचियने नोडुतिर्प मनमुळ्ळुडे पोदु जिनेन्द्रधर्ममं ॥१५९॥

अर्थ—सुन्दर रत्नों से जड़ित सिंहासन पर राजकुमारों से युक्त, गौरवसहित दोनों हाथ टेककर बैठना चाहते हो तथा सुन्दर चतुर स्त्रियों का भ्रू-निक्षेप चाहते हो, तो मनःपूर्वक भगवान जिनेन्द्रदेव की आराधना करो ॥१५९॥

करिनिकुरंबदिं हयनिकायनुद्भटकोटियिं नेलं
बिरिविनमेत्तलुं नेरेदु नंदनंदतिरे छत्रराजि त- ।
ळितरे लवणाब्धियंते पडे धार्णिसे वासवनंते रागदिं
स्थिरतरमप्पेनेंब मनमुळ्ळुडे पोदु जिनेन्द्रधर्ममं ॥१६०॥

अर्थ—हाथियों का समूह, घोड़ों का समुदाय, नन्दनवनके समान उद्यान, छत्रका शिरपर होना, लवण समुद्र पर्यन्त पृथ्वी मण्डल का साम्राज्य पद और इन्द्रके समान विभूति चाहते हो, तो भगवान जिनेन्द्रदेव की सदा आराधना करो ॥१६०॥

इनियळमेले कामसुखमं कोळलेंबु मलंगि मेल्लना
ननवनजातमं कुरुळपंतगळं पोळवक्षियुग्ममं ।
कनकघटोपमस्तनयुगंगळ नीव्विसुत्तुं विनोददिं
मनमोसेदिर्पेनेंब मनमुळ्ळूडे पोदु जिनेन्द्रधर्ममं ॥१६१॥

अर्थ–यदि तुम काम सुखकी प्राप्ति चाहते हो, सुन्दर स्त्रियोंके कटाक्ष चाहते हो, स्वर्ण कलश के समान कुच-युगल का निरीक्षण करना चाहते हो और उनके साथ भोग चाहते हो, तो शुभ कर्म-उपार्जन के लिये सदा भगवान जिनेन्द्रदेव की आराधना करो ॥१६१॥

पदपिनोळेरुवें सुरगजेन्द्रमनिर्पेननंत सौख्यदो
ळपु दिवमरावळीपुरदोळादरदिं बेसकेसिकोळवनो ।
मोंदलोळ देवसंकुल मनुर्वशियोळ्नरेवें दिवक्के नां
मोदविगनप्पेनेंब मनमुळ्ळूडे पोदु जिनेन्द्रधर्ममं ॥१६२॥

अर्थ–मदोन्मत्त ऐरावत हाथीके ऊपर बैठकर सुख विहार चाहते हो, देवलोक द्वारा स्तुति कराना चाहते हो, तो पाषाण या स्वर्णसे निर्मित भगवान की प्रतिमाकी प्रतिष्ठा करा कर उसकी पूजा-आराधना करो ॥१६२॥

ओडने सुराळि देव बेसनावुदु जीय महाप्रसाद नि-
म्मडि बेससेदु मुंदिरे सुरांगनेयर्चपळाक्षियर्मनं ।
बिडे मृदुवप्प मुद्दुनुडियिं स्मरराजन वरकेयर्धमं
कुडे सुखमिर्पेनेंब मनमुळ्ळूडे पोदु जिनेन्द्रधर्ममं ॥१६३॥

अर्थ–देवों द्वारा पूजनीय, और 'हमें आज्ञा दीजिये,' इस प्रकार देवों द्वारा स्तुति किये जाने वाले, 'हमें आशीर्वाद दीजिए' इस प्रकार सदा आशीर्वाद चाहने वाली देवाङ्गनाओं द्वारा सदा मधुर स्वरमें अपनी स्तुति चाहते हो और उनके साथ क्रीड़ा करना चाहते हो, तो श्री जिनेन्द्र देव की सदा आराधना करो ॥१६३॥

सुरकुजमागळुं बगेद वस्तुवनीये मरन्नि कायमो-
प्पिरे नलिदागळुं बिडदे पोर्दि मरुल्ललितांगियर्निजा ।

दरदोळ मेच्चु विच्चेगळनच्चरियागिरे कूडि भोगिपं-
निरुतममोघमेंब मेनमुळ्ळूडे पोवु जिनेन्द्रधर्ममं ॥१६४॥

अर्थ—जहाँ इच्छामात्रसे पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं, भूख लगने पर स्वयं ही कण्ठमेंसे अमृत झरता है, विना परिश्रम किये सभी सुख मिलते हैं, देवांगनाओं का सदा साथ रहता है, आयु के अन्त तक सुखों में कोई बाधा नहीं आती, ऐसे देव-सुखों की यदि तुम इच्छा करते हो तो जिनेन्द्र भगवान के मार्ग की रुचिपूर्वक आराधना करो ॥१६४॥

तनुसोंकि सोंकि सोलंबेरसु वरकटाक्षंगळिं नोडिमोहं
यनदोळकैगणमे कैयं पिडिदु नोसलमेलिट्टुकोंडळकरिंचो- ।
म्मने जोत्दंतप्पिकोंडोय्यने सुरतदोळाळणादमं माळपदेवां
गनेयर्गिन्नणण नोनाटिसुवोडे जिननं पूजेसुत्साहदिंद ॥१६५॥

अर्थ—कटाक्ष सहित देखकर प्रेम करने वाली, रतिमें आसक्त होने वाली देवांगनाओं या स्त्रियोंके साथ शारीरिक भोग भोगना चाहते हो तो जिनेन्द्रदेवकी आराधना करो ॥१६५॥

मत्तं चंदनकाश्मिरकर्पुरादि सुगंधद्रव्यंगळंपुसु वेनेंब चित्त मुळ्ळूडं, जिन-महाचीन दुकूलादिवस्त्रंगळनुडुवेनेंब मनमुळ्ळोडं. हारकेयूरकटककटिसूत्र कुंडलरत्नमुद्रिका मुकुटाद्याभरणंगळं तुडुवेनेंब मोहमुळ्ळोडं, कल्याणकरा-मृताहारंगळ नारोगि सुवेनेंब रिकेयुळ्ळोडं, मृदुशय्यातलदोळोरगुवेनेंबिच्छे-युळ्ळोडं, भोगोपभोगंगळननवरतमनु भविसुवेनेंब बगेयुळ्ळोडं. अर्हच्चरणं-गळं मनदर्तियिं पूजिसलुं सकलशास्त्रदानमनुत्साहदिं माडलुं सुपात्रकन्नमनल सदीयलुं चातुर्वर्ण्यक्के रोगापहारार्थमौषधदानमंमाडलुं समस्त जीवराशिगळ-गभयदानमनेळिदंगेय्यदे माडलुं सुखमनेय्दुगुमल्लदेंनिसु कुदिदोडं कळदोडं नेलनं पोक्कोडं भैरवं बैदोडं (बायं बिट्टोडं) बडिदुकोंडोडं द्रव्यमुळ्ळरं पोर्दिदोडं कम्मरिवाद्दोडं मोरेयिट्टोडं दोरेकोळ्ळदु ॥१६६॥

अर्थ—चन्दन, केशर, कर्पूर आदि सुगन्धित द्रव्यों की सुगन्ध लेना हो और शरीर में उन्हें चर्चित करना हो, चीन और महाचीन आदि वस्त्रों को पहन कर मनमाने सुख भोगने के इच्छुक हो तथा हार, केयूर, कटक, कटिसूत्र, कुण्डल, रत्न-मुद्रिका, मुकुट आदि आभरणों

को पहननेको इच्छा हो, कल्याणकारक अमृतादि अच्छे-अच्छे मिष्टान्न भोजन पान करने की इच्छा हो, मृदु शय्या, मखमली गद्दी आदि बिछौनों की इच्छा करते हो, अनेक प्रकार के भोगोपभोगों की इच्छा हो, तो आप श्रीअरहन्त भगवानके चरणों की मनःपूर्वक पूजा करो, आराधना करो । सम्पूर्ण शास्त्रोंका मनन करो । सत्पात्रोंको आहार-दान देनेकी इच्छा करो । चारों वर्णोंको औषध-दान करनेकी भावना करो । सम्पूर्ण जीव-राशि को अभय-दान देनेकी मनमें लालसा रक्खो । यदि इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान के मार्ग की इच्छा नहीं करोगे तो तुमको इच्छित सुखकी प्राप्ति नहीं होगी । बहुतसे व्यक्ति धर्म-पुरुषार्थके बिना अन्याय और अनीति (बेईमानी) करके, दूसरों को लूट करके सुख चाहते हैं, किन्तु धर्म-आचरण के बिना सुख प्राप्त नहीं हो सकता । पाप-मार्ग से इस जीव को कभी सुख और शान्ति न मिली है और न मिलने वाली है ॥१६६॥

अदुकारणदिं सुखदोळ्
पदुळं नेलसिर्पेनेंब मनमुळ्ळोडे मा ।
ळ्पुदु दानपूजेयेंबुद
नोदविद मनदेरकदिंद मोरंतगिं ॥१६७॥

अर्थ–इस कारण यदि तुम्हें जीवन सदा सुखमें व्यतीत करनेकी इच्छा है तो दान-पूजा इत्यादि धर्म-कर्मोंको सदा करते रहो । मनकी एकाग्रताके साथ धर्म कार्य करने से संसारके इच्छित सभी पदार्थ मिल जायेंगे ॥१६७॥

केम्मने पापहेतुगळोळतुडदु परत्रेयोळ् सुखमं बयसुवातं चोळमं बित्ति कळवेयं बय सुवेग्गनुमं बेविनाग्वेयनिट्टु माविन पण्णनरसुव गाविलनुमं कोणनं पोरेदु पालनर सुव गांपनुमं बिडदुग्यं कुट्टि पदेदक्कि यनरसुव बेळप-नुमं मळलंपिळिदेण्णेयनरसुव निर्बुद्धियुमं पोळकुमितु ॥१६८॥

अर्थ–धर्म का मार्ग समझे विना, पाप-मार्ग का अवलम्बन करके इहलोक और परलोक के सुख की इच्छा करने वाले मूर्ख हैं । जैसे कोई ज्वार बोकर धान की इच्छा करता हो या नीम का बीज बोकर आम की इच्छा करता हो । अथवा भैंस के बजाय भैंसे से दूध की इच्छा करे । उसी प्रकार सद्धर्म को छोड़कर पाप कर्म करके सुख चाहने वाला निर्बुद्धि है ।

पडेवें मोक्षमेनेंबोडे
कडेगणेसदे माडु धर्ममं दूर्तिदं ।
बडिदु बैदु कळदु
पडेवंतिरे मुक्ति मरुळ वडवन धनमे ॥१६९॥

अर्थ—यदि तुम शाश्वत सुख या मोक्ष प्राप्त करना चाहते हो तो तुमको धूर्ततासे सद्धर्म का तिरस्कार कर और पथिकों को लूटकर, मारकर पुण्य-बंध और धर्म-उपार्जन की इच्छा छोड़नी होगी ॥१६९॥

जिनपतिगेरगदे बल्ला
ळतनदिंद् माडिकोळवनेंबोडे सुखमं ।
तनगदु मोग्गादुदे मा
विनपणेंदोटियिक्कि नेगेवंते सुखं ॥१७०॥

अर्थ—भगवानको नमस्कार करने की इच्छा न करके जो सुख की प्राप्ति करना चाहता है, वह यह नहीं जानता कि ऊंचे वृक्ष पर लगे आमको जैसे बांस द्वारा तोड़ लिया जाता है, उस तरह मोक्ष-सुख नहीं मिलता ॥१७०॥

बलविं पात्रक्कन्नम
नलसेद् कुडददटनागि पडेवंते सुखं ।
सले मोग्गादुदे भाविपो
डेलेगळ नुचिगे कोळत्र तुंबेय बाडे ॥१७१॥

अर्थ—मनःपूर्वक सत्पात्रोंको दान न करके और पुण्य कर्मका संचय न करके जो यों ही सुख की प्राप्ति चाहते हैं, उन्हें कभी सुख नहीं मिलता। जैसे भ्रमर अनायास पुष्प की सुगन्धिको सूंघता है, इस प्रकार अनायास (विना धर्म आराधनाके) सुख नहीं मिलता १७१

जिनपतिगेरगदे मुनिग
ळगनवरतं भक्तिवेरसु बेसकेय्यदे कें ।
मने तोनेवु माणदरसा
ळतनदिं पुगुवंतु देवगति पाळमनेये ॥१७२॥

अर्थ–जिनेन्द्र देव को भक्ति-पूर्वक नमस्कार न करके, मुनिजनों से व्रत लेकर जो मन लगा कर उसका पालन नहीं करता किन्तु फिर भी राज्य-सुख या देवगतिकी इच्छा करता है, क्या कभी उसे सुख मिल सकता है? ।१७२।।

एनितुताळमरननेरिदोडं तलेगे कात्केळगेबंते धर्मदरिद्रंगमेनिसु कुदिदोडं दु:खमक्कुमल्लदे सुखमागलरियदु ॥१७३॥

अर्थ–जिस प्रकार उन्नत ताड़ वृक्ष का फल तोड़ना भाग्य और परिश्रमसे सफल होता है अन्यथा वृक्ष से गिर कर मरण हो जाता है, उसी प्रकार भाग्यहीन दरिद्र को कभी धर्म तथा सुखका लेश भी नहीं मिलता ।।१७३।।

परमजिनेश्वररं मुनि-
वररं पूजेसदे विट्टु कळनं पुगुवं ।
तिरे वीरवृत्तियिंदं
सुरलोकमनरण रंडयाळद पळल्लळ् ॥१७४॥

अर्थ–भगवान जिनेन्द्रदेव से द्वेष करने वाले, मुनियों का पूजन न करके, खल पुरुषोंको गुरु मानने वाले, वीर-चर्या [कठिन तप आचरण] से घबड़ा कर सुर-लोक के सुखों की इच्छा करने वाले लोग, अपनी स्त्री को छोड़कर वेश्या को अपनाने वालों के समान अपने दोनों लोकों को विगाड़ लेते हैं ।।१७४।।

मत्तं कर्मफलमं पेर्वोडे. करटद कदिंगने तिर्यग्जातियोळ् तिर्रने तिरिदु, कडगोलंते सुखासुखंगळं मूळमूळोळ् मनुष्यभवदोळुंडु, केरकं तुरिसु वंतेत्तानुमोमें राज्यलिलेयोळिदु तिरिदु बरंनेपलवुभवक्कोमें कर्मोपशमदिं देवलोकदोळाद सुखमनुभविसियुं, गाणदोळिक्किद कव्विननंते नरकदोळ् दु:खं बट्टुं, बेसगेय बिसिलगंजिवेय्यमरनं पोदु वंतानुं करीडगंजि पुलिय गुहेयं पुगुवंतानुं वेल्लद मोहक्के सुरगिय बायधारेयं नेक्कु वंतानुं कळ्ळंगंजिबेडवळ्ळियं पुगुवं तानुं तेळेंगंजि कडदुरुगूडुं पुगुवं तानु पुलिगंजि पुत्तवेरुवंतानुं (रक्कसिगंजि नेगळुळ्ळमडुवं वगुवंतानु) संसारदोळाद बडतनद कुत्तद तिरिगुत्तद राजबाधेय नंटरगत्केय (तेरय पोरेय) सीतद वातद बिसिल कळ्ळर बंदिकारर पिसुणर

धूर्तरदेसेयिंदप्प पीडेय साविन नोविन धनदहरणद पेंडिरोल्मेय पुरुडिन पसि-विन मुप्पिन पिरिद्प्पपमानद महादुःखमं कंडु मत्तुं मुडिगे जोळय तेन्नष्टियेंब नाळनुडियंते पापमने पेर्चिसि सत्तु नरकदोळाद् महादुःखमेंबग्निगे तम्म शरीर-मेंब पुळ्ळिगनिक्कु वरेदं सासिगरो ॥१७५॥

अर्थ—जो धर्म का मार्ग छोड़कर कुधर्म का सेवन करता है, उस जीव का क्या हाल होता है, यह बताते हैं—

कुधर्म का आचरण करने वाले जीव सदा चरखा के समान तिर्यंच गतिमें भ्रमण किया करते हैं। यदि उनको मनुष्य भव भी मिलता है तो उन्हें दरिद्रतामें सदा दुःखका ही अनुभव करना पड़ता है। कुछ पुण्य के उदयसे अगर थोड़ा राज्य भी प्राप्त होता है तो खुजलीकी तरह वह किंचित्-सुख दुःख का ही कारण बना रहता है। जैसे एक भिखारी को कर्मों के क्षयोपशम से देवगति मिल जाती है, किन्तु सद्धर्म से हीन होने के कारण उसे अनेक प्रकार के अपमान आदि का दुःख भोगना पड़ता है। तीव्र पाप के उदय से जीव जब नरक में जाता है, तब उसे गन्ने को जैसे कोल्हू में पेल दिया जाता है, इस प्रकार अनेक तरह के कष्ट भोगने पड़ते है। गर्मी से घबड़ा कर काँटे वाले पेड़ के नीचे जाने से जैसे कांटों के सिवाय और कुछ नहीं मिलता, इसी प्रकार नरक में कष्टोंके सिवाय और कुछ नहीं मिलता। रीछ से घबड़ा कर शेर की गुफा में जाने वाले के समान, मधु के स्वाद के लिये तलवारको चाटकर जीभ काटने वाले के समान, चोर से घबड़ा कर भीलों के आश्रय में जाने वाले के समान, बिच्छू से डर कर ततैया के छत्ते का आश्रय लेने के समान, व्याघ्र से घबड़ा कर सिंह के आश्रयमें आने वाले के समान, राक्षस से घबड़ा कर गहरे पानी में डूबने वाले के समान, धर्म से पराङ्मुख लोग पाप के कारण दरिद्रता, राजबाधा, लोक-बाधा, शीतबाधा, ग्रीष्म बाधा, काराग्रह बाधा, चुगलीखोरोंकी बाधा, धूर्तोंकी बाधा, प्राण-संकट, सहन करके अपने स्त्री-पुत्रोंके मोहसे दूसरों का धन हरण करके अनेक प्रकार के दुःख उठाते हैं। ज्वार बोनेका कठिन परिश्रम करके भी अन्तमें यदि छूँछ निकल आती है तो किसानको कुछ लाभ नहीं होता, इसी प्रकार अधर्म का आचरण करने वालों को दुःख ही दुःख उठाना पड़ता है। पाप करने से दुखी वृद्धावस्था, अपमान आदि अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं। पाप-संचय करने से नरकों में दुःखरूपी अग्नि में शरीर को देना पड़ता है ॥१७५॥

पोत्तिदनत्तिगे काणदे
तुत्तिल्लदे बडिये जडिये कंडवरेल्लं ।
चित्तोत्साहंगिडुव
मत्तनिसदे जैनपूजेयं किडसिदवर् ॥१७६॥

अर्थ–जो दूसरे मनुष्यों के द्वारा की गई भगवानकी पूजा में बाधा डालते हैं, वे नरक में अनेक कष्ट उठाते हैं। और वहाँ से आने के बाद उनको मनुष्य लोक में दुःख, दरिद्रता और अपमान उठाना पड़ता है ॥१७६॥

कय्योळदे कालेळदे
मेय्येल्लं तोन्नुगोंडु दुःखंबट्टा ।
पोय्यंदोळ रुत्तिपर
चर्यादि जिनेन्द्रधर्ममं पळीदवर्गळ् ॥१७७॥

अर्थ–ऐसा जीव यहाँ आकर लूला लंगड़ा हो जाता है। जो मनुष्य जिनेन्द्र भगवानके धर्म का लोप करते हैं, धर्म में अविश्वास करते हैं और दूसरों को धर्म से विचलित करते हैं, उनको कुष्ठ आदि रोगोंकी महावेदना उठानी पड़ती है ॥१७७॥

उणविल्लदे पसिविं बं
बलबाडि महात्तुधाग्नियिंदं पररं ।
गणदोळ् कुळिळर्पर्धा
रिणियोळ् मुन्नन्नदानमं किडिसिदवर् ॥१७८॥

अर्थ–घरमें भोजन का अभाव, कमाने पर भी कमाईमें कमी पड़ना, हमेशा भूखे रहना, भीख माँगना, दूसरोंकी दीनता-पूर्वक स्तुति करना, दूसरों से अपमान सहना, जिनेन्द्र भगवान के धर्म में बाधा पहुँचाने से होता है ॥१७८॥

एकाक्षरागि माणद
नेकव्याधिगळोळोंदितोन्निंदं त- ।
म्मा कारंगट्टु महा-
शोकान्वितरप्परमळपूजेयनरिदर् ॥१७९॥

अर्थ–जो लोग भगवानके नामका एक अक्षर भी उच्चारण नहीं करते हैं उन मनुष्यों को अनेक प्रकार की व्याधियोंमें ग्रस्त हो करके जन्मसे लेकर मरण पयन्त नाना प्रकारके कष्ट उठाने पड़ते हैं ।।१७९।।

मोंटागि कैगळरडुं
गेंटागिरे तनगे सिरियु कूळुं कालुं ।
कुंटागि नमेयुतिर्प
टेंन्टणिसि महातपंगळं किडिसिद्वर् ॥१८०॥

अर्थ–दोनों हाथों से लुंज, पांवों से लूला, शरीर में व्याधियां, विभूति रहने पर भी उनका भोग न हो सकना, यह सब अपनी और परकी तपस्या भंग करनेका फल है ॥१८०॥

कुरुडागे कण्गळरडुं
चरणंगळ् परिदु बीरे तोन्निदं मै ।
करगि कडुदुःखदिंदं
निरिविदानांतरायमं माडिद्वर् ॥१८१॥

अर्थ–दोनों आंखों से अन्धा, दोनों पांवों की और हाथों की उंगलियां तथा शरीर का गलना, दुखोंसे जर्जरित होना, यह सब दान में विघ्न करनेका फल है ॥१८१॥

नुनिवोडे नालगे पोरळदे
किडुगुं नेरे मूगनागि नमेगुं नयमं ।
नुडिदोडमदु कोंकक्कुं
जडिवपेंररोदिनं तरायद फलदिं ॥१८२॥

अर्थ–हकलाना, तोतला होना, गूंगा होना, स्पष्ट न बोलना, रुक-रुक कर बोलना, यह सब शास्त्र-स्वाध्याय में अन्तराय डालने का फल है ॥१८२॥

[बगेददु कूडदु कूडिद
बगेयुं किडुगेननेंदोडं कडुगळपं ।
जगदोळिवनेंदु नंकुव
रगणितशास्त्रांतरायकर्मद फलदिं ॥१८३॥

अर्थ–रात दिन अध्ययन करने पर भी ज्ञान की वृद्धि नहीं होना, रात दिन रटने पर भी पाठ याद नहीं होना, ज्ञान की अल्पता के कारण सर्वत्र निरादर होना, यह सब शास्त्र स्वाध्याय में अन्तराय करने के कारण होता है ॥१८३॥

सिरियेल्लं मंजिनवोल्
करगुगु कडुदुःखमोमेंमामेंगे करमु- ।
ब्बरमक्कुं तिरिदाडे कूर्
दोरेकोळ्ळदु पूजेयंनरायद फलदिं ॥१८४॥

अर्थ–कितना ही कमा लें, किन्तु वह नष्ट हो जाता है, पैसा रहता नहीं, पैसे के अभाव के कारण दुःख उठाना पड़ता है, भीख मांगनी पड़ती है, यह सब पूजा में अन्तराय डालने का फल है ॥१८४॥

तरुवलियागिपंनि
ष्ठुरदुःखमनेय्दु वर्दरिद्रितेयिदं ।
पिरिदप्प नोवनेयूदुव
रेरडिल्लदे दानदर्थमं कळदवर्गळ् ॥१८५॥

अर्थ–रात दिन कष्ट उठाने पर भी पैसा न मिलना, दरिद्रता का रहना, शरीर में रोग होना; यह सब पूजा का द्रव्य चुराने का फल है ॥१८५॥

स्मरतापमोदव भोगां-
तरमक्कुं नोडे कंडरल्लं कायूवर् ।
तिरदुगबर्मरुभवदोळ्
करमल्लदे पूजेयर्थमं कळदवर्गळ् ॥१८६॥

अर्थ–अनेक प्रकार की भोग-सामग्री घर में होने पर भी उसका भोग नहीं कर पाते, धनकी रक्षा करते रहने पर भी दूसरे लोग उसका भोग करते हैं, यह सब पूजा का द्रव्य चुराने का फल है ॥१८६॥

नायागि पुरितु कंड
पोयेंदिडे बेंदु नोंदु दुःखानलनिं ।

वार्य विट्टिरदेल्लियु
माया संबड्डुवरघसमन्वितरप्पर् ॥१८७॥

अर्थ—सदा लोभ कषाय से मायाचार करना, दूसरेके साथ ईर्ष्या करना, दूसरेको देखते ही विरोध की भावना होना, प्रेम से बोलने का भाव न होना, ऐसे कार्य करने से कुत्ते की योनि मिलती है ॥१८७॥

मत्तं मायावि नायागियुं महामायावि मोलनागियुं कोपि पुलियागियु महाकोपि सिंहनागियुं लोभियेय्यागियुं महालोभि चमरीमृगवागियुं मान-कषायि मानागियुं महामानकषायि पावागियुं (रौद्रं बेरुंडनागियुं महारौद्रं शरभ नागियुं गुणदूषकं पंदियागियुं कुमार्गानुरागि कोळियागियुं सद्धर्मद्वेषि पुल्लेयागियुं जातिमदमुळ्ळं बेक्कागियुं विद्यामदमुळ्ळं गूगेयागियुं] तपोमद-मुळ्ळं नायागियुं श्रीमदमुळ्ळं मोसळयागियुं रूपमदमुळ्ळं कत्तेयागियुं आज्ञामदमुळ्ळं तेरजेयागियुं पुसियुळ्ळं करडियागियुं हिंसानंदमुळ्ळं कुरि-यागियुं कळविनोळव्यसनमुळ्ळवनेत्तागियुं परवधूप्रियचित्तं कुदुरेयागियुं सप्त-व्यसनोपेतं सीनांयागियुं दुर्गुणपक्षपाति गिड्डुगनागियुं पुट्टि पेरिनमेले करेडयें-वंते पिरिदप्प पापमं नेरपि नरकदोळ् पुट्टि पलकालं सैरिसल्वारद महादुःखक्के भाजनरप्पर् ॥१८८॥

अर्थ—मायावी मनुष्य परभवमें कुत्ता होता है। महामायावी खरगोश होता है। तथा च क्रोधी व्याघ्र होता है। महाक्रोधी सिंह होता है। लोभी सांप होता है। महालोभी चमरी मृग होता है। मान कषाय वाला मछली होता है। महामानी अजगर होता है। रौद्र परि-णामी भेरुण्ड पक्षी होता है। महारौद्र परिणाम वाला शरभ होता है। गुणों का दूषक सूअर होता है। कुमार्गानुगामी मुर्गा होता है। सद्धर्मद्वेषी हिरण होता है। जाति-मद वाला बिडाल होता है। विद्या-मद वाला उल्लू होता है। तप-मद वाला कुत्ता होता है। ऐश्वर्य-मद वाला मगर होता है। रूप-मद वाला गधा होता है। आज्ञा-मद वाला लकड़बग्घा होता है। असत्य बोलने वाला रीछ होता है। हिंसानन्दी बकरा होता है। चोरी करने वाला, असत्य में रत रहने वाला, परस्त्री गमन करने वाला घोड़ा होता है। हमेशा सप्त व्यसन में

लगा रहने वाला लकड़बग्घा होता है। दुर्गुण पक्षपाती बूच होता है। इस प्रकार से पशु-गति के विविध दुःखों को भोग कर अन्त में नरक में नाना प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं। अतः तूने ऐसे पाप करके नरक को ही सामग्री संचित की है ॥१८८॥

[छुळेन्देरणे योळिक्कियुं त्वरितदिं कैगायदोरोर्वरं
गिळेन्दार्दिदिरागि बंदु तले जिरेर पोय्दुग्रदिं।
हळेन्देडिसि रक्तमं कुडिदु पेर्गेडळं सूसुतुं
गळेन्दोत्रदे तेगियुं मिडिगळं कुंटागे कोय्दुं खळर् ॥१८९॥

अर्थ—नरकको वेदनाका वर्णन किया जाय तो सुनकर मनुष्य घबड़ा जाता है। वहाँ पर उबलते हुए तेलमें डुबा करके निकालते हैं। फिर निकाल कर पुनः पुनः नारकियोंको नाना प्रकार के दुःख देते हैं। सिर से नीचे तक चीरते हैं। उनका रक्त पी जाते हैं। इनके ऊपर चिनगारी की वर्षा करते हैं। हाथ पैरों को काटते हैं। इस प्रकार तीव्र पाप का उदय होने पर नारकियों को दुःख मिलते हैं ॥१८९॥

पेर्गल्लिंदद पुत्तु
कर्गल्लं नेरसि तंदु बरियेल्वेल्लं।
नुर्गागि चिटिल्चिटिलेने
कुर्गुत्तुं नेलदो ळोरसि मेल्कुत्तुत्तं ॥१९०॥

अर्थ—इसके अतिरिक्त नारकी लोग दूसरे नारकियोंको पकड़ कर टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं। उन्हें जमीन में दबाकर पैरों से ठुकराते हैं ॥१९०॥

किरिकिरिदागिरे केरं
तीरददनरिदरिदुकोळ्ळियिदं मोगमं।
नरे चुर्चुत्तुं छन्नें
दरुगुरिगळ नेरवनरिदु पोगदे पेणेवर् ॥१९१॥

अर्थ—छोटी-चिनगारी लेकर आँख, नाक और मुंह में डाल देते हैं। मुंह में अग्नि डाल देते हैं, अग्नि से जला देते हैं। चमड़े को नोंचते हैं ॥१९१॥

बडिबडि तिवितिवि पोडेपोडे
कडिकडि तरितरि कडंदुरं पुण्णोळगिं
बिडुबिडु तलेयं तूंता
गडेयडे कोर्य कोर्य मगुळमगुळसीळर्देयं ॥१६२॥

अर्थ—नारकी कहते हैं मारो मारो, भोंक दो, टुकड़े-टुकड़े करो, हंटरसे मारो। मारने पर जब घाव हो जाता है तो एक कहता है, छोड़ो-छोड़ो। दूसरा उसके सिरमें छिद्र कर देता है। मारो काटो—इत्यादि प्रकार चिल्लाते हुए नारकी परस्पर दुःख देते हैं ॥१६२॥

अरिअरि पोर्यपोर्य सीळ्सीळ्
करिघटेयिंदिक्कि मेट्टिसवनेर्देयं सी।
कदुरियेणणे यनेरेयेरे तले
यरिदोवंदोळरि बीरे किडेनूंकुरियोळ् ॥१६३॥

अर्थ—पीसो-पीसो, काटो, चीरो, इस प्रकार कहते हुए नारकी हाथीके पाँवके नीचे दबा देते हैं, तपे हुए तेल में छोड़ देते हैं, जलती हुई अग्नि में डाल देते हैं ॥१६३॥

एंदु नानाप्रकारदिं नारकर्दंडिसुवरें) दिंतु किरिद्रोळ धर्माधर्मगळ फल मनरिपुवुदु मायावियप्प सूर्य मुन्निन तन्नाडिदाटक्कं बळिक्किन सेट्टिय माडिद माटक्कं मुन्निन कर्मद तीव्रतेगं बळिकिन तन्न मनदुपशमक्कं मुन्निन तन्न मनद कांक्षेगं बळिकिन तन्न निष्कांक्षेगं मुन्निन तन्न संसारदेरकक्कं बळिकिन तन्न संसार विरक्तगं बेरगागि ॥१६४॥

अर्थ—इस प्रकार नारकी नरक में परस्पर पापियोंको दण्ड देते हैं। धर्म-अधर्मकी क्रिया न जान कर जो मनुष्य इन्द्रिय-विषयों में प्रवृत्त रहता है, वह नरक में जाता है। मनुष्य का जन्म बड़ी कठिनतासे प्राप्त होता है। किन्तु जो इसे इन्द्रिय-सुख में बर्बाद कर देता है, वह घोर दुःख में पड़ता है।

सेठने उस चोर ब्रह्मचारी को समझाया कि हे मायावी! यदि तू इसी प्रकार मायाचार करके पाप करता रहा तो तुझे अभी भले ही अच्छा लगे, किन्तु अन्त में तुझे दुःख उठाना पड़ेगा। इस प्रकार सेठ द्वारा समझाने पर उस मायावी सूर्य चोर के हृदय पर उस उपदेश का अच्छा प्रभाव पड़ा। वह ऐसा अनुभव करने लगा कि मैंने धर्मके पवित्र वेषमें बड़ा पाप

किया। उसे पाप के प्रति घृणा हो गई, वह अपने पिछले पाप का मन में प्रायश्चित्त करने लगा। उसे संसार, शरीर और भोगों से वास्तविक वैराग्य हुआ ।।१६४।।

अळिपिंदीरत्नमनो
य्दिळगीशंगित्तु सत्तु नरकार्णवदोळ् ।
सुळेयदे बदुकिदेनिंतां
कळवंदुदु सफलमायतु पुण्णोदयदिं ॥१६५॥

अर्थ—मैं इन्द्रिय-सुख के लोभ से इस रत्न को राजा को देता और उससे आधा राज्य लेकर अन्तमें नरकको प्राप्त होता। इस धर्मात्मा सेठके कारण मैं नरकमें जानेसे बच गया। मेरे भाग्य का उदय है कि मुझे इनका संसर्ग हुआ, इनका उपदेश मिला और नरकसे बच गया।

नोंतर्गे पुरिदु बित्तिदो-
डं तडेयदे बेळगुमेंब नाळ्नुडियंतो ।
रंते लघुकर्मियप्पं
गं तत्क्षणदिं सुदर्शनं दोरेकोळगुं ॥१६६॥

अर्थ—जैसे कोई किसान पानी पड़ते ही बीज बोता है और तत्काल अंकुर उत्पन्न हो जाता है। उसी प्रकार जिनेन्द्रदत्त सेठ का उपदेश-बीज मेरे हृदय-भूमिमें पड़ते ही धर्मरूपी अंकुर उत्पन्न हो गया। यह मेरे अत्यन्त पुण्यका उदय था कि मुझे इनकी संगति प्राप्त हुई और मनुष्य जन्म को सफल बनाने का अवसर मिल गया। जब मनुष्य के पुण्य का उदय आता है। तब उसका पूर्व-संचित पाप भी पुण्य रूप हो जाता है ।।१६६।।

आनेके, वीरकुमारनंदु कळविन मातनाडुवुदेके, चोरप्रधाननीरत्नमं पोगळवुदेके, कुमारनदक्के बयसि तद्रत्नमं तंदंगर्धराज्यमं कुडुवेनेंबुदेके, नृपसुतन मातनेल्लमिदंतां कैकोळवुदेके, मायातपमं पोण्मुदेके, मेल्लने कळदु कोंडु पोपुदेके, यितळारं काणबुदेके, नांभयदिंदत्तित्तलोडदे जिनेन्द्रभक्तिन बीडं बंदु पुगुवुदेके, मत्ती महापुरुषनिंदं सद्धर्मं दोरेकोळवुदेके, भाविपोडिवेल्लं जिनेन्द्रभक्तसेट्टिय प्रसाददिं दोरेकोंडुदेंतुमुपदेशं गोट्टर् ऋणंगोट्टरेंब नाळनुडियुंटदरिनेनगे ॥१६७॥

अर्थ—मेरी होनहार ही ऐसी थी । वीरकुमार राजकुमार के आगे रत्नका वर्णन करना, वीरकुमार द्वारा रत्न के बदले में आधा राज्य देने की प्रतिज्ञा करना, मेरा रत्न लाने का बीड़ा उठाना और त्यागी वेष लेकर तपस्या करना, फिर रत्न चुराने की योजना बनाना, रत्न चुराना, कोतवाल द्वारा पीछा करने पर यहाँ आना और सेठ द्वारा बचाना, यह सब मेरे भाग्य द्वारा ही हुआ । पूर्व जन्म के कर्मों के कारण मेरी होनहार ही ऐसी थी कि इस महापुरुषसे मुझे उपदेश मिला । सद्धर्मके प्रसाद से मुझे यह पुण्य अवसर मिला है । यह भी पूर्व जन्म के पुण्य का उदय है ।।१६७।।

ईतने मित्रनीतने सहोदरनीतनेपेत्त तंदे म-
त्तीतने देवनीतने सुबांधवनीतने कूर्मेयाणमर्नि ।
तीतने पज्जनज्जनेनगीतने तार्य पेरतेनो भाविपं
दीतने नोळपुडाप्तनेनगिष्टनुमातने भूतळाग्रदोळ् ॥१६८॥

अर्थ—इस जगत में मेरा वास्तविक मित्र यही है । सहोदर भ्राता यही है, पिता यही है, देव यही है, सुबान्धव यही है, विश्वासी यही है, दादा-परदादा यही है, माता यही है, सच-मुच मेरे लिये इस जगत में मेरे माता-पिता यही हैं । इन्हीं के कारण आज मेरा कल्याण हुआ है ।।१६८।।

एनगेंदु दोरेकोळ्ळद
जिनधर्मं सादुदीमहात्म निनदरिं ।
देनगीतने जीवं म-
त्तेनगी वैश्यात्म भवने कणणुं मतियुं ॥१६६॥

अर्थ—मुझे संसारमें परिभ्रमण करते-करते आज इसी सेठ के द्वारा जैनधर्म प्राप्त हुआ है । इसी महात्माके कारण मुझे सच्चे मार्गको प्राप्ति हुई है । यह सच्चा महात्मा है, साधु है, जीवोंका यही कल्याण करने वाला है । इसके सिवाय संसारमें मेरे लिये कोई नहीं है ।

खरकर नुदंयंगेयूयदे
सरसिरुह्रा बळिगळ लरलरि गुमे जीवो ।
त्करमुं पेड् सद्धर्म
दोरे कोळ्ळदे तमगे तावे तिळिववे धरेयोळ् ॥२००॥

अर्थ—सूर्य के उदय हुए विना कमल कभी-खिल नहीं सकता। इसी तरह इस जीव को सद्धर्म का उदय हुए विना स्व और पर का ज्ञान नहीं हो सकता। अनादि काल से अज्ञान-रूपी अन्धकार में रहने वाले मुझे इस सेठकी वाणी रूपी किरण मेरे हृदयमें पड़ते ही सद्धर्म को प्राप्ति हुई है ॥२००॥

हिमकरनुदयं गेय्यदे
तमोंधकारं तेरळदु पोकुमे जैना- ।
गममं भ्रांतिंदरिवर्
क्रमदिंदं पेळदधकुलं केट्टपुदे ॥२०१॥

अर्थ—चन्द्रमा का उदय हुए विना रात्रि का अन्धकार नष्ट नहीं होता। इसी प्रकार जैनागमके निर्भ्रान्त ज्ञानका उदय जब तक नहीं होता, तब तक अज्ञान और मोह-अन्धकार का नाश नहीं हो सकता ॥२०१॥

तनगोरंतिरे धर्मम
ननवरतं कीरि तोरि पेळवने नंटं ।
तनगोरंतिरे पापम
ननवरतं कीरि तोरि पेळवने पगेवं ॥२०२॥

अर्थ—संसारमें जिन्होंने अपने आप को धर्ममार्गमें लगा दिया है और जो दूसरोंका हित करने वाले हैं, वे हमारे सम्बन्धी हैं। सदा पाप-मार्ग से हटाकर पुण्य-मार्ग में जो लगाते हैं, वे हमारे मित्र हैं ॥२०२॥

एंदु भाविसि सद्धर्मं कैसादु दक्के मनदोळ् गुडिगट्टि महोत्सवदिं मेय्य-रियदे हर्षचित्तदिं वात्सल्य-रत्नाकरनं पादपद्मंगळ्गळगि तन्नमुन्निन माया-प्रपंचमं पेळदु ॥२०३॥

अर्थ—इस प्रकार भावना करते हुए वह सद्धर्म की प्राप्ति से आनन्दित हो गया। और वात्सल्य-रत्नाकर जिनेन्द्रदत्त सेठ के वचनों में रंचमात्र भी शंका न करके उनके चरणों में गिर गया। उसकी आँखों से आनन्द के आँसू बहने लगे। तब उसने अपना सारा मायाचार उनसे निवेदन कर दिया ॥२०३॥

निन्दिमेनगे सद्ध-
र्म नयदिं सादुदरि नेनगुर्वरेयोळ् ।
निन्नन्नरोळरे मित्रर्
सन्नुतगुणनिळयवंश वैश्यललामा ॥२०४॥

अर्थ—हे वैश्य-ललाम ! आपके प्रसाद से मैं ऐसा अनुभव कर रहा हूं कि जैसे मैं स्वर्ग में हूँ। मुझे संसार में ऐसा अनुभव हो रहा है कि अब मुझे कभी दुःख नहीं होगा। आपके प्रसाद से मुझे जो सद्धर्म की प्राप्ति हुई है, उससे ऐसा लगता है कि मुझे अक्षय अमृत की प्राप्ति हुई है। आप ही मेरे भाई, पिता, मित्र और हित-चिन्तक हैं। आज आपके हाथोंसे मेरा उद्धार हो गया, मेरा जीवन सफल हो गया ॥२०४॥

वरणागियुं मतियागियुं नीने शरणेनगे पेररोर्वरुमिल्लेन्न मुन्निनपोल्लमे गळं कैकोळ्ळद् कारुण्यदिंदं निम्म धर्माभिप्रायमनिन्नुं दयेगेय्वुदेंदु कैगळं मुगिदु विनयदिंदिर्पुमं सम्यक्त्वचूडामणि सूर्यंगिंतेंदं ॥२०५।

अर्थ—आज मुझे आपने ज्ञान-नेत्र दिया है, सद्बुद्धि दी है। आप ही मेरे शरण हैं। जगत में आपके अतिरिक्त और कोई मेरा नहीं है। आपने धर्म का वास्तविक रहस्य मुझे समझा दिया है। धर्म वस्तुतः शाश्वत सुख देने वाला है। अतः अब आप मुझे कल्याण करने वाले व्रत रूपी रत्न को दे दीजिये। इस प्रकार कह कर वह विनयसे हाथ जोड़ने लगा। यह बात सुनकर सम्यक्त्वचूडामणि जिनेन्द्रदत्त सेठ उस सूर्य चोर से इस प्रकार कहने लगा—

चदुरनेनिप्पं मिथ्या-
त्वद् बारिगे पोगि बिद्दु संसारसमु- ।
द्रदोळदु किडदे मुन्नमे-
पदुळिगनागरिदु पिडिवुदीदर्शनमं ॥२०६॥

अर्थ—हे चतुर ! बुद्धिमान् ! जो मैंने तुम्हें धर्म समझाया है, उस सद्धर्म पर गाढ़ श्रद्धान रखना और मिथ्यात्वको किसी प्रकार हृदयमें न आने देना। श्रद्धानको मलिन न होने देना और भगवानके वचनों पर किसी प्रकार शंका न करना। इसीका नाम सम्यग्दर्शन है २०६

अंतु शुद्ध दर्शनमं संशयंगिडदे तिलिदु नंबि बलिक्कमतिशयसुखनिळय-मप्प निर्वृति श्रेयनेय्दिसुव श्रावकधर्मदोळक्के नडेवुदु ॥२०७॥

अर्थ–इस प्रकार शुद्ध सम्यक् दर्शन को ग्रहण करना, जिनवाणी में संशय न करना। आत्म-श्रद्धासे सदा अपनेको आनन्दित अनुभव करना, यह सम्यक्दर्शन है। इस सम्यक्दर्शन को प्राप्त करना और उसके द्वारा मोक्षको प्राप्त करना यह श्रावकका मुख्य कर्तव्य है।२०७।

यति धर्ममेंबुद्दु नि-
र्वृत्तिवनितेय तोट्ट तोडवु जयलक्ष्मिय रं।
जितमप्प जव्वनं सं-
सृतिवनितेय सोभगु कीर्तिलक्ष्मियनिळयं ॥२०८॥

अर्थ–मुनि-धर्म मोक्ष-लक्ष्मीको साक्षात् प्राप्त कराने वाला है। संसारके दुःखोंका अन्त करने वाला है, जयलक्ष्मीको प्राप्त करने वाला और सदा सुख देने वाला है एवं कीर्ति तथा लक्ष्मी का निवास घर है ॥२०८॥

एनिसि महिमेवडेद यतिधर्मदोळ् नडेवातं मूळोत्तरगुणंगळोजेवेरसु सवलदोषंगलुं तन्नं पोर्ददंतागे नडेवुदु पालं कायिसुवरंते मनमं बेदर्र्लीयदे, दुर्भावमं बिट्टु दुर्जनरं सार्दे दुराचारंगळं पोर्ददागममं पोर्दि नडुगडलोळ् परुगोलं नडेयिसुवं बिगनंते दुर्मार्गमेंब तेरेगळं वंचिसि मिथ्यात्वमेंब सुळि-गळं तप्पिसि विषयंगळंब पोयल् ग ळं सार लीयदे क्रियेसहितं शुभध्यानदिं संसारमेंब महानदियं दाटुवुदु ॥२०९॥

अर्थ–इसकी महिमा अपार है। मुनि-धर्म को पालने वाले मूल गुणों और उत्तर गुणों का निरतिचार पालन करते हुए उसमें दोष नहीं लगने देते। दूध उबलते समय जैसे बुद-बुद करता है, इस प्रकार मुनि अपने मन में शंका, चंचलता नहीं आने देता। दुर्भाव दुरा-चार से भयभीत रहता है। दुर्मार्ग और दुर्जनों का संसर्ग नहीं करता। जैसे नाविक पत-वार द्वारा नाव को इधर-उधर नहीं जाने देता। इसी प्रकार मुनि अपनी जीवन नौकाको विषय कषायों की नाना प्रकार की चंचलता की तरंगों से शुद्धोपयोग द्वारा बचाते रहते हैं। दुर्वृत्त रूपी मगरों से अपना उपयोग विचलित नहीं होने देते। इन्द्रिय-विषय रूपी मत्स्यों से इन्द्रिय-निग्रह द्वारा अपने आपको बचाते रहते हैं ॥२०९॥

श्रावकधर्मं कीर्ति-
श्रीवनितेय कुचयुगं महीवनितेय वाक् ।
श्रीवनितेय लावण्यं
श्रीवनितेय जयलतांगियुडुवदुकूलं ॥२१०॥

अर्थ—श्रावक-धर्म कीर्ति-लक्ष्मी के कुचयुगल के समान है, वाणी रूपी लक्ष्मी को सुन्दरता प्रदान करता है और जयलक्ष्मीको सुन्दरवस्त्र प्रदान करने वाला है ॥२१०॥

एनिसि पॆंपुवडेद श्रावकधर्मदोळ् नडेवातं दानपुजे श्रीलोपवासंगळं कुंद-लीयदे सुव्रत वर्धमान नागि दृढाचारदिं समुद्रदोळ् भैत्रमं नडेयिसुवंते दुश्शं-कितमॆंब कळ्ळरं पोदु लीयदे दुराचारमॆंब तेरेगळं तप्पिसि अळिनेगळतयॆंब मोसळयं तोलगिसि संशयमॆंब महामत्स्य मनोसरिसि मिथ्यात्वमॆंब नेगळॆंगोळ गागदे तप्पमं वासुवळंते चित्तमनगललीयदे जिनागमदोजेयिं नडेदु संसार-समुद्र मनुपायदिं कळिपुवुदु ॥२११॥

अर्थ—इस श्रावक धर्मका आचरण करने वाले दान, पूजा, शील, उपवास आदिमें किसी प्रकारकी मलिनता नहीं आने देते। श्रावकधर्म सुव्रतोंकी वृद्धि कर दृढ़ आचरण द्वारा संसार सागरसे पार होनेके लिए जहाजके समान है। वह दुश्शंकित रूपी चोरको आनेका अवकाश नहीं देता, दुराचाररूपी तरंगों से बचाकर, रागरूपी मगरोंसे रक्षा करता हुआ, संशयरूपी मच्छों को हटा करके धर्मरूपी जहाजको बचाने की चेष्टा करता है। जैसे घीको तपाती हुई स्त्री अपने उपयोगको इधर-उधर नहीं जाने देती, उसी प्रकार वह ध्यान द्वारा अपने उपयोग को इधर उधर न जाने देकर कर्मों के नाश का प्रयत्न करता है। श्रावक को जिनागम का अभ्यास करते हुए अपने चारित्र में दृढ़ रह कर सदा कर्मके क्षयका उपाय करना चाहिए।

मेल्लने मेळिसि पर्चुव
लल्लयिसुव पेररनट्टि दूरुव पल्लवुं ।
पोल्लमेयं कलिसुव मुनि
यल्लि जिनोक्तियने केळलागदु चतुरं ॥२१२॥

अर्थ—निर्ग्रन्थ जैन साधुओं में दूसरों को उन्मार्ग (कुमार्ग) पर चलाने की, दूसरों से

द्वेष करने की तथा पापाचार की ओर लगाने की प्रवृत्ति नहीं होती। दिगम्बर साधु सदा अपने वचन और मार्ग पर दृढ़ रहते हैं, दूसरों को भी सन्मार्ग पर लगाते हैं और शत्रु-मित्र में समदृष्टि रखते हैं। उनके विरुद्ध अनेक लोग साधु वेष तो धारण कर लेते हैं किन्तु अनेक प्रकार के पापाचार की प्रवृत्ति करते हैं। वे जिनेन्द्र भगवान के मार्ग तक नहीं फटकते। ऐसे व्यक्ति से कभी धर्म का उपदेश नहीं सुनना चाहिए ॥२१२॥

पेररं दूरुवरोळ् तेर
नरियदे नुडिववरोळागमार्थमनेनें ।
मरियदरोळ् पुरुडिगरोळ्
बरुदलेयेंदेळसि केललागदु पुरुषं ॥२१३॥

अर्थ—दूसरों की निन्दा और तिरस्कार करने वाले, धर्म-मार्ग को न समझ कर यद्वा-तद्वा मनगढन्त बोलने वाले, आगम का स्वेच्छा से अर्थ करने वाले, जैन सिद्धान्त के मर्म को न जानने वाले, ऐसे पाखण्डी पुरुषों से धर्म-श्रवण नहीं करना चाहिए ॥२१३॥

अल्लल्लिगे भाविसुवं
देल्लगं नुडिव बरमेयिं तपर्दिंदं ।
बेल्लंपच्चंतिरे कर
मोळ्ळिळदरिवरेनिपरल्लि केळवुदु कथेयं ॥२१४॥

अर्थ—कोई भी उपसर्ग आवे, चाहे कोई निन्दा करे फिर भी तप से न डिगने वाले, श्रीजिनेन्द्र देव पर श्रद्धान रखने वाले, दूसरों के बहकावे में न आने वाले, ध्यान-अध्ययन और तप में सदा लीन रहने वाले साधुओं के पास धर्म का उपदेश सुनना चाहिए ॥२१४॥

पुरुळिल्लरोळ् नुडियोळ्
परिणतरोळ् पक्षमिल्लदवरोळ् गुणदोळ् ।
पिरियरेनिप वरोळधकुल
विरहिरोळ् केळवुदागमार्थमनरिर्विं ॥२१५॥

अर्थ—जिनके वचन सारगर्भित हैं, जिनकी धर्म में सदा परिणति है, जो पक्षपात रहित हैं, जिनकी अच्छे गुणों में रुचि है, जिनके मुख से पापाचार का कभी वचन नहीं निकलता, जो सम्पूर्ण जीवोंका सदा कल्याण चाहते हैं, उनके मुखसे आगमका अर्थ सुनना चाहिए।

जिनगेहालियोळुन्नत
मुनिवररोळ् भव्यततियोळादरमं ने- ।
ट्टने माळप तत्त्वविद्रोळ्
जिनमतमं केळग सौख्यमं बयसुववं ॥२१६॥

अर्थ—भगवान जिनेश्वर के मंदिर में, उन्नत चारित्र-निष्ठ मुनियों में, धार्मिक समुदायमें सदा आदर बुद्धि रखने वाले, तत्व में अन्यथा भावना न करने वाले, सदा मोक्षाभिलाषी जीव ही गुरु के निकट बैठकर जिनमत को सुनने के पात्र होते हैं ॥२१६॥

मत्तं जिनागमार्थगळं संबंधिसलरियदे दुराग्रहर्दिदाने देवरेंदु डोळ्ळुमं पोरगण काय-क्लेशमुमं तोरि पावं पेत्तवर्बेलियं पोक्करेंबंते तम्म नुडिदुदने तलेमुट्ट साधिसि बायं बडिदाविन करुवनम्मेगे बिट्टेम्मे यकरुवनाविंगे बिडुवंते नानुमनेक्क सक्क मनेणगोणं गळं पेळवरल्लि जिनतत्त्वमं सूक्ष्ममतियप्पवं केळवेड ॥२१७॥

अर्थ—जो लोग जैनागमका अर्थ नहीं जानते, फिर भी दुराग्रह से 'मैं ही देव हूं' 'मैं ही गुरु हूं' इस प्रकार अपने आप को मान कर बाह्य आडम्बर के साथ काय-क्लेश करते हैं, और लोगों को तपश्चर्या का महत्व बतलाते हैं, वे कांचुली छोड़कर भीतर विषैले सांप के समान बाहर काय-क्लेश करके अन्तरंग में कषायों का पोषण करते हैं। लोगों को उन्मार्ग पर ले जाते हैं। जैसे भैंस के बच्चे को गाय के स्तन में लगा देना तथा गाय के बछड़े को भैंसके स्तनोंसे लगा देना असंगत है, उसी प्रकार धर्म को अधर्म या अधर्मको धर्म बतलाकर वे लोग जिनेन्द्रमतके विद्वेषी हो जाते हैं। ऐसे लोगोंसे धर्म-वार्ता कभी नहीं सुननी चाहिये।

इल्लिगिदुचित्तं तक्कदि
दिल्लिगेदेंद रिदु संद सूत्रार्थमनं
तल्लल्लिगे विपरीतते
यिल्लदे पेळववरोळोल्दु केळगागममं ॥२१८॥

अर्थ—जो सूत्र का उल्टा अर्थ करके अपने मत की पुष्टि करते हैं, लोगों को बहकाते हैं ऐसे लोगों से कभी धर्म नहीं सुनना चाहिए ॥२१८॥

मत्तं केळवातनुं परिणतनागि केळल्वेळवुददेंसेंदोडे, पात्रमं नोडलेंदु पोपातं मुंदोंदेडे योळगे पोपातनाडळयेंदोडे मगुळदनेंबंते माडदे तल्लेयेंदोडे तळयेंदु पुल्लेयेंदोडे पुलियेंदु विपरीतमं कैकोळदे कैळवुदु ॥२१९॥

अर्थ–जो उत्सूत्र सुनता है, उसमें परिणति करता है, 'यही सत्‌शास्त्र है' ऐसा विश्वास करता है और पात्र-अपात्र का विचार न करके कुपात्रको पात्र मानता है, वह सदा संसार-समुद्र में गोते खाता है। दूसरों की देखादेखी वह अपात्रोंका विश्वास करने लगता है। ऐसे श्रोता और वक्ता दोनों ही जैनधर्मका मर्म नहीं समझते और वे जिनेन्द्र-मतको सुनने सुनाने के पात्र नहीं हैं ॥२१९॥

श्रावकनप्पं नेरेस
द् छावदि नेसगुवुदु नाल्कुधर्मं गळोळं ।
भावक नेनिसुव मुनियुं
सावद्यं सारदंतु नडेवुदु दयेयिं ॥२२०॥

अर्थ–श्रावक को चतुर्विध संघ से वात्सल्य रखना चाहिए और साधु को सावद्य मार्ग से तथा हिंसा से बचने में सावधान रहना चाहिए ॥२२०॥

वरसंयमियेनिपुदु दु-
र्धरतपदिं निष्कषायदिं मुनियेनिपं ।
परमश्रावकनेनिपं
करमोळ्ळिदनेनिपुदेसेव दानादिगळोळ् ॥२२१॥

अर्थ–जो श्रेष्ठ संयम से, दुर्द्धर तप से, निष्कषाय भाव से सहित है, वह मुनि कहलाता है, वह सम्पूर्ण जीवों का हित करने वाले मार्ग को कहने वाला होता है। तथा श्रेष्ठ श्रावक मन-वचन-काय से सदा चार प्रकार के दान करने में लगा रहता है। २२१॥

एंतीगळ् सूर्यगो-
रंतिर तीव्रोष्ण मोप्पुगुं भाविसुवं ।
दंते तपस्विगळ् गमदों
रंतोप्पुगु निस्पृहत्वमुं संयममुं ॥२२२॥

अर्थ—आज भी कठोर तपश्चर्या करने वाले, तीव्र धूप में खड़े रह कर तप करने वाले संयमी विद्यमान हैं। वे शरीर से मोह त्याग कर अपने संयममें दत्त-चित्त रहते हैं।२२२।

जलजातविरोधिगे श्री-
तळमोप्पुमागळंतु तानंते मही-
तलदोळुपासकनप्पं
तळवट्टोप्पुगु महोन्नतिक्केय दानं ॥२२३॥

अर्थ—जैसे जलचर जीवोंको शीतलता प्रदान करनेसे उनका वंश बढ़ता है, उसी प्रकार श्रावक सुपात्रको दान देता है तो उसका वह दान महोन्नति करने वाला होता है ॥२२३॥

दानदोळं पूजेयोळं
तानोळ्दिदर्नेनिपुद वनियोळुपासकनिं ।
ध्यानदोळं संयमदोळ
मेनिवर्स्वरेयोळधिकरेनिपुदु मुनिपर् ॥२२४॥

अर्थ—दान-पूजामें सदा रुचि रखने वाला, (दान-पूजा) मुझको भविष्यमें मुक्ति सुख-प्रदान करनेवाले हैं, ऐसा समझकर जो श्रद्धान-पूर्वक दान-पूजा करता है, वह श्रावकोत्तम कहलाता है और जो ध्यान तथा संयम में लीन रहकर आत्मोन्नति करता है, वह साधु कहलाता है।

एत्तिंगे पिणिलोप्पुगुमल्लदे केच्चलोप्पदाविंगे केच्च लोप्पगुमल्लदे पिणिलोप्पदु पुरुषंगेगड्ड मासेयोप्पुगुमल्लदे पेर्मोलेगळोप्पवु स्त्रीयर्गेपेर्मोले गळोप्पुगुमल्लदे गड्डमासेयोप्पवदरिं गृहस्थंगे दानादि धर्मगळोप्पुगु मल्लदे तपदोळादाचरणेयोप्पदु तपस्विगं ध्यानाध्ययनसंयमादि गळोप्पुगुमल्लदे गृहस्थाचरण मोप्पदुदुकारणदिं तंतम्म मेरयं दाटवेडा ॥२२५॥

अर्थ—बैल अपने कन्धे के कारण शोभायमान होता है। गाय के स्तन न हों तो गायकी शोभा नहीं। मूंछ होनेसे पुरुषकी शोभा होती है और स्त्रियों की शोभा उनके स्तनोंसे होती है। दाढ़ी मूंछ होने से स्त्रियों की शोभा नहीं होती, और दाढ़ी मूंछ न होने से पुरुष की शोभा नहीं है। इसी प्रकार दान-पूजा आदि से श्रावक की शोभा होती है और ध्यान-अध्ययनसे साधुकी शोभा होती है। बिना इनके श्रावक और साधुओंकी शोभा नहीं होती।

सोडरु किर्चीकिर्चु
गड किर्च तेरडुमेसेव नंटर्तनगा ।
दोडे गाळि मसगि सोडरं
किडिमुववोल् किर्चनेके किडिसदो मुनिसिं ॥२२६॥

अर्थ–दीपक की आग से चिनगारी और चिनगारी से आग पैदा होती है। हवा चलने पर वह दूसरे पदार्थोंको जला देती है। इसी प्रकार संसार-सम्बन्धी भाई-बन्धु कषाय उत्पन्न करके विपरीत होकर व्यवहार को नष्ट कर देते हैं। उसी तरह श्रावक और साधु अपने कर्तव्य से विमुख होने पर अपने श्रावक और साधुके मार्गको बिगाड़ देते हैं। इसलिये दान-पूजासे श्रावक और ध्यान अध्ययन से साधु आत्मा के कर्ममल को भस्म कर देते हैं।२२६।

अंते तपस्विगप्पाचारमणुव्रतिगळवडदु; अणुव्रतं गप्पाचारं तपस्विगळवडदु; मुन्नं दानदिं पूजेयिं शीलदिंदुपवासदिंदनंतसुखमनेय्दिद श्रीषेणमहाराजनधन्यकुमारन करिकंठमहाराजन सौधर्मेन्द्रन सीतादेविय महादेविय नागकुमारन योधनमुंडन कथेगळं केळदु नंत्रि दानादि धर्मदोळसगुवुदु ॥२२७॥

अर्थ–इस प्रकार तपश्चरण की वृद्धि के लिये श्रावक को पांच पापों का त्याग करके पांच अणुव्रतों को धारण करना चाहिये। उन अणुव्रतों के कारण वह तपस्वी बन जाता है। दान-पूजा-शील उपवास आदि द्वारा जिन्होंने परम्परा से अनन्त सुख प्राप्त किया उन श्रीषेण महाराज, धन्यकुमार, करिकण्डु, सौधर्मेन्द्र, इन्द्राणी, सीता महादेवी, नागकुमार, योध मुण्डि आदि महान व्यक्तियों की कथा को सुन कर दान आदि में अपनी भावना को बढ़ाना चाहिए ॥२२७॥

दानादिगळोळ् नेगळल्
तानारदे पेनियप्पवं मुनिवरनुं ।
तानप्पेनेंदु दूर्ति
मोसंगोंडिर्दोडागदक्षयसौख्यं ॥२२८

अर्थ–दानादि का अहंकार करने से मनुष्य सिर के जूं की तरह नीच गति का बन्ध करता है, उसका महत्व जाता रहता है और साधु अपने तप का अभिमान करने से कभी उन्नति नहीं कर पाता। अतः श्री जिनेन्द्र भगवानके वचनों पर श्रद्धान रखकर अहंकार का

त्याग कर देना चाहिए ॥२२८॥

परम श्रीपतिशांतितीर्थंकरन त्यानंददिं दानमं
सिरिषेणावनिपालनाद् भवदोळ् तां माडे तद्दानदिं ।
पिरिदप्पुन्नतिवेत्तु नोड कडेयोळ् निर्वाणलक्ष्मि मनो-
हरनादं दृढभक्तिदिं सुजनरुं माळकर्तियिं दानमं ॥२२६॥

अर्थ—हे सूर्य ! सुनो । मोक्षलक्ष्मी के अधिपति श्री शान्तिनाथ तीर्थंकर ने पहले भव में श्रीषेण राजा की पर्याय में दिये हुए दान के प्रभाव से अत्यन्त उन्नत पद (तीर्थंकर पद) प्राप्त किया और अन्त में वह मोक्षलक्ष्मी के पति बन गये । इस लिये दृढ़ भावना के साथ सदा चारों प्रकार के दान करने चाहिए ॥२२६॥

अंते दानचतुष्टयदिं पुण्यबंधमक्कु मा पुण्यबंधदिं क्रमक्रमदिं निर्वाण-साम्राज्यं दोरे कोळ्गुमें बुदं शांति तीर्थेश्वरन कथांतरदिंदरिदु वेणकचंगेडेवर मातं केळदु दानादि गळोळप्पर्थव्ययक्के मनदोळ् मरुगि माडवेड ॥२३०॥

अर्थ—चार प्रकार के दान से पुण्यानुबंधी पुण्य हो जाता है । वह पुण्य क्रमसे निर्वाण-साम्राज्य की प्राप्ति कराता है । यदि दान की विशेषता को समझना हो तो शान्तिनाथ भगवान की कथा को सुनना चाहिए और दाम्भिक लोगों के बहकाने में न आकर दान-पूजा करना नहीं छोड़ देना चाहिए ॥२३०॥

तपद नेगळतेगे बेस-
त्तु पवासक्कलसि मनदोळागममं तां ।
चपळतेयिंद महर्निश
मुपायदिं पिडिव मुनिगे निर्वृति दूरं ॥२३१॥

अर्थ—तपश्चर्यासे घबड़ा कर तथा शास्त्रानुसार सच्चारित्र, के आचरणसे व्याकुल होकर कायर पुरुष अपनी इच्छासे अन्य मार्ग निकाल लेते हैं । ऐसा स्वच्छन्द मुनि मोक्षमार्गसे दूर बना रहता है ॥२३१॥

नम्म सेट्टिय मातोळ्ळिदुवु बळ्ळं किरिदेंवंते माडदे प्रथम तीर्थेश्वरनंते मेय्य मोह मिल्लदे सनत्कुमार मुनियंते जिह्वालंपटतेयिल्लदे बाहुबलियंते

निंदेडेयिं तळरदे गुरुदत्तमुनियंते घोरोपसर्गक्के तल्लणिसदे कुमारस्वामियंते चित्तदोळळकदे धैर्यसमन्वितनागिर्पोडे केवलध्यानमोप्पुगुं ई कालदवर्गळ् दर्शन शुद्धरागि तपोदोळोळ्ळि दरेनिसि नडेवुदु; नडेये पुण्यबंध मक्कु मापुण्यबंधदिं अष्टविधकर्मंगळं निर्मूलं माळय शक्तिदोरेकोळ्गु मदु दोरेकोळ कैवल्यलक्ष्मि कैसार्गुमदरिं क्रियेसहितं तपोमार्ग दोळसगुवुदु ॥२३२॥

अर्थ—तब सेठकी बात सुनकर उस ब्रह्मचारीके हृदयमें बड़ा श्रद्धा न और विचार उत्पन्न हुआ। जैसे ऋषभदेव भगवान के लिये नीलांजना की मृत्यु वैराग्य का कारण बन गई थी, इसी प्रकार उसके लिए जिनेन्द्रदत्त सेठ वैराग्यका कारण बना। सनत्कुमार मुनि के समान जिह्वाकी लंपटताका त्याग, बाहुबलिके समान निश्चल ध्यान, गुरुदत्त मुनिके समान उपसर्ग से अविचल होना, कुमार स्वामीके समान निश्चल चित्त और धैर्य सहित होकर केवल ज्ञान होने तक दर्शन-विशुद्धि के साथ मुझे होना चाहिए। यदि मैं उनके समान दृढ़ चित्त रहूँ तो मुझे पुण्यानुबंधी पुण्य का बन्ध करके आठों कर्मोंका नाश करने की शक्ति प्राप्त होगी। उसी शक्ति के द्वारा केवल ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। अतः अब मुझे क्रिया सहित तपश्चर्या का मार्ग अंगीकार करना उचित है ॥२३२॥

पुरुदेवं देवदेवं परिहितचरितं विश्वलोकाधिपं खे-
चरनादाकालदोळ् माडिद तपद महापुण्यदिं स्वर्ग सौख्यो-।
त्करमुं कैसादु विभ्राजिसुव महिमेयुळ्ळक्षय श्रीयोळातं
नैरदं केळमायेयिंदं सुळियद तपमं माळक निर्मायेयिंदं ॥२३३॥

अर्थ—भगवान आदिनाथ देवाधिदेव हैं, उन्होंने अपने चरित्र द्वारा दूसरोंका हित किया है। वे विश्वके अधिपति हैं। उन्होंने विद्याधर पर्यायमें किये हुए तप के महापुण्य से स्वर्ग-सुखकी प्राप्ति की। वहांसे चयकर महापुण्यशाली तीर्थंकर पर्याय में जन्म लिया। फिर महिमावान अक्षय सुखकी प्राप्ति कराने वाला तीर्थंकर का पद प्राप्त करके संसारका अन्त किया। यह सब महिमा भगवान की पूजा और सत्पात्र दान की है। पुण्यकी महिमा अगाध है ॥२३३॥

अंते तपदिं पुण्यबंधमक्कु मापुण्यदिं मेल्लमेल्लने निश्रेयसश्रीयोळकूडलक्कु मेंबुदनादितीर्थेश्वरन कथांतरदोळ तिळिवुदु. सौबर मातं केळदु तपदोळाद वेवसक्क लसवेड ॥२३४॥

अर्थ—इस तपसे पुण्य बंध होता है। उस पुण्य द्वारा क्रम से मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष-इच्छुक को भगवान आदिनाथकी कथा को अच्छी तरह स्मरण रखना चाहिए।२३४।

इरुळोळचंद्रन पगलोळ्
खरकरनुदयंगळागदभ्युदयं म-।
त्ति रुळोळ् सूर्यं पगलोळ्
सरसिजरिपुवोगेये जगदोळन्दुलमल्ले ॥२३५॥

अर्थ—जैसे रात्रि में चन्द्रमा का अभ्युदय होता है, उससे कुमुद (सफेद कमल) विकसित होते हैं। दिनमें सूर्य का अभ्युदय होता है और उस सूर्य से लाल कमलों का अभ्युदय होता है। इसी तरह पुराण पुरुषों को कथा सुनने से कर्म-कलंक नष्ट होकर मोक्ष अभ्युदय की प्राप्ति होती है ॥२३५॥

अदरिं केवलध्यानं मुन्नं संद महापुरुषर्गळ वडुगुमल्लदे ई गळिनवर्गळवडदु २३६

अर्थ—इसलिये हे सूर्य ! पूर्व महापुरुषों के समान आचरण करने से केवलज्ञानकी प्राप्ति हो सकती है ॥२३६॥

जिनवचनदोजेयिंदं
मनमं सैतिट्टु बिट्टु दुर्मार्गमना-।
र्पनितं सुव्रतदोळ् ने-
ट्टने माळपुदु नेगळत्र तपमुमं दानमुमं ॥२३७॥

अर्थ—भगवान जिनेन्द्र देव के मार्ग के अनुसार मन को दृढ़ करके हृदय से दुर्मार्ग की भावना दूर करो और व्यवहार धर्म को ठीक समझ कर उसका आचरण करो। तथा तप, दान-धर्म आदि की आराधना करो ॥२३७॥

एंदु यतिधर्ममुमं श्रावकधर्ममुमनिंबागिरे जिनेंद्रभक्तसेट्टि संक्षेपदिं पेळे-सूर्यं केळ्दु तपदोळतिप्रितनागि संसारक्के पेसि जिनदीक्षेयं कैकोंडुग्राग्रतपदिं नेगळदु कडेयोळ् समाधिमरणदिं मुडिसि देवगति वडेदं सम्यक्त्वचूडामणियु मुपगूहनद फलदिंदिहत्रे योळाद कीर्तिगं परत्रेयोळाद सौज्यक्कं भाजननाद निंतु ॥२३८॥

अर्थ—इस तरह जिनेन्द्रदत्त सेठ द्वारा मुनिधर्म और श्रावक धर्मको सुनकर सूर्यने संसार से विरक्त होकर जिन-दीक्षा ग्रहण की। और वह उग्र तप करने लगा। उस तप से उसने शरीर और कषायों को कृश किया। अन्त में समाधिमरण द्वारा देवगति प्राप्त की। इस तरह जिनेन्द्रदत्त सेठ ने महाव्यसनी चोरकी ब्रह्मचारी पद के कारण रक्षा की, उसके दोषों को उपगूहन किया (ढांका)। फलतः वह सन्मार्गमें लगकर इहलोक और परलोकके वांछित फल को प्राप्त करने में समर्थ हो गया ॥२३८॥

परमश्रावक नेनिसुव
पुरुषं कण्णारे मुनिय पोल्लमेयं वि- ।
स्तरदिंदं कंडदनु
वैरेयोळ् नेरे दोरदुसिरदिर्पुदु नयदिं ॥२३९॥

अर्थ—इस कथा का तात्पर्य यह है कि श्रावक या मुनि को किसी का दोष देखकर उस दोष की निन्दा करते हुए उस व्यक्ति का तिरस्कार नहीं करना चाहिये। बल्कि उस दोष का उपगूहन करके उसे धर्म-मार्ग में लगाना चाहिए। मनुष्य भूल-वश सन्मार्ग को छोड़कर उन्मार्ग पर चलता है। धर्मात्माओं को उसके दोष छिपाकर उसे धर्म-माग पर लगा कर उस व्यक्ति का कल्याण करना चाहिए ॥२३९॥

जलधियोळु कप्पे सत्तोडे
जलधिय नीरेल्लमट्टि कोळनार्पुदे नि- ।
र्मल नल्लदोर्वनिदं
मळिनते पोदुवुदे विमळ सद्धर्मक्कं ॥२४०॥

अर्थ—यदि समुद्र में मेंढक मर जाय तो समुद्र का जल दुर्गन्धित नहीं होता, बल्कि जैसे का तैसा रहता है। इसी प्रकार यदि धर्मात्मा से कभी कोई दोष हो जावे तो उससे वह सदा के लिये अपराधी नहीं हो जाता बल्कि वह अपने दोष को दूर करके अपने चरित्र को निर्मल बना लेता है। अतः सभी को अपने दोषों का त्याग करना चाहिए ॥२४०॥

उपगुहनमं माळपुदु
वीपरीत मनुळ्ळ धर्ममं बिडुवुदु जै- ।

न पदांबुजातमं मि-

क्कपवर्गद बट्टेयेंदु पिडिवुदु भव्यं ॥२४१॥

अर्थ—उपगूहनका अर्थ विपरीत मार्ग में जाते हुए मनुष्य को सद्धर्म में लगाना है। इस तरह भव्य जीव दूसरेके दोषको प्रकट न करके उसे धर्म-मार्गमें लगाता है तो वह अपवर्गका साधन बना लेता है। यह साधन वही व्यक्ति कर सकता है जो जिनेन्द्र भगवान के चरणोंमें रत रहता है, अतः प्रत्येक मानवको दूसरेके दोषों को उन्मार्ग से बचाकर सन्मार्ग में लगाना चाहिए, यही जैन धर्म का सार है ॥२४१॥

एंदुपगुहनदोळाद कथेयं गौतमस्वामिगळ पेळवुदु ॥२४२॥

अर्थ—इस प्रकार उपगूहन अंग की कथा के फल को गौतम स्वामी ने राजा श्रेणिक से कहा ॥२४२॥

भुवनप्रख्यातकीर्तिध्वजनमळयशं सत्यवाराशेचित्तो-

द्भवमेधानीकतीव्रानळ नघहरणं कूर्मेयिं पेळचित्तो- ।

त्सवदिं त्रैविद्यचक्रेश्वरविमळ पदांभोजभृगं विनेय-

प्रवरं सानन्दनादं सुकविजनमनः-पद्मिनीराजहंसं ॥२४३॥

अर्थ—लोक-प्रसिद्ध, कीर्ति-ध्वजाधारी, अमलयशस्वी, सत्य के समुद्र, चित्त में पैदा हुए सन्ताप को मेघपटल के समान शान्त करने वाले, पापोंके नाशक, त्रैविद्य चक्रेश्वर भगवान के चरण कमल में भ्रमर के समान, विनय प्रवर, सुकवि जन-पद्मिनी के राजहंसके समान मैंने यह कथा कही है ॥२४३॥

इदुनिखिळदिविज-परिवृढमकुटतट-घटितमणिगणनिकर-विळुळित-किरण

चुंबनिय-परम-जिन-चरण-युगळ-सरसिरुह-मत्तमधुकरनिरुपम-सहज

कविजनमनःपयोधिहिमकर नुतभावयुत दिगंबरदास नूत्न

कविता-विलास श्रीमन्नयसेनदेव विरचित मप्प-

धर्मामृत दोळ् दर्शन पंचमांग व्यावर्णनं

षष्ठाश्वासं ।

निखिल-दिविज-परिवृत, मुकुट-तट-घटित-मणिगण-निकर-चुम्बनीय, परम-जिन-चरण-
युगल-सरसि-रुह मत्त-मधुकर, निरुपम सहज कवि जनमन पयोधि-हिमकर,
नुत भावयुत दिगम्बरदास-नूतन कविता विलास, श्री मन्मथसेन
विरचित धर्मामृत में पंचमांग के व्यावर्णन में
छठा आश्वास समाप्त हुआ ।



सप्तम-आश्वास



श्रीनिर्वृति वनितेगे पेर-
तेनुपगूहनगुणं लसन्मणिहारं ।
तानेंदु नंबिदं विबु-
धानंदं सुकविनिकरपिकमाकंदं ॥१॥

अर्थ—उपगूहन अंग को प्रशंसा कहाँ तक की जाय । यह मोक्ष-लक्ष्मी के गले के हारके समान है । जो इसका भली भांति पालन करता है, वह शीघ्र ही मोक्ष-लक्ष्मी का अधिपति बन जाता है । यह श्रेष्ठ कवियोंके समूहरूपी कोयलोंको आल्हादित करने वाला और विद्वानों को प्रसन्न करने वाला है ॥१॥

अंतुपगूहनदोंदु क
थांतरमं केळदु नंबि मनदोळ् पिरिदुं ।
संतोषवागे धात्री-
कांतं पिरिदुं महोत्सवंबेरसागळ् ॥२॥

अर्थ—उपगूहन अंगकी कथा को इस प्रकार सुन कर राजा श्रेणिक अत्यन्त सन्तुष्ट होकर उत्साहित हुआ ॥२॥

(गणधरस्वामिगळ पादपयोरुहक्के मरिदुं बियं तेरगि कैगळं मुगिदु तलेयं बागि निम्मडि कारुण्यदिं) मुंदण स्थितिकरणद कथेयं (एनगरिवंतागे) बेस-सुवुदेंबुदुं (गणधरस्वामिगळ् कैवल्यलक्ष्मिय नच्चुवाभरणमप्प स्थितिकरणद कथेयं) इंतेंदु पेळदर् :—

अग्नियंते मदद‌ानेयंते वारदंते कुलशैलदंते जंबूद्वीपदंते सप्तस्वरदंते माळ-वदंते देवेन्द्रन वरविदंते राज्यदंते ऋद्धियंते कमठोपसर्गक्के बंद धरणेंद्रनंते दर्शनमुं निश्शंकेयुं निष्कांक्षेयुं निर्विचिकित्सेयुं अमूढदृष्टित्वमुं उपगूहनमुं स्थितिकरणमुं मेंबेळरोळं शोभे वडेवुदु ॥३॥

अर्थ–वह श्री गौतम गणधर के चरण-कमलों में नम्र हुआ हाथ जोड़ कर निवेदन करने लगा कि–हे स्वामिन् ! स्थितिकरण अंग की कथा मेरे हृदय में अंकित हो जाय, इस तरह उसे सुनाने की कृपा कीजिये।

राजा श्रेणिक की प्रार्थना सुनकर श्री गौतम गणधर कहने लगे कि हे श्रेणिक ! मोक्ष-लक्ष्मी के गले में शोभित होने वाली इस कथा को सुनो। यह कथा अग्नि के समान है, मदोन्मत्त हाथी के समान है, क्रमिक है, सुमेरु पर्वत के समान है, जम्बूद्वीप के समान है, सप्तस्वर के समान है, मालव देश के समान है, आकाशमें देवेन्द्र के आगमन के समान है। राज्य प्राप्त करने वाले व्यक्ति के समान है, वृद्धिके समान है, कमठके उपसर्ग को दूर करने वाले धरणेन्द्रके समान है। सम्यग्दर्शन, निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण अंग, इन पूर्वोक्त सात कथाओं का जो भली भांति श्रद्धान करता है, उसे शीघ्र ही मोक्ष-लक्ष्मी प्राप्त होती है ॥३॥

स्थितिकरणं वार्वनितेय
मति कीर्ति श्रीय निळयमपवर्गश्री।
सतिय मणिहारमेंदिं
ततिमुददिं माळके भव्यनप्पं मनदोळ् ॥४॥

अर्थ–स्थितिकरण अंग वार्वनिता (वाणी) की कीर्तिका विस्तार करने वाला है, अन्त-रंग लक्ष्मी को देने वाला है, मोक्ष-दाता है, सती लक्ष्मीके गले के मणिहारके समान शोभित होने वाला है। इस अंग को भव्य पुरुष हृदय से धारण करता है ॥४॥

इन्न दरोळाद विभवमेंनेंदोडे ॥५॥

इस कथा की महिमा को बताते हैं ॥५॥

सरसिजनेत्रे सल्ललितगात्रे कुलैकपवित्रे गंधसिं-
धुरनिभयाने शीलगुणधारे चरित्रदिधाने सज्जिने-।

श्वरपदभक्ने सर्वगुणयुक्ने सुधाकरवक्त्रे मानवो-
त्करनुतपादपंकरुहे चेळिनिदेवि महितळाग्रदोळ् ॥६॥

अर्थ–कमलनयनी, ललितांगी, पवित्र कुल वाली, गन्ध हस्ती के समान चलने वाली, शील गुण-सम्पन्न, चारित्र निधान, श्रीजिनेश्वर देव के चरणोंकी परमभक्त सर्वगुण सम्पन्न, चन्द्रमुखी, मानव समूह जिसके चरण कमलों में नत होता है, ऐसी चेलनादेवी इस पृथ्वी में महिमाशालिनी है ॥६॥

मनसिज कांते गमंर्तिं
द्रन सतिगं चंद्रमन वनिते रोहिणिगं ।
तां नृमंडि रूपक्कं
जिनचरणसरोजभक्तिगं विनयक्कं ॥७॥

अर्थ–वह कामदेव की रति, इन्द्र की शची, चन्द्रमा की रोहिणी से भी अधिक रूपवती है। वह श्री जिनेन्द्र भगवान की भक्ति करने वालों में भी श्रेष्ठ है ॥७॥

जनकजेगे भागनिगे गो-
मिनिगे तिलोत्तमेगे नोडे सासिर्मडि चे- ।
ळिनि शीलदेळगेगं मे
दिनियोळगे सुबुद्धिगं विळासोन्नतिगं ॥८॥

अर्थ–जनक राजा की पुत्री सीता और गोमिनी की पुत्री तिलोत्तमा के समान, बुद्धि-विकास में समुन्नत है ॥८॥

दयेय तवर्मने भव्य-
प्रिय सकलजनानुरागे जिनपादपद- ।
द्मयवनजमत्तमधुकरे
नयविदे भुवनैकपूज्ये चेळिनि धरेयोळ् ॥९॥

अर्थ–चेलना दयालुचित्त है, भव्यजन-प्रिय है। श्री जिनेन्द्र भगवान के चरण कमलोंमें मत्त मधुकर के समान अनुरागिणी है। पृथ्वीतल पर सर्वजन-आदरणीय है ॥९॥

एनिसि नेगळतेगं पोगळतेगं नेलेयाद चेळिनिमहादेविगं निनगं) ॥१०॥

अर्थ–संसार में प्रख्यात, कीर्ति सम्पन्न उस चेलना देवी से···॥१०॥

उदयगिरियोळ् दिवाकर
नुदयंगेय्वंते सकलगुणनिळयं ।
विदितयशःपुंजं पु-
ट्टिदनोप्पिरे वारिषेणनेंब कुमारं ॥११॥

अर्थ–उत्पन्न, उदयाचलसे उदय होने वाले सूर्य के समान, सम्पूर्ण गुण का भण्डार, यश का पुञ्ज वारिषेण पुत्र हुआ ॥११॥

(अंनासद्गुणनिधि वि-
ख्यातं भूभुवनवंदितक्रमयुग्मं ।
नीतिविदं भव्यजन-
प्रीतं जिनसमयवार्धिवर्धनचंद्रं) ॥१२॥

अर्थ–वह सद्गुण-निधान, विख्यात, जनता से वन्दनीय, नीति-वेत्ता, भव्यजनोंको प्रिय, जिन-शासनरूपी समुद्र की वृद्धि करने वाला पूर्ण चन्द्र के समान है ॥१२॥

दृढचित्तं गुणनिळयं
कदुगलि किरिंदु दिव्य जिनमुनिगळ मे-
ल्लडियं पिडिदु तळर्नडे
नडेगल्लं भव्यवनजवनकळहंसं ॥१३॥

अर्थ–वह दृढ़-चित्त है, गुणों का आगार है, शत्रुओं का सामना करने वाला है, जैन मुनियों का भक्त है। सम्पूर्ण भव्यजन रूपी कमल वन में कलहंस के समान है ॥१३॥

(बिडु मिथ्यात्वमनंद
पिडि सम्यक्त्वमनुदारचित्तदिनेंबी ।
नुडियने नुडिदु मनं बिडे
नुडिगल्लं सुकविनिकरपिकमाकंदं) ॥१४॥

अर्थ—उससे मिथ्यात्व दूर भाग जाता है। सम्यक्त्व उसके हृदय में विकसित है, वह उदारचित्त है, उसके वचन सुकवियों को प्रसन्न करने वाले हैं ॥१४॥

उडेवरिदं दिंवरिकडे
युडुगदे जिनमुनिगळिं जिनागमर्मे ने ।
पंडे केळदोदुव जिनमुनि
गडणदोळ विवेकयागि पोळतं कळवं ॥१५॥

अर्थ—वारिषेण खाने पीनेमें तथा शरीर-शृङ्गारमें निर्मोही है । अपना समय प्रायः वीतरागी मुनियोंकी सेवा में व्यतीत करता है । जिनागमके स्वाध्याय और मुनिजन के समागम में ही उसका समय बीतता है ॥१५॥

भव्यर गोष्ठिय तपदोळ्
दिव्यमेनिप्पवर पादसेवेये जिनस-
त्काव्यंगळ भावनेय म-
हाव्यसनं वारिषेण नृपतिगे निच्चं ॥१६॥

अर्थ—भव्यजीवों की गोष्ठी, मुनिराजों की चरण-सेवा और जिनेन्द्र-सत्काव्य की भावना का ही उसे व्यसन है ॥१६॥

[अंतु गुणगणनिळयनुं विनयनिधाननुं जिनपादपद्ममधुपनुं जिनागमघनागममयूरनुं पापीभयं चाननुमेनिसि] आवारिषेणकुमारं सुखसंकथाविनोददिं युवराज्यश्रीयननु भविसुतिर्पन्नेगं ॥१७॥

अर्थ—ऐसा गुणनिधि, जिनेन्द्र देव के चरण-कमलों में भौंरे के समान अनुरागी, जिनागम रूपी घनागम के लिए मयूर के समान, पाप कार्यों से भयभीत वारिषेण कुमार सुख पूर्वक कथा विनोदसे युवराज पद का भोग करता है ॥१७॥

[विमल गुणात्तसकला
गमयुक्तर्मुनि जनानुरागदुरित- ।
द्युमणिगळणित चरित-
समस्त जीवोपकारिगळ् दयेनिदिगळ्] ॥१८॥

अर्थ—एक दिन निर्मल गुण वाले, सम्पूर्ण आगम के ज्ञाता, निष्पाप, अत्यन्त निर्मल चारित्रधारी, समस्त जीवों के उपकारी, दयासागर···॥१८॥

मुंडियपुत्राचार्यर् [ग्रामयेकरात्रं नगरे पंचरात्रमटव्यां दशरात्रमेंब पूर्व-शास्त्रोक्तियिं] विहारिसुत्तुं निन्नपुरक्के [वंदु तत्पुरद मूढण देसेय बाळाहकर्मेंब पर्वतदोळिर्पुदुमामुनिय बरवं ऋषि निवेदकं निनगरिपुवुदुं ॥१६॥

अथ–मुण्डिपुत्र आचार्य उद्यान में पधारे, वे ग्राम में एक रात, नगर में पांच रात, अटवी में दस रात ठहरते है और शास्त्रोक्त रीति से ही विहार करते हैं। वे आपके नगर में पूर्व दिशामें बलाहक पर्वत पर ठहरेंगे। वहाँ का वनपालक आपके पास आकरके निवेदन करेगा ॥१६॥

करमल्लदोमेंदु तम्मनि
वरनिर्दिसेगे नडेदु विडदेळडियं।
करमुगिदु तुष्टिदानम
नेरडिल्लदे ऋषिनिवेदकंगित्तागळ् ।२०॥

अर्थ–यह समाचार सुनकर आप अपने सिंहासनसे उतर कर मुनिकी दिशामें सात कदम चलकर परोक्ष प्रणाम करेंगे और वनपाल को अपने शरीर के आभूषण देंगे ॥२०॥

अनंतभेरियं पोय्सि] चेळिनिमहादेवि मोदलागेरळासिर्वररसियरुं वारि-षेणकुमारं मोदलाद कुमाररुं येण्छासिर्वमकुटबद्धरुं [पुरदोळगण श्रावकरुं] बेरसु। ।२१॥

अर्थ—तत्पश्चात् आपके आदेशसे नगर में आनन्द भेरी बजाई जायगी। फलतः रानी चेलना आदि स्त्रियां, वारिषेण आदि राजकुमार, मुकुटबद्ध नृपति, नगर के समस्त श्रावक-श्राविका वहां एकत्रित होंगे और जाने की तैयारी करेंगे ॥२१॥

तुंबिगळब्चिनिगेळसि म-
नंबिडे बर्पंते नीनुमत्यादरदिं-।
दं बर्यसि दिव्यमुनिचर-
णांबुजमं काणलेंदु राजालयदिं ॥२२॥

अर्थ–हे राजन्! भ्रमर जैसे कमल पुष्प पर भनभनाते हुए आते हैं, उसी प्रकार अत्यन्त आनन्द के साथ अन्तःपुर की रानियों समेत आप मुनिराज के निकट जायंगे ॥२२॥

पोरमट्टु बंदु [बळाहककगिरियोळिदु] मुंडिय पुत्रमुनिंद्रर पादसरसिजमं सरसिजादि कुसुमंगळिंदर्चिसि वंदिसि किरिदुबेगं धर्मश्रवणमं केळदु [तम्म-निपुंगवंगे] पुनर्नमस्कारंगेय्दु राजमंदिरक्के नीं मगुळवुदुं निन्नोडने सकल-जनंगळुं मगुळवुदुं वारिषेणकुमार नोर्वने मुनिनाथननगल्दु बरलारदे पेरगिदुं ।

अर्थ–वहांसे चलकर बलाहक पर्वत पर मुण्डी-पुत्र मुनीन्द्रके चरण कमलमें तुम कमल पुष्प चढ़ाकर उन्हें नमस्कार करोगे तथा उनके मुख से उपदेश सुनकर मुनिराज को पुनः-पुनः नमस्कार करके वहांसे लौटोगे और राजमंदिर आओगे किन्तु वारिषेण तुम्हारे साथ न आकर वहीं रह जायगा ॥२३॥

बिडदे कडारद पोन्नं
कडुलोभं कंडु मोहदिंदापोन्नं ।
तडेयदे नोडुत्तिर्पवो-
लडिमिडुकदे निंदु [वारिषेणं मुनियं ॥२४॥

अर्थ–लोभी मनुष्य जिस प्रकार अपनी तिजोड़ी के सोने को नहीं छोड़ता, सदा उसे देखता रहता है, उसी प्रकार वारिषेण मुनि-चरणको न छोड़ते हुए वहीं बैठा रहता है।२४।

मनदेरकदिंदेरलुमिळियलुं नोडि तंगाळिय पोदुगेयिं नयं वडेदेळलतेयंते पेर्चि ।

अर्थ–शीतल वायुके संचारसे जैसे सूखी लता पुनः हरी हो जाती है उसी प्रकार मुनि-राजका उपदेश सुनकर उसको आत्मिक भावना जाग्रत होती जाती है और संसारसे वैराग्य भावना बढ़ती जाती है ॥२५॥

मनदोळकरमुत्साहदि-
नरवरतं निच्चनिच्चमिरुळुं पगलुं ।
जिनपदमं जिनमतमं
नेनेव महात्मने कृतार्थ नवनीतळदोळ् ॥२६॥

अर्थ–जो मन में उत्साह के साथ रातदिन भगवान के चरणकमलों को और जिनवाणी को स्मरण करता है, श्रद्धान के साथ आचरण करता है, वही महात्मा पुरुष है और जगतमें वही कृतार्थ है । इस प्रकार वारिषेण अपने मन में विचारता है ॥२६॥

[एंदु मनदोळ् भाविसि वारिषेणकुमारं मुंडिपुत्रदिगंबराधीश्वरनपादोप-कंठदोळ् कुळ्ळिदु चरणयुगंगळं मेल्लमेल्ल नोत्तुत्तिर्पुदुं तन्मुनीश्वर जिन-समयवार्धिवर्धन चंद्रनं नोडि तन्नतं रंगदोळिंतेंदं ॥२७॥

अर्थ—इस प्रकार वारिषेण भावना करते हुए मुण्डी-पुत्र दिगम्बराचार्य के निकट आकर बैठता है और दोनों चरणों को धीरे-धीरे अपने हाथ से दबाने लगता है। दबाते-दबाते उन जिन-शासनरूपी समुद्र के लिए चन्द्रमाके समान मुनिराजके मुख को देखते हुए कहता है २७

दूरदोळिदु मर्नितेरसंबुरुहक्के मदाळिसंकुळं
भोरेने वंदु तींवि नेलसिर्पुवु कप्पेगळल्लि मुट्टियुं।
सारवु नोळपु डोळ्ळिदरनोळ्ळिप्पवरिंतु पोदुवर्
दूरदोळिर्दोडं केलदोळिर्दोडमोंदु वरल्लरुद्धतर् ॥२८॥

अर्थ—हे गुरुदेव ! जिस मेंढकने समुद्रको कभी नहीं देखा, जिसने समुद्रका नाम स्वप्नमें भी नहीं सुना, ऐसे कूप-मण्डूक के समान धर्म से दूर रहने वाले जन अधर्मको धर्म मानकर संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं। जिनशासन रूपी समुद्र में हाथी भी अवगाहन करते हैं और वहाँ मेंढ़क भी उत्पन्न हो जाते हैं। वह सब जीवोंका कल्याण करने वाला है। किन्तु कूप-मण्डूक उस जिन-शासन-समुद्र की गहराई को नहीं माप सकते और न वे वहाँ जानेकी इच्छा ही करते हैं ॥२८॥

एंदु वारिषेण कुमारनोळाद [महाभक्तिगं तम्मय्यनोडने पोगदे धर्मानु-रागदिंदिरविंगं चोद्यं मट्टिपुदुं चेळिनीप्रियात्मजं तन्मुनींद्रंगभिमुखनागि तलेयं बागि कैयं मुगिदिदिंतेंदं ॥२९॥

अर्थ—वारिषेण के इस प्रकार के वचन सुनकर और उसके धर्म-प्रेम एवं वैराग्य को देखकर मुण्डी पुत्र को आश्चर्य होता है। तत्पश्चात् चेलनी-पुत्र वारिषेण मुनीन्द्रके सम्मुख सिर झुका करके हाथ जोड़कर इस प्रकार कहता है ॥२९॥

दानमुमं धर्ममुमं
नानापुजेयुमनेल्लरुं कैवल्य- ।

श्रीनारियनेय्दु वेवें-

दानंदं बेरसु माडुववंसुमतियोळ् ॥३०॥

अर्थ—जगत में मनुष्य दान, धर्म तथा अनेक प्रकार की पूजा इसलिए करते हैं, कि उससे पुण्यानुबंधी पुण्य बंध होते हुए क्रम से मोक्ष की प्राप्ति हो सके ॥३०॥

अल्लि [निर्वाणलक्ष्मिय] नेय्दिसलार्प देवनुमं तपमुमं धर्ममुममागममुमं दानमुमं पुजेयुमं निम्मडि नीवेनगरिविंतागे (बेससुवुदेंबुदु मुनिवृन्दारक) निंतेंदं।

अर्थ—आपके चरणों में मैं यह जानना चाहता हूँ कि निर्वाण-लक्ष्मी के प्राप्ति के लिये देव-पूजा, धर्म, आगम कौन-सा है, और उनका क्या लक्षण है ? ॥३१॥

वनितेरं वनितेयोळ्

कनकमनोरंते कनकदोळ् रत्नमनिं।

बेनेरत्नदोळ् विचारिसि-

मनदोळ् कीळमेलिदेंदु नंबुव तेरदिं ॥३२॥

अर्थ—मुनि बोले—जैसे बुद्धिमान व्यक्ति स्त्रियोंमें से स्त्रियों की, सोनेमें से सोने की और रत्नों में से रत्न आदि की परीक्षा करके उन्हें ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार देव, आगम, धर्म आदि की परीक्षा करके ही विद्वान लोग उसे ग्रहण करते हैं। सभी देव, आगम और धर्म, मोक्ष और कल्याण के हेतु नहीं हैं ॥३२॥

आप्तननाप्तनोळ् तपमं तपदोळ् धर्ममं धर्मदोळ् आगमनागमदोळ् दानमं दानदोळ् पूजेयं पूजेयोळ् परिच्छिसि बेगमिवनाप्तनिवननाप्तनिदु सत्तपमिदु दुस्तपमिदु सद्धर्ममिदु कुधर्ममिदागम मिदनागममिदु सद्दानमिदु कुदानमिदु पूजेयिदु कुपूजे) यिदु सुखक्के कारणमिदु दुःखक्के कारणमिदु मुन्नमिदु बळे-कमेंबुदं बुद्धियि (संचलचित्तनागदे तन्नोळारेंदु नोडि) जलमिश्रितमप्प पालं मुंदिडल् हंसेयेंतु नीरं बिट्टु पालं कुडिवुदंते कुधर्ममं बिट्टु सद्धर्ममं कैकोळवुदु ॥३३॥

अर्थ—चतुर पुरुष आप्तोंमें से सच्चे आप्त की, तपोंमें से सच्चे तप की, धर्मोंमें से सत्-धर्म की, पूजाओंमें से पूजा की, दानोंमें से यथार्थ दान की और आगमोंमें से सत्य आगमको

परीक्षा करते हैं कि यह आप्त है, यह अनाप्त है। यह तप है, यह कुतप है। यह धर्म है, यह अधर्म है। यह पूजा सुखकी कारण है, यह पूजा दुखकी कारण है। यह दान परम्परासे मुक्तिदाता है, यह दान संसार-वर्धक है और यह आगम है, यह आगमाभास है। ऐसे हेय-उपादेयको हंस द्वारा जल दूधकी तरह परीक्षा करके सद्धर्मको ग्रहण करना चाहिए ॥३३॥

निर्दोषि यल्लद्वनं
पोर्दल्वेडाप्तनंदु मेल्पट्टेनिसं।
निर्दोषियप्प मनसिज
मर्दननं देवनेंदु पोदुगे भव्यं ॥३४॥

अर्थ—जो निर्दोष देव नहीं है, उसकी आराधना करनेसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। किन्तु जो आप्त हैं, काम-वासना को जिन्होंने जीत लिया है, वही सच्चे देव हैं ॥३४॥

कुरुडनप्प पोलं विगनं नंबि गट्टदिट्टेडेयोळिरुळ्दूरदेशक्के पयणं बोपेनें-वातनुं दोषियप्पाप्तनं नंबि तपंगय्दु मुक्ति वडेवेनें वातनुं निर्बुद्धिगळल्लदे बुद्धिवंतरल्लर् ॥३५॥

अर्थ—जैसे कोई निर्बुद्धि अन्धेके सहारे इष्ट-स्थानको पहुँचना चाहता है तो वह इष्टस्थान पर न पहुँच कर गर्त में गिर जाता है। अन्धा उसे कभी इष्ट स्थान पर नहीं पहुँचा सकता। इसी प्रकार जो निर्दोष आप्त नहीं है, उसकी श्रद्धा करनेसे या माननेसे कभी मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती है ॥३५॥

तक्क निवनल्लनळिगं
टक्कं खळनेंदु पोर्दरति धूर्तननो।
वक्कट खळरं क्रूर-
नुक्के वर्दि देवरेंदु पेळ् पोदुवुदे ॥३६॥

अर्थ—अधर्म-मार्ग पर चलने वाले, अधर्म को धर्म मानने वाले दुष्ट, धूर्त, क्रूर पुरुष जनता को ठगते हैं। उनके माने हुए देव क्या देव हो सकते हैं? ॥३६॥

कल्ल दोणियनेरि, बंद तोरेयोळ् पोपेनेंबनं क्रूरनप्पाप्तनं पिडिदु मोक्षक्के पोपेनेंबनुं करमेग्गरल्लदे चतुररल्लर् ॥३७॥

अर्थ—पत्थर की नाव पर चढ़कर समुद्र को पार करने की डींग हांकने वाले क्या समुद्र को पार कर सकेंगे ? इसी प्रकार जो दोषों से भरे हुए हैं तथा क्रूर हैं ऐसे देवों की भक्ति पूजा से क्या मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ? नहीं हो सकती ।।३७।।

(इवनीधात्रिगे तां महाप्रभुगडा नोर्वितेदेकळतु का-
डुवनेदोंडुवनट्टि बेडुवनणं नाणिल्ल बूतेंदु दू- ।
रुवरारादोडमट्टि मर्त्यरुमनिंतेनॆबोडं पोगि नं-
बुवनेग्गं नेरे देवरेंदु विटरं चापल्यरं धूर्तरं ।।३८।।

अर्थ—बकरा आदि की बलि मांगने वाले, दूसरों को त्रास देने वाले, भूत बनकर सताने वाले, लोगोंको भ्रममें डालने वाले, रागी द्वेषी क्रोधी देवोंके पास जाकर जो अपने कल्याण की कामना करते हैं, उनका कल्याण नहीं हो सकता । वे वस्तुतः देव नहीं हैं और उनसे जगत का कभी कल्याण नहीं हो सकता ।।३८।।

ब्रह्मचर्यं गेट्ट तपमं मोदलागे कैकोळ्ळरेंदोडे परवधूप्रियरप्परं सर्वज्ञरेंदेंतु कैकोंडाडुवरो ।।३९।।

अर्थ—ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट तपस्वी लोगों के तप से मुक्ति प्राप्त हो जाय तो वीतराग-मार्ग की क्या आवश्यकता है ? अतः जो अपने साथ स्त्रीको भी रखे वह मिथ्या देव है । उसको देव मानने वाले कभी आत्म-कल्याण नहीं कर सकते ।।३९।।

पुसिवनिवं महाव्यसनि कळ्ळनिवं कडुधूर्तनेंदु शं-
किसि भयदिंद वेच्चळिसि मानिसरं मोदलागे पोर्दि रं- ।
जिसुव सुवस्त्र धारिगळ निष्टविघातर नष्टशौचरं
पुसिवरनाप्तरेंदु नेरे पोदुव मर्त्यने गांपनुर्वियोळ् ।।४०।।

अर्थ—दुर्व्यसनी, असत्यभाषी, चोरी, कुशील का सेवन करने वाला धूर्त व्यक्ति अपने स्वार्थ की पूर्तिके लिये कुगुरु को गुरु मानता है जो स्त्री रूपमें पुरुष बनता है, पुरुष होकर स्त्री बनता है, जो वस्त्र पहनता है, रक्त आदि से जो सदा अपवित्र रहता है, ऐसा देव आप्त नहीं हो सकता । उन्हें देव मानने वाला दीर्घ संसारी होता है । जो शान्त वीतराग परमात्म देव है, वही सच्चा देव है, पापी धूर्त लोग उसकी उपासनासे दूर रहते हैं ।।४०।।

अरसिन मेलरसादोडे मोदलागे नाडेल्लं केट्टु पाळप्पुदेंदोडे जगदोळड-किल दैवमादोडे किडदिर्कुमे; नाड नाळवरसु मोदलागे क्रूरनादोडे लोकमेल्लं किडदिर्कुमे; विटनप्प प्रभुवं मोदलागे बगेयरेंदोडे विटनप्प देवननेंतु बगेवर-दरिं देवर्पलरिल्ल निर्दोषियप्पनोर्वने: परमात्मनुं शांतरूपनल्लदे क्रूरनल्लं; मनोजविद्रावणनल्लदे विटनलनेंदु नंबुवुदु ॥४१॥

अर्थ—एक राज्यमें दो राजा हो जावें तो वह राज्य नष्ट हो जाता है। जगतमें दोषी भी देव हो जावें तो जगत नष्ट हो जावे। राजा क्रूर हो जाय तो प्रजा भी क्रूर हो जायगी और वह नष्ट हो जायगी। विट लोग जब प्रभु हो जायें तो सत्पुरुषों की क्या व्यवस्था होगी इसलिये देव वही कहलायेगा जो अठारह दोषों से रहित हो और संसारका कल्याण करने वाला हो। इसी प्रकार गुरु अपरिग्रही होता है और वीतराग प्ररूपित वाणी आगम है। अतः रागी द्वेषी देव आप्त नहीं हैं, परिग्रही व्यक्ति धर्म गुरु नहीं हैं, और पूर्वापर-विरुद्ध-भाषी ग्रन्थ धर्म-शास्त्र नहीं हैं, अतः उनसे कभी कल्याण नहीं हो सकता ॥४१॥

अरसन नडेदोजेये वि-
स्तरदिंद प्रजेगमोजे तं तम्मातर् ।
चरिसुव वोजेयोळेकेयो
चरियिसरन्यर्विरुद्धविदु धारिणियोळ् ॥४२॥

अर्थ—प्रजा राजा का अनुकरण करती है। इसी प्रकार जैसा देव होगा, उसी प्रकार उसके भक्त अनुयायी होंगे। यदि राजा के विरुद्ध प्रजा चलती है तो वह दुख पाती है, इसी प्रकार सच्चे देव के विरुद्ध चलने से संसार में सुख और शान्ति नहीं होसकती ॥४२॥

जगदोळारादोडं सदाचाररं कैकोळवंते दुराचाररनेके कैकोळरन्य वनिता-प्रियरं दूरवंते शुचिगळने केदूरर् कळ्ळरप्परं कोल्वंते कळ्ळरल्लदरनेके कोल्लर् (पुसिववरं दुष्टरेंबंते सत्यमुळ्ळरनेके दुष्टरेन्नर् कळगुडिववरं पोल्लरेंबंते पाल्गु-डिववरनेके पोल्लरेन्नर् अडगट्ट मडकेयं पोरगिडुवंते कूळनट्ट मडकेयनेके पोर-गिडर् कोंदरं कोल्वरंते कोल्लदरनेके कोल्लर्) द्रोहरप्पवरं कवर्वंते तक्करनेके कवरर् साधुगळग कैमुगिवंते दुष्टगे केरगर् ब्रह्मचर्यमुळ्ळवर्गेरगुवंते मिंडर्गे-

केरगर् निस्पृहर्गे कूर्पंते कांक्षितर्गेके कोरर् तपंगेवर्गे केवारं गोळवंते दुष्टर्गके कैवारं गोळर् अन्यायपररं किडिसुवंते न्यायपररनेके किडिसर् चारित्रं गेट्टर-नाळकडिगळवंते चारित्रमुळ्ळर नेकाळकडि गळयर् अदु कारणदिंदे ळ्ळनितु पोल्लमेयोळं पोर्द्दंतप्प देवनेदेवं पोल्लमेयोळकूडिदातं देवनल्लनेंबुदं लोक-दोळाद् नडेवळेयिंदमे लेसागरिवुदिन्तु तपमेंतप्पुदेंदोडे ॥४३॥

अर्थ—जगत में प्रायः देखा जाता है कि सदाचारी पुरुषों का जिस प्रकार सत्कार किया जाता है, वैसा दुराचारी पुरुषों का सत्कार नहीं होता। परस्त्री-लम्पट व्यक्तियों का जिस प्रकार तिरस्कार किया जाता है, वैसे स्वदार-सन्तोषी का तिरस्कार नहीं किया जाता। जैसे चोरोंको दण्ड मिलता है, उस प्रकार चोरी न करने वालों को दण्ड नहीं दिया जाता। असत्य-भाषियोंको जिस प्रकार दण्ड दिया जाता है, वैसे सत्य-भाषियों को दण्ड नहीं दिया जाता। शराबियों को जैसे दण्ड दिया जाता है, वैसे दूध पीने वालों को दण्ड नहीं दिया जाता। द्रोही व्यक्तियों को जैसे दण्ड दिया जाता है, वैसे श्रेष्ठ पुरुषों को दण्ड नहीं दिया जाता। साधुओं को जैसे हाथ जोड़ते हैं, वैसे दुष्ट पुरुषों के हाथ नहीं जोड़े जाते हैं। ब्रह्म-चारी लोगों की तरह व्यभिचारी पुरुषों का सत्कार नहीं किया जाता। मित्र के साथ जैसे निःस्पृह व्यवहार करते हैं, वैसा चुगलखोर के साथ निःस्पृह व्यवहार नहीं किया जाता। अन्यायी लोगोंको जैसे राजदण्ड मिलता है; उस तरह न्याय-परायण व्यक्तियोंको दण्ड नहीं मिलता। चारित्र-भ्रष्ट लोगों के साथ सज्जन सम्पर्क नहीं रखते, किन्तु सज्जन पुरुषों के साथ प्रेम से व्यवहार करते हैं। इसी तरह सार-असार विचार करके देव-कुदेव, पूजा-कुपूजा, साधु-असाधुकी परीक्षा करके उनके मार्गका आचरण करना ही कर्म-निर्जराका कारण है।

पेणिणगं पोन्निगं
मणिणगं कांक्षियिंदमेरगदे लोकं।
बणिणसे चंचलनागदे
तिरणंनडेववने तां तपोधननक्कुं ॥४४॥

अर्थ—स्त्री, सोना, चांदी आदि धनकी ही नहीं किन्तु मिट्टी तक को भी ग्रहण करनेकी चाह जिन्होंने छोड़ दी है, जो ध्यान और अध्ययनमें ही लीन रहते हैं, बाह्य वस्तुओंमें जिनका मन लीन नहीं है, स्व-परका भेद जानकर जो अपनी आत्मा में लीन हैं, वे ही तपोधन हैं।

इसके अतिरिक्त तपस्या का अन्य मार्ग नहीं है ॥४४॥

(कर्मल्लेनितुबेळपादोडं बेलेगेय्युमे; रत्नमादोडे बेलेगेय्गुं; मिथ्यादृष्टिय तपमेनितोळ्ळि तादोडं शाश्वतमप्प सुखमं कुडलार्कुमे ? शुद्धदर्शनदोळ-कूडिदोडे निरंतरमप्प सुखमं कुडुगुं ॥४५॥

अर्थ—काले पत्थरमें रगड़ कर यदि चमक आ जाय तो क्या वह रत्न के मूल्य में बिक सकता है ? इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि लोग कल्याणकारी चारित्र को नहीं जानते, वे अनेक प्रकारके काय-क्लेशको करते हैं तो क्या वे शाश्वत सुख पा सकते हैं ? नहीं । शुद्ध आत्म-श्रद्धा ज्ञान और चारित्रके साथ निरन्तर तप करने वाले ही मोक्ष-सुखको पा सकते हैं ।४५।

पालोळ् मोक्कळमागे पोय्ये जलमं बेळपक्कु मंतल्लदा
पालेंतु रुचियागदंते केलबर्मिथ्यात्वदुःखंगळ्ळ् ।
कालळदेदु तपंगळं नेगळदोडं दुष्कर्मरेंतिदोडं
भूलोकस्तुतमप्प सत्तपदोळं पोर्दिर्दरं पोल्वरे ॥४६॥

अर्थ—जैसे दूधमें अधिक पानी पड़नेसे वह दूध फीका हो जाता है । भले ही उसका रंग सफेद रहता है, परन्तु वह स्वादिष्ट नहीं रहता । इसी प्रकारसे मिथ्यादृष्टि लोग मिथ्यात्व के साथ जो तप करते हैं वह उन्मार्ग होनेसे दुःखदायक होता है और वह दीर्घ संसारका भी कारण होता है । अतः मिथ्यातप कर्म-निर्जरा का कारण नहीं होता । सत्य तप ही निर्जरा का कारण है । अतः उसे ही ग्रहण करना चाहिए ॥४६॥

कर्बुनमेनिसु काय्दु मृदुवादोडं कम्मररिल्लदे खड्गादिशस्त्रं गळागदंते कुमार्गानुरागिगळनिसु कुदिदु तपंमाडिदोडं निर्दोषियप्प परमात्मनं पोर्दिदो-डल्लदे सकलसुखमनेय्दलारर्रि तु ॥४७॥

अर्थ—जैसे लोहे को झुकाना हो तो उसे भट्टीमें खूब तपाना पड़ता है । लुहार के बिना तलवार आदि शस्त्र तैयार नहीं होता । उसी तरह कुमार्गानुरागी कुतप करते हैं । किन्तु उनको परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती ॥४८॥

नीरिल्लदेडेय बेळसुं-
कूरर केळेयुं विवेकियल्लदनरसुं ।

सारगुणमिल्लदातन
चारित्रमुमोप्पलारवेंतुं कडेयोळ् ॥४८॥

अर्थ—जहां पानी नहीं है, वहां खेती तैयार नहीं होती। दुर्जन व्यक्ति सच्चा मित्र नहीं हो सकता। अविवेकी पुरुष राजा नहीं हो सकता। जहां अच्छे गुण नहीं हैं, वहां चारित्रकी शोभा नहीं होती। सतगुण और चारित्र ही मोक्ष का कारण है ॥४८॥

रंडे नडपिदन गुणमुं
गंडिल्लद भटन युद्धमुं धरेयोळ् कै- ।
कोंडुरे नेगळद तपमुं
मिंडन तक्कुमेयु मोप्प लारवु जगदोळ् ॥४९॥

अर्थ—पतिके विना स्त्रीकी शोभा नहीं होती। वीर सैनिकों विना युद्धकी शोभा नहीं। जहां सुतप नहीं, वहां चारित्र भी नहीं शोभता। पति-हीन स्त्री का शृङ्गार नहीं शोभता। इसी प्रकार आत्म-गुण और तप के विना चारित्र को भी शोभा नहीं होती ॥४९॥

पिरिदप्प शक्ति तनगुळ्ळोडं सुरगियल्लदे पणिदगुर्वु परियदंते दोषविरहितमप्प परमात्मन मतमं पोर्दि दोडल्लदे समस्तकर्मगळुं निर्मूलमागलरियवु ।

अर्थ—अपने पास अधिक से अधिक शक्ति हो, ज्ञान हो, किन्तु जब तक गुरु का उपदेश न मिल पावे, गुरु-परम्परा से ज्ञान न मिले, अठारह दोष रहित वीतराग भगवान के मार्ग को नहीं जाने, तब तक सम्पूर्ण कर्म निर्मूल नहीं हो सकते ॥५०॥

सज्ज्ञानमिल्लदन्नेग-
मज्ञानमदिर्कुबुद्धिवंतर नयर्दि- ।
दज्ञान वनळिवोडे के-
ळसज्ज्ञानमनेय्दे तिळिगे जैनागमदोळ् ॥५१॥

अर्थ—जब तक सच्चा आत्म-ज्ञान न हो, तब तक लौकिक ज्ञान होने पर भी वह ज्ञान अज्ञान (मिथ्याज्ञान) ही कहलायगा। इसलिये बुद्धिमान लोग जिनेन्द्र भगवानके मतको नयों के द्वारा भली प्रकार अध्ययन, मनन करके सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करते हैं, वही ज्ञान आत्म-कल्याण के लिये सहायक है, ऐसा जैनागम में कहा है ॥५१॥

पडियरं नेनितु कूर्पोड मरमनेय नरसननुमतमल्लदे पुगल्बारदंते मिथ्या-दृष्टिगळनितु तपदिं कायक्लेशं बट्टोडं देवरेंदिर्दोडं कुचर्चेगळिं बायार्त्तोडं सज्ज्ञानमिल्लदे दर्शनमं पोंददे मोक्षमनैदल्बारदु ॥५२॥

अर्थ—जैसे राजदरबार में, राजभवन में, सुरेन्द्र की इन्द्र-सभा में किल्विषिक, चाण्डाल आदि नीच लोग प्रवेश नहीं करते हैं, उसी तरह मिथ्यादृष्टि लोग अनेक प्रकार के काय-क्लेश करके भी सत्देव और सत्धर्म तक नहीं पहुँच पाते। अनेक प्रकार की कुचेष्टा करने वाले देव, हिंसामय धर्म और अनेक प्रकार के भोग भोगने वाले साधु सत्य नहीं हैं। उनकी भक्ति करनेसे निराबाध सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। बहुतसे लोग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान न होने के कारण पापमयी चेष्टा करते हैं, उन्हें मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥५२॥

नायकनिल्लद रणमुं
मायाविय परदुमळिपनप्पन धनमुं।
न्यायमणमिल्लदवन-
श्रीयुं निर्दयन तपमुमेनेसेदपुदे ॥५३॥

अर्थ—सेनापति से रहित युद्ध, मायामयी लोगों की कीर्ति, लोभी का धन, न्यायरहित मनुष्य की सम्पत्ति, निर्दयी का तप, ये संसार में कल्याण करने वाले नहीं हैं ॥५३॥

देवन दोरेय वंटरुं दिविजगजद दोरेय मदवारणंगळुमुळ्ळोडं मुख्यना-यक निल्लदे मार्पडेयं गेल्दु गेल्लं गोळल्बारदंते दानपुजे शीलोपवासंगळं माळपुदार गुणमुळ्ळोडमरिदनिसुव तपमं माळपदेहद बलमुळ्ळोडं अष्टादश-दोषदूरनप्प देवनं सारदे कर्मंगळं गेल्दु निर्वाणसाम्राज्यमं पडेयल्बारदु ॥५४॥

अर्थ—जिस तरह देवों की सभा में अनेक योद्धा, ऐरावत हाथी, तथा समस्त सामग्री होने पर भी अगर इन्द्र नहीं है तो उस सब की शोभा नहीं है। इसी प्रकार राजाकी सभा में अनेक वीर, हाथी, अश्व, पैदल सेना आदि समस्त साधन होने पर भी सेनापतिके न होने पर वह युद्ध नहीं जीत सकता। उसी तरह कर्मों की निर्जरा करने के लिए दान, शील, पूजा, कर्मक्षय करने वाले तप को करनेके उपयुक्त शरीर-बल आदि मिलने पर भी अठारह दोष रहित वीतराग देव द्वारा प्ररूपित मार्ग पर यदि श्रद्धा न हो, उनके मार्ग पर चलकर कर्म-निर्जरा करने के साधन न हों तो निर्वाण-पद की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती ॥५४॥

दिनकरनिल्लदंबरमुमुन्नतियिल्लद राज्यलीलेयुं
वनितेयरिल्लदोलगमुमात्मजरिल्लद गेहमुं जग- ।
जननुतमप्प पापहरमप्प सदाशुचियप्प शुद्धद-
र्शनमणमिल्लदातन तपोग्रतेयुं नेरेदोप्पलार्कुमे ॥५५॥

अर्थ—जैसे सूर्य के विना आकाश, उन्नति रहित राज्य, स्त्री के विना क्रीड़ा, पुत्र रहित घर व्यर्थ है, शोभा नहीं पाता, उसी तरह जगत-वन्दित, पापहारी पवित्र सम्यक्दर्शन रहित हैं, उग्र तप, संयम आदि सब व्यर्थ हैं शोभा को नहीं पाते ॥५५॥

(कैदुवुळ्ळोडं भुजबलमुळ्ळोडं मनमिल्लदनितरोळ् पगेयनिरियल्बारदंते तपमुळ्ळोडं दर्शनमिल्लदे सकलकर्मंगळं किडिसल् बारद।कर्म केट्टोडल्लदे निश्श्रेयसश्रेयं पडेयल् बारद) दरिं शुद्धदर्शनदोळ् मुन्नंदृढरागि बळिक्कोळ्ळि तप्प तपमं माळपुदीधर्म मेंतप्पुदेंदोडे ॥५६॥

अर्थ—हाथ, पांव, भुज-बल होने पर भी शत्रु के सामने आने पर यदि मनोबल न हो मनमें शत्रु पर विजय पानेका निश्चय न हो, तो वह हाथ पैरोंका बल व्यर्थ है। इसी तरह तप, सयंम आदि अनेक प्रकार की सामग्री होने पर भी यदि सम्यक् दर्शन न हो तो कर्मों पर विजय पाकर मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः मोक्ष-प्राप्ति के लिये सम्यग्दर्शन को आवश्यकता है। सम्यग्दर्शन होने पर ही व्रत, तप, संयम आदि साधनों द्वारा कर्मों को निर्जरा होती है ॥५६॥

कोलेयेंबीनुडिगे महा-
कलियुं मोदलागे नाडे बेर्चुवनेंदं ।
देलेगळ बगेवोडे जगदोळ्
कोलेयिंदं बिट्टु पातकं पेरतुंटे ॥५७॥

अर्थ—बहुत से लोग हिंसा को धर्म मानकर पाप करते हैं, धर्म के नाम से हजारों जीवों को विविध देवों के नाम पर आहुति देते हैं। यदि जीव हिंसा से धर्म और मोक्ष की प्राप्ति होती तो सभी लोग अहिंसा धर्म का परित्याग करके मोक्ष प्राप्त कर लेते। किन्तु हिंसासे नरकादिके दुःख उठाने पड़ते हैं। अतः महापुरुषोंने हिंसासे विरक्त होकर, तप करके मोक्षकी

प्राप्ति को है । इसलिए जोव-हिंसा भयानक पाप है ॥५७॥

धम्मने सावाचुर्यित तन
धर्मदिनानंदु बळदे नेंबी नुडियं ।
कूर्मेयोळ नुडिवोडीतन
धर्मदोळानळिदेनेंदु नुडिववरोळरे ॥५८॥

अर्थ–जो पापमय धर्म को स्वीकार करके वास्तविक अहिंसा धर्म का तिरस्कार करते हैं, वे संसार में दुःख भार उठाते हैं । अतः प्राणी मात्र की दया ही कल्याणकारी है । यह दयामय अहिंसा धर्म ही संसार-भ्रमण का अन्त करके मोक्ष में पहुँचाने वाला है । अतः जिन्हें आत्म-कल्याण करना है, उन्हें पापमय धर्म का त्याग कर देना चाहिए ।।५८।।

(बल्लिद रप्हर सुगळन्यायदिं दिनितर्थमं नेरल्वेळकुमं वरिंतिर्पवरूरूर-दप्पदोरोर्वर जीवमं कुडल्वेळ्कु मेंदोडे नाडेल्लमातनोळिदिर्चिकादुवरल्लदे तरुववरल्लदरिं जीववधेये महापापं ॥५६॥

अर्थ–कोई राजा महाराजा राज्य, स्वर्ग, पुत्र आदि पाने के लिए धन का लोभ देकर यज्ञ द्वारा मनुष्यों का बलिदान करते हैं, परन्तु धन सम्पत्ति से अधिक प्यारे प्राण होते हैं, अतः कोई भी मनुष्य धनके लोभमें अपने प्राणों की बलि नहीं देना चाहता । अतः वे बलि दिये जाने वाले मनुष्य अपने प्राण बचानेके लिये चेष्टा करते हैं और अवसर आने पर इसके लिये युद्ध भी करते थे । अतः जीव-हत्या महापाप है, अहिंसाके विना कोई धर्म नहीं हो सकता।

सुतरुं नंडरु मय्यनु केळेयनु वल्लाळगळु नोडेनो-
डे तगुळदट्टि पोरळिव कोंद पगेयं कोल्वर्भयं गोळवनं ।
क्षितियं पोर्कुळितिर्दोडं भरदिनिन्निंतप्पुदं ताने क-
णुतुमिदु कोले धर्ममेंदु पिडिवं गापं पेरर्गापरे ॥६०॥

अर्थ–कुछ लोग संसार में अपने स्वार्थ के लिये, अपने परिजनोंके आरोग्य के लिये शत्रु को या मनुष्यकी बलि चढानेमें संकोच नहीं करते । इसी कारण आगामी जन्ममें इस पापके कारण परस्पर एक दूसरेका वध करना, भाई भाईमें कलह होना, पिता पुत्रमें संघर्ष होना आदि कृत्य होते हैं । इस तरह हिंसाके कारण इस लोकमें तथा परलोकमें दुःख उठाने पड़ते हैं । इसलिये मूर्ख लोग धर्म-अधर्म को न समझकर हिंसा में धर्म मानते हैं; किन्तु विवेकी

लोग धर्म-अधर्म का विचार करके धर्म का आचरण करते हैं। ऐसे विवेकशील लोग ही संसार से मुक्त हो सकते हैं ॥६०॥

ई बट्टेयोळसुंकं पिरिदेंदोडे मोदलागदेंबरल्लिगे तक्कर्थमं कोट्टु पोपमेंवर्दीरि गळोळ माबट्टेयोळ् कोंदपरेंदोडे भयदिं पोगलोल्लरेंदोडे कोलेयिंद मग्गळं पापमिल्ल ॥६१॥

अर्थ—यदि यह पता चल जाय कि इस मार्ग में लुटेरे हैं, सिंह आदि क्रूर पशु हैं, तो कोई भी भय से उस मार्ग में जाने के लिए तैयार नहीं होता। इसी प्रकार मृत्यु की घटना जान कर प्रत्येक प्राणी भयभीत हो जाता है। कोई भी मरना नहीं चाहता। ऐसी दशा में हिंसा को धर्म मान कर उसका आचरण करना क्या मूर्खता नहीं है? सम्पूर्ण प्राणियों पर दया करना ही वास्तव में धर्म है ॥६१॥

एगेयूदुं कोलेयिं सुख-
मागदु कडुदुःखमक्कुमेंबुदनरिदिं ।
बागि तिळिदेय्दे कोलेयु
द्योगमनतिकष्टमेंदु बिडुवुदु भव्यं ॥६२॥

अर्थ—किसी प्रकार भी हिंसा से सुख नहीं मिलता, उससे तो दुःख ही मिलता है, ऐसा समझ कर विवेकी जन जीव-हिंसा के मार्ग को छोड़ देते हैं ॥६२॥

दूरदपोगेयं कंडु किच्चुटेंदस्विंते महाविभूतियं बिट्ट कडमं मेट्टि बिल्गोडं करितुर गादिगळ नोल्लदे नायिगळवरसु सिविगेयनिरिसि नडेदु, गणिकाजनमुं मंडळि करुं सावंतरुमिल्लदे क्रूररप्प बेंटेगाररोळकूडि, मणिकंकण मनोल्लदे कैपोडेयं कट्टि दिव्यांबर मनीडाडि करिय कुप्पसमं तोट्टु, हाराद्याभरणंगळनोल्लदे तोलगट्टि, पंचमहाशब्दमनोल्लदे बेंटेपरेयं पोयिस, शांतरूपं बिट्टु क्रूररूपं कैकोंडु नगेयं बिट्टु मुळिसनोळकोंडु, बेटेगे पोपं रौद्रात्मर नेगळतेये नरक गमनमनरिपुदुगुमदं कंडु कोलेये दुःखहेतु वेंदरिदु कोलेयं माणबुदु ।६३।

अर्थ—कहीं पर धुंआ निकलते देखकर मनुष्य अग्निका अनुमान लगा लेता है और उससे दूर होकर जाता है। मदोन्मत्त हाथी भी उस रास्ते को छोड़ कर दूर से निकल जाता है।

मनुष्य भी हाथी-घोड़े पर बैठकर या कुत्तों को साथ लेकर ऐसे जंगल में जाते हैं, जहां भयानक जानवरों का अंदेशा हो। क्योंकि उनको अपनी जान प्यारी होती है। परन्तु मूर्ख राजा वीर-सामन्तों को न रखकर दरबार में गणिकाओं को रखता है, सामन्तोंके स्थान पर भीलोंको रखता है, मणि-कंकड़को न बांधकर हाथमें रस्सी का टुकड़ा बांधता है, दिव्यवस्त्र छोड़ कर फटे वस्त्र पहनता है, गले में आभरण न पहन कर गुञ्जमाल पहनता है, युद्ध के महाशब्द को न सुनकर शिकार के शब्द सुनता है, शान्त शब्द पसन्द न कर क्रूर शब्द पसन्द करता है। हास्य-मुख न होकर रोषको धारण करता है। इस प्रकार जिनके हृदयमें अधर्म की भावना है, सदा जिनके रौद्र भाव और आचरण रहते हैं, वे जीव हिंसा में आनन्द मानते हैं। किन्तु वास्तव में जीव-हिंसा कभी धर्म नहीं हो सकता ॥६३॥

सोगयिप सुखदोळ्कुडुव-
बगेयुळ्ळोडे जैनमार्गमं नंबुगेयिं ।
सुगममने पिडिदु विडुवदु
पगेयिंदुळ्ळळिक कोलेयोळ्दिद मतमं ॥६४॥

अर्थ—जिनको इस लोक परलोक-सुख का अनुभव करना है, उनको जिनेन्द्र भगवान के धर्मकी श्रद्धा करके उसका आचरण करना चाहिए और हिंसामयी धर्म तथा रागी द्वेषी देवों की और लोभी परिग्रही गुरु की भक्ति आराधना छोड़ देनी चाहिए ॥६४॥

इन्नागममेंतप्पुदेंदोडे, विचारमं तिदु वधर्माधिकरणरेंतवरवर्नुडिव पद्धति-यिंदिवर्कळ्ळरिवशुद्धरेंदरिंदरिवरंते बुद्धिवंतर् सकळागमंगळोळाद नुडिगळं परिच्छिसि तिळिदु नरकक्के कारणमप्प कुमतविदु मोक्षक्के कारणमप्प सन्मत-विदंदु नोडि पिडिवुदु ॥६५॥

अर्थ—राग द्वेष आदि दुर्भावों से रहित वीतराग सर्वज्ञ भगवानका उपदेश जिन ग्रन्थोंमें होता है, वे समस्त जीवोंको सन्मार्ग बताने वाले, विश्व-कल्याण करने वाले आगम होते हैं। ऐसे शास्त्रों को ही सत्-शास्त्र माना जाता है। ऐसे शास्त्र ही मोक्ष के कारण हैं। इसके विपरीत जिन ग्रन्थों में हिंसा करने का भी उपदेश है और जो आप्त द्वारा निरूपित नहीं हैं, वे शास्त्र नरकादि गतियों में भ्रमण कराने वाले हैं। अतः शास्त्र की परीक्षा करके ही उसे मानना उचित है।

आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा भी है-

आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥

अर्थ-अर्थात् जो सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित हो, वादी प्रतिवादियों द्वारा खण्डित न हो सके, प्रत्यक्ष और अनुमान से जो विरुद्ध प्रमाणित न हो, जीवादिक तत्वों के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादक हो, सम्पूर्ण प्राणियों का कल्याण करने वाला हो और मिथ्यादर्शनादि कुमार्ग का खण्डन करने वाला हो, वह शास्त्र (सम्यक् शास्त्र) कहलाता है ॥६५॥

कुरुडर्नूर्वनेरेदुं
सुरगिरि मुंदिदुदादोडं काणनरे का ।
पुरुषर्मिथ्याज्ञानिग
ळुरुनिर्वृतिगुय्वधर्ममं कंडपरे ॥६६॥

अर्थ-अन्धे मनुष्य को सुमेरु पर्वत निकट होने पर भी दिखाई नहीं देता । इसी प्रकार मिथ्याज्ञानी पुरुष को सद्धर्म न दीख कर अधर्म ही प्रिय लगता है ॥६६॥

एनितु शक्तियुळ्ळोडमौषधं तरंदुदलेयोळ् रोममं पुट्टिसलारदु; एनितु (गारुडमन्त्र) बीजाक्षरमादोडं कोळेवावं केळिसलारदु; एनितुश्रृङ्गारवतियादोडं सूळे विरक्तन नोलिसलारळंते बद्ध मिथ्यादृष्टियप्प जीवमुमं वेगं नरकं बुगल्वेडिर्दं जीवमुमं अभव्य नप्प जीवनुमं परमागममेनितुलेसागियुं सोलिसलारददु प्रमाणमल्लदु बुद्धिवंतरप्प रारेदु तिळिदु नेंबुवुदु ।६७॥

अर्थ-जैसे शक्तिशाली औषध लगानेसे सिर पर बाल नहीं उगते, गारुड़ मंत्रका प्रयोग करने पर सर्प-विष नहीं चढ़ता, श्रृङ्गारवती वेश्या को वैराग्यकी भावना नहीं होती। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व का उदय होनेसे नरकगामी होता है अभव्य जीव शास्त्रों का अध्ययन भी करे किन्तु उसे सत्धर्मको श्रद्धा नहीं होती । अतः सज्जन पुरुषों को धर्म और अधर्म को परीक्षा करके धर्म को ग्रहण करना चाहिए ॥६७॥

पेलिगे नोणंगळ् कडु
सालदि नेरगुवुवु कप्पुरक्के गेरदुं ।

सोलदिनेरगवु जगदोळ्

पेर्लें मेलायूते कप्पुरं कीळायूते ॥६८॥

अर्थ–मक्खियां जैसे स्वभाव से गन्दगी पर बैठती हैं, वैसे वे कपूर पर नहीं बैठतीं। इसी तरह जगत के अधिकतर व्यक्ति मिथ्यात्व की ओर झुकते हैं। यदि मक्खियां गन्दगी पर ही बैठती हैं, तो क्या इसलिए कपूर हीन समझा जा सकता है ? इसी तरह क्या मिथ्यादृष्टियों ओर अभव्यों द्वारा स्वीकार न करनेसे क्या धर्म हीन समझा जा सकता है।

[पित्तमुळ्ळवर्गे पाल् कैपेयक्कुमल्लदे पित्तमिल्लदंगे कैपेयागदंते तीव्रकर्म-मुळ्ळवंते परमागमं रंजिस दल्लदे लघुकर्मिगे रंजिसुगुं ॥६९॥

अर्थ–पित्त-ज्वर वाले को दूध कडुवा लगता है और जिनको पित्त ज्वर नहीं है, उन्हें दूध कडुवा नहीं लगता। इसी प्रकार तीव्र मिथ्यात्व कर्म का उदय होने पर परमागम नहीं रुचता, मन्द कषाय होने पर परमागम का उपदेश रुचता है ॥६९॥

मोदलिं कडेवरगं पे-

ळवुदु पूर्वापराविरुद्ध मप्पागमदोळ् ।

विदितं केळिल्लदरिं

सुदूरमा मोक्षमेंदु नंबुवुदु बुधं ॥७०॥

अर्थ–आदिसे अन्त तक परस्पर-अविरुद्ध कथन करने वाले आप्तागमको सुनकर जिन्होंने उसका मनन किया है, मोक्ष उनके निकट है, ऐसा समझ कर बुद्धिमानों को सत्शास्त्र पर श्रद्धान रखना चाहिए ॥७०॥

पूर्वापर विरोधमं कंडोडे मोगलागे लोकद जनंगळि वक्कळ्ळनेंदु नंबरेंदोडे पूर्वापर विरुद्धमप्पागममनेंतु केलजडमतिगळ् नंबुवरो ॥७१॥

अर्थ—जिन ग्रन्थों में प्राणियों की हिंसा तथा अहिंसा का परस्पर-विरोधी उपदेश लिखा है, ऐसे अहित करने वाले शास्त्र भी विश्वास करने योग्य नहीं हैं। जैसे चोरी को पूर्वजोंसे आया हुआ व्यवसाय मान कर उसे चोर नहीं छोड़ता, इसी प्रकार असत् शास्त्रों पर भी मिथ्यादृष्टि मनुष्य परम्परागत शास्त्र मान कर विश्वास करते हैं। किन्तु बुद्धिमान व्यक्ति को सत्, असत् शास्त्र का विवेक रखना चाहिए ॥७१॥

पेळवर्तम्मिच्छेगेवरे
पेळवरदेंदोषमाय्ते बेळतनदिंदं ।
केळूवर्ता वेत्तागदे
केळवुदु लेसागि मनदोळारय्युत्तुं ॥७२॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टी लोग अपनी इच्छा के अनुसार आगम को मानते हैं और वही दूसरों को कहते हैं। यदि बुद्धिमान लोग उसमें किसी दोष की उद्भावना करें तो उन्हें वह अप्रिय लगता है। अतः बुद्धिमान लोग उस शास्त्र को अच्छी तरह सुनकर भी अपने पूर्वापर-अविरुद्ध आगम से विचलित नहीं होते ॥७२॥

पंदि केय्यं तिंदोडे कत्तेय किवियं कोयूद रेंबंते सूळबंटंगारदे शंखदगोरवनं बडिद रेंबंते पंडिर दोषक्के मक्कळ मूगं कोयूदरेंबंते अविचारदिं पक्षपातियागदे माणिकभट्टं माणिकमं परिक्षिसुवंते परदं वस्तुवं परिच्छिसुवंते सुजनविंदग्धरं परिक्षिसुवंते बंडारिगपोंन्नं परिक्षिसुवंते विचारपूर्वकमागि धर्मगळं परिक्षिसि परमागम मप्पु दनेकचित्तदिं नंबि संशयमतियागदे तदागमक्रमदोळ् नेगळवुदु; इंतीदान मेंतप्पुदेंदोडे ॥७३॥

अर्थ—यदि सूअर खट्टी चीज खा ले, तो वह गधी का कान काटता है। वेश्याको यदि कोई धनिक पुरुष न मिले तो वह बेचारे वेताल (भोपा) को मारती है। किसी स्त्री के सन्तान न होने पर वह दूसरों के बच्चों की नाक काटने का यत्न करती है। इसी प्रकार अविचारी लोग धर्म-अधर्म को न समझ कर एकान्त पक्षपाती बन जाते हैं। इसीलिए मूर्ख लोगों के धर्म-शास्त्र को कभी न सुने, न उसका पक्ष करे। जौहरी के समान शास्त्रको भी परीक्षा करनी चाहिए। जौहरी जैसे रत्नों की परीक्षा करता है, उसी प्रकार बुद्धिमान को वस्तु-कुवस्तुका परीक्षक होना चाहिए। सुजन लोग चतुर पुरुषोंकी परीक्षा करते हैं, भंडारी सोनेकी परीक्षा करता है। इसी प्रकार बुद्धिमान लोग धर्म-अधर्म की परीक्षा कर परमागम पर श्रद्धा करते हैं। शंका आदि नहीं करते ॥७३॥

उरगततिगं गोवृन्दक्कं मनोहरमागे चे-
च्चरदिनेरेयल्केगं केळोंदे बाविय नीरना ।

दरदीनुरगं पीदौनीर्नंजु जीवधनं सवि-
स्तरदे कुडिदा तोयं पालंते पात्रमपात्रमुं ॥७४॥

अर्थ–सर्प को तथा गाय को एक ही कुए का पानी पिलाने पर सर्प के शरीर में जाकर वह जल विष बन जाता है और गाय के शरीरमें जाकर वह दूध बन जाता है। पात्र और अपात्र भी इसी प्रकार है। अतः पात्र-अपात्र का विचार करके दान देना चाहिए ॥७४॥

सौळ्प्प भूमियनुत्तु [दकमनेरिदु] कसमं कळदुबित्ति बेलियनिक्कि पिरिदुं प्रयत्नमं माडिदोडं करिय भूमिय बेळसिनंतक्कुमे, कुपात्रक्केनित्तु कुदिदु भक्तिमाडिदोडं सुपात्रक्के कोट्ट दानद फलदंतागलरियदद्रिं सुपात्र-दानमे मिगिलेंदरिवुदु; इंतीसत्पुजेयेंतप्पु देंदोडे ॥७५॥

अर्थ–खारी जमीनमें घास आदि दूर करके बीज बोया जावे और मीठे पानी से सिंचाई की जावे तथा कितना भी खाद दिया जावे, किन्तु उसमें खारी फसल ही आती है। इसी प्रकार कुपात्र को कितना ही दान दिया जाय, किन्तु सुपात्र के समान वह फल नहीं देता। जैसे मीठी जमीन में पानी देकर बीज बोया जावे तो उसमें मीठा ही फल आता है। इसी लिये बुद्धिमान पुरुष को पात्र-अपात्र का विचार करके ही दान देना चाहिए ॥७५॥

एलवद पुष्पदोंदुकमनीयतेयं गिळि कंडु सोल्तुको-
मल मिदगंदमितुटुफलं पिरिदागदे माणदेंदु सं- ।
चलमति कादुकोंडु नेलसिदुं बळिक्कदु दूरमागे पो-
यूतलसिपोडर्पुगेट्टे निपवोल् फलमागदु केळकुपुजेयोळ् ॥७६॥

अर्थ–जैसे मृतक पुरुष की हड्डी को देखकर तोता उसकी सफेदी पर मुग्ध हो जाता है और उसे भोज्य समझ कर खाने के लिये ले भागता है किन्तु चोंच मारने पर उसे वास्तविकताका ज्ञान होता है। इसी प्रकार मूर्ख ऐसी कुपूजा करते हैं जिसमें कुछ फल नहीं, कुछ कीर्ति नहीं है, अतः अन्त में वह निस्सार निकलती है ॥७६॥

[बोबुलिय वनक्के निसुकूमेंयिं बेलियनिक्कि नीरनेरेदोडं माविन बनदंते फलमागलार्कुमे ? कुदैवं गळगनित्तु भक्तियिं पुजिसि पोडेमट्टोडं सुदैवमनारा-धिसि पडेव फलवं पडेयवारदु] ॥७७॥

अर्थ—यदि बबूल के बनको अच्छी तरहसे चारों ओर बाढ़ लगाकर पानी लगाया जाय तो क्या उसमें आम का फल लगेगा ? नहीं । इसी तरह जहाँ देवके गुण नहीं हैं, ऐसे कुदेव को पूजा, नमस्कार करनेसे क्या मोक्ष-फलकी प्राप्ति हो सकती है ? नहीं, उससे तो असाता रूप ही फल मिलेगा सुदेवकी पूजा का जो फल मिलता है, वह फल कुदेवकी पूजाका नहीं मिल सकता ॥७७॥

मागियोळाद शीतदोदविंगिरलारदे सेदेगेट्टु बे-
ळागि सुबुद्धिगेट्टु गुरुगुंजेगळं मुसुगळिवनोददिं ।
पोगदे राशिमाडि शेखिगेत्तुरे कायववोलल्व बुद्धिगळ्
रागिसि पोर्दलेंगळ कुदैवदोळं फलमागलार्पुदे ॥७८॥

अर्थ—माघ मास में यदि शीत को दूर करने के लिये अग्नि का प्रयोग न करके गुञ्जा फल का ढेर लगा कर उससे शीत को दूर करने का प्रयत्न करें तो उससे शीत दूर नहीं हो सकता क्योंकि उसमें शीत दूर करने को शक्ति नहीं है । इसी तरह अल्पबुद्धि लोग धर्म में बुद्धि न करके कुदेवको आराधना करते हैं । तो क्या उन्हें सुफल को प्राप्ति होगी ? ॥७८॥

[पुगिडुवेंब पेसरिंग कोळवंळ्ळिय गिडुगळं नट्टुर्नोरेरिदु नडेपे मल्लि-गेय पूविनंता गलरियदंते दैवमेंब पेसरिगे कुदैवमुमनळर्तोराधिसिदोडे सुदैवम-नाराधिसि पडेद लाभमं पोललरियदु] ॥७९॥

अर्थ—फूल के वृक्ष बहुतसे हैं । सत्यानाशीके पेड़ पर भी फूल लगते हैं । यदि उसे पानी से सींचा जाय तो क्या वह सुगन्धित जुही फूल की समानता करेंगे ? इसी प्रकार देव और कुदेव में बहुत अन्तर हैं । कुदेव की आराधना करने से सुदेव को आराधना के समान क्या फल मिल सकता है ? नहीं ॥७९॥

ई वरधर्मदिंदघकुलं किडुगुं सुखमक्कुमक्षय
श्रीवधु सार्गुमुन्नतिकेयक्कु मळं किडुगुंकुधर्मदिं ।
बेत्रसमक्कु मुग्रनरकार्णवदोळगड बीळ्ववनेंबुदं
भाविसि नोडि तन्नोळ परीक्षिसि माळवुदु धर्ममेबुदं ॥८०॥

अर्थ—श्रेष्ठ धर्म के आचरण से पाप-संचय नष्ट हो जाता है । आत्मा उन्नत होता जाता है और अन्तमें अक्षय सुख यानी मोक्षलक्ष्मीकी भी प्राप्ति होती है । तथा इसी तरह अन्त तक

कुधर्म से शाश्वत सुख की प्राप्ति न होकर दीर्घ काल तक नरक में समय व्यतीत करना पड़ता है। इसलिए धर्म-अधर्म और सार-असार का विचार करके बुद्धिमान पुरुष को धर्म की आराधना करनी चाहिए ॥८०॥

लोचं माडिसिकोंबुदरिदोबोळिसिकोंबुदरिदोबत्तलेयिर्पुदरिदोसीरेयुट्टिर्पुदरिदो, पेंडिरं बिट्टिर्पुदरिदो पेंडिरोळ् कूडिर्पुदरिदो, मीयदिर्पुदरिदो मावुदरिदो, मणेयोळ् पडुवुदरिदो पासिनोळ् पडुवुदरिदो, कय्यलु बुदरिदो तळिगेयलु बुदरिदो, कुळ्ळिदु बुदरिदो निंदिदु बुदरिदो, नीरं कुडिवुदरिदो नीरं कुडियदिर्पुदरिदो, एक भुक्तमं माळवुदरिदो पलवुसुळंबुदरिदो, तोलगदोंदेडेयोळिर्पुदरिदो तोळ लुत्तिर्पुदरिदो, पल्लं सुलिदुकोंडिर्पुदरिदो पल्लं सुलियदिर्पुदरिदो, मुट्टुपडवादोडे कूळ नीडाडुवुदरिदो मुट्टुपडमिल्लदुदरिदो, तनगलाभमादोडुगुणबुदरिदो पडेदोडे मत्तु बुदरिदो, सुगन्धद्रव्यमं पुसुवुदरिदो मलमं ताळवुवुदरिदो, बेडदु बुदरिदो बेडिकोंडु बुदरिदो, परर वैगुळं सैरिसुवुदरिदो, पररोडने वायं बडिवुदरिदो पंचेंद्रिय निग्रहमरिदो विषय सेवेयरिदो, पुण्यकेयरिदो मेच्चिदंते नडेवुदरिदो, गोत्रदोळ् कूडिर्पुदरिदो गोत्रमं बिट्टिर्पुदरिदो, पोन्नं तोरेदिर्पुदरिदो पोन्निंगेरगुवुदरिदो, दिवसक्कोमेयल्लदे मत्तमौषधमं सावोडमोल्लेनेंब नियममरिदो, मनक्के बंदंते आडुव नियममरिदो, बगेदिवरोळ् मुन्नं माळवुदावुदु बळिक्के माळवुदावुदु सैरिसि पडेवुदावुदु नेगळलरिदावुदें बुदं विचारिसि ॥८१॥

अर्थ—आत्म-कल्याणके लिये तपश्चर्याके मार्गका भी विचार करना चाहिए। स्वतंत्रतापूर्वक अपने हाथ से केश लोंच करना ठीक है या परालम्बन से कैंचीसे केश कतरना अच्छा है। साधु की दिगम्बर अवस्था ठीक है या कपड़ा पहनना ठीक है। स्त्री को छोड़ कर तपस्या करना ठीक रहेगा या स्त्री को पासमें रखना ठीक रहेगा। स्नान करना ठीक रहेगा या अस्नान करना ठीक रहेगा। पृथ्वी या पाटे पर सोना ठीक रहेगा या पलंग पर सोना ठीक रहेगा। हाथ में भोजन करना ठीक रहेगा या वर्तनों में भोजन करना ठीक रहेगा। बैठ कर आहार करना ठीक रहेगा या खड़े होकर। अचित्त पानी पीना ठीक रहेगा या

सचित्त पानी पीना ठीक रहेगा । एक बार भोजन ठीक रहेगा या दो बार खाना ठीक होगा घूमना फिरना ठीक रहेगा या एक स्थान पर बैठ कर ध्यान अध्ययन करना ठीक होगा। दांतुन करना ठीक रहेगा या दांतुन न करना ठीक रहेगा । रजस्वला स्त्री का स्पर्श किया हुआ आहार लेना योग्य है या उसे न लेना योग्य है । अपने लिये लाभकारक अन्न ग्रहण करना उचित है या हानिकारक । सुगन्धित द्रव्य को सूंघना उचित है या अनुचित । बिना मांगे भोजन करना अच्छा है या मांग कर खाना । किसी के अपशब्द शान्ति के साथ सहन करना ठीक है या गाली देने वाले के साथ गाली गलोज करना ठीक है । पंचेन्द्रिय निग्रह करना अच्छा है या विषय-सेवन करना । आगम-प्रमाण चलना उचित है या अपने मन के अनुसार चलना । गोत्र के साथ रहना ठीक है या गोत्र छोड़ कर रहना । सोने के जेवर को त्याग करके तप करना अच्छा है या उसे पहन कर । रोगकी निवृत्ति के लिये औषध लेकर 'मैं मरूंगा' यह भावना करना अच्छा है या मैं नियम से मरूंगा यह भावना करना । तप करते समय खेल तमाशा करना अच्छा है या खेल तमाशा न करना । पहले विचार करके काम करना अच्छा है या काम करके बाद में विचार करना अच्छा है । कष्ट सहन करके फल प्राप्त करना अच्छा है या विना कष्ट सहन किये फल प्राप्त करना अच्छा है । इस प्रकार सार-असार विचार करके तप-मार्ग को अंगीकार करना उचित है ॥८१॥

इतीगळावुदीध-
र्म तोदळि सुन्नमावुदीधर्म के ।
ळितिदरिं सुखमिदरिं
संततकडुदुःख मक्कुमेंबुदनरिवं ॥८२॥

अर्थ—इस प्रकार धर्म-अधर्म का विचार करके किस धर्म से सुख मिलेगा, किससे दुःख मिलेगा, ऐसा निर्णय करके धर्म धारण करना चाहिए ॥८२॥

[एंदु मुनिवृंदारकं किरिदरोळ् धर्ममं तिळिपुवुदु केळदु पिरिदु संतोष-बट्टु अंदु] चतुर्दशियप्पुदरिंदुपवासमं कैकोंडु मुनिवृषभनं बंदिसि [राज-मंदिरक्के बंदुनेसपर्डुविनमिर्योय्यने कापिनवरं बंचिसि पोळलिं पोळमट्टु [पोगिश्मशानभूमियोळ् रात्रिप्रतिमेनिंदनन्नेग [मित्तल मगध सौंदरियेंब सूळेगे मृगवेगनेंब कळ्ळं कूर्तु कणगाणदाकेय मतदिं] राजश्रेष्ठिय तेंडतियप्प

कीर्तिमतिय कोरळ हारमं कळदुकोंडु पोगलवनं नोट्टने तळारर्कंडु ।।८३।।

अर्थ—इस तरह मुनिराज के मुखसे वारिषेण धर्म-अधर्म और पाप-पुण्य का उपदेश सुन कर अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। सन्तुष्ट होकर उसने चतुर्दशी का व्रत ग्रहण किया और मुनिश्रेष्ठ मुण्डी-पुत्र आचार्य को नमस्कार करके राज-महल में आ गया। जब संध्या का समय हुआ तब राज-महलके पहरेदारोंको समझाकर श्मशान भूमिमें जाकर प्रतिमा-योग धारण किया।

उधर मगधसुन्दरी नाम की वेश्या के यहाँ मृगवेग नामक एक चोर रहता था। उस चोर के पास एक दृष्टिरोधक (नजरबन्दी) विद्या थी। एक दिन वेश्याने उससे कहा कि राज सेठ की स्त्री कीर्तिमती के गले का हार बड़ा सुन्दर है। वह मुझे लाकर दो तो मैं तुम्हारा प्रेम सच्चा मानूंगी। चोर नजरबन्दी विद्या के द्वारा सेठ के घर में घुसा और हार लेकर चल दिया। हार की चमक से उसको कोतवाल ने देख लिया ।।८३।।

बडियिं गुंडि कल्लिं
दिडुतुं बेन्नटे बेंचि भयवशदिं मी ।
नडुगे मतिगेट्टु काल्गळ्
तडेदोडेबिद्दोडु वातनानृपसुतनं ।।८४।।

अर्थ—देखते ही डंडे, पत्थर, ईंट आदि लेकर बहुत से सिपाही उस चोरका पीछा करने लगे। उन्हें देखकर वह चोर बहुत भयभीत हुआ और घबड़ा कर वह भागा और श्मशान-भूमि में वहीं पर पहुँचा जहाँ वारिषेण कुमार प्रतिमा योग धारण किये हुए खड़ा था।।८४।

भोंकेने वंडु बेंचि [कळ्ळं सत्तोडमक्कुं पुलिसत्तोडमक्कुमेंब नाळनुडियंते तळारन कैयोळीतं सत्तोडमक्कुमीतन कैयोळतळारं सत्तोडमक्कुं नगेगेट्टु दानोमेंगेन्न पुण्यदिं पुलि नक्कि बदुं किदनेंदु) हारमं वारिषेण कुमारन मुंदी-डाडि पोपुदुं तळारदेय्देंदु ।।८५।।

अर्थ—वह मन में विचार करता है कि 'चोर मर गया तो शेर मर गया' इस कहावत के अनुसार उसने रत्नहार वारिषेणकुमार के आगे डाल दिया और सोचने लगा कि अब मैं पुण्य-उदयसे बच गया। वह लपक कर एक पेड़ की आड़ में बैठ गया। कोतवालने आकर देखा कि वह हार वारिषेण कुमार के पास पड़ा हुआ है ।।८५।।

निंदिर्द वारिषेणन
नंदवरडहडिसि नोडि कळ्ळनिवं पो ।
संदेयमिल्ले रडिह्रदे
कोंद परेंदजे सेडेदु पोगदे निंदं ॥८६॥

अर्थ---कोतवाल वारिषेण को देखकर सोचने लगा कि अरे ! यह ही चोर है। अब आंखें बन्द करके यह सोचकर खड़ा हो गया है, कि सिपाही लोग मुझे मारेंगे ॥८६॥

एंदु [कळतलेयोळवरिवरेंद रियदं तडवारिसि नोडि मुंदिर्द हारमं कंडु कळ्ळनेंदु निश्चयिसि] दीविगेय बेळगिं नोडि वारिषेणनप्पुदनरिदु बेरगागि ८७

अर्थ–अंधेरा होने के कारण विशेष ऊहापोह न करके सामने हार पड़ा हुआ देख कर सबने उसे चोर समझ लिया। उन्होंने प्रकाश करके आश्चर्य से देखा, अरे ! यह तो राजकुमार वारिषेण है। इनके घर में क्या कमी है। इन्होंने चोरी की है ! आश्चर्य है ॥८७॥

(तुरगक्कं करिगं रथप्रततिगं द्रव्यक्कमिं मेरेयि-
ल्ल रसंगप्पोडे ताने मुख्यनवनीनाथर्पलर्तन्नरि- ।
र्परमोघं नृपनेके कळववगेयं तां तंदनोनोळवोड-
च्चरियेंदंदु तळाररंजि धरणीशाराध्यनं नोडिदर् ॥८८॥

अर्थ–इन्हें हाथी घोड़ों की कोई कमी नहीं, रथ भी अनगिनत हैं। भण्डार में रत्नोंकी कमी नहीं है। यही युवराज हैं, राज्य के मालिक हैं। इन्होंने चोरी करने की भावना क्यों की ? वह कुमार को देखकर आश्चर्य करने लगे ॥८८॥

तुडलिल्लदे कळदनोमे
णुडलिल्लदे पोगिकळदनो तनगरसं ।
कुडदोडे कळदनो केम्मने
दृढचित्तं कळव बगेयनेकेयो तंदं ॥८९॥

अर्थ–क्या इन्हें कोई हार नहीं देता था, इस लिये इन्होंने चोरी की है ? क्या श्रेणिक महाराजने कभी इनको हार देने से निषेध (इनकार) कर दिया था ? फिर ये चोरी करने की भावना मन में क्यों लाये ? ॥८९॥

एंदु (तम्मोळाश्चर्यबट्टु) निन्नल्लिगेवंदु हारमं तोरि जिनसमय वार्धि-वर्धन सुधाकरनं निष्कारणं कळ्ळनेंदु बिन्नपंगेय्वुदु जातिक्षत्रियंगे दुष्टनिग्रह-शेष्ट परिपालनं धर्म मपुदरिं मगनेंदु कारुण्यं गेय्यदे कोल्लमेंदु तळावर्गे नीं बेससुवुदु तळारं कुमारनल्लिगे वंदु) ॥६०॥

अर्थ—इस तरह मन में आश्चर्य करने लगा। तदनन्तर गणधर बोले—राजन्! सिपाही लोग तुम्हारे पास हार समेत वारिषेण को लायेंगे और प्रार्थना करेंगे कि यही चोर है। क्षत्रिय जाति के होने के कारण दुष्ट-निग्रह, शिष्ट-अनुग्रह की नीति के अनुसार क्रुद्ध होकर आप कोतवालको आज्ञा देंगे कि कुमारका तुरन्त वध कर दिया जाय। कोतवाल अविलम्ब शस्त्र लेकर वारिषेण का वध करने को तैयार होगा ॥६०॥

पिसुणर कळ्ळर मिंडर
पेसरं मोदलागे नुडिदोडुर्विशं सै।
रिसनेंबुदनरिदिदु
कसवारक्केके देव नीं बगेदर्दे ॥६१॥

अर्थ—राजा लोग असत्यभाषियों को, चोरोंको, डाकुओंको जीवित रहने का अवकाश न देकर के प्राण-दण्ड की आज्ञा देते हैं। क्योंकि राजाओं को यह बात सहन नहीं होती कि राज्य में अनाचारी बने रहें ॥६१॥

(निन्नय्यन भंडारद
पोन्नेल्लमनक्के पिरिदु तद्धनमिदु।
तन्न दरिद्रन तेरदिं के
म्मने कळविंगे बगेयनेकेयो तंदे ॥६२॥

अर्थ—तेरे पिताके भंडारमें अपार धन भरा हुआ है। उसका एक मात्र तू ही अधिपति है। फिर दरिद्र के समान चोरी करने की भावना तू अपने मन में क्यों लाया? ॥६२॥

अंतोडेदकल्ल केरेयिल्लेंब नाळनुडियंते नान रसन मगनें बल्लिदनेन्नमन-रसं कळदोडं कोल्वनल्लेंदु सोक्कियक्कुं दलेवाय्दु कीर्तिमतिय हारमं कळदु-मेम्मने पेररेडि सलेंदु पोगिदसिय मेले बिळदु सत्त कोडगदंते निनगे कष्टमप्प

सावं माडिकोंडे) एंदु तळारमूंदलिसि नुडियुत्तिरे सम्यक्त्वचूडामणि तन्नोळिंतंदं ॥९३॥

अर्थ—इतना रत्न समूह होने पर भी सेठकी पत्नी कीर्तिमतीका हार तूने क्यों चुराया ? क्या तूने सोचा नहीं कि राजा यह बात सुनेगा तो मुझे दण्ड देगा ? शायद तूने दूसरे के लिए चोरी की होगी । जैसे कुएंके किनारे पर खड़े हुए वृक्षपर चंचल बन्दर कूदता फांदता रहता है और भूल से उस कुए में गिर जाता है । इसी प्रकार तूने मदोन्मत्तकी भांति चोरी करते समय सोचा नहीं कि राजा तुझे भी दण्ड देगा ।

सिपाहियोंकी ऐसी बातें सुन कर सम्यक्त्व-चूड़ामणि वारिषेणकुमार मनमें यह विचार करता है कि ॥९३॥

धरेयं पोक्कडगिर्दोडं जलधियं पोक्किर्दोडं पोगि मं-
दर शैलाग्रदोळिर्दोडं खचररं बेगं शरणबोक्कोडं ।
पिरिदुं द्रव्यमनित्तोडं नडुकर्दि चक्रेशनं सार्दोडं
मरुळे मारणवने कालमेय्दिदवनं क्रूरांतकं कोल्वुदु ॥९४॥

अर्थ—मनुष्य चाहे जमीनमें घुस जाय या समुद्र में घुस कर रहे अथवा मेरुपर्वत पर रहे या विद्याधर की शरण में जावे या किसी साधुकी शरण में जाय, या किसीको बचानेके लिये खूब द्रव्य दिया जाय, या चक्रवर्ती की शरणमें जाय, किन्तु क्रूर कर्म सर्वत्र आकर फल देता है, वह कभी किसी को नहीं छोड़ता और अपने साथ ले जाता है ॥९४॥

मत्तं जवन बिल्लाळत नमं पेळवोडे देवेन्द्रर् तावरेगोळनं सोक्किदाने पोक्कंते माडि, व्यंतरदेवरं सौंतेय बळ्ळियोळळतु पोक्कंते माडि, ज्योतिष्कदेवरं सीतं पत्तिद वाताधिकरंते माडि, भवनवासिगरं करं दवनद मरियं दाळि पोक्कंते माडि, चक्रधरनं वक्रमाद पुळ्ळिगळं मुरेवंते मुरिदु, मांडलिकरं चंडकरसन्नाहं नुंगुवंते नुंगि, बल्लिदरं कल्लं तागिद पुळ्ळियंते नुच्चुनुरिमाडि) रावणनं कोवनमं सीळवंते सीळदु, कुंभकर्णनं कवं मुरिद माळिगेयंते माडि, विभिषणनं साहसमिल्लदरं नंकुवंते नोंकि, इंदगियं पंदेयं काडुवंते काडि, रामनं धूनं सत्तिदंते जीवंगिडिसि लक्ष्मणनं मक्कळगद्दरंते गोळुंडेगो-

ळिसि, सुग्रीवननुद्ग्रिवननंबुतागिदंते माडि, जांबवनं पिंबगला दित्यनंते तेजं गिडिसि, हनुमननुमानं मानदे नेलकिक्कि, पांडवरं दंडिनोळ् पोक्क नरियंते मनं गिडिसि, कौरवरं भैरवं बाय्दरंते तलेकेळगुमाडि, करुणिसदे, वीररं सारलग्गमेनेंदु बेचिदे, मूर्खरं मूर्खरेंदोसरिसदे, स्त्रीयरं स्त्रीयरेन्दु कैगायदे, विकळींद्रियंगळं विकळींद्रियंगळदु तोलगिसदे, नारकरंनारकरेन्दु कोक्करिसदे, पट्टं गह्वदर् कट्टुग्ररें दोल्लेवन्नदे, वडवरं बडवरंदि रिसदे, मान्यरं मान्यगावेनेन्नदे, मुसुपणतपुणेसेयनेरिदंते, कोळि तिप्पेयं पोर्दिदंते, पसिदेम्म बळद केय्यं पोक्कंते, वडवर् कूळ राशियं कविदंते, मल्दुं नुंगियुं सविदुं कर्चियु मेगेय्दुं मेच्चदंते नरियाट वाडुवात नेनगं पीडियं माडिदप्पनेंबुदाव विस्मयं (सुडुबकिर्चिनोळ् तुप्पमनेनिसेरदोड मनिस निसेपेर्चुगुं नीरनेनिसेनिसेरेदोडमनिसनिसे कुंदुगुं, मत्ते पूर्वजन्मद कर्मोदयदिं बंदडसुव साविंगं नोविंग मनिसेनिसंजुवमनिसनिसे भवभवंगळोळल्लं पेर्चुगुं; धैर्यदिं जिनपादपद्मं गळनेबिसेनिसं नेनेवननि सनिसे कुंदुगुं ॥६५॥

अर्थ—जैसे मदोन्मत्त हाथी कमल-वन में घुस जाता है और कमलों का नाश करता है, व्यंतर देव ककड़ी के खेत में घुस जाय तो वह उनका विनाश कर देता है। ज्योतिष्क देव शीत वायु को चलाते हैं, भवनवासी देव करोंघों का नाश कर देते हैं। चक्रवर्ती चक्र भाव से शत्रुओंका नाश करता है। माण्डलिक राजा कर न देने वाले शत्रुओंका विनाश करते हैं। पत्थर से पत्थर भिड़ने पर उसके टुकड़े हो जाते हैं। उसी प्रकार वारिषेण को भी मारा जा रहा है। रावणको जैसे लक्ष्मण ने मारा था। कुम्भकर्णने जैसे स्तम्भ तोड़ दिया था, जैसे सज्जन को मूर्ख मनुष्य सताता है। राम को जैसे धूमकेतु ने घेरा था, लक्ष्मण को शत्रुओं ने नाग-पाश से बांध लिया था, सुग्रीव को जैसे शत्रुओं ने घेरा था, जाम्बवन्त ने सूर्य के तेज को फीका कर दिया था, हनुमान ने रावण-सैन्य के छक्के छुड़ा दिये थे, पाण्डवों के दलमें जैसे कौरवदल फंस गया था। इसी प्रकार राजकुमार उनके बीचमें फंसा हुआ था। निर्दय व्यक्तियोंको करुणा नहीं आती। मूर्खको मूर्खता की ही भावना रहती है। स्त्रीको दूसरी स्त्रीसे लड़ते हुए दया नहीं आती। इसी प्रकार उन लोगोंको भी राजकुमार

पर दया नहीं आ रही थी। युद्ध में मान्य-अमान्य का भाव नहीं रहता। मुर्गी कचरे को पांव से कुरेदती है, भूखी भैंस हरे भरे खेत में पहुँच कर खेत पर दया नहीं करती। गरीब लोग अन्नके ढेरको घेर कर खड़े हो जाते हैं। गीदड़ परस्पर मिलकर खेल खेलते हैं। इसी प्रकार अविचारी राजकर्मचारी बिना विचार किये राजकुमार वारिषेण को कष्ट दे रहे हैं। जैसे घी या मक्खन अग्नि के सामने रखने पर पिघल जाता है, इसी प्रकार वारिषेण मनमें विचार करते हैं कि जो मैंने अशुभ कर्मों का उपार्जन किया है, वे मुझे भोगने ही होंगे। ऐसे दुःख मैंने भव-भव में उठाये हैं। इस समय जो दुःख मुझे हो रहा है, वह कोई दुख नहीं है। नरक में मैंने जो दुःख सहन किये हैं, उनकी अपेक्षा यह कोई दुःख नहीं है। इस प्रकार वारिषेणकुमार जिनेन्द्र भगवानके चरणोंका स्मरण करते हुए विचारते हैं कि जिनेन्द्र भगवान के चरणों का स्मरण करने से ये दुःख दूर हो जांयगे। शरीर का स्मरण करने से ये दुःख दूर नहीं होंगे ॥९५॥

दुरितं किडदन्नेवरं
परम जिनागम मनरियदन्नेवरं नि- ।
ष्ठुरमप्प दुःखचयमुं
मरणमुमावाव भवदोळें पिंगुगुमे ॥९६॥

अर्थ—पाप को नष्ट करने की जिनके भावना नहीं होती, उनमें संकट आने पर उसके सहन करनेकी शक्ति नहीं होती। जिनागम में जिनका श्रद्धान नहीं है, वे दुःख उपस्थित होने पर या मरणोन्मुख होने पर भव-भव दुःख का नाश करने में असमर्थ रहते हैं ॥९६॥

जिनधर्ममेंब नीरिं कर्ममेंब किर्च नंदिसद, जिनागममेंब ग्रहवादियिं दुष्कृतमेंब ग्रहमं कळयदे, जिनसेवनेयेंब दिव्यौषधदिं किल्बिषमेंब कुत्तमं किडिसदे, जिनार्चनेयेंब कोडलियिं पापमेंब दुर्गमं तरियदे, जिनस्मरणेयेंब भैत्र-दिदुरितमेंब समुद्रमं पायदे, जिनव्रतमेंब परुगोलिंदशुभमेंब तोरेयंदाटदे, जिन-पक्षपातमेंब सिडिलिं पुण्यविरोधियेंब मरनं मुरियदे, जिनभावनेयेंब बड-वाग्नियिं विषय सागरमं पिरदे, जिनाभिषेकमेंब कूरलगिं कर्म वैरियेंब पणि-दम निरियदे, जिनकथाप्रीतियेंब सिंहदिंदोष मेंब गजमं सीळदे, जिनधर्म-प्रीतियेंब भेरुण्डनिं मोहमेंब शरभमं कोल्लदे, जिनमुनिदानमेंब गाळियिं लोभ-

मेंब मुगिलं बेदरिसदे, जिन श्रीमुख दर्शनमेंब वज्रदिं मायेयेंब बेट्टवनोडेयदे, जिनपुजानंदमें बनळनि मानमेंब करडमं सुडदे, जिनरूपदर्शननेंब बिसिलिं दोषमेंब तिमिरमं तगेयदे, जिनलक्षण निरीक्षणमेंब चंद्रनिंदंत रायमेंब तावरेयं मुगियिसदे, जिनभक्तियेंब साडरिं दर्शनावरणीयमेंब कळूतलेयं पिंगिरादे जिनतत्वविचारमेंबरसनिं ज्ञानावरणीयमेंबाटविकर नोडिसदे, जिनपदस्नेहमेंब दंडिवेदनीयमेंब गडिय नायकर नडंगिसदे, जिनचरणावलंबनमेंब बलदिं विषयमेंब सूरिगाररं कादि गेलदे, जिनस्तवनरुचियेंब मेघगर्जनेयिं नरकगतियेंब हंसेयनंजिसदे, जिनतत्वाकांक्षेयेंबबाणदिं तिरिकगतियेंब गुरियं पारलीयदे, जिनराराधनेयेंब हिमदिं मनुष्यगतियेंग बाळसहकारमं किडिसदे, जिनरनेरेवियेंब चेणदिं देवगतियेंब निगळमं छेदिसदे, नेरेमनेयवरं पावंपिडियिमेंबंते, नेरेगेयूयवरं बित्तिकोडिमेंबने, सवतिय मगनं बेडिकोळवंते, वटटेवोपरं पुलियनिरियिमेंबंते, तिरियल्बंदवरं कुळनडेमेवंते, बदु बंदवळं पेंडतियागिरेंबंते, लोगरं मनेयं कादिरिमेंबंते, निर्बुद्धितनदिं पळरेनगेंदिर्दोडे शाश्वतसुखं दोरकोळ्ळदु, (मुन्न तन्न माडिद कर्मदु दयदिंदेयुदुव सावुमं नोवुमं परपच्चिकोळ्ळिमेंदोडे पच्चकोळवरे ? सद्धर्ममं पोर्दिसुखमिर्पोडं कुधर्ममं पोर्दि दुःखबडुवोडं ताने पेररोवरुं सग्वायरल्लर् ॥६७॥

अर्थ—जिनधर्मरूपी जलसे कर्मरूप अग्नि को बुझाये विना, जिनागमरूपी ग्रह-निवारक से दुष्कर्म नामक ग्रह का नाश न करते हुए, जिनेन्द्र देवकी सेवा नामक दिव्य-औषधसे पाप और आपत्तिको दूर न करके, जिनेन्द्र देवकी पूजा रूपी कुल्हाड़ीसे पापरूपी वृक्षको न काट करके, जिनेन्द्र स्मरणनामक नावसे संसार-समुद्रको न पाकर, जिनव्रतरूपी पतवारसे अशुभ-नामक नदी को पार न करके, जिन पक्षपात नामक बिजली से पुण्य विरोध नामक वृक्ष को न तोड़कर; जिनेन्द्र-भावनानामकी वडवाग्निसे विषय-सागरको शान्त न करके, जिनाभिषेक नामक फरसे से कर्म वैरी का विदारण न करके, जिन कथा-प्रीति नामक सिंह द्वारा दोष-नामक हाथी का विदारण न करके, जिनधर्म-प्रीति नामक मेरुण्ड द्वारा मोहरूपी शरभ को न मार कर, मुनियोंको दान नामक हवासे लोभरूपी आकाशको न धर्रा करके, जिनेन्द्रदेवके

मुख-दर्शनरूपी बज्र से माया नामक पर्वत को न तोड़ कर, जिन-पूजानन्द अग्नि से मान-नामक घास को न जला कर, जिनरूप दर्शन नामक धूप से दोषरूपी तिमिर का नाश न करके, जिन-लक्षण-निरीक्षण नामक चन्द्र से अन्तराय रूपी कमल को न मुरझा कर, जिन-भक्ति रूपी दीपक से दर्शनावरणीय नामक अंधेरे को नाश न कर, जिन-तत्व बिचार नामक राजा से ज्ञानावरणीत अटवी का नाश न करके, जिनपद स्नेह नामक दंड से वेदनीय नामक कर्म शत्रु को न भगा कर, जिनचरणावलम्बन नामक सेना से विषय नामक शत्रु का सामना करके न जीतने से, जिन-स्तवन-रुचि नामक मेघ-गर्जनासे नरकगति नामक हंस को न डरा कर, जिनतत्वाकांक्षा नामक बाण से तिर्यंच गति नामक लक्ष्य का न वेध कर, जिनाराधना नामक हिम से मनुष्य गति नामक आम के पौदे को नष्ट न करके, जिनेश्वर भगवान के स्मरण रूपी छेनी से देवगति नामक बेड़ीको न काट करके जीव संसार में शुभाशुभ कर्मोंका भोग कर रहा है। डंसने के लिये आते हुए सर्प का यदि स्वयं प्रतिकार न किया जाय तो वह आकर काट सकता है। इसी प्रकार इन्द्रिय-विषय मनुष्य के लिये संसार-परिभ्रमण के कारण हैं। अपने पुरुषार्थ से उनका प्रतिकार किये बिना वे अपना प्रभाव डालते ही हैं। स्वयं बीज न बोकर दूसरे से बीज बोने को कहकर उससे फल चाहने वाले के समान, सौत के लड़के को मांगने के समान, राह में जाते हुए सिंह के आने पर दूसरे से उसका प्रतिकार करने की आशा के समान, भिखारी द्वारा भिक्षा द्वारा अन्न संग्रह करने पर उस संग्रह को लेने की आशा करने के समान, किसी अतिथि (मेहमान) स्त्रीके आने पर उससे अपनी स्त्री बनने की अपेक्षा करने के समान, अपने घर की स्वतः रक्षा न करके दूसरों द्वारा उसकी रक्षा की आशा करने के समान, दूसरे के भरोसे पर आत्म-कल्याण करना असंभव है। जब तक इसके लिए स्वयं पुरुषार्थ नहीं किया जायगा, तब तक आत्म-कल्याण नहीं हो सकता। पूर्व जन्म में उपार्जित कर्मों के उदय से जन्म-मरण-दुःख स्वयं भोगने पड़ते हैं। इसमें दूसरा कोई भागीदार नहीं हो सकता।

कहा भी है—प्राणी ने पहले जो शुभाशुभ कर्म किये हैं, उनका फल भी वैसा ही शुभ या अशुभ भोगना पड़ता है। न कोई किसी के बदले भोग सकता है, न कोई किसीको फल दे सकता है। यदि ऐसा होने लगे तो अपने किये हुए कर्मोंका कोई प्रयोजन ही न रह जाय।

जो सद्धर्म की आराधना करता है, वह सुखी रहता है। जो कुधर्म का सेवन करता है वह दुखी रहता है। मैंने पहले अधर्म का सेवन किया होगा, अतः मुझे यह आपत्ति उठानी पड़ रही है ।।६७।।

रुचिगळोदविं दुःखव्रातंगळिं पेररोत्तिनिं
प्रजेय भयदिं पोन्निं शोतोष्णदिं केलवाळिनिं ।
कुजननेररनिं स्त्रीयिंदरयंत मित्ररगल्केयिं
विजयरळविं साविं नोविं महीशर बाधेयिं ॥९८॥

अर्थ—अनेक प्रकार के रोगों के दुःखों से, परकृत पीड़ा से, प्रजा के भय से, सोने चांदी से, शीत गर्मीसे, दुष्टों की संगति से, स्त्रियों से, अमित्र से, युद्ध से, जन्म-मरण से, राजा की वाधा से यह जीव अनेक प्रकार के कष्ट उठाता आया है ॥९८॥

अरिय भयदिं मुळ्ळिं कल्लिं प्रयाणद पीडेयिं
परदिनळियिं मुन्नं कोंडुंड सालद चिंतेयिं ।
भरद तेरेयिं केडिं दारिद्र्यदिं परमामदिं
दुरितदोदविं दुःखं सागुं मनुष्यरनेल्लियुं ॥९९॥

अर्थ—शत्रु के भय से, कांटे पत्थरसे, प्रयाण करने की पीड़ा से, व्यापार उद्योगके लाभ-हानि से, कर्ज की चिन्ता से, द्रव्य की हानि से, दरिद्रता से, पाप में आनन्द माननेसे मनुष्य को दुःख उठाने पड़ते हैं। ये दुख पाप कर्मके उदय से होते हैं। प्रत्येक जीवको अपने शुभाशुभ कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है ॥९९॥

(मत्तमवनियं पोयूद कय्तप्पिदोडं तप्पुगु. तीव्र-कर्मोदयदिंदडसुव सावुं नोवुं एगेयूदुं तप्पलरियदिदनरित्र महापुरुषंगे साविंगं नोविंगमळलागदेनगिं महावीर स्वामिय चरण पयोजातंगळं नेनेयुतिर्पुदु कज्जमेंदु) ॥१००॥

अर्थ—पूर्व जन्म में किये हुए कर्म महापुरुषों और योगियों को भी फल दिये बिना नहीं छोड़ते। कर्मोदय के कारण जन्म-मरण, सुख दुःख उठाने पड़ते हैं। किन्तु जो इस बात को भली भांति विचार करते हैं, ऐसे महापुरुषों का ये कुछ नहीं बिगाड़ पाते हैं। जो भगवान महावीर के चरणोंका ध्यान करते हैं, उनका यह कर्म कुछ नहीं बिगाड़ सकते। इस प्रकार से वारिषेण कुमार उस उपसर्ग-स्थान भूमि में विचार करते हुए उस महान उपसर्ग में भी अविचल भाव से खड़े हुए हैं ॥१००॥

वीरस्वामिय पादप-
योरुहमं बंदिविडिदु बंट सेरेयं ।
धीरतेयिं पिडिवंते कु-
मारकनुं पिडिद्नेकचित्तदिनागळ् ॥१०१॥

अर्थ—वारिषेण कुमार यह सब विचार करके अपने हृदय में महावीर भगवानके चरणों को इस प्रकार धैर्य से पकड़े हुए है, जिस प्रकार शत्रुओं का संहार करने के लिये कोई वीर दृढ़ता से हाथ में शस्त्र पकड़ता है ॥१०१॥

जिनपदमं जिनमतमं
जिनर गुणोन्न तियनेय्दे जिनगृहमं स- ।
ज्जिन चैत्यमननवरतं
मनदोळ् नेनेयुत्तुमिदु नंतिर्पिनेगं ॥१०२॥

अर्थ—जिनेश्वरदेवके चरण कमलों को, जिनेन्द्रदेवके धर्मको, उनके गुणोंको, जिनगृहको, जिनेन्द्र की प्रतिमा को अपने मन में स्मरण करता है, उस समय...॥१०२॥

आपुरद देवतेगळगासनकंपमागे सम्यक्त्वचूडामणि गुपसर्ग मादुद नरिदु घोरोपसर्गमं पिंगिसलेंदु बंदु मुंदचळितमल्लनागि निंद वात्सल्यरत्नाकरन मन दोळाद धैर्यक्काश्चर्य बट्टु) ॥१०३॥

अर्थ—उस नगर के देवताका आसन कंपित होता है । 'सम्यक्त्व-चूड़ामणि वारिषेण पर घोर उपसर्ग होरहा है, उसका निवारण करना चाहिए', यह विचार कर नगर-देवता वारिषेण कुमार के आगे आकर खड़ा होगया । उनके धैर्यको देखकर वह आश्चर्य-चकित हुआ ।

दुरितारियनदट लेदो
सरिसदे निवृत्तिगे सल्वेनानेंब महा- ।
पुरुषं मनदोळ् कुंददे
चरियदे कलियेनिसि सेडेयर्दितिरवेडा ॥१०४॥

अर्थ—वह कहने लगा—महान् पुरुष महान ही होते हैं । कितना ही उपसर्ग या आपत्ति आ जाय, किन्तु वे अपनी प्रतिज्ञासे विचलित नहीं होते । पाप-मार्गसे दूर होने और निवृत्ति

मार्ग को अपनाने का यही मार्ग है। जो इस मार्ग पर अविचल आरूढ़ रहते हैं, वे ही सुख की प्राप्ति कर सकते हैं। ऐसे पुरुष धन्य हैं।

इतना कष्ट होने पर भी इनके मनमें धर्म के प्रति शंका या दुःखका विकार इनके मुख पर जरा भी नहीं है, न शोकके कुछ लक्षण ही हैं। इन्होंने घोर उपसर्गोंको सहकर धार्मिक दृढ़ता को अपनाया है। ये धन्य हैं ॥१०४॥

एंदु कैगळं मुगिदु पलवुंतेरद पोगळनेगळिं पोगळतुमिर्दरन्नेगं मनदोळ-ळ्ळनिसप्पोडं करुणमिल्लदे निष्ठुररप्प तळारकुमारनं नेलकिक्कुवंते नेल-किक्कि गजरि गर्जेसिनिशितास्त्रंगळनोरेयिंदुर्चिकोंडु तलेयं दडियि पोयदु किवियं बाळि पोयदु कोरलं सुरिगियिंदरिदु मेय्यं कोळ्ळिथिं करिदु नडुवं कोडलियिं कडिदु तोळं गदेयिं बडिदु बेरलनुळियिं कडिदु नोसलनं बिनिं कोरेदु तळमं बाचियिं केत्ते मोळकैयं कोंतदिं कुत्ति बेब्बिरिदु नानाप्रकारमप्प घोरोपसर्गगळं माळपुदु, अवक्के कळ्ळरं कंडंतळकदे कण्णोळगण कसविनं दुळकदे नडुविनंतु बळकदे पुर्विनंते कोंकदे तेरेयंते नूंकदे बेंडिनंते तेंकदे कोळवट्टरं तोळरदे भय मादरंते बेळरदे तरगेलेयंते तळरदे पुल्लेयंते बेच्चदे पोल्लरंते पच्चदे शुभध्यानारूढनागिर्पुदु, सम्यक्त्व-चूडामणियदर्शनशुद्धिगं सुकविनिकर पिकमाकंदन जिनागमद परिणतिगं वात्सल्य-रत्नाकरन मनद स्थिरतेगं सुकविजनमनः पद्मिनीराजहंसन संसारभीतिगं जिनश्रीचरणाळंकार-शीर्षन शुद्धभावनेगं भावयुतदिगंबरदासनपंचपरमेष्ठिगळोळाद भक्तिगं नगर-देव तेगळमच्चे जिनेश्वरनेंब वज्रपंजरमं पोक्किर्दगें [जिननाथनेंब बल्गो] टेयं पोक्किर्दगे जिननाथनेंब वज्रकवचमं तोट्टिर्दगे जिनाधिपनेंब मह्वादियनेरिर्दगे जिनस्वामियेंब चक्रवर्तियं नेम्मिदंगे जिनवल्लभनेंब वनदुर्गमं कैकोंडगे जिन-परिवृढनेंब जलदुर्गमनाश्रयिसिदंगे जिनदेवनेंब चंद्रबलमं बेत्तंगे जिचप्रभावने-येंब भूबलमं पडेदंते जिनकुंजरमेंब रसायनमं साधिसिदंगे जिनागममेंबमृतमं सेविसदंगे जिनधर्म निधान मनोळकोंडगे जिनसेवनेयेंब निधियं कंडंगे जिन-

व्रतर्गेंब केदुविनोळ् परिणतनादंगे जवनुंगिवनुं कर्ममुं गिर्ममुं बिदियुं गिदियुं विधात्रनुं गिधात्रनुं दैवमुं गियूवमुं पापमुं गीपमुं मुप्पुं गिप्पं कुत्तमुं गित्तमुं सावुं गिवुं पीडेयुं गीडेयुं नोवुं गीवुं पुट्टुं गिट्टु मेंबिवेल्लमुमेनं माडलार्पुवेंगे-यूवुवेननोडर्चुवुवेंदु रोडाडि तळाररिरिदेरेल्लमं मकुटमं मणिकुंडलमं हारमं के-यूरमं तोळमणियं कंकणमं मुद्रिकेयं ब्रह्मसूत्रमं देवांगवस्त्रमुमं माडि मत्तं १०५

अर्थ—वह देवता हाथ जोड़ कर उनकी स्तुति करने लगा। मन में तिलमात्र भी दया न रखकर राज-कर्मचारी उन्हें जो कष्ट दे रहे थे, वह कष्ट साधारण नहीं थे। मारते-मारते वारिषेण को धरती पर गिरा दिया था, अपशब्द कह रहे थे। तीक्ष्ण अस्त्रों से उनके शरीर के विभिन्न अंगों में घाव हो गए थे। विविध शस्त्रों से वारिषेण को सता रहे थे। किन्तु इतने उपसर्ग होने पर भी वे अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ थे। न उनके मुख से वेदना का शब्द निकलता था, न आँखोंमें आँसू थे, न दीनता थी, न किसी प्रकार का भय था। विचलित या व्याकुल न होकर अपने शुभ ध्यान में आरूढ थे। वारिषेण कुमार की दृढ़ भावना और उनकी दर्शन-विशुद्धिको देखकर नगर-देवता अत्यन्त प्रभावित हुआ। उसने जिनेश्वर नामक वज्रपंजर को चारों ओर रखकर, जिननाथ नामक वज्र-कवच को पहनाया।

जिनेन्द्र स्वामी के पद में स्थित और अपने हृदयमें श्रद्धा सहित जिनपाद धारण करने वाले, जिनेन्द्र कुञ्जर रसायन को सिद्ध करने वाले, जिनागम-अमृत का सदा सेवन करने वाले, जिनेन्द्र धर्म निधान को मनमें धारण करने वाले, जिनेन्द्र सेवा नामक निधिको प्राप्त करनेवाले, जिनेश्वर व्रतरूपी दीपक जिनके हाथमें हो, उसीमें परिणमन करने वालोंके लिये यमराज, अशुभकर्म-विधाता कुछ नहीं कर सकता। अनेक प्रकारकी आपत्ति, दुःख-मरण आदि सब भाग जाते हैं। कर्मचारियों द्वारा उनके ऊपर किये गये उपसर्ग उनका कुछ नहीं कर सके। सिर पर चोट पड़ते ही वह मुकुट बन जाता था, हाथ पर चोट पड़ते ही वह कंकण बन जाता था, चोट लगने पर पुष्पवृष्टि होने लगती थी, उंगली पर चोट लगने पर मुद्रिका बन जाती थी, कानमें चोट पड़ने पर मणिकुण्डल, गलेमें चोट पड़ने पर हार बन जाता था, चर्म पर आघात होते ही दिव्यवस्त्र बन जाता था, हृदय पर चोट पड़ते ही वहां पर ब्रह्म-सूत्र बन जाता था ॥१०५॥

(छलदिं पुणिसि तलेयं
सेरगिल्लदे पोयूये नगरदेवतेगळुनि-

ष्ठुरमप्पेरं मुदर्दिं
स्कुरियिप सद्रत्नहारमं माडुवुदुं ॥१०६॥

अर्थ—छलसे शरीरमें जैसे अनेक प्रकार के घाव कर रहे थे, देव वैसे ही रत्नों के हार, पुष्पवृष्टि, आभरण करता जा रहा था ॥१०६॥

एरडुं कैगळुमं नि-
ष्करुणिगळडेयिट्टु कडिये देवतेगळमा ।
णिदरदागळ कंकणमा
गिरे माडिद तेरनदवनिगच्चरियागळ् ॥१०७॥

अर्थ—वे जिस समय निर्दयता से वारिषेणके दोनों हाथों को तोड़ने लगे, देवता ने दोनों हाथोंमें कंकण बना दिये। यह देखकर समस्त जनता को आश्चर्य होने लगा ॥१०७॥

बेगं मंटेयनिर्पो-
ळागिरे कर्बुनद डंकेयिं पोय्वुदुमं ।
तागळमुनिसेरं स-
द्रागदिनोड नोडने मकुटमं माडुवुदुं ॥१०८॥

अर्थ—लोहे की शलाका जब सिर में मारने लगे तो तत्काल सिर पर मुकुट बन गया। राजकर्मचारी तीव्र क्रोध से दयाहीन होकर अधिकाधिक कष्ट दे रहे थे ॥१०८॥

परसिंदं नडुवं नि-
ष्ठुरकोपर्पोय्ये नगरदेवतेगळ्वि ।
स्तरदिंदेरं दिव्यां-
बरमागे महानुरागदिं माडुवुदुं ॥१०९॥

अर्थ—फरसे से कमर पर निष्ठुर कोप से मारते थे, तो नगर देवता दिव्याभरण पहना देता था ॥१०९॥

एरडुं किवियु मनोडनोड
नरिये केल्सोक्कि नगरदेवतेगळ् ।

सुरकुण्डलंगळागिरे
विरचिसिदर्नोवु पोर्द्दं तागेरं ॥११०॥

अर्थ—जब दोनों कानोंको शस्त्र से काटते, तब नगर देवता सुन्दर कुण्डल पहना देता।

अंतिरिदेरुगळल्लमं हाराद्याभरणंगळागि विरचिसि सुकविनिकरपिक-मावंदंगे वेदनेयनेंतुं पोर्द्दन्तागे माडुवुदुं दण्डधरर्तम्मिरिदेरुगळल्लं वारिषेण-कुमारंगाभरणं उळागे कंडु निललणमदे निन्नल्लिगे परितंदु महाविस्मयमं पेळुत्तुमिर्द्दरन्नेगं वनदेवतेगळुं पुरदेवतेगळुं नेरेदु ॥१११॥

अर्थ—इस प्रकार देवता चोट के स्थान पर सुन्दर हार आदि का निर्माण करके सुकवि-निकर माकन्द वारिषेणको जरा भी वेदना नहीं होने दे रहा था। वारिषेणके मन में अधिक दृढ़ता बढ़ती जा रही थी। यह देखकर दण्डधर आश्चर्य-चकित हुआ। वह वारिषेणके शरीर पर दिव्याभरण देखकर विस्मित हो गया।

यह समाचार मिलते ही नगरवासी एकत्रित हो गए ॥१११॥

रुंद्र जिनसमय वारिधि-
चंद्रननभिमान धवळनं धैर्यसुरा- ।
द्रींद्रोपमनं त्रिभवसु
रेंद्रननघतिमिरवनजसखसन्निभनं ॥११२॥

अर्थ—अत्यन्त श्रेष्ठ जिनधर्म रूपी समुद्रको बढ़ानेके लिए चन्द्रमाके समान, धवल कीर्ति वाले, मेरु पर्वत से भी अधिक दृढ़ता वाले, पापरूपी अन्धकार को दूर करनेके लिए सूर्य के समान, ऐसे वारिषेण कुमार को...॥११२॥

तम्म विगुर्विसिद नानारत्नखचितमप्प सिंहासनद मेलिरिसि कल्पवृक्षद पुष्पंगळिं मनमारे पुजिसि पोगळुत्तुमिर्द्दरन्नेगं ॥११३॥

अर्थ—उस देवने वारिषेण को अपने द्वारा बनाये रत्न सिंहासन पर विराजमान करके, कल्पवृक्ष के पुष्पोंसे भक्ति-पूर्वक उसकी स्तुति की ॥११३॥

सुरदुन्दुभि पलवुं भो-
र्गरेये वियत्तळदोळिदुं मेरियदेदे ।

वरतंदं पोविन ब-
ल्सरियं नृपसुतन मेले करेयुदु मागळ ॥११४॥

अर्थ–फिर सुरदुन्दुभि आदि नाना प्रकार के बाजों का घोष करके अनेक देवों ने वारिषेण कुमार के ऊपर पुष्पवृष्टि की और जयजयकार करने लगे ॥११४॥

पुरक्षोभमागे नीं सकल जन परिवृतनागि बन्दु कुमारकनं पुजेसुव नगरदेवतेयस्मं जयजय निनादर्दिदंबरदोळिदु मेय्यरियदे पोगळत्व दिविजसमूहमुमं कंडु हर्षचित्तनागि सम्यक्त्व-चूडामणिय चरणयुगळमं चंपकादि कुसुमं गळिदर्चिसि सहजकविजनमनोळ रोद्यानवनकळकंठनधर्यमं बणिणसुतिर्पन्नेगं।

अर्थ–नगर में क्षोभ हो गया। सभी नगर-वासियों ने नगर देव द्वारा की जा रही स्तुति, पुष्पवृष्टि, देवांगना आदि को देखकर मन में आनन्दित होकर सम्यक्त्व-चूड़ामणि के चरण-कमलोंमें चम्पकादि कुसुमोंसे पूजा की और वे सहज कवि-जन रूपी मनोहर उद्यानके कलकण्ठ के धैर्य की स्तुति करने लगे। तत्पश्चात्...॥११५॥

मंदराद्रिनिभक्षमान्वितनं दृढव्रतनं महा-
नंदर्दि सुरकोटि बणिर्णसिदप्पुदीगळ पोगि ना- ।
मुं दयांबुधिवारिषेण कुमारनं नेर नोळपेनें
बन्दर्दि दुदयाचलाद्रिय नेरिदं दिनवल्लभं ॥११६॥

अर्थ–मन्दराचलके समान अचल, क्षमायुक्त, दृढव्रती वारिषेण कुमारकी आनन्द सहित देवता लोग स्तुति कर रहे थे। यह दृश्य देखनेके लिये मानो सूर्य भी दयानिधि वारिषेण के शीघ्र दर्शन करनेके लिये उदयाचल पर चढ़कर निकला ॥११६॥

अंतादित्यनुदयगिरि गजारूढ नप्पुदु कुमारं प्रतिज्ञे तीदु कैयनेत्ति कोळवुदु भयस्थनागि नीं करकमल युगळं गळं मुगिदु ॥११७॥

अर्थ–'उदयगिरि रूपी गजारूढ़ होकर सूर्य जब तक नहीं निकलेगा, तब तक मैं अपने प्रतिमायोगको नहीं छोड़ूंगा,' ऐसी प्रतिज्ञा पूर्ण होने पर वारिषेण ने ध्यान समाप्त किया। यह देखकर राजकर्मचारी अत्यन्त भयभीत हो गए और उनके हाथ जोड़ने लगे ॥११७॥

आनरियदे पिरिद्प्पप-
मानमनेरडिल्लदिंदु माडिदेनदन ।
ज्ञानिय तेरदिं मनदोळ्
नीनिरिसदे बिडुवुव मळगुणगणनिळया ॥११८॥

अर्थ—वे कहने लगे—हे देव ! हम बहुत अज्ञानी हैं। हमने विना विचारे अकरणीय अन्याय आपके ऊपर किया। आप क्षमा करें, आप गुण-निधान हैं। इस प्रकार वे पश्चात्ताप करने लगे ॥११८॥

एंदु पेळवुदुं वारिषेणकुमारं (कळकळिसि) नक्कु मुन्न मेन्न माडिद् पापफलमीनेवर्दि फलमनीयलेंदु बन्दुदक्के नीवेगुविरि ? एच्चंगारदंबिंगे इट्टं-गारदे गुडिंगे पेंडति गारदे तोळितंगे गवुंडं गारदे वारिकंगे कळ्ळं गारदे बट्टे वोपंगे मारं कक्कारदे संकद गोरवंगे बन्दिकारं गारदे तिरिदुणवंगे मन्नेयंगारदे तळारंगे नेरेगारदे मगंगे मुनिवरेंब नाळनुडियंते कर्ममिर्दंते (निमगेके मुनिवें मुनिवोडे दुष्कर्मक्के मुनिवें नीवेन्न पेर्च बयसु विरल्लदे केडं बयिसिरिदेल्लं कर्मराजन परिणतियेंदु निम्म कट्टुकडहमं कळवंदु महाविभूतियिंद रमनेगे वंदु कतिपयदिनमिदुं तन्नोळिंतेंदु बगेदं)॥११६॥

अर्थ—यह बात सुनकर वारिषेण कुमार हंसकर कहने लगे—तुम लोगों ने क्या किया है। पूर्व जन्म के किये हुए अपने पापों का फल मुझे भोगना ही था। तुम इसमें क्या कर सकते हो। तुम्हारा इसमें कोई दोष नहीं है। कर्मों के अनुसार ही जीव को फल मिलता है। मनुष्य यदि सावधान न हो, तो ठोकर लगने पर गिर जाता है। शादी करने वाले को स्त्री की पीड़ा भी सहन करनी पड़ती है। चोरी करने वाले को कैदखाने में जाना पड़ता है। व्यापारी को चुङ्गी चुकानी पड़ती है। शरारत करने पर पुत्रको पिता ताड़ना देता ही है। इसी प्रकार कर्म की जैसी परिणति होती है, वैसा ही होता है। अतः तुम्हारे ऊपर कोई कष्ट आने से मुझे क्या लाभ है। तुम घबराओ मत, तुम्हारा कोई दोष नहीं है।

इस प्रकार कहकर वारिषेण कुमार अपने महल में चला आया। वह मन में विचार करता है...॥११६॥

मुन्ननेक भवंगळोळगतिगेट्टु पापद बिणिप निं-
देन्न नंदनरेन्न पेंडतियेन्न बांधवरेन्न मै- ।
येन्न दोर्बलमेंदु धर्मद बट्टेगाणदे मोहदिं
दिन्नेगं भववार्धियोळ् तिरिदें मनं मुरिवन्नेगं ॥१२०॥

अर्थ—अनेक भवोंमें मति-भ्रष्ट होकर पाप-मार्गसे, मोह के निमित्तसे, स्त्री-पुत्र-परिवार राज्य मेरा है, इस प्रकार मोह के कारण धर्म मार्ग को न समझ कर मैं गिरगिट के समान संसार में भ्रमण करता रहा ॥१२०॥

एल्लयुं जिनधर्ममं जिनवाक्यमं जिनतत्त्वमं
कल्लदोल्लदे पोर्द्देळिसि बेंदु योडिसि पापदिं ।
देल्लियुं नरकादि दुःखमनुंडु कंडु बळल्दु
वंदिल्लि तोट्टने पुण्यदिं नेर पोर्दिदें जिनधर्ममं ॥१२१॥

अर्थ—जहां जैनधर्म का नाम, वाक्य और तत्व सुननेको नहीं मिला, वहां जाकर अनेक प्रकार मैंने जन्म लिया, वहां पर धर्म भावना न होने के कारण मैंने धर्म का तिरस्कार किया। फलतः मैंने अनेक योनियों में अनेक कष्ट पाये। अब कुछ पुण्योदय से मनुष्य जन्म और जैनधर्म को पाया है। अतः मुझे इस अवसर को कभी अपने हाथ से व्यर्थ नहीं गंवाना चाहिए। अब मुझे शीघ्र सब कुछ त्याग कर मुक्ति मार्ग का अवलम्बन लेना चाहिए।१२१।

इन्निदनेळिसि राज्यभिलाषेयिंदिर्देनप्पोडे मदुवेय रागदन्ते सुग्गियुय्यलंते कब्बिन गाणदन्ते पाडुव राजदन्ते बेळवद पर्वदन्ते जळवनेय मोलेयंते बेंटद कोंडाय्दन्ते मध्यान्हदर्कनेंते बिर्दि निक्केयंते मुदवळिगेय शोभेयंते मधुदासद मरदन्ते बेळद केय्य रंजनेयंते तंबुलद रुचियंते तलेय कप्पिनंते केर चित्रदन्ते पुविन बणणदंते तळिपदचेल्विननंते मरूळ मन्नणेयंते बाहिन डोळ्ळिनंते सूळय करेयदन्ते कुंटणेय कूर्मयंते पशुविन करेहदन्ते दीवळिगे यूरदन्ते भूतिन पोगळतेयंते बेळिद- गंळोप्पदन्ते तवमनेयिरनिनंते सौंतेय तोदन्ते कडेयोळ् पेसुपथमुम शोभेयु मागदे पोगददुकारणदिं राज्यांगनेय मोह दिंदुदासीनं

माडिदेनप्पोडे नाय्वालमं पिडिदु तोरेयं पाय्व जडनं पोल्वेनेनगी शाश्वतमप्प सुखमनीव जिनपादमने बल्विडिवेनेंब बगेयं तंदु चेळिनि महादेविय) नोडं-बडिसि पोगि पुष्पगिरियेंब पर्वतदोळिर्द सुरदेवरंबाचार्यरल्लि जिनदीक्षेयं (कैकोंडु उग्रोग्रतपदोळ् नेगळुत्तु मिरे ॥१२२॥

अर्थ—ये सांसारिक विषय असार हैं। यह राज्यकी अभिलाषा विवाहमें होने वाले कुछ समय के मंगल-कार्यों के आनन्दके समान क्षणिक है। ये गन्ने के कोल्हू के समान हैं। गाने वाले के समान हैं। क्षणिक पर्व के समान हैं। यौवन के स्तन के समान हैं। दूसरे के द्वारा की गई स्तुति के समान हैं। मध्याह्न के सूर्य के समान हैं। मित्रता के समान हैं। दूल्हाकी सजावट के समान हैं। वसन्त के वृक्ष के समान हैं। मेंहदी के समान हैं। ताम्बूलकी लाली के समान हैं। सिर के काले बालों के समान हैं। दीवाल के चित्र के समान हैं। फूलके रंग के समान हैं। मूर्खों के समान हैं। ढोल के समान हैं। वेश्या के समान हैं। कुट्टिनी की मित्रता के समान हैं। गाय के बछड़े के समान हैं। दीपावली के भोजन के समान हैं। भूत की बड़बड़ाहट के समान हैं। चन्द्रमा के प्रकाश के समान हैं। पीहरके घर के समान हैं। ककड़ी के बगीचे के समान हैं। जैसे अन्त में ये सब फीके पड़ जाते हैं, इसी प्रकार राज्य-वैभव, स्त्री-पुत्र, सम्पत्ति संसारमें किसीको सदा शोभा नहीं देते। राज्य, स्त्री-पुत्र, दासी इन सब से मोह छोड़ कर मुझे आत्म-कल्याण करना ही उचित है। यदि इनसे उदासीन न हो करके इनके सुखमें मग्न होकर इनके मोह में पड़ जाता हूँ, तो पत्थर की नाव में बैठकर सागरको पार करने वाले मूर्ख के समान ही मेरी प्रवृत्ति कहलायगी। अतः अब मुझे अक्षय सुख की प्राप्ति करना ही योग्य है। अब मुझे भगवान जिनेश्वरदेवके चरणों का ही दृढ़ता के साथ आश्रय लेना चाहिए।

इस प्रकार मन में विचार कर वह अपनी माता चेलनी देवी के पास जाता है और अत्यन्त प्रेमसे तत्व-अतत्वका निरूपण करके उनसे अनुमति मांगता है कि 'मैं अपना कल्याण करना चाहता हूं।' माता से अनुमति पाकर पुष्पगिरि पर्वत पर सुरदेव नामक आचार्य के पास पहुँचता है और उनसे दीक्षा लेकर घोर तपश्चर्या करने लगता है ॥१२२॥

आवारिषेणमुनिगे म-
ळाविभवद् जंघे चारणत्वं पुट्टि- ।

सेवळवुदो जगदोळ् जिन-
सेवनेयिंदिर्प्पवंगिदावुदुगळनं ॥१२३॥

अर्थ—कठोर तपस्या करते हुए वारिषेण कुमार मुनि को जंघाचारण ऋद्धि प्राप्त हुई। ग्रन्थकार कहते हैं—कि जिनेन्द्र देवकी सेवा से संसार में कुछ भी अलभ्य नहीं है ॥१२३॥

अंतु जंघ चारणऋद्धि-प्राप्तनागि (द्वादशतपोनुष्ठान-निरतनुं त्रिदंडरहितनं त्रिशल्यदूरनुं त्रयोदशविधचारित्रसंपन्ननुं अष्टाविंशति मूलगुणयुक्तनुं दशधर्मसमेतनुं चतुःकषायांतकनुं रागद्वेष-मोह-विवर्जितनुं मागि तपदोळेकाद्युत्तरं नेगळुत्तुमिर्दों्दु दिवसं भांडिलनेंब पुरोहितं-गमातन पेंडति पुष्पवतियेंब पार्विंतिगं पुट्टिद मगं व्याकरणादि शास्त्रंगळोळ् कुशलनप्प पुष्पदाडनेंब बाळसखायं सुदंतियेंब ब्राह्मणेयोळ् मदुवेयागिर्द्दनेंबुदं केळदु तन्नोळिंतेंदं)।

अर्थ—इस तरह वारिषेण मुनि जंघाचारण ऋद्धि प्राप्त करके बारह प्रकार के तप से, त्रिदण्ड और त्रिशल्य-रहित तेरह प्रकार के चारित्रसे युक्त, अट्ठाईस मूल गुणोंसे सहित, दस धर्म समेत, चार कषाय रहित, राग द्वेष मोह आदिका परित्याग करके तपस्यामें उत्तरोत्तर उन्नति करते हुए उत्तर गुणों में सावधान रहने लगे। भाण्डिल्य नामक एक पुरोहित था, उसकी स्त्री का नाम पुष्पवती था। उनके एक तर्क-व्याकरण आदिमें कुशल पुष्पडाल नाम का पुत्र था। वह वारिषेणका बालसखा था। कुछ दिन पीछे वारिषेण मुनि को अपने उस बालमित्र पुष्पडाल का स्मरण आया। उस पुष्पडाल का विवाह सुवती नामक एक ब्राह्मणी से हुआ था, तब वारिषेण मन में विचार करने लगे···॥१२४॥

कुरुडर्कुळियोळ् केडदोडे
करुणिसि तेगेववने नंटनघवशदिंदं।
नरकगति गिळे वजेवो-
त्करमुम नोळगगतिगे तपोंडातने केळयं ॥१२५॥

अर्थ—यदि गड्ढे में कोई गिर जाये तो अन्धा मनुष्य उसे नहीं निकाल सकता। इसी प्रकार कुटुम्बी जन संसार रूपी गड्ढे में स्वयं पड़े हुये हैं। उन्हें सच्चे मित्र के अलावा उस गड्ढे से दूसरा कोई नहीं निकाल सकता। अथवा जो उन्हें गड्ढे से निकालता है, वही

उनका सच्चा मित्र है ।।१२५।।

अरिदेनिपघवशर्दिंद्
तिरिव मनुष्यरनुपायदिं सद्धर्म ।
क्कुरुमुदर्दिं तर्पमहा
पुरुषने कल्याणमित्रनवनीतदोळ् ।।१२६।।

अर्थ—पाप के उदय से न जानते हुए मनुष्य संसार रूपी जंगल में भ्रमण करता है। उसे संसार वन से निकाल कर सद्धर्म-मार्ग में लगाकर कल्याण करने वाला ही संसार में सच्चा मित्र होता है ।।१२६।।

एंदु भाविसि पुष्पदाडनं चतुर्गति संसारदिं पोरमुसि पंचमगतियनेय्दि-सुवनेंब समकट्टि दातन (मनेगेवंदु पोसमदवळिगेय केलदोळिर्द पुष्पदाडनंकंडु) करयं पिडिदोडगोंडु बंदु तम्म गुरूगळग पोडेमडिनि निम्मडि चितैसि केळि-मीतं संसार [भीरुवागि जिनदीक्षेयं बयसि] बंदनीतंगे दीक्षेयं प्रसादगेय्यि मेंबुदु ।।१२७।।

अर्थ—पुष्पडाल को संसार की चतुर्गति से निकाल कर मोक्षमार्ग में लगाना चाहिए, यह सोच कर मुनि वारिषेण सीधे पुष्पडाल के घर आये। पुष्पडाल को उन्होंने विवाहित देखा। तब धीरे से उन्होंने उसका हाथ पकड़ा और अपने गुरु के निकट ले गए। तथा गुरु से निवेदन किया—भगवन्! एक भव्य जीव संसार से भयभीत होकर आपके चरणों में आया है। आप इसका उद्धार कीजिए। यह मुनि-दीक्षा लेना चाहता है। आप इसे मुनि दीक्षा देकर इसका उद्धार कीजिये ।।१२७।।

जिनदीक्षेय नातंगा
मुनिपं कारुण्यर्दिंदे कुडे कोंडं ने- ।
ह्नने वारिषेण मुनिपं
मुनिदोडे पोल्लेंदु मनदोळुळ्ळळकुत्तुं ।।१२८।।

अर्थ—पुष्पडाल सोचने लगा—एक ओर तो मेरा यह अभिन्न प्रिय मित्र है, दूसरी ओर गुरु हैं। यह सोचते हुए वह मौन हो गया। तब वारिषेणने उसे मुनि दीक्षाके लिए उत्साहित

किया। तब मित्र की प्रेरणा के कारण पुष्पडाल ने दीक्षा ले ली ॥१२८॥

अंतु मनवल्लद मनदोळ् जिनरूप धारियागि तन्न मदवळिगेय मेले चित्त-मिट्टु बनवन गल्दानेयंते दूरिसुत्तमिर्पुदं वारिषेणमुनि पुष्पदाडन मनमनरिदु तन्नोळिंतेंदं ॥१२६॥

अर्थ—उसको इच्छा तो थी नहीं, वारिषेणकी प्रेरणासे उसने मुनि-दीक्षा तो ले ली, परन्तु उसका मन अपनी स्त्री में ही आसक्त रहा आया। रुचि के विना दीक्षा लेकर उसने मुनि-वेष धारण कर तो लिया, किन्तु उसका मन अपनी स्त्रीमें ही अटका रहा। जैसे हाथीको दूर ले जाने पर भी उसको हथिनी की याद बनी रहती है। वारिषेण उसकी भावनाको समझ कर मन में सोचने लगा ॥१२६॥

कुडियलोल्लदु पालनेंदोडे कूसनोल्लदे नोंदु तायें
बिडुवळे मुनिसिं धरित्रियोळंते नोड विवेकियुं।
जडरनुक्केवरं महादुरितान्वितर्कळनोळ्ळतं
नुडिदु बेसरदेय्दे तिदुर्गु धर्ममं तिळिवन्नेगं ॥१३०॥

अर्थ—यदि छोटा बच्चा दूध नहीं पीता है, तो माता उसको बल-पूर्वक दूध पिलाती है। क्या बच्चे का रोना देखकर माता दूध पिलाना छोड़ देती है? इसी प्रकार से इस जगत में अविवेकी लोग विषय-विषको पीकर दुःखके मार्गमें भटकते फिरते हैं। बुद्धिमान हितैषी लोग उन्हें धर्मामृत पिलाते हैं और उस विषको उगलवा कर सन्मार्ग पर लगाते हैं ॥१३०॥

(अदु कारणदिंदघविकारदिं निर्बुद्धियप्पितनुमनेनेंदेळिसि बिडदे सद्धर्म-दोळ् दृढनप्पंतु जिनागमोक्ति यनरिये तिळिपि निरंतर सुखमनीव तपदोळ् पत्तिसुवेनेंदु पुष्पदाडं गिंतेंदं ॥१३१॥

अर्थ—इस लिये यह निर्बुद्धि पुष्पडाल अनादिकाल से विषय-विष को पी रहा है और संसारसे निकलना नहीं चाहता। अतः इसे धर्म में दृढ़ करना मेरा कर्तव्य है। आगम और युक्ति के साथ इसे समझाना चाहिए।

यह सोचकर वह पुष्पडाल से कहने लगा—॥१३१॥

सिरियिल्ला बेसकेयूव नाडु किरिदें तम्मिद मुर्वीश्वरर्
सिरियर मेणोळरे महाबळयुतर् भोगान्वितर् धारिणे- ।
श्वरनामकमनप्प चक्रधररुं राज्यंगळं बिट्टु नि-
ष्ठुरमप्पुग्रतपक्के तंदरोडलं सामान्यमे केळतपं ॥१३२॥

अर्थ—हे पुष्पडाल ! संसारमें कितने महान् पुरुष हो गये हैं, अनेक मनुष्य राज्य-शासक थे, बलवान थे, महाराजा थे, चक्रवर्ती थे । उन्होंने राज्य को त्याग करके कठोर तपस्या करने के लिये जंगल का सहारा लिया । क्या वे साधारण व्यक्ति थे ? क्या उन लोगों के पास सम्पत्ति नहीं थी ? ॥१३२॥

भरतं षट्खंडवसुं-
धरेयुमनोमोंदले बिट्टु जिनसद्रूपं ।
धरियिसि दनेंदोडु ळिदर-
सिरियुं संपत्तुमळवु बळवुं पिरिदे ॥१३३॥

अर्थ—हे भव्य पुष्पडाल ! षट्खण्ड के अधिपति भरतने सम्पूर्ण पृथ्वी को छोड़कर नग्न मुनि रूप धारण किया । ऐसे ही महान् लोगोंने अपनी विशाल संपत्ति त्यागी, तब सामान्य लोगोंको क्या बात है । क्या तेरे पास ऐश्वर्य, भोग और सम्पत्ति उनसे भी अधिक है? १३३

(स्मररूपं नृपवंदितं सकळषट्खंडावनीवल्लभं
स्थिरचित्तं विभु चक्रवर्तितिळकं शांतीशनंतप्प गं- ।
डरुमिं संसृतिगळक बळिक सुगतिश्रीकांतेयोळकूडलें
दरिदप्पाग्रतपक्के तंदरोडलं सामान्यमे पेळतपं) ॥१३४॥

अर्थ—कामदेव के समान सुन्दर राजाओं द्वारा वन्दनीय, षट्खण्ड पृथ्वी के अधिपति चक्रवर्ती सबमें तिलक स्वरूप शान्तिनाथ तीर्थंकर जैसे प्रचण्ड बलशाली भी संसारसे विरक्त होकर साम्राज्य छोड़ गये तथा उन्होंने अपने शरीर से कठिन तपश्चर्या की और मोक्ष का वरण किया । यदि संसार में सुख होता, तो वे संसार को क्यों त्यागते । अतः तपस्या को छोड़कर और कोई सुख का उपाय नहीं है ॥१३४॥

बेसरदलसदे कुदियदे
सासवेयं कुडिदरंते मरुगदे तपदोळ् ।

सासिगनागिदुं गुणा-
भ्यासंमाळपंगे तडेयलरियदु मोक्षं ॥१३५॥

अर्थ—तप करते समय महान् व्यक्तियों ने अपने शरीर की चिन्ता नहीं की। दुःख नहीं माना, अपने परिणाम विकृत नहीं होने दिये। सरसों की कढ़ी पीने से उदर में जलन होती है, वैसे ही विविध प्रकार के तपों से शरीर को कष्ट होता है किन्तु तपस्वी तपस्या से घबड़ाते नहीं हैं। साहसी होकर के आत्म-चिन्तन का अभ्यास करने वाले पुरुषों को मोक्ष दूर नहीं रहती ॥१३५॥

(परिगोल पन्निकोंलिंदं दोणेयोकोंल् लेसेंबंते मनुष्यलोकदोळप्प शत-सहस्त्र-लक्षकालभवंगळोळाद् सुखमेल्लं स्वर्गदोळाद् वाहनदेवनोंदुगळिगेय सुखमं पोलवेंदोडे उत्तममप्प जिनरूपिंदे संततमप्प सुखं दोरेकोळगुमदक्कल सुवातने गाविलं) ॥१३६॥

अर्थ—पतवार सोने से जड़ी हो और नाव भी सोने से जड़ी हुई हो ऐसी नावमें बैठकर लोभी पुरुष नदी पार करना चाहे तो सोने के मोह से वह यात्री उस नावमें से उतरना नहीं चाहता। इसी प्रकार विषय सुखों में निमग्न होकर प्राणी मोह के कारण संसार-समुद्र को पार नहीं कर पाता और ८४ लाख योनियों में भटकता रहता है। यदि करोड़ों भवों के सुखोंको एकत्रित किया जाय तो भी मुनिचर्याके सुखके बराबर वह नहीं हो सकता। किन्तु मूर्ख लोभी संसारके विषयों के सुखको वास्तविक सुख मान करके संसारमें परिभ्रमण करते रहते हैं ॥१३६॥

तपमने माळपुदु बेर्चदे
तपदिंदं सकलराज्यमुं कैसागुं।
तपदिं निर्वृतियक्कुं
तपदिं परिहरिसुगुं समस्ताघौघं ॥१३७॥

अर्थ—मन में किसी प्रकार का संक्लेश न करके जो तप करता है, उसे ही अक्षय सुख की प्राप्ति होती है। तप से ही मोक्ष का सुख प्राप्त होता है और तप से ही सम्पूर्ण पापों का नाश होता है ॥१३७॥

(दिव्याहारमुमं कूर्प पेर्पतियुमं सुगंधद्रव्यं गळुमं पेरर मेले बिट्टेनगागे नीवुणपुदु नोवनु भविसु वुदु नीवुपभोगिसुवुदेंबनुं धर्ममुमं दानमुमनोदुमं तपमुमं तानलसि पेररिं माडिसुवनुं फलप्राप्तियनेय्दलारं] ॥१३८॥

अर्थ—यदि तुम्हें दिव्य आहार, सुन्दर स्त्रियाँ, सुगन्धित द्रव्य, अनेक प्रकार के अधिकार और मनमाने भोगों के अनुभव करने की इच्छा है तो तपस्या करो। स्वयं करो, दूसरे से कराओ और दूसरे की तपश्चर्या की अनुमोदना करो। यदि तुम स्वयं तप न करके दूसरों से तप कराना चाहो तो उसका फल तुम्हें जितना मिलना चाहिये, उतना नहीं मिलेगा।

ओडलप्पोडशुचि निल्लदु-
पडिके करं जंतिनागरं पेर्वेळि- ।
पेंडे क्रिमिय राति मूत्रद-
मडकेयदं नंबि चपळरेकेयो किडुवर् ॥१३९॥

हे भव्य पुष्पडाल ! यह शरीर अशुचि है। यह मल का घर है, अनेक जीव-जन्तुओंका आगार है। हड्डियों का पुञ्ज है, संमूर्च्छन जीवों की राशि है, मलमूत्र का वर्तन है। इस पर मोहित होकर जीव नाश को प्राप्त होते हैं॥१३९॥

पेरतेनो पल वुदिवसं
पोरगिर्दोडे किडद वस्तुगळ्तनुवनिदं ।
नेरे पोर्दिदनितरोळ पो-
च्चळगेट्टु मलंगळंब पेसरं पडेगुं ॥१४०॥

अर्थ—यह शरीर अधिक दिन तक नहीं टिकता। आयु समाप्त होते ही यह नष्ट हो जाता है। तब इसको कोई छूता भी नहीं। इसमें कोई भी वस्तु सारभूत नहीं है और नाम लेने योग्य भी नहीं, अमंगलरूप है। किन्तु इस शरीरसे मोह करके जीव दुःख उठा रहे हैं।

[मडकेयोळिनिसुबेगमिर्दोडं कोळनेंजलेन्नर् पेसदुम्बरंजदे मुट्टुवराकूळं मानिसर्मुट्टिदनितरोळ् गुणं गेट्टें जलप्पुदु पेरमुट्ट दोसरिपुदरिं शरीरं पोल्लदेंबुदल्लदे शुचियेन लागदु ॥१४१॥

अर्थ—यदि मिट्टीके वर्तनमें अन्न आदि पकाया जावे और उसे कोई नीच अशुद्ध व्यक्ति आकर छू ले, तो कहते हैं कि 'यह अमंगल हो गया।' तब वह अन्न और वर्तन छूने लायक नहीं रहता, उसे बाहर फेंक देते हैं। इसी प्रकार यह शरीर अपवित्र है। मरनेके बाद यह छूने योग्य भी नहीं रहता अतः इसे जला देते हैं ॥१४१॥

एरडुं कैगळिनागळु
मोरसुतुमुदुत्तुमिरदे लेसल्लदोडी ।
पुरुळिल्लदनायोडलं
मरुळे करमोल्दु कूर्प मानिपरोळरे ॥१४२॥

अर्थ—जिस तरह मिट्टी का वर्तन कंकड़ पत्थर लगने से फूट जाता है और फिर वह काम नहीं आता, इसी प्रकार शरीर के अंग टूट जावें तो वे फिर काम नहीं आते। किन्तु संसारी जीव इस शरीर से फिर भी मोह करते हैं। इस शरीर में कुछ भी सार नहीं है। अरे मूर्ख ! तू इस अधम शरीर पर विश्वास करता है और तेरा मन तपस्यामें नहीं लगता। तू सारे विकल्पों को छोड़ दे। इस मलिन शरीर पर मोहित होकरके मनुष्य-जन्मको गंवाने वाला क्या बुद्धिमान कहला सकता है ? ॥१४२॥

एलेयिं बायू मुडियिंदं
तले सीरेयिनंगमेसेगुमिंतिवु पिंगलू ।
कोळेवोडलं क्रिमिरासिय
नेले माणदे सोल्तु पोदु वन्न रुमोळरे ॥१४३॥

अर्थ—पान खाकर, शृङ्गार करके, सुन्दर वस्त्रोंसे शरीरको ढककर शरीरकी मलिनता छिपा दी जाती है। यदि ऐसा न किया जावे और शरीरके कृमि-कुल (कीटाणु) तथा भीतर रक्खे दुर्गन्धित मल को प्रकट कर दिया जाय तो कोई भी मनुष्य उसके पास नहीं ठहर सकता। किन्तु मूर्ख लोग इस घिनावने शरीर पर मोहित होकर मक्खी के समान लिपटे रहते हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है ॥१४३॥

उगुळुं पेलुं सिंबुळु
मगलिर्दवनेय्दे नोडि पेसुवरंत ।

पोग्गुळं पेलं सिंबुळ
मगळदे पोत्तिर्द् तनुगे पेसद्रोळरे ॥१४४॥

अर्थ--थूक, विष्टा, नाकके मल को शरीरसे निकला देखकर लोग घृणा करते हैं। परन्तु मूर्ख लोग यह नहीं देखते कि इस शरीरके भीतर और भी अनेक प्रकारके कृमि (कीड़े) हैं। थूक, कफ, विष्ठा, मूत्र, नाक का मैल आदि इसी शरीर में से निकलते हैं। फिर भी लोग इससे घृणा न करके इससे मोह करते हैं, यह कितने आश्चर्य की बात है ॥१४४॥

तनुवप्पोडे पोल्लदु जो-
वनमुप्पोडे पलवुकालमिरलरियदु कां- ।
चनमप्पोडे दायिगरिं
दनुनयदिं ठक्करिंदमळिवुदु बेगं ॥१४५॥

अर्थ–यह शरीर क्षणिक है, मर्यादाको लेकर आया है, थोड़े दिन आत्मा के साथ रहता है। यदि इससे सम्बन्धित वस्त्र आभूषणादि पदार्थोंको इकट्ठा किया जाय तो उन्हें देख कर चोर डाकुओंके मनमें आर्त रौद्र ध्यान जाग्रत होता है। इससे सम्बन्ध रखने वाली जितनी वस्तुएं हैं। वे सब संसार में दुःख देने वाली हैं। फिर भी इस पर मोह करके जीव नाना आपत्तियों को भोगता है ॥१४५॥

वनितेयरुं तायुं बं-
धुनिकायमुमात्मजातरुं तंतम्मि ।
बने बगेवरल्लदें तु
तनगप्परे नरकगतिगे पोपवसरदोळ् ॥१४६॥

अर्थ–स्त्री, माता, बन्धु, पुत्र आदि, सब अपने स्वार्थ के लिए सेवा और प्रेम करते हैं। इनके लिए अनेक पाप करके द्रव्य कमाया जाता है। उस पाप कर्म से नरकादि गतियों के दुःख भोगने पड़ते हैं। उस दुःख को भोगते समय सगे सम्बन्धी लोग दुख बंटाने के लिये नहीं आते ॥१४६॥

नेरेदिर्द नंटरुं पें
डिरुमय्यनुमिदुं पञ्चुकोळवरे नोवं ।

मरणमनोत्तुव रुजेयं
करुणिसि पेरें केमुम्मनांपरो केलवर् ॥१४७॥

अर्थ—मोहसे एकत्र हुए परिवारके व्यक्ति, जब तक शरीरमें शक्ति है, मनुष्य द्रव्य कमाता है तब तक प्रेम करते हैं, सेवा सुश्रूषा करते हैं। स्त्री भी सेवा करती है। पति के दुःखको अपना दुख मानती है। उसके कमाये हुए द्रव्य का सब बंटवारा कर लेते हैं। किन्तु जब वृद्धावस्था आती है, रोग घेर लेते हैं, उस समय उसकी कोई चिन्ता नहीं करता। अवसर आने पर सब अपने-अपने काम में लग जाते हैं ॥१४७॥

करमोप्पे मूरुकोटियु
वरेनंटरुमिदु कायलार्तरे चक्रे-
श्वरनिरविंतुटु केलवर्
परमार्थं बंडु नंटरं नंबिर्पर् ॥१४८॥

अर्थ—चक्रवर्तीके परिवार तथा सम्बन्धी आदि व्यक्ति साढ़े तीन करोड़ होते हैं। किन्तु जब समय आता है, तब उसकी कोई रक्षा नहीं कर सकता। इस लिये कितने ही परिजन हों, इस जीव को आपत्ति काल में कोई भी सुख देने वाला नहीं है। अतः हे भव्य ! ऐसे परिजनों पर विश्वास करने से क्या लाभ है ? क्षणिक सम्पत्ति और क्षणिक परिजनों पर मोह करके तू व्यर्थ ही अपना जन्म क्यों गंवा रहा है ॥१४८॥

लंकेय दोरेय महानग-
रं कोटे समस्तविद्येगधिपति तानुं।
मुं कलि येनिसिद् रावण
नंकदोळेनण्ण रामनं गेल्द्पने ॥१४९॥

अर्थ—लंकाधिपति रावण राक्षस-वंशी राजा था, वह अनेक विद्याओंका अधिपति था। उसका विशाल कोट था। स्वयं महा बलवान था। किन्तु वह भी राम लक्ष्मणको नहीं जीत सका। और जब लक्ष्मण ने मारा, तब उसकी रक्षा कौन कर सका ? ॥१४९॥

तुप्पद मोहक्के यमेध्यमं कोंडंते (पोन्न मोहक्के बावियोळकैयं नीडुवंते) पेंडिर मोहक्के सरेयं पायूवंते मक्कळ मोहक्के किर्च पायूवंते नंटर मोहक्के

पुसियं पिडिवंते मानिसवाळ मोहक्के—[संसारदोळाद् भोगक्कळिपि पिरि-दप्प सुखमं माळवतपमं किडिसि नरकदोळाद् महादुःखक्कोळगागवेड] १५०

अर्थ—घी के मोह से अमेध्य को ग्रहण करने वाले के समान, सोने के मोह से कुएं में गिरने वाले के समान, स्त्री के मोह से तालाब में गिरने वाले के समान, पुत्रके मोहसे अग्नि में कूदने वाले के समान, बन्धुओं के मोह से सिंह की शरण में जाने वाले के समान, यह जीव जनता के मोह से संसार के दुःखों के अधीन हो जाता है। परन्तु मूर्ख लोग संसार का नाश करके महा दुःखोंसे छूट कर शाश्वत सुख प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं करते।१५०।

ईसिरियीतनुनीधन-
मासति मत्तीविलासमतिविभवं के-।
ळी सुखमानेल नीमने
यीसुतरेलें नित्यमेंदु पदेवने गांपं ॥१५१॥

अर्थ—हे भव्य पुष्पडाल ! यह शरीर, यह धन, यह स्त्री और यह अनेक प्रकार के विलास-वैभव, क्षणिक दिखने वाले सुख हैं, इन्हें अविनाशी मानकर इनमें मोहित रहनेवाले मनुष्य क्या मूर्ख नहीं हैं ? ॥१५१॥

बस्मळलं पिडिदोडे निल-
लरिगुमे तळदोळिववेकियल्लद नरनुं।
मरुगिदोडे मरुकमल्लदे
पेरतें संसारदल्प सुखमिर्दपुदे ॥१५२॥

अर्थ—यदि आलुओं को कोल्हू से पेरा जाय तो उनमें से तेल नहीं निकल सकता। यदि आलुओं का शिखा रूप में ढेर किया जाय तो वे गिरते रहते हैं। इसी प्रकार संसार की क्षणिक नाशवान वस्तुओं का मूर्ख लोग जितना संग्रह करते जाते हैं, वे क्रम-क्रम से नष्ट होती जाती हैं। इनमें सुख का लेश मात्र नहीं है ॥१५२॥

[ओंदु वरुषदारं बक्कारदे सावन्नेवरमेंजलगुळनाय्दुण्बोक्कलमगनुमोंदु भवद् तपक्कारदे पलबुभवं नरकतिरिक्वेदनेयनुण्ब नरनुं बुद्धिवंतरक्कर्। १५३

अर्थ—किसान यदि समय पर परिश्रम न करें तो उन्हें वर्ष भर कष्ट उठाना पड़ता है, उनके कुटुम्बी भूखे मरते हैं। इसी तरह तप न करके यदि मनुष्य-भव को व्यर्थ गंवा दिया जाय तो जीव को अनेक भवों तक दुःख उठाना पड़ता है। जो इस बात को नहीं समझता, वह मनुष्य क्या बुद्धिमान है? ॥१५३॥

तरुणियरेंब पेर्बुलिगळं हरिणाक्षियरेंब क्रूरसी-
केरडिगळं लताललितगात्रेयरेंब महोरगंगळं।
स्मरशरदिंदे मेय्यरियदोय्यनेपोर्दिद्रप्पोडट्टि चे-
च्चरमुरिदोत्ति मेट्टिपुडि यागिदे तिन्नदे पोगलीवरे ॥१५४॥

अर्थ—तरुणिओं [युवती स्त्रियों] रूपी सिंह के झुण्ड, हरिणाक्षी रूपी क्रूर लकड़बग्घे, लता-ललित देह वाली स्त्री रूपी सांपोंके स्मरण मात्रसे काम बाणों द्वारा वे मनुष्यका नाश कर देती हैं। इसके रक्त वीर्य आदि को सुखा डालती हैं। जो इनके अधीन हो गया, क्या इन्होंने उसे नष्ट किये विना छोड़ा है? ॥१५४॥

मत्तं वनितेयर तोळं कामन मसेद बाळन्नदे लतेयेंदोडं ललनेयर कडेगण्ण नोटमं मनसि जनकय्य पाशमेन्नदे नगेगण्णेंदोडं, कांतेयर मेल्मुडियं नंजिनुरुळियेन्नदे मुद्दुनुडियेंदोडं, तरुणियरे कुचयुगळं गळं मोहराजन चक्रमेन्नदे चक्रवाकमेंदोडं, लतांगियर मेल्पोदेद दुकूलमं मोहराजं नेंब बेंटेगारं पर्रेपद बलेयेन्नदे कामध्यजमेंदोडं; कामनियर कर्णयुगळमं कामराजं पिडिदडुणमेन्नदे कमल युधमेंदोडं, बालेयर बेरलुगुर्गळं माया किरातन क्रूरं बुगळन्नदे कामन पंचवाणमेंदोडं, रमणियर पुर्बुगळं जवन बिल्लेन्नदे कब्बिन बिल्लेंदोडं, नितंबिनियरसिय वासेगळं यमराजन बटरेन्नदे शोभा करमेंदोडं, नारियर मूगं कामदेवनेंब बेंटेगारं पेगेदु कोल्व तिदियेन्नदे चंपककुड्मळमेंदोडं, कन्नेयर बाय्देरेयं नरकद बिलमेन्नदे कडुचेल्वेंदोडं, दयितेयर कुरुळपज्तेगळनंतकन कण्णेवल्ले योन्नदे मरिदुंबियंदोडं, अबलेयर कोरल रेखेगळुमं मृत्युराजंगिदु कोल्व नेणेन्नदे कोमलरेखेयेंदोडं, गणिकेयर नोसलं मायानृपन कवलं बेन्नदे

बालशशियेंदोडं, कपटनाटक सूत्रधारेयर श्रृंगारमं नरकद् दारियेन्नदे लेसेंदोडं, मायाकिरातेयर विलासमं केसुरियेन्नदे रमणियमेंदोडं, कुटिलचित्तयर कूटमं काळकूट मेन्नदे नलिदोडं, पापरूपेयर मेळमं कीनाशन गाळमेन्नदे पेर्चुवोडं तन्न केडं बगेवनल्लदे सुखमं बगेयं ॥१५५॥

अर्थ—स्त्रियों की बांहें कामदेव के हाथ में पकड़े हुए फरसे के समान हैं, किन्तु उन बांहोंकी उपमा कोमल बेलसे दी जाती है। इनकी तिरछी चितवन कामदेव द्वारा वश करने वाला जाल समझना चाहिए। उनका हास्य संसारमें फंसाने वाला है। उनके कोमल वचन, उनके स्तन-युग्म मोहराजके चक्र के समान है। ललितांगी के सुन्दर वस्त्र कामदेव की ध्वजा के समान हैं। कामिनियोंके कर्ण-युगल कामीको पकड़नेके लिये कामराजकी हथकड़ी समझना चाहिए। स्त्रियों की उंगलियाँ मायारूपी किरात के बाघनख समझना चाहिए। उनके केश कामदेव के पंच बाण हैं। स्त्रियों की यौवन अवस्था कामी पुरुषों को वश में करने वाला धनुष है। नितम्बिनियों के नितम्ब यमराज के भट हैं। उनकी नाक कामदेवरूपी शिकारी के अस्त्र समान है। उनके मुख का वर्णन नरक के बिल में ले जाने वाला है। स्त्रियों की दंतपंक्ति यमराज का परकोट है। उनके गले की रेखायें मृत्युराज की गलपाश हैं। उनके कपोल मायामयी राजा के समान हैं। उनके लिये बाल-शशी (चन्द्रमा) की उपमा कपट-नाटक सूत्रधार के श्रृङ्गार के समान झूठी और नरक का द्वार बताने वाली है। उनका विलास जंगली भील के समान मारने वाला है। कुटिल-चित्त स्त्रियों का समुदाय काल-कूट के समान है। पाप-मार्ग में ले जाने वाला है। जो मोही मनुष्य इनसे मोह करता है, वह कभी सुख का मार्ग प्राप्त नहीं कर सकता। उसे दुःख के सिवाय सुख का लेश मात्र भी नहीं मिल सकता ॥१५५॥

मायद् टक्किन कपटद्
वायद् कृत्रिमद् मरुकदेरकद् कपटों।
पायद् कणिगळ् संद्
स्त्रीयर्केवलमे सर्वजनवंचकियर् ॥१५६॥

अर्थ—स्त्रियों में अनेक प्रकार का मायाचार, हावभाव, कपट उपायकी खान तथा सर्व-जन-वंचना [ठगाई] रहती है ॥१५६॥

नरकद् बट्टेयनरियद्-
नरर्गं तोरुव पोलं बिगदुष्कृतत- ।
स्करन पिडिदिर्प डाणेग-
ळरविंदाक्षियरनंगनोजेयपिडिगळ् ॥१५७॥

अर्थ—जिसको नरकका मार्ग मालूम नहीं है उसको ये स्त्रियाँ नरक का मार्ग बता देती हैं। वे तस्कर के हाथ में रहने वाली ढाल के समान हैं। इनका सर्वाङ्ग मनुष्य को कारागार [जेल] में डालने के समान है ॥१५७॥

सुगतिय बट्टेय मुळगळ्
सुगतिय बट्टेय चमूरुततिगळ् मत्तं ।
सुगतिय बागिल पडिगळ्
मृगाक्षियर्मोक्षपथद कापिन नायुगळ् ॥१५८॥

अर्थ—ये स्त्री सुगति के मार्गमें कांटे के समान है। ये मोक्ष-मार्ग को बन्द करने के लिए अर्गला के समान है। सिंह के समान है, तथा बड़े नोकीले दान्तों वाले कुत्तों के समान है।

सिरियप्पोडे पुल्गिच्चिन-
दोरे राज्यविभूति मुगिल नेळल समानं ।
तरुणत्वमप्पोडिंद्रन-
वरचापद सरि मनुष्यरेकेयो बेसेवर् ॥१५९॥

अर्थ—स्त्रियां ऐश्वर्यरूपो घास के लिये अग्नि के समान हैं। राजविभूति के आकाश की छाया के समान हैं। यौवन-अवस्था इन्द्र-धनुष के समान है। मनुष्य की आयु जल के बुद-बुदे के समान है ॥१५९॥

दरिय मरदंते जिवित-
मरलेय मसियंते पेंडिरुपभोगं भू- ।
धरनदियंते कलेवर
मरिसिनदंतिर्कुमुद्धतिक्केयुमदटुं ॥१६०॥

अर्थ—यौवन घुने हुए वृक्ष के समान क्षणिक है। स्त्रियों के भोग कपड़े में लगे हुए कच्चे रंग के समान हैं। यौवन पहाड़ी नदी के समान है ॥१६०॥

बलमुं पेंपुं कूर्पं
कलितनमुं दर्पमुं प्रतापमुमळवुं ।
कुलमुं दळमुं जळबो-
ब्बुळिकेयवोल् किडुवुवेके तोनेवर् मूर्खर् ॥१६१॥

अर्थ—बल, कीर्ति, स्नेह, कला, दर्प, प्रताप, कुल ये सब पानी के बुलबुले के समान हैं। किन्तु मूर्ख लोग यह न समझ कर विषयों में लीन रहते हैं ॥१६१॥

ओडलोळ्ळिितादोडं सिरि-
किडदोड मायुष्यमोर्मेगोर्मेगे पिरिद- ।
प्पोडमोवो मनुष्यर् से-
तिडुव वरार्मोगिपन्नरार्वसुमतियोळ् ॥१६२॥

अर्थ—मूर्ख लोग यह नहीं समझते कि जब तक शरीर में बल है, काया नीरोग है, ऐश्वर्य है और आयु है, तब तक इस जीव को सुख का अनुभव होता है, जिस दिन इनका समय पूर्ण हो जाता है, उस दिन वह जीव आर्त ध्यान करके [दुखी होकर] संसारमें परिभ्रमण करता है। किन्तु वह यह नहीं जानता है कि पुण्य कर्म से मिली हुई कोई भी वस्तु नित्य नहीं होती। इसीलिए वह पाप से छूटना नहीं चाहता ॥१६२॥

चेक्कने सावुदुमं सिरि-
नेक्कने किडुवुदुमनरिदु कंडु केळदुं ।
सोक्कुवरुक्कु वरंजदे
यक्कुंदलेमायूवरन्यरेनगिदु चोद्यं ॥१६३॥

अर्थ—रात दिन अपने कान से सुनते हैं कि जहां जन्म है, वहां मरण अवश्य है। जो ऐश्वर्य (सम्पत्ति) है, वह अनित्य है। जन्मा हुआ प्राणी यहां हमेशा रहा नहीं और न रहेगा। परन्तु मूर्ख लोग व्यर्थ ही मदोन्मत्त हाथी के समान भय नहीं करते, उसीमें निमग्न रहते हैं। यह कितने आश्चर्य की बात है ॥१६३॥

तनुवं तपदोळ् धनमं
जननुतसद्धर्मदल्लियुं तविसिकलर् ।
मनदोळपापक्कंजव
रेनसुं दुःखक्के यंजरे नगिदु चोद्यं ॥१६४॥

अर्थ–शरीर को तप करने में, धन को परोपकार या सद्धर्म की वृद्धि में कुछ लोग दान करते हैं। और मन में पाप से भी डरते हैं। परन्तु वे संसार दुःखसे नहीं डरते, यह कितने आश्चर्य की बात है ॥१६४॥

एंदु शरीरदोळाद पोल्लमेयुमं संसारदोळाद दुःखमुमं भोगंगळ केडुमं बालकयनित्ययुमं वनितेयर कष्टतेयुमं स्थितिकरणं महापुण्यमेंबुदुमं बगेदु पन्नेरडुवर्षंवरं माणदे पेळल्पुष्पडाडनोडेद कल्लदोणेयोळरेद नीरंते कैकोळ्ळदे सतियर रूपने भाविसुतिर्पुदुं वारिषेणमुनिनाथं तन्नोळिंतेंदं ॥१६५॥

अर्थ–बारिषेण कुमार पुष्पडाल को संबोधन कर रहे हैं और शरीर तथा भोगों द्वारा मिलने वाले कष्टों को तथा स्त्रियों के सम्पर्क से होने वाले कष्टों को समझा कर मुनिपद में स्थितिकरण कर रहे हैं। धर्म में स्थितिकरण करना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है और पुण्य-बन्ध का कारण है। उन्होंने पुष्पडाल को खूब समझाया। किन्तु पुष्पडाल के मन को उनकी कोई बात नहीं रुची। जो पत्थर की नाव में बैठकर नदी को पार करना चाहता है, उसे काठ की नाव को क्या आवश्यकता है। उसके मनमें कोई बात नहीं समाई। इसी तरह स्त्री के मोह में उसे बारह वर्ष बीत गये। बारिषेण ने सोचा कि यह तो स्त्री के रूपका ही ध्यान करता है, अतः और भी इसको सन्मार्ग पर लानेका कुछ उपाय करना चाहिए।१६५।

आनीपाल्गळ नोल्लदंदु किडुवें तायुं मनं नोगुमें
देनळकर्तेळगूसुगळ् कुडिगुमे संतोषदिं पाल्गळं ।
हिनात्मर्कळुमंते नाडे हितमं सैतं सुखोपायमं
ज्ञानात्मं नेरे पेळदोडं पदेपिनिं कैकोळ्ळरानंददिं ॥१६६॥

अर्थ–माता का दूध छोटे बच्चे को न मिले तो बच्चा जीवित नहीं रह सकता। अतः माता को सदा चिन्ता रहती है कि किसी प्रकार बच्चे के पेट में दूध जाय। वह सन्तोष-पूर्वक कभी दूध नहीं पीता, क्योंकि उसे हिताहित का विचार नहीं होता। किन्तु उसका हित

चाहने वाली माता उसके सुख का उपाय सोचती हुई उसे दूध पिलाती है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव इंद्रिय-विषयों की ओर दौड़ कर भगवान जिनेन्द्र के हितकारी मार्ग को ग्रहण करनेको तैयार नहीं होता, अतः उसे सन्मार्गमें लगाना ही सत्पुरुषोंका कर्तव्य होता है ।१६६।

कळवेय कूळुमं तोवेयुमं तिळिदुप्पमुमं विनोददिं
गळिलने नाय्गे बेगमोसेदिक्किदोडं कडुगेय्दु मत्तम- ।
ळ्वळिसि कनल्दोनल्दुलले पेलने चिंतिसुतिर्पुवंते सं-
चळ मनरुं सदुक्तिगळनोल्लदे चिंतिसुवर्कु मार्गमं ॥१६७॥

अर्थ—जैसे कुत्ते को स्वादिष्ट चावल की खीर, दूध, घी, मिष्टान्न आदि खिलाये और, वह उन्हें खाकर भी उसका ठीक स्वाद न लेकर मैले को ओर दौड़ता है, हड्डी मांस मैले को खानेकी ही इच्छा करता है। इसी प्रकार संसारी भोगी जीव जिनेन्द्र भगवानके उपदेश-अमृत पान करने की योग्यता रहते हुए भी उसे ग्रहण न करके सदा विषय-वासना की ही चिन्ता करता रहता है ॥१६७॥

एंदु मुगुळ्नगेनक्कु मत्तमातननलसि बिडुवुदु पुरुषार्थमेल्लदु गिळियं पंजरदोळिक्कि रक्षिसुवंते पुष्पदाड ननेत्तलुं पोगलीयदे धर्मश्रवणमंगेयुत्तु-मोंदुदिवसं विमळशैलदोळिर्द वर्धमानस्वामिगळ श्रीपादमं बंदिसलेंदु वारि-षेणमुनिपरिवृढं पोपुदु मत्तल् द्रव्यलिंगियागिर्द पुष्पदाडनेडेवेत्तु रागिसि बले-वरिद् कोंकनंते मनेये गुरियागिर्पुदुमागळ् ॥१६८॥

अर्थ—ऐसा विचार करके वारिषेण सोचने लगे कि पुष्पडालको सन्मार्ग पर लगाना ही मेरा कर्तव्य है। यदि इसे मुनिमार्ग में दृढ़ न किया गया तो संभव है यह मुनि-पदसे भ्रष्ट हो जावे। अतः वारिषेण तोतेकी तरह उसकी देख भाल करते थे और उसे धर्म-श्रवण कराते रहते थे। इस तरह कुछ समय पीछे विमल पर्वत पर विराजमान श्री वर्द्धमान स्वामीके चरण कमलों के दर्शन की उन्हें इच्छा हुई। वारिषेण मुनि अनेक मुनियोंके साथ जाने लगे किन्तु उन्होंने द्रव्यलिंगी पुष्पडाल को साथ नहीं लिया। जैसे मनुष्य पिंजरे में रक्खे हुए तोते को बड़ी सावधानी करते हैं, इसी प्रकार उसकी भी सावधानी के साथ व्यवस्था कर गए।

उत्तमगुणगणनिळयं
चित्तजमदभरकरींद्रहरि विमळयशो ।

दान्तं श्रुतांभुनिधि जग-

दुत्तुंगं निष्कषायनपगतदुरितं ॥१६९॥

अर्थ—श्री वारिषेण मुनि उत्तम गुण-निधि, गुणगणकी खान थे, कामदेवके समान सुन्दर, कामदेव रूपी मदोन्मत्त हाथीको परास्त करने के लिए सिंह के समान, श्रुतके समुद्र, जगतमें श्रेष्ठ, अकषाय तथा पाप रहित थे। वे भगवान महावीर के दर्शनों के लिये पहुँचे ॥१६९॥

वारिषेण मुनिवल्लभनुं महावीर स्वामियं वंदिसि तडेयदल्लिदं बंदु पुष्पदाडनेनिप द्रव्यतपस्वियनल्लि काणदे तन्न निवासक्के पोदनेंदरिदु तांजंघाचारण-ऋद्धि प्राप्तनप्पुदरिं मरुज्जवदिं देय्दिपुष्पदाड नेडेयोळ् कंडु पिडिदु कोंडातंगे वैराग्यमं पुट्टिसल्वेडि निन्नराज भवनक्के बर्पुदुं चेळिनि महादेवि वारिषेण मुनिंद्रोत्तपन बरवं दूरदोळे कंडु (पोळतल्लद पोळितनोळे बंदरिदेनानु मोंदु कारणमागल्वेळ्कुमेंदु विस्मयं बट्टु तन्नोळितेंदळ् ॥१७०॥

अर्थ—वारिषेण मुनि महावीर स्वामी की वन्दना करके अपने स्थान पर लौट आये। वहाँ उन्होंने देखा कि द्रव्यलिंगी मुनि पुष्पडाल वहाँ नहीं है। वे समझ गये कि वह अपनी स्त्रीके मोहमें यहाँसे चला गया है। तब वे जंघाचारण ऋद्धि द्वारा झट उसके पास जा पहुँचे और उसे वैराग्य उत्पन्न कराने के लिए पुष्पडालको लेकर चेलना रानीके महलोंमें आये। तब चेलना रानी के मन में शंका हुई कि वारिषेण यहाँ क्यों आया है, यहाँ आनेका कारण क्या है। उसने मन में विचार किया—॥१७०॥

एग्गं मुन्नि मार्ग

मोग्गेंदुरदुक्कि पोगि निललाळदे चेः

सिग्गिल्लदलसि बंदं

गुग्गुरियं तिंब मोग्गु सुगणदोळुंटे ॥१७१॥

अर्थ—क्या इसको तपश्चर्यामें बाधा प्रतीत हुई है, या इसे अपनी माता का (मेरा) स्मरण हो आया है, अथवा इसको खान पान में कुछ असुविधा हुई है, या यह तपश्चर्यासे घबड़ा गया है, इसलिये घर लौट आया है। यदि माता, स्त्रियों और राज्य के मोह से यह लौटा हो तो इसका गृहस्थी में रहना निन्दनीय है। यहाँ उसका रहना चूने का पानी पीने के समान है। जो मुनि-मार्गके कष्टों को सहन कर लेता है, वही मोक्ष मार्गमें सफल होता है।

अळिमनदंगं सुखविं
गेळसुववंगं गृहक्के पंपिगे महो- ।
ज्ज्वळकीर्तिगाटिपंगं
खळंगमळवडदु जैनमार्गं जगदोळ् ॥१७२॥

अर्थ—इन्द्रियोंकी विषय-लालसा रखने वाले, इन्द्रिय सुखकी इच्छा करने वाले, घरबार से मोह रखने वाले, लाभ और ख्याति की इच्छा करने वाले लोग मूर्ख हैं क्योंकि आत्म-कल्याण का यह मार्ग नहीं है। मोक्षमार्ग उनके लिये दूर रहता है ॥१७२॥

(ईतनप्पोडे सुखि कोरल सत्वमिल्लदोरलं नुंगिदरॆंब नाळगादेयंते रत्नळ-वरियेदे जिनस्वामिय जगन्मांगल्यनरूपं धरियिसि तपदोळाद क्लेशक्किरला-रदे) राज्यकांक्षेयिं बंदनागलेवेळकु मल्लदोडिल्लिगेके वंद (निदनाररदु नोडुवे) नॆंदु सरागासनमुमं विरागासनमुम निक्कु वुदुं सुकविजनमनःपद्मिनीराजहंसं वंदु विरागासनदोळिर्पुदुं जिनसमयगगनचंद्रिके वारिषेण मुनींद्रन चरणद्वय-पल्लवंगळं प्रसूनावलिगळिनर्चिसि महाभक्तियिं वंदिसि कैगळं मुगिदु (नम्र-मस्तके यागिदुं) मुंदे कुळ्ळिदुं ॥१७३॥

अर्थ—चेलना देवी मन में विचार करती है कि इसके मुखसे तो यह प्रतीत नहीं होता कि यह अपने मुनि-व्रतसे भ्रष्ट होकर आया है। क्या, बगुला एकाग्र होकर मछली का ध्यान करता है, ऐसा तो नहीं है? जिन भगवान का मंगलवेष [नग्नता] धारण करने के बाद क्लेश होने पर राज्य या स्त्रियों का ध्यान तो इसे नहीं आया? यह किस कारण यहाँ आया है? इस प्रकार मन में शंका करती हुई उसने परीक्षा करने का निश्चय किया और वारिषेण के बैठने के लिए एक सराग-आसन और दूसरा वीतराग-आसन, इस प्रकार दो आसन डाल दिये।

तब सुकवि जन-मानस-राजहंस वारिषेणकुमार उस वीतराग आसन पर बैठ गए और पुष्पडाल सराग आसन पर बैठ गया। तब भक्ति से नमस्कार करके जैनधर्म-रूपी आकाश की चंद्रिका के समान चेलना ने वारिषेण मुनि के चरणों की पुष्पों से पूजा की और हाथ जोड़ कर नम्र मस्तक होकर सामने बैठ गयी ॥१७३॥

मुददिं निम्मडि निम्मय
पदसरसिजयुगळमं महोत्सवदिंदं ।
विदितं कंडेनमोघं
सदमळरेन्निंदमिं कृतार्थरमोळरे ॥१७४॥

अर्थ—वह हाथ जोड़ कर कहने लगी—बड़े सौभाग्य से आपके चरणों के दर्शन हुए । आपके चरण पड़ने से यह स्थान पवित्र हो गया । आप के दर्शन करके मैं कृतार्थ हो गई । हे मुनिनाथ ! मैं आज धन्य हो गई ॥१७४॥

एनगे बेसनावुदेंदोडे निम्म सोसेविरयनूर्वरुमं शृङ्गारं गेय्सि बेगमोढगोंडु बन्निमेने चेळिनी महादेवितन्न मणिमाडक्के पोगि परिचारकियरं बरिसि तडेयदे शृङ्गारगेय्दु बर्पुदु तम्म वल्लभं वंदिर्देनेंदु पेळि मंदयनूर्वर्कुमारियरन्निगट्टुवुदुं अवर्केळदु तंकणोलर तीटदिं नयंबडेद माधवीलतेपर्चिबगेगे वंद शृङ्गारमं माळपन्नियोर्वळ् ॥१७५॥

अर्थ—"मुझे कुछ आज्ञा दीजिये । मैं आपकी सेवा में तत्पर हूं ।" इस प्रकार चेलना देवी के वचन सुन कर वारिषेण मुनि कहने लगे—तुम्हारी जितनी पुत्र-वधू हैं, उनको ठीक शृङ्गार करके यहां लिवा लाओ ।

यह वचन सुनते ही चेलना देवी ने ऊपर महल में जाकर परिचारिका को आदेश दिया कि सब बहुओं को जाकर कह दो कि अपना शृङ्गार करके तुरन्त नीचे आ जावें । उनके पति वारिषेण यहां पधारे हैं । उन्होंने उनको बुलाया है ।

इस समाचार को परिचारिका द्वारा सुनते ही सभी स्त्रियां विविध प्रकार के सुन्दर शृङ्गार करके तैयार हो गईं ॥१७५॥

(अनुराग मोदवे बट्टं
स्तनदोळ् कटिसूत्रमं पदद्वयदोळ् पें ।
पिन हारमं करंगळो-
ळनुनयदिं कट्टि तुरिपर्दिदं बंदळ् ॥१७६॥

अर्थ—जैसे मंगलमय विवाह मण्डपमें बैठनेके लिए विवाह की इच्छुक कन्याका शृङ्गार

किया जाता है, उसी प्रकार गलेमें हार, पैर में पैंजनी, कटिमें मंगलसूत्र, उंगलियोंमें अंगूठो, चोटी में आभरण पहन कर एक-एक करके सब स्त्रियां नीचे आ गई ॥१७६॥

चीलेयिं नोळ्पुवेत्ति पोसजीनमनुट्टु वेंडगुवेत्त प-
ञ्चोलेयनिक्कि कण्गेवरे रूपु विळासमळुं बमागे मू- ।
पालकचित्तमं पडेयलेंदु महोत्सवदिंदे पुण्के यिं
बाळिके बंदळोर्वळतिरागदे किन्नरकांतेयंददिं ॥१७७॥

अर्थ—किसी स्त्री ने चीनांशुक वस्त्र पहन कर अत्यन्त हावभाव से पन्नाके कुण्डल पहने, आंखोंमें काजल लगाया। ऐसा शृङ्गार किया कि, जिसे देखते ही वारिषेण का मन चलायमान होजावे, वह किन्नर-कन्या के समान हाव भाव के साथ आकर खड़ी हो गई ॥१७७॥

हारमनिक्कु पोच्च पोसमल्लिगेयं मुर्दिं तुरुंबि वि-
स्तारदिनिट्टु चंदनद बट्टनळं कृतिर्यिदमुट्टु धा- ।
त्रीर मरोयमप्प मृदुवप्प दुकुलमनर्ति वट्टु वाक-
श्रीरमेयंते बंदळुरदोर्वळपुर्वमनोनुरागदिं ॥१७८॥

अर्थ—एक स्त्री गलेमें सुन्दर पन्ना का चन्द्रहार पहने, जपाकुसम और चन्दनका तिलक तथा छोटी बिन्दी लगाकर, अमूल्य सुन्दर वस्त्र पहने आई। उसके वस्त्र अत्यन्त कोमल थे। मानो सरस्वती ही अवतरित हुई हो, इस प्रकार अनुरागके साथ आकर खड़ी हो गई।

सुळिगुरुगोळि कण्गेवर नीळदलर्गयकळुरय्यमागे को-
मळतनु भंगिवेत्तसेये पर्विद पुर्विनिगंपु सोलमं ।
धळिसने माडेभूभुजन चित्त मनीगळ सूरेगोळवनें
बळिपिनदोर्वळुर्वशिवोलोप्पिरे बंदळुदात्त लीलेयिं ॥१७९॥

अर्थ—एक स्त्री के बाल घुंघराले थे वह एक दृष्टि से कटाक्ष फेंक रही थी, भावभंगिमा से वारिषेणके चित्तको आकर्षित करने का विश्वास लिये विलास लीला सहित वहां आकर खड़ी हो गई ॥१७९॥

सुलिपल् विभ्रममं मुखं कमळमं पाठीनमं कण्कळु-
ज्ज्वळभाळेंदु मनोभुवेत्त निटिळं कर्णद्वयं वेद्दिवं ।

नळितोळ् सल्ललेयंदमं नेरेये पोल्तोरंते चेल्वागे को-
मळयेोर्वळ् नडेतंदळंदु मदनेभेंद्रजेोलाश्चर्यदिं ॥१८०॥

अर्थ–तथा च–अनार के समान सुन्दर दन्त-पंक्ति, विभ्रम सहित मुख-कमल, मछली के समान भौंहें, हरिण के समान आँखें, उज्वल भाल, दोनों कानोंमें केतकी के समान हीरेके कुण्डल, लताके समान सुन्दर हाथ, भुजबन्द पहने अत्यन्त रूपवती एक स्त्री हाथीके समान मस्तचाल से चलकर वहाँ आई ॥१८०॥

उडियदे माणदीमुडिय भारदोळीकोरलाद् पांगिनिं
दुडियदे माणदीकुचद भारदिनोळ्नडुवक्कटक्कटि- ।
न्नुडियदे माणदीकटिय भारदिनीकणकाल्गळेंदु ने-
र्पडे पलर्गोर्वळच्चुतमनोमेंये पुट्टिसि बंदळर्तियिं ॥१८१॥

अर्थ–एक स्त्री अधिक श्रृङ्गार न करके सादे वेष में वहाँ आई । वह अत्यन्त रूपवती थी किंतु स्थूल देहवाली थी । देखने में वह अत्यन्त सुन्दर और गुणवती थी । ऊपर से नीचे उतरनेमें उसे काफी श्रम अनुभव हुआ । वह आकर अत्यन्त विनय के साथ खड़ी हो गई ।

मदनन मंत्रदेवतेयो कामन नच्चुव पुष्पबाणमो
मदनन गंधसिंधुरमो मन्मथराजन राज्यलक्ष्मियो ।
विदितमिवळजगत्त्रयमिदेंबभिशंकेयनुंटुमाडि सं-
पद्दिनपोर्वरूपे नडेतंदळनंगन शस्त्रदंददिं ॥१८२॥

अर्थ–एक स्त्री काम-देव की मंत्रदेवता प्रतीत होती थी, या मालूम पड़ता था कि यह कामदेव का पुष्प बाण है या कामदेव का राग सिन्दूर है । ऐसी जगत को आश्चर्य में डालने वाली, अपूर्व रूप और यौवन को लिये आकर खड़ी हो गई, मानो कामदेवका शस्त्र बनकर यह वारिषेण मुनि को विजय करने आया हो ॥१८२॥

जिननोर्वं पेरगागे मत्तुळिदरं जेयेंबिनं कोंडु कू-
गेने तानेंदु महाप्रतापदोदविं मेरवेर्चे वीरक्के तो ।
ट्टनेमुरवांतु मनोजराजनदटिंदेत्तिर्द पाठीनके-
तनमं पोल्तुदु कांतेयोर्वळ कटाक्षदंद विक्षेपणं ॥१८३॥

अर्थ–भगवान जिनेश्वर के सिवाय संसार में जितने भी संसारी जीव हैं, उनको जीत कर अपने प्रताप द्वारा वारिषेण को भी अपने अधीन करने के लिये मानो कामदेव ने ही इसे भेजा हो अथवा संसारमें अपनी वीरता का अभिमान करने वाले वीरोंको अपने अधीन करने के लिए मोहिनी देवी को भेजा हो, अथवा कामदेव को प्रसन्न करके वीरों को विजय करने भेजा हो, ऐसी मत्स्य-ध्वजा वाली भौंहों को धारण करने वाली एक स्त्री वहां आकर खड़ी हो गई ॥१८३॥

सुळिगुरुळ पज्केततुंबिय
बळगद वोल् शोभेवेत्तु रंजिसि मोलेगळ् ।
कठशदवोलेसेये वंदळ्
विळासदिंदोर्वळंगजातन सतिवोल् ॥१८४॥

अर्थ–अत्यन्त सुन्दर मुख कमल में ताम्बूल खाये हुए, मानो पुष्प के अन्दर मकरन्द हो, सोनेके समान उन्नत उरोजों वाली एक स्त्री वहां आई, मानो वह कामदेव की स्त्री रति ही आ गई हो ॥१८४॥

सरसिरुहवदने मदसिं-
धुरगामिनि नीलकुटिलकुंतळयोर्वळ् ।
तरुणि मनसिजन नच्चिन
सरलेनिसि विळासममरे नयदिं बंदळ् ॥१८५॥

अर्थ–कमलनयनी, मदोन्मत्त गज के समान गमन करने वाली, नील कुटिल कुन्तल वाली, कामदेव का भी मन हरण करने वाली एक तरुण स्त्री आकर खड़ी हो गई ॥१८५॥

ऴलुगे कुरुळ् तोडवु पळं
चलेये तळत्तळिसि पोळये तनुरुचियोर्वळ् ।
कळहंसगमने कामन
तोळगुव कूरं बिनंते पदेपिंवंदळ् ॥१८६॥

अर्थ–पांव में पेंजनी, शरीर में रत्नमयी भूषणोंसे सुशोभित, रूपवती, हंसगामिनी कामदेव के चमकते हुए बाणों के समान एक स्त्री वहाँ आकर खड़ी हो गई ॥१८६॥

तरळाक्षि नटफलाधरे
सुरुचिर नानाविभूषणान्वितेयोर्वळ् ।
सुरवनितेये वसुमतिगव
तरिसिद्ळवंते विभवदिंद ब ंदळ् ॥१८७॥

अर्थ—कमलनयनी, बड़फलके समान लाल होठों वाली, मनोहर भूषणोंसे सजी हुई देवी के समान सुशोभित होने वाली, मानो स्वर्गसे अवतरित हुई हो, इस प्रकार की एक स्त्री आकर खड़ी हो गई ॥१८७॥

तरुणहरिणाक्षि बिंकं
बेरसोर्वळ्नोड गळिगेगोरडियं वि ।
विस्तरदिंदिडुतुं ब ंदळ्
नेरेविय नोटकर मनमनळ्ळाडिसुतुं ॥१८८॥

अर्थ—तरुण हरिण के समान आँखों वाली, पतली कमर वाली, अनेक प्रकारके शृङ्गार से युक्त, रति के समान सुन्दर एक स्त्री वहाँ आकर खड़ी हो गई ॥१८८॥

सल्ललित गात्रयोर्वळ
मल्लिगेयं मुडिदु मुत्तिनेसरमं त- ।
ळिवळ्ळदे कट्टि मनोजन-
बिल्लि बवु्किद शराळियंतिरे बंदळ् ॥१८९॥

अर्थ—ललित गात्र वाली, मल्लिका पुष्पों को सिर में गूंथे हुए, गले में मोतियों का हार पहन कर सुशोभित, कामदेव के धनुषके समान शोभायमान, एक यौवन-सम्पन्न स्त्री आकर वहाँ खड़ी हो गई ॥१८९॥

तरणियुमं चंद्रनुमं
सिरिकंडद बोट्टुमेसेव कुंकुममु पो- ।
ल्तिरलमवासेवोलोर्वळ्
सरोजमुखि बंदळंदु विभ्रमदिंदं ॥१९०॥

अर्थ—एक सुन्दरी चन्द्रमुखी तरुणी अपने मस्तक पर कुंकुम की बिन्दी लगाये हुए अत्यन्त विभ्रम के साथ आकर खड़ी हो गई ॥१६०॥

नसुगेंपुवडेद् दशनद्
मिसुपधरद् केंपुमिनसुधाकररं पो- ।
ल्तेसेदिरे पुसणेमेयंतिरे
शशिमुखि तेडेतंदळोर्वळतिशयदिंदं ॥१६१॥

अर्थ—एक सुन्दर श्याम-वर्ण वाली, पूर्णिमा के चंद्रमा के समान कांति वाली स्त्री, लाल वर्णकी सुन्दर साड़ी पहने, सुन्दर आभरण धारण किये हुए वहां आकर खड़ी हो गई ।१६१।

अंतु श्रृंगाररसंगळ् मेरेदप्पिदंते लावण्ययुक्तेय रप्पय् नूरुसोसेदिरु चेळिनीमहादेवियल्लगे त्रर्पुदुं रसवेंरसु सम्यक्त्वचूडामणि यल्लिगे चेळिनीमहादेवि वंदु पोडेमट्टिर्पुदुं ॥१६२॥

अर्थ—इस तरह शृङ्गार रस ही मानो वहां प्रवाहित हो रहा हो, ऐसी अत्यन्त लावण्य-युक्त, चेलना देवीको वे पुत्र-वधुएं चेलना देवीके पास आकर खड़ी हो गईं। चेलनादेवी उन्हें लेकर वारिषेण मुनि के निकट आई, सबने वारिषेणको भक्ति सहित नमस्कार किया ।१६२।

ओदविद् विरुदिं पेरर
ग्गद् गंडर बेंडुमाडि गेल्लं गोंडा ।
मदनन विजयगजेंद्रन
रदनिगळं पोल्तवोर्वळ स्तनयुगळं ॥१६३॥

अर्थ—अनेक प्रकार के हावभावों से युक्त, पुरुषों के चित्त आकर्षित करने वाली, गजेन्द्र के ललाट के समान स्तन-युग्म से युक्त वे स्त्रियां शोभायमान हो रही थीं ॥१६३॥

अपहरिसे पेरं थिरुदं
किडिसुवेनेंबोदु पुसकेयिंदं कामं ।
पिडिदिर्द्दडुणमेनिसिदु
दोडं बडिंदोर्व वारिजाननेय कुचं ॥१६४॥

अर्थ—मानो, संसार की सम्पूर्ण स्त्रियों का मान भंग करने के लिये सुन्दर रूप, यौवनसे सम्पन्न वे स्त्रियां वहां आकर खड़ी हों। तथा च कामदेवके मन को भी हरण करने के लिये वे स्त्रियां अपना स्तन-भार लिये आई हों ॥१९४॥

मसगि कडुगोपदिंदं
ससियं पिडियल्के राहु सेडेयदे मेरे सं- ।
किसदेय्तंद पुर्देवसो
लेसेदिद्दु मिसुप भाळमं सोर्मुडियुं ॥१९५॥

अर्थ—राहु अत्यन्त कुपित होकर चन्द्रमा को ग्रसित करने के लिए तीक्ष्ण बाण या फरसा लेकर आ रहा हो, इस प्रकार निःशंकित होकर घनी भौंहों वाली एक स्त्री अनेक प्रकार के शृङ्गार करके आकर खड़ी हो गई ॥१९५॥

मुनिदु मनोजं ळोकद
जनमं तनगेरगिसल्के कूर्पिदं भों- ।
कने लोट्टु पोळव कवलं
बेने पोल्तुवु कांतेयोर्वळक्षिद्वन्द्वं ॥१९६॥

अर्थ—एक स्त्री अपने दोनों चक्षुओं में काजल लगा कर आई। मानो कामदेव कुपित होकर मनुष्यों को झुकाने के लिए शीघ्रता से धनुष लेकर आ गया है। इस प्रकार यौवन-सम्पन्न एक स्त्री आकर खड़ी हो गई ॥१९६॥

ललितेवेत्तु कोंकि हरिदोप्पदोळोंदिर पुर्बु चापमं
सुललितमागि नीळद तुरुगिर्देमेगळ् तममं बेळर्प क ।
रमलर्गणेयंदमं नेरेये पोल्तिरे कामुकरोळ् पळं
चलेव मनोजनेरिसिद बिल्लवोलिर्दुदु वक्त्रमोर्वळा ॥१९७॥

(यहां कवि ने शृङ्गार रस का अत्यधिक वर्णन किया है। अतः हमने संक्षिप्त अर्थ देकर १९७ से २१९ वें श्लोक तक का अर्थ छोड़ दिया है। जिससे पाठकों को अरुचि-कारक न हो जाय। यहां केवल मूल श्लोक ही दिये गये हैं।)

अस्मतेपिंद मोग्गुवभर च्छविंयं रविर्येदु नवनायं-
कन ममकेंपिंदळरे रागिसि पोपुदु रात्रियेंदु वि ।
स्मिरिविरिदोंदिनिद बोडगिं पोग्गवेंग्कळेंवदेसियिं
करममदोप्पुगुं निबिडवृत्तकुचं वरकांतेयोर्वळा ॥१९८॥

मत्तोर्वळ् ॥१९९॥

इवळ ललाटमेंब ससियं नेरे नोडुवेवेंदोडी मनो-
भवनेम गड्डमागि निडुवुर्वुगळेंब पादळद चापमं ।
सुविट जनोग्दाममनुदग्रदिनिक्कि दनेंदु नोविनोळ्
किविगे मनोजनं परिदु सारुववोल्लिनडुगण्गळोप्पुगुं ॥२००॥
गांपिनोळन्यपुष्पदोळु मेळिसि नीळदुदिदेके कंपिनोळ्-
पोंपुळिवोगुतिर्दमळवक्त्र सरोजमे साल्गुमेंदु त- ।
पगं पनुणल्के बन्देरगि कंडिदिरोळ् मरुदु वि मूगिनिं
संपगेयेंदु पोर्दवोलिर्द बुतुं विगळंने कुंतळं ॥२०१॥
कुवलयमित्रनेंदु नोसलं पिडियलगड बन्दु चित्तसं
भवनिडलिर्दनेंदसिय बासेयनिट्टसिर्यिदे मेय्गाळुं ।
जवजवनागि पोगलेडेयिल्लदे शंकिसि राहु तेक्के गों-
ड नोसळपट्टु रंजिपुदु केळ् मुडि पंकरुहाक्षियोंवळा ॥२०२॥
पेरेयंब कवसं बनेय्दे सरलं तीव्रासियं चक्रमं
नेरे भाळं दिगुदंतपंक्ति नळितोळुग्रत्कुचं पोले त- ।
ळितरियल्कामुकरोळ् मनोभवनृपं मेलेत्तिदं माडे पो-
ज्जरु वेडेंबवोलोर्व कामिनि लसच्छृंगारदिंदोप्पिदळ् ॥२०३॥

मत्तोर्वळ् ॥२०४॥

पळुकिन रंगदोळ् वनिते तन्न ललाटमुमं स्वकीयकुं
डलमुमनेय्दे कंडु बेरलं मिडिदाग संदिद मिंदुमं ।
डलमवनीतळक्कलसि बिळदुदोनोड मराळियिंदु सं-
चळिसदे मुत्ति यिर्डपुवेनुत्ते महोत्सवदिंदे नोडिदळ् ॥२०५॥

अल्लि मत्तोर्वळ् ॥२०६॥

नगेगण्णं नीळसहस्रपत्रदेसळं नासापुटं मिक्क सं-
पगेयं पोक्कुळु नंदिवट्टदरलं चेल्विंदु गुर्कूडे के- ।
दगेयं मोल्लेय भंगिवेत्त मुगुळं दंताळि गळपोले कै-
मिगे पुष्पास्त्रन पंचबाणमिवळं बाशंकेयं माडिदळ् ॥२०७॥

मत्तोर्वळ् ॥२०८॥

बिंबफलाधरं पवळमं क्रमदिं तेरेयं वळित्रयं
मांबोणरं विलोलनयनं पलु मुत्तुगळं कुचंगळो- ।
प्पंबडेदिर्द दीपमनसुंगोळ पोल्तिरे कामुकर्गे ही-
मांबुजवक्त्रे कामरसवारिधियंददि नोप्पि तोरिदळ् ॥२०९॥

स्तनयुगळंगळं तुरिपदिं पोळवग्गद भित्तियल्लि भों-
कने कोळकंडु पूर्णघटमेंदोळगं नेरे नोडलेंदु मे- ।
ल्लने तेरेयल्के तत्कुचद चूचुकमुं गडमुच्चळंदु ने-
ट्टने पिडिदार्वमुग्धे पिरिदुं नगेयं समेगय्दे माडिदळ् ॥२१०॥

मत्तोर्वळ् ॥२११॥

इनियन नळकरिं बिडदे नोडुतुमिर्द ललांगि तन्न रू-
पने तडविल्लदारमपति नेम्मद कंबदोळंदु कंडु तो- ।

ट्टने मुनिसागिह्रुः सत्रितियं नेरे तोरिपनेंदु तन्न का-
मिनिय विदग्धवृत्तिगळनक्कट नाळये ताने काणने ॥२१२॥

परिव पोडर्पुगेट्टु रति मंदिरे लज्जिसिकाण बेळपुगळ्
करमोळगुर्चि बंदु कोरलोळ पोरमट्टु कुचाचळाग्रदोळ् ।
परिद्पुवेंब शंकयने पुट्टिसुतिदु दु नोटकर्गे पं-
करुहदळायताक्षिय मनोहर मौक्तिकहारमौक्तिकं ॥२१३॥

पोळवुंगुटदोळ् दशना-
वळियं कंडोर्वळंजि मुत्तिनहारं ।
नेलके परिदोक्कुदेंदु-
म्मळदिं वडवरिसि नोडुतिर्दळ् कोरलं ॥२१४॥

इनियन पेरगण केरिनो
ळनिबर रूपुगळनोर्व कामिनि कंडा- ।
य्यने नक्कु नल्लनेनगी
र्यिनिबरुमं मेलुदोरि काडिपनरिदें ॥२१५॥

तोळगुव केंदळदेसेवं
गुळियोळ् शोभिसुव नीलदुंगुरमोर्व- ।
ळगळवट्टु दशोकेय कें-
दळिरोळ् पर्चिर्द करिदु तुंबिय तेरदिं ॥२१६॥

कोसगिन रजमं पीर्द-
ळिक सलारदे मुगुळे तुंबिगळ् कारुवुवें ।
बेसकदि नोर्वळ् कुरुळो-
ळपु शोभेयिं चेन्नपुगळे नोप्पिदुवो ॥२१७॥

सले सोल्तु पाळुवाविय
जलमं तेगेयल्के मकरकेतननिदं ।
कुरिसिक्किद नीलद ब-
ट्टलननुकरिसित्तु कांतेयोर्वळ नयनं ॥२१८॥

घटकुचयुगे वल्लभनं
गुटदोळ् तन्नक्षियुगळमं कंडोर्वळ् ।
जटिमान्गळिलिलगक-
क्कट रिक्कट बंदुवेंदु नोडुत्तिर्दळ् ॥२१९॥

अंतोप्पुवेत्तिर्पुदु वात्सल्यरत्नाकरं चेळिनीमहादेविगे पुष्पदाडनभार्येयप्प सुदंतियुमं वरिसुवुदेने परिचारकियरनट्टुवुदु सुदंति तडेयदे बंदु कुमारिय रोडनिर्पुदु ॥२२०॥

अर्थ—इस प्रकार चेलना देवी ने अपनी बधुओं को शृङ्गार करा कर वारिषेण मुनि के निकट खड़ा कर दिया। वे सब स्त्रियां प्रतीत न होती थीं, देव-कन्यायें प्रतीत होती थीं, मानो कामी जनों को मोहित करनेके लिये ही वे आई हों। उन्हें पंक्ति-बद्ध खड़ा कर दिया गया। उन्हें देखकर पुष्पडाल अत्यन्त आश्चर्य-चकित हुआ। तब वात्सल्य-रत्नाकर वारिषेण मुनिने चेलना रानी को आज्ञा दी कि पुष्पडाल की स्त्री सुदन्ती को भी यहां बुलवा लो। चेलना देवी ने तुरन्त परिचारिका को भेज कर सुदन्ती को भी बुलाकर वहां खड़ा कर दिया २२०

करिणीवृन्ददोळाडु कर्पुरतरुव्रातंगळोम्मत्ति पं-
करुहानीकदोळक्के गोनिवहदोळकाळपेक्कु कंठीरवो- ।
त्करदोळ् कोडगमाधवीलतेयोळं कर्बळ्ळिर्चेबोगळो-
ळनेरदिर्पतिरे कर्बुनं सकलभूवारीश रोळिकलिगळ् ॥२२१॥
इर्पंतिदुं ॥२२२॥

अर्थ—उन राज-बधुओंके बीच वह पुष्पडालकी पत्नी सुदन्ती ऐसी प्रतीत होती थी, जैसे गायोंके झुण्डमें बकरी हो, कर्पूर के वृक्षोंके मध्य बबूल हो, लाल कमलोंके बीचमें धतूरा हो,

सिहोंके समुदाय में जंगली बिल्ली हो, चंचलता में बन्दर के समान और माधवी लताओं में निर्ग्रन्थ जंगली बेलके समान थी। उसके गाल सुहार की धोंकनी के समान थे। पैर लोहेकी सलाखों जैसे थे। इस प्रकार उसके शरीर की आकृति थी ॥२२१-२२२॥

एवेयिल्लद कोळेगण्णं वि-
भ्रममिल्लद रूपु पत्तिपत्तिद मोले सो- ।
लमनीयदिखु कर्पि
समसंदोड ललदं मूगडेगिद गल्लं ॥२२३॥

अर्थ–उसकी आँखों में तेज नहीं था, मानो वे सड़ गई हों। विभ्रम रहित रूप था, जैसे कमल सूख जाता है, वैसे उसके स्तन अत्यन्त शोभाहीन थे। शरीरका रंग कोयले से भी अधिक काला था ॥२२३॥

तेरळद मोगं कर्गिद बार्य
पुरुळिल्लद मिळ्ळगाल्बेडंगिल्लद मै ।
केरकिं तुरियिं तीविद
करचरणं बोळमंडे कुग्गिद देहं ॥२२४॥

अर्थ–उसका मुख तेज-हीन था, जर्जरित होठ, निस्सार ललाट, खुजलाया हुआ शरीर था। उसकी सूखी हुई उगलियाँ ऐसी थीं कि जैसे उनमें मांस और चमड़ा भी न हो। सिर पर विरले बाल थे। और शरीर कुबड़ा था ॥२२४॥

मत्तं मूळगित्रियुं पोरवाय्द (पल्लुं मोरदं तप्प कालुगुरुं ओळगळद) बसिरुं ओरळं तप्प काल्गळुं बागिद बेन्नुं (कोळेगगणुं) बिट्ट बायुं कूडिद पुबुं तोट्ट कासियुंबेरसु (इंसेपोळगे होरसु बंदिर्पंतेवर्पुदुं) वारिषेणमुनि पुष्पदाडन मोगमं नोडि (नगुत्तुमिर्तदं ॥२२५॥

अर्थ–उसके कान सूखे हुए थे। उनमें केवल छिद्र ही दिखाई देते थे। उसके दांत निबौली के समान थे। तथा दाढें बन्दर के समान लम्बी थीं। पेड़ के समान उसके पैरों से जाँघों तकका भाग था। उसके नख दिखाई नहीं पड़ते थे, पीठ झुकी हुई थी, आँखोंसे मैल झड़ता था। जब मुख खोलती तो वह औखली के समान लगता था। भगवे वस्त्र धारण

किये हुए थी । वह ऐसा लगती थी, मानो हंस पक्षियों में कौआ आ गया हो । वारिषेण पुष्पडाल की ओर देख हंसकर कहने लगे कि—॥२२५॥

नरलोकद्ल्प सौख्यं
स्थिरमल्लदु वीरनाथपद् सेवनेयिं ।
स्थिरमप्प मोक्ष सौख्यं
दोरेकोळगेंदतिवट्टु तपदोळ् निन्नं ॥२२६॥

अर्थ—तू इनको (मेरी स्त्रियों को) देख और जिसका (अपनी स्त्री का) वर्षों से तूने ध्यान किया है, उसे भी देख । तूने वीतराग देवकी पादसेवा न करके मोक्षसुख प्राप्त करने की भावना नहीं की । तेरे समान मूर्ख अन्य कौन होगा । इसीलिये तूने इसीके चिन्तवन में अब तक अपना समय गंवाया ॥२२६॥

निलिसि पन्ने रडुवरुषंबरमेन्नात्मकार्यमं बगेयदे लोकोत्तरमप्प जिनोक्तियनिन्नेवरं माणदे पेळदोडे नाय्गे नरुनेय्यळकदेंबंतेन्न पेळव धर्मश्रवणमनोन्नदे सुदंतियने मनदोळने नेयुतिर्पेयितु) ॥२२७॥

अर्थ—आत्मा का कल्याण करने की तूने इच्छा तक नहीं की । लोकोत्तर जिनवाणी का उपदेश नहीं माना । उसको तूने हृदय में उतारने की चेष्टा नहीं की । कुत्ते को जैसे मिष्टान्न खाकर भी फिर गन्दगी खानेकी इच्छा होती है । इसी प्रकार तूने भगवान वीतराग का उपदेश एक क्षण भर भी नहीं सुना और तू सुदन्ती को ही याद करता रहा ॥२२७॥

रतियुं विभ्रमदोळ् सुरेन्द्रसतियुं लावण्यदोळ् नोडे भा-
रतियुं हावदोळे वळेंदुरदे सच्छृङ्गारदिं रूपिनु- ।
न्नतियिंदिर्द महिश्वरात्मजेयरं कैकोळ्ळदां विट्टु नि-
र्वृत्ति साधिसलेंदु पोगि तपमं कैकोंडे नुत्साहदिं ॥२२८॥

अर्थ—रति के समान सुन्दरी, विभ्रम में इन्द्राणी के समान, रूप में सरस्वती के समान, हाव भाव से, शृङ्गार से, रूप से आकर्षक होने पर भी इन रूपवती स्त्रियोंका त्याग करके मैंने आत्म-साधना की इच्छा से वन में तप को ग्रहण किया है ॥२२८॥

अणिल पडपु बसुगिय पण्णेंबंते सुदंतियक्कंगेय्दु बिडलारदे नीं बेळबें-जननागि भोगिसु वेनेंदु कोंक्कळ गुदिबै; उंडरियदग्गु बुदेक्षमचरियेंभंते, कालूर्गे मेळसु बेल्लमेंबंते, बेडवळ्ळिगे पंदि महा मेयेंबंते, नुग्गिय बनक्के गुब्बि कोगिलेयेंबंते, (अगसेय मरक्के सोनसे मरिदु बियेंबंते) संसारदल्प-सुखक्के मुख्वांतु शाश्वतसुखमनुदासीनं माडि जिनरूपिंगे बेसरवेयिन्नु निन्निं बिट्टु गाविलरं कामतिगळुं लोकदोळिल्लंदु मूदलिसि तोरि हास्यंमाडि नक्कु सुदंतिय मोगमं नोडि वात्सल्यरत्नाकरनिंतेंदं ॥२२९॥

अर्थ—हे भव्य पुष्पडाल ! सुदन्ती की आंखें अग्नि के समान लाल हैं, पके हुए पाकर फलके समान हैं। घिनौना रूप है। इसी की याद में तूने अपने बारह वर्ष व्यर्थ गंवाये। बढ़िया पक्वान्न खाने पर भी थोड़ी देर बाद "मैंने कुछ नहीं खाया" ऐसी जिसकी तृष्णा हो, उस मनुष्य के काली मिर्च में गुड़ मिलाकर खाने के समान, भीलों की बस्ती में सूअर को ही हाथी मानने के समान, सेंजनेके पेड़ पर बैठी हुई चिड़िया को कोयल मानने वाले के समान संसारके क्षणिक सुख पर तू मोहित होगया और शाश्वत सुखकी उपेक्षा करके जिनरूप धारण करके भी मुनिचर्या पालन करने में उदासीन बना रहा। इस प्रकार तेरे समान मूर्ख, निर्बुद्धि और कोई नहीं है। तूने इस जिन-मुद्रा का उपहास किया है। तूने सुदन्ती के चिन्तवन के पीछे अपना अमूल्य समय व्यर्थ बर्बाद कर दिया ॥२२९॥

परम जिनेश्वररूपं
धरियिसि मत्तळिपि बंदु तन्नंगनेयोळ् ।
नेरे यलमरुगु वनरनुं
पुरुषने पेळव्वे बेगमेंबुदुमागळ् ॥२३०॥

अर्थ—पुनः वारिषेण मुनि कहने लगे, कि परम जिनेश्वरके नग्न रूपको धारण करके फिर उसको छोड़कर अपनी स्त्री के साथ भोग भोगने की इच्छा करने वाला पुरुष क्या बुद्धिमान है ? हे सुदन्ती ! तुम्हीं कहो, यह मनुष्य है या पशु है ? शीघ्र कहो ॥२३०॥

सुदंतियिंतेंदळ् ॥२३१॥

अर्थ—इसके उत्तर में सुदन्ती कहने लगी—॥२३१॥

नेट्टने कारिद् कूळं
मुट्टदु नायुं धरातळाग्रदोळने मुं- ।
बिट्टु कळिक्कळिपवनुं
निट्टिसु वोडे पंदे कष्ट नानार्यिदं ॥२३२॥

अर्थ–कुत्ता खाकर यदि वमन करदे तो वह भी उसे फिर नहीं खाता, यह बात जगतमें प्रसिद्ध है। यदि मनुष्य एक बार वमन करने के बाद पुनः उसे ग्रहण करता है तो उसे कुत्ते से भी नीच समझना चाहिए ॥२३२॥

एंबुदु सुदंतिय मातिंगे पुष्पदाडं लज्जिसि तन्नोळिंतेंदं ॥२३३॥

अर्थ–इस तरह सुदन्ती की बात को सुनकर पुष्पडाल अपने मन में बहुत लज्जित हुआ और मन में कहने लगा–॥२३३॥

ई दिव्यस्त्रीयरनिनि
पादरिसदे तोरेदु वारिषेणकुमारं ।
पोदनेने नोळवेडेनगे
नादुदु केळन्न पेंडिरुन्नतिपिरिदे ॥२३४॥

अर्थ–मैंने कितना नीच काम किया। मेरी स्त्री भी मेरा तिरस्कार कर रही है। मैंने वारह वर्ष तक इसी का ध्यान किया है। क्या इसके साथ भोग करना अब संभव होगा? मैंने इतना समय व्यर्थ वर्वाद किया। धन्य है इस चेलनी कुमार को! इसने देवांगनाओं के समान रूपवती स्त्रियों को त्याग कर दुर्द्धर तप अंगीकार किया। इसने इन्द्रिय-सुखों की पर्वाह नहीं की, न राजसुखोंकी पर्वाह की। क्या तपके सुखसे इन्द्रियों का सुख बढ़कर है?

वरतपमं कैकोळ्ळलोड
मरिदेनिसुव जंघचारणत्वं केळी।
वरमुनि गाय्तेने तपदिं
पिरिदप्पैश्वर्यमप्पुदावुदु गळनं ॥२३५॥

अर्थ—श्रेष्ठ तपश्चर्या को ग्रहण करके, पंचेन्द्रिय विषय-वासना को मन से भी न छूकर भगवान वीतराग के मार्ग द्वारा स्व-पर का कल्याण करते हुए, तपमार्ग में लीन रह कर वारिषेण ने शीघ्र जंघाचारण ऋद्धि प्राप्त कर ली। यह श्रेष्ठ तपस्या करने वाले मुनि को ही प्राप्त होती है। वारिषेण मुनि क्या कम तपस्वी हैं। अलौकिक सुख को प्राप्त करने वाले तप को अंगीकार करने पर इन्हें क्या मोक्ष सुख दूर है? क्या जैनेश्वरी तप ग्रहण करने पर इनके लिये मोक्ष की प्राप्ति करना कठिन है? ॥२३५॥

(एंदु मनदोळ वारिषेणमुनि कुंजरन मुंपेळद धर्मश्रवणमननितुमं नंबि संसृति-लतांकुरमं किळती डाडलुं मोह महीरुहमं कडियलुं कर्मेंधनंगळं सुडलुं जिनचरणमं वल्लिविडियलुं सन्मार्गमं पोर्दलुं मनंदंदु जिनसमय-वार्धि-वर्धन-सुधाकरन पादक्केरगि पोडेमट्टु पुनर्दिक्षेयं प्रसादं गेय्वुदेंबुदु मातनुं गुरुगळल्लि गोरुगोंडु बंदु दीक्षेयं कुडिसुवुदुं भावतपस्वियागि तन्नोळितेंदं ॥२३६॥

अर्थ—इस तरह विचार करते हुए वारिषेण मुनि ने जो धर्मोपदेश दिया था, उसी पर मुझे दृढ़ रहना चाहिए। संसाररूपी लता को जड़ से उखाड़ने के लिए, मोहरूपी पाश को नष्ट करने के लिए और कर्मरूप ईंधन को जलाने के लिए वीतराग जिनेश्वर चरण ही समर्थ हैं। यही सन्मार्ग है। मनपूर्वक इसे ही धारण करना चाहिए। इस प्रकार मन में विचार करते हुए जैनधर्मरूपी समुद्र को बढ़ाने के लिए चन्द्रमा के समान वारिषेण मुनि के चरणों में नमस्कार करके पुष्पडाल प्रार्थना करता है, कि हे जगद्बंधु! मुझे पुनः दीक्षा देकर मेरा उद्धार कीजिये।

इस प्रकार वचन सुनकर वारिषेण मुनि उसे पुनः गुरु के पास लाकर कहने लगे—गुरुदेव! पुष्पडाल अब द्रव्यलिंगी न रह कर भावलिंगी बन गया है। आप इसे पुनः दीक्षा देकर इसका कल्याण कीजिये। तत्पश्चात् पुष्पडाल भावों से भी तपस्वी बन कर ऐसा विचार करने लगा—॥२३६॥

संसारदल्प-सौख्यमि-
दं शाश्वतमेंद जैनधर्मननेंतुं।
नां सले कैकोळ्ळदे के-
ट्टें सतियं नेनेदशुद्ध भावनेयिंदं ॥२३७॥

अर्थ—संसार के अल्पसुखों को शाश्वत समझकर मैंने जैनधर्मको ग्रहण न करके उसका अबतक तिरस्कार किया है। और क्षणिक स्त्री-सुखका स्मरण कर मैं मोक्ष लक्ष्मीके सुख को भूल गया। मेरे समान मूर्ख और कौन है। अब मैं इन्द्रियोंके सुखोंको भूल कर शाश्वत मोक्ष-लक्ष्मी के सुख में लीन हूंगा ॥२३७॥

श्रीवारिषेण मुनियिं
दीवरदन धर्म मेनगे दोरेकोंडुदु स- ।
द्भावदिने नगद रिंदं
भाविसुवोडे वारिषेणमुनिपने देवं ॥२३८॥

अर्थ—वारिषेण मुनि के द्वारा आज मुझे जो सद्धर्म की प्राप्ति हुई है और सद्धर्म की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करके उन्होंने मुझे सन्मार्ग पर लगाया है। वास्तव में वे मेरे लिए देव हैं। इस प्रकार विचार कर वह सद्धर्म के पालन में सावधान हो गया ॥२३८॥

एंदु तन्न मुन्निन निर्बुद्धियुमं मिथ्यात्वद तीव्रतेयुमं वात्सल्यरत्नाकरन माडिदुपकारमुमं नेनेदु विस्मयं बट्टु शुद्धहृदयानुगागि सकलागमंगळं नोडि तप-दोळुत्तरोत्तरं नेगळदु समाधिविधियिं मुडिपि देवगति वडेदनित्तल् । वारिषेण मुनींद्रनु पुष्पदाडन मुन्निनहीनबुद्धिगं बळिक माद सुबुद्धिगं चोद्यंबट्टु तन्नोळितेंदं) ॥२३९॥

अर्थ—पहले का निर्बुद्धि-भाव और मिथ्यात्व का तीव्र उदय दूर करनेके लिए वात्सल्य-रत्नाकर वारिषेण मुनि के उपकार को स्मरण करते हुए पुष्पडाल का हृदय शुद्ध होगया। उसने सम्पूर्ण आगम का मनन किया और उत्तरोत्तर तपस्यामें लवलीन होकर वह अन्त में समाधि विधि से शरीर को छोड़ कर देवगति को प्राप्त हुआ।

वारिषेण मुनि पुष्पडालकी पहलेकी हीन बुद्धिको, पश्चात् सुबुद्धि की भावनाको देखकर आश्चर्य-चकित होकर मन में इस प्रकार कहने लगे—॥२३९॥

पिरिदप्प मुगिल मरेयोळ्
खरकरनुं बेळगलारनेंतंते मद्धा- ।

दुरितोदयमदिंद रिप-
नैरसं सद्धर्म मप्पुदं भाविसियोळ् ॥२४०॥

अर्थ—बादलों के आवरण से चन्द्रमा एक दम काला पड़ जाता है, अमावस्या बीतने पर चन्द्रमा का प्रकाश धीरे-धीरे बढ़ता जाता है। इसी प्रकार जब तक अनादि मिथ्यात्व का आवरण रहता है, तब तक आत्म-प्रकाश नहीं होता। किन्तु सद्धर्म द्वारा मिथ्यात्व का आवरण जैसे-जैसे हटता जाता है, वैसे-वैसे ही सद्धर्म की ओर रुचि बढ़ती जाती है और आत्म-प्रकाश धीरे-धीरे बढ़ता जाता है ॥२४०॥

मेक्केय कायगळ् मोदलोळ् कैपेयप्पुवु कडेयोळ् रुचियप्पुवंते केलंबर् मोदलोळ् पोल्लर् कडेयोळोळ्ळिदरप्परब्बु मोदलिदं कडेवरमिनिदंते केलंबरायंत मोळ्ळिदर् अशोकेमोदलाद वृक्षदेलेगळ् मोदलोळ् मृदुपुवु कडेयोळतरगेलेगळप्पुवंते केलंबमोद लोळ्ळिदरप्पकडेयोळ् पोल्लरप्परेंदु मनुष्यर परिणाममं भाविसि गुरुगळाज्ञे यिंदेकविहारि यागिपन्निर्ते अद तपदोळं नेगळदु कडेयोळसंन्यसनसमाधियिं मुडिपि सर्वार्थसिद्धियोळ् मूवत्तमूरु सागरोपमायुष्यमनोडेयनागि पुट्टिद नदरिं स्थितिकरणद (फलं केवलमल्लेंदु गणधर स्वामिगळ् पेळवुदु) ॥२४१॥

अर्थ—खीरा पहले ऊपरी भागसे कडुआ रहता है, बादमें (नीचे) मीठा होता जाता है। इसी प्रकार मिथ्यात्व के उदय से जीव को सद्धर्म की रुचि नहीं होती। जब मिथ्यात्व दूर हो जाता है, तब आत्म-विशुद्धि होती है। गन्ना पहले नीरस रहता है, बाद में वह मीठा हो जाता है। इसी प्रकार मिथ्यात्व के उदय से जीव को जिनेन्द्र के मार्ग की प्रतीत नहीं होती, बाद में गुरु के उपदेश से उसी मार्ग में रुचि उत्पन्न हो जाती है। जैसे अशोक वृक्ष के पत्ते प्रारम्भ में कोमल होते हैं, बाद में वे कड़े होते जाते हैं, इसी प्रकार कुछ लोग पहले भद्र-परिणामी प्रतीत होते हैं। परन्तु पश्चात् पापके उदय से वे दूसरेके परिणामों को बिगाड़ने वाले हो जाते हैं। पहले पुष्पडालके मिथ्यात्वका तीव्र उदय था, अतः उसे सद्धर्ममें रुचि नहीं थी। वारिषेणने जब मिथ्यात्व छुड़ाकर उसको सन्मार्गमें लगाया तो उसको सद्गतिमें

पहुँचा दिया । इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति चारित्र मोहनीय कर्म के उदय होने के कारण धर्म-साधन से विचलित होवे तो उसे सद्धर्म पर लगाना साधर्मी भाइयों का कर्तव्य है ।

तत्पश्चात् वारिषेणकुमार अपने गुरु की आज्ञा से अकेले विहार करने लगे और बारह प्रकारके तपोंका आचरण करने लगे अन्तमें उन्होंने समाधिसहित शरीरका त्याग किया और सर्वार्थसिद्धि में तेतीस सागर की आयु वाले महर्द्धिक देव हुए । इस तरह मनुष्य-भव धारण करके मनुष्य को सदा स्थितिकरण अंग की भावना करनी चाहिए ।

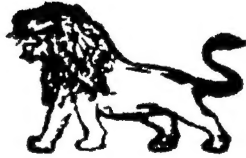
इस प्रकार गौतम स्वामी ने स्थितिकरण की कथा और उसका फल श्रेणिक राजा को सुनाया ।।२४१।।

क्षितिपूज्यं वाग्विळासं सुकविजन मनोरंजनं जैनवाक्या
मृततृप्तं वाग्वधूवल्लभनघकुलविद्रावणं केळदु चित्तो- ।
न्नतियिं त्रैविद्य चक्रेश्वरविमल-पदांभोज-भृंगंकवींद्र-
स्तुतनिर्द लीलेयिंद सुकविजनमनः-पद्मिनीराजहंसं ।।२४२।।

अर्थ—जगत्पूज्य, वाग्विलास, सुकविजन-मनोरंजक, जैनवाक्यामृतसे तृप्त, वाग्वधूवल्लभ, पापसमूह को नाशक कथा को चित्त की उन्नति से त्रैविद्य-चक्रेश्वर के निर्मल चरण कमलों के भौंरे, कवीन्द्रों द्वारा स्तुत्य, सुकविजनमन-पद्मिनी राजहंसने कहा । यह कथा भव्यजनों के हृदय में सदा बनी रहे ।।२४२।।

इदु निखिलदिविजपरि-वृढमकुट-तट-घटितमणि-गण-विलुळित-किरण
चुंबनीय-परम-जिन-चरण-युगळ-सरसिरुहमत्तमधुकर
निरुपमसहज-कविजनपयः-पयोधि-हिमकर
नुतभावयुत-दिगंबरदास-नूत्न कविता-
विळास श्रीमन्नसेनदेव विरचित
मप्प धर्मामृतदोळ् दर्शन-
षष्ठांग-व्यावर्णनं
सप्तमाश्वासं

निखिल-दिविज-परिवृढ-मुकुट-तट-घटित-मणि-गण-ललित-किरण-
चुम्बित-परम-जिन-चरण-युगल-सरसिज-मत्त-मधुकर-
निरुपम-सहज-कविजन-पयः-पयोधि-हिमकरनुत-
भावयुत-दिगम्बरदास-नूतन-कविता-विलास
श्री मन्नयसेनाचार्य-विरचित धर्मामृत में
सम्यक्दर्शन के छठे अंगके वर्णन में
सप्तम-आश्वास समाप्त
हुआ ।



स्वाध्यायः परमं तपः

स्वाध्याय करना परम तप है।

क्योंकि शास्त्रों का स्वाध्याय करने से आत्मा का अज्ञान अन्धकार दूर होता है। मोह अन्धकार कम होता है। सद्गुणों को ग्रहण करने में प्रवृत्ति होती है। दुर्व्यसन और पाप कार्यों को त्याग देने की भावना हृदय में जाग्रत होती है। इस तरह आत्म-कल्याण का मूल कारण शास्त्र-स्वाध्याय है।

सब से प्रथम प्रथमानुयोग के कथा ग्रन्थों का स्वाध्याय करना चाहिए। प्रथमानुयोग के कथा-ग्रन्थों के स्वाध्याय से जहां स्वाध्याय में रुचि उत्पन्न होती है, उसी के साथ आत्म-हितकारी हित-उपदेश भी मिलता है और यथा-स्थान अन्य अनुयोगों का रहस्य भी ज्ञात होता जाता है। इसी कारण इस कथा-अनुयोग का नाम 'प्रथम-अनुयोग' रक्खा गया है।

सम्राट् प्रेस, पहाड़ी, धीरज देहली।